अनुत्तर योगी
तीर्थंकर महावीर

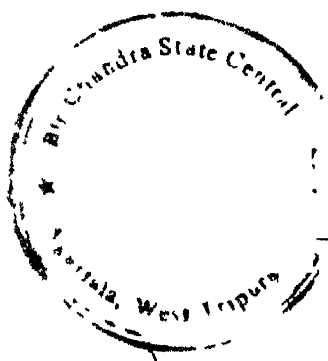
अवतार पुरुष के जीवन पर आधारित
कालजयी रचना

अनुत्तर योगी

तीर्थंकर महावीर

पहला भाग

वीरेन्द्रकुमार जैन





राधाकृष्ण

ISBN 81-7119-096-0

अनुत्तर योगी तीर्थंकर महावीर (उपन्यास : भाग 1)

आवरण : ज्योर्तिंद्र जैन के सौजन्य से
प्राप्त जैन शिल्प की पारदर्शी
सज्जा : कला विभाग

प्रकाशक
राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
2/38, अंसारी मार्ग, दरियागंज
नयी दिल्ली - 110002
लेज़र कम्पोजिंग
कम्प्यूटर शाप, 163, अग्रवाल चैम्बर - III
शकरपुर, दिल्ली - 110092
मुद्रक
विशाल प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली - 110032

ANUTTAR YOGI TEERTHANKAR MAHAVEER (Novel VOL I)
by VEERENDRA KUMAR JAIN

वर्तमान मे चाँदनपुर मे जीवन्त विराजमान
त्रैलोक्येश्वर श्री महावीर प्रभु के चरणों में
विश्व धर्म के अधुनातन मन्त्र द्रष्टा
पूज्य मुनीश्वर श्री विद्यानन्द स्वामी के
सारस्वत कर कमलों में

चिरंजीव ज्योतीन और सौभाग्यवती यूता को
उनके अन्तर-राष्ट्रीय विवाह
उपलक्ष्ये इस कारण कि कालिदास की
शकुन्तला, गोइथे की कविता में सौन्दर्य
स्नान करके हमारे घर सरस्वती होकर लौट
आयी जर्मन कन्या यूता

मेरी दिवंगत बा कस्तूरी-बा की पुण्य-स्मृति मे,
जिसने मुझे इस योग्य बनाया

अनुक्रम

प्रथम खंड

द्वितीय खंड

प्रथम खंड

वैशाली का विद्रोही राजपुत्र

मैं कौन हूँ ?

मैं कौन हूँ ? देख रहा हूँ, कि पिछले क्षण जो मै था, वह इस क्षण नहीं हूँ। कुछ है जो बीत गया है, कुछ है जो नया आ गया है। फिर मेरे मैं होने का क्या अर्थ रह जता है ? एक और अन्तिम, ऐसा मैं कोई हूँ ? भीतर से उत्तर आया : अरे, यह जो पूछ रहा है कि 'मैं कौन हूँ'—यह कौन है ? . . यह जो देख रहा है कि 'पिछले क्षण जो था, इस क्षण नहीं हूँ : कुछ बीत गया है, कुछ नया आ गया है '— यह कौन है ? और अविकल्प इसका एक ही तो उत्तर भीतर से आ रहा है : 'निश्चय, वह तो मैं ही हूँ : ध्रुव मैं।'

देख रहा हूँ कि मैं अच्युत स्वर्ग का इन्द्र हूँ। गणना और वर्णना से परे है मेरा वैभव, मेरा भोग। मेरा ऐहिक सुख। इतना ही कहना काफी होगा कि सृष्टि की चिति-शक्ति, मेरे चित की हर इच्छा-तरग पर उतर कर मेरा मनचाहा रूप, रस, गन्ध, वर्ण, स्पर्श बन जाती है। . .

यह अच्युत स्वर्ग है : यहाँ ऐन्द्रिक सुख समाधि की तल्लीनता तक पहुँचे हुए है। तरल रत्नों की एक ऐंद्रजालिक मायापुरी में काल-बोध सम्भव नहीं : दिन-रात का भेद अनुभव में नहीं आता। आयु के बीतते वर्षों का पता ही नहीं चलता। रत्नों की नानारंगी प्रभा-तरंगों में एक अन्तहीन स्वप्न चल रहा है। . .

. . पर आज एकाएक यह क्या घटित हुआ है कि, सपने की यह धारा कहीं से सहसा टूटी है, भंग हुई है। और काल की गति को मैं अपनी सुषुम्ना नाड़ी में, उत्सर्पित और अवसर्पित होते देख रहा हूँ। . . इन्द्रनील मणि के इस प्राकृतिक सरोवर की सुरम्य सीढ़ियों पर अकेला बैठा हूँ। लगता है जैसे किसी सन्ध्या के तट पर, नितान्त एकाकी उपस्थित हूँ। पदार्थ में, अपने में, क्षण-क्षण कुछ बीतने और उत्पन्न होने के क्रम को मैं हाथ मे रक्खे रत्न की तरह साफ देख रहा हूँ। द्रव्य अपने मौलिक रूप मे नग्न होकर, मानों मेरे सामने प्रवाहित है। ठीक वैसे ही जैसे इस

सरोवर के नीलमी जलों की ये झलमलाती लहरें। . . इन पानियों की सुगन्धाविल शैया मे अनेक बार अपनी इन्द्राणियों और वल्लभाओं के साथ क्रीड़ामग्न होकर भी, इस प्रवाह को ऐसा प्रत्यक्ष कभी नही देखा, नहीं जाना, जैसा कि आज देख-जान रहा हूँ। .

. . मेरे वक्ष पर झूलती यह सहजात माला ! उपपाद शैया पर मुहूर्त मात्र मे, अगड़ाई भर कर जाग उठने की तरह जब मेरा यह दिव्य शरीर आविर्भूत हुआ था, तब यह माला, मेरे साथ ही जन्मी थी। जिस द्रव्य से मेरी देह बनी है, उसीसे निर्मित है यह माला। पर सारे स्वर्गों के विविध कल्पवृक्षों के तमाम फलों से जैसे यह गुंथी है · और हर क्षण एक नयी सुगन्ध इसमे से तरंगित होती है। . माला तो अपनी जगह वैसी ही नवीन, भास्वर, ताज़ा है सुगन्ध का प्रवाह भी वैसा ही है। . किन्तु इस काल सध्या के तट पर से देख रहा हूँ, कि यह मेरी वही सहजाता माला नही है। जाने कौन एक अलक्ष्य पखुरी छिन्न हो गई है . जाने कही कुछ टूट गया है · विघटित हो गया है ।

. . और अभी इसी क्षण, यह माला मेरे वक्ष पर है, फिर भी दूर उन चैत्यवृक्षों की हरियाली मर्कत आभा में दूर-दूर, दूर-दूर चली जा रही है। और मुझे लग रहा है, मैं इस इन्द्रनीलमणि की लहरीली सीढ़ी पर हूँ, फिर भी जाने कहाँ-कहाँ चला गया हूँ। जाने कितने आपों में बंट गया हूँ, बिखर गया हूँ। एक और अखण्ड कोई मैं हूँ, बेशक, जो देख रहा है : पर जाने कितने 'मै' के कक्ष एक पर एक खुल रहे है, चैत्य-वृक्षों की उन नाना-रंगी रश्मिल उजियालों मे। आँगन के पार अन्तहीन प्रांगणों की परम्परा : असंख्यात समुद्रों से आवेष्टित, जाने कितने लोकों में, पृथ्वियों में, स्वर्गों के पटलों मे, नरकों की अतल पृथ्वियों के अन्धकारों मे . . मैं . . मै . . मै . जाने कितने मै। अनगिनती जन्मान्तरों के चित्रपट खुल रहे हैं। स्पन्दित, उच्छ्वासित, जीवित, संवेदित, बोलते चित्र। कितना दबाव है, तनाव है, मन पर, इस धातु-अस्थि, रक्त-मास-मज्जाहीन, कोमल तन पर मेरे। भव-भवान्तरों मे भोगे सुख-दुखों का एकाग्र संवेदन मेरी कुण्डलिनी में अजस्र धारा से प्रवाहित है।

. . काल-बोध ? बाईस सागर बीत गये है इसी अच्युत स्वर्ग मे। गणना से परे, पल्यों से परे, हज़ारों या करोड़ों वर्ष : क्या अन्तर पड़ता है। विशेषकर इस सन्ध्या के तट पर, आयु के दर्शन-बिन्दु पर, जहाँ मानो असंख्य जन्मों और देशकालों को एक साथ अपने आसपास चक्रायित अनुभव कर रहा हूँ। जी रहा हूँ। कोड़ा-कोड़ी सागरों के पार, गणनातीत काल मे चला गया हूँ।—अपने से पार . . और देख रहा हूँ अपने को जाने कहाँ-कहाँ।

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र मे, सीता नदी के उत्तरी किनारे पर, पुष्कलावती देश। वहाँ मधु नामा कोई वन। भीलों का राजा पुरुरवा, अपनी काली नामा अर्द्धांगिनी के साथ तमसाच्छन्न अरण्य मे मृगया खेलता हुआ। . . दूर कहीं चमकती आँखे देख भील ने तीर ताना . कन्धे पर झूमकर काली चीख उठी : 'आह . . उतार दो तीर . . वह मृग नही है।' 'कौन है?' 'ये वन-देवता हैं, पुरु ! अनर्थ हो जाता ! उन्हें मारकर हम कहाँ जियेंगे ? पुरुरवा मानो शरीर था· काली थी उसका प्राण : उसकी आत्मा। वह स्पन्दित हो उठी। अचूक और निगूढ़ था यह संवेदन। भील-युगल उस सुदूर नेत्राभा से खिंचता चला गया। अबोध, नग्न बालक-से सामने आ रहे थे योगीराट् सागरसेन। काली उनके चरणों में लोट कर बिलख पड़ी : भील स्तम्भित, अभिभूत

देखता रह गया, योगी की वीतराग मुद्रा। वह पाषाण हो रहा : उसके भीतर से निकल कर कोई, दूर वनान्तर में ओझल होते योगी का अनुसरण कर गया।

देख रहा हूँ : वह भी तो मैं ही था . . पुरुरवा : और काली कहाँ चली गई ? अनुभव कर रहा हूँ इस क्षण : वह मार्दवी कोई अन्य थी ही नहीं। मेरी ही अपनी मौलिक मृदुता थी वह। प्रकट होकर मुझे अपनी पहचान कराने आई थी। अपने को पहली बार जाना, अपनी आत्मा को : और वह मेरे हार्द में अन्तर्लीन हो गयी। मैं अपने प्रति पहली बार जागा था उस दिन। . .

. . फिर सौधर्म स्वर्ग में जन्म लेकर, वहाँ की पद्मगन्धा मृदुताओं में जाने कितने पल्यों तक सुख भोगकर, सो गया एक दिन पुरुरवा। . . एक और मैं !

. . तीर्थंकर ऋषभदेव की राजनगरी अयोध्या। वहाँ के सर्वतोभद्र प्रासाद में, उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती का किरण-सा कान्तिमान पुत्र मरीचि। राजयोगीश्वर भरत भोग-समाधि में लीन थे। और कोमल किशोर मरीचि महाश्रमण ऋषभेश्वर का अनुगामी हो गया। सुकुमार वय में ही, दिगम्बर आरण्यक। अवधूत वृषभनाथ की मृत्युंजयी तपोसाधना उसे सह्य न हो सकी। काषाय और त्रिदण्ड धारण कर, स्वच्छन्द विचरता रहा मरीचि। पर भगवान के प्रभामण्डल के परिसर में ही। अपनी दुर्बलता और अपनी सीमा जानकर आत्मनिष्ठ, मौन. प्रकट में योग-भ्रष्ट. पर अन्तर में निरन्तर योगी, मरीचि समर्पित था, अपनी आत्म प्रभा को। किन्तु अन्यों की दृष्टि में पथभ्रष्ट, कुमार्गगामी, मिथ्यादृष्टि। सांख्य तत्व के उपदेष्टा कपिल का गुरु। . . दूसरे की आत्म-स्थिति के निर्णायक हम कौन होते हैं ? हम जो स्वयं अज्ञानी हैं।

. देख रहा हूँ, तीर्थंकर वृषभनाथ का अनन्त आलोक-वैभव से जगमगाता समवशरण ! गन्धकुटी के शीर्ष पर कमलासन पर अधर में आसीन प्रभु के चरणों में नम्रीभूत भरतेश्वर ने जिज्ञासा की : 'भगवन्, आपकी अमिताभ ज्योति से लोकालोक प्रकाशित हैं ! क्या फिर भी कभी पृथ्वी पर ऐसा युगन्धर ज्ञान-सूर्य उदय होगा ? क्या ऐसा कोई भव्य इस समय लोक में उपस्थित है ?'

'देवानुप्रिय भरत, तुम्हारा पुत्र मरीचि, यहाँ उपस्थित है ! अब से सत्ताईसवें भव में वह भरत क्षेत्र में तीर्थंकर के रूप मे अवतरित होगा। अवसर्पिणी काल मे हमारी कैवल्य-परम्परा का अन्तिम ज्योतिर्धर। जिसका ज्ञानसूर्य अन्धकार की आगामी अनेक शताब्दियों को प्रच्छन्न रूप से प्रकाशित और जीवन्त बनाये रखेगा। उसे पहचानो भरत ! योगी देश से नहीं, विभा से पहचाना जाता है !

' . . और सुन भरत, लम्बी अनुभव-यात्रा के चक्र-पथों को पार करती हुई, हर आत्मा एक कुंवारा जंगल चीर कर, अपने विकास का पथ प्रशस्त करती है। मुक्ति का मार्ग कोई राज-पथ नहीं : वह सबका अपना-अपना होता है। मरीचि को अभी कई अंधियारे भवारण्य पार करने हैं. !' 'मरीचि की अगली भवयात्रा सुनना चाहता हूँ, भगवन् ! . . और तीर्थंकर की दिव्य-ध्वनि में तब वह चक्रावर्तन घोषित हुआ।

भरत पुत्र का योगैश्वर्य सुनकर प्रसन्न हुए। फिर मरीचिकुमार के समीप जाकर नमित हुए : 'धन्य हो मरीचि ! कलिकाल के भावी तीर्थंकर को प्रणाम करता हूँ। सुनो देवानुप्रिय, भगवान की दिव्यध्वनि में घोषित हुआ है : आगामी भवों में मरीचि पहले त्रिपृष्ठ नामा प्रथम वासुदेव होगा, फिर

प्रियमित्र नामा दूसरा चक्रवर्ती, फिर अवसर्पिणी काल का अन्तिम तीर्थंकर ! . . सो कलिकाल के भावी तीर्थंकर की वन्दना करने आया हूँ ! . . '

तन से कुमार, मन से बालक, अंतरंग से योगी मरीचि, सुनकर आह्लादित और गर्वित हो उठा । '. . पितामह आद्य तीर्थंकर, पिता आदि चक्रवर्ती, और मैं प्रथम वासुदेव, द्वितीय चक्रवर्ती— और फिर अन्तिम तीर्थंकर ! ऐसे महाप्रतापी सूर्यवंशी का वंशधर मैं स्वयम्, केवल आज का दुर्बल मरीचि नहीं, यह सब हूँ, एक साथ : इस एक देह के रक्तकोशों में, मैं एकबारगी ही कई शलाका-पुरुष हूँ ।' . . प्राण-शक्ति प्रमत्त और अदम्य हो उठी । अपने भविष्य में आश्वस्त मरीचि ने, अपने को काल के उद्दाम प्रवाह में फेंक दिया । पर भीतर कोई था, जो अपने में अचल था, और केवल अपने को देख रहा था। . . भरत-क्षेत्र के चूड़ांत पर खड़े दिगम्बर आकाश पुरुष को ।

अन्तिम क्षण तक जागतिक ऐश्वर्य में चिद्विलास करते हुए राजर्षि भरतेश्वर, अन्तर्मुहूर्त मात्र में, बिना तपःक्लेश के ही केवली हो गये . अरिहंत । जीवन्मुक्त । किन्तु मरीचि का यात्रा-पथ बहुत कुटिल था । भीतर निरन्तर परमहंस रह कर, उसे स्वर्गों, नरकों, पाशव तिर्यंचों तक के भीतर से आत्मानुभव की यात्रा करनी थी । नारकी और पशु की यातना और अन्धता तक से वह गुज़रा । क्योंकि उसे पाशव-शक्ति प्रधान कलिकाल का तीर्थंकर होना था । पशुपतिनाथ होकर, मानवत्व को पशुत्व से उबार कर, देवत्व तक पहुँचाना था । . .

. . उस पार अशोकवन के क्रीड़ा-पर्वत पर, उसे सहस्रों देवांगनाओं के बीच नग्न विचरते देख रहा हूँ । . . कैसा निजत्व अनुभव कर रहा हूँ । मेरे अपनत्व की प्रतिमा । फिर भी कितनी अलभ्य है मुझे ! चाहूँ तो अगले ही क्षण वहाँ हो सकता हूँ, अपनी इन्द्राणियों के बीच। वही मैं ! . . पर अशक्य, बीच में देश और काल के दुर्लंघ्य समुद्र पड़े हुए हैं । क्योंकि अभी इस क्षण में मरीचि भी हूँ, केवल अच्युत स्वर्ग का इन्द्र ही नहीं ।

. . फिर ब्रह्म स्वर्ग, ईशान स्वर्ग, सौधर्म स्वर्ग के मकरन्द-सरोवरों में स्नानकेलियाँ : तन्द्रालस कल्प-लताओं की छांवों में आत्म-विस्मृत ऐन्द्रिक सुखों की मूर्च्छा । फिर जाने कब कोई गहरा आघात : जागृति : स्वयंबोध : माहेन्द्र स्वर्ग से च्युत होकर, पृथ्वी पर जगत्-प्रसिद्ध भारद्वाज : त्रिदण्ड से सुशोभित तेजोमान ब्रह्मर्षि । किन्तु अपूर्ण ज्ञान के अभिमान से फिर भटकन। . . एकेन्द्रिय स्थावर से त्रस निकाय के जीव-जन्तुओं की असंख्यात योनियों तक में भ्रमण । . .

. . देख रहा हूँ, जान रहा हूँ यह सब : नानाविध सुख-दुखों की अन्तहीन संवेदन-परम्परा । . . मूर्च्छा और जागृति की इस शृंखला की कड़ियों को जोड़ नहीं पाता हूँ । मंडलाकार चक्रायित चल-चित्रों की इस जीवन-लीला का एक ही नायक, नाना देश-काल, नाना रूप, भाव, वेश में । प्राण का एक निर्बन्ध प्रवाह !

. . मगध देश की राजगृही नगरी के राजा विश्वभूति का पुत्र विश्वनंदी । पिता अचानक प्रव्रज्या ले निष्क्रमण कर गये । भाविक, भोला, सौन्दर्यानुरागी युवराज विश्वनन्दी, राज्य की ओर से उदासीन ! . . अपने स्वप्न को पुष्प करंडक उद्यान में रच कर, उसी में अपनी युवरानियों के साथ क्रीड़ालीन रहता । चाचा विशाखभूति राज्यासीन थे : उनके मूर्ख पुत्र विशाखनन्दी को

विश्वनन्दी के सुरम्य उद्यान से बेहद ईर्ष्या हुई । पिता ने लाड़िले बेटे की इच्छा पूरी करने का षड्यंत्र रचा । कुमार विश्वनन्दी को किसी युद्ध पर भेज दिया । युद्ध जीतकर लौटे विश्व ने पाया कि विशाख उसके उद्यान का स्वामी हो गया है । एक तीव्र आघात से उसका उद्यान-स्वप्न छिन्न हो गया । नहीं . . नहीं है उसके स्वप्न का उद्यान यहाँ बाहर कहीं ! वह उद्यान, जिसकी प्रभुता अखण्ड रह सके । . . विरक्त होकर वह वन-गमन कर गया । अपने आन्तर उद्यान की खोज में, वह भूख-प्यास, तन, मन, वसन की सुध भूल दिगम्बर विचरने लगा । अति कृषकाय वह तापस एक बार मथुरा के राजमार्ग पर एक गाय की लपेट में आकर गिर गया । . . संयोगवशात इस समय मथुरा में आया, प्रमत्त दुराचारी विशाखनन्दी, एक वेश्या की छत से यह दृश्य देख अट्टहास कर उठा : 'वाह रे तपस्वी, वाह तेरा आत्मबल, एक बेचारी गाय की टक्कर से धूलिसात हो गया !' तपस्वी की संचित योगाग्नि भभक उठी । मन-ही-मन उसने सकल्प किया : 'अच्छा, किसी दिन मेरा तपोबल, तेरे इस दुर्दान्त अभिमान को चूर-चूर कर देगा । छिन्न-भिन्न कर फेक देगा तुझे, धूलभरी हवाओं पर !'

. . अमोघ होता है योगी का संकल्प । वह ब्रह्माण्ड पर लिख जाता है । जन्म और मृत्यु के कई अधेरों-उजालों को पार करते इस संकल्पी की उग्र कषाय ने, उसे लोक की शील-मर्यादा तोडकर जन्म दिया । . . पोतनपुर के दुर्दण्ड प्रतापी राजा प्रजापति ने अपनी ही पुत्री मृगावती पर आसक्त होकर उसे पट्ट-महिषी बना लिया । उसकी विषम कोख से विश्वनन्दी त्रिपृष्ठ नामा प्रथम वासुदेव होकर जन्मा । तमालपत्र-सा श्याम वर्ण, पीठ पर तीन अस्थि-बन्ध धारण किये, वह अपने बाहुबल से त्रिखण्ड पृथ्वी का अधीश्वर धर्म-चक्री हुआ । समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी पर उसका निसर्गजात चक्र शासन करता था । विजयार्ध की दक्षिण श्रेणी के विद्याधर राजा ज्वलनजटि की देवांगना-सी रूपसी कन्या स्वयंप्रभा, स्वयम्वरिता होकर उसकी राजेश्वरी हुई ।

. अपने कर्मों के अनेक दुष्चक्रों को पार करता, विशाखनन्दी विजयार्ध की उत्तर श्रेणी मे विद्याधरराज अश्वग्रीव होकर जन्मा । स्वयंप्रभा पर वह चिरदिन से आसक्त था । किन्तु त्रिपृष्ठ वासुदेव ने उसे जीत लिया है . सुनकर, प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव क्रोध से वन्हिमान हो उठा । चतुरंग सैन्य लेकर आँधी की तरह, वह रथावर्त पर्वत पार कर, मगध पर चढ़ आया । त्रिखण्ड पृथ्वी मे दुर्जेय त्रिपृष्ठ कुमार, अकेला, केवल अपना चक्र लकर सन्मुख आ डटा । अश्वग्रीव के सैन्य उस मूर्तिमान प्रभंजन को देख स्तभित हो रहे । ललकार कर त्रिपृष्ठ ने अश्वग्रीव को द्वंद्वयुद्ध के लिए आवाहन दिया । निश्चल खड़े रहकर कहा : 'आक्रमण करो मुझ पर, अश्वग्रीव !' नि:शस्त्र भुजा उठाकर उसने चुनौती दी । अश्वग्रीव ने हुंकार कर चक्र चलाया, चक्र त्रिपृष्ठ की प्रदक्षिणा देकर उसकी भुजा पर आ बैठा । खेल-खेल मे, त्रिपृष्ठ ने उसे हवा मे उछाल दिया : चक्र सन्नाता हुआ अश्वग्रीव की गर्दन के पार हो गया । त्रिपृष्ठ पूर्व वैर के प्रतिशोध से तुष्ट होकर, गर्वपूर्वक अट्टहास कर उठा : 'मात्र मेरे चक्र ने तुझे धूलिसात् कर दिया, तेरा चिरदिन का उद्धत अभिमान मिट्टी में मिल गया !'

वैरी का अभिमान चूर-चूर हो गया : पर विजेता का अभिमान हरसंभव नियति को चुनौती देने लगा । तीन खण्ड पृथ्वी कम पड़ गयी त्रिलोक और त्रिकाल को अपनी चरण-धूलि बनाने को वह प्रमत्त हो उठा । प्राण का यह उद्दण्ड आवेग, सारी सयम-मर्यादाएँ तोड़कर, पृथ्वी के हर पदार्थ

को अपनी विषयाग्नि मे आहुत करता चला गया। लोक और काल के छोरों पर पछाड़े खाकर भी उसे चैन न मिला। हर लक्ष्य मे टकराकर वह गुणानुगुणित होता गया। जब कही भी उसे जी चाहा प्रतिरोध न मिला, तो अपने चरम वेग से उन्मत्त होकर वह लोक के अतलान्त मे, सातवी पृथ्वी पर आ पड़ा। महातम प्रभा पृथ्वी सातवाँ नरक।

घनोदधि वातवलय पर आश्रित इस पृथ्वी पर, घनघोर प्रलय डमरू सा घोष करता हुआ अपरम्पार तमिश्रा का समन्दर तटहीन अन्तरिक्ष मे घहराता रहता है। इसकी हर अन्ध लहर मे कोटि कोटि नरक है। हर नरक मे लावा की उबलती नदियों पर, असिधार पत्रों वाले वृक्षों की बेशुमार श्रेणियाँ है। इस नीरन्ध्र अन्धकार राज्य की भी अपनी एक प्रभा है। कृष्ण प्रभा। क्या तमस की यह प्रगाढ़ता चरम सन्त्रास की रगड़ घुटन, अपनी ही अनिर्वारता के प्रवेग से, अपने पटलों को न भेद जायेगी? अन्धता ऐसी कि उसे प्रभा होने के सिवाय चारा नही है। वासुदेव की प्राणोर्जा इस महातमस राज्य को भेदे बिना कैसे चैन ले सकती है? पाप इससे आगे नही जा सकता तो वह अपनी पराकाष्ठा पर प्रभा होकर रहेगा। [illegible] इससे आगे नही जा सकती तो अपने [illegible] पर वह [illegible] होकर रहेगी। और [illegible] अन्तत [illegible] के सिवा और क्या हो सकता है? और [illegible] के [illegible] भेदता है। सातवे नरक [illegible] है, वह एक दिन ऊर्ध्वान्त मे सिद्धालय होगा [illegible]।

[illegible] का समर्थन नही है यह [illegible] प्रस्तावना है। [illegible] बोध आज जितना स्पष्ट और अविकल्प पहले कभी नहीं हुआ। [illegible] पर तैतीस सागर पर्यन्त (करोड़ों वर्ष) [illegible] वासुदेव [illegible] बोल रहा हूँ। वही [illegible] भी अन्ध हूँ [illegible] दुख की यह समग्र अनुभूति, कहने [illegible] मुक्ति का सा अनुभव करती है। [illegible] इस [illegible] दूरी मे यह कैसी आशा की [illegible] है कृष्ण प्रभा [illegible] प्रभा, [illegible] इसमे नीचे अवरोहण सम्भव नहीं। आरोहण अनिर्वार [illegible] ऊपर [illegible] और ऊपर, पतन नहीं, उत्थान। पतन की सीमा है [illegible] मे [illegible] होता है। यही मेरा स्वभाव है पतन नहीं यह नरक नहीं दुख [illegible] का अवधि है। पर यथार्थ [illegible] निरवधि है। त्रिलोक और त्रिकाल के [illegible] से वह [illegible] राज्य असीमित कैसे रह सकता था। इसमे डूबकर [illegible] परम [illegible] जगत को सिखाया है, जगदीश्वरों ने। वासुदेव कृष्ण के [illegible] मे कभी इस महातमस मे नीली प्रभा झलमला उठी होगी।

जाने कब इस तमस मे से सहसा एक खिड़की खुली। जम्बूद्वीप भरत क्षेत्र। गंगा तट के समीपवर्ती कान्तार मे सिंहगिरि पर्वत। उसका सम्राट केसरी सिंह मैं। मेरी दहाड़ मे दिगन्त काँपते है। नरकों का युद्ध [illegible] से मेरी [illegible] अभी भी चमक रही है: बड़ी भोर एक कृष्णसार मृग को पंजे से विदारकर, कलेवा कर रहा हूँ। मेरी डाढ़ों से झरते निर्दोष रक्त ने कैसी मृदु और मधुर [illegible] है [illegible] सहम कर उस मृत मृग की जन्मभूत आँखों को देखता रह गया। भयभीत, निरीह, अवश समर्पित। कातर होकर, मैंने दिशाओ मे ताका। पास ही के उस

कूट पर आकाश मे से दो नग्न, उज्ज्वल कुमार उतर आये। प्रबोधन का हाथ उठाकर बोले 'वनराज, अपने आश्रित जीवों का भक्षण तुम्हारे योग्य नही। रक्षक होकर भक्षक हो गये ? अपने को पहचानो। मत्य है इस क्षण का तुम्हारा यह अनुकम्पन । जाग रहे हो, हम तुम्हे तुम्हारी महिमा का स्मरण कराने आये है। . हजारों बार ऐसे कितने ही प्राणों की बेबसी को भोजन बनाया तुमने ? क्या तृप्त हो सके ? और यदि तुम्हे भी यह मृग, यह वृक्ष, यह पर्वत कभी इसी तरह अपना भोजन बनाये तो ?' मेरे तनाप्राण काँप उठे, जाग उठे। . मैने देखा अपने ही भीतर, मै स्वय अपने को खा रहा हूँ अपनी डाढों से अपना ही हृदय विदार रहा हूँ। यह वेदना अन्तिम थी । अपने को बींधती, अपने ही मे से निष्क्रान्त होने को छटपटा रही थी। कूट पर से वे युगल मुनि कुमार फिर बोल उठे 'वनराज, त्रिलोक के भावी सम्राट हो तुम। जानो, और देखो। सकल चराचर, तुम्हारे उन्मुक्त, अकारण प्रेम की प्रतीक्षा मे है। तीर्थंकर वर्द्धमान . !'

मै चित्र लिखित सा रह गया। सारा कान्तार मेरे भीतर सचरित हो गया। शात और निरानन्द सबको समाये-सा विचरता हूँ। इस वनभूमि मे ऐसा कभी नही हुआ पहले। मृग और शशक मेरी छाती मे सुख की नींद सोते है। पखी मेरी अयाल मे नीड बनाकर रहते है। मयूर मेरे माथे पर कलगी बनकर नाचता है। चिरकाल की भूख शान्त हो गई है। इन सबको देखता हूँ कण कण मेरी ऑखों मे खुलता चला जाता है। कैसी विचित्र सतृप्ति है यह । बिन खाये ही सारा वन मेरा आहार बना हुआ है।

देख रहा हूँ, अब आगे की गैल उज्ज्वली है। सुगन्धित भी। वसन्त के मजरी छाये पथ पर जैसे यात्रा हो रही है। पुष्कलावती देश, पुण्डरीकिणी नगरी। राजा सुमित्र और रानी मनोरमा का पुत्र मै, प्रियमित्र। आपोआप ही जन्मे मेरे कोषागार मे चौदह रत्न, सारी सभव ऋद्धि सिद्धि, सुख-सुषमा के स्रोत। ससागरा पृथ्वी के षट्खण्ड मेरे चरणों पर नमित है छियानवे हजार रानियों का रमण मै एव त, अकेला पुरुष प्रियमित्र चक्रवर्ती। खण्ड-प्रपाता गुफा के वज्र कपाट खोलकर, मेरा पराक्रम-रत्न उसका भेदन करता चला जा रहा है। उस पार अखण्ड प्रपाता गुहा के द्वार पर, गंगा के समुद्र न तट देश मे सिद्धियाँ, और निधियाँ मेरी प्रतीक्षा मे खड़ी थी। चौदह महा रत्नों का स्वामी, नव निधियों का ईश्वर मै। प्रियमित्र चक्रवर्ती। तन मन की हर कामना पूरित। इतनी कि एक जडत्व से घिर गया। एक उपरामता। एकरस, घृष्ट भोग। कोई नवीन्य नही गति नही, विकास नही, प्रकाश नही। मणिदीपों की ठहरी हुई प्रभा। एक ठहराव के अतिरिक्त और कुछ नही।

तभी सम्बुद्ध अर्हत् क्षेमकर के समवशरण मे सुना 'तत्व कूटस्थ नही, परिणामी है। उसे यथार्थ जानना नित-नवीन मे जीना है। नित नये फलोद्यानों मे रसपान। पुराना जड वह है जो पर्याय से चिपटा है। पुरुष और पर्याय दोनों प्रतिक्षण नये है। उन्हे जानो, और सदा यौवन, सदा वसन्त भोगो, जियो !'

एक नयी ऑख खुल गई। महल मे निष्क्रान्त होकर मन्वन्तरचारी हो गया। हवाओं मे महकते मलयवन उस गन्ध मे सूक्ष्म और स्थूल की अनुभूति समरस थी। बिना किसी बन्धन के सभी कुछ तो भोग रहा था।

. . शरीर बहुत कम हो गया। ईहा और कषाय मुझे कस नहीं पाते थे। . . तो मेरी वह देह विसर्जित होकर, सहस्रार स्वर्ग के अपरूप कमनीय देव के रूप में जन्मी। . . दिव्यांग कल्प-वृक्षों तले आलोटते, हर इच्छा सहज तृप्त होती। इस स्निग्धता में एक विचित्र मृत्यु-सी अनुभव होती। सहस्रों कल्पों की आयु असह्य लगी।

. . उत्तीर्ण था भीतर। नियत मुहूर्त में जन्मान्तर से गुज़रा। जम्बूद्वीप की जम्बू-श्याम कसैली धरती ने फिर खींचा। छत्रा नगरी का नंदन राजा, मैं। राजैश्वर्य सहज ही भोगते बनता है। भोगूँ, ऐसी कोई संवासना मन में नहीं है। अपना या बिराना, जैसा कुछ लगता नहीं। जो है ठीक है, अपनी जगह पर है। मैं अपनी जगह पर हूँ। अपने आप से ही तुष्ट हूँ। कण-कण अपना ही लगता है। सकल चराचर को सहज देखता हूँ, जानता हूँ, यथार्थ स्वरूप में पहचानता हूँ। सब का अवबोधन अव्याबाध है, शुद्ध है। जैसे अपने और सर्व के विशुद्ध दर्शन में जीना चल रहा है। निरावेग, सरल, ऋजुगति से बहती कोई नदी हूँ। कहाँ जाना है, क्या करना है, इसकी कोई सतर्कता नहीं, संकल्प भी नहीं। सो विकल्प भी नहीं। नदी जो तटवर्ती कण-कण की वल्लभा है, माँ है। सर्वोदय और सर्वकल्याण के अतिरिक्त और कोई काम्य अब शेष नहीं। . .

. . एक दिन वन-विहार में देखा, प्रकृति के केन्द्र में एक प्रकृत पुरुष निश्चल खड़ा है। जातरूप नग्न। उस पुरुष के आभावलय में सारी प्रकृति अनावरित होती-सी लग रही है। कण-कण पारदर्शी हो उठा है। . . रहस्य खुलते ही चले जा रहे हैं। जानने और देखने का अन्त नही। . . उस पुरुष को देखकर मेरे शरीर के वस्त्राभरण यों उतर गये, आपोआप, जैसे ऋतुकाल पाकर सर्प की कंचुकी अनजाने ही उतर गई हो। . . और मैं भीतर की राह अनन्त में अतियात्रित हो चला। . . उस भीतरी यात्रा में कहीं एक पद्‌म का द्रह आया। उषा का सरोवर था वह जैसे। अनुराग के इस सूक्ष्म गुलाबी जल में अपने को डूबता, तैरता पाया। . . और जाने कब आत्म-विस्मृत हो गया। . .

. . देख रहा हूँ: एक सुनील जलकान्त स्फटिक कक्ष में, एक अपूर्व सुरभित शैया में से अंगड़ाई भर कर जाग उठा हूँ। विचित्र है नीलाभ नीहार का यह महीन कक्ष, जो चारों ओर से बन्द है। उठते ही संचेतना-सी हुई, यह स्वर्ग का उपपाद कक्ष है। इसकी महार्घ शैया मे से मैं देव के रूप मे जन्मा हूँ। . . अच्युत स्वर्ग का इन्द्र — मैं अच्युतेन्द्र। और मेरे गले में ठीक मेरे शरीर के ही द्रव्य और वर्ण की एक दिव्य सुन्दर माला झूल रही है। सहजात माला। उसकी सुगन्ध, मानो अपनी ही अन्तर्तम सुगन्ध है। . . लगा, यही मेरा प्राण है।

. . एक गहन गगन-घोष के साथ कक्ष मे एक द्वार खुला, जो पहले कभी नहीं खुला था। रूप-लावण्य की तरंगों-से हजारों देव-देवांगनाओं ने 'जय नन्द, जय नन्द!' पुकारते हुए आकर मुझे घेर लिया। . . फिर मुझे ले जाकर, अच्युता नाम की इन्द्र-सभा में, पीताभ रत्न के एक गरुड़ाकार सिंहासन पर मेरा अभिषेक किया गया।

. . तब से आज बाईस सागर बीत गये हैं, इस अच्युत स्वर्ग के ऐश्वर्य में विलास करते हुए। अवकाश, विस्तार, काल यहाँ मानो गणना से परे स्वायत्त हो गये हैं। असंख्य योजनों में फैला है मेरा यह पुष्पोत्तर विमान। हजारों देव-देवांगनाएँ प्रतिपल मेरी सेवा में उपस्थित हैं। नीलराग, पद्‌मराग, पीतराग रत्नों के अकृत्रिम द्रहों में, वे जीवन्त रत्न ही विचित्र सुरभित जल बन गये हैं।

उनमें अपनी महिषियों और वल्लभाओं के साथ नित्य स्नान-केलि। ये इतनी सारी प्रियाएँ, जो मेरी ईहा से ही उत्पन्न काम-कन्याएँ हैं। लक्षावधि वर्षों से इनके भीतर रमण किया है, पर ये सदा कुँवारी हैं। अविक्षत है इनका रूप, लावण्य, सौन्दर्य। मानो क्षय ही नहीं होता, चुकता ही नहीं। . .

पदार्थ और उसका भोग यहाँ सूक्ष्मतम हो गया है। भौतिक पुद्गल द्रव्य का इससे सूक्ष्म रूप संभव नहीं। धातु-मुक्त है मेरा यह दिव्य शरीर। इसमें रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, स्नायुजाल, कुछ भी नहीं है। विशुद्ध, तरल, सुनम्य पुद्गल द्रव्य से यह निर्मित है। कैसा अव्याबाध लोच है, लचीलापन है, मेरी इस तन्वंगी काया में। स्वाधीन विक्रिया शक्ति से यह संपन्न है। इस एक शरीर को अनगिनत बना सकता हूँ। मूल शरीर यहीं रहता है : और जब चाहूँ, मनचाहा इच्छा-शरीर धारण कर चाहे जहाँ जा सकता हूँ, चाहे जो हो सकता हूँ। यहाँ रहते हुए भी, स्वयम्भु-रमण समुद्र के तटवर्ती लवंगलता-वन में, अपनी ईहा मात्र से अपनी मनचाही महिषी और वल्लभा के साथ क्रीड़ा-केलि कर सकता हूँ। कभी मानुषोत्तर पर्वत के शिखर पर, कभी हिमवान के निर्झर-तटों पर, कभी विजयार्ध की रत्न-गुफाओं में, कभी तीर्थंकर के समवशरण में, कभी नरकों की यातनाक्रान्त पृथ्वियों में।

इतनी शक्ति है मुझमें कि जम्बूद्वीप को, अपनी हथेलियों में मनचाहा उलट-पलट सकता हूँ : वहाँ के जीव मात्र का पोषण या विनाश कर सकता हूँ। . . श्वास तक की बाधा यहाँ अति अल्प हो गई है। बाईस पक्ष में एक बार श्वास लेता हूँ। तन भी शुक्ल है, मन भी शुक्ल है। क्षुधा की व्याधि नाममात्र रह गई है। बाईस हज़ार वर्ष में एक बार, इच्छा होते ही, मन में अमृत झरने लगता है। सहज तृप्त हो जाता हूँ।

जाने कितनी महिषियाँ हैं मेरी। उन सुदूर तट-वेदियों के हेम प्रासादों में वे स्वच्छन्द आमोद-प्रमोद करती हैं। उनके प्रासादों से भी ऊँचे हैं, मेरी वल्लभाओं के प्रासाद-शिखर। एक अनोखा विदग्ध सुख है, स्वाद है उनके अनुराग और सौन्दर्य का : जो महिषियों से आगे का है। एक स्वच्छन्द आत्म-सम्वेदन। और फिर दुर्दाम विलासिनी कितनी ही गणिकाएँ, अप्सराएँ। एक विलक्षण उन्मादक आनन्द है, उनकी रति में। ये सब मेरे सहज अधीन हैं। इनके पास मुझे जाना नहीं होता। चित्त में काम की तरंग उठते ही, इनमें से किसी के भी साथ, आत्म-रमण का-सा सुख पा लेता हूँ। एक स्वाधीन रभस, स्पर्श का तरंगिम सुख। किसी सघन द्रव्य-संसर्ग के बिना ही, विशुद्ध और सूक्ष्मतम, यह परस-सुख है। एक तात्विक स्पर्श।

आत्मा का भाव, दर्शन और ज्ञान इतना उज्ज्वल और शुद्ध है कि, अन्तर में ऊर्ध्व तरंग उठते ही, ज्योतिर्मय अर्हंत और ज्ञानाकार सिद्ध के दर्शन हो जाते हैं। . . देह, प्राण, मन, इन्द्रियों का सूक्ष्मतम अनुबन्ध है मेरा यह दिव्य अस्तित्व। इन्द्रियाँ मात्र विशुद्ध पंच तन्मात्राएँ हैं। प्रकृत और तात्विक है मेरी रूप, रस, गंध, वर्ण, ध्वनि की चेतना। इनकी अनुभूतियाँ मेरी अन्तश्चेतना की धारा में कहीं बाधक नहीं। निर्बाध सुख की इस निमग्नता में बाईस सागर जाने कब बीत गये, पता ही न चला। काल और अवकाश भी जैसे इस सुखलीनता में अन्तर्मुख होकर रहे हैं।

. . जाने क्यों, कैसे सुख-भोग की यह समाधि, आज एकाएक भंग हो गई है ! निमग्नता टूटी है : उन्मग्न हो उठा हूँ। एक उन्मनी चेतना के तट पर आ बैठा हूँ। भोग्य से

उद्‌भिन्न होकर, भोक्ता भोग की इस पराकाष्ठा को, उसके सीमान्तों पर विलय पाते देख रहा है। मेरी यह सहजात माला, अनायास आहत और कम्पित हो उठी है। मानो कुछ व्यतीत हो गया है, अतीत हो गया है। स्वप्न की रत्नतरंगिम मायापुरी लुप्त होती-सी लग रही है।

मृदुलता, सौरभ, संगीत का यह स्निग्ध प्रवाह, एकाएक किसी अदृश्य चट्टान से टकराकर चूर-चूर हो गया है। विनाश के तट पर आ खड़ा हुआ हूँ, मृत्यु की अभेद्य अन्धकार गुहा सामने खुल रही है। देख रहा हूँ, सहस्रों देव देवांगना पंक्तिबद्ध चारों ओर घिर आये हैं। एक नानारंगी रत्न-स्तूप की तरह यहाँ का समस्त वैभव सामने आ खड़ा हुआ है। वह कातर है, प्रार्थी है, विरहाकुल है। ये महिषियाँ, वल्लभाएँ, अप्सरियाँ। एकाग्र सब मुझे देख रही हैं। नीलोत्पला, हेमांगिनी, हिरण्यानी उदास क्यों होती हो! अपनी ओर देखो। जो यहाँ है, वही वहाँ है। भोग की वियोग रात्रि बीत चुकी। सीमा विरह की होती है मिलन की नहीं!

साक्षात्कार हुआ है कि, मृत्यु अभी विजित नहीं हुई है। भोग की इस सुलभ, स्निग्ध, सम्वादी धारा के भीतर भी वह अन्तर व्याप्त है। मृत्यु की इस चुनौती के सम्मुख जरा भी मन उद्विग्न नहीं है। अचचल चित्त से इसे देख रहा हूँ। इसकी सीमा को जानता हूँ। मैं इसमें से गुजरूँ, या यह मुझमें से गुजरे, कोई अन्तर नहीं पड़ेगा।

कोई उदासी नहीं, विषाद नहीं। भय नहीं, विरह वेदना भी नहीं। बस उच्चाटित हूँ, उच्छिन्न हूँ, गमनोद्यत हूँ। अपार ऐश्वर्यों से भरा यह स्वर्ग मुझमें अन्तर्धान हो रहा है। मैं हूँ, हर भाषा से परे, एकमेव मैं हूँ। मैं सदा रहूँगा। यह निश्चित है।

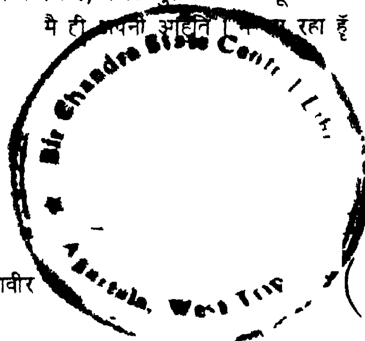
पर केवल होने के अतिरिक्त, क्या मेरी और कोई सार्थकता नहीं है? कपूर की तरह बेमालूम उड़ रही इस काया के चहुँ ओर यह कैसी विराट महिमा की ज्योति स्फुरित हो रही है।

एकाएक प्रकाण्ड तड़ित घोष से जैसे सोलहों स्वर्ग थर्रा उठे। समस्त ऐश्वर्यों की दीप्ति धूमिल हो उठीं। क्षत् विक्षत्। स्वर्ग के पिण्डों में यह मर्त्य रक्त की धारा कैसी? आश्चर्य। कहीं परम सत्य की मर्यादा भंग हुई है।

मेरे गरुड़ासन में बिजलियाँ तड़तड़ा रही हैं। सवनाश का यह कैसा हिल्लोलन है मेरे चारों ओर। अगोचर में कहीं दूरातिदूर असंख्य चीत्कारें सुन रहा हूँ। मृत्यु स्वीकार्य है, पर यह क्रन्दन असह्य है। हजारों वर्ष बाद, मेरा प्राण एक गहन मानवीय अनुकम्पा से आर्त हो उठा है। पुरुरवा भील का आदिम प्राण!

अन्तरिक्ष के अन्तराल में लपलपाती एक उद्दाम अग्नि की ज्वालाएँ। समवेत मन्त्रोच्चारों के साथ उसमें आहुत होते अश्व, वृषभ, गौ, मनुष्य! सकल चराचर के भयभीत, त्रस्त प्राणों की ब्रह्माण्डव्यापी चीत्कारें। जो मुझे पुकार रही हैं, केवल मुझे। मैं कौन हूँ? मैं कौन हूँ?

मैं ही अपनी अग्नि हूँ मैं ही अपनी आहुति [illegible] रहा हूँ। मैं आ रहा हूँ मैं आ रहा हूँ।



यज्ञ-पुरुष का अवरोहण

मैं कहाँ चली गयी थी? ब्राह्म मुहूर्त में उठकर इस शिलातल पर आ बैठी थी। तभी से जाने कहाँ खो गयी थी। और अब पूर्व में द्वाभा फूट रही है। ऐसा लग रहा है, इस एक प्रहर में जन्मान्तर की एक दीर्घ रात्रि में भटककर लौटी हूँ। नये सिरे से अपने इस पिण्ड और परिवेश को पहचान रही हूँ। . . हाँ, मैं ही तो हूँ, जालन्धर गोत्रीया देवानन्दा ब्राह्मणी। और मेरे पति हैं, कोडाल गोत्रीय ब्राह्मण ऋषभदत्त। . . यह वसतिका है, ब्राह्मण-कुण्डपुर। लोक में यह ब्रह्मपुरी के नाम से ही अधिक विख्यात है। मेरे पति ऋषभ इसके स्वामी हैं। और मैं हूँ इसकी स्वामिनी।

. . सामने दूर पर बह रही है हिरण्यवती नदी। उस पार दूर तक फैला है बहुसाल चैत्य का विशाल उद्यान। उसके पूर्वी छोर पर है, क्षत्रिय कुण्डपुर। उसके भवन-शिखरों की पताकाएँ आज किसका आवाहन कर रही हैं?

यह विदेहों की वैशाली है। विदेशी यात्री दन्त-कथाओं की तरह, देश-देशान्तरों में इसके वैभव का गान करते हैं। यहाँ विदेहराज जनक ने देह मे रह कर ही, राज भोगों को भोगते हुए, देहातीत के मुक्त ऐश्वर्य को पृथ्वी पर प्रकट किया था। यहाँ याज्ञवल्क्य ने वेद-पुरुष को साक्षात् किया था। इस हिरण्यवती के जल सीता, मैत्रेयी और गार्गी के स्नान-जल से प्रभावित हैं। याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी : उषा और पूषन का दिव्य युगल! सविता और गायत्री ने यहाँ मधुच्छन्दा की नयी स्वर माला रची है।

. हाँ, यह लिच्छवियों की वैशाली है। पूर्वीय आर्यावर्त के इस जनपद में, ब्राह्मणत्व नये सिरे से परिभाषित हुआ है। जो ब्रह्म को जाने, वही ब्राह्मण। 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' : सर्व के भीतर वही एक परब्रह्म ईश व्याप्त है। इसी से यहाँ अहिंसा का महामंत्र उच्चरित हुआ : 'मा हिंस्याः।' इस पूर्वांचल में वेद पुरुष की नूतन परम्परा प्रकाशमान हुई है। विश्वामित्र, देवापि, जनमेजय, अश्वपति कैकेय, प्रवहण जैबलि, अजात-शत्रु काशेय, जनक विदेह और महाश्रमण पार्श्वनाथ के रूप में यहाँ प्रजापति ने नया अवतार लिया है। इनकी ऊर्जस्वला मन्त्र-वाणी में ब्राह्मण-संस्कृति यहाँ श्रमण-संस्कृति में उत्क्रान्त हुई है। सत्, ऋत और तपस ने यहाँ अपने मर्म को प्रकाशित किया है। सकल चराचर के कण-कण में जो परब्रह्म व्याप्त है, वही सत है। सर्व के प्रति आप्तभाव, अणु-अणु में अपने को देखना, वही ऋत है। यही परम नियम है। उसके अनुसार सर्वत्र अप्रमत भाव से विचरना, सत्ता मात्र के प्रति अहिंसक आचरण : 'आत्मनः प्रतिकूलानी परेषां न समाचरेत्': यही तपस है।

. . स्पष्ट प्रतीति हो रही है, लोक और परलोक के दैहिक सुख-भोगों की प्राप्ति के लिए यज्ञ नहीं है। वह जड़त्व है। निरन्तर श्रम के तपस द्वारा, देह को श्रान्त कर, परमतम में विश्रान्त हो जाना है। वही एकमात्र अविनाशी सुख है। श्रम के संघर्ष से ही सोम प्रकट होकर, प्राण को अमृत से आप्लावित कर देते हैं। . . इसी से कहती हूँ, आत्माहुति का यज्ञ करो : उसी से

अविनश्वर श्री और सविता प्राप्त होते हैं। 'नाना श्रान्तस्य श्रीरस्ति। पापो नृषद्वरो जनः। इन्द्र इच्चरतः सखा। चरैवेति चरैवेति !' . . निरन्तर चलते रहो, चलते रहो : जो चलता रहता है, उसके पाप क्षीण होकर झर जाते हैं, उसे श्री प्राप्त होती है, और सर्व ऐश्वर्यों के प्रचेतस् अधिष्णता इन्द्र से मित्रता प्राप्त होती है। 'सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं, यो न तन्द्रयते चरन्' : अरे सूर्य की श्रम-लक्ष्मी को देखो, तन्द्राहीन भाव से वह निरन्तर चलता रहता है। . . इस तरह ऐहिक और पारलौकिक सुखों की लिप्सा से जड़ीभूत हो गये ब्राह्मणत्व को, इस पूर्वांचल में, श्रम के तपस द्वारा, निरन्तर गति-प्रगति का नया उद्‌बोधन प्राप्त हुआ है। वैवाधिदेव अग्नि ने साक्षात् अवतरित होकर, यहाँ मित्रावरुण का भाव प्रकट किया है, और यावत् प्राणि-मात्र को अभय का आश्वासन दिया है। महाश्रमण पार्श्व ने कहा था : 'मित्ती मे सब्व भूतेषु': मैं सर्व भूतों का मित्र हूँ ! . .

. . पर कल संध्या में मामा भवदत्त कुरु-पांचाल से लौटे हैं। उनसे जो वृत्त सुना है, उससे सारी रात सो नहीं सकी हूँ। कुरु-पांचाल में सर्वमेध यज्ञ चल रहा है। एकबारगी ही सौ-सौ अश्वों, गौओं, वृषभों, भेड़-बकरियों की आहुति दी जाती है और फिर एक बारगी ही कई सर्वांग सुन्दर मानवों को होमा जाता है। चीत्कारते पशुओं और मानवों के आक्रन्दन से अन्तरिक्ष विदीर्ण हो रहे हैं, भूगर्भ काँप रहे हैं। जिस क्षण से सुना है, मेरे गर्भ में बिजलियाँ कसमसा रही हैं। शरीर में रहना कठिन हो गया है। हमारे प्राणियों की वे 'त्राहिमाम' पुकारें, मेरे भीतर नाड़ियाँ बन कर व्याप गयी हैं। . . उनसे भिन्न अपने प्राणों को सुरक्षित रखने की कोई जगह, अवकाश में नहीं पा रही हूँ।

. . हमारे जिन आर्य पूर्वजों ने ऋकों का गान किया था, वे मंत्रद्रष्टा थे। उशनस् थे, कवि थे। अन्तस् की समग्र संवेदना से उन्होंने सत्ता का भावबोध पाया था। प्रकृति की नाना रूपात्मक लीला में, उन्होंने उसी एक दिव्य हिरण्यगर्भ पुरुष का दर्शन किया था। इसी से कण-कण, तृण-तृण के स्पन्दन और कम्पन के साथ वे एक-प्राण हुए थे। सर्व के भीतर वे प्रतिपल जिये थे। फलतः 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' और 'एकम् वा इदं, विबभूव सर्वम्' का मंत्रोच्चार उन्होंने किया था। इन्द्र थे इस सृष्टि के प्रज्ञाता, प्रचेतस् ; और अग्नि थे इसके केन्द्रीय चिद्‌पुरुष। असत्ता की अन्धकार रात्रि मे से प्रकट होकर अज्ञान के दस्यु और पशु, रह-रह कर सूर्य-सवितुर की सृष्टि को आक्रान्त करते रहते थे। इस कारण, उस एकमेव में श्रृंखलित सृष्टि का सुखद संवाद भंग हो जाता था। तब ऋतम्भरा प्रज्ञा से आलोकित ऋग्वेद के ऋषि, अपनी अन्तस्थ चिदग्नि को प्रज्ज्वलित कर, प्रचेता इन्द्र का आवाहन करते हुए, सर्वमेध यज्ञ किया करते थे। 'मेध' का अर्थ है 'संगमन'--- एकत्रित करना। तमस्-पुत्र दस्युओं द्वारा छिन्न-भिन्न सृष्टि को पुनः एकत्रित करने को ही इन यज्ञों का आयोजन होता था। उनमें वे अपने ही भीतर घुस बैठे अज्ञान के पशुओं की आहुति देते थे। पाँच यज्ञीय पशुओं के रूप में असंख्य पशु सृष्टि का ग्रहण होता था। पुरुष, अश्व, गौ, अवि और अज के इन पाँच पशु-रूपों में समस्त पशुत्व का सारांश समाया था। आदि आर्यों के सर्वमेध मे इन पाँच प्राणियों की नहीं, इनके पाँच तमसाकार आक्रामक पशु-तत्वों की आहुति दी जाती थी। उत्तर आर्य अपनी ऐन्द्रिक वासनाओं के वशीभूत होकर, इन पशुजयी यज्ञों के बहाने पशु-बलि चढ़ा कर, स्वयम् ही पशुत्व के ग्रास होते चले गये। लेकिन यथार्थ में परा-पूर्वकाल में, सर्व को एकत्र करने के लिए ही, सर्वमेध यज्ञ में, सर्व पशुत्व की आहुति दी जाती थी।

. . पर हाय रे हाय, अर्यमन और प्रजापति के ऋक्-धर्म की यह कैसी अनर्थक ग्लानि हुई है। ऋकों का अपलाप हुआ है। वृत्र का तिमिरान्ध सैन्य फिर लोक पर छा गया है। क्या प्रज्ञाता इन्द्र पराजित हो गये हैं? सप्त-सिन्धु की मातृगर्भा घाटियाँ और आँचल प्राणि-शिशुओं के वध और दहन से आक्रन्द कर रहे हैं। परावाक् को वाक्मान करने वाली सरस्वती के पयोधर पानी अपने ही बालकों के रक्त से पंकिल हो गये हैं!

. . ओ माँ अदिति, तुम कहाँ हो! तुम्हारे देवांशी पुत्रों पर फिर दिति के असुरांशी पुत्रों ने अधिकार कर लिया है। मैं ब्राह्मणी हूँ: तुम्हारे ब्रह्मतेज की बेटी हूँ। नारी होकर, धरित्री और जनेत्री हूँ, सो अपनी ही संतानों का यह निरन्तर वध मुझे असह्य हो गया है। मेरे गर्भ में जैसे ब्रह्माण्ड छटपटा रहा है।

. . देख रही हूँ, हिरण्यवती के जलों में उषा आज नहाने को नहीं उतरी है। एक काली बदली से किंचित् झाँक कर, वह लौटी चली जा रही है। दिवो दुहिता ने आज नहीं छोड़ी हैं अपनी नयी किरणों की गौएँ, इस तटाञ्चल में। वह अपने आगे-आगे अपनी धेनुओं के यूथ को लौटा लिये जा रही है। हिरण्या के कछार में आज स्वर्ण शस्य लुप्तप्राय हैं। उसके उज्ज्वल जलों में काले रक्त की लहरें उफन रही हैं। . . आह, दिगन्तों में गायत्री नहीं गूँज रही। वहाँ प्राणियों की चीत्कारें हैं; चटखती अस्थियों और चड़चड़ाती चरबी से वायुमण्डल उद्विग्न और मलिन हो गया है। लोक-व्यापी मांस-गन्ध से प्राण घुट रहे हैं: शवों से पट गयी है धरणी। सरस्वती तीर के तपोवनों मे कदली-पत्रों की पावन पत्तलों पर पवित्र मधुपर्क नहीं, चटचटाती चरबी, अस्थियों और नसों के स्तूप सजे हैं। कल्मष से अवरुद्ध इस जड़त्व में मंत्र-वाणियों का दम घुट रहा है। ऋग्वेद की ऋतम्भरा धारा भंग हो गयी है।

. . कितना समय बीत गया, सामने की यज्ञशाला अवसन्न पड़ी है। आलेपनहीन वेदी सूनी पड़ी है। हवन-कुण्ड अन्धे कुएँ-सा मुँहबाये खड़ा है। घृत-कुम्भ में रूक्ष अन्धकार ने आश्रय पा लिया है। अरणि धूधू से आच्छादित है। हव्य-चषक म्लान और उदास पड़े हैं। प्यासे द्रोण सोम-सुधा को तरस रहे हैं। चमु कटे हुए हाथ पैरों की तरह छितरे पड़े हैं। छिन्न-मस्तक धड़ की तरह विकलांग यज्ञ देवता की छाया सारी यज्ञशाला में मँडला रही है। इस समूची ब्रह्मपुरी में तीनों यज्ञ-संध्याएँ, मन्त्रोच्चारहीन सूनी ही बीत जाती हैं। . ब्राह्मणत्व क्लान्त और निस्तेज हो गया है। अरे, यज्ञ क्या हमारे किये हो सकता है? यज्ञ-पुरुष स्वयम् ही मानो रूठ कर कहीं चले गये हैं! . . देख रही हूँ, वे हिरण्या-तट के उस सप्तपर्ण-वन में, पीठ फेरे दूर-दूर चले जा रहे हैं। क्या उपाय है उन्हे मनाने का? हमारे हृदयों मे वे स्वयम् ही जब तक जागृत न हों, उन्हें कौन लौटाकर ला सकता है?

. . लो, आर्य ऋषभदत्त नदी-स्नान करके लौट रहे है। कभी इस पीताम्बर में, ये स्नान कर लौटते हुए, पूषन् की तरह प्रतापी और कान्तिमान लगते थे। आज मानो इनके पैरों में गति ही नहीं है।

'देवि, देख रहा हूँ, गयी सारी रात तुम जागती रही हो। और ब्राह्म मुहूर्त से ही इस शिलातल पर मूर्तवत् बैठी हो। यह कैसा विषाद छा गया है तुम पर?'

'भूदेव स्वयम् ही कहाँ प्रसन्न हैं? अर्द्धांग का अर्द्धांगिनी से क्या छुपा है?'

'तुम्हारे रहस्य को कब थाह सका हूँ, नन्दा ?'. . दिनों हो गये, बात तक नहीं होती। इस गंभीर मौन का कारण जान सकता हूँ ?'

'आप मे नहीं हूँ, तो कारण क्या बताऊँ आर्य !'

'महीनों हो गये, हवन-कुण्ड में अग्नि नहीं प्रकटाये तुमने ? सो सारी ब्रह्मपुरी निरग्नि, निष्प्राण हो पड़ी है। अग्निदेव मानो सदा को सो गये हैं !'

'सोना अग्नि का स्वभाव नहीं, आर्य ऋषभ ! अग्नि तो सदा-जागृत दैवत हैं। अन्य देवता उषा में ही जागते हैं। पर अग्नि तो जड़त्व की घनघोर अन्धकार रात्रि में भी जागृत ही रहते हैं। वे नित्य चैतन्य चिद्पुरुष हैं। निखिल चराचर के भीतर वे निष्कम्प दृष्टि रूप से सदा जागृत हैं। वे सो जायेंगे, उस दिन तो सृष्टि का ही लोप हो जायेगा।'

'तुम्हारे भावाशय को समझ रहा हूँ, जालन्धरी। पर द्रव्य-यज्ञ के सहारे ही तो भाव-यज्ञ चल सकता है। द्रव्य-पदार्थ मे उन वैश्वानर को प्रकट करो, तो बहुत दिनों के अवसन्न अन्तराग्नि आपोआप ही चैतन्य हो उठेंगे। . . '

'होम-कुण्डों मे उन्हे प्रकट करते, और हव्यों की आहुतियाँ देते, हमारी पीढियाँ गुजर गयी। उनके द्वारा अब हम प्रजापति, अर्यमन और अंगिरस आदि पितृ-जनों को प्रसन्न नही कर पाते। यज्ञों द्वारा अब हम ब्राह्मण केवल अपनी ऐहिक लिप्साओं को तृप्त करते हैं।'

'सच कह रही हो, आर्ये ! अंगिरा के स्मरण मात्र से ही रोमांचित हो उठा हूं। उन्होंने ही सबसे पहले अग्नि का उद्घाटन किया था। उन्होंने ही सबसे पहले प्रकाश के दर्शन किये। यज्ञ के आदि पुरोधा वे ही थे। . . '

'मुने भूदेव ! उन अंगिरा द्वारा प्रकाशित, सर्वपावनकारी अग्नि को हमने अपनी ऐन्द्रिक लालसाओं से अपावन कर दिया है। वे आदि अग्नि वैश्वानर हैं। ब्रह्माण्ड के कण-कण के वे जीवन है। उन्हीं से सब कुछ चिन्मय है। वे सम्यक् दर्शन है, सम्यक् ज्ञान है, वे ही हमारे भीतर सम्यक् चारित्र्य प्रकट करते हैं। 'अग्निमाले पुरोहितम्'। वही हवन-कुण्ड मे सत्य की ज्वाला के रूप मे प्रकट होते है। वही अपनी आहुति है। वही अपने पुरोहित है। अपने भीतर की चैतन्य अग्नि मे, अपने अहम् और तज्जन्य वासनाओं की आहुति देना, यही सच्चा यज्ञ है। उत्तर आर्यों ने विषय-प्रमत्त होकर, यज्ञ के उस स्वरूप को भुला दिया है। आज वे केवल लौकिक और स्वर्गिक सुखों की प्राप्ति के लिए यज्ञ करते है। इसी से यज्ञेश्वर रूठ गये हैं। केवल बाह्य होमाग्नि प्रकट कर, उनका दर्शन और पूजन सम्भव नही। कामार्त और स्वार्थान्ध यज्ञों से उन्हें प्रसन्न नहीं किया जा सकता। वे सर्व चराचर के कल्याण के लिए हमारी आत्माहुति चाहते हैं . . !'

'तो देवा, बहुत दिनों से सूनी पड़ी यज्ञशाला में, अपने हाथों उन्हें प्रकटाओ। तुम्हारे हाथों वे सत्य रूप मे प्रकट होंगे।'

'नहीं, अब वे बहिर्यज्ञ से प्रीत नहीं होंगे। अन्तर्यज्ञ मे ही वे प्रकट हो सकेंगे। गयी रात मैंने देखा : वे मेरे अन्तर में शत-शत जिह्वाओं से विल्लमान हैं। मेरे रोम-रोम में आज अगिरा अंगारों से धधक रहे है। भूदेव, जाकर कह दो अपनी इस ब्रह्मपुरी के समस्त ब्राह्मणों से, कि अंगिरा तुम्हारे सर्वस्व की आहुति माँग रहे हैं। तुम्हारी लिप्साओं और वासनाओं का भक्षण करने के लिए वे सहस्रों जिह्व होकर लपलपा रहे हैं। . . अपनी ब्राह्मणी को पहचान सको तो पहचानो,

ब्रह्मदेव ! . .

'देख रहा हूँ, तुम साक्षात् गायत्री हो, जालन्धरी ! अंगिरसों, अत्रियों और भार्गवों की देवांशिनी बेटी हो। तुम्हीं यज्ञ की अग्नि बन कर प्रकट होओ ! अपने हुताशन के श्वेत अश्वों पर आरूढ़ होकर, अन्तरिक्ष में धावमान होओ ! द्यावा की उषा, पृथिवि पर उतरने के लिए तुम्हारे रथ की प्रतीक्षा में है। हमारी यज्ञशाला का द्रोण-कलश, उसकी सोम-सुरा का प्यासा है। उस सोम का अमृत सिंचित कर मृतप्राय ब्राह्मणत्व मे नवजीवन का संचार करो, देवा . . !'

'ब्रह्मदेव की अभीप्सा पूरी हो ! तब अंतिम रूप से जान लो, हवन-कुण्डों की स्थूल अग्नियों से अब परम अग्नि जागृत नहीं होंगे। अब हमें श्रमण-चर्या अंगीकार करनी होगी। अप्रमत्त भाव से दिन-रात तपस् के श्रम द्वारा, संघर्ष द्वारा, अन्तश्चैतन्य के वैश्वानर को प्रकट करना होगा। निरन्तर श्रम की आहुति से उन्हे तृप्त करना होगा। जब वे आप्यायित होंगे, तब आप ही उनमें से नवजीवन की उषा प्रकट होगी। उसके वक्षोज कुम्भ से सोम की अमृत-सुरा प्रवाहित होगी। . .'

'मधुच्छन्दा का कोई नया छन्द सुन रहा हूँ, देवा !'

'ठीक सुन रहे हैं, आर्य ऋषभ ! तप के प्रचण्ड पर्षण और आताप से ही सोमसुरा प्रकट होती है। तपस ही अमृत का स्रोत है। आत्म-संयम से कण कण को अभय करना होगा। भगवती अहिंसा ही सर्व को नवजीवन देने वाली उषा है। स्वयम् निरापद जियो, सर्व को निरापद जीने दो। स्वयम् अघात्य बनो, सर्व को अघात्य रहने दो। स्वयम् मृत्यु को जीतो, सर्व को मृत्यु से अमृत में ले चलो। पहले आत्म-मेध यज्ञ करना होगा, तब सर्वमेध उसमें से स्वयम् ही प्रतिफलित होगा। . .'

'लेकिन हमारे ऋषि पूर्वजों ने जो मन्त्र-दर्शन किया था, वह तो . .।'

'हमारे ऋषि पूर्वजों ने सत्यतः इसी सत् का मन्त्र-दर्शन किया था। कण-कण मे स्वतः व्याप्त अबाध आनन्द का बोध उन्होंने पाया था। अपनी विषय-वासनाओं से हमने भूमा के उस आनन्द को अल्प और मर्त्य कर दिया। हमने श्रौत यज्ञों के स्वार्थी, कर्मकाण्डी शास्त्र रच कर, परमाग्नि को अपनी ही ईहातृप्ति का साधन बना लिया। हमने वेद-पुरुष का घात किया है। आज ब्राह्मणत्व वेदच्युत हो गया है। वेद वेदाभास होकर रह गया है। दिवो-दुहिता गायत्री के स्तनों से भर्ग का दूध नहीं, आमिष रक्त की धारा बह रही है। मेरा रोम-रोम घायल है आज। . मेरी वेदना को समझो, कोडाल-पुत्र !'

'समझ रहा हूँ, भार्गवी। लेकिन श्रौत यज्ञों की जो परम्परा चली आयी है, वह क्या वेद-विहित नहीं ?'

'सुनें आर्य, वेद के ऋषि मूलत. कवि थे। उन्होंने सृष्टि में व्याप्त अनन्त सौन्दर्य और आनन्द का भाव-बोध पाया था। ऐन्द्रिक-मानसिक चेतना के स्तर पर, वे यज्ञों द्वारा उसी को अभिव्यक्ति देने लगे। पर वह आनन्द जब ऐन्द्रिक सीमा में अवरुद्ध होकर, मांस-माटी के मर्त्य अन्धकार में लुप्त होने लगा, तब श्रमणों ने प्रकट होकर, उसे मांस की कारा से मुक्त किया, और फिर से भूमा के चिदाकाश में विस्तीर्ण कर दिया। . .'

'तो इस परम्परा के आदि पुरुष कौन थे ?'

'भगवान ऋषभदेव। हमारे काल में जनक विदेह, याज्ञवल्क्य और महाश्रमण पार्श्व में वही

वेद-भगवान नवीन रूप मे उपनिपत् हुए है। ब्राह्मण केवल भोक्ता होकर नही, श्रमण होकर ही ब्राह्मणत्व को चरितार्थ कर सकेगा। सम्मेदशिखर के चूडान्त पर, जातरूप दिगम्बर पार्श्व मे, महातपस् के भीतर से परम अग्नि प्रकट हुए थे। उनके जाज्वल्यमान अग-अंग से अहिसा और अभय का अमृत सोम प्रवाहित हुआ है। उन मृत्युंजय को अब भी हमने नही पहचाना। हमारा दुर्भाग्य।'

'लेकिन देवा, कुरु-पाचाल के ब्राह्मण कहते है कि यह ब्राह्मणों के विरुद्ध क्षत्रियों का षड्यन्त्र है। उनका कहना है कि हम पूर्वांचल के ब्राह्मण, पार्श्वापत्य श्रमणों के अनुयायी होकर वेद-विद्रोही हो उठे है, कि हम वेद की मिथ्या व्याख्याएँ कर रहे है।'

'यह स्वार्थियों का ज्ञानाभास है, ऋषभ। ब्राह्मण और श्रमण मे कोई मौलिक भेद नहीं। एक ही परम चैतन्य की ये दो परस्पर पूरक धाराएँ है, जो आदिकाल से चली आयी है। कलह-प्रिय अज्ञानी और स्वार्थी ही भेद की दृष्टि उत्पन्न करते है। ब्राह्मण द्रष्टा है, श्रमण स्रष्टा है। ब्राह्मण ब्रह्म का दर्शन करता है, श्रमण उसका आचरण करता है। दर्शन और आचरण के बीच की खाई जब बहुत बडी हो जाती है तभी हमारे भीतर के चिद्पुरुष महाश्रमण के रूप मे प्रकट होते है।'

'समझ रहा हूँ, देवी। इस श्रृखला को कुछ और स्पष्ट करो।'

'जब विश्व-पुरुष प्रजापति के परमानन्द को ब्राह्मण अज्ञानवश मात्र ऐहिक ऐन्द्रिक पान कर, उस आनन्दाभास की तृप्ति मे ही प्रमत्त हो गये, तब वातरशना ऋषभदेव ने प्रकट होकर श्रमणचर्या द्वारा, स्वाधीन चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द का मार्ग प्रकाशित किया। बार-बार जब ब्रह्मानन्द का मार्ग भ्रष्ट हुआ, तब यथाक्रम अजित, घोर आंगिरस अरिष्टनेमि, याज्ञवल्क्य और पार्श्व के रूप मे परब्रह्म ने प्रकट होकर तप श्रम द्वारा चिदग्नि को पुन प्रज्ज्वलित किया। आनन्द के उद्गाता स्वयम् वैदिक ऋषियों ने ही क्या इन अर्हतों का नयगान नही किया है? . '

'और आज के इन क्षत्रिय राजर्षियों के विषय मे क्या कहना चाहती हो, देवा? कही यह क्षत्रियों का ब्राह्मण द्रोह तो नही?'

'यह द्रोह नहीं, आर्य ऋषभ। मिथ्यावाद का प्रतिवाद कर, फिर से मौलिक और नित-नव्य सम्वाद को प्रस्थापित करने की प्रक्रिया है। आज जब फिर से आत्म धर्म का विच्छेद हुआ है तो अगिरा और अत्रियों का प्रखर ब्रह्मतेज, क्षात्रतेज बन कर पथ-भ्रष्ट ब्राह्मणत्व के विरुद्ध उठा है। परम शान्त प्रजापति, तप और ज्ञान की वह्निमान तलवार लेकर, हिमाद्रि के शिखर पर विष्णु के रूप म प्रकट हुए है। अज्ञानान्धकार का ध्वस करने के लिए उनके दिगम्बर रोम रोम मे अग्नि रुद्र बन कर फुकार रहे है। विलुप्त वेद और भ्रष्ट ब्राह्मणत्व का परित्राण करने के लिए ही, स्वयम् आनन्द स्वरूप प्रजापति ने क्षात्रतेज धारण किया है। एक ही वेद-पुरुष की दो भुजाएँ है— ब्राह्मण और श्रमण। उनमे भेद कैसा?'

'फिर भी सुन तो रही हो नन्दा, कुरु-पाचाल मे अकुण्ठ भाव से हिसक सर्वमेध यज्ञ हो रहे है। कहाँ है जनमेजय, देवापि, जनक विदेह, याज्ञवल्क्य? कहाँ है महाश्रमण पार्श्व?'

'यही तो सारी रात अपने से पूछती रही हूँ! मेरा अणु-अणु इसी प्रश्न से उत्पीडित है। ओ वेद-पुरुष, प्रकट होकर भी फिर तुम लुप्त हो गये? . . निखिल चराचर का प्राण हत्यारों के छद्म यज्ञ मे आहुति हो रहा है! . मा हिस्या कह कर तुम फिर कहाँ चले

गये . . ?'

'शान्त होओ देवाशिनी, ऋषभ तुम्हारे साथ है ! जो चाहोगी वही होगा । . . पाकशाला में चलो । दोपहर ढल रही है । भोजन नही दोगी आज ?'

'भोजन ? . . कुरु पांचाल मे सहस्रों प्राणियों की निरन्तर आहुति हो रही है। . . कैसे भोजन करें हम ? उन प्राणों को अभय दे सकूं, यही तो एकमात्र भोजन आज तुम्हे दे सकती हूँ, आर्य । . . जीवन भर इस तन की भूख को अन्न का भोजन दिया । क्या वह तृप्त हो सकी ? . . लगता है आज मेरी भूख में स्वयम् भार्गव प्रकट हुए है । वे भोजन से शान्त नहीं होंगे। इस तन के पिण्ड की आहुति पाकर ही वे संतुष्ट होंगे । आज हमें स्वयम् ही, अपना भोजन बन जाना होगा, ऋषभ ! अपने ही से आपको तुष्ट करना होगा । यही तपस है, यही यज्ञ है । इसी से सोम प्रकट होंगे । कुरु-पांचाल में अहोरात्र जल रही हिंसा की ज्वाला को इसी सोम से शान्त करना होगा ।'

'तथास्तु देवि ! . . तो फिर क्या होगी आज की दिनचर्या ?'

'देख सको तो देखो, देवना, नदी-तट के गोचर में कुण्डपुर की सहस्रों गाएँ उन्मन भटक रही है । आज वे घास नहीं चर रही, केवल उदास विचर रही हैं । लोक में विश्व-प्राण की सामाग्रिक हत्या हो रही है । उसकी समवेदना से ये तिर्यंच पशु तक घायल हो गये हैं । पशुत्व तक भोजन से विमुख हो गया है । हो सके तो जाकर, आज सारा दिन उन्हीं के प्राणों में अपने प्राण की धारा को एकाकार करो . । और क्या कहूँ . . ?'

. चले गये ऋषभ ? जाओ, अपने नाम के अनुरूप ही ऋक और धर्म का आचरण करो । हतप्राण गौएँ वृषभ की खोज में हैं । . .

संजीवनी उषा पीठ फेर कर चली गयी । . . परम सत्य के स्वामी सूर्य भी आज उन्हीं की जामुनी कंचुकी मे छुप गये हैं । रह-रह कर बादल छा जाते हैं, उनकी कोरों पर से सविता की सुवर्णिम आभा किंचित् झाँक कर फिर स्तमित हो जाती है । नदी के इन बहते जलों में, वनस्पतियों में, हवा और बादलों मे, जीवन-मात्र में उन्ही की ऊष्मा अन्तर्निहित है । . . अपने पूर्ण और प्रचण्ड प्रताप से प्रकट होओ, सविता ' हे भर्ग, गायत्री आज मात्र मन्त्रोच्चार होकर तुष्ट नहीं । मेरी देह का रोम-रोम आज 'ओम् भूर्भुवः स्व. तत्सवितुर्वरेण्यं' हो उठा है । . . हे महातपस, दर्शन दो · इस मध्याह्न मे अपने समस्त तेज से मेरे अणु-अणु को प्रतप्त और वह्निमान कर दो . . ।

. . मै कृतार्थ हुई : मेरी प्रार्थना प्रतिफलित हुई । सब दिनों से असाधारण है आज तुम्हारा उत्ताप । . . मुझे दहो, मुझे दहो । मुझे गहो . मुझे गहो . . ! बाहर से रुद्ध हो रहे है, मेरे तन-मन, इन्द्रियों के द्वार । मै रह गयी हूँ, मात्र हवनकुण्ड । चेतो . . चेतो परमाग्नि, भस्म कर दो मेरे मांस-पिण्ड को : प्रस्रवित होओ मेरे भीतर अखिल के संजीवन सोम बन कर ! . . मैं मुदी जा रही हूँ, मैं निरस्तित्व हो रही हूँ !

• • •

'प्रचोदयात्' सविता दिन भर समरस तेज से जाज्वल्यमान रहे । साँझ होते-होते घनघोर बादल घिर

आये हैं। उनके गर्जन से वन-भूमियों में रोमहर्षण हो रहा है। धेनुओं को लेकर ऋषभ लौट आये हैं।

आकर देखा, देवानन्दा उसी शिलातल पर, मुदित नयन, ऊर्ध्वमुख, जानू सिकोड़े बैठी है। उसके ओंठों पर अस्फुट-सी मुस्कान खिली है।

ऋषभ की उपस्थिति का बोध पाकर, देवी ने सहसा आँखे खोलीं। . .

'सारे दिन प्रचण्ड सूर्य के तेज में आतापना झेली है तुमने, देवा। तपे हुए सुवर्ण-सी तुम्हारी यह मुखश्री अपूर्व है, देवी ! चल कर अब विश्राम करो।'

'आओ देवता, तुम आ गये ? अब पर्जन्य होकर प्रकट हुए है सविता। इनकी शीतल आर्द्रा के सिवाय और कहाँ विश्राम है ?'

'देवा, पर्जन्यों की इस जामुनी छाया मे तुम्हारा मुख कैसे अनूठे मार्दव से भर आया है। . इतनी कोमल तो तुम्हे कभी नहीं देखा ! जैसे पुडरीकिनी खिल आने को आतुर है !'

'जो है, उसे देखो आर्य !'

'इन मन्द्र गभीर गरजते पर्जन्यों से, इस तड़कती विद्युत से, मेरे प्राण भयाकुल है। . . और तुम्हारे इस सौन्दर्य का पार नही ! आज जितना अकेला तो मै कभी नही हुआ। . . भीतर चलो देवा !'

'नहीं ! . आज अकेले ही रहना है, तुम्हे, मुझे। यही शुद्ध स्वभाव है। चरम विरह के तट पर ही, परम मिलन होगा, ऋषभ। इस विरह को सहो, इस परमाग्नि मे तपो। विश्व-प्राण मे ही अब मिलन संभव है, तुम और मै के खण्डित प्राण मे नही। . जाओ देवता, अपने ही भीतर लौट जाओ। . वही मै मिलूंगी।'

पर्जन्यों की घनघोर आक्रान्ति के साथ, रात गहराती चली गयी। अन्धकार का राज्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच रहा है। सब कुछ अचिन्ह, असूझ, अभेद्य हो गया है। क्या अन्धकार अपनी ही निदारुण आकुलता से छटपटाता हुआ, अपने ही भीतर फूट पड़ेगा ? तमस के सारे कोषावरण भिदते जा रहे हैं। फूट कर, इसके सीमान्त पर क्या होगा ?

. माँ अदिति, कहाँ हो तुम ? असह्य है यह अन्धकार की कारा। विवश, असहाय, विशीर्ण हो रही है मेरे तन, मन, प्राण की पर्तें, इस तमस की गहराइयों मे। मेरी विरह-वेदना का अन्त नही है। निखिल प्राण की धारा मे बिछुड़ी जा रही हूँ। . . दूरियों में देख रही हूँ —हजारों पशुओं और मानवों की करुण-कातर, मूक आक्रन्दभरी आँखे, सौ-सौ सर्वभक्षिणी ज्वालाओं को विवश ताक रही है। वे मेरे सारे शिशु, मुझसे किसने छीन लिये हैं ? आर्त नयनों से वे दिगन्तों मे मुझे ही तो टोह रहे है। उनके अवरुद्ध से मेरी कोख फटी जा रही है। मेरी नसें छिन्न-भिन्न हो रही है। .

. . मेरे नाड़ी-केन्द्र में फूटो माँ, उठो माँ अदिति। तुम्हारे जाये को धारे बिना मेरी देह की धरित्री अब अस्तित्व में नही रह सकेगी। अस्ति के इस छोर पर, मेरी वेदना और भय का अन्त नहीं। इसके आगे नास्ति का अन्धकार है . . असत्ता की बीहड़ अथाह खाइयाँ हैं। . .

. . मेरे भीतर प्रकटो माँ, मुझे थामो माँ। मैं गिरी . . मैं गिरी . . मैं गिरी जा रही हूँ। ये कैसी मूर्च्छा के दुर्दाम हिलोरे हैं। . . मैं गयी . . मैं डूबी . . मैं डूबी . . मैं नहीं रह

गयी . .

. . फिर यह कौन है जो देख रहा है, अनुभव कर रहा है, कि अन्धकार का सीमान्त टूटने जा रहा है। . . लो, यह टूटा, यह विस्फोटित हो गया। मेरे मूलाधार मे से मेरी कोख ऊपर उठी आ रही है। अशेष ऊपर उठती ही चली आ रही है। देख रही हूँ, एक शुद्ध रक्ताभ कोकनद, ध्वान्तों के वातवलयों को चीर कर, ऊर्ध्वों मे उत्तरोत्तर ऊपर-ऊपर . और ऊपर उठता जा रहा है। मेरे नाड़ी-मण्डल को तोडकर उद्भिन्न है मेरा यह अस्तित्व। मेरी सत्ता, मात्र कोख बन कर दिगन्तों तक व्याप गयी है। ओ तू, तुझे धारण करूँ, या फिर विदीर्ण होकर, शून्य मे विलीन हो जाऊँ ! .

. . देख रही हूँ, ऊर्ध्वान्त मे से यह कौन सुवर्ण-पुरुष सिंह पर आरोहण करता चला आ रहा है। एक अभिताभ तारुण्य, जो मेरी अभीप्सा की अनी पर आकार ले रहा है ।

लो, यह मेरी उद्भिन्न कोख के जाज्वल्य कमल मे उतरा चला आ रहा है। आह, अगम्य है इसका तेज, इसका प्रताप, इसका अजर यौवन और सौन्दर्य। ओ अनन्त, कैसे समा सकूँगी तुम्हें अपने मे । फोड़ दो मेरे इस मासल गर्भ की मर्म-ग्रन्थि को ! मुझे विसर्जित करो मनचाही, और समा जाओ मेरे भीतर। मेरी वेदना और व्याकुलता का अन्त नहीं।

उतर आये तुम ! मैं पैन चली अपने से परे। ओ विशुद्ध, नग्न वैश्वानर, तुम जो मेरे अगाधों को भेदते चले आ रहे हो तुम कौन हो ?

और देवानन्दा शान्त, निस्तरंग निस्तब्ध, निस्पन्द, एक अथाह समाधि सुख मे जाने कब तक निमज्जित हो रही।

एकाएक वह प्रचेतन हुई।

समाधीत हुई मैं, कृतकाम हुई मैं, परितृप्त हुई मैं। यज्ञ-पुरुष, परित्राता, तुम आ गये . !

परम समाधान की मुद्रा मे, पूर्ण जागृत उदग्रीव होकर देवानन्दा ने चहुँ ओर निहारा दिखायी पड़ा वह सिंह पर आरूढ़ सुवर्ण पुरुष, हिरण्यवती को पार कर, क्षितिज को चीरता हुआ, क्षत्रिय कुण्डपुर की ओर धावमान है।

• • •

प्रतीक्षा करो, प्रियकारिणी

आज सवेरे जागी, तो देखा कि फूलों के समुद्र मे से उभरी हूँ। अंग-अंग फूलों से लदी डाली हो गया है। रोम-रोम मे से रह रहकर नये फूल फूट रहे है। परिमल से भीनी हवा मे, जाने कैसी पीलिमा छा गई है। सारा दिन एक विचित्र डूबन की तन्द्रा मे बीता है।

अब साँझ होते-होते, जाने कब इस सात-खण्डे महल की उत्तुंग छत पर चली आई हूँ। चारों ओर देख रही हूँ, तो पाती हूँ कि दिशाओं की नीलिमा जैसे चिन्मय हो उठी है। तमाम दूरियों के पार, वहाँ अन्तिम पानियों के किनारे हैं। एक लहर वहाँ से आती है, तो यह सारी सृष्टि उसके बहाव में तरल हो जाती है। सब-कुछ के भीतर की द्रव्यता अपने आर-पार प्रवाहित-सी लगती है।

और अपने पूरे अस्तित्व को, अपने समूचे आसपास को, एक नये ही संदर्भ मे पढ़ रही हूँ। अपने को एक नयी रोशनी मे पहचान रही हूँ। मैं त्रिशला, विश्व-विख्यात वैशाली के गणाधिपति महाराज चेटक की सबसे बड़ी बेटी हू। वाशिष्ठ क्षत्रियों का यह कुल, इक्ष्वाकुओं की गौरवशाली परम्परा है। अभी कल ही की तो बात है कि हमारे पूर्वज जनक ने विदेह होकर, सदेह जगत के तमाम ऐश्वर्यों को यहाँ अचूक भोगा था। उससे ऐसी महिमा प्रकट हुई थी कि आर्यावर्त्त के इस प्रदेश का नाम ही विदेह हो गया। जानकी सीता वैदेही कहलाई . और मेरी शिराओं में गूंज उठा है: 'तू भी तो वैदेही है, त्रिशला ! ' चाहने को और क्या रह जाता है।

ओर ब्याह कर मै ज्ञातृ-वंशीय महाराज सिद्धार्थ की महारानी बन कर, क्षत्रिय कुण्डपुर के इस राजमहल मे आई हूं। इस समूचे कोल्लाग सन्निवेश की अधीश्वरी हू। अपने स्वायत्त राज्य के सीमान्तो को देख रही हूं। पूर्व मे वह अरण्यो का प्रदेश है। सुनती हूँ, उसके कई वनखण्ड अभेद्य है। वहाँ आज तक मनुष्य का पद संचार नही हुआ। पश्चिम मे कोसल, कुशिनारा और पावा के प्रबल मल्लो के राज्य है। दक्षिण मे हहराती विपुल-वक्षा गंगा, जैसे इस क्षण मेरे आँचल मे उफन आई है। पश्चिम मे हिमालय की तलहटी के वे दुर्गम देवदारु वन जैसे मेरी बाँहे बन कर फैले है।

लिच्छवियों की इसी वैशाली मे, गणतन्त्र राज्य की नींव पड़ी है। यहाँ के संसार प्रसिद्ध संथागार मे, हर नागरिक अपने अधिकारो का स्वायत्त निर्णायक है। अभी और यहाँ, मनुष्य की प्राथमिक स्वतन्त्रता पहली, सर्वांगीण रूप से परिभाषित हुई है। 'विदेहों की वैशाली' मे परम मुक्ति का ही नहीं, प्राथमिक स्वातन्त्र्य का सूर्य भी अपनी परिपूर्ण प्रभा से जगमगाया है। इस हद तक कि हर लिच्छवि, अपने को राजा कहता है। हर मनुष्य यहाँ अपना राजा है।

वैशाली के महलो मे हो कि कुण्डपुर के इस 'नन्द्यावर्त प्रासाद' मे हो, संसार का कोई सुख मुझे अनजाना नही रहा। किसी भी चीज की तो कमी नहीं रही। केवल एक ही कमी आज हृदय को साल रही है . कि कोई कष्ट , कोई कर्म तो होती, कि जिसके झरोखे से संसार की सीमा का बोध हो सकता। दुःख के बिना, यह सुख चित्र-लिखित-सा लगता है। इतना सपाट कि इसमे कोई गहराई, ऊँचाई, चतुर्मुखता, विविधता हाथ ही नही आती। इस आयामहीन सुख मे अब मन रमता नही। आज लग रहा है, जैसे इससे निकलकर कहीं चले जाना है। कहाँ, सो नही मालूम।

ऐसा भी क्या पुण्य कि अपने जीवनकाल मे, पीहर और ससुराल मे कहीं भी मृत्यु नहीं देखी। शुरू से ही बहुत स्वतन्त्र स्वभाव की हूँ। और फिर स्वातन्त्र्य सूर्य के अप्रतिम देश वैशाली की बेटी और बहू हूँ। इसी कारण , अपने स्वभाव के अनुरूप ही, लड़कपन मे जब चाहूँ कहीं भी विचरने की छुट्टी मुझे रही है। महल के रत्न-दीपों की जड़ रोशनी से भाग कर, कई बार अपने राज्य के नगर-ग्रामों और वन कान्तारों में भटकी हूँ। वैशाली की राजबाला ने रथ की मर्यादा तोड़कर, धूल-कंकड़, काँटों, चट्टानों का अनुभव भी किया है। इस जनपद में अन्न-वस्त्र, आवास

का अभाव बेशक नही है। पर धनी और निर्धन के अन्तर को अपनी आँखों देखा है। क्षय, रोग, बुढ़ापे और मृत्यु के दृश्य देखे है। दूरी मे ओझल होती शव-यात्रा और धाड़ मार कर रोते वियोगियों का शोक-संताप देखकर, मेरी तहे काँपी है।

याद आ रहा है, एक बार अर्थी पर लेटे, सुन्दर मृत युवा के चेहरे को देख, घर लौटने से मन ने इन्कार कर दिया था। ऐसा लगा था, जैसे रथ पर चढ़कर महल नहीं लौटी थी, अर्थी पर चढ़कर उस युवा को जीवन मे लौटा लाने की जिद लेकर श्मशान के पार कही भटक गयी थी। पर क्या लौटाकर ला सकी? . अपनी फूलों छायी रत्न-शैया पर कितनी अकेली, वियोगिनी पाया था अपने को। क्या इस क्षण तक का कोई भी सुख, मेरे वियोग के उस क्षत को भर सका है? भवन द्वार मे भीगी शेफाली-सी, उस तन्वंगी लड़की का सोहाग-सिन्दूर, और भाल तिलक अतिम रूप से पुँछते देखा था उसके धूल-चाटते कंकण और सूनी कलाइयाँ देखी थी। उसने अपने का अलग नही रख सकी थी। इसी से तो मेरी चेतना, राजरथ को ठेल कर, श्मशानों के पार भटकने चली गई थी।. . लौटकर, अपनी बिछुड़ी काया को, क्या रत्न-शैया मे जीवित पा सकी थी . आज अपने फूलों छाये अग-अंग मे उस मृत्यु को गुँथा देख रही हूँ। उस वियोगिनी बाला का, वह आँसू धुला आक्रंदित चेहरा, इस क्षण मेरी आँखों की पुतलियाँ बन गया है।

लो, पश्चिमी क्षितिज पर गहरे गहरे बादल घिर आये है। आषाढ़ के बादल। याद आया, आज आषाढ़ की शुक्ला छठ है। चन्द्रमा उत्तराषाढ नक्षत्र मे आये है। सुदूर द्युतिपलाश-चैत्य के उपवन पर, कचनार के फूलों से हलके जामुनी बादल घने हो रहे है। एक गुलाबी सी बिजली उसमे रह रहकर कौंध उठती है।

सल्लकी वन की गन्ध लिये हलकी-सी फुहार बरसने लगी है। और देखते-देखते पारान्तर मे हिमालय की हिमवृत्त चोटियाँ पिघल चली है। क्षितिज मे भरे वृक्षों की हरियाली श्रेणियाँ बह निकली है। ग्रीष्म मे दहकते केशरिया पलाश, और कृष्णचूडा के कुंकुमी फूलवन बादलों मे घुल रहे है।

औचक ही यह क्या देख रही हूँ कि फुहारों की बेमालूम-सी नीहार मे, जाने कितने रगों की रत्न-राशियाँ जगमग उठी है। और अगले ही क्षण धारासार तरल रत्नों की वर्षा होने लगी है। हिमालय की चूडाएँ हीरक तुहिन होकर बरस रही है। दूर दूर की वनालिया, मर्कत की धाराएँ हो गई है। द्युतिपलाश उपवन के पद्म-सरोवर, पद्मराग मणियाँ बनकर चारों ओर छा गये है। दिशाओ की चिन्मय नीलिमा, नीलम की द्रवित शिलाओं सी उमड़ कर नन्द्यावर्त महल की इस छत पर आकर जड गयी है। . द्रव जलधाराओ मे जाने कितने रगों के रत्नों की आभाएँ, एक-दूसरे मे मिल-जुलकर एक विराट् इन्द्रधनुष की तरह समूचे लोकाकाश मे छा गई है। और जैसे एक तैरते शृंग पर अकेली खड़ी हूँ मै, त्रिशला। और रत्नों का यह आप्लावन मेरे पैर पखार रहा है।. .

आज लगभग छह महीने हो गये है। चाहे जब इसी तरह रत्नों की वर्षा होने लगती है। तरल जलधारों मे बरस कर, ये रंगीन द्रव, पृथ्वी छूते ही कई-कई पहलुओं वाली जगमगाती शिलाएँ, रत्न-खण्ड, भास्वर कणिकाएँ, चमकीली धूल हो जाते है। सुनती हूँ, सारे जनपद में लोगों ने इतने रत्न बटोर लिये है, कि उनके घरों मे इन्हे रखने की अब जगह नही रह गई है। नागरिक

अब इनकी परवाह तक नही करते, और जाने कब ये फिर माटी हो जाते है। वैशाली की हर कन्या, इन दिनों रत्न के दर्पण मे ही अपना शृंगार-प्रसाधन करती है।

और हमारे इस नद्यावर्त महल मे तो हर क्षण एक चमत्कार हो गया है। महीनों की इस रत्न-वर्षा से, महल का एक एक कक्ष दिन रात तरल-रत्नाभा मे तैरता रहता है। और जाने कितनी विचित्र सुगन्धे, स्पर्श और ध्वनियाँ, इन द्रव्य-तरंगों मे महसूस होती रहती है। दीवारों पर आपोआप ही रत्निम रगों के दिव्य चित्र अकित हो गये है। इन चित्रों की आकृतियाँ और भाव इतने सूक्ष्म, जटिल और बहुआयामी है, कि कुछ भी समझ मे नही आता, बस एक घनीभूत, अविरल सौन्दर्यानुभूति होती रहती है।

आये दिन राज सभा मे द्वीपान्तरों और देशान्तरों के वणिक, मनिहार और मल्लाह महाराज को अकारण ही अजूबा वस्तुएँ भेट कर जाते है। जिनका मूल्य आँकना मानवीय बुद्धि से परे हो गया है। अभी उस दिन पूर्व के अगम्य अरण्य की एक भीलनी आई थी। वह एक विचित्र रत्न-करण्डक दे गयी। कहती थी, इसे खोलें नही, बस कक्ष के कोने मे रक्खे रहे, इसमे बसे है नागेन्द्र। हर इच्छा के उत्तर मे सामने एक मणि तैरा देते है। इसी सामने के कक्ष मे वह करण्डक रखा है। इस क्रीडा कौतूहल मे खेलने अब मन मे कोई इच्छा ही नही बची। नागेन्द्र जाने क्या सोचते होंगे? ऐसे ही जाने कितनी धरती मे गडी निधियाँ, वैभव विलास की सामग्रियों से भरी अपार्थिव मंजूषाएँ, अगम्य समुद्रों के मल्लाहों द्वारा लाये गये अपूर्व विशाल मुक्ताओं की झारियाँ और चषक। विचित्र रंगीन धातुओ के भाण्ड, प्रकृत प्रभास्वर शिलाओं के भद्रासन, सिंहासन, पर्यंक और पालकियाँ, हमारे वन उपवन और इस राजोद्यान के केलि सरोवरों मे कमलों की पाँखुरियाँ सुगंध और पराग तक जैसे रत्निम रसायनों सी हो उठी है। सारी पृथ्वी और स्वर्ग का ऐश्वर्य इस महल मे एकत्रित हो गया है। इतना कि घर और उसके सुख की यह सकुलता अब असह्य हो गई है।

कोई इन आश्चर्य घटनाओ का कारण नही बूझ पाता है। कई ज्ञानी विज्ञानी प्रयत्न करके थक गये। एक श्रमण आचार्य केशी ही पुनिपलाश चैत्य मे आये थे। मेरे जिज्ञासा करने पर बोले 'महारानी, इस रहस्य को खोलना उचित नही। द्रव्यों के अनन्त गुण और पर्याय है। कुछ भी संभव है। असंभव कुछ नही। ज्ञानी के लिए कुछ भी चमत्कार नही। सब हस्तामलकवत् है। अज्ञानी के लिए, सब ही यह रहस्य है, चमत्कार है, जादू है।' और अन्त मे मेरी ओर दृष्टि स्थिर कर बोले थे -

'महाभाग कल्याणी प्रियकारिणी त्रिशला, कुछ अपूर्व होने वाला है!'

'भगवन्, जिज्ञासा तृप्त करे। क्या होगा वह अपूर्व?'

'यथा समय आप जान जाओगी, अपूर्व क्या! घटित होने पर जानोगी ही। प्रतीक्षा करो, प्रियकारिणी!'

मै पूछती रह गई। आचार्य चुपचाप चल दिये।

ग्रन्थिभेद की रात

'प्रतीक्षा करो, प्रियकारिणी' : ये शब्द उसी क्षण से मेरे आरपार गूँज रहे हैं। मेरा अस्तित्व स्वयम् ही जैसे बोल उठा है। याद आ रहा है, जिस दिन से होश में आयी, अपने को निरन्तर जाने किस अज्ञात की प्रतीक्षा करते पाया है। यही मेरे प्राण का एकमेव सम्वेदन और आनन्द रहा है। इसी पुकार से विवश होकर तो, जाने कहाँ-कहाँ भटकी हूँ। जाने क्या-क्या खोजती फिरी हूँ।

. . और इसी खोज की राह में एकाएक पाया, कि सब मुझे प्रियकारिणी कहने लगे हैं। राजपुत्री की तरह, दुर्लभ मैं कभी नहीं रह सकी। समग्र जनगण की बेटी होकर ही मानो जन्मी थी। इसी से बचपन से ही, वैशाली के जनगण के बीच अबाध विचरने लगी थी। धनी-निर्धन सभी के घर-आँगन समान रूप से मेरी दुरन्त बाल-लीला के प्रांगण हो रहे। राजमहल से लगा कर, वन के पहाड़, पेड़, पंछी, नदी, घास-पात, फूल-पत्ती, कीट-पतंग सभी के प्रति मेरे जी में एक-सा प्यार उमड़ता रहता था। कई बार हिमालय की नीरव चोटी से डाक सुनायी पड़ी है : 'प्रियकारिणी !'

और यहाँ ससुराल में आकर पाया, कोई मुझे त्रिशला कह कर नहीं पुकारता। सभी के ओठों से एक ही नाम निकलता है : 'प्रियकारिणी !' ऐसा क्या है मुझमें, कि अकारण ही सब की यों प्रिय होकर रह गयी हूँ।



. . रत्नों की वर्षा अब विरल हो गयी है। बहुत महीन, कई हलके-हलके रंगों की नीहार दूरान्तों तक व्याप्त है। और मैं इन नानारंगी आभाओं के प्रान्तरों मे अकेली विचर रही हूँ। निरी नग्न और अन्तहीन प्रतीक्षा ! . . मैं नहीं।

एकाएक पश्चिम में एक प्रचण्ड विस्फोट के साथ बिजली कड़की। विद्युत की एक सर्पीली शलाका-मेरे मेरुदण्ड में लहरा गयी। मन्द्र गंभीर घन-गर्जन में घिरती चली जा रही हूँ। यह क्या देख रही हूँ। . . बहुसाल-वन के शिखरों के पार, हिरण्यवती की लहरों पर सुवर्ण की रज बरस रही है। देखते-देखते वह अपसारित हो चली। और हिरण्य के एक विशाल प्रभामण्डल में आकृत हो गई। एक दूसरा ही सूर्य हो जैसे, जो अस्त होना नहीं जानता। सान्ध्य नदी की शान्त लहरों पर गतिमान वह प्रभामण्डल, मेरी ओर चला आ रहा है।

. . कब आँखें मिंच गयीं, नहीं मालूम। कब इस गगन-अटारी के शयनकक्ष में आकर लेट गई, सो भी नहीं मालूम। कुंद, कचनार, बेला और पारिजात के विपुल फूलों और मालाओं से आवृत्त इस पद्मराग मणि के गुलाबी पर्यंक पर अकेली लेटी हूँ। गवाक्ष की जाली में, पानी भरी एक गर्भित बदली के भीतर, अन्तिम किरण नाग-चम्पा के एक फूल-सी ठहरी है। . . देखते-देखते वह भी झर गई। वहाँ जामली अँधेरा उभर रहा है।

इस विशाल कक्ष का रत्न-परिच्छद कितना कोमल और तरल हो आया है। बहुरंगी मणियों की मीनाकारी और चित्रसारी से खचित छत ◌ : दीवारें कितनी उज्जीवित हो मुझे ताक रही हैं। उनमें जड़े विशाल हीरक दर्पणों में यह एक ही कक्ष सहस्रों कक्षों में खुलता जा रहा है। दोनों ओर अन्तहीन पर्यंकों पर, अनन्त त्रिशलाएँ लेटी हैं। मैं कौन हूँ इनमें, पहचानना कठिन हो गया है। हंसगर्भ शिला में से तराशा हुआ वह सिंहासन, लोहिताक्ष मणि के वे भद्रासन, माणिक और पन्नों की चौकियाँ, उन पर पुखराज और ज्योतिरस की झारियाँ, वैडूर्य के चषकों में प्रियंगु और सहकार फूलों की सज्जा : इन सब में जैसे कई-कई आँखें खुल कर मेरी ओर एकटक देख रही हैं। उस कोने में पड़ा है, कुण्डीकृत नाग-सा वह रहस्यमय करण्डक, जो वह भीलनी लायी थी। मेरे न चाहते भी, तरह-तरह की इच्छा-मणियाँ उसमें से तैर आती हैं। और फिर विफल होकर स्यमन्तक रत्न की इस लहराविल फर्श में लीन हो जाती हैं।

ऊपर वहाँ पारस्य देश की पारसमणि में से तराशी हुई गन्धकुटी में अर्हत् की जलकान्त प्रतिमा आसन से उत्थान करती दीख रही है। उसकी पाद-कर्णिका में अवस्थित निष्कम्प दीपशिखा, अनायास संचारित है। एक लौ, दोनों ओर के दर्पणों में हजारों पंक्तियों में मंडलाकार मेरे चहुँ ओर घूमती-सी जैसे मेरी आरती उतार रही है। कालगुरु और दशांग धूप की पवित्र सुवास में कोई निराकारता, कहीं आकार धारण कर रही है।

अलक्षेन्द्रा के फुलैलों की मंजूषाएँ, आपोआप खुल कर सामने प्रस्तुत हैं। कलशाकार शीशियों में भरे द्रव स्वयमेव ही हवा में तरंगित है। द्वार-कक्ष में पड़ा है वह प्रकाण्ड बिल्लौरी भांड। उसमें सात समुद्रों के जल, अलग-अलग सात तहों में झलक रहे हैं। उनकी अलग-अलग रंग-प्रभाएँ साफ दीख रही हैं। दीवाल में टंगी स्फटिक मंजूषा में नीलनदी की जलधारा स्वाभाविक-सी प्रवाहित है।

पायताने कोने में निरवलम्ब खड़ी-सी वीणा मानो आज अपने आप ही, अनेक राग-रागिनियों में बज रही है। उस संगीत की गहरी और ऊँची मूर्च्छाओं के साथ, मेरी शैया में ये कैसे आरोह और अवरोह स्पन्दित हैं। जैसे हिण्डोलते पानियों के गहरावों में लेटी हूँ। कुछ भी स्थिर नहीं रह गया है। एक निरन्तर ऊर्मिलता के लोक में जाने कहाँ उत्तीर्ण हो गई हूँ।

सिरहाने की हंसतूली अवकाश में यह कैसी बारीक चित्रकारी-सी कर रही है। वस्तुमात्र उसका रंग-चषक बन गई हैं। . अलक्ष्य शून्य में से रेखाएँ उभर रही हैं। वर्तुल बनते-बनते, चौकोर हो जाते हैं, चौकोर षट्कोण हो जाते हैं। षट्कोण सहस्र कोण हो जाते हैं। एक वृहदाकार हीरे के सहस्र पहलुओं में द्वार के पार द्वार, वातायन पर वातायन, आँगन के पार आंगन खुलते ही जा रहे हैं। और फिर एक अन्तहीन स्फटिक का दालान : हजारों खम्भों की सरणियाँ। छोर पर एक अथाह जलिमा :नीलिमा का शून्य। वीणा की रागिनी के छोर पर खुलता-सा। मेरी प्रतीक्षा का सीमान्त ! . .

कौन आने वाला है ? . . कौन . . कौन . . कौन ? आओ न . . आओ ! चिरकाल से तुम्हारी राह बन कर बिछी हूँ। . . अणु-अणु में तुम्हारी नीरव पदचाप सुनी है। तुम्हारे आने और न आने का अन्त नहीं। मेरे ही भीतर की शुद्ध ऊर्मिलता के सिवा और क्या हो तुम ? आज उसे नग्न, अपने भीतर उभरती देख रही हूँ। ओ शुद्ध परिणमन, आकार धारण करो, मेरी बाँहों में . . आओ . . आओ तुम !



'प्रियकारिणी . . !'

दूर के पानियों पर से आती आवाज़ सुनकर मैं जागी। सामने के इन्द्रनील पर्यंक की कचनार शैया में महाराज अधलेटे हैं। यह सम्बोधन आज कितना गहरा और एकान्तिक है।

'स्वामी . . ! आ गये !'

'केवल देख रहा था तुम्हे . . जाने कब से !'

'और पुकारा, इतनी देर बाद ?'

'नही तो ! मैने तो नही पुकारा !'

'मैने जो वह अचूक संबोधन सुना है अभी, और मैं जग पड़ी !'

'त्रिशा, बस देख रहा हूँ तुम्हें अन्तहीन। केवल ऑखें रह गया हूं। एकाग्र ऑंखें। वही पुकार उठी हों, तो बात दूसरी है।'

'नाथ . !'

'आज पहली बार वैशाली की वैदेही को देखा !'

'नहीं, इस शून्य मे मुझे यों अकेली न छोड़ो। यह विदेहता असह्य हो गयी है। मुझे देह के तट पर खींचो। . स्वामी !'

'देह म ही तो देखा है आज वदेही का सौन्दर्य ' तुम्हारे सर्वांग रूप मे देखी है, वह चम्पक आभा। इतनी स्पर्शित मेरी देह मे सहज, कि पुकारना, छूना, कुछ भी आवश्यक न रहा।'

'देव, लगता है, आज पहली बार आये हो मेरे पास ! इससे पहले जो तुम आये, नही जानती कौन थे ?'

'मै सिद्धार्थ नहीं था ?'

'नाम-रूप से मुझे मत परखो। तुम, जो केवल तुम हो, आज ही तो आये हो !'

'मतलब ?'

' देश काल के जाने कितने असंख्य कुंचित यात्रा-पथों में तुम्हे पुकारती भटक रही थी, जाने कब से। उस भटकन मे आज तुमने पहली बार पुकारा, और मै लौट आई . .। निरी वायवी हो गई हूँ। मुझे देह-तट मे खींच लो समूची !'

महाराज अपने तन-मन के समूचे आलोड़न को ऑखों मे एकाग्र कर, त्रिशला की ऑंखों की उस अगाध डूबन मे जैसे तैर गये।

' . . स्वामी, पा गयी तुम्हारी तैरती बाहुओं के किनारे।'

'प्रियकारिणी, कैसी सुहानी रात है यह ! बाहर आषाढ़ की पहली बदली बरस रही है। सब कुछ एकाकार हो गया है। जल . . जल और केवल जल।'

'और प्रियतम, हवा म यह कैसे अज्ञात फूलों की विचित्र गंध महक रही है। जलफूलों की गन्ध, बादल-फूलों की परिमल ! ये पार्थिव फूल नहीं। जाने किस शुद्ध पानी के लोक से आ रही है यह गन्ध।'

'लावण्य का वह अंतिम समुद्र, यही तो लेटा है, इस सामने की शैया मे ! अपने बाहुतट की जलजूही को पहचानो, प्रियकारिणी।'

'ओह . सचमुच ! तुम्हारी ऑखों से ही तो अपने को देख सकती हूँ, मेरे वल्लभ !

आज सबेरे ही, जैसे फूलों के समुद्र में से उठी थी। कैसा विचित्र अनुभव था। मेरी हर अनुभूति में खेल रहे हो तुम। केवल तुम्हीं '

'काश्यप सिद्धार्थ हुआ तुम्हें पाकर, त्रिशा ! '

'लेकिन मेरे प्रभु, बाहुतट के ये फूल झर रहे हैं, एक-एक कर। एक दिन ये सब झर जायेंगे। तब . . ?'

'तुम्हारी बाहुएँ सदा-वसन्त हैं, रानी ! वे नित-नूतन पुष्पित होती चली जायेंगी . . ।'

'पर, मैंने देखा है, इन फूलों की नसों में व्याप्त मृत्यु को ! . . नहीं, मैं अब किसी भ्रम में नहीं हूँ। कभी नहीं थी।'

'क्या कह रही हो, त्रिशा ?'

'वैशाली के आँगन में, मैंने एक शेफाली को अंतिम रूप से झरते देखा था। उस बाला की वह निष्प्रभ मुखश्री भूलती नहीं है। पहली रात ही, तुम्हें वह कहानी कही थी, और तब मैं बहुत अनमनी हो गई थी। और तुम मुझे किसी भी तरह मना नहीं सके थे। . . हमारी सोहागरात अछूती ही बीत गई थी ! '

राजा सुनकर सहम उठे। उनके भीतर अँधियारे अतल खुल पड़े। भयार्त, वे चुप हो रहे। एक गंभीर सन्नाटे में, तमस का एकाकी द्वीप तैर रहा था।

'प्रियकारिणी . . ! '

'पहली ही रात, तुम्हारी अप्रिय हो रही। प्रियकारिणी कैसी . . मैं ?'

'वह सर्व की प्रियकारिणी का विषाद था। और भी अधिक प्रिय लगी थीं तुम, अपनी उस चरम विरह-वेदना में।. . और अब आज तो, बरसों की आहुति के बाद, तुम्हारी अग्नि सोम बनकर झर रही है तुम्हारे सर्वांग में। सोम तो सुधा है, रानी। सुधा-सरोवर के तट पर कल्प-लताएँ बन छायी हैं, आज तुम्हारी बाहुएँ। इन फूलों में मृत्यु कैसी . . ?'

'उत्तर नहीं मिला, देवता, भाषा में समझा नहीं सकूंगी।'

'तो मेरा स्पर्श तुम तक नहीं पहुँच सका, प्राण ! '

और महाराज अंजुलि-से नम्रीभूत हो रानी को निहारते रह गये। सोमसुधा से छलकती गहरी आँखों से त्रिशला, महाराज की उन आँखों में बेबस ढलक पड़ी।

' . . अँधेरी जो हो गई हूँ, शून्य। तुम्हारा दोष नहीं, अपने इस विचित्र मन से हार गई हूँ।'

'वहाँ मेरा प्रवेश नहीं ?'

''क्यों कातर हो गये ! मेरे अणु-अणु में तुम्हारा प्रवेश निर्बाध है। पर मेरी चेतना की यह ग्रंथि, किसी तरह खुल नहीं पा रही। और तुम्हें अपने भीतर लेकर भी, बार-बार मैं तुमसे बिछुड़ी ही रह गई हूँ।'

'तो सुनो, उस ग्रंथि को भेदे बिना मुझे भी चैन नहीं। . . '

'तो और आगे आओ, मेरी वेदना के ज्वालादेश को पार करते चले जाओ ! . . विश्वास रक्खो, तुम्हें जलने नहीं दूंगी। . . '

'तुम मुझे खींचती चली जाना . तुम्हारी कलाई की तनिमा, तुम्हारी मुट्ठी का मार्दव मुझे

अव्याबाध कर देगा। तब तुम्हारा पूर्णकाम पुरुष, तुम जहाँ तक चाहोगी, चला आयेगा तुम्हारे भभीतर।'

'उस अथाह अन्धकार का अन्त नहीं, देवता ! मेरे छोर पर पहुँच कर, मृत्यु की खंदक में कूद जाना होगा।'

'कूद जाऊँगा, क्योंकि तुम्हें पाकर प्रतीति हो गई है, कि मृत्यु ही जीवन का अन्त नहीं है। उस अन्धकार में भी तुम्ही हो, मृत्यु में भी तुम्हीं हो, और पर पार के तट पर भी तुम्हीं खड़ी हो, एक नये सूर्योदय में।'

'आह, अपूर्व है आज की यह रात। ग्रंथिभेद की रात ! मेरे चिर दिन के मुद्रित कमलकोश में, आज तुमने यह कैसी सिहरन जगा दी है। पाँखुरी-पाँखुरी में एक लोहित ज्वाला खेल गई है. . . फूट आने को व्याकुल हो उठा कमल। पर उसके हार्द की ग्रंथि . . मेरे पुरुष के तेज का अन्तिम आघात चाहती है . .। अपूर्व है यह रात, मेरे सूर्य, जिसमें तुम उगा चाहते हो !'

'. . लो, तुम्हारी अँधियारी खंदक के तट पर प्रस्तुत हूँ। अपनी आँखों से एक बार कह दो : और इस मृत्यु मे कूद पड़ूँगा ! . . '

'तो कूद पड़ो, आत्मन् ! मै ही वह खन्दक हूँ। ओ दिगम्बर पुरुष मुझे भेदो, मुझे पार करो . . और जानो कि मै कौन हूँ . . ? इस पार मिलन संभव नहीं ।'

मर्यादा तोड़ बहता महासागर

. . खंदक की गुफा अपने ही को पार कर गई। इस तट पर अँधेरा भी नहीं है, उजाला भी नहीं है। केवल अपनी ही आभा है। अपने सिवाय यहाँ और कोई नही। अपनी ही प्रभा के विस्तार मे अकेली लेटी हूँ।

यह कैसी सभरता है . । भीतर के जाने किस उद्गम से यह उमड़ी चली आ रही है। केवल स्पर्शबोध शेष रह गया है। अपनी ही छुवन से आप ऊर्मिल हूँ। सारी इन्द्रियाँ इस ऊर्मिलता मे तिरोलीन हो गयी है।

समूचे अवकाश मे यह कैसा अव्याबाध मार्दव व्याप गया है। जानै कैसी सुनम्यता का लोच अंग-अंग में भर आया है। स्वयम् ही अपने से चुबित : स्वयम् ही अपने से आलिगित हूँ। भीतर से उमड़ कर, जाने कैसा यह द्रव मुझे आप्लावित किये दे रहा है। देह की घनता और अवयवों के आकार इसमें रह-रहकर सिरा जाते हैं, और फिर उभर आते है। किसी विशुद्ध एकमेव द्रव्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं। निरी नग्न सत्ता रह गई हूँ . अपने ही बहावों और लचावों में, मनचाहे आकार धारण करती हुई।

. . यह कैसी सुरभित-सी गहन तंद्रा आवरित किये ले रही है। अपने को, अपने ही से ओझल होते देख रही हूँ। नम्यता, मार्दव, सुगन्ध, संगीत के एकाकार समुद्र में डूबी जा रही हूँ। . .

. . यह क्या देख रही हूँ ? . . मेरी दोनों जुड़ी जंघाओं के गहराव में एक कदलीवन कसमसा रहा है। कदली-स्तम्भों की कई-कइ सरणियाँ मेरे दोनों उरुओं में से उग आई हैं— जाने कितनी जाँघें : लम्बे-लम्बे पैरों की एक परम्परा, उनकी उँगलियों में फूटती हज़ारों उँगलियाँ। उनमें यह कैसी ज्वारिलता है ! इसमें से कोई घनत्व आकार धारण किया चाहता है। सारा उरुदेश पिघल कर नये सिरे से एक पिण्ड में घनीभूत हो रहा है।

. . यह क्या देख रही हूँ, किसी अचीन्ही गुफा में से, ऊपर को उठी आ रही एक शुण्ड : उसमें से शाखायित हो उठी हैं सात सूंड़ें। फिर एक रुण्डमुण्ड विशाल पशु-काया। . . ओह, अपनी चिंघाड़ से दिगन्तों को हिलाता इन्द्र का ऐरावत हाथी : मेरे जघनदेश पर खड़ा है : अपनी कई-कई सूंड़ों से आकाश को छाता हुआ।

. . देखते-देखते वह हवा में तैरते बादलों में छितरा गया। . . एक बादल उजलता-सा ऊपर आने लगा। चन्द्रमा की एक द्रवित-सी शिला। उसमें तरंगायित होती-सी एक प्रचण्ड आकृति। . . अरे यह तो वृषभ है, बड़ा सारा सफेद बैल। इसके चौड़े कन्धों में जैसे नगाड़े बज रहे हैं। और पूरे आसमान को यह नीली घास की तरह चर रहा है। . .

. . इसकी कूबड़ में से खुल पड़ी है एक भयावनी गुफा। उसके चट्टानी गर्भ में घुमड़ रहा है, प्रच्छन्न मंद्र गर्जन। सहसा गुफा द्वार में फट पड़ी एक दहाड़ : एक विराट् श्वेत सिंह लाल धारियों वाला : उसकी विपुल सोनहली अयाल में सूरज अन्तरित है। . . लो, वह पर्वत से पर्वत तक छलांगें भरता हुआ, क्षितिज के मण्डल को फाँद गया। . .

. . उसके ब्रह्मांडीय पदाघात से और अंतिम दहाड़ से मेरी त्रिवलि की रेखाएँ सांकलों-सी टूट पड़ीं। मेरी नाभि में से प्रस्फुटित हो उठा एक दिगन्तव्यापी लाल कमल : कमल पर कमल, उस पर फिर कमल . . कमलों की आकाशगामी गन्धकुटी : शीर्ष पर आसीन है यह कौन दिव्यांगी सुन्दरी। . . लक्ष्मी ! और उस पर दोनों ओर से शुण्डों द्वारा कलश ढालते दो गजराज . .। अरे वह तो और कोई नहीं है, मेरी ही श्री-शोभा वहाँ आकार ले उठी है। . . और अपनी भरी-भरी बाहुएँ उठा कर, मैं स्वयम् ही तो अपना अभिषेक कर रही हूँ। केवल मैं।

. . शेष रह गया अभिषेक-जल का दूर जाता शांत प्रवाह। उस पर अंतरिक्ष में से झूल आयी हैं, दो मंदार फूलों की मालाएँ। गाती हुई मालाएँ, . . बहुत दूर जाती हुई . . बहुत पास आती हुई। उनमें से चू पड़ा एक फूल। . .

. . और यह क्या . वह फूल मेरे कुन्तलों के घने नीले पारावार में उग आया है, एक बड़ा सारा विपुलाकार चन्द्रमा होकर। पूर्ण चन्द्रमण्डल, ताराओं से घिरा हुआ। अरे यह तो मेरा ही चेहरा है। ऐसा कि उसे प्यार करने को जी चाहता है। पर अपने ही चेहरे को कोई कैसे चूमे . . ?

मैंने अपने से ही लजा कर, मुँह अपनी छाती में छुपा लिया। . . नहीं, यह मेरी छाती का कोमल गहराव नहीं : यह उदयाचल का उत्तुंग, कठोर उभार है। और उस पर उदीयमान है, एक प्रकाण्ड प्रतापी सूर्य। . .

. . उसके असह्य उत्ताप से व्याकुल होकर मैंने अपनी दोनों हथेलियों से अपने वक्षमण्डल को कस कर आच्छादित कर लिया। . . तो क्या देखती हूँ कि वे मेरे उरोज नहीं, दो

सुवर्ण के कुंभ अधर में उत्तोलित हैं, लाल कमलों से ढँके हुए। . .

. लो, दोनों कुम्भ संयुक्त हो गये। उस संयुति में से खुल पड़ा एक नीलमी सरोवर। उसमें क्रीड़ा करती तैर रही हैं, दो मछलियाँ। नहीं , ये तो मेरी ही लम्बी-लम्बी कान-चूमती आँखें हैं। . .

. . सजल हो आयीं मेरी आँखें, अपने ही सौन्दर्य के इस साक्षात्कार से। देखते-देखते, मेरा चेहरा प्रफुल्ल तैरते कमलों की केसर से पीला एक सरोवर हो गया। द्रवित सोने के जल से वह छलक रहा है। . . लो, वे पानी फैलते ही जा रहे हैं, निगाहों के पार। और देख रही हूँ, एक तरंगों से हिल्लोलित, विक्षुब्ध महासागर। . . और देखते-देखते यह समुद्र, अपने तट की मर्यादा तोड़कर बह निकला है। अनर्थ . . ! समुद्र ने प्रकृति के नियम को भंग कर दिया। एक प्रलय की बहिया से घिर गई हूँ। . .

डूबने ही को थी, कि मेरे लिलार का तिलक मेरु पर्वत बनकर उन्नीत हो उठा। उसके शिखर पर आसीन है एक अखण्ड हीरे का सिंहासन : वह जाने किसकी प्रतीक्षा में है। उसके पादतल में फैली हजारों सृष्टियाँ प्रतीक्षामान हैं।

. . अरे यह तो सिंहासन नहीं, रत्नों की रेलिंगों, वातायनों, जालियों वाला कोई स्वर्गिक विमान है, अन्तरिक्ष में तैरता हुआ। . . और भीतर वह कौन लेटी है, प्रसूति की शैया पर।

. . उस आसन्न प्रसविनी माँ के उरु प्रदेश को भेद कर उठ आया किसी नागेन्द्र का भवन। पृथ्वी-गर्भ के अनादि नागेन्द्र , अपने फणामंडल से समूचे लोक को छा कर, स्वर्गों के वैभव को ललकार रहे हैं। धरती ने द्यावा को हतप्रभ कर दिया है। . .

. . नागेन्द्र का वह उन्नीत फणामंडल, देखते-देखते रत्नों की एक स्तूपाकार ढेरी हो गया। उसकी चूड़ा सिद्धशिला को चूम रही है : उसके पादमूल में नरकों की सात पृथ्वियाँ आनन्द से रोमांचित हैं। . .

. . और जाने कब, वह रत्नों का स्तूप विगलित होकर, दिक्काल व्यापी ज्वालाओं से जाज्वल्यमान हो उठा। देख रही हूँ, एक कोणाकार विराट् अग्निशिखा। भूगर्भ के हवन कुण्ड में से उठकर, व्योम में लपलपाती हुई एक निर्धूमज्वाला। ओह, अंगिरा ! . . ये दुर्दान्त अग्नि, अन्तरिक्ष के पटलों को भेदते हुए, कण-कण को प्रज्वलित किये दे रहे हैं। अरे साक्षात् वैश्वानर . . विश्व पुरुष। मेरी ही उरु-गुहा में से उठकर ये धधक रहे हैं। मैं काँप-काँप आई : ये कौन-सी आहुति चाहते हैं ? मेरी देह के अस्थिबंध, स्नायुबंध टूट रहे हैं। . . हाँ, मुझे ही आहुति हो जाना है। . . शान्तम् . . शान्तम् . . देवता। लो , मैं आई। . .

. . और विपल मात्र में पाया कि, वह विराट् वह्निमंडल मेरे ही भीतर अन्तर्धान हो गया। . .

. . यह कैसी गहन शांति अनुभव कर रही हूँ। सारी देह, जैसे कपूर का सरोवर हो गई है। और मेरे उस अन्तर-गह्वर में से उठ आया एक विशाल धवल बैल। मेरे वक्ष-तट पर वह खड़ा है। और उसकी टाँगों के बीच लोक-लोकान्तर झाँक रहे हैं। कितना प्रीतिकर और सुखद है, उसका स्पर्श। . . और मेरी पुलकित रोमालियों में संचरित होता हुआ, वह पीत-धवल वृषभ मेरे मुख में प्रवेश कर गया।

. . यह कौन आ रहा है, मेरी छाती में लात मारता हुआ ? उस अपूर्व सुखद पदाघात से मैं जाग उठी । . .

सचेत होकर पाया कि अपने कक्ष में ही हूँ । अपनी शैया में बहुत शांत समाधीत लेटी हूँ । एक भारहीन फूल की तरह । . . भीतर-बाहर सब कुछ विश्रब्ध हो गया है । प्रसन्न जिज्ञासा के साथ सोच रही हूँ : कहाँ-कहाँ घूम आयी हूं । सपनों के जाने किस श्वेताभ देश में यात्रित थी । एक ही स्वप्न कक्ष में, जाने कितने सपनों की एक चित्रमाला खुलती चली गई । . . और मेरी समूची चेतना अनोखे उल्लास से उन्मेषित है ।

इस सुख को अपने ही में समाकर न रख सकी । उठ कर 'उनके' पायताने जा बैठी । 'उनकी' पगतलियों पर माथा ढालकर, संकुचित-सी लेट गयी । मन-ही-मन पुकारा : 'देवता, इतने प्रिय तो तुम पहले कभी नहीं लगे । मैं कृतकाम हो गई । . . '

'ओ . . प्रियकारिणी !'

उठकर वे मेरे ढलके केशों को चुपचाप सहलाते रहे ।

'उठो . . क्या बात है, विदेहा ?'

. . उठकर, उनकी गोद में सिमट गई . . और फिर भरे-भरे गले से, अपनी स्वप्न-यात्रा की कथा उन्हें सुनाती चली गई । . .

'क्यों चुप हो गये ? कहो न, क्या रहस्य है, सपनों की इस माया भरी अलौकिक यात्रा का ?'

फिर भी वे मुस्कुराते हुए, चुपचाप बड़ी देर तक एकटक मेरा मुख देखते रह गये । मैं लाज से ढलकी पलकें मात्र हो रही । फिर धीरे से मेरी बाँहों को सहलाते हुए वे बोले :'आत्मन्, आज की रात, हम दो नहीं रहे । संयुति का यह सुख अकथ्य है । . . तुम्हारी कोख धन्य हो गई । केवल एक देश और काल का नहीं, त्रिलोक और त्रिकाल का चक्रवर्ती तुम्हारे गर्भ में आया है ।'

'नाथ, समझ नहीं पा रही, कुछ भी ।'

'वही है पर्वत से पर्वत तक छलाँग भरता सिंह ! वही है मर्यादा तोड़कर बहता महासागर । वही है सुमेरु श्रृंग पर प्रतीक्षमान हीरक सिंहासन का, आगामी अधीश्वर । वही है निर्धूम वन्हिमान अग्नि-पुरुष ! लोक के समस्त दुःखों का ध्वंसक : धर्मचक्रेश्वर ! . . '

'मेरे देवता . . '

'तीर्थंकर की भावी जनेता को, सिद्धार्थ प्रणाम करता है ।'

अपने पदनख पर झुक आये उनके भाल को, मैंने बाँहों में थाम, अपनी भर-भर आयी छाती से सटा लिया ।

. . दूरियों में ये कैसी जयकारें सुनायी पड़ रही हैं ।

ओ मेरी देह के सारांश

आकाश की बहती नीलिमा में से, जैसे किसी शिल्पी ने तराश दिया हो, ऐसा पारदर्शी लगता है यह

कक्ष। और मानो लहरों से निर्मित शैया पर लेटी हूँ।

दूरियों में आती हुई कई विचित्र वाद्यों की समन्वित सुरावलियाँ। शंख-ध्वनियाँ और शहनाइयाँ। पानीली गहराइयों में, शंख में गरजता एक पूरा समुद्र। गहराती हुई एक मंद गंभीर संगीत की रागिनी। सारे वातावरण में व्याप रही, नृत्य की तालबद्ध झंकारें। वनराजियों के पल्लव-परिच्छद में यह कौन सारा दिन लयकारी और चित्रसारी करता रहता है।

. . उस रात स्वप्न देखकर जागी तब से मानो सपनों के देश में ही जीना चल रहा है। मेरे आसपास केसरिया कौशेय पहने, जाने कितनी सारी बालाएँ सदा घिरी रहती हैं। एक ही रूप के साँचे में ढली हैं, ये सब सुन्दरियाँ। इनके शरीरों में से विचित्र फूलों की-सी महक आती है। माँ आजकल वैशाली से आयी हुई हैं। इन लड़कियों के बारे में उनसे जिज्ञासा की थी। मेरे विस्मय का समाधान करते हुए वे बोलीं :

'ये दिगन्तों से आयी हुई छप्पन दिक्कुमारियाँ हैं, लाली ! देवलोक ने इन्हें तेरी सेवा में नियुक्त किया है।'

'देवलोकों की बात कहानियों में जरूर सुनी है। पर धरती पर, और वह भी मेरी सेवा में देवियाँ आ गयी हैं ! विचित्र लगता है न ! और तो कहीं ऐसा देखा-सुना नहीं, माँ ! '

'देख लाली, हमने देख-सुना ही कितना है। जितना देख पाते है, क्या वही सब कुछ है ? श्रमण प्रीतिंकर ने एक बार बताया था : जाने कितने ही जगत् हैं, लोक लोकान्तर हैं। जाने कितने ही वैभव, विभूतियाँ, सौन्दर्य और आश्चर्य लोक में जहाँ-तहाँ विद्यमान हैं। हमारा ज्ञान सीमित है। इन्द्रियों से जितना हम देख-जान, सुन पाते हैं, उससे परे भी बहुत कुछ है। स्वर्गों के अकथ सुख हैं, वैभव हैं : नरकों की अकथ यातनाएँ हैं। संयोगवश सामने आने पर ही हम उन्हें अनुभव करते है। नहीं तो पार नहीं है पदार्थ का।'

'हमारा ज्ञान तो, माना, सीमित है, माँ। पर कोई ऐसा ज्ञानी है भी कहीं, जो हर समय सब कुछ जानता है, देखता है ?'

'वही तो तेरे गर्भ में आया है, लाली। पूर्णज्ञानी, केवलज्ञानी। इसी से तो, हमारे ज्ञान से परे, अनन्त ज्ञान-क्षेत्रों की वस्तुएँ यहाँ प्रकट हुई हैं। . . '

यों ही पूछ लिया था माँ से। पर एक अचल प्रतीति मन में सदा बनी रहती है। भीतर जाने कितने रहस्यों की मंजूषाएँ खुलती रहती हैं। सब कुछ स्वीकारते ही बनता है।

ये दिक्कुमारियाँ नाना प्रकार की अजूबा वस्तुएँ लायी हैं मेरे लिए। एक लड़की ने मुझे मर्कतमणि की कंघी दी है। उससे बाल सँवारती हूँ, तो केशों में आपोआप ही, विचित्र वनस्पतियों की गन्ध बस जाती है। एक कन्या ने कोई ऐसी पारदर्शी शिला दी है, जिसमें एक झील सदा लहराती रहती है। किसी ने बड़ी सारी सीप के करण्डक में एक ऐसा मुक्ताफल दिया है, जिसमें पूर्ण चन्द्रोदय के तले आलोड़ित जीवन्त समुद्र की अनुभूति होती है। मेरे हाथों में इन्होंने ऐसे वलय पहना दिये हैं, और पैरों में ऐसे नुपूर, कि औचक ही चाहे जब इनमें से संगीत और नृत्य की सूक्ष्म ध्वनियाँ सुनाई पड़ने लगती हैं।

. . दिन, सप्ताह, मास बेमालूम से बीतते जा रहे हैं। मुझे तो मानो कुछ करना ही नहीं पड़ता। करने की इच्छा भी नहीं होती। जो आवश्यक है, वह अपने आप होता रहता है। सौन्दर्य

की तरंगों-सी ये लड़कियाँ, सदा मेरी नाना सेवाएँ करती दिखायी पड़ती हैं। विपुल व्यंजनों से भरे स्वर्ण थाल सामने धर देती हैं। एकाध खीर का चम्मच, किसी फल की एक फाँक, एकाध द्राक्ष। बस, तृप्त हो जाती हूँ। ताम्बूल लिये सामने खड़ी लड़की, डाल की नोक पर बैठे तोते-सी लगती है। पान के स्वाद में वन-सरसी पर छायी लताओं की शीतलता अनुभूत होती है ये सब मिलकर स्नान, उबटन, प्रसाधन करती हैं। तब जैसे किसी गंध-सरोवर में सुषुप्त हो जाती हूँ। केश-विन्यास करती हुई, जाने कितनी पहेलियाँ पूछ, ये मेरा मनोविनोद करती हैं। इन पहेलियों में कई प्रश्नों के उत्तर अपने आप मेरे मन में स्फुरित हो जाते हैं। जैसे ज्ञान की राशियाँ खुल रही हों। ये कहानियाँ सुनाती हैं, तो कितने ही जन्मान्तरों के सम्वेदनों मे एक साथ जीती चली जाती हूँ। इनके समवेत संगीत-नृत्यों में, कितनी ही रागिनियों, लयों, तालों के मूर्त स्वरूप आँखों के सामने चित्रित हो जाते है।

ऐसा लगता है जैसे सृष्टि के केन्द्र में, किसी विशाल अश्वत्थ की छाया में लेटी हूँ। एक श्वेत तन्द्रिलता में बही जा रही हूँ। और आसपास कितने ही देशकाल, वीणा की संगीत सुरावलियों में आरोहित-अवरोहित होते रहते हैं।

. . कभी-कभी एकाएक, सामने के दीवाल-दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब पर निगाह चली जाती है। लगता है, मेरा चेहरा नहीं है, हिरण्यवती के सुदूर दिगन्त पर फूटती उषा की स्वर्णाभा है। अभी-अभी सूर्य की रक्तिम कोर झाँकने को है। मेरे हृदय मे जैसे वह कहीं कसक रही है। कैसी विदग्ध मधुर कसक है। सारा शरीर ऐसा लगता है, जैसे पीले मकरन्द के सरोवर मे नहा कर, निर्वसन उठी हूं। प्रत्येक अवयव में एक द्राभा-सी छिटकी है।

भोजन, वसन, सुगन्ध, श्रृंगार, किसी भी भोग की कोई ईहा मन मे नहीं जागती। कोई चाव नही, चुनाव नहीं। एक सहज तृप्ति भीतर से ही उमड़ती रहती है। . . वातायन पर कभी-कभी जा बैठती हूँ। दूरियों मे फैले भू, द्यु, जल, वनस्पति के प्रान्तर ऐसे लगते हैं, जैसे सर्वत्र मेरा ही आँचल फैला हो। पाँचों मेरु जैसे मेरे उरोजों में आबद्ध ह। और उनके बीच के गहराव में, सारी नदियाँ एक साथ समुद्र में मिल रही हैं। मेरी जंघाओं की घाटियों में, विशाल पशु-सृष्टियाँ समायी है। उरु-गुहा मे रह-रह कर कोई केसरी गरज उठता है। कुछ भी अपना या पराया नहीं लगता। सभी कुछ अपना है :सभी कुछ पराया है। कोई ममता माया अलग से नहीं : कण-कण के साथ, घर पर हूँ। . . फिर भी एकदम अकेली, अलग, किसी अज्ञात तट पर निश्चल खड़ी हूँ। और केवल देख रही हूँ . . ।



. . पर कल आधी रात से अचानक यह कैसी उत्कट संवासना, मेरे प्राण में सुलग उठी है। यह कोपल मसृण सुख-शैया, यह परिचर्या, यह दिव्य ऐश्वर्य, ये रत्नों की दीवारें, ये महलों के परकोट मुझे कारागार-से लग रहे हैं। मेरे रक्त की बूँद-बूँद में यह कैसा दुद्धर्ष आलोड़न है, उत्तोलन है। अंग-अंग में यह कैसी कसमसाहट है। ऐसी उद्दाम है यह उत्कंठा, कि मेरी नस-नस इसके असह्य उद्वेलन से काँप रही है। कई महीनों से सारी इच्छाएँ सो गयी हैं। पर मेरे अंतिम प्राण की यह

महावासना, हर शारीरिक, ऐन्द्रिक इच्छा से परे की है। एक दुर्दान्त अभीप्सा, जिसमें सारी इच्छाएँ एकीभूत और समाहित हैं। एकमेव, एकाग्र, अनिर्वार महा इच्छा।

. . ऐसी एक निर्बन्ध संवासना, जो कि शुद्ध क्रिया है। भाव , विचार, विकल्प से परे, बस जो मात्र होना है। सोच नहीं, अनुभव नहीं, मात्र जिसे पूरी होना चाहिए। अभी, यहाँ, इसी क्षण। इसकी कल्पना मेरे मानुषिक मन में संभव नहीं। मुझसे परे की यह कोई दुर्दान्त महाशक्ति है, स्वायत्त इच्छा है, स्वयम्भु क्रिया है। ऊर्जा के इस महाप्रवाह में, मैं कोई नहीं, मेरा निर्णय कोई अर्थ नहीं रखता। . .

. . नहीं, अब और रुक नहीं सकती। जाना होगा, तत्काल, इसी क्षण। कहाँ . . ? नहीं मालूम।

'दिक्कुमारियों, सब चली जाओ यहाँ से। मैं तुम्हारे दिगन्तों की मर्यादा में नहीं हूँ, और अब . . !'

'जो आज्ञा महादेवी ! कुछ और आदेश ?'

'श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, लक्ष्मी, बुद्धि, विभूति, तुम सब जाओ। मेरे पास रहे अकेली वह तन्वंगी कन्या क्लीं . . !'

निमिष मात्र में सब कुमारियाँ वहाँ से चली गई।

'क्लींकारी कामरूपिण्यै . . ! देवी, आओ मेरे पास।'

'बोलो, माँ . .'

'वन-विहार को चलो मेरे साथ। तुम्हें मेरे रथ का सारथ्य करना होगा !'

'और कौन चलेगा ? संरक्षक अश्वारोही ?'

'कोई नहीं : केवल मैं और तुम !'

'महाराज की अनुमति ?'

'सारी आज्ञाओं से ऊपर है यह आज्ञा, अनिर्वार !'

'माँ . . !'

'क्लींकारी, अन्त:पुर के उत्तरी गुप्त द्वार पर रथ प्रस्तुत है।'

'कहाँ से कैसे, कैसे ?'

'मैं देख रही हूँ। वह यहाँ है ! चलो।'

मैं नहीं, कोई तीसरी ही क्रिया-शक्ति मुझमें से बोल रही है। कक्ष से द्वार तक अदीठ, निर्बाध मैं चली आयी। मेरा 'अम्बर-तिलक' नामा रथ वहाँ प्रतीक्षा में था।

अविलम्ब मैं रथ पर जा बैठी। और क्लीना ने वल्गा को एक झटका दिया, और रथ हवा पर आरोहण करने लगा। एक अजस्र वेग में, जाने कब कैसे, जाने कितने ही वन-उपवन, नदियाँ, अरण्य, पर्वत पार होते चले गये। चिरकाल से अगम्य कहा जाता, रुद्राक्ष-कांतार भी हम पार कर गये। उत्तुंग, दुर्द्धर्ष हिमवान की उपत्यका में जाकर, रथ आपोआप ही स्तम्भित हो गया।

'क्लींकारी, यहीं रहो तुम, . . मैं अभी आती हूँ . . !'

'माँ . . अकेली ?'

'नहीं, मैं अकेली नहीं हूँ।'

जाने कितनी दुर्गम बीहड़ पहाड़ियों, चट्टानों, झाड़-झंखाड़ों को मैं पार करती ही चली गई। त्रिशला नहीं : सूर्यवंश की आद्या क्षत्राणी। सूर्या।

. . एक प्रचण्ड प्रपात के ब्रह्मांडीय घोष से आकृष्ट, एक महागुफा के हिमावृत द्वार पर मैंने अपने को खड़ा पाया। अफाट धवलिमा के बीच झाँकते उस महान्धकार की नीलिमा में, कैसा दुर्निवार सम्मोहन है। मैं अब खड़ी नहीं रह सकती . . ।

एक उद्ग्रीव विशाल हिमानी चट्टान पर जाकर मैं लेट गयी। जाने कब मेरी आँखें मिंच गईं,। देखा, अपने उस स्वरूप को। निरावरण प्रकृत मैं, उस हिमानी के भीतर से ही उभर आयी-सी वहाँ प्रलम्बायमान हूँ। उन्मुक्त फैली हैं, निर्ग्रन्थ, मेरी बाहुएँ, मेरी जंघाएँ। मानव के पद-संचार से परे है यह प्रदेश। मेरे ऊपर छाया है, निःसीम उज्ज्वल नग्न आकाश।

एक निगूढ़ मर्म-पीड़ा से उद्भिन्न होते जा रहे हैं मेरे वक्षोज। ऊपर और ऊपर . . और ऊपर। सहसा ही एक चिंघाड़ से अन्तरिक्ष थर्रा उठे। मेरी आनन्द-वेदना अपार हो रही है। . . पल मात्र में ही चेतना डूब गई। किसी अन्तर्तम बोध के स्तर पर मैंने देखा :

एक प्रचण्ड सुवर्ण सिंह मेरे अंग-अंग को सहलाता हुआ, अवश समर्पित होकर, मेरे एक उरोज को पीने लगा। इस दंश की कठोरता, क्रूरता, सारे मार्दवों से अधिक मधुर है, आह्लादक है। उसकी आदिम हिंस्रता, मेरे निःशेष उत्सर्गित उरोज में चुक गई है। . . मैं जैसे दूध का समुद्र बन कर उमड़ पड़ी। और उस आप्लावन में ऊभचूभ होते मेरे दूसरे स्तन को पी रहा है, एक चन्द्रमा-सा उजला वृषभ। . . और उन दोनों को ढाँपती मेरी बाहुओं के वलय में जाने कितनी गायें और हरिणों की टुकुर-टुकुर निहारती आँखें। और उन आँखों में, जाने-अनजाने राशि-राशि जीव-जंतुओं की सृष्टि, अभय, अबाध, आनन्दित, मेरे अंग-अंग में लताओं-सी लिपट गई। . . मानो अखिल चराचर मेरे भीतर सुरक्षित, आधात्य हो गया है :और उसके भीतर मैं जैसे अमर्त्य हो गई हूँ। अपनी शिराओं में संचरित होते अमृत के स्रोतों को मैंने देखा। मैं उनमें घुलती ही चली गई। और फिर नहीं रह गई . . ।

. . लौटकर आई तो इतनी दुरन्त और चंचल हो गई थी, कि क्लीना को गोद में भर जाने कितने चुम्बनों से उसे ढाँक दिया। जुड़वाँ-सी सट कर हम दोनों ही, सारथी के आसन पर बैठ गई। और चार हाथों में संचरित चार वल्गाओं से रथ हाँकती हुई, हम सायान्ह में द्वार पर आ लगीं।

न जाते, न लौटते, किसी ने हमें देखा। इस निर्बाधता के साम्राज्य की अधीश्वरी पा रही हूँ अपने को। पर समझ से परे लगता है, इसका रहस्य। इसे थाहने को जी नहीं चाहता। केवल इसमें खो जाना चाहती हूँ।

• • •

रात के पहर, मुझ पर से पानी की पर्तों-से सरकते जा रहे हैं। नींद हिरन हो गई है। जी की इस उमड़न और बेचैनी में अकेली हो जाना चाहती हूँ। उशीर के विजन झलती कुमारियों से कह दिया है, जाकर विश्राम करें।

कोमल से कोमलतर उपधानों को छाती से सटा कर लेटती हूँ। पर सब व्यर्थ। किसी बाहरी साधन की स्निग्धता और मृदुता में जी की इस कसक को सहारा नहीं। मंदार के गजरे, अनेक बारीक फूलों के आभरण, फेन-सा हलका अंशुक, सब फर्श पर फेक दिये। शैया के गहराव मे गुड़ी-मुड़ी होती चली जा रही हूँ। शरीर के कोश भी जैसे एक-एक कर उतरते जा रहे है।

. . ओ मेरे शरीर के शरीर, मेरी देह के सारांश, तुम्हें देखना चाहती हूँ ! मेरे अन्तिम और चरम शरीर के भीतर जाने कहाँ छुपे हो तुम, ओ अतिथि, ओ अज्ञात। ओ मेरे अन्तिम परिचय . . ! चिर परिचित, फिर भी अपरिचित। मेरी ममता की मूरत। . .

अपने ढेर-ढेर आलुलायित कुन्तलों के शीतल, सुगन्धित अन्धकार में समूची सिमट गई। वलयित ग्रंथीभूत अंगों के भीतर, मेरा केशाविल मुख, छाती में विसर्जित हो गया। भीतर से भीतर के भीतर में संक्रान्त होती चली गई। एक-एक कर जाने कितनी पँखुरियाँ खुलती गईं। इस अमूल पद्म के द्रह मे देख रही हूँ : एक पारदर्शी रोशनी की झिल्लिम जाली का हृदयाकार करण्डक तैर रहा है। निर्मल, अस्पृष्ट। रक्त-मास के भीतर होकर भी, उससे उत्तीर्ण, उसका सारतत्व। और उस जाली के भीतर यह कौन स्पन्दित है ?एक आरपार झिलमिलाती, बन्द सीप में कम्पित मोती। और मोती के भीतर समुद्र। एक उन्मुक्त ज्योति-पुंज। मानवीय अवयवों का एक सम्पुटित सौन्दर्य-मुकुल। . . आओ न मेरी बाँहों मे, मेरी गोद में, मेरे ओंठ जनम-जनम से तुम्हें चूमने को तरस रहे हैं। . . चूमने को मेरे ओंठ उमग आये। सचेत होकर अनुभव किया, चुम्बन हवा मे तैर रहा है। . . मेरे ओंठ उसके आसपास मंडरा रहे हैं। पर वह पकड़ाई से बाहर है। मेरा-रोम-रोम जाने कैसी उर्मिलता से, निरामिष पेशलता से स्पर्शित है, बिचुम्बित है। मेरे एक मात्र अपने . . !

. . और जाने कब, मै गाढ़ी नीद मे डूब गई।

त्रैलोक्येश्वर का अवतरण

. . इतना तन्मय और गहरा ध्यान तो आज तक मुझे नहीं हुआ। देह, प्राण, मन, इंद्रियाँ सहसा ही एकत्रित हो गये हैं। चित्त ही एकाग्र होकर चिति हो गया है। अन्तर्मुख होते ही, देख रहा हूँ कि बन्द आँखें कहीं और ही खुल कर अपलक देखती रह गई हैं।

. . क्षण भर पहले तक मैं पार्श्वापत्य श्रमण केशीकुमार था। अब खुली आँखों, अभी-अभी देखा है, श्रमण केशी मुझमें से निकल कर, पीठ फेरे चले जा रहे हैं। देखते-देखते वे कहीं वनान्त में ओझल हो गये। और अब अनुभव कर रहा हूँ कि मैं कोई नही : बस केवल एक नाम-रूप से परे शुद्ध मैं हूँ। मानो केवल दृष्टि हूँ, अनुभूति हूँ। दर्शक भी मैं ही हूँ :दृश्य भी मैं ही हूँ।

बन्द आँखें भीतर खुलते ही देख रहा हूँ, सभी कुछ बदल गया है। एक विराट् नीरवता सर्वत्र व्याप गयी है, और उसे सुन रहा हूँ। दिशाएँ इतनी स्वच्छ तो पहले कभी नहीं हुईं जैसे दर्पणों

के विश्व में संक्रान्त हो गया हूँ। तमाम चराचर इस दर्पण-गोलक में अपने को निहार रहा है। वातावरण में निर्मलता मानो एक उजली नदी-सी प्रवाहित है। हौले-हौले बहती हवा में एक अद्भुत लयात्मकता की अनुभूति हो रही है। संगीत का ध्रुपद रह-रह कर कई चित्रों में उभर रहा है। रागों और रंगों में नवनूतन और विचित्र सुगंधें वाष्पित हो रही हैं।

. . भार की अनुभूति ही ग़ायब हो गई है। किसी महाप्रवाह में, एक फूल की तरह हलका होकर, अनायास तैर रहा हूँ। भीतर की गोपनता में कहीं सुख का एक अनाहत सोता-सा उमड़ रहा है। और वह चारों ओर के चराचर में व्याप्त हो गया है। पहाड़ , पेड़, पंछी, नदी, मैदान, तृण और कण-कण में सुख छलक उठा है। अकारण सुख। लगता है जैसे नरकों की यातनाएँ इस क्षण थम गई हैं। सहस्रावधि वर्षों से नाना संत्रास भोगते नारकी जीव, अपनी चिर पुराचीन यातनाशैया से उठ कर प्रसन्न मुस्करा उठे हैं। जीव मात्र की वह सुखानुभूति अपने स्नायुओं में प्रवाहित-सी अनुभूत हो रही है। जैसे समूचे देश-काल में दुःख इस क्षण अवसान पा गया है। प्राणिमात्र अभी और यहाँ में एकाग्र भाव से निर्बाध सुख भोग रहे हैं।

कासनी रंग की एक विचित्र सुगन्धानुभूति के साथ, जैसे दिनमान ही बदल गया है। छहों ऋतुएँ एक साथ घटित हो गई हैं। उनके सम्मिलन से एक विलक्षण सातवीं ऋतु सब तरफ खिल उठी है। आसपास की इस दिगन्तव्यापी वनभूमि में पेड़-पौधे एकबारगी ही सब ऋतुओं के फूलों और फलों से लद कर झुक आये हैं। प्रकृति रस-संभार से विनत नववधू-सी जानू सिकोड़ कर लज्जानत बैठी है। ऐसे सोहाग से दीपित तो उसे पहले कभी नहीं देखा। किस प्रियतम की अगवानी में उसकी रूपश्री ऐसी खिल उठी है?

अरे . . यह क्या ? मेरी आँखों से आँसू झर रहे हैं ! मैं तो कठोर वीतरागी, श्रमण संन्यासी हूँ। श्रमण तो सारे रस-राग से परे होता है। वीतरागी की आँखों में आँसू कैसे? नहीं, कोई व्यथा या विषाद नहीं है मुझमें। एक आनन्द का समुद्र भीतर से उमड़ा चला आ रहा है : और दिशाओं के आरपार बह रहा है। ऐसे आनन्द की अनुभूति तो पहले कभी नहीं हुई। अकारण और अनाविल है यह आनन्द। उस मिलन का सुख, जिसके लिए संसारी जीवन में सदा तरसता रहा, पर पा नहीं सका।

कब साँझ हो गई, पता ही न चला। और अब तो रात भी बीत चली है, ऐसा लग रहा है। जैसे किसी अन्तहीन रात के सवेरे में एकाएक जाग उठा हूँ। ब्राह्म मुहूर्त में असंख्य शंख-ध्वनियों से आकाश का गुम्बद गुंजायमान हो उठा है। आम्र-मंजरियों की भीनी-भीनी गन्ध में, कोयल कुहुक कर कह रही है : यह उत्तरा-फाल्गुनी नक्षत्र है : चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की पीली महीन चाँदनी में दूरागत मंजीरों की झंकार सुनायी पड़ रही है। वैशाली के प्रान्तरों में सौ-सौ शहनाइयों की रागिनियाँ अन्तहीन हो उठी हैं। घंटा-घड़ियाल और मृदंगों के घोष गहराते जा रहे हैं। . .

. . एकाएक क्षितिज पर की अरण्यानी एक विशाल द्वार की तरह खुल पड़ी। एक झटके के साथ जैसे मेरा आसन उत्थान हो गया। ध्यानस्थ पद्मासन में ही ऊपर से ऊपर उठा जा रहा हूँ। मेरे वश का कुछ भी नहीं है। मेरा कर्तृत्व शेष नहीं रह गया है। केवल देख और अनुभव कर सकता हूँ।

. . अन्तरिक्ष में कहीं एकाएक मेरा आसन स्थिर हो गया। सीढ़ियों की तरह कई भास्वर

रंगों के चित्रपट-से मेरी आँखों के सामने खुलने लगे। सोलहों स्वर्गों के अपार ऐश्वर्यशाली विस्तार मेरे सामने फैले हैं। . . ज्ञानवृद्ध श्रमणों के मुख से लोकान्तरों और देवलोकों के वर्णन सुने थे। मान भर लिया था, पर विश्वास नहीं जमता था। आँखों के देखने से आगे भी कुछ है : उस पर मन में विकल्प कम नहीं था। पर आज तो खुली आँखों प्रत्यक्ष जाने कितने दिव्य लोकों के वैभव देख रहा हूँ। . .

आँखों में तैरता एक नील बिन्दु अचानक विस्फोटित हुआ। और उसकी प्रकाश-तरंगों में से एकाएक सौधर्म स्वर्ग सांगोपांग साकार हो उठा। रत्नों से जगमगाते विशाल सभागार के शीर्ष पर सौधर्म इन्द्र का सिंहासन कम्पायमान हो रहा है। प्रचण्ड प्रतापी शक्रेन्द्र का मुकुट झुक गया है। और उसी के साथ देख रहा हूँ, पंक्तिबद्ध रूप से, सोलहों स्वर्गों के तमाम इन्द्रों और देवों के मुकुट नम्रीभूत हो गये हैं। चौंक कर पुकारा सौधर्मेन्द्र ने :

'शची, मर्त्य पृथ्वी ने इस क्षण, अमरों के स्वर्ग को ललकारा है। मेरा गर्द खडित हो गया : मेरा प्रताप भूलुण्ठित हो गया। . . किसने कहा . . ओ स्वर्गों, तुम अमर नहीं हो। अमरत्व ने मर्त्यों की पृथ्वी पर जन्म लिया है . . !'

शची काँपते सिंहासन पर डोलते इन्द्र के चरणों को पकड़ कर बैठ गई।

'स्वामी, तुम्हारे दोलायमान सिंहासन से मेरा गर्भ जाने कैसे आनन्द से रोमांचित हो रहा है। स्वर्गों की इस पराजय में अद्भुत सुख अनुभव हो रहा है।'

'शची . . सुनो . . सुनो बिना बजाये ही सारे स्वर्गों की दुंदुभियाँ घोषायमान हो रही हैं। सारे दिव्य वाद्य और शंख, एक स्वर में सम्वादी होकर आपोआप बज रहे हैं आनन्द . . आनन्द . .'

'किस बात का आनन्द, प्रभु ?'

'भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड की वैशाली नगरी में, त्रैलोक्येश्वर तीर्थंकर का जन्म हुआ है। सर्व चराचर के ज्ञाता, परित्राता और प्रियतम ने पृथ्वी पर अवतार लिया है। तीनों लोक और तीनों काल मर्त्य माटी मे मूर्तिमान हुए हैं . . !'

'नाथ, मेरे आँचल में क्षीर-समुद्र उमड़ रहा है . . !'

'समस्त स्वर्गों के सारभूत ऐश्वर्य और सौन्दर्य से शृंगार करो, शची . ! हम पृथ्वी पर तीर्थंकर प्रभु का जन्मोत्सव मनाने जा रहे हैं।'

इन्द्र उठकर सीधे अपने प्रांगण के मानस्तम्भ के निकट गया। शीर्ष पर चतुर्मुख अर्हत् प्रतिमा से प्रभास्वर, उत्तुंग मणिजटित मानस्तम्भ एक तोरण में टँगा, विशाल रत्न-करण्डक उसने उतारा। अनादि-निधन है यह करण्डक। और अनन्त काल से इसमें बाल-तीर्थंकर के अविनश्वर वस्त्राभूषण सँजोकर रक्खे हुए हैं। उस करण्डक को दोनों भुजाओं में समेट कर सौधर्मेन्द्र धवल पर्वतकूट के समान अपने ऐरावत हाथी पर इंद्राणी सहित सवार हो गया।

. . एक निमिष को मेरा पलक टिमकार-सा हुआ। और अगले ही क्षण देख रहा हूँ : अन्तरिक्ष में अन्तहीन नीलम की सीढ़ियाँ-सी खुलती जा रही हैं। और उन पर से उतर कर सोलहों स्वर्ग अपने समस्त वैभव के साथ पृथ्वी की ओर धावमान हैं। सहस्रों देव-देवांगनाओं और अप्सराओं की अर्ध-मंडलाकार पंक्तियाँ दिव्य वाद्यों के तुमुल घोष और जयकारों के बीच, नृत्य

करती हुई आकाश के पटलों में आरपार छा गई हैं। जैसे विराट् नीलिमा के पट पर अनन्त-रंगी रत्न-प्रभाओं का कोई जीवन्त चित्र किसी अदृश्य तूलिका से उभरता चला आ रहा है। सारा लोकाकाश देव-दुंदुभियों के प्रचण्ड घोष से थर्रा रहा है।

. . इसी बीच जाने कब मैं फिर धरातल पर लौट आया हूँ। ब्रह्माण्ड में कम्पन की लहरें दौड़ रही हैं। पृथ्वी अपने पर्वतीय स्तनों को दोलायित करती हुई, ऊपर से उतरती देव-सृष्टि का स्वागत कर रही है।

क्षत्रिय-कुण्डपुर के 'नन्द्यावर्त प्रासाद' की छतें और गुम्बद, कल्पवृक्षों के बरसते फूलों से छा गये हैं। उसके कंगूरों, वातायनों, और रेलिंगों पर अप्सराओं की पाँतें नृत्य कर रही हैं। उसके गोपुर और तोरण गन्धर्वों के समवेत संगीतवाद्यों से गुंजित हैं। हजारों देव-देवांगनाएँ केशरिया आभा बिखेरते हुए राजप्रांगण में अविराम जयजयकार कर रहे हैं।

महादेवी त्रिशला के वातायन तले ऐरावत हाथी ने शुण्ड उठा कर किलकारी करते हुए प्रणाम किया। इन्द्राणी ने वातायन द्वार से महारानी के कक्ष में प्रवेश किया। शची ने लेटी हुई मानवी माँ के वक्ष-पार्श्व में तीर्थंकर-शिशु को देखा : हिल्लोलित समुद्र की फेनचूड़ा पर झलमलाता मुक्ताफल। सारे कक्ष में जैसे ज्योति के भँवर पड़ रहे हैं। पार्थिव माँ के इस वत्सल सौन्दर्य को देखकर देवेश्वरी के मन स्वर्गों के सारे ऐश्वर्य और सुखभोग फीके पड़ गये।

शची का अंग-अंग किसी अपूर्व स्पर्श की पुलकों से तरल हो आया। उसने हलके-से एक महीन मोतियों का विजन झलकर माँ को अवस्वापिनी निद्रा मे सुला दिया। फिर एक मायामय शिशु चुपचाप उनके उरोज-तट पर लिटा दिया। और शिशु भगवान को उसने अपनी हीरक-कंकणों से झलमलाती बाँहों में उठा लिया। उसकी दिव्य देह के सूक्ष्मतम, कोमलतम परमाणु, इस स्पर्श के मार्दव में पिघल गये। शक्रेन्द्र की परिमॅल भरी सुगोल बाहुओं का रभस-सुख, इस स्पर्श की विपुलता और शुचिता में पराजित हो गया। शिशु प्रभु को गोदी में भर इन्द्राणी चली, तो लगा कि उस छोटे-से ज्योतिर्मय पिण्ड को अपने में समाने को उसकी गोदी गहराती चली जा रही है। . .

इन्द्र ने नतमाथ होकर, 'जय त्रैलोक्येश्वर !' उच्चरित करते हुए, शिशु को अपनी बाँहों में झेला। उसकी दो आँखों में प्रभु का सौन्दर्य समा न सका। अंग-अंग में सहस्रों चक्षु खोलकर शक्रेन्द्र बालक भगवान की रूपाभा को निहारता रह गया।

. . ठीक अपनी खुली आँखों के सामने यह सारा दृश्य देख रहा हूँ। इन्द्रियाँ अपने से उत्तीर्ण होकर इस दिव्य लीला के अवबोधन से सार्थक हो गई हैं।

. . देख रहा हूँ, अपनी विशाल देव-सृष्टि के साथ सौधर्मेन्द्र, तीर्थंकर शिशु को ऐरावत हाथी पर, अपनी केयूर-दीपित बाँहों में उठाये, सुमेरु पर्वत पर ले जा रहा है। ऐशान इन्द्र प्रभु पर श्वेत छत्र ताने है। सनत्कुमार और माहेन्द्र क्षीरसागर की लहरों जैसे चँवर उन पर ढोल रहे हैं। स्वर्गों की बहुरंगिणी सेनाओं और दिव्य वाद्यों की रागिणियों से आकाशमार्ग विह्वल हो उठा है।

पृथ्वी के छोर, और स्वर्गों की तटवेदी के ठीक बीचो-बीच अवस्थित है सुमेरु पर्वत। इसकी ऊँचाई और विस्तार का माप नहीं। यह सृष्टि का अनादिकालीन पर्वत है। अनन्त कालों में कितने ही उदयों और प्रलयों का यह अविचल साक्षी रहा है। इसके कूटों पर शोभित शाश्वत उपवनों और सरोवरों में नित्य देव-देवांगना क्रीड़ा करने को आते रहते हैं।

क्रमश यह शोभायात्रा ज्योतिष पटल का उल्लघन कर ऊपर जाने लगी। ताराखचित आकाश की रत्निम वनानियों को वे पार कर रहे है। सुमेरु पर्वत की उपत्यका मे पहुँच कर पहले जुलूस भद्रशाल महावन की सघन पत्रिम छायाओं मे से गुजरा। फिर उसकी मेखला मे स्थित नन्दनवन की घनी सुरभित मन्दारवीथियों को पार किया। उसके उपरान्त सौमनस महावनी के चित्रा-बेलियों से छाये काम-सरोवरों को पार कर यात्रा ने पाण्डुक वन मे प्रवेश किया। और वहाँ मे स्वर्गतट-चुम्बी पाण्डुक-शिला पर आरोहण किया। अनन्त कालों मे इस प्रकृत स्फटिक शिला की आभा अमन्द रही है। निरन्तर देवों के पूजाभिषेक से यह पवित्र और सुगन्धित रहती है। इस अर्ध-चन्द्राकार शिला पर स्वयम् काल मानो महानील सिहासन बन कर अविस्थित है। सौधर्मेन्द्र ने बड़ी ही मृदुता और सावधानी से शिशु प्रभु को उस पर विराजमान किया। आसपास का तमाम अन्तरिक्ष सहस्रों देव-देवागनाओं, और नर्तित अप्सराओं से व्याप्त हो गया है।

लोकान्तिक क्षीर-समुद्र से देवगण एक हजार आठ कलश भर लाये है। सौधर्मेन्द्र ने प्रथम विमाल रत्नाभ स्वर्ण-कलश उठा कर बाल तीर्थंकर के मस्तक पर अभिषेक की जलधारा बरसायी। किसलय से भी कोमल नन्हे-से प्रभु और एक हजार आठ कलशों से उनका अभिषेक ' इन्द्र शका और भय से कॉप-कॉप आया उसके हाथ का अभिषेक करता कलश थरथराने लगा। जलधारा भग होने लगी।

शिशु तीर्थंकर इन्द्र की शका का बोध कर मुस्करा दिये। अपने बाये पैर के अगूठे से उन्होंने सहज लीला भाव मे सुमेरु पर्वत को किंचित् दबा दिया। सुमेरु के शिखर झुक गये। सारा पर्वत कम्पायमान होकर समुद्र की तरह हिल्लोलित होने लगा। कालोदधि समुद्र, तट की मर्यादा तोड़कर उछलने लगा। महाकालेश्वर ने अपनी शक्ति का परिचय दिया। नि शंक होकर, परम उल्लास मे जय-ध्वनियाँ करते हुए सैकड़ों देवों, इन्द्रों और माहेन्द्रों ने अनवरत जलधाराओं से भगवान का अभिषेक किया। उस अभिषेक जल से प्रवाहित कई नदियों ने स्वर्ग के पटलों को पृथ्वी की ऑचल कोर से बॉध दिया।

अति मृदु सुरभित अशुकों से शिशु भगवान का अग-लुंछन करके इन्द्र ने अनादि रत्न करण्डकों मे सुरक्षित वस्त्राभूषणों से उन्हे अलकृत कर दिया।

लौट कर इन्द्राणी ने विश्व-जननी त्रिशला को भगवान के स्नान-गन्धोदक की हलकी-सी बौछार द्वारा अवस्वापिनी निद्रा से जगा दिया। प्रभु को माँ की बॉहों मे थमा दिया। फिर जगदीश्वर को गोद मे लिये बैठी जगदम्बा के चरणों मे, स्वर्गों की अधीश्वरी निछावर हो गई।

देख रहा हूँ . उसी क्षण देवों, इन्द्रों तथा अपने परिजनों और पार्षदों के साथ महाराज सिद्धार्थ, प्रसूति-कक्ष के द्वार पर उपस्थित हुए। हर्ष-गद्गद कण्ठ से राजा बोले .

'अमर और मर्त्य साक्षी है, इस बालक के गर्भावतरण के साथ ही, हमारी वैशाली का वैभव, दिन दूना और रात-चौगुना वर्द्धमान होता गया है। राजमहल और समस्त प्रजा श्री-सम्पदा से ढँक गये है। इसी से हम घोषित करते है कि यह बालक वर्द्धमान के नाम से पुकारा जाये।'

. बाल भागवत् वर्द्धमान की, समस्त लोकाकाश मे व्यापती जय-जयकारों के साथ मेरी गहन ध्यान-समाधि उन्मग्न हो गई।

काल की धारा से बाहर की, किसी महा स्वप्नभूमि से सहसा इस स्थूल ऐन्द्रिक शरीर मे लौट

आया हूँ। पर लग रहा है, इस जागृति से वह स्वप्न अधिक सत्य था। अन्तर्ज्ञान में, अपार सृष्टियाँ एकबारगी ही झलकती रहती हैं। आज प्रतीति हुई कि हमारा ऐन्द्रिक ज्ञान कितना सीमित है। भीतर के अनन्त ऐश्वर्यलोकों से उसका किंचित् भी परिचय नहीं। चिन्मय भूमा से, मृण्मय भूमि में लौट आया हूँ।

. पर इसी मृण्यमयी वैशाली के एक राजमहल में अन्तर-साम्राज्य का चक्रवर्ती प्रभु, रक्त-मांस की देह मे जन्मा है। और अपने भीतर देखा वह स्वप्न इसी पृथ्वी पर प्रत्यक्ष साकार हुआ है। इन्ही खुली ऑखों से उसका सौन्दर्य, प्रताप और पराक्रम देखा है। लग रहा है, मनुष्य की महावासना और चरम अभीप्सा का उत्तर मानवी नारी के गर्भ से सदेह अवतरित हुआ है।

उस परिपूर्ति को अन्तर्तम मे अनुभव कर रहा हूँ। पर उसे क्या संज्ञा दूँ, नही जानता।

बाल भागवत के लीला-खेल

नन्द्यावर्त प्रासाद के चौथे खण्ड में एक विशेष प्रकार के नये अलिंद का निर्माण कराया गया है। यह अष्ट-पहलू दालान आठों दिशाओं में खुला है। स्फटिक-शिला के शीशों से जडे, विशद किवाड़ों से यह निर्मित है। चाहे जब ये किवाड़ पूरे खोल दिये जाते है। हवा, आकाश और प्रकाश इस अलिन्द मे आरपार बहते है। इसकी छत और फर्श भी किसी बहुत हलके नील रत्न की टाइलों से बनाई गई है।

इस दालान के बीचोंबीच गरुड के आकार वाला, एक पुखराज का पालना झूल रहा है। खरगोश के अति कोमल रोमों तथा पक्षियों के मसृण परों के बिछौने पर बालक लेटा है। इतना चचल और उद्दाम है उसके अंगों का संचालन, कि पालना बिना झुलाये ही झूलता रहता है। सुदक्ष वास्तुकार ने अलिन्द और पालने के धरातल को इस तरह समायोजित किया है कि दूर पर बहती हिरण्यवती नदी के प्रवाह को मानो यह पालना तटदेश हो गया है। पालने का सिराहना, उदयाचल के शिखर के साथ मानो समतल है। अस्ताचल जैसे उसके पायताने लेटा है। सूर्य और चन्द्रमा बालक के मस्तक पर भामण्डल की तरह उदय होते हैं, और उसके पायताने के तट में ही मानो अस्त होते हैं। वास्तुकला का एक अनुपम निदर्शन है यह अलिन्द।

आरम्भ मे महारानी-मॉ के शयन-कक्ष में पालना बाँधा गया था। पर बालक क्षण भर भी पालने मे ठहर नही पाता था। मॉ और धाय-माताओं की सारी सावधानी और जतन के बावजूद, जाने कब शिशु, एक दुर्दाम लहर की तरह उछलकर फर्श पर आ गिरता था। और गिर कर रोने के बजाय, एक चौड़ी मुस्कान के साथ किलकारी कर उठता था। माँ चिन्ताकुल हुई : कैसे बच्चे को पालने मे झाला जाये। पालने पर बॅधे सोने-चाँदी के सारे झुनझुने, झूमरें और महीन घंटियों के रव बालक को बहलाने में सफल न हो सके। तभी एक रात माँ को सपने में यह अलिन्द सांगोपांग दिखाई पड़ा था। एक अतिथि शिल्पी एक दिन एकाएक राजद्वार पर प्रकट हुआ। ठीक माँ के उस स्वप्न के अनुरूप ही, इस अलिन्द का निर्माण उसने कर दिया। दीवारें टूट गईं : खुली दिशाओं के बीच पालना झूलने लगा। बालक-देवता ने प्रसन्न भाव से पालने में लेटे रहना स्वीकार लिया।

. . हिरण्यवती की लहरें सारे दिन जैसे बालक पर अपनी नीली छाया डालती हुई बहती रहती हैं। दूरगामी वनों के मर्मर-संगीत की लय और ताल पर बच्चे के अंग थिरकते रहते हैं। उसकी नीलाभ काली आँखों में समुद्र की अगाध गहराई है : पर साथ ही वे तरल स्फटिक जल की तरह पारदर्शी भी हैं। तमाम प्रकृति अपनी सूक्ष्मतम जीव-सृष्टि के साथ मानो उन ऑखों में सदा झलकती रहती है। आकाश जैसे उन आँखों की कोरें बन गया है : और समुद्र उन पुतलियों की गति में बिछलता रहता है। चाहे जब बालक की आँखें अपलक और स्थिर हो जाती हैं : पुतलियाँ एकाग्र और निश्चल। शिशु के अंग एक विचित्र ध्यान मुद्रा में समतल और अवस्थित हो रहते हैं। बड़ी देर तक यह लीला चलती है। माँ चिन्ता से उद्विग्न हो जाती है। सारा अन्तःपुर बालक को चंचल करने की चेष्टा में हार जाता है। एक से एक अनोखे रागों में लोरियाँ गाई जाती हैं। बड़े-बड़े संगीतज्ञ अपनी तमाम विद्याओं का जोर लगा कर, वादन-गायन करते हैं। दिव्य शंख और घंटा-घड़ियाल बजाये जाते हैं। पर बालक टस से मस नहीं होता। फिर अपनी ही स्वतंत्र मौज से जाने कब वह इतने उद्दाम वेग और चांचल्य से हाथ-पैर उछालता है कि पालने में मानो स्वयम्भु-रमण समुद्र खेलने आ गया हो।

प्रायः शिशु हाथ के अँगूठे का धावन करते हैं। पर इस छौने को इतना सुलभ धावन पसन्द नहीं। पूरे दाये पैर को अपने ऊपर प्रत्यंचा की तरह तान कर, वह मस्ती से पैर का अँगूठा चूसता रहता है। माँ के स्तन दूध की उमड़न से असह्य हो उठते है पर कई बार शिशु उन्हें धाने से मुकर जाता है। माँ अपनी वह पीड़ा किसे बताये। उसकी ऑखों से अविरल ऑसू बहने लगते है। . . और कभी यह होता है कि एकाएक माँ-माँ की अविराम टेर लगा देता है। माँ पुचकार-चुम्बन से उसे शान्त करने की अनेक चेष्टाएँ करती हैं। तभी वह नटखट, दुरन्त छौना अपनी नन्हीं उंगलियों से स्वयं ही माँ का आँचल खिसका कर, कंचुकिबन्द तोड़ देता है, और अविकल ओठों से ऐसा कसकर धावन करता है, कि माँ को लगता है, जैसे उसकी समूची देह दूध बनकर उमड़ रही है। झर-झर आँखें झरने लगती हैं, और महारानी माँ की पलकें मुँदती चली जाती है। जाने कैसी आनन्द-वेदना की समाधि में वे मानो मूर्च्छित हो रहती हैं।

शिशु वर्द्धमान के अलौकिक सौन्दर्य और अनोखी क्रीड़ाओं की वार्ता हवाओं में गूँजने लगी। वैशाली और उसके पड़ोसी जनपदों तक ही वह नहीं रुकी, सारे आर्यावर्त में नव वसन्त के मलयानिल की तरह व्याप गई। लोक मे वात्सल्य की ऐसी लहर फैली, कि केवल वैशाली के ही नहीं, भरत-क्षेत्र के दूर-देशान्तरों और द्वीपों तक के आबाल-वृद्ध-वनिता वर्षा की नदियों की तरह नन्द्यावर्त-प्रासाद के द्वारों पर उमड़ने लगे। राजमहल की आभिजात्य मर्यादा आपोआप टूट गई। बालक को दुलराने और झूलना झुलाने के लिए सारे दिन नर-नारियों और बालकों की एक धारा-सी बहती रहती।

एक और भी अद्भुत घटना घटी। जो भी मानव-जन उस अलिन्द के वातावरण मे आते थे, उन्हें वहां गहरे सुखद स्पन्दनों की अनुभूति होती। चारों ओर से ऊर्मिल होते एक अत्यन्त मृदु ज्वार मे, उनके तन-मन स्तब्ध और शान्त हो जाते। उन्हें एक अजीब निर्विकारता और निर्विचारता का अनुभव होता। हृदय चंदन-सा शीतल हो जाता। स्नायुओं मे ऐसे सुखद स्पर्श का संचार होता, कि सर्व के प्रति एक निर्लक्ष्य प्रेम से वे आकुल-व्याकुल हो उठते। यह अनुभूति धीरे-धीरे कुछ इस तरह लोक में व्याप चली, कि वन्य पशु-पंखी तक एक अनिर्वार आकर्षण से खिचे, निर्बाध शिशु के पालने तक पहुँच जाते। कोई

वर्जन संभव नहीं रह गया था ; वे विभोर अपनी जीभों और आँखों के रोओं से बालक का रभस करने लग जाते। आसन्न प्रसवा माँएँ इस सुख-संचार से ऐसी बेसुध हो जातीं, कि बिना प्रसवशूल के ही अचानक वे अर्भक का प्रजनन कर देतीं।

• दूर-दूरान्त देशों के कवि और यात्री दुर्गम पर्वत और समुद्र लाँघकर इस विचित्र बालक को देखने आते। उसके पालने के पास बैठ कर, उसके विवरण लिखते, काव्य रचते, तत्काल नवसंगीत रच कर गान करते।

रात के पिछले पहरों में जाने कौन आकर, बालक के सिरहाने कोई मणि करण्डक धर जाता है। उसमें फेन-से हलके अंशुक और आभरण होते हैं। दिव्य स्वाद वाले मधुपर्व और सुगंधित अंगराग होते हैं। कहा जाता है, बालक के लिए ये भोग-सामग्रियाँ नाना देवलोकों से आती रहती हैं। इस शिशु को तो सारे मौसम एक-से हैं। वसन धारण करते ही उतार फेंकता है। मुक्ता-मालाओं और पहोंचियों से थोड़ी देर हर्ष की किलकारियों के साथ खेलता है। फिर चाहे जब उन्हें लीला मात्र में तोड़ कर फर्श पर बिखरा देता है। आगंतुक लोकजन पलना झुलाते-झुलाते उन बिखरी मुक्ता-मणियाँ को बटोर लेते हैं। आँखों और अंगों से छुआ कर, दुर्लभ प्रसाद की तरह उन्हें अपने पास सहेज लेते हैं।



नाकुछ समय मे ही शिशु ने पालना अस्वीकार दिया। घुटनों के बल चला न चला कि, सहसा ही वह पैरों चलता दिखाई पड़ा। तोतली बोली में या तो अविराम कलरव करता है : या फिर एकदम ही मौन हो जाता है। उसकी तुतलाहट मे भी लय्र होती है। और मुख-मुद्रा में सचोट अभिव्यक्ति होती है। लगता है, उसे कोई अबूझ गहरी बात कहनी है। उसकी मधुर काकली में सहसा ही कविजनों को किसी वाङ्मय का-सा बोध होता। उनके हृदयों में नित नयी कविताएँ स्फुरित होतीं।

. . अब वह चलने लगा है, तो विशाल महल के किस खण्ड या कक्ष में होगा, कहना कठिन है। पीछे दौड़ती दासियों की रखवाली उसे रुचिकर नहीं। भ्रू उचका कर, उन्हें ऐसी वर्जना का इंगित करता है कि बेचारी दूर खड़ी ताकती रह जाती हैं और आप देखते-देखते जाने कहाँ चम्पत हो जाते हैं। दिन में चाहे जब बालक खो जाता है। उसकी खोज-तलाश में सारा परिकर हिल उठता है। हर बार वह नये ही स्थान में जा बैटता है। ऐसे-ऐसे कोने उसने खोज लिये हैं, जहाँ कोई झाँकता तक नही। एक बार सातवे खंड के एक ऊँचे गुम्बद पर चढ़ बैठा था। वहाँ से उसे उतारने में प्रतिहारियों की पगतलियाँ पसीज गईं थीं। एक दिन आप पाँचवें खण्ड के एक रेलिंग पर अश्वारोहण करते दिखायी पड़े थे। देखकर माँ और दासियाँ भय से चीख उठी थीं।

बालक के हर अवयव मे अद्‌भुत गोलाई और सुडौलता है। उसके अंगों में स्निग्ध कोमल आभा के भँवर पड़ते रहते हैं। हर किसी का मन उसे गोदी में भर कर दुलारने को मचलता रहता है। सुन्दरी परिचारिकाओं में कुमार को गोद खिलाने की होड़ मची रहती है। पर उसे पकड़ पाना आसान नहीं। किन्तु किसी परिचारिका की गोद उसने स्वीकार ली, तो उसकी शामत आ जाती है। उसकी सुन्दर फूलों गूँथी वेणी को चपल हाथ के एक ही झटके से खींच कर खोल देता है। उसके

तन-बदन के सारे वसनों को ऐसे खींचता और खसोटता है, कि लज्जा और वात्सल्य से विभोर हो उसे अपने को सम्हालना कठिन हो जाता है। चाहे जब दौड़ कर किसी भी परिचारिका की चोटी खींच, उसे अपना घोड़ा बना सवारी करने लगता है। तो कभी बहुत प्यार से उसके केशपाश को अपने गले में लपेट कर, उसे चुम्बनों से ढाँक देता है।

कभी उसके मन में आ जाये, तो माँ को आज्ञा देता है कि चुपचाप भद्रासन पर बैठ जाओ : हिलो-डुलो नहीं। एकदम चुप मूरत हो जाओ। फिर कक्ष में से आप कई शृंगार-मंजूषाएँ उठा लायेंगे। बड़े कौशल से माँ का शृंगार-प्रसाधन करेंगे। फिर चुन-चुन कर अनेक अलंकारों से अनके हर अंग-प्रत्यंग को सजा देंगे। तब बड़ी कलात्मक उँगलियों से माँ का केश-विन्यास कर, नित नये ढंग से जूड़ा बाँधेंगे। स्वयं ही अपने मन चाहे नवीन वस्त्र उन्हें धारण करायेंगे। बीच-बीच में माँ और परिचारिकाएँ हँसी नहीं रोक पाती हैं, तो तर्जनी दिखा कर सबको धमकायेंगे : 'चुप . . चुप . . चुप !' और फिर अनगिनती प्रदक्षिणा माँ के ओरे-दौरे देते हुए, मनचाहे गीत गायेंगे और सब दासियों से अपने सद्य रचित गीतों की कड़ियाँ दुहरवायेंगे। और अचानक जाने कब माँ पर टूट पड़ेंगे, और उसके एक-एक अंग को ऐसे लाड़ से सहलायेंगे, दुलरायेंगे, चूमेंगे कि सारी परिचारिकाएँ हँस-हँस कर दुहरी हो जायेंगी। फिर बहुत सयाने बन माँ की गोद में राजा बन कर बैठ जायेंगे। तब धीरे से उनकी चिबुक उठा कर कहेंगे : 'हमने तुमको इत्ता प्यार किया : हमें प्यार नहीं करोगी ?' माँ तब अपनी रुकी हुई उमड़न से उन्मुक्त होकर इस दुलारे को छाती में बाँध लेने को बाहें उठायेंगी : तो पायेंगी कि निमिष मात्र में लालजी जाने कब छटक कर, सारी सेविकाओं के कंधों पर छलाँगें भरते दूर जा खड़े हुए हैं और ताली बजा-बजा कर अपनी विजय घोषित कर रहे है कि वर्द्धमान सबको पकड़ता है, बाँधता है, पर स्वयं पकड़ाई में नहीं आता।

• • •

कुमार वर्द्धमान को खेल के साथियों की खोज नहीं। अकेले अपने साथ खेलने में उसे बहुत मजा आता है। अपने लिए कई स्वायत्त खेलों के आविष्कार वह हर दिन करता रहता है। उसका एक सबसे प्यारा खेल यह भी है कि महारानी के हीरक-दर्पण जटित कक्ष में चला जाता है। ऊपर-नीचे, और चारों दीवारों के दर्पणों में उसे अनन्त वर्द्धमान दिखायी पड़ते हैं। उन सबको एक साथ पकड़ने को वह कक्ष में चारों ओर बेतहाशा दौड़ लगाता है। अपने सहस्रों प्रतिबिम्बों को अलग-अलग कई नाम देकर पुकारता है। दीवार में झलकते किसी एक प्रतिबिम्ब को जी भर आलिंगन करता है, चूमता है, प्यार करता है, उससे तरह-तरह की बातें करता है। कभी उसे चिढ़ाता है, उस पर गुस्सा भी करता है, उसे चपतें भी लगाता है। अन्ततः श्रान्त होकर, बीच में सुवर्ण साँकलों पर डोलते इंगलाट पर जा लेटता है। छत में झलकते वर्द्धमान को लक्ष्य कर अपनी एक लम्बी साहस-यात्रा की कहानी सुनता है। उपसंहार में कहता है : 'अरे देखो राजा, वहीं ठहरे रहना, हम सफेद घोड़े पर चढ़ कर, रात-दिन तुम्हारी ओर आ रहे हैं . . एक दिन तुमसे मिलेंगे . . फिर . . ' और जाने कब बालक गहरी नींद में सो जाता है।

• • •

क्षत्रिय-कुण्डपुर के अनेक बालक-बालिकाओं के झुण्ड कुमार के साथ खेलने को आने लगे है। कुमार ने तमाम परिकर को आज्ञा दे दी है, कि सबको हमारे पास आने दो। राजमहल के सारे कक्ष, नगर के बालकों के लिए निर्बाध खुल गये है। पर कक्षों और दालानों मे खेलना कुमार को पसन्द नही। वह तो पौर और प्रागणों मे सवेरे से ही आ धमकता है। सबको पुकारता है 'आओ, अरे सब आओ, मै आ गया, मै आ गया!' बात की बात मे सैकड़ों बालक-बालिकाओं के झुण्ड दौड़े चले आते है। कुमार उद्यान के किसी मर्मरी सिहासन पर बैठ जाता है। फिर अपने इंगित से हर दिन कोई नया और मौलिक खेल रचाता है। खेलों को दुहराना उसे पसन्द नही कुछ भी दुहराना उसका स्वभाव नही। अपने से लगा कर, अपने भोग-उपभोग, लीला-खेल सबको वह हर दिन नये रूप मे पाना चाहता है। रचना चाहता है।

कभी कहेगा 'आओ, सब आओ, देखो मै बीच मे खडा हूँ। देखो मैने हाथ पसार दिये है। लड़कियो, मेरी पसरी बाहो को अपने माथों पर थामो। अच्छा, अब लड़को, तुम मेरी बाहो पर पंक्ति बाँध कर खडे हो जाओ। अच्छा, एक एक लडकी मेरे कन्धे पर चढ जाओ। हाँ, अब एक लड़का इन दो लड़कियों के माथों पर लेट जाओ। बहुत अच्छा मेरा सिहासन बिछ गया अब मै उस पर बैठने को आता हूँ।' और फिर आप उछल कर ऐसी नही आसमान ऊपर को, कि सारे लड़के लड़कियाँ पटखनी खाकर लुढकते दिखेंगे। और आप हवा मे छलाँग भरते नजर आयेगे। हर बालक बालिका उसे झेलने को हाथ पसारेंगे। कभी अचानक किसी बड़े बड़े बालों वाली लड़की के दोनों कधों पर पैर डाले, आप सिहासन पर बैठे नजर आयेंगे। तो कभी कतार दर कतार, लड़के लडकियों का ऊपरा ऊपरी चुनकर सतखण्डा महल बना देंगे। और उनके अगल बगल के दर्रों मे चक्कर लगाते हुए, सबसे ऊपर बैठी बालिका के सर पर जा बैठेंगे। इतना हलका फुलका है यह बलशाली राजपुत्र, कि इसका भार किसी को ठीक लगता ही नही। मानो इसे भाल ऊपर धारण कर वे सब अपने को हवा मे तैरता सा अनुभव करते है।

एक दिन राजकुमार अपने राजोद्यान के सबसे ऊँचे पेड की फुनगी पर जा बैठे। फूलों और पत्तों के बीच से सर उठाये, उस वनस्पति-जगत को अपनी नन्ही-नन्ही उँगलियों से रभस दुलार करने लगे। लड़के-लड़कियाँ हार बाँध कर, वर्तुलाकार चारों ओर घूमर देते हुए, गाते जा रहे थे, कुमार का बनाया कोई गीत।

तभी ऊपर अन्तरिक्ष मे, सजय और विजय नाम के दो चारण ऋद्धिधारी दिगम्बर मुनि, अनुलोम गति से तैरते विहार कर रहे थे। उनके मन में 'सत्' को लेकर शका उत्पन्न हो गई थी। सो अस्तित्व असह्य लगने लगा था। जब 'सत्' कुछ है ही नही, तो हम कैसे अस्तित्व मे रहे? वैशाली के आकाश मे तिर्यक् गति से उड्डीयमान उन मुनि कुमारों की दृष्टि एकाएक, विशाल वृक्ष की फुनगी पर बैठे, राजपुत्र वर्द्धमान पर पड़ी। उन्हे एक अदम्य आकर्षण अनुभव हुआ। वे कुमार की ओर बरबस खिचे चले आए। पल्लवों और फूलों से लिपटे उस भव्य कुमार का दिव्य प्रेमल स्वरूप देखकर, औचक ही मुनियों के हृदय की शका ग्रंथि खुल गई। उद्बुद्ध होकर वे पुकार उठे 'सत् का साक्षात् रूप देख लिया हमने। कितनी सुन्दर, रसाल, सजीवन है सत्ता। सत् सत् सत्! जीवन जीवन जीवन! चिरजीवी हे परम सत्, हे सन्मति,

हे बाल भागवत, हम नि शक हुए, सत् स्वरूप हुए, हमारे प्रणाम स्वीकारो ।'

मुनिकुमारों को केवल वर्द्धमान ने देखा । पर उनकी अन्तरिक्ष वाणी नीचे के बालकों ने भी सुनी । वे पुकार-पुकार कर गाने लगे 'जय जय जय ।'

और यह गीत नन्द्यावर्त-प्रासाद, और कुण्डपुर मे अनुगुंजित होता हुआ, दिगन्तों के पोलानों मे गूँजता ही चला गया ।

हम राजाओं के राजा हैं

[illegible] है । मा [illegible] कुनमाता [illegible] है पर [illegible] करते हैं कि [illegible] भाषा बोलता है [illegible] कहते हैं कि शुद्ध [illegible] है [illegible] मे [illegible] है ।

[illegible] दिया उसने । राज [illegible] की सीमा लाँघ कर नगर [illegible] है । [illegible] मे [illegible] है । [illegible] मे कोई [illegible] तो [illegible] की [illegible] निकल [illegible] । [illegible] आ गई [illegible] कहता है 'ओ [illegible] यह [illegible] बरबस ही '[illegible] श्री [illegible] ।

[illegible] है । नगर मे [illegible] फैला है और [illegible] हिरण्यवती के तट पर [illegible] । इस ओर से दौड़ता आया कुमार वर्द्धमान । [illegible] ब्राह्मणी ने उसे छाती मे भर लिया । उसके स्तनों से गंगा उमड़ पड़ी [illegible] कुमार धारा [illegible] । ब्राह्मणी इतनी विकल और आत्म विभोर हो गई, कि उसे होश ही नहीं । एक अंतिम आघात-सा पाकर वह होश मे आई । देखा कि लड़का दौड़ता हुआ कछार के पार दूर निकल गया है । आँचल से आँखे पोंछती, वह स्तंभित देखती रह गई । उसे नहीं समझ आया कि कहा जाये ।

इसके बाद तो ऐसी और भी कई खबरे मिली है । नगर वधुओं के पानी खीचते हाथों की कंकण ध्वनि मे सहसा शिशु का पैजन छमक उठता है । हाथों की रस्सियाँ छूटकर रहँट पर से उतर जाती है । भर कर ऊपर आती गागरे, डूब-डूब कर बावली की गहराई मे डूब जाती है । इतनी सारी पनिहारिने, और वर्तुल मे घिरा नन्हा राजा । उफनते आँचलों, चूमते ओठों मे होड मच जाती है । किस छाती मे खो गया कुमार, पता नही चलता । किन्तु सब कृतार्थ भरी गागरों सी छलकती, छमकती, माटी की गागरे कुएँ मे डुबा कर, घर लौट पडती हे । सास, ननद और पतियों को उत्तर नहीं दे पाती है । कोहराम मच जाता है ।

बालिका हो कि युवती हो, कुँवारी हो कि ब्याही हो, प्रौढा हो कि वृद्धा हो, किसी भी जाति

या वर्ण की हो, नगर के राह-चौराहे पर हो, या वनांगन की डगरिया में हो, गदबदा, गोरा, डाल-पके आम-सा केशरिया-गुलाबी बालक हर किसी की राह रोक कर खड़ा हो जाता है : बेखटक आँचल खींच कर कहता है :

'ओ अम्मा, दूध पिलाओ . . । तुम्हारा दूध बहुत मीठा है ।' कुँवारी किशोरियों के ही नहीं, बालिकाओं के आँचल भी, उसके निर्दोष माधव ओठों को देख अकुला उठते हैं । किसी भी वय की स्त्री हो, देश-काल, लोक-लाज की मर्यादा भूल, निरी माँ हो रहती है । वैशाली के चौराहे, एक अपूर्व दृश्य से धन्य हो उठते हैं ।

और अभी उस दिन राज-ग्वाले ने गौशाला में जाकर अचानक पाया : कुमार वर्द्धमान, नन्दी गाय के चारों स्तन अपनी मुट्ठी में एक साथ पकड़ कर पी रहे हैं ।

सुनकर राजकुलों की मर्यादाओं में पली त्रिशला की भौंहें ऊँची हो गईं । रोष से डपट कर बोली :

'ये कैसे ऊधम मचाये हैं तैने ? खबरदार आज के बाद, महल से नीचे उतरा तो ! मैं क्या मर गई हूँ ? हर किसी का दूध पीता फिरता है ! गाय के थन भी पीने लगा है । तेरे उपद्रवों की हद हो गई है । राह चलती स्त्रियाँ ? कौन हैं वे तेरी . . ?'

'अम्माएँ हैं, माँ . . इतनी सारी अम्माएँ । सब मेरी अम्माएँ ! '

'अरे तो मैं क्या कम पड़ गई तेरे लिए ?'

'तुम तो हो ही माँ, पर मुझे सब अम्माएँ चाहिए ।'

'तू मेरा बेटा है, और किसी का नहीं . . ।'

'तुम्हारा भी हूँ, पर केवल तुम्हारा नहीं, माँ । लगता है सब अम्माओं का बेटा हूँ ।'

'अम्मा तेरी एक है, समझा ! मैं . . । सब अम्माओं की बात फिर कभी न कहना । . . '

विश्वंभरा, क्षण भर तो साधारण नारी के एकान्त वात्सल्य-अधिकार से ईर्ष्यालु हो उठी । बोली भर्राये गले से :

'मेरा आँचल तो अब तुझे देखा नहीं सुहाता ! तरसती रह जाती हूँ . . दूख-दूख जाती है मेरी छाती ! मेरा हाथ झटक कर, भाग जाता है । दुष्ट कहीं का . . ! '

माँ की सुन्दर बड़ी-बड़ी आँखों में आँसू देख कर कुमार गंभीर हो भर आया । चुपचाप पास आकर अपनी नन्ही-नन्ही कली उँगलियों से माँ के आँसू पोंछ, उसे खूब चूम-चूम लिया । और फिर माँ का मनचाहा, उसकी छाती में ढलक गया । . .

. . फिर तृप्त प्रसन्न होकर महारानी बेटे को तरह-तरह से लाड़-प्यार, रभस-दुलार करती रहीं । एकाएक माँ का हाथ पकड़ कुमार शरारत से भौंहें नचा कर बोला :

'बस इतीसी बात में तुम रूठ गई, अम्मा ? हो . . हो . . हो . . मेरी अम्मा पागल है . . मेरी अम्मा पागल है ! '

आँसुओं मे घुलती हँसी से बेतहाशा हँस कर बोलीं रानी-माँ :

'बोल, अब नहीं जायेगा न कहीं, मुझे छोड़ कर ?'

'कभी नहीं माँ, देख लेना । तुम कितनी अच्छी हो, माँ । पर पागल हो, कुछ नहीं

समझतीं . . !'

महारानी सच ही मन-ही-मन अपने अज्ञान पर लजा गईं। जानकर भी अनजान हो गईं। बोलीं :

'समझती हूँ, लालू, सब समझती हूँ तेरे खेल ! . . पर, अब तू कहीं जाना नहीं, यहीं रहना . . ।'

'बापू के पास भी नहीं ? उन्हें प्रणाम करने भी नहीं . . ?'

'सो तो जायेगा ही। लेकिन . . '

'अच्छा-अच्छा। बहुत अच्छा। हम सब समझ गये तुम्हारे मन की बात। किसी को बतायेंगे नहीं। चुपचाप यहीं रहेंगे।'

'चकोर, चुगलखोर कहीं का . . ।'

इस निरे सरल, पर अथाह बेटे को छलछलाती आँखों से गर्व भरी-सी ताकती रह गई माँ।

• • •

खिलौनों का कक्ष देश-देशान्तरों के अजूबा और चित्र-विचित्र खिलौनों से भरा है। चीन देश के रंगबिरंगे, बोलते-से गुड्डा-गुड्डी हैं। बारीक मणियों गूँथी पिटारियों में तरह-तरह के रत्न के चौपड़-पासे है। हाथी दाँत के महल हैं। चन्दन और चम्पक-काष्ठ के रथ हैं। विशाल क्रीड़ा-दालान के सिरे पर मंडलाकार लोकों, द्वीप समुद्रों, पाँच मेरुओं, स्वर्ग-पटलों की रचनाएँ हैं। उनमें यथास्थान कृत्रिम जंगलों छाये पर्वत हैं, सुनहली मछलियों से भरे पानी के सरोवर हैं, नदियाँ हैं। उनमें नन्ही नौकाएँ हैं, जिनमें डांड चलाते हुए कुमार नौका विहार कर सकता है। कृत्रिम वनानियो में, सवार होते ही अपने आप चलने वाले हाथी हैं, हिरन हैं। सवारी करने को घोड़े है, और सिंह भी। ऐसी चन्द्रशिलाएँ है, जिनमे आपोआप पानी भर कर, सरसी बन जाती हैं : उसमें कमल खिलते है। . .

कुमार का मन खेलते-खेलते, क्षण भर में ही उचट जाता है। बाहर जाना तो वर्जित है, सो बाहर की लम्बी गैलरी में जा खड़ा होता है। टकटकी लगाये मन-ही-मन हिरण्यवती में तैरता है, नौका विहार करता है। अपने को सुदूर हिमवान के बर्फानी पर्वत-श्रृंगों पर चढ़ता हुआ देखता है। एक दिन ऐसे ही कल्प-विहार में हिमाद्रि के एक चूड़ा-वातायन पर जा बैठा था। तभी माँ ने आकर अचानक पीछे से उसकी आँखें भींच ली। कुमार उष्ण वत्सल हथेली का स्पर्श पाकर महल की परिधि में लौट आया :

'अरे छोड़ दो माँ, कैसी हो तुम भी। हमारा खेल बिगाड़ दिया। बस, तुम्हें तो प्यार और महल की लगी रहती है।'

'खेलने मे तेरा मन ही कहाँ लगता है, लालू, इतने बहुमूल्य खिलौनों से भरा क्रीड़ा-कक्ष छोड़ कर, चाहे जब यहाँ आ खड़ा होता है। क्या देखता रहता है सारा दिन यहाँ ?'

'खेलता रहता हूँ माँ ! देखते-देखते सब खेल हो जाता है।'

'खिलौने तो सब अन्दर मुँह ताक रहे हैं। यहाँ काहे से खेलता है रे ?'

'कमरे के आनमान के खिलौनों मे मेरा मन नही लगता, माँ । देखो न यहाँ तो सच्चीले पहाड है, नदियाँ है, बडे बडे कमलों भरे तालाब है । वे पहाड की चोटियाँ मुझे बुलाती है, मुझसे बाते करती है । कहती है हमारे पास आ तुझे अपनी गुफाओं मे बहुत से गुप्त खजाने दिखाएँगे । अपने झरनों म नहलाएँग अच्छा माँ वहाँ एक सोनहला आठ पैरोंवाला व्याघ्र भी रहता है । कहता है 'आ मुझ पर सवारी कर ।' और वहाँ कई रुपहले हिरन मे मित्र हो गये है । बहुत अच्छे लगते है मुझे अपनी पीठ पर बिठा, खूब सैर कराते है । और वहा बेलों छाये घरौंदों मे कोमल कोमल खरगोश रहते है । वे सब बिछोना बन कर मुझे सुलाते है । इतना प्यार करते है, कि मै भी उनके साथ खरगोश हो जाता हूँ ।'

सुनते सुनते माँ को लोकान्तर सा अनुभव हुआ । कितनी ही आदिम स्मृतियों मे वह खो गई । जिज्ञासा से भर कर बोली

अच्छा मानू, और क्या क्या है तेरे खेल ?'

और तरह तरह के पेड है वन । भेदभरी वनिया है । जिनकी कहानी तुम सुनाती हो । उनमे सुनहले फल लगे है । बहुत प्यारे साप मेरे हाथ पैरों म लिपट जाते है और सर पर छत्र तान देते है । बापू का रत्नों का छत्र फीका लगता है उसके सामने ।'

और क्या क्या है तेरे खिलौने ? कौन है तेरे खेल के साथी

यहा के नगर सहेली तो तुमने सब छुडा दिये मा । और ये खिलोने तुम्हारे सब झूठे लगते है झूठे खिलौने । हम तो सच्चीले खिलौनों से खेलते है । सूरज से कभी गेंद खेलते है, कभी उसे लट्टू बनाकर घमाते है कभी उसे चकरी बनाकर फिराते है । और कभी मन म आता है, तो हम विमान बनाकर आस्मान की सैर करते है । जाने कितने लोको और देशों मे वह हमे ले जाता है । तुमने सुने भी नही होंगे, ऐसे ऐसे देश वह हम दिखाता है बेचारा सूरज, अच्छा लडका है । खिलौना भी बन जाता है साथी खिलाडी भी, और हमारी सवारी भी ।

और चाद ?'

अरे मा, चाद के तो क्या कहने है । वह तो शीतल हीरों के पानी भरा तालाब है । रात को तुम सो जाती हो । तब हम उस तालाब की लहरो पर अपना बिस्तर लगाते है । और चॉद खुद भी आकर, हमारे साथ बैठ कर बात करता है । ओर हमारी तो सब लडकियाँ तुमने छुटा दीं । तो क्या हुआ जागे तारा लडकियाँ आकर हमे घेर लेती है । हमारे साथ आख मिचोनी खेलती है, घूमर नाचती है हमे रग बिरगे कदील देती है, फानूस देती है । और सब मिलकर कहती है अब हम पर लेट जाओ, सो जाओ, आराम करो, राजकुमार ।

महारानी माँ इस क्षण न रानी रह गई है, न महल मे है । न जाने कहा, कही और है । ऐसे जगत म, जो कहने मे नहीं आता ।

'अच्छा लालू, हमे भी अपने खेल का सहेली बना लो न हमे भी अपने खेलों के ऑगनों मे ले चलो ।'

'अरे वह तुमने भी खूब कही, माँ । लो अभी चलो । आओ मेरे बहुत पास आ जाओ आओ न माँ ।

मा ने बेटे के विशाल मस्तक को छाती से चॉप लिया । और लगा कि, सारा लोक उनके

वक्षतट मे छौने-सा दुबक गया है।

माँ ने मर्यादा की लकीर खीच दी है, तो लडका कई दिनों से अन्त पुर की सीमा के बाहर नही गया। या तो उसकी बातों से, महल से लगाकर नगर तक मे कोलाहल मच गया था। या अब एकदम ही चुप हो गया है। बुलाने पर भी किसी के पास नही जाता। दासियाँ दूर से हीं बलाये लेती रहती है। उसे परवाह नही। माँ भी पास आने की हिम्मत नही करती है। कभी क्रीडा-कक्ष मे खिलोनों को देखता चुपचाप डोलता है। कभी अलिन्द के डोलर पर अकेला झूलता रहता है। कभी गेलरी मे, और कभी इस या उस वातायन पर खडा, दूरियों मे निगाहे खोये रहता है। माँ का मन चिन्तित, कातर हो आया। बुरा किया मैने इसे बाँध कर।

'क्यों रे लालू मैने तुझे कैद कर दिया न ?'

'नहीं तो। हम तो, जहाँ मन आये वहाँ जाते है। हमको कौन कैद कर सकता है ?'

'कितने दिनो से यहीं तो बन्द है तू !'

'अरे वाह माँ, तुम तो कुछ भी नही जानती। हम तो सब जगह है, भई, यहाँ भी है, और कहीं भी है।'

'झूठा कहीं का, मुझे बनाता भी लगा है रे ?'

'सच्ची मइया, हम तो फिरते ही रहते है। देखो न अम्मा यह पहाड की चोटी है न, वह हमारी सहेली हो गई है। गलबाहीं डाल कर हम अपने पास जाने कहाँ कहाँ घुमाती है। कित्ते देश, कित्ते लोक दिखाती है। तुम्हारी कहानियों मे भी ऐसे देश नहीं है मा।'

'बहुत अकेला पड गया है न। अकेले अकेले तुझे अच्छा नहा लगता न, बिल्टू ! सब संगी तेरे मैने छुडा दिये।'

'अरे नही मा, तुम तो अपने ही मन मे चाहे जो सोच लेती हो। हमको अकेले रहना अच्छा लगता है।'

'झूठा कहीं का, छुपाता है।'

'सच मा, अच्छा लगता है। देखो यह हिमवान का कूट कितना अकेला है। और रात को नदी भी तो अकेली बहती है। अरे वह देखो माँ, उसी टहनी पर अकेली बैठी चिडिया कित्ता बारीक गाती है। उसका गाना मै समझने लगा हूँ।'

'नही, तुझे अब अकेला नहीं रखूँगी कल से।'

'अकेला मै कहाँ हूँ मा ! मै तो अपने साथ हूँ। अपन तो अपन के ही दोस्त हो गये हैं। और देखो न, यह हवा हर समय मेरे साथ है, मुझे दुलराती रहती है। और इत्ता बडा आसमान, सदा मुझे घेरे रहता है। छोड कर जाता ही नही कभी। और चाँद-सूरज, तारा-लडकियाँ। और लडके लडकियाँ तो छोडकर भी चले जाते है, पर ये तो सदा के साथी है। इत्ते सारे खेल के सखा सहेली। अब तुम्ही बताओ, मै अकेला कहाँ हूँ ?'

'अच्छा लालू, सारे दिन क्या सोचता रहता है ? बोलता ही नही किसी से !'

'हम तो कुछ भी नही सोचते। सब देखते रहते है। इत्ती सारी चीजे है देखने को। और जानने को भी कित्ता सारा है उनमे। चीज के भीतर चीज है। पिटारी के भीतर है पिटारी, देखने और जानने मे कित्ता मजा आता है ! फिर सोचना क्या ? तुम भी देखो तो पता चले,

माँ ! फिर सोच में कभी नहीं पड़ोगी। समझी कि नहीं . . !'

मॉं को लगा, उनकी बुद्धि से परे है यह बेटा। इसे पहचानना कठिन हो जाता है। इसे अपना कहने का साहस नहीं होता। पर आज उनसे रहा न गया, लगा जैसे कोख का जाया हाथ से निकला जा रहा है, पराया हुआ जा रहा है। एकदम मोहाकुल होकर उन्होंने उसे बाँहों में भर गोदी में बैठा लिया। फिर उसके माथे पर चिबुक टिका, अपनी उँगली से उसकी चिबुक उचका, उसकी बड़ी-बड़ी आँखों में ऑखें उँड़ेल भर्राये कण्ठ से पूछा :

'तू मेरा बेटा है न, मानू ?'

'अरे वाह माँ, यह भी क्या पूछने की बात है ! वह तो हूँ ही।'

'और तेरे बापू का बेटा है न ?'

'तुम कहो तो उनका भी हूँ।'

'तू केवल मेरा बेटा है न, मेरा राजा बेटा।'

लड़का जोर से हँस पड़ा। 'कह तो दिया कि हूँ। बार-बार क्या कहना !'

'सिरफ मेरा लल्लू, और किसी का नही !'

'हाँ-हाँ तुम्हारा भी . . !'

'भी नहीं . . मेरा ही . . बोल न !'

'ही नहीं माँ, भी।'

'इसका तो कोई अर्थ नहीं हुआ !'

'अर्थ क्यों निकालती हो माँ, जो है सो तो है . . ।'

'मतलब ?'

'मतलब तुम्हारे भी हैं, हम, सबके भी हैं।'

'तो फिर हम तुम्हें नहीं रक्खेंगे।'

'भई देखो, सच्ची बता दें।'

'बता न . ! छकाता क्यों है मुझे ?'

'हम तो किसी के बेटे नहीं . . अपने ही बेटे हैं।'

'मेरा और बापू का भी नहीं ?'

'अच्छा, तुम भी हमारी बेटी हो, बापू भी हमारे बेटे हैं, और सब अपने-अपने बेटे हैं। तुम अपनी बेटी हो, तात अपने बेटे हैं। हम अपने बेटे हैं। हम तुम दोनों के बेटे हैं। हम सबके बेटे हैं। हो गया न ठीक। और क्या चाहिए !'

माँ कुछ न समझ कर भी जैसे एक गहरे बोध में डूब गई। उनके मन में प्रश्न रहा ही नहीं। बस आँसू झर रहे हैं अविरल, आँखों से। और बेटे को समूचा आँचल में समेट स्तब्ध हो गयी हैं। और छाती में वह बेटा अचल है : जो चाहें वे उसे मान लें, जो चाहें उसके साथ करें, वह समर्पित है।



साँझ बेला में महारानी माँ कुमार को लेकर उद्यान-विहार को निकली हैं। दासियों , परिचारिकाओं

से घिरी हैं। बीच में हरी दूब का एक बड़ा-सारा गोलाकार मण्डल है। उसके केन्द्र में अकृत्रिम-सा लगता एक मर्मर का क्रीड़ा पर्वत है : उसमें जगह-जगह से फव्वारे छूट रहे हैं।

कुमार चुपचाप पेड़-पौधों, फूलों की शोभा निहारता अपने में तन्मय, छिटका-सा चल रहा है। उसकी देखने, भोगने की अपनी दृष्टि है। हर वृक्ष, गुल्म, लता, पत्ती, फूल को समूचा देखता है। फिर उसके रंग, आकृति, किनारों को देखता है। फिर एक-एक पत्ती, फूल, पाँखुरी, उनकी बारीक नसों के तंतुजाल, और उनमें बहते हरियाले रस-रुधिर, सबसे साथ वह तन्मय होता चला जाता है। हवा में हिलते, मर्मराते डाल-पत्तों के इंगितों को बूझता है। डोलती लताओं के आवाहन से विभोर हो जाता है। सरसियों की ऊर्मियाँ उसके अंगों में कम्प जगाती हैं। उनमें छाये कमलों की मरम-केसर और पराग-रज उसके तन-मन को जाने कैसे स्पर्श बोध से बेसुध कर देती है।

महारानी अपने परिकर के साथ विचरती हुईं, हरी दूब के उस विस्तृत मंडल में विहार करने लगीं। ग्रीष्म की सन्ध्या में नंगे पैरों उस पर चल कर, भीगी दूब का शीतल सुख वे पाना चाहती थी। कुमार मंडल के बाहर खड़ा उन सबको ताकता रह गया। माँ के बहुत पुकारने पर भी दुर्वांगन मे उसने पैर नहीं बढ़ाया। माँ से रहा न गया। आप ही दौड़ी आईं और बेटे को अपने से सटा कर बोली :

'यहाँ क्यों खड़ा रह गया, बेटा। चल न भीतर, देख तो दूब कैसी शीतल और शाद्वल है, कोमल है। और देख तो वे मर्मर के फव्वारे।'

लडका चुप रहा। बोला नही। माँ ने उसके गाल, चिबुक, बाल सहलाकर निहोरा किया . 'अरे चुप क्यों है ? . . चल न, देख न, सब कितना सुन्दर है !'

अरे बेटे के गाल गीले क्यों है ? आँसू . . ?

'अरे तुझे यह क्या हो गया रे लालू . . ?'

'तुम सब इस नन्ही कोमल दूब को गूँधती हुई चलती हो न, तो हमको बहुत दुःख लगता है। लगता है, हमारे ऊपर ही तुम सब चल रही हो। हमारी सारी पीठ छिल गई . . हाँ . . !'

माँ ने पीठ सहलाते हुए वहाँ देखा, तो जगह-जगह कई पैरों के निशान पड़ गये है, और लगा जैसे कभी-कभी रक्त छलक आयेगा। माँ एकदम नीरव, स्तब्ध, रुआँसी हो गईं। विस्मय से परे, वे सब द्रवित होती चली गई : एक साथ विबुध, और सम्बुध हो रहीं। एक प्रतीति है, जो अपने से भी कही नही जाती।

बडे सारे बेटे को गोदी मे उठा कर क्रीड़ा-सरोवर की ओर निकल आईं। बोलीं :

'चल लालू, हम सब स्नान-केलि करें सरोवर में : तेरी पीठ छिल गई है न . . शीतल हो जायेगी।'

'नही . . नही . . नहीं माँ। तुम तो कुछ भी नही समझतीं। देखो न, साँझ की हवा मे सरोवर की लहरे कैसे आनन्द मे लीन हैं। कैसी शान्त बहती हुई, जल का नीरव गीत गा रही हैं। हम केलि करेंगे, तो हमारे थपेड़ों से उन्हे चोट लगेगी न। उनका आनन्द भंग हो जायेगा। तो उन्हे रोना आ जायेगा। तब हमारा तो सारा तन छिल जायेगा। ऐसी बातों से हमको दुख होता है, माँ . . तुम तो कुछ समझती भी नही।'

महारानी चुप हो गईं। वितर्क नहीं आया मन में। एकाएक जैसे जाग उठी हैं : खुल पड़ी

हैं। उनकी त्वचा बेहद संवेदित हो गई है। रोयाँ-रोयाँ, जाने कैसे चारों ओर के वत्सल स्पर्शों से भर उठा है। अरे, वे तो केवल वर्द्धमान की माँ नहीं। कण-कण की माँ हैं। बस, केवल माँ।



शिशिर के सवेरे, परिचारिकाओं ने कुमार को नहला कर, सुगन्धित पद्म मकरन्द से अंगराग लेपित कर दिया। केशों को बेमालूम फुलैल-सुगन्धों से सँवार कर, चूड़ा में मुक्ताबंध से हीरक-चन्द्र, बंकिम-सा अटका दिया। कलाइयों में महीन मणियों की पहोंचियाँ, भुजाओं पर पतले-पतले मरकत के भुज-बन्ध। कमर पर नन्ही-नन्ही बजती घंटिकाओं की लटकन वाली करधौनी। टखनों पर सोने के घूंघुरवाले पायल। तब मुलायम रोमों का अंगा पहना न पहना कि उतार कर फेंक दिया।

'नहीं, हमको शीत अच्छा लगता है। कुछ नहीं पहनेंगे।'

'अरे कुमार, अब तो बड़े सारे दिखते हो। अच्छे बच्चे नंगे नहीं रहते। देखो न, कितना तीखा शीत है। अंग थरथरा रहे है।'

'देखो न, शीत हमारा मीत है। हमारे अंग तो नहीं थरथराते। हम अच्छे बच्चे थोड़े ही हैं। हम तो खराब बच्चे हैं। माँ कहती हैं, लालू बड़ा नटखट है। . . नटखट बच्चे नंगे ही डोलते हैं। तुम सब इतना भी नहीं समझतीं . . ?'

. . खबर सुन कर महारानी आईं।

'अरे लालू, ऐसी खोटी हठ ठीक नहीं। देख बेटा, शीत लग जायेगा।'

'शीत तो लग चुका माँ। अन्दर आ गया है। मुझे बहुत अच्छा लग रहा है।'

'तेरी तो सब बातें उलटी हैं। सब काम उलटे करता है।'

'मैं तो जनम का ही उलटा हूँ, माँ, सीधा कब चला ! और देख लेना, आगे भी उलटा ही चलूँगा। सारी दुनिया से ठीक उलटा चलना हमको अच्छा लगता है। क्या करें . . !'

माँ और दासियाँ हार कर इधर-उधर व्यस्त हुईं, कि इतने में कुमार गायब।

. . प्रभातकालीन राज-सभा में महाराज सिद्धार्थ अपने रत्नों से जाज्वल्यमान भव्य सुवर्ण सिंहासन पर गौरवपूर्वक आसीन हैं। मंगलाचरण के उपरान्त बन्दीजन महाराज का यशोगान कर रहे हैं। एकाएक दिखाई पड़ा, नग्न बाल-केसरी सा कुमार, केशरिया आभा बिखेरता, झाँझर झनकाता चला आ रहा है। सब अचंभित और आनंदित थे, बालक-राजा को पहली बार यों राज-सभा में आते देख कर। कुमार सीधे राज सिंहासन के पास पहुँच, एक पैर उसकी सीढ़ी पर रख बोला :

'अय महाराज, हम राजा है, तुम नहीं। अच्छा तुम भी राजा, हम भी राजा। पर हम तुम्हारे भी राजा हैं, हम सबके राजा हैं। सिंहासन पर हम बैठेंगे। महाराज, खड़े हो जाइये न, सिंहासन हमें दीजिए। हम चक्रवर्ती राजा हैं, हमको पता चल गया है . . !'

महाराज आनन्द-विभोर हो, अश्रु-गद्गद से उठ खड़े हुए। बेटे को बहुत प्यार से बाँहों में भर मान-संभ्रमपूर्वक सिंहासन पर आसीन कर दिया। स्वयम् पास ही नम्रीभूत आज्ञावाहक-से

खड़े रह गये । . . ठीक सम्राटों की गरिमा को पराजित करने वाली, किसी अपूर्व गौरवभंगी से, निर्वसन बाल प्रभु ने सिंहासन को अपनी महिमा से मानो क्षण भर पराभूत कर दिया। सिंहासन ने मान भंग का जैसे आघात अनुभव किया।

'अय बन्दीजनो, हमारा यशोगान करो। हम राजाओं के राजा हैं . . !'

अन्तःपुर के झरोखे पर से महारानी त्रिशला अपने परिकर सहित यह दृश्य देख कर स्तंभित और आत्म-विभोर थीं। उनकी आँसुओं में डूबती आँखों में जैसे झलका : कुमार मानो अन्तरिक्ष में सिंहमुद्रा से आसीन है : और सिंहासन उसके चरणों में समर्पित है।

बन्दियों के मुख से कोई अभूतपूर्व स्तुतियाँ उच्चरित होने लगीं। नर्तकियों की हारमाला, समवेत संगीत की लहरों पर आलोड़ित होने लगी। महाराज और सभासद स्वयम्, मात्र दृश्य होकर रह गये। और उस सबका एकमेव द्रष्टा कब वहाँ से चम्पत हो गया, पता ही न चला।

अनहोना बेटा

महारानी त्रिशला अपने कक्ष में, एक पूर्णकार शीशे के सामने खड़ी, फूलों से अपने केशों का सिंगार कर रही हैं। तभी किसी ने सहसा टोका :

'अरे मा, तुम यह क्या कर रही हो ?'

'देख न, जूड़े मे फूल टाँक रही हूँ। सुन्दर लगते हैं न ?'

'नहीं माँ, बिल्कुल नहीं। फूल तो डाल पर ही सुन्दर लगते हैं, जूड़े पर नहीं।'

'क्यों, बेटा ?'

'हर चीज अपनी जगह पर सुन्दर लगती है, माँ। वहाँ से उसे हटा दो तो, फिर . . '

'तो फिर क्या ?'

'वह मर जाती है। तुम्हारे जूड़े में मरे हुए फूल लगे हैं। इनकी मुस्कान तुमने छीन ली, माँ। ये ढेर-ढेर फूल जो तुम्हारी शैया में, स्तवकों में तोड़ कर सजा दिये गये हैं न, वे सब मुझे मरे हुए लगते हैं।'

'इतने सुन्दर लग रहे हैं, इतनी सुगन्ध भरी है कमरे में। फिर फूल मरे हुए कैसे?'

'पता नहीं, मुझे क्यों लगता है ऐसा। ये फूल खुश नही लगते, नाराज हो गये हैं, माँ। ये डाल पर ही प्रसन्न थे।'

'तू तो कहता है, मर गये है।'

'हाँ, इनमें कुछ मर गये है माँ, जो मुझे दिखता है। हाँ-हाँ, याद आया, उस दिन उद्यान-क्रीड़ा में, मालिन वनमाला को एक चम्पक फूल तोड़ते हुएँ मैंने देखा था। अरे माँ, देखो न, तब ऐसी सिसकारी फूटी थी डाल पर ! नन्हा फूल रो दिया था, और उसकी डाली भी। . . हमको बहुत दुःख हुआ था उससे।'

'तेरी तो सभी बातें अनहोनी हैं, मान ! तू तो चलता भी ऐसे है कि कहीं धरती को दुख

न हो जाये। लकड़ी, पत्थर, धातु जैसी जड़ चीजों को भी ऐसे छूता है, जैसे वे जीवित हों। तू तो खंभे से भी गाल सटा कर उसे प्यार करता है। तेरे खेल समझ में नहीं आते।'

'क्या करें माँ, हमको सब कुछ जीवित लगता है। सब ओर प्राण-ही-प्राण लगता है। हमारे प्राण को ऐसा ही लगता है। हम क्या करें !'

'चेतन में तो ठीक है, पर तू तो जड़ पदार्थों को भी ऐसे छूता है, जैसे सहला रहा हो।'

'अरे माँ, चेतन कहाँ है, और कहाँ नहीं है, वह कौन बताये। हमको तो सब जीवित लगता है। सब सुन्दर। . . देखो तुमने फूलों को तुड़वाकर, सब असुन्दर कर दिया। मर गये बेचारे . . ।'

'तो हम सिंगार काहे से करें, लालू ?'

'ओ . . तो क्या फूलों के प्राण लोगी, उसके लिए ? तुम अपना सिंगार अपने से करो। फूल अपने से करें। तुम उनकी सुन्दरता देखो, वे तुम्हारी देखें। तुमको फूल की सुन्दरता से मतलब थोड़े है, तुम्हें तो अपनी सुन्दरता की पड़ी है। सबको अपनी-अपनी पड़ी है। मरे फूल से सिंगार करके, तुम मुझे सुन्दर नहीं लगतीं, माँ !'

'अच्छा बाबा, चुप कर। तेरी बातें सारी दुनिया से निराली हैं। तेरे कहने से सब चलें, तो दुनिया और की और हो जाये।'

'सो तो होगी ही। तुम्हारी यह दुनिया, हमें अच्छी नहीं लगती। सब एक-दूसरे को मार कर जीते है यहाँ।'

'तो फिर तू क्या करेगा ?'

'हम तुम्हारी इस दुनिया को उलट देंगे। अपने मन की बना लेंगे।'

'बना लिये ! तुमने कहा, और हो गया !'

'अरे हाँ हो लिया, माँ, तुमको हम करके बतायेंगे।' महारानी सिंगार करना भूल गयीं। अनमनस्क हो, कमरे में सजे सारे फूलों को डूबी-डूबी आँखों से देखने लगीं।

'वर्द्धमान . !'

बालक वहाँ से जा चुका था।

• • •

अब तो तुझे सारे राजप्रांगण मे घूमने की छुट्टी मिल गई, मान। अभी कहाँ से आ रहा है ?'

'सुनो माँ, तुम कहती हो, बाघ वन का राजा होता है ?'

'सो तो है ही !'

'तुम्हारा प्राणी-उद्यान देखा आज।'

'कितने तरह-तरह के, देश-देश के प्राणी हैं। अच्छा लगा न तुझे ?'

'अच्छा नहीं लगा, माँ। वन के राजा बाघ को तुमने पिंजड़े में डाल दिया है। वह तो पर्वत की चोटियों पर छलाँगे भरता है : वही वह अच्छा लगता है।'

'अच्छा, और क्या देखा, मानू ?'

'और भोली आँखों वाले हिरन, काले भवर कृष्णसार, नील गायें, चँवरी गायें, वे नन्हे-नन्हे खरगोश, सबको तुमने कैद कर दिया, माँ। . उनसे उनके खुले जंगल छीन लिये तुमने। . .

'देखो न, वे बडे सारे पखों वाले मोर · वे नीली, हरी, पीली, लाल चिड़ियाएँ। वे देश-देश के पछी ! उनके तो तुमने पख काट लिये, माँ ! वे आसमानों में जाने कहाँ-कहाँ उड़ते थे। जाने कितने जगल, डाल, झरने घूमते थे। कही दाना, कही पानी, कही फल । . . यहाँ बेचारे सब तुम्हारे पालतू हो गये। उनका आसमान तुमने छुड़ा दिया। . .

'और ये रग-बिरंगी सुनहली-रुपहली, भाँत-भाँत की मछलियाँ। आसमानों तक बहती नदियों, समुद्रों मे वे खुल कर तैरती थीं। अब बेचारी तुम्हारे बनावटी सरोवरों मे मनमारे पख मारती रहती है। हम को लगा माँ, हम भी यहाँ कैदी है। हमारा जी नही लगता माँ, तुम्हारे इस महल मे। यहाँ सब कैदी है, हम भी, तुम भी, बापू भी, पेड-पौधे भी, पशु-पक्षी भी। बहुत बडा है तुम्हारा कैदखाना !'

'तेरी बाते समझना, मेरे बस का नही, मान ! तू हर चीज को, उलटा और सबसे अलग देखता है। अरे प्राणी-उद्यान मे सब प्राणियों को उनके स्वभाव के अनुसार ही तो रक्खा है। पखियों के लिये पूरा एक वन ही तो बना दिया है, जगल से अधिक रसीले फल-फूलों से भरा। मछलियों को मर्मर और स्फटिक के सरोवरों में तैरने को मिलता है। नदियों मे उन्हे मगरमच्छ निगल जाते, यहाँ वे सुरक्षित है। मृगों को रम्य क्रीडा-पर्वत दिये है हमने। और सिह का पिंजड़ा कहाँ है ? उसकी गुफा मे सोना पुता है। और उसे हमारे रखवाले पकवान, मेवे और फल खिलाते है। नही तो जीवों को खाता फिरता था वह। छि छि '

'तो माँ, तुम्हारे और बापू के भरोसे जीते है वे ? यही न ? बाघ की वे सुनहरी धारियाँ किसने बनाई, मा ? हिरनों की सुन्दर आँखे और चँवरी गाय के चँवर किसने बनाये ? खुले जगलों, हवाओ, बहती नदियों, चट्टानों, पेडों मे से वे सब बने है। जिसने उन्हे बनाया है, वही उनका रखवाला है, माँ।'

'अच्छा तो किसने बनाया है, उनको ?'

'पता नही, हमने उन्हे नही बनाया। सब अपने आप बने है, सब अपने-अपने रखवाले है। तुम कौन होते हो उन्हे घेरने वाले, बाँधने वाले, पालने वाले ?'

'देख बेटा, तू राजपुत्र है। कल राजा बनेगा। राजा तो धरती का मालिक, और सबका पालनहार होता ही है। तेरे पिता पृथ्वीनाथ है, बेटा ! और तू भी वही होगा कल को !'

'हम तो अपने ही राजा है, माँ, और किसी के नही। हमारा राजा भी और कोई नही। सब अपने अपने राजा है ! सब अपने-अपने रक्षक है। अरे माँ, एक चीटी भी तुम बना नही सकते, एक अकुर तक उगा नही सकते। तुम उनके राजा कैसे ? और तुम उनके प्राण बचाओगे ? उन्हे पालोगे ? तुम्हारे राजा से कह दो, वे मेरे राजा नही। हम तो अपने ही सम्राट है। हमको ऐसा ही लगता है, माँ, हम क्या करे। तुम्हारा महल बहुत छोटा है माँ, यहाँ हमारा जी नही लगता।'

एक गहरी चुप्पी छायी हुई है। महारानी त्रिशला पराहत, निरुत्तर, सुनती हुई, बस इस बेटे का मुँह जोह रही है, जिसे अपना कहने मे कठिनाई होने लगी है। और अचानक 'अच्छा माँ, फिर मिलेगे' कह कर वर्द्धमान जाने कब जा चुका था।

• • •

. . महाराज और महारानी को एकाएक खबर मिली कि प्राणी-उद्यान उजाड़ पड़ा है। सारे पशु-प्राणी अपनी वन्य-मातृभूमि को लौट चुके हैं। रखवाले, पहरेदार, सब गायब हैं। जाँच-पड़ताल हुई। पर कौन उत्तर दे? पशु-पंखी ही नहीं, राजाश्रित रखपाल भी अपनी रोटी की चिन्ता छोड़, भाग खड़े हुए हैं। कहीं तो मिलेगी ही।

महाराज सिद्धार्थ ने प्रश्नायित आँखों से महारानी त्रिशला की ओर देखा। महारानी उत्तर में आँखें ढलका कर चुप हो रहीं। बूझ कर भी बात पहेली ही बनी रही।

माँ ने सोचा वर्द्धमान अब बड़ा हो चला है। उसे महल की परिधि में बाँध कर रखना उचित नहीं। आज तो इतनी-सी बात है, कल जाने क्या-क्या उपद्रव होने लग जायें। . . और वर्द्धमान को जहाँ चाहे जाने की छुट्टी मिल गई।



शरद ऋतु की सुहावनी दुपहरी में, गाँव-नगर के लड़कों का दल बाँधकर, कुमार जंगल में खेलने को निकल पड़ा है। एक विशाल, पुरातन वट-वृक्ष पर, डाल-डाल, पात-पात कूद-फाँद कर 'पकड़ा-पाटी' का खेल चल रहा है।

कि इतने में अचानक एक लड़का चिल्लाया :

'हाय, साँप . . साँप . . साँप . .'

पल मात्र में कोलाहल खामोश हो गया। अपनी-अपनी डाल से चिपटे रह गये सारे लड़के। सबने देखा : एक भयंकर भुजंगम, वट-वृक्ष के मूल में साढ़े तीन आँटे मार कर, सैकड़ों फन उठाये फुँफकार रहा है। पहले तो लड़कों की घिग्घियाँ बँध गई। पत्तों से काँपते-थरथराते, सब अपनी-अपनी डालों से और भी कस कर चिपट रहे। फिर एक-एक कर वे भय के मारे, झाड़ से कूद-कूद कर भाग खड़े हुए।

वर्द्धमान को मानो कुछ लगा ही नहीं। भय तो और लड़कों के साथ भाग गया। कुमार तो आनन्द में मगन हो गया। जैसे उसे कोई मनचाही चीज मिल गई है। उसे सदा कुछ असाधारण देखने, जानने की चाह लगी रहती है। कैसा सुन्दर और भव्य है यह सर्पराज ! इसके गहरे हरे, पन्ने जैसे स्निग्ध, चमकते शरीर में जैसे सारा अरण्य चित्रित हो गया है। इसकी सरसराहट में नदी की लहरें हैं। बड़े इत्मीनान से, टाँग पर टाँग डाले, कुमार वृक्ष की मध्य डाल पर, अपनी दोनों गुँथी हथेलियों में मुख टिका कर, सर्पराज के सौन्दर्य के साथ तन्मय हो रहा है। . . एक फन में सौ फन, सौ फन में सहस्र फन। कुमार का मन इससे खेलने को चंचल हो आया। पुकारा उसने :

'ओ नागराज, तुम्हारे फन मुझे बहुत भा गये हैं। मुझे बैठाओ न उन पर। तुम्हें कष्ट होने नहीं दूँगा।'

और फणधर, बेशुमार मणियों से जगमगाते सहस्रों फनों को तान कर, मस्ती से डोलने लगा।

कुमार सहज लीला भाव से, सीधा अपनी डाल से कूद कर भुजंग के फणों पर यों आ खड़ा हुआ, जैसे माँ की गोद में आ बैठा हो। कुमार तो अपने जाने फूल से भी कोमल और हलके होकर टपके थे उस पर। पर सर्पराज को ऐसा लगा कि जैसे सुमेरु पर्वत के भार तले उनके फण कुचले

जा रहे है। किन्तु सर्प को यह पीड़न भी बहुत प्रिय और मधुर लगा। इतना कि उसने अपने को समूचा कुचल जाने दिया। . .

. . और अचानक दूर पर खड़े, भय से किलकारी करते लड़कों ने देखा : वहाँ तो सर्प था ही नहीं। एक अति सुन्दर देव, कुमार को गोदी में लिये बैठा था। . .

. . थोड़ी ही देर में कुमार हँसता हुआ, उन्मुक्त, मस्त खड़ा दिखाई पड़ा। देव ने उसके चरणों मे विनत हो वन्दन किया। फिर सर उठा कर बोला :

'मेरा देवत्व हारा : हे मानव-पुत्र तुम जीत गये। मैं संगम देव, अपने देवत्व का अभिमान लेकर, तुम्हारी परीक्षा करने आया था। हे मानवेन्द्र, हे अमरेन्द्र, मै धन्य हो गया। मैने पहचाना, तुम कौन हो। तुम वीरों के वीर, महावीर हो नाथ ! जय महावीर . . जय महावीर . . जय महावीर !'

कण-कण, तृण-तृण, पर्वतों, समुद्रों, हवाओं, अन्तरिक्षों में यह नाम आलेखित हो गया।

दूर पर साक्षी खड़े वर्द्धमान के सखाओं में होकर यह संवाद, यह नाम, वैशाली को पार कर, समस्त आर्यावर्त में व्याप गया।

जन्मजात ज्ञानेश्वर

बड़ी भोर माँ सामायिक-ध्यान मे बैठी थी कि अचानक जाने कहाँ से आकर गोदी मे धप् से टपक पडे लालजी।

'अरे माँ, आँखे मीच कर क्या खोज रही हो, भगवान ?'

'हाँ . . चुप कर अभी।'

'अरे सुनो तो, कल मैने तुम्हारे भगवान को देखा !'

'कहाँ देखा रे ?'

'जगल मे, सगम देव की गोद मे। पहले वे साँप होकर आये। मै साँप पर कूद पड़ा, तो साँप देव हो गया। बोला —सगम देव हूँ। मैने उसे छकाया, तो उसने मुझे गोदी ले लिया। वह जोर से पुकारने लगा : जय महावीर . . जय भगवान . . जय महावीर . . जय भगवान !'

'भगवान दीखे फिर ?'

'हाँ-हाँ माँ उसने समझा उसने मुझे गोदी भर लिया है। मै तो छटक कर भाग खड़ा हुआ था। दूर से देख रहा था . .'

'क्या देख रहा था ?'

'अरे उसकी गोदी मे भगवान बैठे थे !'

'केसे थे वे ?'

'एकदम गोल। पर बड़े सुन्दर। आलथी-पालथी मारकर आँखें मीचे बैठे थे। हिलने का नाम नही !'

माँ की समझ-बुद्धि गुम हो गई। आत्मविभोर हो, गोदी भरे लाल को ऊपर से टक-टक निहारती रहीं।

•'अच्छा माँ, भगवान का नाम क्या महावीर है ? देव पुकार रहा था : जय महावीर . . जय महावीर . . । वह तो पागल ही हो गया था। मैं तो घर भाग आया।'

'और क्या-क्या देखा जंगल में, लालू !'

'बहुत-बहुत चीजें। क्या-क्या बताएँ। नदी पार के सल्लकी वन में गये थे। वहाँ बड़ा सारा हाथी देखा, पूरा पहाड़। लड़के-लड़की डरकर भागे। मैंने कहा, डरो नहीं : इसको देखो। डर के मारे अधमुँदी आँखों से, सब चुपचाप मेरी उँगली के इशारों पर उसे देखने लगे। मैं एक-एक से पूछने लगा : बताओ, यह क्या है ?'

'एक लड़का उसके भारी—भरकम चार पैरों को ही ताक रहा था। बोला—यह तो खम्भों वाला दालान है।

'उस लड़की इला को उसके बड़े-बड़े हिलते कान बहुत भा गये। बोली-अरे यह तो मेरी माँ के धान फटकारने के सूप हैं।

कपिल की आँखें उसके बड़े सारे पेट पर ही अटकी थीं। बोला—यह तो पहाड़ है।

'एक लड़की को उसकी सूँड़ बहुत प्यारी लगी। बोली—यह तो केले का पेड़ है।

'राजन उसके उजले सफेद दाँतों में लुभा गया। बोला—नदी पार जाने का पुल है।

'एक लड़का उसकी मुँहफाड़ को देखकर भयभीत हो बोला—अरे यह तो भयंकर गुफ़ा है !'

'सुमीला उसके माथे के कुम्भों को देखकर बोलीद्गयह तो मेरी अम्मा की छाती है।

'मुझे बहुत जोर से हँसी आ गयी, माँ। डर के मारे सब आधी आँखें मींचकर ही तो बोल रहे थे। जिसे जो याद रहा, जिसे जो दीखा, उस चौपाये का, वही बोला . . ।'

'फिर तू क्या बोला रे ?'

'मैं तो डरा नहीं न। सो खुली आँखों पूरा प्राणी देख रहा था। मैंने कहा : अरे अन्धो, आँखें खोल कर पूरा देखो—यह तो हाथी है, हाथी : समझे कुछ ?'

'अच्छा मैं कहूँ कि वह बाघ था, तो तू क्या कहेगा ?'

'चार पैर बाघ के भी होते हैं, वैसी ही पूँछ भी। वैसा ही माथा भी। चाहो तो उतना देखकर बाघ भी कह लो। मैं कहूँगा हाथी भी। और कुछ भी। मगर पूरा देखो माँ, तो जो है वह कहने में नहीं आता, है न ?'

लड़का कहीं से कहीं आ पहुँचा है। इसकी परस्पर विरोधी लगती बातों से क्षण भर महारानी चकरा जाती हैं। फिर समझ-बुद्धि से परे सम्बोध पा चुप हो जाती हैं। उनके आश्चर्य का पार नहीं।



वन-क्रीड़ा में नागराज के फन पर, कुमार के कूद पड़ने की घटना आसपास के सारे अंचल में फैल

गई है। महाराज और महारानी इस भयावह वार्ता से चौकन्ने हो उठे हैं। महारानी को रह-रह कर गर्भाधान की रात वाले अपने सोलह सपनों का ध्यान हो आता है। उनके अवचेतन में, गर्भावस्था में वह हिमवान की चट्टान पर पाया विचित्र साक्षात्कार भी चुपचाप झलकता रहता है। वह दोहद उनका एक ऐसा गोपन अनुभव है, जिसे वे अपने अतिरिक्त और किसी को आज तक बताने का साहस न कर सकी थीं। उसके स्मरण मात्र से, आज भी उनके रोमों में एक विचित्र आनन्द-मूर्च्छा के हिलोरे दौड़ने लगते हैं। महाराज को लगता है, कि सपनों के फल वे नहीं, कोई और ही उनके भीतर से बोला था। बालक के अनोखे करतब देखकर, उसकी प्रतिध्वनियाँ रह-रहकर उनकी अन्तश्चेतना में मँडराती रहती हैं।

माता-पिता मिलकर कभी परामर्श करते हैं, तो उनके बोल खुल नहीं पाते। एक रहस्य है, जिसे मन ही मन गुन कर वे चुप हो रहते हैं। विचित्र है इस बेटे का चरित्र। यह तो निरा समुद्र है : सतह पर तूफानी, तह में अथाह और गंभीर।

पर लड़के के उपद्रवों से वे आशंकित और आतंकित हैं। पता नहीं कब क्या अघट घट जाये। लड़के को यों मुक्त रखना ठीक नहीं। बोले महाराज :

'देवी, अब तो कुमार बड़ा हो गया। गुरुकुल में विद्याभ्यास के लिए भेज दो। वहाँ के अनुशासन में इसका चित्त और चर्या केन्द्रित हो जायेगी। मनमानी नहीं कर पायेगा। और समय रहते विद्याध्ययन भी तो होना चाहिए। क्षत्रिय का पुत्र है, शस्त्र और शास्त्र दोनों में इसे पारंगत होना चाहिए।'

'सो तो समझ रही हूँ, स्वामी ! पर उसका अपना ही ऐसा अनुशासन है, कि उस पर शासन कौन कर सकेगा ? देखते नहीं हो, शासक होकर ही तो जन्मा है आपका बेटा। उस दिन आपको, उसके एक इंगित पर स्वयं सिंहासन छोड़, उसे बैठा देना पड़ा था। उस दिन की उसकी भंगिमा, भूलती नहीं है। पर यह साँप की घटना परेशानी में डाल देने वाली है ! . . .'

'वही तो कह रहा हूँ। विद्याध्ययन में लगेगा, तो समझ आ जायेगी इसे।'

'मेरी तो बुद्धि काम नहीं कर रही। हर बात में तो ज्ञान बोलता है। ऐसा कि बड़े-बड़े पंडित चकरा जायें। कई श्रमण भगवन्तों के उपदेश सुने हैं, बालपन से। पर यह तो कुछ और ही बोलता है : इतना नया और अचूक कि निरुत्तर कर देता है। इसे भला कौन गुरु पढ़ायेगा ? . . .'

'सो तो देख रहा हूँ, त्रिशला। पर कुछ तो करना ही होगा। गुरुकुल में रहेगा, तो वहाँ की चर्या से सम्हल जायेगा। बँधा रहेगा कुछ दिन, तो उपद्रव तो नहीं करेगा।'

और शुभ-मुहूर्त में एक दिन प्रातःकाल, राजसी वैभव-समारोह के साथ कुमार को पालकी में बैठा कर, विद्यारंभ के लिए गुरुकुल ले जाया गया। कुलपति ने बड़े समारम्भ और साज-सज्जा के बीच, एक विशाल कुटीर-शाला में नव-स्नातक राजपुत्र का स्वागत किया। एक चंदन की चौकी पर विपुलाकार शास्त्र का बँधना खोल कर, सन्मुख नव-शिष्य को एक पाटे पर आसीन किया। मन्त्रोच्चार के साथ कुमार को तिलक-श्रीफल अर्पित कर, विद्यारंभ का सूत्रपात किया :

'बोलो युवराज, . . ॐ नमो भगवते श्री अरिहन्ताय।'

बोला कुमार :

'ॐ नमो भगवते श्री महावीराय !'

'अरिहंताय बोलो, बेटे। यह भगवान का नाम है।'

'जो भगवान नहीं देखे, उनका नाम कैसे बोलूँ ? उनको नमन कैसे करूँ ? संगम देव ने जो भगवान दिखाये हैं न, उन्हीं का नाम बोल रहा हूँ, उन्हीं को नमन कर रहा हूँ...!'

हँसियों के फँव्वारों में कुलपति, सारा छात्र-मण्डल और राजपरिकर बह गया। थोड़ी देर में चुप्पी व्याप गई। उसे तोड़ कर, उपाध्याय शास्त्र में से पढ़कर श्लोक उच्चरित करने लगे। फिर एक-एक पद बोलकर, कुमार से उसे दुहराने का अनुरोध करने लगे।

'अरे महाराज, शास्त्र में लिखे श्लोक क्या बोलना। वे तो पुराने हो गये। ज्ञान पुराना नहीं होता। मैं तो जो सामने आता है, उसे देखता हूँ, और वही बोलता हूँ। और नित नया श्लोक बोलता हूँ ! . . '

और कुमार आसपास चारों ओर देखता हुआ, मनमाने श्लोक बोलने लगा। उनकी भाषा, उनके भाव, सभी अपूर्व और अनोखे हैं। न उनमें व्याकरण है, न कोश-भाषा है, न कोई पूर्व-निर्धारित छन्द है। लेकिन बुद्धि पर ज़ोर लाये बिना ही, सीधे समझ में उतरते चले जाते हैं। कुलपति, उपाध्याय, सारा गुरुकुल, सर नवाये चुप हो रहे। किंकर्त्तव्यविमूढ़। कुमार की गुरुकुल-यात्रा, उसी सायान्ह में फिर लौटती दिखाई पड़ी।

• • •

गुरुकुल तो सम्भव न हो सका। कुमार चन्द्रमा की कलाओं-सा दिन-दिन बढ़ता जा रहा है। बच्चों की-सी बोली बोलता है : पर बातें बड़ी-बड़ी करता है। सीखने-पढ़ने से मतलब नहीं : लेकिन बहुत दूर की कौड़ियाँ लाता है। नित नये भाव, भाषा , विचार, आपोआप उसमें से फूटते आ रहे है। जैसे चट्टानों में से अकस्मात झरने, या पेड़ों में नये-नये अंकुर फूटते हैं। वय आठ की है कि अठारह की, क्या अन्तर पड़ता है। बोली में निरा बालक है, पर वर्तन मे गुरु-गंभीर, वाचा में वाचस्पति !

यह सब तो ठीक है : पर यह महानद तट की मर्यादा नहीं स्वीकारता। ऐसे कैसे चल सकता है। कहा नहीं जा सकता, कब प्रलय आ जाये। कोई उपाय करना होगा कि लड़के का चित्त केन्द्रित हो। वह सारे समय किसी प्रवृत्ति में लगा रहे।

माता-पिता ने सोचा, लड़का अन्तर्मुख स्वभाव का है, और इसकी वृत्ति ज्ञानात्मक है। इसे ज्ञान, कला, सरस्वती के आराधन में प्रवृत्त कर दिया जाये। सो नन्द्यावर्त प्रासाद के समूचे सप्तम खण्ड में उसके लिए एक वृहद सरस्वती भवन की रचना कर दी गई है।

मध्यवर्ती कक्ष में वाङ्गमय-भवन रचा गया है। वहाँ विभिन्न प्रकार और रंगों के सुगंधित काष्ठों की नक्काशीदार चौकियाँ जहाँ-तहाँ फैली हैं। उन पर रंग-बिरंगे रेशम और जरीतारों से बने आवेष्टनों में बंधे शास्त्र सजे है। धर्म, अध्यात्म , दर्शन से लगाकर, नाना लौकिक-अलौकिक विद्याओं तथा विज्ञानों के सुलभ तथा दुर्लभ ग्रंथ वहाँ संगृहीत हैं। कुछ चौकियों पर हैं, कुछ दीवारों के मेहराबदार आलयों में सजे हैं।

बाहर की खुली छत में वेधशाला भी रच दी गई है कि वहाँ, ग्रह-नक्षत्रों की गतिविधियों से काल को नापा जा सके, गणित में बाँधा जा सके। बड़ी-बड़ी बिल्लौरी रज-घड़ियों में अनवरत रज गिरती रहती है। छत के एक ओर के अलिन्द में, वास्तु और मूर्ति-शिल्प के नाना उपकरण, औजार और सामग्रियाँ प्रस्तुत हैं, तो दूसरे एक अलिन्द में चित्रशाला है। वहाँ देश-देश की रंगबिरंगी मिट्टियों, रजों, वनस्पतियों, पाषाण-चूर्णों, बालुओं से निर्मित रंगों के बड़े-बड़े स्तवक और तूलियाँ हैं। आधारों पर जहाँ-तहाँ विशाल फलक फैले हैं, तो कहीं नदियों के प्रवाहों और खदानों से प्राप्त चित्र-विचित्र शिलाएँ पड़ी हैं।

कक्ष में और बाहर की दीवारों पर अनेक विख्यात चित्रकारों ने भित्तिचित्र आँके हैं। प्रकृत-सी लगती विविधरंगी पाषाणों की मूर्तियाँ हैं।

वाङ्मय-कक्ष में शीर्षस्थ व्यासपीठ की अगल-बगल, चौकियों पर कटे-छँटे भूर्ज-पत्रों और ताड़-पत्रों की थप्पियाँ लगी हैं। लेखन-चौकी पर विविध रंगी स्याहियों के मसिपात्र हैं, जो प्रकृत चित्रमय पत्थरों, रत्नों और शंख-सीपियों से बने हैं।

वाङ्गमय-कक्ष से लगे एक उपकक्ष में संगीतशाला है। उसके बीचोबीच मसृण गद्दियों और उपधानों से मंडित एक मंडलाकार दीवान है। दीवारों में खचित आलयों, और फर्श पर खड़े आधारों पर, दुर्लभ और महामूल्य अनेक प्रकार के वाद्य-यंत्र सज्जित हैं। व्यासपीठ के एक ओर ऐसी वृहदाकार हाथीदाँत की मणि-जटित वीणा है, जिसके दो तूम्बों में जम्बूद्वीप और पुष्करवर द्वीप की रचना बारीक रत्न-कणियों से चित्रित है। उसके दूसरी ओर नागमणियों से निर्मित ऐसी महावीणा एक निरन्तर घूमते आधार पर अवलम्बित है, जिसके दोनों तूम्बों में सूर्य और चन्द्रमा चित्रित है, जिनके मण्डलों के चारों ओर दमदम करते तारामण्डल अंकित हैं। सामने रक्खा है एक प्रकाण्ड चन्दन का मृदंग, जो समूचे ब्रह्माण्ड का-सा आभास देता है।

वाङ्गमय-भवन से लगे और भी कई छोटे-बड़े उपकक्ष हैं। किसी में औषधिशाला है, किसी में रासायनिक प्रयोगशाला। इनमें कहीं दिव्य-वनौषधियाँ वेतस करण्डकों में सजी हैं। जाने कितने दूर देशान्तरों, समुद्र गर्भों से प्राप्त वनस्पतियाँ और खनिज यहाँ बड़े-बड़े शीशों और धातु तथा काँच के पात्रों में व्यवस्थित है। अर्द्धपारदर्शी शिलाओं और बिल्लौरी कुम्भों में लवणोदधि और स्वयंभुरमण समुद्रों तथा कई महानदों के जल संचित हैं। इस प्रकार हर उपलब्ध विद्या और विज्ञान के साधन और शास्त्र विभिन्न उपकक्षों में सुलभ कर दिये गये हैं।

लक्ष्य यह है कि ज्ञान-जीवी वर्द्धमान का मन, जाने कब किस विद्या मे रम जाये और वह तन्मय हो जाये, एकाग्र हो जाये। वह अपने आप में मर्यादित हो सके।

• • •

दिन सप्ताह, महीने, वर्ष, बाहर वेधशाला की प्रकाण्ड बिल्लौरी घड़ी में रज बनकर अविराम झर रहे हैं। धूप-घड़ी में चाँद-सूरज की कितनी परिक्रमाएँ हो गईं, गिनती नहीं हैं। दिवस, मास, ऋतु, संवत्सर आँकने की कुमार को फुर्सत नहीं। वह अपने में घूम रहा है : वे अपने में घूम रहे हैं।

माँ और पिता ने इसी से संतोष कर लिया है, कि मुद्दतें हो गईं, वर्द्धमान सरस्वती-भवन में

ही रमा रहता है। पूछताछ से उसे थाहा जा सके। यह संभव नहीं। माँ इस बात को अन्तिम रूप से समझ गई हैं : और उन्होंने महाराज को भी इसकी प्रतीति करा दी है।

कुमार कहीं जाता-आता नहीं। किसी से मिलता-जुलता नहीं। बोली उसकी विरल ही सुनाई पड़ती है। प्रकट है कि महल की मर्यादा उसने स्वीकार ली है। पर जब यही अनिश्चित है कि वह कहाँ स्थित है तो उसकी मर्यादा का निर्णय कौन करे?

हवा अपने ही छन्द में बँधी बहती है। नदी अपने तट आप ही रचती चलती है। कुमार महल में रहते हैं या और कहीं, यह परिभाषित नहीं हो सकता। मर्यादा और अमर्यादा, नियम और अनियम से परे, उनकी जो स्थिति या गतिविधि है, उसकी खोज-खबर, उन्हें खुद ही नहीं है।

वे कब किस कक्ष या अलिन्द में रहते हैं, पता नहीं चलता। सारा दिन क्या करते रहते हैं, यह भी टोहा नहीं जा सकता। ठीक समय पर भृत्य या परिचारिकाएँ आती हैं। भवन की हर वस्तु को झाड़-पोंछ कर आईने की तरह स्वच्छ कर जाती हैं। शयन, स्नान, वसन-धारण, भोजन की व्यवस्था नियत सेविकाओं द्वारा समय पर कर दी जाती है। कभी-कभी दासियाँ देखकर अचंभित रह जाती हैं। रात बिछाये गये शयन के चादरे में एक भी शल नहीं पड़ा है। विपुल व्यंजनों वाला भोजन का थाल अछूता ही रह गया है। उपभोग और उपयोग की हर वस्तु मुँह ताकती अभुक्त पड़ी है।

ज्ञान और विद्या के ये विविध और प्रचुर उपकरण तो पहले दिन से आज तक कुँवारे ही रह गये लगते हैं। सिवा इसके कि हर दिन दासियाँ उन्हें, झाड़-पोंछ या माँज कर यथास्थान चमचमाते रखती हैं।

कुमार वर्द्धमान इस सारी रचना में सहज विचरते हैं। जैसे जंगल के पेड़ों में हवा, पहाड़ों को तराशकर बहती नदी। संगीतशाला में डोलते हुए, अकारण ही कौतूहलवश कभी वीणा का कोई तार टन्न से छेड़ देते हैं गोया कि गुजरती हवा से ही झंकृत हो गया हो, उँगली से नहीं।

शास्त्रों की किसी चौकी या आलय के सामने चुप खड़े, उन्हें ताकते रह जाते हैं। शास्त्र अकुला उठते हैं अपने आवेष्टनों में, कि कुमार उन्हें मुक्त करें, उनके रेशमीन बंधनों और जीर्ण होते हुए पत्रों से। लिखे अक्षरों की उस कैद में वे घुट गये हैं; वे खुले अंतरिक्ष में मुक्त और रौशन हुआ चाहते हैं।

मन में आ जाये कभी, तो मयूरपंख की कलम उठा कर मसिपात्र में डुबो, लेखन-चौकी पर रक्खे, किसी भूर्ज-पत्र पर ऊटपटाँग कुछ चितरा देते हैं। चित्रशाला के अलिन्द में, राह चलते, किसी फलक पर तूली से एक आघात कर देते हैं, फिर उसमे जो भी अँक जाये। कुछ शिला-खण्डों या धातु-खण्डों को यूँही एक दूसरे से जोड़-जाड़ कर रख देते हैं : फिर जो आकार अवकाश में उभर आये। सोच कर, या लौटकर देखते नहीं। इस सारी रचना को, इन उपकरणों को, बस वे केवल देखते हैं। महल के भीतर को, अपने भीतर-बाहर को, आसपास फैली पड़ी तमाम प्रकृति को, जगत को, वे जैसे निश्चल भाव से देखते रहते हैं। इस देखने में ही मानो उनका सारा-कुछ करना, जीना, भोगना आपोआप होता रहता है।

उनका मन कहाँ लगा हुआ है, यह कौन बता सकता है। शायद अन्तिम रूप से वहीं लग गया है, जहाँ लगने को वह भटकता रहता है। माँ सेविकाओं से उनकी दिनचर्या का पता करती रहती हैं। पर कोई क्रम या अनुमान उसका नहीं मिल सका है। कभी-कभी कुमार एक सर्वथा रिक्त स्फटिक कक्ष में घंटों बन्द हो रहते हैं। तब पता लगने पर, माँ खण्ड के सारे कक्षों मे फेरी

लगा आती हैं। सब कुछ इतना अविक्षत, अस्पृष्ट, कुँवारा देखकर वे चिन्ता में पड़ जाती हैं। किसी भी तो वस्तु पर, इस खण्ड के वासी की कोई छाप, कोई क्रिया अंकित नहीं। हर चीज स्वयं आप है : स्वतंत्र है। वह किसी स्वामी से अधिकृत नहीं, भुक्त नहीं, मुद्रांकित नहीं। माँ का मन चिन्ता में पड़ जाता है। आखिर यह चुप्पा बेटा क्या करता है सारा दिन, कहाँ जीता है, कहाँ लगा है इसका मन ? ऐसे कब तक चलेगा ? कौन जाने ?

• • •

एक दिन रहा न गया, तो माँ हिम्मत कर चली आईं कुमार के खण्ड में। वे चुपचाप अलिन्द के उत्तरी रेलिंग पर खड़े, दूरियों में निहार रहे थे। कितने दिनों बाद आज, हलके-से उनके कंधे पर हाथ रख दिया, पीछे से :

'ओ...माँ, आओ !'

'क्या देख रहा है, मान ?'

'कुछ खास नहीं ! बस यों ही।'

'हर कोई कुछ देखता तो है ही !'

'आवश्यक नहीं, माँ !'

'कुछ लिखाई-पढ़ाई चल रही है ?'

'बहुत कुछ। कुछ भी नहीं !'

'ये तो कोई बात न हुई।'

'बात तो हुई . . इसका अर्थ चाहे न लग सके !'

'अर्थ बिना बात कैसी ?'

'हर चीज का अर्थ लगाने चलो, तो अनर्थ ही हो सकता है, माँ !'

'जैसे ?'

'यही, कि पढ़ रहा हूँ, तो बस पढ़ रहा हूँ !'

'क्या पढ़ रहा है ?'

'जो सामने आ जाये ! केवल शास्त्र ही क्यों ? तुम्हारा चेहरा क्यों नहीं, जो इस क्षण सामने है ?'

'पढ़ना तो शास्त्र का ही होता है। क्योंकि उसमें ज्ञान है !'

'ज्ञान तो माँ, अपने मे है, शास्त्र मे कहाँ ! अच्छा ये बताओ कि मनुष्य ने शास्त्र लिखा है, कि शास्त्र ने मनुष्य लिखा है।'

महारानी जानती थीं, कि निरुत्तर होने ही आयी हैं। सो हो रही हैं ! फिर भी पूछ-ताछ कर, जी हलका करना चाहती हैं।

'अच्छा मान, पढ़ाई तो समझ गई तेरी। पर लिखाई ? कुछ लिखता भी है ?'

'अरे, कितना सारा लिखता हूँ !'

'कहाँ लिखता है ? सारे पत्र कोरे पड़े हैं। दावातें, कलमें, स्याहियाँ बेचारी मुँह ताक रही हैं

तेरा ! '

'अरे तो क्या पत्रों पर ही लिखा जाता है ?'

'तो काहे पर लिखता है ?'

'अरे देखो न माँ, चारों ओर जो यह आकाश फैला पड़ा है, इतनी बड़ी पाटी है, और सदा सामने रहती है। पत्रे और कलम उठाने का कष्ट क्यों करूँ ?'

'इस पर क्या लिखता है , लालू ?'

'वृक्ष लिखता हूँ, पहाड़ लिखता हूँ, नदी लिखता हूँ, तारे लिखता हूँ ! '

'तो अक्षर नहीं लिखता ?'

'पेड़ जैसा अक्षर और कौन होगा। एक डाल में, कितनी डालें : डाल-डाल में कितनी पत्ती। अक्षर के भीतर अक्षर। तुम्हारी वर्णमाला के अक्षर भी कोई अक्षर हैं: एकदम सपाट ! '

'मतलब ?'

'अरे ऐसे भी अक्षर क्या लिखना, कि एक बार में एक ही बात लिखी जाये, और वह भी अधूरी। अधूरा लिखना, अधूरा पढ़ना। तब अनर्थ ही तो होगा, माँ ! वह अज्ञान ही देगा, ज्ञान उससे कहाँ मिलेगा ?'

'सुन रही हूँ लालू, पर समझ नही पा रही।'

'समझना जरूरी नहीं, माँ। बस बोध हो, एकाग्र, वही समाधान है। वही सुख है ! और सुख न मिले, तो ज्ञान किसलिए ?'

'तारे, नदी, पहाड़, पेड़ क्या लिखना है ! वे तो है ही ! '

'लिखता क्या हूँ, पढ़ता हूँ इन्हें। पढ़ना-लिखना सब एक ही बात है।'

'तारों में क्या पढ़ता है . . ? पहाड़ में और नदी में क्या पढ़ता है ?'

'वे प्रतिक्षण मिट रहे हैं, फिर नये होकर उठ रहे है, फिर भी देखो न, आदिकाल से वही हैं। मै भी हर क्षण मिट रहा हूँ , फिर नया होकर उठ रहा हूँ, फिर भी कुछ हूँ, जो सदा था, सदा हूँ, सदा रहूँगा ! '

'तो इसमें पढ़ना-लिखना क्या हुआ ?'

'पढ़ना-लिखना, चित्र आँकना, मूर्ति शिल्पन करना, संगीत-वादन करना, सब इसलिए है, माँ, कि हम इस बोध मे निरन्तर रहे कि हम शाश्वत हैं, और नित नवीन हो रहे हैं। सब कुछ जो दृश्य है, ज्ञेय है, भोग्य है, वह नित-नवीन हो रहा है। इसी नित्य-नूतनता का अनुभव तो जीवन है। और वही जीने, भोगने, होने की एक मात्र सार्थकता है, आनन्द है, वही परम परितृप्ति है।'

माँ कुछ समझी या न समझी हों, पर उन्हें लगा कि उनके भीतर जैसे कहीं, कोई अज्ञात, अचीन्हा सुख का स्रोत खुल पड़ा है। चुपचाप, टगर-टगर, वे बेटे का आलुलायित-कुंतल मुखड़ा निहारती रहीं। बिन छुए ही, अपनी उमगती छाती की कोर से, वह माथा दुलरा दिया और लौट कर चली. तो उन्हे लगा कि उनकी चाल जैसे बदल गई है।

प्रकृति और पुरुष

रत्न दीपों और सुगन्धित इत्र-प्रदीपों की रोशनी वाले इस नन्द्यावर्त प्रासाद में समय भी जैसे मूर्च्छित और कैदी है। यहाँ की मसृण मयूर-पाँखी शैयाओं में वह अलसाया और तन्द्रालीन रहता है। वातायनों से भीतर आते-आते आकाश ठिठक जाता है, हवाएँ प्रवेश करते-करते मदिर-मंथर हो जाती हैं। . .

जानता हूँ, माँ की और पिता की सतत यही चिन्ता है, कि मैं इस महल में रहते हुए भी, कहीं और हूँ, यहाँ नहीं हूँ। मेरी अनुभूति और ही तरह की है। यहाँ भी हूँ। वहाँ भी हूँ। सर्वत्र अपने होने का-सा अहसास होता है। इसी से गुरुजनों ने जब भी निषेध किया कि बाहर न जाऊँ, इस खण्ड या उस कक्ष में ही रहूँ, तो भीतर से ही कोई आपत्ति नहीं उठी। मन ही मन थोड़ी हँसी जरूर आ गई, कौतुक भी सूझा।

माँ, पिता और सभी परिजनों की यही चिन्ता है, कि मैं कैसे जीता हूँ, क्या करता हूँ, कैसे मेरे जीवन के ये बरस बीत रहे हैं। बाहर अब जाने लगा हूँ, पर अब तक उनके इंगित पर इन महलों की रत्न-चित्रित दीवारों के बीच ही विचरता था : या छतों और वातायनों पर से आकाश-विहार करता था। परिजनों में बहुत मिलने-जुलने की प्रवृत्ति भी मेरी नहीं रही : न उत्सवों, भोजों, विवाहों, जलसों मे मै कभी दिखाई पड़ता हूँ। तो फिर क्या करता हूँ : कैसे जीवन-यापन करता हूँ ? माँ के चेहरे पर सदा यही प्रश्न लिखा देखा है। . . पूछते जैसे वे सकुचा जाती हैं : हस्तक्षेप मेरे राज्य में करते उन्हें बहुत झिझक होती है। उन प्रश्न भरी आँखों में प्यार के उमड़ते समुद्र मैंने स्तम्भित देखे हैं। . .

मेरी ओर से तो कहीं कोई प्रतिरोध नहीं है। वह मेरा स्वभाव नहीं। भीतर-बाहर एकदम ही अनिरुद्ध पाता हूँ अपने को। उनकी ओर से आने वाली वर्जनाओं या प्रतिरोधों से भी कभी टकरा नहीं पाता। सहर्ष सभी बातों को भीतर समावेशित पाता हूँ, और आनन्दित रहता हूँ।

. . सचमुच ही कुछ नहीं करता हूँ। पर अक्रिय और जड़ तो अपने को कभी क्षण भर भी नहीं पाया। भीतर निरन्तर एक क्रिया चल रही है : एक अजस्र परिणमन। गुफा के गहन में फूटती किसी निर्झरी-सा कोई सुख अन्तरतल के गोपन में उमड़ता रहता है। प्रतिक्षण अपने आसपास की हर वस्तु और घटना को देखता रहता हूँ, जानता रहता हूँ। कोई आग्रह नहीं है कुछ करने का, कहीं जाने का, कोई चीज पाने का ! उदासीन ? नही मैं रंच भी उदासीन नहीं हूँ। आनन्द के सिवाय और कुछ मेरी चेतना में संभव नहीं।

इच्छा नहीं है, उत्सुकता नहीं है, व्याकुलता नहीं है। फिर भी देखता हूँ, इस महल का और पृथ्वी का चुनिन्दा वैभव मेरे सन्मुख आ प्रस्तुत होता है, कि उसे भोगूँ। उससे भागता नहीं, उसे भोगता ही हूँ। अलग से भोगने का संकल्प या कष्ट भी नहीं करना पड़ता। भीतर के एक अविरल स्व-भाव बोध में, वह अपने अनन्त परिणमन-रहस्य खोलता है : उससे रसालता और भोग की

जो आत्मीय अनुभूति होती है, वह कैसे बताऊँ !

मैं तो विपल मात्र भी रिक्त या निष्क्रिय नहीं हूँ। फिर भी सचमुच ही कुछ करता नहीं हूँ। बस, होता रहता हूँ, और अपने को और सर्व को होते हुए देखता रहता हूँ। चुप रहो, खड़े रहो, और जो-जो होता है उसे देखते रहो। इससे बड़ा काम और क्या हो सकता है !

देख रहा हूँ, बरसों पर बरस बीतते चले जा रहे हैं। वस्तुएँ और व्यक्ति भी बीतते और रीतते दिखाई पड़े हैं। पर कोई विषाद या अवसाद मन में नहीं आता। कोई विरह या वियोग का दर्द नहीं टीसता। क्योंकि केवल बीतता ही नहीं, नया आता भी तो रहता है। केवल रीतता ही नही, भरता भी तो रहता है, और इन दोनों से परे कुछ ऐसा भी है, जो कभी बीतता ही नहीं। जो समरस भाव से सदा-सुलभ है, जिसके साथ सदा संयोग और मिलन में हूँ। इस बीतते के आलम में भी, एक अद्भुत अनबीतेपन का अहसास सदा होता रहता है। इस व्यतीतमान के मायालोक में, अव्यतीत-भाव से विचरता रहता हूँ।

परिवर्तन से परे भी जैसे, मैं वस्तुओं और व्यक्तियों के साथ , घर पर हूँ। क्योंकि परिवर्तन ही नहीं, परिणमन देखता हूँ। परिवर्तन दुखद हो सकता है, परिणमन सुखद ही हो सकता है। क्योंकि उसमे खाली होने, भरने और फिर भी वही रहने की स्थिति एक साथ अनुभव होती है। जहाँ नित्य नूतन परिणाम है, वहाँ सदा कुछ नवीन हो रहा है : नित्य यौवन और वसन्तोत्सव है। वहाँ अक्रियता और सक्रियता संयुक्त है। कुछ भी नहीं करता हूँ सचमुच, पर क्या है जो नहीं कर रहा हूँ ? काश, माँ-पिता और सारे परिजनों को यह समझा सकता, मगर समझा कर भी क्या होगा। यह एक ऐसा अनुभव है, जो कथन में प्रेषित नहीं हो पाता।



पिछले वसन्त, बड़ी भोर की चाँदनी मे कोयल की डाक सुनाई पड़ी थी। कोयल तो वसन्त में चाहे जब कूकती ही रहती है। लेकिन उस ब्राह्म मुहूर्त की चाँदनी में जो दरदीली डाक सुनाई पड़ी थी, वह भीतर जैसे अन्तर्हीन होती चली गई थी। हवा मे आम्र-मंजरियों की ऐसी गहरी महक थी, जैसी पहले कभी अनुभव नहीं हुई थी। सुगन्ध शरीर धारण कर वातावरण में एक अजीब स्पर्शाकुलता जगा रही थी। दूर-दूर तक भी चाँद तो कहीं दिखाई नहीं पड़ रहा था, पर चाँदनी दिशान्तों तक बाँहें पसारे जैसे अधिक-अधिक निर्वसन होती जा रही थी।

कोयल की डाक में दूरियाँ पुकार रही थीं। दूरी आकर्षण है। वह आवश्यक है। वह आमन्त्रण है। विरह की व्याकुलता है उसमें, कि मिलन हो। दूरी है कि दृष्टि है, आकर्षण है, परिरम्भण है, सृष्टि है। दूरी में वस्तुएँ यथास्थान, अपने आयतन में रहती हैं। अपनी जगह पर। दूरी के परिप्रेक्ष्य में ही वस्तुओं का सही चेहरा पहचाना जाता है। जहाँ वे हैं, वहीं वे स्वतंत्र हैं। वहीं वे सुन्दर है। दूरी में ही वस्तु के असीम और अनन्त का दर्शन सम्भव है।

कोयल की उस डाक में, उन्हीं अगम्य दूरियों का आमन्त्रण था। सहसा ही लगा कि कोई नियत मुहूर्त सामने है। . . किस अज्ञात में अन्तरित है, इस चाँदनी का चन्द्रमा ! ओ कोयल, तुम कहाँ से पुकार रही हो ?

. . एकाएक मैं शैया त्याग कर उठ बैठा। नीचे उतर कर, महल के बाद महल, द्वार के बाद द्वार पार करता, रथागार में आ पहुँचा। अपने सारथि गारुड़ को जगा कर कहा :

'गारुड़ जाना होगा, रथ प्रस्तुत करो।'

. . वल्गा हाथ में लेते ही गारुड़ ने पूछा : 'किस दिशा में चलेंगे कुमार?'

'पश्चिम दिशा में !

काफी दूर निकलने पर, एक चौराहे पर पहुँच कर, सारथि ने फिर पूछा : 'स्वामी, काशी, कोसल, कौशाम्बी, किस ओर चलूँ? 'मेरे मुँह से निकला : 'किसी भी ओर, जिधर रथ ले जाये।' सारथि ने फिर अनुरोध किया : 'वल्गा तो मेरे हाथ में है', और घोड़े मेरे अधीन !'

'नहीं गारुड़, वल्गा आज तुम्हारे हाथ नहीं, और घोड़े तुम्हारे अधीन नहीं। जाने दो रथ को, अपनी स्वाधीन दिशा में !'

गारुड़ केवल वल्गा खीचता रहा और कई योजन पार करने पर उसे एकाएक लगा कि उसका चिर परिचित प्रदेश जाने कहाँ पीछे छूट गया है।

'देव, दिशा खो गई है, क्षेत्र परिचित नहीं रहा !'

गारुड़ की कठिनाई मैं समझ गया। इसके आगे उसके सारथ्य की गति नहीं थी। मैंने कहा : 'गारुड़, तुम किसी पन्थी-रथ से लौट जाओ। मेरा गन्तव्य मुझे भी नहीं मालूम, पर वह अभी बहुत दूर है . . । वल्गा मुझे थमा दो, रथ मुझे यथास्थान पहुँचा देगा?'

'देव . . !'

'तुम्हारा असमंजस समझ रहा हूँ, सारथि ! महादेवी पूछें, तो कह देना, वन-विहार को निकला हूँ। सानन्द शीघ्र लौट आऊँगा।'

पहले तो गारुड़ बहुत परेशान हुआ। पर प्रश्न उठाना उसे औद्धत्य लगा। . . एकाएक मेरी ओर देख वह आश्वस्त हुआ। रथ से उतर मेरे पैर छूकर वह चुपचाप एक ओर खड़ा हो गया। ईषत मुस्करा कर एक बार मैने उसकी ओर देखा, और अगले ही क्षण मैने सारथि के आसन पर चढ़, वल्गा खींच ली। पल मात्र में रथ हवा से बाते करने लगा।

सच ही, गन्तव्य मुझे नहीं मालूम था। फिर भी अन्तर में प्रतीति थी, कि ठीक किसी निश्चित लक्ष्य पर जा रहा हूँ। दोनों अश्वों को उनकी अपनी स्वतंत्र गति पर छोड़ दिया। वल्गा अपनी जगह पर खिच रही थी। उसे खीचते अपने हाथों को, अपने से अलग, स्वयं संचालित देख रहा था। मै अपने मे सुस्थिर था, फिर भी धावमान। रथ अपने चक्र, कलश, पताकाओं के साथ, अपने ही आप में वाहित था।

दूरियों में कई ग्राम, नगर, पुर, प्रदेशों के श्वेत भवन, अटारियाँ, गुम्बद, उद्यान, सरोवर, वापियाँ . एक -एक कर चल-चित्रों की माला से गुजरते चले जा रहे थे। रथ उनके तटों और प्रान्तरों को छूत, वन्य-मार्गों पर निश्चित भाव से आरूढ़ था।

पूर्वाह्न बेला में एक नदी के तट पर आकर रथ रुका। किनारे पर बंधी बड़ी सारी नाव के केवट ने बताया : यह रोहिणी नदी है। अपनी बायीं भुजा पर बँधा केयूर मैने केवट की सियाह भुजा पर बाँध दिया। वह सजल नयन, मूक, मुझे निहारता रह गया। मानो कि मैं इस लोक का नहीं, किसी अदृश्य में से आ खड़ा हुआ हूँ। 'चलो केवट, उस पार !' घोड़ों सहित रथ को

अपनी विशाल नाव में चढ़ा कर, केवट ने हमें पार उतार दिया। मेरी प्रश्नायित आँखों के उत्तर में बोला : 'यह मल्लों का पावा प्रदेश है, प्रभु !'

आरूढ़ होते ही मैंने रथ को पश्चिम की ओर गतिमान पाया। कुछ योजन यात्रा करने पर, एक और नदी सम्मुख आई। रथ रुका नहीं। . . अचिरावती की लहरों पर छलाँगें भरते अश्व, हवा में उत्तोलित से लग रहे थे। भूमि, जल, हवा, आकाश की सन्धियों पर इस विक्रिया को होते देखा। जान पड़ा, आगे कोई स्थल है, जिसमें अदम्य और अनिर्वार आकर्षण है। रथ की गति बहुत क्षिप्र, तिर्यक्, फिर भी ऊर्ध्वगामी-सी लग रही थी।

. गहन शालवन के भीतर प्रवेश करते हुए लगा कि, यात्रा अपने ही भीतर की ओर हो रही है। उसमें अतिक्रमण, और प्रतिक्रमण की अनुभूति एक साथ हुई।

दो जुड़वाँ सालों के समीप पहुँच कर, रथ स्तंभित हो गया : दूर शिलातल पर बैठी एक अकेली बालिका शाल-पुष्पों की माला गूँथ रही थी। मेरी जिज्ञासा को भाँप कर वह बोली, 'यह कुशिनारा है, महाराज, मल्लों का कुशिनारा।'

'और तुम !'

'मैं इन शालों की हूँ, ये मेरे . .। मैं शालिनी।'

'यह माला किसके लिए गूँथ रही हो ?'

'यहाँ मेरे देवता आने वाले हैं ?'

'कौन देवता ?'

'नाम नहीं मालूम ! अनाम . . महानाम . .'

'कब आयेंगे ?'

'तुम क्या वही नहीं हो ? तुम भी तो वही हो !'

'तुमने तो कहा आने वाले हैं ?'

'आ गये तुम ! . . आगे फिर आओगे, एक बार और। एक और ही रूप में। तब मेरी गोद में सो जाओगे तुम। इसी शिलातल पर।'

'आज नहीं ?'

'नहीं, आज मेरी जयमाला धारण करो। . . आगे जो देवता आयेगा वह मेरी गोद में अन्तर्धान हो जायेगा . .।'

'और मैं ?'

'तुम उसे पार कर आगे जा चुके होगे !'

'और तुम . . ?'

'मैं सदा तुम्हारे लौटने की प्रतीक्षा मे रहूँगी।'

. . और बाला ने उचक कर माला मेरे गले में डाल दी। मै नतशिर हो रहा : चुप। सिर उठा कर देखा : वह कन्या दूर वनान्तर में ओझल होती दीखी। शिला पर अवशिष्ट फूलों को मैंने स्पर्श किया। ये फूल बन्धु थे : ऊष्माविल थे। उनकी सुगन्ध में एक गहन शून्य उभर रहा था। उसमें यात्रा करते लगा कि वह पथ संगी था : मैं उसमें से पार होकर, ऊपर की ओर, एक सूर्यचूड़ा पर आरोहण कर गया।

. . मैने पाया कि अपने रथ पर, विद्युत-वेग से उड्डीयमान हूँ। अपराह्न की कोमल पड़ती धूप-छाँव में, मेरे रथ के अश्व सौ-सौ योजनों को छलाँगों में पार करते जा रहे थे। गति के उस प्रवेग में, राह के भूप्रान्तरों, वनांगनों, विकट कान्तारों, दुर्गम बीहड़ों को जैसे चक्रवात में घूमते देख रहा था, और अपने अज्ञात लक्ष्य की ओर पलायमान था।

. . संध्या झुक आई। एक अर्द्धमंडलाकार, आकाशवेधी पर्वतमाला के दो कँगूरों के बीच सूर्य का बिम्ब एक गुल्म की सूक्ष्म डालों के अन्तराल में डूब रहा था। और उसके उपत्यका प्रान्तर की एक चट्टान पर रथ सहसा स्तंभित हो गया। चारों ओर बीहड़ और घनघोर कान्तार था। मनुष्य की पगचाप उसे अनजानी थी। अफाट सन्नाटा था। ऐसा कि, उस स्तब्धता के भीतर एक अनहद नाद साफ सुनाई पड़ रहा था। और वह उस नीरव अरण्य में विराट देह धारण कर मुझे चहुँओर से आवरित किये ले रहा था। . . ऐसी ऊष्मा का अनुभव तो पहले कभी नहीं किया था। जाने कैसे गंभीर वक्षोजों के गह्वर मे मैने अपने को डूबा पाया। उसमे वनस्पतियों की कच्ची, पनीली, दिव्य सुगन्ध के भीतर मै आत्मलीन हो रहा। एक नीली मृदुता की आभा के अगाध स्पर्शबोध में मैं विश्रब्ध हो गया। . . यह किस सुनीला का परिरम्भण है ?

. . एकाएक सुनाई पड़ा :

'देवार्य, तुम यहाँ कैसे ?'

मैने ऑखें उठाकर देखा। प्रदोष बेला की घिरती छाभा मे, सामने के पर्वत की चट्टान मे से कट कर आयी-सी एक भील-कन्या खड़ी थी। साक्षात् सुनग्ना महाकाली।

'क्या चाहती हो, काली ?'

'इस अन्तिम विन्ध्यारण्य में, आज तक कोई मनुष्य नहीं आया। आ सके ऐसा वीर्य मनुष्य मे नहीं। तुम मनुष्य होकर भी आये हो, तो विन्ध्यवासिनी तुम्हारा अभिनन्दन करती है।'

'तुम कोन हो, मॉ ?'

'तुम जो कह रहे हो, वही।'

'मॉ ऽऽऽऽ।'

'हॉ . . ऽऽऽऽ।'

'आज्ञा दो।'

'आये हो, तो तुम्हारे वीर्य को जानना चाहती हूँ। मै तुम पर प्रीत हुई।'

'जानो . . जो चाहो मेरा जानो। चाहता हूँ, कोई मुझे पूरा जाने, ताकि अपने को पूरा जान सकूँ। वही दर्पण हो क्या तुम ?'

'देखो अपने को, और जानो कि मै कौन हूँ।'

'हॉ, आज की रात अपने को देखना चाहता हूँ !'

'तथास्तु ! जय हो तुम्हारी ! जब पुकारोगे, आऊँगी।'

कह कर वह विचित्र भील कन्या देखते-देखते अरण्य के नीरन्ध्र प्रदेश मे जाने कहाँ विलीन हो गई।

पार्थिवता मे लौटकर मैने पाया, मेरे रथ के दोनों अश्व रथ सहित मेरे दोनों कन्धों पर अपना-अपना मुख ढाँपे हुए थ। हाल ही में चरी हुई वनस्पतियों की दिव्य गन्ध उनके श्वासों में

बह रही थी। और वे मेरे कन्धों में दुबक कर शरणागत थे। और मेरे रक्षक भी। उन प्राणियों की वह ममता कितनी अकारण, और निष्काम थी। मैंने उन दोनों के मुँह कन्धों से हटा कर अपनी छाती में भर लिये। उन्होंने गहरी आश्वस्ति का निःश्वास छोड़ा। मैंने बहुत प्यार से उनके माथे, अयाल और डील को सहलाया, थपथपाया। वे हिनहिना कर मुझसे जो कहना चाह रहे थे, उसका बोध पा गया। मैंने उन्हें रथ से खोल कर, एक झरने तट की हरियाली में छोड़ दिया, कि जी भर चरें और जलपान करें।

. . मेरे भीतर तो ऐसी तृप्ति उमड़ रही थी, कि भूख अपरिचित-सी लगी।

पूर्व की शिखर-माला पर पीताभ चन्द्रमा उदय हो आये थे। झीनी अंशुकी चाँदनी में आवृत्त होकर अरण्यानियाँ स्वप्न के विचित्र भवनों-सी लग रही थीं। झिल्ली की झंकार में वह सारी निर्जनता उज्जीवित हो उठी थी।

एक उद्ग्रीव चट्टान पर, दायें हाथ का सिरहाना कर मैं लेट गया। शरीर पर बहुमूल्य और सुखद वसन होते हुए भी लगा, कि वे सारे आवेष्टन हट गये हैं, सिमट गये हैं। विवस्त्र हो गया हूँ, और मेरे अंग-अंग, मेरी देह का प्रत्येक परमाणु उस चट्टान की कठोर नग्नता से गुँथ गया है। देह-स्पर्श का इससे बड़ा सुख और क्या हो सकता है। निरावरण पुरुष, नग्न प्रकृति की गोद में उत्संगित था। और कानों में अनुगुंजित था सन्ध्या बेला का वह संवाद : 'माँ . . ऽऽऽ !' 'हाँ . . ऽऽऽ !'

और मैं सो गया, ऐसी एक अवस्वापिनी निद्रा में, जिसका सुख 'नन्द्यावर्त' की मसृण सुख-सेजों में कभी अनुभव नहीं किया था। यह एक ऐसी निद्रा की अनुभूति थी, जो अन्ततः अपने में पूर्ण जागृति और संचेतना-सी लग रही थी। मैं अपने अहं को विस्मृत कर, मात्र, 'वह' हो गया था : जैसे एक प्रशान्त, असीम झील अपनी लहरों की ऊर्मिलता को देख रही थी। ऐसे ही रात के जाने कितने पहर बीत गये, पता ही न चला।

सहसा ही एक दहाड़ के वज्र-निनाद से, पर्वत की गुफाओं और शिखरों के मर्मान्तर थर्रा उठे। मैं चौंक कर उठ बैठा। अँधियारी फट रही थी : और उसमें उजियाली का मुख झाँकने लगा था। हवा में कस्तूरी-सी महक रही थी। पर्वत-साँकलों के गहरावों में झरनों के गंभीर घोष, गूँज रहे थे।

मैं अपने बावजूद पर्वत-ढालों की ओर खिंचता चला गया, दौड़ता चला गया। और लगा कि मेरी छलाँगों में शृंग लिपटते जा रहे हैं। कुछ सरणियों का आरोहण कर, ऊपर आया, और लौट कर देखा तो पूर्वांचल पर उषा फूट रही थी। हिरण्यगर्भा उषा।

. . कि फिर एक रुद्रंकरी चिंघाड़ से भूगर्भ थर्राने लगे। मैं एक शिखर की चट्टान पर सन्नद्ध और ऊर्ध्व बाहु खड़ा रह गया। कि ऊपर की श्रेणि-गुफा में से एक प्रलम्बाकार सिंह औचक ही झपट पड़ा। ठीक मेरे सम्मुख होकर वह काली धारियों वाला केशरिया अष्टापद लपलपाती जिह्वा के साथ प्राणहारी गर्जन करने लगा। उसकी आँखों में ज्वालाएँ झगर-झगर कर रही थीं। उसकी अयाल में मणियाँ झलमला रही थीं। उसकी दहाड़ में ललकार थी, चुनौती थी, मनु के बेटे को। मनुष्य मात्र को उसके साम्राज्य की अबाध बीहड़ता और रहस्यमयता को भेद कर, जो पुरुष आज यहाँ चला आया है, उससे महाकालवन का चक्रवर्ती यह अष्टापद बहुत कुपित हो गया है।

मैं अविचल, उन्नीत, ऊर्ध्व-बाहु वैसा ही खड़ा रहा। पर मैं खुला था, मैं समर्पित था। मैं

उसकी विकराल डाढ़ों पर चढ़ कर बहुत प्यार से खेलना चाहता था। उसके उस दुर्द्धर्ष क्रोध पर सच ही मेरे हृदय में दुलार उमड़ रहा था। मेरी देह उसके दंशों के चुम्बनों के लिए जैसे उत्कंठित हो रही थी।. . वह आये मेरे भीतर, मैं प्रत्याक्रमण नहीं करूँगा। प्रतिक्रमण करूँगा। अप्रतिरुद्ध अपने में खुलता चला जाऊँगा। मेरा रक्त उसके ओठों पर होकर बहेगा। मैंने कहा :

'महाराज, महावीर प्रस्तुत है !'

एक हलकी गुर्राहट के साथ उसने गर्दन डुला कर, अपनी स्वीकृति प्रकट की। मैंने आगे बढ़ कर, अपना दायाँ हाथ उसकी लपलपाती जिह्वा पर ढाल दिया। वह चिहुक कर उसे चाटने-दुलराने लगा। मैंने उसके मस्तक पर हाथ रक्खा, और उसकी आँखों की ज्वालाओं में गहरे झाँका। अग्नियों के भीतर अग्नियाँ -अपार अग्नियों का वन।

कि सहसा ही वह मेरे चरणों में लोट गया, और मेरी पगतलियों के किनारों को चूमने-सहलाने लगा : मैने झुक कर उसके माथे को चूमना चाहा। कि जाने कब उसने अपने दोनों पंजों में मुझे दबा कर बहुत ऊपर, ऊपर, उठा दिया और फिर हवा में उछाल कर, अपनी पीठ पर झेल लिया।. .

उस काले-सिन्दूरी अष्टापद की प्रलम्ब पर्वताकार देहयष्टि पर मैने अपने को आरोहण करते देखा। विन्ध्या की शृंगमाला पर छलाँग भरते उस अष्टापद पर मैं सवार था : आरूढ़ था। चारों ओर अफाट, विराट प्रकृति-सृष्टि फैली पड़ी थी। मेरे परवर्ती पूर्वांचल पर सूर्य अपने रक्ताभ प्रभामंडल के साथ उद्भासित थे। वे मेरे मस्तक पर मानो किरीट-से उतरते चले आ रहे थे। फिर व्याघ्रराज पहाड़ के ढालों और कई अदृश्य, अगम गुफाओं और अरण्यों मे से मुझे गुजारते हुए नीचे उतार लाये।

सामने जहाँ, उस टीलेनुमा चट्टान पर मैं सोया था, वहीं कल संध्यावाली वह दुर्दम्य भील कन्या खड़ी थी। सवेरे की मृदुल धूप मे उसके अंगों की कृष्ण गहिरता, बहुत नीलाभ, ताजा नील कमलों-सी लग रही थी।

'तुम्हारे वीर्य को मैने जाना, देवार्य। असह्य है तुम्हारा तेज ! . . .'

'तुमने मुझे जीत लिया, जान लिया, देख लिया। मेरे रोम-रोम में तुम रमण कर गये।. . .'

'और तुम्हारे रूप की आरसी में, मैने अपने सोन्दर्य और प्रताप की निःसीमता को पहली बार समग्र देखा. बाले !'

एक छलॉग मे मुझ सहित अष्टापद मेरे रात्रि-शयन वाली उस शिला पर पहुँच गया, जहाँ वह कृष्णा खड़ी थी। मैंने उसकी पीठ से उतर कर, सम्मुख खड़ी उस बाला के विपुल और मुक्त चिकुर जाल को अपने दोनों हाथों से सहलाते हुए कहा :

'काली, समझ गया . .। हर बसन्त की मंजरियों से महकती भोर मे, कोयल की डाक में, तुम्हीं चिर काल से पुकार रही हो। प्राण पागल होकर जब तक घर से निकल न पड़े, मोहोष्म शैया के सुख से निष्क्रान्त न हो जायें, तब तक तुम से मिलन संभव नहीं।'

उस सुनग्ना ने अपने सहस्रों मोहरात्रियों-से घनीभूत केश मेरे चरणों पर ढाल दिये। . . मेरे पैर आँसुओं और चुम्बनों से गीले हो गये।

मै सहसा ही एक दूसरे चेतना-स्तर पर संक्रान्त हो गया। मैंने झुक कर, उसके माथे को उठा कर, उसे बैठा दिया। और उसके अंक मे सर धर कर उसके वक्षोज-तटों को अपनी आँखों

की रोआँली से सहलाता रहा।

'माँ . . ऽऽऽ !'

'हाँ . . ऽऽऽ !'

सारी वनभूमि पंछियों के कूजन में जयगान कर रही थी। फूलों की अंजुलियों में परिमल छलक रहे थे। हवा में अदृश्यमान वीणाएँ बज रही थीं।

रथ पर चढ़ कर, जब मैं फिर पूर्वांचल की ओर लौट रहा था, तब एक विचित्र नई अनुभूति सतत हो रही थी। . . क्या मैं वही हूँ, जो कल ब्राह्म मुहूर्त की द्वाभा में घर से निकल पड़ा था, अलक्ष्य यात्रा के पथ पर ? नहीं, वही नहीं हूँ, उत्तीर्ण एक और . . एक और हूँ। फिर भी वही हूँ, जो कल के अपने को, और आज के इस उत्तीर्ण को, एक साथ देख रहा है। अब लौटकर कहाँ जाना है, पता नहीं। अपनी पृथ्वी, अपना आकाश केवल मैं हूँ, मैं ही अपनी दिशा, अपना सौरमण्डल हूँ। फिर लौटने को क्या रह गया है ! . .

कसमसाते ब्रह्माण्ड

उस दिन सारा विन्ध्यारण्य ही जैसे मेरे भीतर चला आया। कभी-कभी काली का सर्वांग रूप अपने ही अर्द्धांग मे आविर्मान देख लेता हूँ। तो कभी वही रह जाती है, मैं नहीं रह जाता। पर उसे जो देखता है, वह कौन है ? . . अपने ही मर्म की कस्तूरी का वह मूर्त-स्वरूप, एक निराकुल प्रीति से प्राण को विश्रब्ध कर देता है। . . भीतर ही बैटी, इस प्रिया को कहीं खोजना नहीं है। और वह दुर्दान्त अष्टापद ? काली की गोदी की अभेद्य अन्धकार गुहा में ही तो रहता है वह।

. . अब तक नारी प्रश्न-चिह्न सी सामने आती थी। टोंक देती थी। अब वह भीतर से ही उमड़ने लगती है अपने ही मूलाधार मे से उन्सित ऊर्जा का स्रोत। अपनी ही आद्या शक्ति : अपनी ही अनाहत रक्तधारा। मेरी ये बाँहें ही चाहे जब अचानक, उसकी मृणाल बाहुएँ हो उठती हे। इन्ही की सम्मोहिनी कोहनी पर माथा ढाल कर, अन्तर्मिलन के विलक्षण सुख में समाधिस्थ हो रहता हूँ। लिंग भी भीतर ही है : योनि भी भीतर ही है। बाहर विरह का अन्त नहीं। भीतर नित्य मिलन का वसन्तोत्साव चल रहा है।

फिर भी अपने महल के उत्तरी कोण-वातायन पर जब खड़ा होता हूँ, तो पाता हूँ, कि हिमवान की हिमानी चोटियाँ पुकार रही हैं। उज्ज्वल कौमार्य का वह आवाहन, अब व्याकुल नहीं करता, पर सृष्टि का एक अदम्य उन्मेष प्राण में जगाता है। भीतर ही तो सब कुछ नहीं, बाहर भी तो है ही। आत्म है कि आत्म-विस्तार अनिर्वार है। वही सृष्टि है · अपने में न समाते अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य की अनिवार्य अभिव्यक्ति है वह। अपने ही आत्म-राज्य का विस्तार। अपने ही को अपने से अलग कर, रच कर, मूर्त करके उसमें रमण करने का आनन्द। वही जीवन है। मुक्ति कहीं किसी निर्धारित सिद्धालय के कपाटों में बन्द नहीं। निर्बाध, निर्बन्धन, निराकुल जीवन ही मुक्ति है। तब पुरुष स्वयं ही लोकाकार, सर्वाकार, तदाकार हो उठता है। वह अद्वैत

महासत्ता रूप हो उठता है। सर्व में, केवल एक निष्कल आत्मानुभूति शेष रह जाती है।

. . यात्रा पर अब चाहे जब निकल पड़ता हूँ। स्वयं ही अपना रथ हाँकता हूँ। सारथी का प्रश्न बीच में बाधा लगता है। हिमवान की हिमानियों का आवाहन दिनों-दिन अनिवार्य होता जा रहा था। सो निकल पड़ा, एक दिन। . . स्वच्छ, नीला आकाश जरा झुक कर रथ पर चँदोवे-सा छा गया था। दूरियों और विस्तारों में, तन और मन फैलते जा रहे थे। तराई के प्रदेश में हवा पनीली हो चली थी। उसमें वनस्पतियों और ताजा धान्यों की भीनी-भीनी गन्ध घुल रही थी। पर चैत्र के सवेरे की हलकी सुहानी धूप में, उषीरध्वज पर्वत पर से हिमानियाँ पिघल कर महीन धाराओं में तराई की ओर हौले-हौले बही आ रही थीं। उषीर की शीतल गहरी सुगन्ध से वातावरण में जाने कैसी अनजान स्मृतियाँ-सी उभर रही थीं।

दूर-दूर तक शालि और तन्दुल धान्यों के खेत हवा में लहलहा रहे थे। सहस्रावधि वर्षों की पुरातन इमलियों और आमों के झुर्मुटों से गुजरता रथ, रोहिणी और राप्ती नदियों की दोआब भूमि में प्रविष्ट हुआ। उधर परे को हटकर गंभीर शालों का वन था। उसके उत्तर-पूर्व में शाक्यों की कपिलवस्तु की भवन-अटाएँ, गुम्बद, पताकाएँ झाँक रही थीं। कपिलवस्तु, महर्षि कपिल की भूमि : मेरे पुरुष ने प्रकृति को अपनी जंघाओं में संसरित अनुभव किया।

पुष्पित शालवन के गहरावों और वीथियों का आमन्त्रण रथ को उधर ही खींच ले गया। लुम्बिनी-वन के शाखान्तरालों में आकाश अपनी ऊँचाई का गर्व भूल, जैसे वसुन्धरा की बाँहों में समर्पित-सा हो गया है। रथ से उतर कर, उस निर्जनता में खेलती धूप-छाँव के शाखा-चित्रों में जाने कौन-सी अलक्ष्य लिपियाँ पढ़ता लुम्बिनी-कानन में बहुत देर विचरता रहा।

सहसा ही एक शाखा ने झुक कर मानो मुझे प्रणाम किया, और बाँह से लिपट-सी गई। यह कोन जन्मान्तरों की बान्धवी है ? मन एकदम ही निर्विकल्प और नीरव हो गया। तृण-तृण, कण-कण की सजीवता चारों ओर से मेरे समस्त को सहलाने लगी।

लौट कर रथ पर चढ़ आगे बढ़ा। शालों का आवरण भेद कर अनोमा नदी का विशाल वक्षस्थल सामने उघर आया। सात ऋषभ विस्तार के इस पाट पर जैसे चलने का आमत्रंण बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा था। दूर-दूर जाती लहरों के कुंचनों में कोई काली कुटिल अलकावलियाँ बही जा रही थीं। उन पर निछावर होते-से, किसी राजसिंहासन, किरीट-कुण्डल, स्वर्णतार वसनों के बिखरते तानों-बानों का आभास ! . . कपिल की भूमि पर पुरुष की जयलेखा !

रथ वहीं खोल दिया। घोड़ों को इक्षु के खेतों के पास मधुर हरियाली में चरने को छोड़ दिया। अनोमा ने अपनी अणिमा और गरिमा का रहस्य खोला। मेरे पैर जाने कैसे लचीले गहरावों और उभरावों पर चलते चल गये। . . छाया की तरह कोई पीछे साथ चल रहा था।

उषीरध्वज के ढालों पर चढ़ते हुए, भोज और देवदारु की कानन-वीथियों में रंग-बिरंगे फूलों के अन्तःपुर खुलते जा रहे थे। सुगन्ध यहाँ पेशल-सी होकर, तन-मन को अपनी शीतल ऊष्मा में, एक विचित्र आप्त भाव से सहलाती रहती है।

. . फिर हिम चट्टानों की खड़ी चढ़ाइयों पर चलना संभव न रहा। शिखर अदृश्य हो गये। कहीं-कहीं चट्टानों के नुकीले उभरावों को दोनों हाथों से पकड़ कर, एक अभेद्य हिमावृत

काठिन्य से मैं लिपटता चला गया। अनायास उत्संगित और उत्तोलित होता चला गया। विराट, दुर्जेय हिमानी का वह एक दुर्निवार और दुःसह आलिंगन था। समूचा हिमवान मानो आपाद-मस्तक मेरी भुजाओं में सिमटता चला आ रहा था। शरीर पर वस्त्र का एक लत्ता भी शेष नहीं रह गया था। शीत . . शीत . . अपरम्पार शीत : आरपार शीत। मैंने देखा अपने भीतर, हिमवान स्वयं अपनी कोटयावधि वर्षों की जमी हिमानी की गोद मे धँस कर, उसे भेदता चला जा रहा था। मानो अपने ही शत-कोटि आवरणों को चीर कर, अपने परात्पर, नग्नातिनग्न स्वरूप को उपलब्ध किया चाहता था। प्रकृति और पुरुष यहाँ द्वंद्वातीत रूप से आश्लेषित थे। कब पुरुष प्रकृति हो गया, कब प्रकृति पुरुष हो रही : नहीं मालूम . . नहीं मालूम . . नहीं मालूम।

. . हिरण्यचूल शिखर पर खड़े होकर मैंने पाया कि मेरे पादतल की एक महान्धकार गुफा, मेरी कटि से लिपट कर, मेरी जंघाओं के बीच आरपार खुल उठी थी। उसकी आदि पुरातन तमिस्रा मुक्त कुंतलों-सी बिखर कर मेरी पगतलियों से रभस कर रही थी। . . आकाश मेरे बाहुमूलों में शरण खोजता-सा मेरे चौड़े कन्धों पर उत्तरीय बन कर झूल जाना चाह रहा था। पश्चिमी समुद्र के दूरातिदूर क्षितिज की घनश्याम रेखा पर अस्तंगत सूर्य मानो मेरी प्रतीक्षा में ठिठका था। . . कि उसकी कोर पर पैर धर कर मैं पृथ्वी के अक मे लौट आऊँ। . .

• • •

. . लौट कर जब आया, तो रात गहराने लगी थी। मेरे खण्ड के वातायन पर माँ निष्कम्प लौ-सी टकटकी लगाये बैठी थी। कक्ष मे जब मैंने प्रवेश किया, वे सामने आ स्तम्भित-सी खड़ी, सर से पैर तक मुझे ताकती रही। कुछ पूछने की हिम्मत, वे न कर सकी। उनकी आँखों में नदियाँ थमी थीं। मझरात के एकाकी दीये-सा एक आँसू रत्नदीपों की सौम्य ज्योति में चमक उठा। मेरे ललाट पर झूलती अवहेलित अलकों की एक गुंजल्कित नागिन को हल्के से सहला कर, वे चुपचाप, धीरे-धीरे वहाँ से चली गईं। उनके कंकणों की महीन ममताली रणकार, मेरे आरपार गूँजती चली गई। . .

• • •

. . दिशाएँ चारों ओर जयमाला लिए खड़ी है। भीतर अपने ध्रुव पर स्थिर हूँ : पर बाहर कही ठहराव संभव नही रहा है। जाना है . . जाना है . . जाना है। कहाँ जाना है, ठीक नहीं मालूम। निरन्तर यात्रा मे ही जीवन को सार्थक और परिभाषित होते देख रहा हूँ। मेरे पैर सिंहासन और महल में टिके रहने को नहीं बने : वे निरन्तर और अविराम चलने को जन्मे हैं। किनारे से चलता हूँ, और दृश्य जगत की तमाम वस्तुओं के भीतर से यात्रा होती रहती है। चारों ओर से दिग्वधुओं के घूँघटों की पुकार सुनकर, आतुर-चंचल हो उठता हूँ।

उस दिन पूर्व दिशा मे सूर्योदय होते देखा, तो विपुलाचल का स्मरण हो आया। वैभार पर्वत के उभारों पर अपने पैर पड़ते-से दीखे। . .

. . अपने 'मित्रावरुण' रथ पर आरोहण करते हुए, भिनसारे की चाँदनी में वैशाली के दक्षिणी सीमान्त को पार कर मगध के देव-रम्य चैत्यों और वन-काननों में से गुजरने लगा। अत्यन्त सम्वादी, लयबद्ध जैसी लगती सघन वन-श्रेणियों के बीच से गये राजमार्ग पर, बड़ी मसृण और ऋजुगति से रथ फिसलता जा रहा था। गति के वेग, और अश्वों की टापों से परे, किसी अनाहत प्रवाह में फूल की तरह बहने का अहसास हो रहा था।

. . गृध्रकूट पर्वत की चोटी पर पहुँच कर देखा, सामने विपुलाचल के एकाकी शृंग पर सूर्योदय हो रहा है। किसके सिंहासन का भामण्डल है यह ? . . वैभार की शिखरावलियाँ दोनों ओर से आकर दिगंगनाओं-सी, उसके पादप्रान्त में नतमाथ हो गई हैं। आर्यावर्त्त की ससागरा पृथ्वी अपना वक्ष विस्तृत कर प्रस्तुत है, कि उस सिंहासन का आगामी अधीश्वर उस पर पग धारण करे। . . मेरे पैर किस महाचंक्रमण की सिंह-धीर गति से चलायमान हो उठे हैं। सहस्र-सहस्र मुण्डों के बीच उल्लंबमान अपने को चलते देख रहा हूँ। . .

इस गृध्रकूट की किसी तलगामी गुफा में से वीणा-वादन की झंकार सुन रहा हूँ। सुनता हूँ इस पर्वत मे गन्धर्वों के आवास हैं। वीणा की इन सुरावलियों में अपना स्वागत-गान सुनाई पड़ रहा है। . . हाँ गन्धर्व, तुम्हारी वीणा सुनने आया हूँ। अपने सप्तक साधो, अपनी खूँटियाँ कसो, अपने तारों पर उत्तान होओ : मैं तुम्हारी वीणा को एक दिन ब्रह्माण्डों के शार्ष पर बजाऊँगा।

दूर पर राजगृही के सुवर्ण-रत्निम शिखर चमक रहे हैं। इसके आरामों और उपवनों में, सुनता हूँ, देव रमण करने को उतरते हैं। इसके फलोद्यानों में रस-भार-नम्र फलों की डालियाँ धरती को चूमती रहती हैं। इसके नीलमी सरोवरों में स्फटिक जैसे जल बिछलते रहते हैं : उनके तटों पर क्रीड़ा करते हंसमिथुन भी निर्विकार भाव से स्वैर-विहार करते हैं। सुमागधी के तटवर्ती इस मगध देश को, वेदों ने भी गाया है। यही वेदों का ऋषि-चरण-चारित कीटक जनपद है।

पाँच शैलों से घिरी यह राजगृही, पांचाली की तरह अपनी दस भुजाएँ पसारे जन-जन को परितृप्त करने को आकुल है। वैहार, वराह, वृषभ, ऋषभगिरि और चैत्य जैसे पाँच प्रशस्त, पर्वत अपने सघन वनों की पत्रिम आभा से इसे आवरित किये हैं। इन पर्वतों के लोध्र-वनों की माणिक्य छाँवों में प्रणयीजन परिवेश भूल कर, रात-दिन क्रीड़ा-केलि में लीन रहते हैं। यहीं गौतम ऋषि ने उशीनर राजा की शूद्रा कन्या के भीतर काक्षिवान आदि पुत्रों को जन्म दिया। गौतम के वंशधर होने से वे क्षत्रिय कहलाये और मागधवंशी नाम से विख्यात हुए। यहाँ प्रेम के राज्य में कुलाभिमान की मर्यादाएँ टूटीं, क्षात्रत्व ब्रह्मतेज से दीप्त हुआ, शूद्रा त्राता क्षत्रियों और परित्राता ब्रह्मर्षियों की जनेता बनी। अंग-बंग, काशी और कलिंग के राजाओं ने गौतम ऋषि के आश्रम में रह कर अपने तीरों और तलवारों को ज्ञान-ज्योति की शान पर चढ़ाया।

इसी गिरिव्रज की पार्वत्य कन्दराओं में अर्बुद और शक्रवापी नामा सर्पराज रहते हैं, जो शत्रुओं का अमोघ रूप से दमन करते हैं। ये अरिंदम सर्प देवता, यहाँ अरिहन्तों के मस्तक पर छत्र बन कर छाये रहते हैं। यहीं स्वस्तिक और मणिनाग नामक नागों का निवास है। पृथ्वी के आदिमकाल से वे अपनी मणिप्रभा से इस मागधी भूमि को नित्य-यौवना सुन्दरी बनाये हुए हैं।

अत्यन्त प्राचीन काल में राजर्षि वसु ने सुमागधी के तट पर इस नगरी को बसाया था। तब वसुमती के नाम से ही यह लोक में विख्यात थी। इसी वसुमती के पराग भीने शाल्मकी वनों में

क्षात्रजात ऋषि विश्वामित्र और कौशिक, आरण्यक तपोसाधना में लीन विचरते रहे हैं। मणिमान नामा वासुकी नाग की मणिकूप बाँबी से इसके वन-कानन रातों में भी झलमलाते रहते हैं।

द्वापर में वसुवंश के राजा वृहद्रथ ने यहाँ राज्य किया। वृषभगिरि पर्वत पर एक बार विहार करते हुए, वृहद्रथ को एक विशालकाय गेंडे से मल्लयुद्ध करना पड़ा था। गेंडे ने आखिर पछाड़ खा कर, अपने पेट और पीठ से प्रतापी वृहद्रथ के लिए दो नगाड़े बनवा दिए थे। आक्रमणों के समय उनके प्रताड़न-घोष से योजनों की दूरी पर आ रहे आक्रमक शत्रु भयभीत होकर भाग निकलते थे। इसी वृहद्रथ के नाम से 'बार्हद्रथ' वंश की स्थापना हुई। इसी बृहद्रथ के प्रचण्ड प्रतापी पुत्र जरासंध ने मथुरा तक के तमाम भारतीय जनपदों पर आधिपत्य स्थापित कर, मगध में सबसे पहले एकराट् साम्राज्य की नींव डाली। मथुराधीश कंस इसका जामाता था, और चेदिराज शिशुपाल इसका सेनापति। जरासंध जब साम्राज्यलिप्सा से प्रमत्त हो उठा, और आर्यावर्त की अनाचारी राजसत्ताएँ उससे बल पाकर नग्न विलास और नृशंस अत्याचारों पर तुल गईं, तो सिंहासन-भंजक वासुदेव कृष्ण ने जरासंध को मार कर, पूर्व से पश्चिम तक की भारतीय प्रजा को आतंक मुक्त कर दिया।

अभी सौ वर्ष पूर्व फिर यहाँ राजा शिशुनाग ने अपने पराक्रम से शैशुनाग वंश की नींव डाली। उसी की पाँचवीं पीढ़ी में आज महाराज बिंबिसार श्रेणिक ने, कौसल, काशी, कौशाम्बी और अवन्ती तक अपनी धाक जमाकर नये साम्राज्य के निर्माण का सूत्रपात किया है। उदात्तमना बिंबिसार के इस मगध में ब्राह्मण और श्रमण समान रूप से समादृत हैं। ब्राह्मण उसकी छत्र-छाया में निर्बाध श्रौत यज्ञ करते हैं : और स्वतंत्र-चेता, दुर्द्धर्ष तपस्वी श्रमणों की धर्मदेशना श्रेणिक बड़े आदर भाव से सुनता है। विपुलाचल की छाँव में वर्तमान के अनेक शास्ता मुक्त भाव से प्रवचन करते विचर रहे हैं।

इस भूमि पर अनेक साम्राज्य उठे, अनेक सम्राटों ने अपने दुर्दण्ड वीर्यतेज से पृथ्वी के गर्भ हिलाये। सिंहासन बार-बार उठ कर मिट्टी में मिल गये। ऋषियों ने अपनी तपस्याओं, और ज्ञान-सत्रों से इसकी गिरिमालाओं को गुंजायमान किया। पर क्या बात है कि धर्म का अविचल सिंहासन इस पृथ्वी पर नहीं बिछ सका। सृष्टि उत्थान-पतन के चक्रावर्तनों से उबर नहीं पा रही। कहाँ है वह अर्हत्, जो अहम् के इन धृष्ट दुश्चक्रों को अपनी तेज-शलाका से भेद कर, सोहम् के शाश्वत धर्म का सुमेरु पृथ्वी पर स्थापित करेगा?

. . विपुलाचल पर प्रचण्ड से प्रचण्डतर प्रताप के साथ सूर्य उद्योतमान हो रहे हैं। उनके शार्ष पर, एक महाशंख का अनहदनाद सुन रहा हूँ। एक अपूर्व क्रान्ति और अतिक्रान्ति का शंखनाद, कि सृष्टि का प्रत्येक अणु-परमाणु अपना रहस्य खोलने को अकुला उठा है। कहाँ छुपा है त्रिकालाबाधित ज्ञान का वह सर्वज्ञ-सूर्य?

. . मेरे वक्ष में जैसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नवजन्म लेने को कसमसा रहे हैं।

सुन्दरियों के स्वप्न-देश में

इस बीच, मेरे कक्ष की छत पर, एक आधी रात, अचानक किसी चक्र की घर्घराहट सुनाई पड़ी। मैं तो सदा जागता ही रहता हूँ: निद्रा की सुषुम्ना गोद में ही, यह जागृति एक साथ शयन, विचरण, दर्शन का सुख देती रहती है।

छत में आकर देखा, तो कोई विद्याधर अपने यान के साथ प्रस्तुत था। आगन्तुक ज़रा भी अपरिचित नहीं लगा। उसकी आँखों में स्वागत था, और जैसे अज्ञातों का आमंत्रण था। मैं यान पर आरूढ़ हो गया। . . उसकी उड़ान की चक्राकार गति में, अपने ही भीतर के असंख्य आत्म-प्रदेशों में यात्रा होती-सी अनुभव हुई। . . फूटती द्वाभा में हमने पाया, कि हम कैलास की सर्वोच्च चूड़ा पर खड़े हैं। हमारे पैर हिमानियों में शिल्पित से रह गये हैं। सुदूर पूर्व में, उषा की गुलाबी प्रभा मानो किसी पद्मकोश की सहस्रों पंखुरियों-सी खुल रही है। उसके आलोक में सहसा ही दिखायी पड़ा, सामने की चूड़ान्त हिम शिला पर एक विशाल चरण-युगल उत्कीर्ण है। . . मानो कि अभी-अभी कोई पुरुष यहाँ अपनी पादुकाएँ पीछे छोड़ जाने कहाँ अन्तर्धान हो गया है। इस एक पल में से हजारों वर्ष पलक मारते गुजर गये हैं। और उनके आरपार कालातीत रूप से यहाँ खड़े उस आदित्य-पुरुष के चरण-चिन्ह, इस हिम शृंग पर निसर्ग रूप से सदा को शिल्पित हो गये हैं। फूटते दिवालोक में इनकी हीरक प्रभा से, जैसे लोकालोक भास्वर हो उठे हैं। निमिष मात्र मे ही पहचान गया, यह है भगवान ऋषभदेव की चरण-पादुका। यहीं पर तो वे महाश्रमण मृत्युंजयी महातपस में लीन होकर मातरिश्वन् हो गये थे।

पूर्वांचल पर उद्भासित होती उषा ने, अपने वक्ष के गुलाबी कलश ईषत् झुका कर प्रथम प्रजापति-पुरुष के उन काल के भाल पर अंकित चरणों का अभिषेक कर दिया। पादुका के पाद-प्रान्त में बैठा एक उज्ज्वल वृषभ उस अभिषेक की अक्षत जलधारा को अनवरत पीता चला जा रहा है। . . आदिनाथ ऋषभेश्वर के श्रीचरणों में ललाट ढाल कर, उस हिरण्य मुहूर्त में अनन्त लोकों और कालों का जो वैभव एकाग्र देखा, उसे शब्दों की सीमा में कैसे समेटूँ।

. . कई दिन और रात विद्याधरराज वासुकी के साथ उन हिमानियों में विचरते कैसे बीत गये, पता ही न चला। अनादिकाल की मुद्रित हिम-कन्दराओं के वज्र-कपाटों पर अपने वीर्य को जूझते, टकराते, परीक्षित होते देखा। कितनी मेखलाएँ छिन्न हुईं, कितने पटल बिद्ध हुए, कितनी गहराइयों में मैं संसरित हुआ ! अनिर्वच है उस यात्रा की मर्म-कथा।

• • •

लौट कर एक सन्ध्या में, जब नन्द्यावर्त-प्रासाद के अपने आवास-खण्ड में प्रवेश किया, तो पहचानना कठिन हो गया कि क्या यही मेरा निवास-भवन है ? वैशाली के विदेहों का तमाम

परम्परागत वैभव और ऐश्वर्य मानो वहाँ एक साथ एकत्रित था। छतों में लटकी वृहदाकार नीलम और पन्नों की झूमरों में, फुलैलों के प्रदीप उजल रहे थे। पद्मराग शिलाओं की फर्श पर, पारस्य देश के गलीचों में, रम्य वनों में सर्पों से खेलती सुन्दरियाँ चित्रित थीं। रत्न-मीना-खचित दीवारों में, अनेक रंगी मणिचूर्णों के रंगों से, केलिविलास की अद्भुत चित्रमालाएँ अंकित थीं। जगह-जगह बैठी जाने कितनी ही अनिन्द्य सुन्दरी बालाएँ, सुगन्धित धूपों और मदिराओं से केश-प्रसाधन कर रही थीं। कहीं अन्तरित कक्षों के भीतर से विचित्र तंतु-वाद्यों की महीन झंकृतियों में मन्थर संगीत की मूर्च्छाएँ बह रही थीं। और उन पर नूपुरों की मृदुतम घुँघुर-ध्वनियों में नर्तित चरणों की कोमलता नित नये आकारों में उभर रही थी।

. . मेरे आगमन का आभास पाते ही, अपने-अपने स्थानों पर वे सारी सुन्दरियाँ प्रणिपात में निवेदित हो गईं। फिर संगीत और नृत्यों में उत्सव और स्वागत की सुरमालाएँ उठने लगीं। मै सीधे, प्रतिहारी द्वारा संकेतित अपने निज कक्ष में चला गया।

अपनी विशेष प्रतिहारी से मैंने इस जादुई परिवर्तन के विषय में जिज्ञासा की। उसने बताया कि मेरी अनुपस्थिति में महारानी त्रिशला देवी, रात और दिन चारों दिशाओं में अपने प्रभंजन-वेगी रथों पर यात्राएँ करती रहती हैं। कुण्डपुर का सारा गृह-मंत्रालय, इस नये आवास-भवन की साज-सज्जा के लिए कई देश-देशान्तरों की तहें छानता फिरा है। अवन्ती की पण्य-वीथियों से क्रय की हुई, अनेक सुदूर देशों की दुर्लभ वस्तु-निधियाँ और सामान-असबाब नित्य,गंगा-यमुना की राह कौशाम्बी, श्रावस्ती और चंपा के घाट-बन्दरों पर उतरते रहे हैं : और वहाँ से गाड़ियाँ लद-लद कर कुण्डपुर आती रही हैं। पश्चिमी समुद्र के पट्टनों पर से बाबुल, असीरिया और मिस्र की नील नदी के दुर्मूल्य उपहार विशाल करण्डकों और वृहदाकार मंजुओं में भर कर आते थे। गंधार की राह, सिन्धु सौवीर के पट्टन से, सुदूर पश्चिमी देशों के अंशुक, मखमल, इत्र-फुलैल, सुगंधित द्रव्य, और अचिन्त्य रत्न-शिलाएँ लाई गई हैं। सूक्ष्म नक्काशी तथा सुवर्ण-मीना के काम और चित्रसारी करने को पारस्य और यवन देश के कई कला-शिल्पी आये गये हैं। विजयार्द्ध की विद्याधर नगरियों और प्रभास तथा पुष्करवर-द्वीप से चमत्कारिक विभूतियों और वस्तु-संपदाएँ बटोरी गई हैं। जानी हुई पृथ्वी के सीमान्तक पट्टनों से, दुर्गम समुद्रों और द्वीपान्तरों के दिव्य ऋद्धि-सिद्धिदायक अकृत्रिम रत्न-दर्पण, चषक और झारियाँ आई हैं। रात और दिन अविश्रान्त शिल्पन और कारु-कार्य मण्डन द्वारा, महल के इस पूरे खण्ड को, जैसे ईशान स्वर्ग की प्रतिस्पर्द्धा में रचा गया है।

हर हफ्ते राजमाता, कभी मगध, कभी काशी-कोसल, कभी श्रावस्ती, कभी कौशाम्बी, कभी अंग-बंग और कलिंग तो कभी अवन्ती तक की यात्रा स्वयं अपने परिकर के साथ करती रही हैं। और ऐसी हर यात्रा में, नवनूतन शोभा से सज्जित रथों में चढ़ कर, स्वर्णद्वीप से पारस्य तक की, और आर्यावर्त के तमाम महाजनपदों और राजनगरों की चुनिन्दा सुन्दरी बालाएँ उनके साथ, नन्द्यावर्त के महलों मे आई हैं।

. . सुना और सुन कर मैं मुस्करा आया। माँ की दूरदर्शी चिन्ता का रहस्य पा गया। मेरी इन निरन्तर की यात्राओं और पर्यटनों से वे चौंकी हैं, आतंकित हुई हैं। उस रात हिमवान से लौटने पर, उनका जो चिन्ताकुल और प्रतीक्षा-पागल रूप देखा था, उससे मेरे हृदय में एक लकीर-सी

खिंच गई थी। उस रात जहाँ भीतर असीम के आँगन से लौटकर महल की प्राचीरों में बन्दी हो रहने का अवसाद मुझे असह्य लगता रहा, वहीं माँ की वह मूक चिन्तामूर्ति और उनकी मुँदी आँखों से टपका, उनके अन्तस्तल का वह आँसू मेरी तहों को झकझोरता रहा था।

. . आज रात फिर मैं अपने निज-कक्ष से बाहर नहीं निकला। . . पर अनाम पक्षियों के परों की मसृण सुख-शैया में, विराम न मिल सका। मेरी जंघाओं में कठोर हिमानियों की आलिंगन-पीड़ा कसकती रही। और महाकाल-पुरुष का एक चरण-युगल, बराबर ही मेरे हृदय के द्वार खटखटा रहा था। . .

• • •

देख रहा हूँ, इस एक ही जीवन मे, अचिन्त्य भोग-ऐश्वर्य के एक नये ही विश्व में, दूसरा जन्म लेना पड़ गया है। अब बड़ी भोर पहली विहंगिनी का गान मुझे नहीं जगाता। मन्द्र-मधुर तन्तु-वाद्यों पर बाला-कण्ठों की प्रभातियाँ ही मुझे जगाती हैं। अपने ही आप उठने की स्वतंत्रता संभव नहीं रही है। उठना चाहूँ, उससे पहले ही जाने कितनी अप्सरियों की हथेलियाँ और बाँहें चारों ओर फैली दीखती हैं। उपधानों की जगह बाहुओं के मृणाल वृन्त लचकते दिखाई पड़ते हैं। माथे के नीचे कब कोई जघन पुण्डरीक-सा सरक आया है, पता नहीं चलता है। पीठ तले उद्भिद्यमान कमल-कोरक मुझे उठाते-से लगते हैं। कन्धों पर और मुख के आसपास, कुन्तल पाशों के सुगन्धित जामुनी बादल घिरे होते हैं। उठता नहीं हूँ, मानो उठाया जाता हूँ। और पगतलियाँ, फर्श पर नहीं, कई बिछी हथेलियों के पद्मकोशों पर ही उतर पाती हैं।

. . स्नानागार तक का एकान्त नसीब नहीं रहा। आसपास कंकण-रणित कई हाथ सुगन्ध-जलों के कलश लिये प्रस्तुत होते हैं। एक के बाद एक जाने कितने सुगन्ध-चूर्णों और उबटनों का लेपन और प्रक्षालन सहना होता है। और फिर एक नहीं, जाने कितने करतलों के मर्दन, दबाव और सुख-स्पर्श पीड़न मेरे अंग-अंग को आक्रान्त कर लेते हैं। अवन्ती कन्या मादिनी ने मेरे केश-प्रक्षालन का एकान्त अधिकार प्राप्त कर लिया है। छज्जे पर ईषत् बंकिम ग्रीवा के साथ झुकी कपोती की तरह, उसका नीलकान्ति मुख मेरे कन्धे पर झुका होता है : कभी उसकी चिबुक रह-रह कर मेरे कपोल पर टिक जाती है। मेरे केशों के गुंजलकों को वह अपनी तन्वी कलाइयों पर लपेट कर मुझे और सबको दिखाती हुई चपल हास्य के साथ कहती है :

'बड़े प्रतापी हैं हमारे वर्द्धमान कुमार ! देखो न, माथे के कुन्तलों में सँपलियों को पाले हुए हैं। . . हाय, क्या करूँ, ये काली कुटिल नागिनियाँ, मेरी बाहुओं को डँसे ले रही हैं। . .'

और बहुत ही दर्दीली टीस से कराहती हुई, वह मेरा केशराग करके मेरी अलकों को, कटि-मेखला की सूक्ष्म घंटियों के मोहक ताल पर संवारती है। . . और फिर जाने कितनी फुलैल-मंजूषाओं की शीशियों से अनेक अविज्ञानित देशों के फूलों की सुगन्धें, हौले-हौले कई अंगुलि-स्पर्शों के साथ मेरी रोमावलियों में सिंचित की जाती हैं। . .।

उसके बाद इन्द्रधनुषी नीहारिकाओं जैसे कई हलके फेनिल अंशुकों के उत्तरीय और कौशेय मेरे चारों ओर होड़ मचाने लगते हैं। अन्तर्वासक पीताम्बर का मान तो मैं रख लेता हूँ, पर

पुष्करवर-द्वीप के मुक्ताहार और उत्तरासंग मेरे वक्ष और कन्धों को नहीं जीत पाते हैं। . . मेरे केशों के कुटिल नाग उछल कर मणि-बन्धों को दूर फेंक देते हैं। हर बार किन्हीं नाज़ुक उँगलियों से बाँधे जाने पर, फिर-फिर जब वे मणि-मुक्ता की लड़ियाँ उछल कर लौट पड़ती हैं, तो उन्हें झेलने को कई-कई पीले कमलों-सी अंजुलियाँ एक साथ मचल पड़ती हैं।

विपुल और विविध व्यंजनों से सजे भोजन के सुवर्ण थाल, और मेरे उदर की जठराग्नि के बीच भी, कई जतन करती ममताली बाँहों, कोहनियों, और कौलिया उठाते अँगुलियों के दुलार घिरे रहते हैं। खीर का चम्मच, मोहन भोग का एक कौलिया, अथवा आम्र की एक फाँक भी, रक्त-स्पन्दनों और वक्षांचलों की ढँकी मिठास लेकर ही, मेरी जीभ और कण्ठ तक पहुँच पाते हैं। इतनी ममता, जतन, प्यार-दुलार, जहाँ हो, वहाँ भोजन स्वाभाविक ही अनावश्यक हो जाता है।

इसी प्रकार रात के शयन तक, इन उर्वशियों का यह उत्पलवन, जाने कितने ही सम्मोहन के कोशावरण मेरे तन-मन के अणु-अणु पर बुनता चला जाता है।

विभिन्न देशों से आई हुई ये सुन्दरी कन्याएँ अपनी-अपनी लाक्षणिक विशेषताएँ भी रखती है। और हर एक अपना कोई अलग ढंग का उपहार भी मेरे लिए सँजोये रहती हैं। मसलन कौशाम्बी की दो राजबालाएँ, अपने साथ वत्सराज उदयन की लोक-विख्यात कुंजर-विमोहिनी वीणा, तथा महारानी वासवदत्ता की घोषा वीणा की नागदन्त से निर्मित अनुकृतियाँ साथ लाई हैं। सवेरे और रात की संगीत-सभा में ये क्रम-क्रम से इनका वादन करती हुई, विन्ध्यारण्य के हस्ति-वनों का दृश्य साकार कर देती हैं। इनकी इस विद्या ने सचमुच ही मुझे मुग्ध किया है। मदनेश्वरी का उदयन-वीणा वादन मेरे मन के मातंग को वशीभूत कर सका या नहीं, सो तो वही जाने, किन्तु इरावती के घोषा-वादन पर, मैंने सिन्धु की उन्मत्त लहरों को स्तंभित होते देखा है।

हमारी वैशाली से भी कुछ राजकुलों की लड़कियाँ आई हैं। उन्होंने विशाला की नगर-वधू आम्रपाली से नवनूतन जूड़े और वेणियाँ बाँधने की कला सीखी है। दिन मे जाने कितनी बार वे निर निराले केश-विन्यासों में सजी दिखाई पड़ती हैं। चलो, इस बहाने देवी आम्रपाली की नर्तन-कुशल उँगलियों का केश-कौशल तो देखा। हर चीज़ का हर बार नया रूप, मुझे तो प्रिय ही लगता है। हर नये पल ऐसा लगता है कि पिछली लड़की नहीं रही, नयी आ गयी है। इससे विगत पर्याय का मोह भंग होता है, और चिर नूतन में मुक्ति की अनुभूति होती है।

सुदूर दक्षिणावर्त के अरुणाचलम् से आयी है वैनतेयी। चुप्पी लड़की है। लाज का लोच उसमें देखते ही बनता है। दूर द्वारपक्ष में आधी ओझल-सी खड़ी रह कर, अपलक नयन देखती रहती है। कई बार लगा है, उसकी चितवन में रक्तवेध करने की सामर्थ्य है। अनंग देवता तब चोर की तरह, भीतर घुस कर आक्रमण नहीं करते : अपने सच्चे रूप में नग्न और मूर्त सामने आ जाते हैं। उनका आक्रमण अनायास समर्पण हो उठता है। यह विचित्र कन्या, जाने कहाँ से कोई ऐसा रत्न-दर्पण पा गयी है, जिसमें देखो तो वस्त्राभूषणों से परे अपना निरावरण स्वरूप सामने आ जाता है। . . मुझे दर्पण थमा कर, पैरों के पास बैठी, नमित नयन, कालीन कुरेदती रहती है। एकदम निस्पृह। फिर भी जाने क्या पा जाती है मुझसे ! . . एक दिन मैंने कौतूहलवश, दर्पण को उलट कर, उसका पृष्ठ देखा। उस पर निषेध-वाक्य अंकित था : 'यह पक्ष न खोलो।' सो खोलना अनिवार्य हो गया। ढकना हटाते ही, सामने पाया अपना अस्थि पंजर, सन्मुख प्रत्यक्ष प्रवाहित रक्त-वाहिनियाँ और स्पन्दित बहत्तर हज़ार नाड़ियाँ : और धड़कता हृदय। एक मूलगामी

धक्के के साथ, जैसे मैं चौंका और जागा, और मुँह से चीस-सी निकली—'उफ्' । जानू पर चिबुक टिकाये बैठी वैनतेयी घबड़ा कर उठ खड़ी हुई :

'प्रभु यह आपने क्या किया ? दर्पण का निषिद्ध पक्ष खोल लिया . . ? दर्पण की विद्या लुप्त हो गई ! हाय, भगवान ! '

मैं पहले तो निश्चल उसकी परेशानी पर मुग्ध होता रहा । फिर ईषत् मुस्कुरा कर बोला :

'तुम्हारे दर्पण की विद्या लुप्त नहीं हुई : और भी उद्दीप्त हो गई है । देखो निषिद्ध पक्ष में अपना चेहरा . . ! '

लड़की ने दर्पण मेरे हाथ से लेकर उसमें अपना चेहरा देखा, और देखकर ऐसी आत्मविभोर हो गई, मानो अपने ही आप पर मुग्ध हो गई हो ।

'क्या देखा वैना बताओ तो ! '

'प्रभु, अस्थियों और नसों के जंगल के पार, एक और वैनतेयी देखी । ऐसी नित्य सुन्दरी, कि अब तक तो ऐसा रूप अपना कभी नहीं देखा था । इन्द्रजाल . . ! '

'इन्द्रजाल नहीं वैना, सत्य देखा तुमने । क्योंकि वह देखने की शक्ति तुममें है । और दर्पण के निषेध को मैंने तोड़ा है । तब भय का भंजन हुआ, तो हड्डियों का जंगल पार हो गया ! '

लड़की मेरे पैरों पर ढुलक पड़ी । उसके पलक-पक्ष्मों का गीलापन कैसा अद्भुत मुक्तिदायक लगा ।

• • •

किसी-किसी रात छत पर नवनिर्मित क्रीड़ा-सरोवर में स्नान-केलि का आयोजन किया जाता है । सरोवर के तल की शिलाओं और दीवारों में ही निसर्ग रोशनी-सी है । और ऊपर से चन्द्रमा उसमें खिलखिलाते रहते हैं । नील नदी के देश से आये फुलैल पानी में छोड़ दिये जाते हैं । कुंजर-विमोहिनी और घोषा वीणा की महीन रागिनियाँ, हवा में स्पन्दन के नये ही प्रदेश खोलती रहती हैं ।

. . चारों ओर से पानी उछालती बालाओं के वर्तुल, केन्द्रीय पुरुष पर जैसे एक साथ आक्रमण करते हैं । पर पुरुष जाने कब एकाएक गायब हो जाता है । लड़कियाँ डुबकी लगा कर उस पुरुष की खोज में परस्पर टकराती और होड़ें मचाती हैं । . . सुगन्धाविल पानी में एक ऐसा द्रवित मार्दव तैरता है, कि हर कन्या अपने ही भीतर रमणलीन हो रहती है । हरेक को लगता है, कि केन्द्रीय पुरुष उसकी बाँहों में आ गया है । जाने कब तक वे इसी आत्म-तन्मय भाव से, अपने ही साथ केलिमग्न रहती हैं ।

. . बहुत रात गये, वीणा-वादन विरमते ही वे आपे में लौटती हैं, तो पाती हैं कि कुमार वर्द्धमान का दिशाओं के छोरों तक भी कहीं पता नहीं है । सारे कक्षों में घूम-घूम कर वे उन्हें खोजती फिरती हैं । फिर हार कर उनके शयन-कक्ष में झाँकती हैं । कुन्द फूलों से आच्छादित विशाल शैया,ऊनसोयी और अछूती है । पायताने वैनतेयी एक दीपाधार से सटी गर्दन झुकाये चुपचाप पड़ी है ।

इस कक्ष के सामने की दीवार में एक और भी अन्तर्कक्ष का नीलमी द्वार खुला है। उसके चौखट में भीतर का अन्तरित सौम्य आलोक झाँक रहा है। उसकी देहरी पार कर, उसमें जोहने का साहस वे बालाएँ नहीं कर पातीं। भीतर कहीं अलक्ष्य में अखण्ड जल रही धूप-शलाका की चन्दन-कपूरी गन्ध-लहरियों को लड़कियाँ अपनी अँजुलियों में लेकर माथे पर चढ़ा लेती हैं। फिर भूमि पर आँचल पसार कर, अन्तर्कक्ष की देहरी पर छिटकी निस्तब्ध नील—प्रभा को प्रणिपात करती हैं। और एक-एक कर चुपचाप अपने-अपने कक्षों में सोने चली जाती हैं। . .

माँ, पिता और सभी परिजनों द्वारा योजित इस दुरभिसंधि को अच्छी तरह समझ रहा हूँ। उनके मन, मुझे बाँधना अब आवश्यक हो गया है। मेरी निर्बन्ध यात्राओं को लेकर, तरह-तरह की दन्तकथाएँ-सी नन्द्यावर्त में चल पड़ी हैं। इतना ही नहीं, कुण्डपुर से लगा कर आसपास के सन्निवेशों में गुजरते हुए सारे आर्यावर्त में उन्होंने विचित्र साहस-वृत्तान्तों का रूप ले लिया है।

माता-पिता और राजकुल की चिन्ता स्वाभाविक है। ज्योतिषियों ने जिसके जन्म पर घोषित किया था, कि वह आर्यावर्त का एकराट् चक्रवर्ती होगा, उसमें राजा के बेटे का तो कोई लक्षण दीखता नहीं। या तो आवारा भटकता है, या अपने में खोया रहता है।

. . बीच मे व्यवस्था की गई थी, कि मुझे शस्त्र-विद्या सिखाई जाये। भारतों की प्राचीनतम और गोपनतम शस्त्रास्त्र-विद्याओं के निष्णात एक गुरु दक्षिणेश्वर, दक्षिण देश से आये थे। उनका मूल किरात रूप ही मुझे इतना भा गया था कि, मै उनसे दक्षिण विजयार्ध के अरण्यों तथा गोपन और वर्जित प्रदेशों का पता पाने में ही उन्हें व्यस्त रखता था। पर उनके निर्देश पर जब भी कभी मैं धनुष पर तीर चढ़ाता, तो उसका मुख अपनी ओर कर देता था। गुरुदेव भय से थर्रा उठते। वे दौड़ कर मुझ तक आयें, कि तीर छूट कर सन्ना जाता था। मुझे आरपार बींधता तीर जाने कहाँ चला गया, पता ही नहीं चलता था। एक दिन गुरुदेव बोले :

'कुमार, क्या इन्द्रजाल जानते हो ?'

'नहीं महाराज, तीर खाने का अभ्यास कर रहा हूँ।'

'तो तीर कहाँ चला जाता है ?'

'वह तो आप अपनी विद्या से जानें . .।'

'अपनी शस्त्र-विद्या मे ऐसा तो कोई रहस्य मैने नहीं पढ़ा-गुना ! शब्दवेध, दिशावेध, गगनवेध-सब जानता हूँ। पर यह वेध न पढ़ा न सुना, युवराज !'

'तो सुनें महाराज, यह आत्मवेध धनुर्विद्या है। मेरी दिग्विजय की यात्रा का मार्ग भीतर से गया है। वहाँ शत्रुओं की असख्य वाहिनियाँ घुसी बैठी हैं। मैं उन्हीं के संहार की टोह में लगा रहता हूँ !'

. . गुरु दक्षिणेश्वर ने महाराज के निकट अपनी विवशता प्रकट की और विपुल दक्षिणा पाकर दक्षिणावर्त लौट गये।

• • •

शास्त्र-विद्या से शस्त्र विद्या तक, कुछ भी मुझ पर कारगर नहीं हुआ, तो फिर अपराजेय

मदन-देवता का आवाहन-अनुष्ठान किया गया। कि राजमहल में टिक सकूँ, ठहर सकूँ, रुक सकूँ, बँध सकूँ और राजलक्ष्मी का हो सकूँ।

पर क्या करूँ, विचित्र स्वभाव लेकर जन्मा हूँ। इन बन्धनों और प्राचीरों से भी खेलता रहता हूँ। तो ये मुझे बाँध नहीं पाते। दूर देशों और महाजनपदों की श्रेष्ठ सुन्दरियाँ आई हैं : वर्द्धमान के लिए उन्होंने अपूर्व मदनोत्सव का आयोजन किया है। प्रतिक्षण मदनोत्सव चल रहा है, मेरे खण्ड के कक्ष-कक्ष में। पर कोई अवरोध या निषेध मन में उठता ही नहीं। किसी कुण्ठा की कसक भी नहीं, विरोध का वैषम्य भी नहीं। विदेहों के इस वैभव का, नन्द्यावर्त का, मदन-देवता का और इन सारी बालाओं का कृतज्ञ ही हूँ कि मुझे सुखी और महिमाशाली बनाने की चेष्टा में ये सदा निरत हैं।

इस ऐश्वर्य की एक-एक वस्तु का, इन सुन्दरियों के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग, एक-एक हाव-भाव, भंगिमा, चितवन, शृंगार, लीला-कटाक्ष, सबका अकुण्ठ भाव से आनन्द-उपभोग करता हूँ : क्योंकि इन्हें सामने पाकर, मन में कोई भय नहीं. बाधा नहीं, आशंका नहीं। मिलन सहज है, सो विरह का प्रश्न ही नहीं उठता। निरन्तर जन, भीतर के एक ऐसे मिलन-सुख में रम्माण है, कि बाहर की रमणी या प्रिया को लेकर कोई व्याकुलता या अनाश्वस्ति उठती ही नहीं।

हर चीज़, हर व्यक्ति, हर कटाक्ष, हर अंगड़ाई, अपने स्थान पर है, मैं अपनी जगह पर हूँ। इन सबकी अपनी-अपनी एक नित-नूतन भाव-भंगिमा हर समय प्रकट होती रहती है : उसके दर्शन से मैं सहज आनन्दित रहता हूँ। हर वस्तु की अनुक्षण बदलती भावलीला को, मैं अपनी आन्तरिक भावलीला के साथ, एकतानता से जानता, जीता, भोगता हूँ, तो मेरे आनन्द का अन्त नहीं होता। भोगना नहीं पड़ता, सहज ही सब कुछ भीतर भुक्त होता रहता है। तो मैं अनायास युक्त और मुक्त होता रहता हूँ। हर वस्तु का यह भाव ही उसका स्वरूप है। परिणमन ही उसकी एक मात्र स्थिति है, परिभाषा है। और परिणमन ही तो रमण है।

सो पिता और माँ का विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ, कि उन्होंने मुझे काम, सम्मोहन, ऐश्वर्य, विलास के बीच भी मुक्ति के चरम-परम अनुभव का अवसर दिया। और ये सारी बालाएँ कितनी अच्छी हैं, कितनी हृदयवती, प्रीतिनी, आरती और अंजुलियों की तरह समर्पणवती। पूजा-अर्चा, धूप-दीप, यज्ञ-हुताशन और आहुतियों की तरह पावन हैं ये। इस मदन-यज्ञ में से जिस चिदग्नि का स्पर्श-सुख पाया है, वह अनिर्वच है। यहाँ की हर कुमारी ने एक ज्वाला की तरह मेरा आलिंगन किया है, और मैं उसमें से अधिक-अधिक उजलता गया हूँ।

मैं और अधिक स्वयं हुआ हूँ, वे और अधिक अपने सौन्दर्य में प्रभास्वर हुई हैं। जीवन और किसे कहते हैं ? भोग की और क्या सार्थकता ? मुक्ति की और क्या परिभाषा ?

पिप्पली-कानन के मेले में

कई दिनों से पिप्पली-कानन के मेले में जाने की तैयारियाँ राजद्वार पर चल रही थीं। प्रायः बड़ी

भोर ही अन्न-धान्य, सामान-असबाब और डेरे-तम्बुओं की बैलगाड़ियाँ लदती रहती थीं। कूच की हाँकें सुनाई पड़ती थीं। वज्जियों की कुलदेवी अम्बा का कोई मन्दिर पिप्पली-कानन के सीमान्त पर है। उसी के वार्षिक पूजा-पर्व के उपलक्ष्य में शरदोत्सव के रूप में यह मेला लगता था। शरद पूर्णिमा से कार्तिकी पूर्णिमा तक।

एक दिन सहसा ही महादेवी का आदेश मिला कि उनके साथ मुझे भी पिप्पली-कानन के मेले में जाना है। अच्छा ही लगा। यात्रा का अवसर भी मिलेगा, और दिनों बाद माँ के साहचर्य का सुख भी पा सकूँगा। कितनी अच्छी हैं वे, कभी कोई वर्जना या रोक-टोक नहीं करतीं। बस चुपचाप दूर से ही मेरे अनेक जतन करती रहती हैं। वे मुझे कितना समझती हैं ! अचम्भा होता है।

उस दिन भोर के धुंधलके में ही, तोरण-द्वार पर कई रथ प्रस्तुत हुए। महादेवी ने संकेत किया कि मैं उन्हीं के रथ में, उनके साथ यात्रा करूँगा। मेरा रथ लेकर गारुड़ साथ-साथ पीछे आयेगा। मेरे प्रासाद-खण्ड का नवागत कुमारीवन भी चलने को प्रस्तुत था। उन सबकी निगाहें एकाग्र मेरी ओर लगी थी। अन्तःपुर वासिनियों के और भी कई रथ, प्रभातियों और मंगल-गीतों से गुंजित थे। शहनाइयों, शंख-ध्वनियों, दुंदुभियों और घंटनादों के साथ रथमालाएँ नगरपौर से प्रस्थान कर गईं।

मार्ग में चारों ओर शरद ऋतु की प्रसन्न और सुनीला प्रकृति मुस्कुरा रही थी। धान्य के दूर तक फैले खेतों की हरियाली, हवा मे हौले-हौले झीम रही थी। कुन्द और पारिजात फूलों की भीनी-भीनी सौरभ शारदीय प्रभात की नवीन शीतलता मे घुल रही थी। गण्डकी तट के कास-वनों मे एक पवित्र श्वेतिमा, उज्ज्वल कौमार्य की आभा से दीपित थी। गण्डकी के जलों मे प्रचण्ड वेग के साथ ही, एक कोमल लचाव और उद्दाम उभारों की तरंग-लीला चल रही थी।

अनेक ग्राम्य और नागरिक वाजित्रों के तुमुल कोलाहल और हर्ष-ध्वनियों के बीच सहस्रों लोक-जनों का प्रवाह मेले की ओर बढ़ रहा है। पद-यात्रा करते नर-नारियों की नानारंगी नूतन वेश-भूषा, उनकी बैलगाड़ियों की घंटिका-ध्वनियों, रथों और इक्कों के चित्र-विचित्र चंदोवों और पर्दों का रंग-वैचित्र्य, विविध प्रतीकों से अंकित केशरिया, लाल, श्वेत पताकाएँ, गीतगान और लोकवाद्यों की समवेत -ध्वनियाँ : लोक-चेतना के आनन्द और सौन्दर्य का यह मूर्त स्वरूप पहली बार देखा। अब तक प्रकृति के विराटों और अनन्तों मे यात्रा की है। दुर्गम ऊँचाइयों पर सम्मोहित की तरह आरोहण किया है। गहराइयों के अतलों तक पहुँचने की संवासना से उद्वेलित हुआ हूँ। समग्र और निखिल मे एकतान होकर विचरण किया है। बस्तियों के किनारों से ही, उनकी सघनता और विविधता का स्पर्श पाकर प्रफुल्लित होता रहा हूँ। दूरागत दीयों से आलोकित लोकालयों की घरेलू ऊष्मा कई बार मेरे प्राण के तटों को व्याकुल कर गई है। . . पर जनगण के सामुदायिक प्रवाह को आज पहली बार साक्षात् किया। उनकी संयुक्त प्राणधारा के आनन्दोत्सव से पहली बार मेरा हृदय रोमांचित हुआ। पुलकावलियाँ सजल हो आईं। लगा कि जनगण की भी अपनी एक संयुक्त आत्मा है। लोक के सामूहिक चैतन्य का भी अपना एक देवता है। अनवरत जन-प्रवाह के उन समवेत वाजित्रों, गीत-गानों, हुलु ध्वनियों के निरन्तर संघात से, मेरा हृदय उमड़ आया। आँखों से एक विचित्र आनन्द का अश्रुपात होने लगा। . . इस क्षण इन सबके समन्वित प्रवाह में होकर भी, क्यों अपने को इनसे बिछुड़ा, एकाकी अनुभव कर रहा हूँ ? आज तक तट पर रहने के अविचल

साक्षी-भाव में अपनी उत्तुंग अद्वितीयता का एहसास होता रहा है। पर आज मेरी चेतना की कैलास-चूड़ा, गल कर लोक-जीवन की इस महाधारा के साथ तन्मय होने को व्याकुल हो उठी है।

. . . जाने कितनी दूर तक माँ और मैं अपने में लीन द्वीपों-से ही यात्रा करते रहे। एकाएक माँ के इंगित पर सारथि ने रथ को यात्रा-भीड़ से निकाल कर, सोनाली नदी के एकान्तवर्ती तट-मार्ग पर ले लिया। सहसा ही वे बोलीं :

'कैसा लग रहा है, वर्द्धमान ?'

'बहुत अच्छा। ऐसा तो पहले कभी लगा नहीं। एकाएक जैसे सबका हो गया हूँ।'

'सुनती हूँ महाविजनों और दुर्गमों में तेरी यात्राएँ चल रही हैं। मन में आया कि एक बार तुझे लोकालय भी दिखाऊँ। प्रजापति होकर जन्मा है, तो अपनी प्रजाओं से यों दूर कब तक रहेगा ?'

'दूर या पास का भेद मन में कहीं नहीं है, माँ ! सबसे अलग, विरहित कोई एकाकी शून्य हूँ, ऐसा तो कभी नहीं लगा। पर हाँ, तट पर या ऊँचाई पर खड़े रह कर, सर्व के साथ अधिकतम तदाकार हो सका हूँ, ऐसा जरूर लगा है। विकल को एकबारगी ही आलिंगन करने की विकलता प्राण में सदा रही। स्वयं को जान सकूँ, तो सर्व को सहज ही जान लूँगा, अपने में पालूँगा, ऐसी प्रतीति जरूर रही।'

'पूछती हूँ मान, इन यात्राओं में तुझे किस बात की खोज रही है ?'

'कहा न माँ, स्वयम् की। अपने किसी एक और विकल स्वरूप को पाने की, ताकि निखिल को एकबारगी ही जान सकूँ आलिगन कर सकूँ।'

'स्वयं तो तू है ही। उसे क्या बाहर कहीं खोजना होगा ?'

'जितना स्वयं हूँ, वह पूरा नहीं लगता, माँ ! देश और काल में वह बँटा हुआ है, बिखरा हुआ है, खण्डित है। कोई एक अखण्ड, एकमेव, नित्य मैं, जो स्वायत्त हो, स्वाधीन हो, स्वयं-पर्याप्त हो, उसे पाये बिना मन को विराम नहीं।'

'तो उसे तो भीतर ही खोजना होगा कि नहीं ? क्या वह बाहर की यात्राओं में मिलेगा ?'

'भीतर और बाहर का अलगाव जब तक बना है, तब तक विकलता बनी ही रहेगी। ऐसा लगता है कि यह भीतर-बाहर, इन्द्रियों और मन के सीमित दर्शन-ज्ञान के कारण है। सर्व का दर्शन जब तक प्रत्यक्ष, सीधा, स्वानुभूत नहीं हो जाता, तब तक बाह्य वस्तु-जगत मन-प्राण को चंचल रखेगा ही। विरहानुभूति बनी ही रहेगी। तब तक मोह और उससे उत्पन्न राग-द्वेष, आकर्षण-विकर्षण बना रहेगा। और इस तरह आत्म विकल बना रहेगा, वह अखण्ड और अविकल अनुभूत नहीं हो सकता। और खण्डित, पीड़ित, विकल आत्म बाहरी वस्तुओं का भी सम्यक् दर्शन और ज्ञान नहीं पा सकता। वस्तु के साथ व्यक्ति-आत्म के सच्चे सम्बन्ध का निर्णय नहीं हो सकता। यही विकलता मुझे बाहर फैले अखिल और अनन्त में यात्रा करने को बेचैन कर देती है।'

'तो अपनी इन यात्राओं में उस अखिल अनन्त को जान सके मान ? पा सके उसे ?'

'क्या पा सका, ठीक नहीं जानता। पर सर्व के सारे आयामों में बार-बार गया हूँ, तो आत्मविस्तार की अनुभूति अवश्य हुई है। लगा है कि इन्द्रिय, प्राण, मन की सीमित खिड़कियाँ टूटी

हैं, भीतर विराट् का वातायन खुलता जा रहा है। मेरे पुरुष ने अद्यावधि प्रकृति को अपने आलिंगन में समर्पित पाया है। इस तरह मोह-माया के पाश टूटे हैं, और मुक्त स्वाधीन आत्म की अनुभूति होने लगी है। अपने स्वयं के समीपतर आया हूँ, और सर्व सुलभ लगने लगा है। विरह का विषाद टूटा है, और सर्वत्र सबके साथ मिलन की राह निर्बाध हुई है।'

'तुम सर्वजयी और सर्वस्व हुए बेटा, तो त्रिशला की कोख कृतार्थ हुई। सब को पाया तुमने, तो उनके प्रति अपने को दोगे नहीं ? जगत तुम्हारे आत्मदान की प्रतीक्षा में है।'

'पूर्ण स्वयं हो लूँ, तो समर्पण आप ही मुझ में से बहेगा। आज भी जो चाहे, जैसे चाहे मुझे ले, अपने में बन्द तो कहीं से भी नहीं हूँ।'

'पिछली चैत्र शुक्ला तेरस को तुम सत्ताईस बरस के हो गये, बेटा ! आर्यावर्त की जाने कौन कुमारी, तुम्हारी राह में आँखें बिछाये बैठी है। क्या उन आँखों का मान नहीं रक्खोगे ?'

'हो सके तो सभी की आँखों में बसना चाहता हूँ माँ, और सारी आँखों को अपनी आँखों में बसा लेना चाहता हूँ।'

'तो विवाह करो वर्द्धन, किसी एक का वरण करो, और सब के प्रजापति, शरणागत-वत्सल पिता होकर रहो। यही भावी राजा के योग्य बात है।'

'विवाह करके किसी विशेष का वहन करूँ, तो लगता है, कि सर्ववाह होना संभव न होगा। और अपने राज्य की सीमा अब मुझे नहीं दीख रही है। मुझे तो त्रिलोक और त्रिकाल के प्राणि मात्र अपनी प्रजा लगते हैं, तो मैं क्या करूँ ! भूगोल और इतिहास का राज्य मेरा अभीष्ट नहीं। वह मुझे रास नहीं आयेगा, मुझे कम पड़ेगा, माँ।'

त्रिशला के गर्भ में जैसे एक और अचीन्हीं प्रसव-वेदना सी होने लगी। और इस जाये की इयत्ता को पहचानना और भी दुष्कर और असह्य लगा। क्षणैक चुप रह कर, महादेवी विनती-सी कर उठीं :

'तुम्हें समझने की कोशिश में रंच भी कमी नहीं रक्खी है। जो बुद्धि में नहीं आता, उसे मेरी कोख समझा देती है। फिर भी जाने क्यों, जी चाहता है कि . . .' राजमाता का स्वर डूब चला।

मैंने देखा, माँ दूर सोनाली पार के भोगनगर की भवन-अटाओं में आँखें गड़ाये हैं। उनकी वे उन्मीलित बरौनियाँ भीग-सी आई हैं।

'क्या जी चाहता है माँ ! जगत का मान होने से पहले, तुम्हारा मान होना चाहता हूँ।'

'वह भाग्य मुझे अपना नहीं दीखता . . ! माँ की मर्म-व्यथा को समझ रहा था।

'बोलो, क्या चाहती हो, माँ ? तुम्हारी हर चाह पूरी करूँगा।'

'तेरे आवास-खण्ड में आर्यावर्त की श्रेष्ठ सुन्दरियाँ, तेरी एक निगाह को तरस गईं। क्या उनमें से एक भी तेरे चरणों तक पहुँचने के योग्य न हो सकी ?'

मुझमें एक अजीब मुक्ति की हिलोर-सी आई। मैं लीला-चंचल हो उठा।

'अरे बस, इतनी-सी बात माँ ? वे सभी तो मेरी बरौनियों में झूले डाल कर झूल रही हैं। मैंने तो किसी को रोका नहीं। और चरणों तक ही क्या, वे तो मेरी चूड़ा पर अधिकार जमाये बैठी हैं। अवन्ती की मादिनी मेरे कुन्तलों के सँपलियों से मनमाना खेलती है। अपनी तो एक साँस भी वहाँ मुक्त नहीं। रोम-रोम अपना निर्बाध छोड़ दिया मैंने, कि वे बालाएँ उसमें जी चाहा खेलें। जी

चाही क्रीड़ा करें। और क्या करूँ, तुम्हीं बताओ ?'

'अपनाव की भी एक दृष्टि होती है कि नहीं ! किसी को भी चुन नहीं सके तुम, कोई तुम्हारी अपनी होने लायक न लगी ?'

'अरे माँ, सो तो सभी मुझे नितान्त अपनी लगीं। परायी तो एक भी नहीं लगी। अब तुम्हीं सोचो, एक को अपना करूँ, औरों को परायी मानूँ तो उन्हें कैसा लगेगा ? उनका जी दुखेगा कि नहीं ?'

'वह तो संसार की होती रीत है, लालू ! अपना-पराया तो रहता ही आया है। जिसका जहाँ ऋणानुबन्ध होगा, वहीं तो वह जायेगी।'

'संसार की रीत से तो महावीर कभी चल नहीं पाया माँ। और मेरी रीत में अपने-पराये का भेद मेरे हाथ न आया तो क्या करूँ ? और सारे ऋणानुबन्धों को तोड़ कर, मैं उन्हें धनानुबन्ध करने आया हूँ। ताकि विरह-मिलन का पीड़क दुश्चक्र टूटे। जो कि संसार है।'

'वे सब निराश लौटेंगी, तो क्या उन्हें पीड़ा नहीं होगी ? इस मोहभंग से उनकी व्यथा बढ़ेगी ही, और ऋणानुबन्ध का अन्त नहीं, वृद्धि ही होगी।'

'वे निराश क्यों हों, और लौटें भी क्यों, माँ ? मैंने तो उन्हें अस्वीकारा नहीं, कि वे विरहित होकर जायें।'

'तो क्या सब को स्वीकार लिया है, लालू ?' माँ के मुख पर बरबस मुस्कान फूट आयी।

'हाँ माँ, चुनाव मैंने नही किया है, तो सब सहज स्वीकृत हैं ही, अपने आप में, मेरे निकट।'

'यह तो सच ही, मेरे चक्रवर्ती बेटे के लायक़ बात हुई ! तू कहे तो सब राजकुलों में खबर करवा दूँ कि उनकी कन्याएँ वर्द्धमान की वारिता हुई और विवाह का शुभ मुहूर्त दिखा लूँ।'

'मेरा चक्रवर्तित्व राज्यों, सिंहासनों, शरीरों के वरण से सिद्ध नहीं होगा, माँ। वह इन सब को अपने में समेट कर, इनकी सीमाओं का अतिक्रमण करेगा। तब जो साम्राज्य मेरे भीतर से प्रकट होगा, उसमें ये सब स्वतंत्र होंगे। और मैं इनके आत्म-स्वातंत्र्य का आईना बनूँगा। मुझमें शाश्वत प्रतिबिम्बित ये सदा को, त्रिकाल और त्रिलोक में मेरे हो रहेंगे। इससे कम कोई चक्रवर्तित्व मेरा नहीं, माँ।'

'. . समझ रही हूँ। पर मेरी बुद्धि में समा नहीं पातीं, तेरी ये बड़ी बातें, लालू। पूछती हूँ, ऐसे ये कन्याएँ कब तक कुँवारी रहेंगी ?'

'मेरी होने आयी हैं, माँ, तो सदा कुँवारी रहेंगी ही। अक्षत कुमारिका ही महावीर की वधू हो सकती है। चाहे तो ये मेरे साथ आयें, या अपनी मनचाही राह जायें। इतना जानता हूँ कि मेरे पास से ये वियोगिनी नही, योगिनी होकर ही लौटेंगी। जहाँ भी जायेंगी, अपने अन्तर-पुरुष की अखण्ड सोहागिने होकर रहेंगी।'

माँ की आँखों में छलछला आये आँसू व्यथा के थे कि गर्व और आनन्द के, सो तो वे ही जानें।

पिप्पली-कानन का मेला नगर आ लगा था। माँ सारथि को आवश्यक निदेश देने में व्यस्त हो गईं।



पिप्पली-कानन के विशाल वन-प्रदेश में, कई योजनों के विस्तार में यह मेला लगा है। आर्यावर्त के विभिन्न प्रदेशों और कई दूर देशान्तरों तथा द्वीपों तक की नाना-विध दुर्लभ वस्तु-सम्पदा लेकर, चारों ओर से कई व्यापारी सार्थ यहाँ आये हैं। बीच में स्वस्तिक के आकार में, और चारों ओर मण्डलाकार, अनेक पण्यवीथियाँ रची गई हैं। सुवर्णकारी, मीनाकीरी, रत्न और आभूषण, बहुमूल्य अंशुक और स्वर्ण खचित वस्त्र, विविध धातुओं के भाण्ड और सज्जा-उपकरण, महार्घ वनौषधियाँ, शिल्प, चित्र, काष्ठ और चन्दन, हस्तिदन्त, नागदन्त तथा मर्मर पाषाणों के सज्जा-साधन, प्रसाधन-सामग्री और इत्र-फुलैल आदि बेशुमार चीजों की अलग-अलग पण्य-वीथियाँ और बाजार लगे हैं। पण्य-रचना के बाहर एक ओर सार्थवाह श्रेष्ठियों के रंग-बिरंगे डेरे-तम्बुओं वाले शिविर लगे हैं। दूसरी ओर अवन्ती से लगाकर मगध तक अनेक राजकुलों के विशद-विस्तृत और भव्य सज्जा, तोरण, पताकाओं से शोभित अलग-अलग शिविर आयोजित हैं। बीचोंबीच एक आलीशान मेहराबी द्वारों और चित्रित खम्भों से श्रेणिबद्ध विशाल सभा-भवन बना है, जहाँ सबेरे से रात तक अनेक गोष्ठियाँ, मनोरंजन, संगीत-नृय और नाट्य के कार्यक्रम चलते रहते हैं। प्रायः इस मेले में राजघरानों के अन्तःपुर, युवा राजपुत्र और राजकन्याएँ भी एकत्रित होते हैं। एक प्रकार से यह युवाजनों का शरदोत्सवी मेला होता है। रूप, लावण्य, सौन्दर्य, सुगन्ध, विविध-विचित्र वेश-सज्जा, केश-सजा, रत्न अलंकारों की जगमगाहट से सारे वातावरण में एक असह्य संकुलता और चकाचौंध है। रूप के इस रत्न-हाटक में सौन्दर्य और लावण्य की प्रतिस्पर्धा है, टकराहट है। मेखलाओं, नूपुरों, मंजीरों, घंटिकाओं और संगीत-वाद्यों तथा नृत्य-तालों में कोई सुर-सम्वाद नहीं, प्राण का एक तुमुल अराजक कोलाहल है। मान-अभिमान, अहंकार-ममकार, राग-द्वेष, कामना-वासना की एक उग्र और रक्ताक्त स्पर्धा है। रसोत्सव तो यह मुझे रंच भी नहीं लगा, मरीचिकाओं का एक भ्रामक इन्द्रजाल चारों ओर फैला है, जो चित्त को रसलीन नहीं, उद्विग्न और अशान्त करता है।

लिच्छवियों का राज-शिविर किसी भी तरह मुझे रास न आया। सो माँ की विशेष अनुज्ञा लेकर, मैंने अपना तम्बू, एक सीमावर्ती आम्रकानन में लगवा लिया है। वहीं बगल में मेरी रथशाला बन गई है। साथ में रक्खा है केवल सारथी गारुड़ को और दो-एक परिचारकों को। एक साँझ मुझे खोजती मेरी सारी बाला-सहचरियों ने मेरे तम्बू में मुझे आ घेरा। बोलीं कि—'हमारा चितचोर हमसे बच निकले, ऐसी कच्ची हम नहीं !' मेरी चुप्पी मुस्कान से वे सब स्तब्ध हो रहीं। तब मैंने उन्हें समझाया कि मेला देखने आया हूँ, सो घिराव अच्छा नहीं। मुझे अकेला रहने दें, स्वच्छन्द विचार कर जी भर कर खुली आँखों मेला देखने दें। उनके साथ तो सदा हूँ, और रहूँगा। मुक्त भाव से मेला देखने की अनुमति मैंने उनसे चाही। शब्द नहीं, केवल मेरी आँखों के अनुरोध से वे मान गईं। मैं उनका बहुत कृतज्ञ हुआ। वे समाधान पाकर चली गईं। जैसे कि मैं उनमें से हरेक के साथ गया हूँ, अलग-अलग।

साथी-सखा की चाह मुझे कभी नहीं रही। फिर मेले में आया हूँ, तो प्रजाओं के इस मिलनोत्सव को देखना चाहता हूँ। संपूर्ण देखना, अकेले रह कर ही संभव है। बहुतों का साथ होने पर, जैसे बँट जाता हूँ। अकेला रहूँ तो सब के साथ सहज जुड़ाव हो जाता है। दो-तीन दिन, जब जी चाहा, अपने मन की मौज से, मेले को किनारे से, और उसकी विभिन्न पण्य-वीथियों में घूम कर

भी देखा है। वस्तु-सामग्री यहाँ राशियों में चहुँ ओर फैली है। और स्त्री-पुरुषों का नानारंगी प्रवाह, उनमें उलझा, खोया, भटका, चौंधियाया-सा फेरी दे रहा है। जो खरीद पाने में असमर्थ हैं, उनकी आँखों की कातर प्यास देखी है। जो मुँह माँगे दामों पर क्रय कर के वस्तुओं का उपभोग कर रहे हैं, उनके चेहरों पर भी तृप्ति नहीं दीखी। वहाँ थकान है, आर्त्तता है, अवसाद है। वस्तुओं का अन्त नही, और भोक्ताओं की तृष्णा का भी पार नहीं। बहुमूल्य मणि-माणिक्यों, सुगन्धों, मदिराओं, महर्द्धिक परिधानों में डूब कर भी, उनके चेहरों पर अतृप्ति है, आनन्द की उत्फुल्लता नहीं। लगता है, जैसे पा कर भी, भोग कर भी, वस्तुओं से ये बिछुड़े ही रह गये हैं। परस्पर मिल कर भी, आमोद-प्रमोदों मे तल्लीन हो कर भी, ये कितने अकेले है? प्यासे हैं। वस्तु के मालिक होकर भी, ये उससे विरहित है। मेले में आकर भी मिलन से वंचित हैं।

मुझे लगता रहा कि वस्तुएँ जहाँ है, वहाँ रह कर, मानो सब की सब मेरी हैं। उठा कर लेने और अधिकार करने की जरूरत ही नही महसूस होती। और घूमता हूँ तो विविध रंगी इन हजारों नर नारियों मे, अपने को व्याप्त अनुभव करता हूँ। अकेला होकर भी, अलग तो कहीं से नहीं रह गया हूँ। सब को एकत्र देख कर, एक विचित्र भरा-भरापन अनुभव होता है।

वैशाली से मेरे कई मामा लोग आये हैं। एक तीसरे पहर सिंहभद्र और अकम्पन मामा मुझसे मिलने मेरे डेरे पर आये। मुझे देखते ही लिपट कर मिले। भर-भर आये। आर्द्र आँखों से कुछ देर चुप रह कर, मुझे देखते ही रह गये। मैं निश्चल ही रह सका। उनके वात्सल्य को समझ रहा था। वे सम्भ्रमित-से थे, कि मैं उनका रक्तांश, इतना दूर और अनपहचाना-सा क्यों लग रहा हूँ। अजनबी। उलाहना देने लगे कि इतना दुर्लभ क्यों हूँ, कि बार-बार बुलाने पर भी कभी नहीं गया वैशाली। कुछ योजनों का अन्तर भी लाँघने मे न आया, न मेरे, न उनके। मैं चुपचाप मुस्कुराता रहा। फिर कहा, कि ठीक मुहूर्त आने पर ही तो मिलन होता है। . . वैशाली के वैभव, प्रताप, शौर्य और गणतंत्र की गौरव-गाथा वे सुनाते रहे। मैं रुचिपूर्वक सुनता रहा। कौतुक-कौतूहल भी कम नही था। पूरी विश्व-वार्ता के संदर्भ थे उन बातों में। अपने समकालीन विश्व को सुना। सारे आर्यावर्त को सुना।

आग्रहपूर्वक वे मुझे उत्सव-शाला मे ले गये। आमोद-विहार का समय था। साँझ जुही के फूलों-सी खिल आयी थी। अन्तरित प्रकोष्ठों मे से, संगीत की बहुत कोमल रागिनियाँ बह रही थीं। नृत्यों की महीन झंकारे हवा मे कसक जगा रही थीं। कई देशों के मिले-जुले फुलैलो की सुगन्धों मे विचित्र पानियों का सम्वेदन था, अनजान फूल-घाटियों की यादे जाग रही थी। मालती और बन्धूक के पुष्प-हारों की बहार थी। रत्निम झूमरों के सौम्य आलोक मे, अलग-अलग यूथों में बैठे अभिजात युवकों की पान-गोष्ठियाँ जम रही थी। उनमे सभी प्रमुख जनपदो के कई राजपुत्र थे, कुलपुत्र थे, सामन्त और श्रेष्ठिपुत्र थे। उनकी महर्द्धिक वेश-भूषाओं का वैचित्र्य देखने लायक था। सब की अपनी विशेषता।

मगध, कौशाम्बी और अवन्ती के युवकों का शृंगार अलग ही दीखता था। उनके किरीट-कुण्डल-केयूरों की मणि-प्रभा की अपनी एक छटा थी। मीनाकारी की झारियों से बिल्लौरी चषकों मे सुगंधित मदिराएँ ढल रही थीं। और उनकी आँखों के खुमार, और ओठों पर ताम्बूल के रचाव मे, एक अजीब मादक सुरावट थी।

मामा लोगों ने अनेकों से मेरा परिचय कराया। मेरे सादे केशरिया उत्तरीय और निर्बन्धन कुन्तलों को वे हेरते रह जाते। उनके प्रश्नों के उत्तर में, मैं मौन मुस्कुरा कर रह जाता। उनके वाणी-विलास और चतुर संलापों को मैं आँखों से सराहता, या कह देता : 'बहुत अच्छा ! ' उनके अभिजात वातावरण में, मैं कहीं अँट नहीं पा रहा था। वे फिर अपने सखाओं में व्यस्त हो जाते : मैं अव्यस्त भाव से उनके संलापों का रस लेता रहता।

जान पड़ता है, मामा लोग वारुणी-प्रेमी नहीं हैं। उनकी आँखें स्वच्छ सरसियों-सी निर्मल हैं। और संयम की एक सहज सीमा-रेखा से वे मंडित हैं। चेटकराज के पुत्रों में पार्श्वापत्य श्रमणों और श्रावकों की मर्यादा झलकती थी। . . वैशाली के लिच्छवि-पुत्रों के समुदाय में मेरा विशेष स्वागत हुआ। वे अलग ही दीखते थे। उनके साथ कुछ शाक्य-पुत्र भी जमे हुए थे। मुक्ता लड़ियों के साथ मालती मालाओं से बँधे उनके केशपाश में विरल नीलम या हीरे चमक रहे थे। उनकी आँखों में भी सान्ध्य-सुरा के लाल कुमुद खिले हुए थे। सबने मुझे बहुत प्यार से अपनाया, गले लगाया, निहोरा किया कि ऐसे खोया न रहूँ, वैशाली आऊँ, विशाला का लोक-विश्रुत राजकुमार हूँ तो उस अलका-नगरी के रथों, वातायनों और रंगशालाओं में विहार करूँ। वहाँ के संथागार में मेरी आवाज गूँजे। वैशाली की विश्व-विख्यात विलास-सन्ध्याएँ देखूँ, जहाँ नित्य उत्सव चल रहा है।

. . और यह क्या कि मदिरा के चषक को भी प्रणाम करके सामने रख लिया है मैंने, और उसमे अपना प्रतिबिम्ब देख कर ही मुग्ध हूँ। एक ने गलबाँही डाल कर कहा : 'पियो वर्द्धमान, फिर जाने कब मिलोगे ?' मैंने ईषत् मुस्कराकर कहा : 'पिये हुए हूँ।' 'अरे कब, कहाँ ? तो कुछ और सही ! हमारा साथ भी तो देना होगा।' मैंने कहा : 'बन्धु, जाने कब से पिये हुए हूँ, पता नहीं जान पड़ता है पी कर ही जन्मा हूँ। और तुम सबकी आँखों का नशा बना हुआ हूँ, तो साथ ही तो हूँ, और निरन्तर पी रहा हूँ।' सब खिलखिला पड़े, खूब ठहाका मार कर। एक शाक्य-पुत्र बोला : 'कुमार वर्द्धमान निरे ब्राह्मण लगते हैं, क्षत्रियों के बीच। कोई महाब्राह्मण ! ' ब्राह्मणों के प्रति प्रबल तिरस्कार और व्यंग्य से भरा, शाक्यों का प्रचण्ड वंशाभिमान बोल रहा था। मैंने कहा : 'तथास्तु ! आपका अभिनंदन मुझे शिरोधार्य है। जनक विदेह के वंशज को आपने पहचाना, आभारी हूँ। ब्रह्म पुरुष की बाहुओं में क्षत्रिय अपनी जगह पर है। सत्य समय पर प्रकट होगा।' शाक्य का अभिमान विदीर्ण हो गया। बोला : 'शीर्ष पर बैठा है क्षत्रिय ! ब्राह्मण उसके पैरों में याचक है। वे हमारे दासी पुत्र होकर रह गये। लिच्छवि हो कर, उन्हें सिर पर चढ़ाओगे, वर्द्धमान ? धर्म के ठेकेदार, इन धर्म के हत्यारों को ?' . . 'ब्राह्मण या क्षत्रिय, मेरे मन कुलजात नहीं, कर्मजात हैं, चेतनाजात हैं, शाक्य ! और एक ही व्यक्तित्व मे ये दोनों समन्वित हो जायें, तो अचम्भा क्या ? मैं इनमें से कोई नहीं, या फिर दोनों हूँ।' . . 'साधु, साधु, वर्द्धमान ! ' मामाओं के साथ कुछ लिच्छवि-पुत्रों ने एक स्वर में अभ्यर्थना की। शाक्य निरुत्तर हो गया, पर उसकी भौंहों का मान जरा भी नहीं गला।

'अभिजात हो, आर्य वर्द्धमान। लिच्छवियों के कुल-सूर्य हो। हमें तुम पर गर्व है।' एक लिच्छवि गद्गद कण्ठ से बोल उठा : 'अभिजात वह, जिसमें आत्मा का ऐश्वर्य प्रकट हो। लिच्छवि, कुल से नहीं, अन्तर के वैभव से अभिजात हो, यही मेरा अभीष्ट है।' सिंहभद्र मामा ने उमड़ कर चुपचाप मुझे अपने से सटा लिया। . . शाक्य-पुत्र उठकर अन्यत्र जाते दिखाई पड़े।

लिच्छवि कुछ देर तो तत्व-चर्चा मे बिलसते रहे। फिर सौन्दर्य-वार्ता चल पड़ी। सौन्दर्य के लिए उनकी खोज और लगन जगत्-विख्यात है। . . और जाने कब वैशाली की नगर-वधू आम्रपाली मे वे डूबने-उतराने लगे। उसके एक-एक अंग-प्रत्यंग, देह-सौष्ठव, अंग-भंगिमा, भाव-भंगिमा, उसके शृंगार और विलक्षण केश-कलापों की वे बारीक चित्रकारी-सी करने लगे। एक ने मुझे लक्ष्य कर कहा : 'आर्य वर्द्धमान, एक बार आम्रपाली को देखने के लिए ही वैशाली आओ। हमारी वैशाली की सौन्दर्य-लक्ष्मी है, अम्बा ! वह आर्यावर्त के रमणीकुल की दीपशिखा है। तुम्हें पा कर, धन्य हो उठेगी पाली ! पुरुषोत्तम को पहचानने की दृष्टि उसके पास है !'

'आप अम्बा से कहें, कि महावीर वर्द्धमान उन्हें प्रणाम करता है। वे कभी याद करेंगी तो आऊंगा। वे वैशाली का कौमार्य हैं, मेरे मन। लिच्छवियों की विलासिता, विशाला की सौन्दर्य-लक्ष्मी को कलंकित नहीं कर सकती। वे हमारे गणतंत्र की गणिका नहीं, गणमाता हैं। लिच्छवियों की सौन्दर्य-पिपासा को शान्त करने के लिए मॉं ने अपने वक्ष को हवन-कुण्ड बना दिया है। अपने कुल-वधूत्व और मातृत्व की बलि चढ़ाकर, वैशाली की जनपद-कल्याणी ने अपने आँचल में हम सबको शरण दी है।'

'यही तो हमारे गण-तंत्र का गौरव है, आर्य वर्द्धमान। हमारे जनपद की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी, किसी के व्यक्तिगत स्वामित्व की वस्तु नहीं हो सकती। उस पर हम सबका समान अधिकार है। हमने सप्तभूमिक प्रासाद में आम्रपाली को, वैशाली के हृदय-सिंहासन की महारानी बना कर बैठा दिया है।'

'. . इसलिए कि जिसके पास सहस्र सुवर्ण मुद्रा हो, वही उसका क्रय कर ले ! और उसे अनचाहे भी बिक जाना पड़े। क्योंकि वह गणतंत्र की सपत्ति है। क्षमा करना देवानुप्रिय, हमने अम्बा को हृदय-सिहासन पर नहीं बैठाया, हमने मॉं को कोठे पर बैठाया है। यह हमारे गणतंत्र का गौरव नहीं, लज्जा है। और सौन्दर्य-पूजा मे स्वामित्व का प्रश्न कहॉं से आ गया ? उसकी रूपश्री पर अधिकार करने के लिए, हमारे बीच प्राणों की बाजियॉं लग गईं। खूनी प्रतिस्पर्धाएँ जागी। द्वंद्व युद्ध लड़े गये। हमारी निर्बन्ध वासना की आग मे वैशाली के भस्म हो जाने तक की घड़ी आ पहुँची! क्या यही हमारी सौन्दर्य-पूजा है ? . . हमारी रूप-तृष्णा जब किसी भी तरह काबू मे न आ सकी, तो अम्बा ने अपने हृदय को मसोस कर, ऑंखों में ऑंसू भर कर, वैशाली के गण-देवता को सत्यानाश की ज्वालाओं से बचाने के लिए, अपनी आत्माहुति दे दी। इसमें गौरव हमारा नहीं, उसका है जिसने हमारे पशु को झेला, सहा और दुलारा है। माँ की जाति सदा से यही करती आयी है।. . हम सबकी होने के लिए अम्बा, एक दिन आम्रवन में आकाश से टपक पड़ी थी। अमातृ-पितृजात, कुल, गोत्र, नाम से परे, बस निरी अम्बा !'

'तो जगदम्बा के दर्शन करने ही सही, एक बार वैशाली आओ, काश्यप !'

'मॉं बुलायेगी तो जरूर आऊँगा। वर्ना जहॉं भी हूँ, वही से उनकी करुण मुखश्री को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। मै उनसे जरा भी दूर नहीं हूँ। ऑंखों से नहीं, अन्तर से ही उनका दर्शन किया जा सकता है।. . लिच्छवि-कुमारों से एक ही अनुरोध है आज मेरा, तुम्हारे काम की तरंग इतनी, इतनी उद्दाम हो, कि पूर्णकाम होकर ही चैन पाये। आम्रपाली तब तुम में से हरेक की बहुत अपनी होगी। वैशाली का सारा सुवर्ण-रत्न तब उसकी चरण-धूलि होकर रहेगा। और उसकी ऑंखों की

ममता तुम सबकी राह में बिछी होगी। . . पर जानता हूँ, यह नहीं होगा। . . हो सका तो किसी दिन इतना समर्थ होकर वैशाली आऊँगा, कि तुम मेरी बात टाल न सको !'

सारे लिच्छवि युवा, सर झुकाये चुप हो रहे। मदिरा की झारियाँ और चषक मुँह ताक रहे थे उनका।

मैं सहसा ही उठ खड़ा हुआ। सबका अभिवादन कर विदा हो लिया। छोटे अकम्पन मामा गले में हाथ डाल कर बोले : 'वर्द्धमान, कौशाम्बी की कुमारिकाएँ आज नृत्य करेंगी ? रंगशाला में नहीं चलोगे . . ?'

मैंने हँस कर कहा : 'अब तो अपने ही अन्तःपुर की बाला के पास लौटना चाहता हूँ, मामा। फिर किसी दिन आऊँगा . . !'

मामा खिलखिलाकर मेरी जाती पीठ हेरते रह गये।

प्रथम लोक-यात्रा

प्रियकारिणी त्रिशला देवी सबकी मनभावनी हैं। सारे भरत-खण्ड के शीर्षस्थ राज-अन्तःपुरों में उनकी बुआएँ, बहनें और भतीजियाँ बैठी हैं। सबकी सब इस मेले में आयी हैं। और वे उनसे इतनी घिरी हैं कि मैं स्वतंत्र छूट गया हूँ। पर उनके आदेश तले मेरी साज-सँभाल, जतन-उपचार में कोई कमी नहीं आ पायी है। कमी मेरी ही ओर से है, कि डेरे में मेरी सेवा के वे सारे स्नेहायोजन मुँह ताकते खड़े रह जाते हैं। उन्हें झेलने को वहाँ कोई नहीं होता। . . महार्घ शैया की हिमोज्ज्वल चाँदनी अछूती ही रह जाती है। इन देवोपम भोगों का भोक्ता ऐसा अभागा है, कि उन्हें भोगने को वह कभी उपस्थित ही नहीं रहता। जाने कहाँ भागा फिरता है।

इस मेले मे आकर लोक-जीवन की यह गंगा-जमुनी धारा जब से देखी है, मेरी चेतना केन्द्र में बन्दी नहीं रह पायी है। वर्तुल है, विस्तार है, तभी तो केन्द्र की सार्थकता है। विश्व-तत्व की जिज्ञासा ही अब तक मन में सर्वोपरि रही है। पर विश्व के विस्तार और वैविध्य से कट कर क्या तत्व अपने आप में ही कूटस्थ रह सकता है ? नहीं, वह वस्तु-स्वरूप नहीं। वह सत्य नहीं। सत्ता परिणामी है, निरन्तर उसमें परिणाम उत्पन्न हो रहे हैं। वह ध्रुव और प्रवाही एक साथ है। परिणमन, परिणमन, परिणमन . . यही क्या मेरा और सर्व का स्वभाव नहीं ? परिणमन है कि लोक का विस्तार संभव है, जीवन की लीला संभव है। जीवन . . जीवन . . जीवन . . अनन्त जीवन, अविनाशी जीवन : और उसका ज्ञाता, द्रष्टा, स्रष्टा, भोक्ता मैं : अनन्त अविनाशी पुरुष, जीवनेश्वर, जिनेश्वर !

पिप्पली-कानन के मेले में समग्र लोकात्मा का दर्शन हुआ। लोक से मिलन हुआ। दिगन्तों तक फैली जनगण की जीवन धाराएँ मुझे बेतहाशा खींचने लगीं। मनुष्य : मानव की अनादिकालीन परम्परा। उसके संघर्षों और विजयों की अन्तहीन गाथा। मनुष्य से बढ़कर कुछ नहीं। मृत्यु की मझधारा में जो जीवन का महोत्सव रचता है। काल के कराल पाशों में, जो मुक्ति का खेल खेलता

है। स्वर्ग और तैतीस कोटि देवता जिसके लहूलुहान, सर्वजयी चरणों पर झुकते है। . .

मनुष्य की पुकार ने एक अपूर्व संवेदन से मुझे ऊष्माविल कर दिया। अपने ही गर्म रक्त की धारा को, पृथ्वी के आरपार बहते देखना चाहता हूँ। उसमें खुल कर अवगाहना और तैरना चाहता हूँ।

. . और मैं लोक-यात्रा पर निकल पड़ा। आसपास के ग्रामों और सन्निवेशों में तो रथ पर ही चला जाता था। पर सीमा और योजना से चलना मेरा स्वभाव नहीं। एक महायोजना मेरे भीतर से आपोआप प्रकाशित हो रही है; और मेरे पगतलों में चक्रवर्ती का चक्रचिन्ह है या नहीं, सो तो नैमित्तिक जानें, पर चंक्रमण करते ही मेरे चरण मातृगर्भ से बाहर आये हैं। यह मैं जानता हूँ। सो रथ की क्या बिसात। मेरा सैन्धवी अश्व 'पवमान' ही इन दिनों मेरा एकमात्र संगी हो गया है। उसकी छलाँगों और टापों पर ही, जैसे मेरी यात्रा के भूगोल अपने आप खुलते चले जा रहे हैं। सुदूर उत्तर के इस छोर से, दक्षिण मे सुवर्ण-रेखा नदी को पार कर, सिंहभूमि तक यात्रा हुई है। पूर्व में चम्पा के महारण्य को पार कर, विक्रमशिला के अंचलों में होकर, महानन्दा के तटों मे विचरा हूँ। पश्चिम में केसपुत्त, कपासिय-वन होते हुए कर्मनाशा की प्रचण्ड लहरों पर घोड़ा फेंका है।

नगरों से विशेष आकृष्ट न हो सका। ग्रामों के प्रागण ही मुझे अधिक खीचते है। वहाँ निरावरण नग्न भूमि है। माँ के आँचल हैं। दूध और धान्यों से उफनाते हुए। वहाँ माटी भींजकर गर्भवती होती है। उसमें अंकुर फूटते हैं। जीवन के सोते लरजते है। सृष्टि की उत्पत्ति के वे उत्स है। उत्पादन की वह यज्ञभूमि है।

कृषकों के आँगनों मे अतिथि हुआ हूँ। अपनी भूमि के वे स्वामी हैं, पर उपज के नहीं। क्योंकि वाणिज्य की चतुराई से वे भिज्ञ नहीं। उनके श्रेणिक-जेट्ठ उनकी उपज को एकत्रित कर, वणिकों के सार्थवाहों को बेचते हैं। बदले में जो भी कार्षापण मिल जायें, उन्हीं से जीवन-साधन पा लेते हैं। थोड़ा पाकर ही संतुष्ट हो जाते हैं। अभाव नहीं, पर स्वभाव से ही दीन हो गये है वे। क्योंकि वे श्रमिक है, भोक्ता नही। भोक्ता हैं, चम्पा, राजगृही और वैशाली के वे श्रेष्ठि, जो उनकी धान्य-बालियों में से सुवर्ण-मुद्राएँ निकाल कर, अपने तहखानों और भवनों में सुवर्ण-रत्नों के कोष जमा करते हैं। भोक्ता है वे राजा, भूदेव और गण-राजा जो भूमि के श्रेष्ठ फलों से अपने वैभव-विलास की मदिराएँ खींचते हैं। कृषक-ग्राम में एक कृषक के आँगन मे अतिथि हुआ था। महर्घिक वसन-अलंकार धारण नहीं करता हूँ। उन्हीं की तरह काष्ठ-पादुकाएँ पहनता हूँ। पर मेरा स्वरूप धोखा दे जाता है। सो कृषक परिवार देखकर ही, सम्भ्रमित चकित हो रहा। अपने सामने उनका यों छोटे पड़ जाना मुझे रुचा नहीं। नवल धान्य की-सी कोमल, लाल मोटी ओढ़नी ओढ़े एक कुमारिका ने मुझे दूध और भात का भोजन कदली-पत्र पर परोसा। मैंने कहा :

'भन्ते कुमारी, तुम्हारा गन्धशालि मधुपर्क है। तुम्हारा दूध अमृत है।'

कृषक-बाला लज्जा से मूक, नम्रीभूत हो रही। कृषक आकिंचन्य से कातर हो आया।

'हम भन्ते कैसे, महाभाग ! हम लघुजनों को लज्जित न करें, भन्ते। आप आर्य हैं, प्रभु, क्षत्रिय हैं। हम भूमिहार अनार्य हैं। हम प्रजा हैं, आप प्रजापति !'

'पति यहाँ कोई किसी का नहीं, भन्ते कृषक। हम सब अपने-अपने पति हैं। और प्रजापति हम नहीं, तुम हो। क्योंकि तुम्हारे श्रम के वीर्य से धरित्री गर्भ धारण करती है। तुमसे उत्पन्न धान्य

से प्रजाएँ जन्म लेती हैं, जीती हैं। आर्य और क्षत्रिय वंश से नहीं, कर्म से होते हैं, भन्ते कृषक ! जो अर्जन करे, वही आर्य। जो प्रजाओं को जीवन दे, वही क्षत्रिय। तुम्हीं सच्चे आर्य हो, क्षत्रिय हो, प्रजापति हो, भन्ते कृषक।'

'ये तन्दुल आपके योग्य नहीं देव ! '

'ये गंधशालि हैं, भन्ते कृषक। कुमुद-शालि हैं।'

'यह तो आपके प्रेम की सुगंध है, आर्य। गंधशालि हमारे पास कौन रहने देगा। कुमुद-शालि हमारा खाद्य नहीं। वह तो वैशालकों और मागधों का आहार है . .।'

'तुम उगाते हो, खाते वे हैं ? तुम नहीं ?'

'वह महर्द्धिकों के ही योग्य है, देव। हम उन्हें खिला कर तृप्त होते हैं।'

मैं स्तब्ध और उद्बुद्ध हो रहा। पर कहीं मेरे गहरे में एक ऐसा आघात भी हुआ, जो मेरे हर रक्ताणु को वेध गया।

. . काशी और कौशल के तन्तु-वाय-ग्रामों में गया हूँ। इन वस्त्र-शिल्पियों की कुटीर-उद्योग शालाएँ देखी हैं। इनकी उँगलियों और नखों में विश्वकर्मा बैठे हैं। अंशुकों में ही ये अपने हृदय की समस्त कोमलता बुन देते है। इनकी बुनी मुलायम और महीन मलमलें चाँदनी को मात करती है। पर ये मोटे-झोटे जीर्ण वस्त्र पहने रात-दिन अथक परिश्रम करके अपने ही भीतर से ऊर्णनाभ की तरह वसनों के जाल बुनते चले जाते हैं। इनके द्वारा निर्मित स्वर्णखचित कौशेयों से कौशाम्बी, अवन्ती और वैशाली के राजपुरुष, श्रेष्ठि, सामन्त और सुन्दरियों की विलास-संध्याएँ जगमगाती हैं। इनकी मलमलें पारस्य के उद्यानों, एथेन्स के महलों और नील नदी के तट-कुंजों में विहरते प्रणयीजनों का सम्मोहन-जाल बुनती हैं। एक तन्तुवाय को लक्ष्य कर मैंने कहा :

'देवता, मोटा-झोटा पहन कर, किसके लिए ऐसा दारुण श्रम करते हो ?'

'देवता कहकर हमें लज्जित न करें, देवार्य ! हमीं देवता होंगे, तो हम किसे देवता कह कर धन्य होंगे ?'

'तुम भी देवता ही हो, भन्ते, सो चाहे तो मुझे भी कह लो। परस्पर देवोभव ! हम परस्पर, एक-दूसरे के देव ही हैं, शिल्पी। मै तो केवल विश्वद्रष्टा हो कर रह गया, तुम तो विश्वकर्मा हो। अपनी उँगलियों पर ब्रह्माण्डों के जाल बुनते हो।'

सारे तन्तुवाय चकित-मुग्ध, प्राणिपात में झुक गये। उनका बोल न फूट पाया। उन्होंने एक महार्घ स्वर्णतार कौशेय मुझे भेंट किया। मैंने वह खोल कर उन्हीं सब पर डालते हुए कहा :

'महावीर वर्द्धमान वसन से ऊब गया। वैशाली के राजकुमार को इस क्रीत महार्घता से विरति हो गई है, शिल्पियो ! जिस दिन इनका बुनकर इन्हें धारण करेगा, उसी दिन ये मेरा सम्मान हो सकेंगे।'

'देवार्य . . वैशालीपति ! जय हो, जय हो, धन्य भाग ! हमारे जन्म कृतार्थ हो गये।'

मै एक मुस्कान से उन सब का अभिषेक करता हुआ अपनी राह पर आगे बढ़ गया।

. . दूर से ही दहला देने वाले घनों की आवाजें सुनकर, मैं एक काली धुँआली लगती बस्ती की ओर बढ़ गया। यह कम्मारों का ग्राम था। वे लोह और फौलाद के शिल्पी थे। इनकी विशाल कर्मशाला को देखकर मैं स्तम्भित रह गया। आग की खदानों जैसी वृहदाकार भट्टियों में, कई

लपलपाती जीभों-सी ज्वालाएँ, होमाग्नियों को चुनौती देती-सी उठ रही थीं। कच्ची लोह-चट्टानों को इनमें गला-गला कर, शिलाओं के बड़े-बड़े कुण्डों में ढाला जा रहा था। पर्वतों के वज्र को अपने श्रम की आँच से तपा कर, ये कम्मार उन्हें अपनी भीमाकार निहाइयों, पर बड़े-बड़े घनों से पीटकर पिण्डों और पतरों में मनचाहा गढ़ रहे थे। इनकी रक्तारुण आँखें जैसे चिनगारियों से ही बनी थीं, और इनकी स्वेद से नहायी पट्टेदार भुजाओं में जैसे पर्वतों ने आत्मार्पण कर, काठिन्य और लचाव का एक अद्भुत सम्मिलित स्वरूप उपस्थित किया था। फावड़े-कुदाली, ताने, तीर-कमान, तलवार-भाले, और बल्लमों से लगाकर, महल-भवनों की छतों में लगने वाले बीम, दुर्गों के कपाटों की धुरियाँ और उनके कीलों तथा हाथियों को बाँधने वाली साँकलों तक का निर्माण ये करते हैं। इन्हीं के द्वारा निर्मित शस्त्रास्त्रों तथा दुर्गों के दुर्भेद्य कपाटों के बल पर सम्राटों के साम्राज्य खड़े हैं, और धनकुबेरों के तहखाने सुरक्षित हैं। इन्हीं की ढाली साँकलों में बंध कर अबन्ध्य हस्ती चक्रेश्वरों के गौरवशाली वाहन बनते हैं।

पर नगरों से दूर इन बस्तियों के धुएँ से कलौंछे घरों को, अनेक धातु द्रावक रसायनों की दुर्गन्धित नालियों को भी सहना होता है। पर वज्र के ये शिल्पी शूद्र कहे जाते हैं। भद्र ! आर्यों के महालयों और दुर्गों को देखने तक का इन्हें अवकाश नहीं। फटे-टूटे वस्त्रों और लंगोटियों पर भी इनके काले पथरीले शरीर मानो अहसान करते है।

. . . वर्द्धिक बढ़इयों के ग्रामों का आकर्षण भी कम नही। हिंस्र प्राणियों से भरे दुर्गम अरण्यों को भेद कर, ये अकाट्य पेड़ों के धड़ काट लाते हैं। इनमे से इनके बनाये चक्रों पर, बैलगाडियों से लगा कर सम्राटों के रथ तक पृथ्वी की परकम्मा करते हैं। इनके द्वारा निर्मित शहतीरों, द्वारों, खिड़कियां और रेलिंगों से बने घरों और प्रासादों मे मनुष्य प्रश्रय और सुरक्षा का ऊष्म सुख अनुभव करते हैं। चन्दन, शीशम और महोगानी काष्ठों में ये अपनी कल्पना, कारीगरी और पच्चीकारी से सौन्दर्य के सुरम्य हर्म्य खोल देते है। पर इनके गढ़े रथों पर चढ़ विश्वजय करने वालों, तथा इनकी निर्मित नावों पर चढ़कर देशान्तरों की धन-संपदा बटोरने वाले सार्थवाहों की समाज-व्यवस्था में, ये शूद्र है, समाज के पदतल मे हैं।

. . . राज-नगरों और ग्रामों से ही सटी हुई ऐसी कई वीथियाँ होती हैं, जिनमें ललित शिल्पियों के आवास है। इनमे चित्रकार हैं, मूर्तिकार हैं, स्वर्णकार हैं, रत्न-मीनाकार हैं, हस्तिदन्तकार हैं। इनके द्वारा रचित चित्रपटों से राजकन्याएँ, राजपुत्र, श्रेष्ठि-कन्याएँ, दूर से अनदेखे ही परस्पर एक-दूसरे के सम्मोहन-पाश मे बँध जाते हैं। इनकी सौन्दर्य दृष्टि इतनी पारदर्शी है, कि किसी अन्तःपुरिका के मुख-मण्डल को एक झलक में देखकर ही, अपने चित्रपट में ये उसके असूर्यपश्य अगों के गोपन चिन्ह तक अंकित कर देते हैं। इनके रंगों में मानव-मन के आकाश-विहारी स्वप्न ढलते हैं। इनके द्वारा अंकित भित्ति चित्रों से महालयों में, अपूर्व भाव और कल्पना के सौन्दर्यलोक खुलते हैं। इनके द्वारा शिल्पित मूर्तियों में, पाषाण का काठिन्य, सुन्दरियों के ओष्ट-कमल, उरोज-मंडल और उरुओं का मार्दव बनकर, मनुष्य की मार्दव-चेतना को लोकोत्तर बना देता है।

इन स्वर्णकारों और रत्न-शिल्पियों के द्वारा तराशित, आकृत, रचित, खचित आभरणों, मुकुट-कुण्डलों, मणि-दर्पणों, रत्नहारों और कक्ष-वातायनों में मनुष्य की सौन्दर्य-चेतना दिव्य

और अलौकिक के राज्य में अतिक्रान्त हो जाती है। इन हस्तिदन्तकारों द्वारा निर्मित वीणाएँ दुर्मत्त मातंगों, व्याघ्रों और दुर्जेय सुन्दरियों के मनों को वशीभूत कर लेती हैं। सम्राटों, श्रेष्ठियों, श्रीमन्तों और अभिजातों के ऐश्वर्य-स्वप्नों को ये रूपायित करते हैं। उनकी कल्पना में भी न आ सके, ऐसे सौन्दर्य के अब तक अचिन्त्य, अभावित प्रदेशों के द्वार अपनी ललित कलाओं में ये अपनी अपूर्व कल्पना-शक्ति से मुक्त कर देते हैं। ये रक्त-मांस और दुर्गन्धित हाड़-चाम, श्लेष्म-मल से भरे मर्त्य नर-नारी के तन-मन और चेतन को अगम्य वैभव-विलास की अमरावती में अमरता का स्पर्श-बोध करा देते हैं। दिव्य रूपान्तरों के ये स्वप्न-स्रष्टा कलाकार सेवक-वर्गी हैं, संपन्नों, समर्थों, राजेश्वरों और राजेश्वरियों के पौर-द्वार पर अपने अस्तित्व-साधन के याचक हैं। साधारण प्राणिक वृत्तियों और मनोवासना से मनुष्य को महाभाव के रस-राज्य तक उठा देने की प्रतिभा-शक्ति के धनी ये कलाकार अपने अन्नदाताओं की निगाह में निरे कारीगर हैं; रत्न-निधियों के स्वामी अभिजात वर्ग के ये कृपापात्र हैं, राज्याश्रयी हैं।

. . मैंने गायकों, वादकों, नर्तकों की वसतिकाएँ भी देखी हैं। मनुष्य के भावराज्य में ये सौन्दर्य, रति, काम, प्रीति, प्रकृति, ऋतुबोध, वातावरण, ऐन्द्रिक संवेदन और अनुभूतियों की सूक्ष्मतम लीला-तरंग उठाते हैं। अपनी नाद-सिद्धि से ऋत-चक्र तक बदल देते हैं। अपने रागों से त्रिलोक को सन्मोहित कर लेते हैं। अपनी मान्त्रिक स्वर-सिद्धि से एक ही क्षण में भोग और योग की संयुक्त सुखानुभूति करा देते हैं। दूरियों मे रहकर भी असूर्यपश्या अन्तःपुरिकाओं के तन-मनों को अपनी सारस्वत मोहिनी से विकल कर देते हैं। राजबालाओं के अंगुलि-पोरों में अपने एक तंतु-दबाव से संवेदन और सौन्दर्य की नई रक्त लहर दौड़ा देते हैं, नया रोमांचन सिहरा देते हैं। मानवीय सवेदन के ये तांत्रिक, सिहासनों और भद्रासनों के पादप्रान्तों में कीर्ति, गुण-ग्राहकता और सुवर्ण-मुद्राओं की साँकलें तोड़ देने के संघर्ष मे ही दम तोड़ देते हैं।

. . मैं सुवर्ण भूमि और चम्पा के विस्तृत नदी-तटों मे बसे मल्लाहों और धीवरों के ग्रामों मे भी घूमा। ये सुदूर यवन देशों, पूर्वीय महादेशों, नील और पारस्य के पण्यों से, आर्यावर्त के महाराज्यों में, अपनी नावों और पोतों पर लादकर महामूल्य वस्तु-सम्पदाओं और सुख-सामग्रियों का आयात-निर्यात करते हैं। इनके जल-विजयी अभियानों पर ही विश्व के वाणिज्य और राज्यत्व के उत्तुंग प्रासाद खड़े हैं। इन्ही की बदौलत सुलेमान की सुवर्ण-खदानों के सुवर्ण से मगध और अवन्ती की पट्ट-महिषियों की करधौनियाँ गढ़ी जाती है। दुर्दान्त मगर, मत्स्यों को विदीर्ण कर उनके हृदयों मे गोपित अमूल्य मुक्ताफल और मणियाँ निकाल कर, ये उन्हे पृथ्वीनाथों को अर्पण करके ही संतुष्ट हो लेते हैं। बदले मे कुछ सुवर्ण मुद्राएं कम नहीं लगतीं इन्हे। अथाह समुद्रों और नदी-तलों मे गोते लगा कर, ये मुक्ताफलों से भरी सीपियाँ निकाल लाते है। इनके भुज-दण्डों के पट्टों पर ही भृगुकच्छ, माहिष्मती, अवन्ती और चम्पा के वाणिज्यवाही नदी घाट और समुद्रपत्तन गर्व से इठला रहे हैं।

. . ये धीवर, ये मल्लाह समाज के पादवर्गीय शूद्र हैं। अंत्यज हैं। पौरव कुल की आद्या माता केवल स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी ही नहीं थी। आर्यों की सरस्वती और संस्कृति के उद्गम-पुरुष भगवान कृष्ण द्वैपायन व्यास की जननी धीवर कन्या मत्स्यगन्धा के गर्भ से ही महाभारतों की वंशवेली पुनरुज्जीवित और पल्लवित हुई थी। महाभारत की उसी आद्या जनेता के वंशज हैं ये

धीवर, ये मल्लाह। रक्त-शुद्धि के अभिमानी आर्य अपनी उस माँ को भूल कर, उसके रक्त-बीज को पददलित करने में किंचित भी लज्जित नहीं हैं। आर्यों की समाज व्यवस्था में ये आज भी अन्त्यज ही बने हुए है।

. . लोकालय से बहुत दूर, मैं चर्मकारों के ग्रामों मे भी गया। मृत और आखेटित वन्य पशुओं और जलचरों की लाशों को लाकर, निर्वेद भाव से उनके दुर्गन्धित अस्थि-मांस औ अंतड़ियों को निकाल कर, ये तरह-तरह के चर्मों को शोधते और कमाते हैं। उनसे ढाले, चड़से, मशके तथा नक्काड़ों, ढोलों, मृदंगों के पृष्ठ और अनेक प्रकार के थैले, आर्य ऋषियों के लिए व्याघ्रचर्म और मृगचर्म के आसन प्रस्तुत करते हैं। मृदु लोमश शशकों और मृगों की त्वचा के सुन्दर उपानह बनाते है। स्वर्णतारों, महार्घ मखमलों और ऊर्नों में स्वर्णतारों और रेशम से बूटेकारी करके राजसी उपानह प्रस्तुत करते है। इनके बनाये उपानहों से, यवनों और पारस्यों तक के उद्यानों और महलों की मर्मर सीढ़ियों पर उतरते, राज-कन्याओं और रानियों के गौर-गुलाबी चरण-तल अभिनव शोभा से दीपित होते हैं। ऐसे कि मानो भारत का हस्त-शिल्प समुद्रों की लहरों पर मीनाकारी कर रहा हो। पर ऐसी शोभा के शिल्पी ये चर्मकार, अपनी मातृभूमि में गर्हित चाण्डाल कहे जाते है। इन महार्घ उपानहों के निर्माताओं को, उनके समाजविधाताओं ने उपानह धारण करने के अधिकार तक से वंचित रक्खा है। नंगे पैर चलना ही उनके इस कारु-शिल्प का वंशानुगत पुरस्कार है।

और मैंने नगर-ग्रामों से और भी परे हट कर उन आखेटकों, बूचड़ों के पुरवे भी देखे, जो अपने जिह्वा-लोलुप ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य महाजनों की स्वाद लिप्सा को तुष्ट करने के लिए घने जंगलों मे प्राणों की बाजी लगा कर प्राणियों का आखेट करते हैं। इनके दिव्य यज्ञों के लिए पशु जुटाते है। इनके लिए नव-नूतन मांस की थाली संजोते है। ये चाण्डालों मे भी निम्नतर कोटि के चाण्डाल कहे जाते है। सवर्णी आर्य इनका मुंह तक देखने से परहेज करते हैं।

. . मैंने एक नदी-तट पर उनकी एक उजड़ती बस्ती को देखा। दीन-दरिद्र चाण्डाल राज्याधिकारी के चाबुकों की मार तले, दौड़-धूप कर, अपने नाकुछ सामान उठा-उठा कर अपनी बैलगाड़ियों मे लाद रहे थे। पूछने पर पता चला कि एक चाण्डाल ने अपना दातुन नदी में फैंक दिया था, वह नदी की धारा मे आगे कहीं स्नान करते एक ब्राह्मण की शिखा में उलझ गया। सो सारा ब्राह्मणत्व कुपित होकर इस चाण्डाल बस्ती को भस्म करने पर तुल गया। राज्याधिकारियों ने किसी तरह, भूदेवों को शान्त कर, रातोंरात इन कसाइयों को नदी से बहुत दूर, अरण्य में स्थानान्तर करने को विवश किया।

. क्या इन्हीं चण्ड-कर्मियों, कम्मकरों, श्रमिकों, कृषकों, शिल्पियों की हड्डियों पर आर्यावर्त की लोकविश्रुत सभ्यता-संस्कृति, धर्म, ज्ञान और वैभव का यह स्वर्णचूड़ प्रासाद नहीं खड़ा हुआ है? अपने शिल्प-विज्ञानों के देवता ऋभुओं, विश्वकर्माओं और अश्वनिकुमारों की ये आर्य क्या मात्र हवाई पूजा ही करते हैं? उन देवताओं के उत्तराधिकारियों को ये धर्मान्ध और स्वार्थान्ध आर्य अपनी चरण-धूलि बना कर रखते हैं। इनका मुँह नहीं देखते, इनकी छाया से बचते हैं। उनके जनपदों और पौरद्वारों में इनका प्रवेश निषिद्ध है। भद्र आर्यों के गुरुकुलों और शालाओं में, तक्षशिला, और वाराणसी के विश्वविद्यालयों मे शिक्षा पाने का अधिकार इन्हें नहीं।

पीढ़ी-दर-पीढ़ी इनकी सन्तानों को अशिक्षित और अज्ञानी रख कर, आत्म-दैन्य, दारिद्रय और आत्महीनता का भाव इनकी मज्जाओं में बद्धमूल कर दिया गया है। कार्षापण, दम्भ और वस्त्र-धान्य का अभाव इन्हें नहीं। पर इन्हें आत्मभाव और मानुषिक गौरव से सदा के लिए वंचित कर दिया गया है।

पूरे आर्यावर्त में केवल दस प्रतिशत लोग अभिजात, कुलीन आर्य है, शेष अस्सी प्रतिशत प्रजा ग्राम्य है, श्रमिक है, सेवक है, दास है, पददलित और त्यक्त है। जहाँ कोटि-कोटि प्रजाओं की समूची जातियों और पीढ़ियों, शताब्दियों से अभिजात वर्गीय भद्रों द्वारा शोषित, निर्दलित और पीड़ित है, वहाँ के धर्म, तप, ज्ञान और दर्शन को जीवित कैसे मानूँ? क्या यह धर्म, ज्ञान और अध्यात्म, शोषक और अवकाशजीवी आर्यों का निपट बौद्धिक विलास ही नही है? धर्म और जीवन मे एकता नही है। समत्व और सम्यक्त्व भीतर है, तो बाहर के जीवन और समाज मे वह प्रकट क्यों नही होता? वह धर्म मृतक के क्रियाकाण्ड के समान है, जो जीवन में प्रकाशित नहीं, मानव-सम्बन्धों मे व्याप्त नहीं होता।

'जीवो जीवस्य जीवनं' की जंगी चेतना से वे महाजन और ऋषि-वंश क्या तनिक भी ऊपर उठ सके है? क्या पशु-जगत और बर्बरों की बालात्कारी शक्तिमत्ता ही, आज भी उनकी धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था के मूल मे अक्षुण्ण रूप से जीवित नही है!

सहस्राब्दियों के दौरान जाने कितने ही मनु और कुलकर आये। कर्मभूमि के आदिब्रह्मा तीर्थंकर ऋषभदेव ने भोगयुग की मोहान्ध तिमिर-रात्रि को समाप्त कर कर्म, शिल्प, तप और ज्ञान की पुरुषार्थी सस्कृति का शलाका न्यास किया। उनके पदानुसरण मे युग-युगान्तरों मे कितने ही तीर्थंकरों और शलाका-पुरुषों ने, अभी कल के महाश्रमण पार्श्वनाथ तक, सत्य, अहिसा, अचौर्य, अपरिग्रह के चातुर्याम धर्म पर, बारम्बार मानव कुलों को प्रतिष्ठित करने का महाप्रयत्न किया।

पर देख रहा हूँ, कुत्ते की दुम वहीं की वहीं पर है। बारम्बार ज्ञान जब निरा बुद्धि-मानसिक विलास बना और वह बलवानों के प्रमत्त शोषण का हथियार बना, तो लोकशीर्ष पर महासूर्यों की तरह उदय होकर, कई महाश्रमणों ने श्रम और आत्मत्याग द्वारा, ज्ञान और प्रतिपल जीवनाचरण मे उतारने का महाप्रयास किया। कैवल्य, मोक्ष, धर्म और तीर्थंकरों की जयजयकारों से आकाश थर्राये। पर लोक-जीवन की धारा मे श्रमणों की आचारसहिताएँ भी, निपट रूढ़ि-पालन होकर रह गयी।

महाश्रमण पार्श्व को हुए अभी कुल ढाई सौ वर्ष बीते। कहाँ गया उनका धर्म चक्र प्रवर्तन। केवल कुछ चैत्यों मे, अरिहन्तों की रत्न-प्रतिमाओं मे जड़ीभूत होकर रह गया। बेशक वैशाली के चूड़ामणि लोकतंत्र मे उनके श्रमण-धर्म की जय-पताकाएँ आज भी उड़ रही हैं। अवन्ती, कोशाम्बी, काशी-कोशल, चम्पा और मगध के जनपदों मे अभी भी उनके अर्हत-मार्ग को अनेक स्वच्छन्द रूप देकर, कितने ही स्वनाम-धन्य तीर्थक् विचर रहे है। अनेक योद्धा, सामन्त, राजकुल और श्रेष्ठिकुल उनके जिन-शासन के अनुयायी हैं। पर उनके बताये अणुव्रतों और महाव्रतों के थोथे आचार-पालन के सिवाय, क्या उनके उज्ज्वल आत्मधर्म का आज के जीवन से कोई संबंध शेष रह गया है?

यदि वह श्रमण-धर्म उनके मुनि-संघों और श्रावकों मे जीवित होता, तो क्या वर्तमान

आर्यावर्त के पाँच पाँच महाराज्यों मे जिनेन्द्र-कन्याओं के महारानियाँ होते, यहाँ की समाज-व्यवस्था ऐसी बलात्कारी रह सकती थी ?

क्या धर्म केवल निजी और वैयक्तिक वस्तु है ? क्या वह निरे वैयक्तिक मोक्ष मार्ग का साधक है ? क्या परिवेश और समाज-समुदाय से उसका कोई सबध नही ? सत्य, अहिसा, अचौर्य और अपरिग्रह का आचार धर्म क्या मूलत ही विश्व-सापेक्ष और समाज-सापेक्ष नही है ? क्या परिवेशगत चराचर सृष्टि और जनसमुदाय के साथ का व्यक्ति का सबध-व्यवहार ही, उक्त धर्माचरणों की कसौटी नही है ? क्या आत्म शुद्धि, आत्मज्ञान और मोक्ष निरी व्यक्ति मे बन्द वस्तुए है ? ऐसा होता तो सर्व लोकाभ्युदय के लिए क्यों बार बार तीर्थंकर जन्म लेते ?

नही, आत्मधर्म को मै लोक धर्म से यों विच्छिन्न करके नही देख सकता । वह सम्यक् दर्शन नही, स्वार्थी मिथ्यादर्शन है । व्यक्ति मे अर्हत् तत्व प्रकाशित होगा, तो समाज मे उसकी **वात्सल्यभावी** पुण्य प्रभा सचरित होगी ही । मुमुक्षु का मोक्ष मार्ग, निखिल चराचर के मगल-कल्याण के भीतर से ही गया है ।

वैयक्तिक मुक्ति सभव है, तो लोक-मुक्ति भी अनिवार्यत सभव है । जाने क्यों मेरा जी नही मानता, कि ससार को कुत्ते की दुम मान कर, अपने मुक्ति-मार्ग पर अकेला पलायन कर जाऊँ । समग्र लोक-जीवन और निखिल चराचर को निर्ग्रन्थ, मुक्त, सम्वादी, सुन्दर देखने की एक अनिर्वार आत्म वेदना और अभीप्सा मेरे भीतर दिन-रात जल रही है । मै नही मानता कि जो अब तक न हो सका, वह आगे भी न हो सकेगा । मै अनादि अनन्तकालीन जिनेश्वरों और कैवल्य-पुरुषों का वशधर हूँ । जिन तो आत्मजयी और सर्वजयी होते है । वे अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख के अव्याबाध स्वामी होते है । ऐसा क्या है, जो उनके द्वारा साध्य और उपलभ्य न हो ? जिनेश्वर ऐसी पराजय कैसे स्वीकारे ?

अर्हत् केवली जिनों से सद्भूत पदार्थ को सीमित, कूटस्थ नही देखा, नही जाना । अपनी कैवल्य ज्योति मे उन्होंने सत्ता को, पदार्थ को, अनन्त गुण-पर्याय वाला साक्षात् किया है । यदि पदार्थ अनन्त गुण-पर्याय सभावी है, तो विश्व तत्व अनन्त सभावी है ही । तब, जो अब तक न हुआ, वह आगे भी न होगा, यह कथन मुझे जिन-शासन के विरुद्ध लगता है । .

सत्ता परम स्वतत्र है । द्रव्य परम स्वतत्र है । सो मेरी आत्मा भी परम स्वतत्र है । तब मेरा आत्मज्ञान किसी परम्परागत शास्त्र या शास्त्र-कथन के प्रति प्रतिबद्ध नही हो सकता । मै अपनी सर्वथा मुक्त अन्तर्वेदना, जिज्ञासा, मुमुक्षा और अभीप्सा की ज्वाला के भीतर से गुजर कर ही, अपने आत्म-स्वरूप का स्वतत्र साक्षात्कार करूँगा । और उसी के प्रकाश मे विश्व-तत्व को जान कर, निखिल, विश्व के साथ एक अटूट सम्वादिता का सबध स्थापित करूँगा । उसके बिना सत्य, अहिसा, अचौर्य, अपरिग्रह की कोई सार्थकता मुझे नही दीखती ।

अपने आत्मिक मुक्तिमार्ग मे मै लोक से पलायन नही करूँगा । आत्म-मुक्ति और लोक मुक्ति के बीच मेरे धर्म-शासन मे अविनाभावी सबध रहेगा । इसके लिए आवश्यक हुआ तो मै ऐसी निदारुण और दुर्दान्त तपश्चर्या करूँगा, जैसी इससे पूर्व शायद किसी पुरुष-पुगव ने न की होगी । क्योंकि मेरा मोक्षकाम, लोक के एक-एक जीवाणु और परमाणु के परिणमन के साथ जुड़ा हुआ है । मै ऐसी आत्माहूतिनी तपस्या करूँगा कि निखिल चराचर महासत्ता के साथ तदाकार और

एकाकार हो रहूँगा। तब जो ज्ञान-ज्योति मेरे भीतर से प्रकट होगी, वह केवल आत्मप्रकाशिनी नहीं, सर्वप्रकाशिनी होगी : वह केवल आत्म-सम्वादिनी नहीं, सर्व-सम्वादिनी होगी।

यदि सत् निरन्तर परिणमनशील है, तो प्रगति और विकास है ही। अनन्त प्रगति और विकास साध्य है ही, अपने में भी, और सर्व में भी। वर्तमान समाज-व्यवस्था द्रव्य के इस स्वभावगत प्रगतिशील परिणमन पर आधारित नहीं। पाप और पुण्य की अन्ध भाग्यवादी व्याख्या स्थित-पोषक ब्राह्मणों की देन है। आत्मा यदि कर्म बाँधने को स्वतंत्र है, तो कर्म की निर्जरा करने को और भी अधिक स्वतंत्र है।

मैं अपनी परात्पर कैवल्य-ज्योति से ज्ञान, दर्शन, सर्जन, सत्ता और जीवन का एक नया ध्रुव स्थापित करूँगा। मेरे बाद फिर-फिर यह ज्योति अन्तरालों में लुप्त-गुप्त हो सकती है। पर उत्तरोत्तर ऊर्ध्व से ऊर्ध्वतर ज्ञान-चैतन्य की क्रियाशक्ति को प्रकाशित करने वाले ज्ञान-योगीश्वर और कर्म-योगीश्वर जगत में प्रकट होते जायेंगे। सत्ता अंतिम नहीं, ज्ञान अंतिम नहीं, तो मैं भी अंतिम अर्हत् नहीं। अर्हत् कभी अंतिम नहीं हो सकते।

. . इस लोक-यात्रा और आत्म-मंथन में जाने कब पूरा एक महीना बीत गया, पता ही न चला। कार्तिक पूर्णिमा की पूर्ण चन्द्रोदयी सन्ध्या में जब लौट कर आया तो मेरा अश्व अनायास ही मुझे इक्ष्वाकुओं की कुलदेवी अम्बा के मंदिर की ओर ले गया। जयकारों से व्याकुल जन-गण की भीड़ में प्रवेश कर, मैने भगवती का शत-शत दीप-शिखाओं से आलोकित परम कारुणिक, अति ललित मुखमण्डल देखा।

. . मुझे तो वे अपने से बाहर कोई मिथ्या-पूजित देवता नहीं लगीं। मेरा समस्त चैतन्य एक अभिन्न आत्मभाव से उनकी ओर उमड़ पड़ा। वे परम ललितेश्वरी माँ, और कोई नहीं, मेरी ही आत्म-शक्ति का एक त्रिभुवन-मोहन रूप-विग्रह है। मेरी भगवती आत्मा ही उन परमा सुन्दरी माँ के रूप में वहाँ विराजमान दीखीं।

. . सहसा ही मेरे भीतर एक अगम्य रहस्य का अवगुण्ठन-सा उठ गया। ज्वलन्त अनुभूति हुई कि मेरी आत्मा का लोकात्मा के साथ, एक निगूढ़ सक्रिय योग-मिलन घटित हुआ है। . . बाहर निकल कर देखा, माँ के प्रांगण में जनगण के सहस्रों नर-नारियों का समुदाय कई विशाल वर्तुलों में, मण्डलाकार नृत्यगान कर रहा है। जगद्धात्री की पूजा का यह पवित्र नृत्योत्सव था। दिगन्तों तक व्याप्त पूर्ण चन्द्रमंडल की चाँदनी में, नृत्यगान लीन लोक-सुन्दरियों के इस आनन्दोत्सव को देखा, तो आर्यावर्त के अभिजात राजवंशियों का वह उस रात देखा शरदोत्सव मुझे कितना छूंछा और निष्प्राण लगा।

• • •

अगले दिन कुण्डपुर लौटते हुए जान-बूझकर मैंने माँ के रथ में ही यात्रा करने का निश्चय कर लिया था। पूछताछ उन्होंने विशेष कोई नहीं की। इतना ही अनुनय भरे कण्ठ से बोलीं : 'मान, दूर-दूर से सारे ही परिजन-आत्मीय आये थे। तेरी सारी ही मौसियाँ और बहनें आई थीं। सब तुझसे मिलने को यों उत्कंठित थीं, कि मानो देव-दर्शन को आई हों तेरे डेरे पर। किन्तु तुझे वहाँ

कभी उपस्थित न पाकर सब बहुत खिन्न और हताश लौट गईं। . . जो तुझे अच्छा लगे, वही कर। मैं तो कुछ कहूँगी नहीं . . ।' माँ के स्वर में करुणा-कातर विवशता थी।

. . मै मौन, निश्चल, आत्म-भावित हो उनके समग्र मार्दव को आत्मसात् करता रहा।

हम परस्पर प्रतिबिम्बित से, निर्वाक् ही योजनों में यात्रा करते चले गये। साँझं ढलती बेला में, गंडकी तट के एक एकान्त आम्रवन की पीठिका में, पूरे आम्रकानन को आयत्त करता हुआ, प्रतिपदा का विशाल सुवर्णाभ चन्द्र-मण्डल उदय हो रहा था। पूरे वन को वलयित करता ऐसा विराट् चन्द्रोदय इससे पूर्व मैंने कभी नहीं देखा था।उसके उस पीत-कोमल आभा-वलय में मैंने अपने को माँ के साथ युगलित पाया।

. . एकाएक माँ ने मेरे कन्धे पर हाथ रख दिया। उनके कंकण मे नारी माँ की अंतिम ममता रणकार उठी। और फिर दो आँखों की गहरी कज्जल कोरे, इस पीली चाँदनी के आलोक में, आरती-सी उजल उटीं।

. . मेरा माथा माँ के वक्ष पर निवेदित हो गया।

. . एकाएक माँ ने मेरे कन्धे पर हाथ रख दिया। उनके कंकण मे नारी माँ की अंतिम ममता रणकार उठी। और फिर दो आँखों की गहरी कज्जल कोरें, इस पीली चाँदनी के आलोक मे, आरती-सी उजल उठी।

. मेरा माथा मॉ के वक्ष पर निवेदित हो गया।

युगावतार का सिंहावलोकन

आज की सुवर्ण उषा में अचानक अपना कोई लोकोत्तर रूप सामने खड़ा देखा। . . जैसे हिमवान की किसी अन्तरित चूड़ा से उतर कर, गंगा की ऊर्जस्वला लहरों पर चल रहा हूँ। और जाने कब सहसा ही अपने को विपुलाचल के सूर्यमण्डलित शिखर पर खड़े पाया। कमर पर दोनों हाथ धरे, लोकाकार दण्डायमान हूँ : और मेरी आँखों के सामने आर्यावर्त की समुद्र-कुन्तला पृथ्वी, निरावरण कुमारिका-सी निवेदित है। सहस्राब्दियों के आरपार मनु-पुत्रों के नख-क्षतों से विदीर्ण उसका वक्षस्थल, एक मानचित्र की तरह मेरे समक्ष खुल रहा है।

पौरुष, सृजन और ज्ञान की असंख्य शलाकाओं ने युगान्तरों मे, उस पर मनमाने नक्शे बनाये। आज फिर एक नक्शा सामने है। पर उसके नीचे, उसका सतीत्व, मुझे आज भी अजित, और अनक्षत दीख रहा है। कि चाहूँ तो मै इस आद्या प्रकृति का अब तक अनावरित कोई नया ही आँचल खसकाऊँ। इसके भीतर अपने परम काम की शलाका से अपनी पूर्णकाम्या को रचूँ, आकृत करूँ। . .

याद आ रहा है, गणनातीत काल में, मनुष्य के किसी आदि प्रात में आदिब्रह्मा ऋषभदेव ने, निरे कामनाजीवी, मरण-धर्मा मानव-युगलों को, भोग-युग की अन्ध कारा से मुक्त करके,

आत्मज्ञानी और आत्म-द्रष्टा पौरुष की दीक्षा प्रदान की थी। प्रकृति के मोहपाश से स्वयं मुक्त होकर, उसके विजेता पुरुष का मोक्ष-मार्ग उन्होंने प्रशस्त किया था। इन्द्रियजय और मनोजय करके, प्रकृति का पूर्णकाम भोक्ता होने की अतिकाम कला उन्होंने मनुष्य को सिखाई थी। धर्म, कर्म, काम और मोक्ष को उन्होंने सम्वादी किया था। कालचक्र के अनेक विप्लवों और मन्वंतरों में उनका वह कर्मयोगी विधान, बारबार प्रलय की लहरों में लीन होकर भी, नव-नूतन स्वरूपों में फिर-फिर प्रकट होता रहा। हर बार कोई नये तीर्थंकर आये और काम और कामातीत मुक्ति के समन्वय-स्वर साधे। उत्पाद और व्यय, उत्थान और पतन के इस अनिवार्य द्रव्य-परिणमन में, ध्रुव सत्ता का सूर्य बार-बार ओझल होकर भी, फिर-फिर मनुष्य के ऊर्ध्व चेतना-शीर्ष पर उदय होता रहा। ज्ञान और भाव की अनेक रूपिणी वाणी आलोकित पुरुष ने बारम्बार उच्चरित की।

अब से ढाई हजार वर्ष पूर्व इसी आर्यावर्त के विस्तता तट पर ऋग्वेद के कवि-ऋषियों ने प्रकृति और पदार्थ के अनन्त-विराट स्वरूप का साक्षात्कार किया। आनन्द के महाभाव में तन्मय होकर उन्होंने, एकबारगी ही रूपी और रूपातीत सौन्दर्य की संयुक्ति का गान अपनी ऋचाओं में किया। प्रकृति और सृष्टि की समस्त कामनाकुल लीला में उन्होंने अपने सामगानों द्वारा, महाभाव का अमृत सिंचित किया। पर मन और इन्द्रियों के अलिन्दों में उतरकर वह धारा अखण्ड न रह सकी। क्षुद्र कामना से खंडित होकर, वह मर्त्य माटी का विषय बन गई। तब कृष्ण-यजुर्वेद के मंत्र उच्चरित हुए। 'अग्निमीले पुरोहितं' के गायक, स्वयं अग्नि न रह सके, मात्र उसके विषय-लोलुप याजक हो रहे। आनन्द के आत्महोता यज्ञ, अमृत-स्रवा नहीं रहे। उनमें से अधम इन्द्रिय-लिप्सा और दैहिक बभुक्षा का पशु हुंकारने लगा। मानव के भीतर का लोलुप पशु ही सर्वोपरि हो उठा : यज्ञों के पशुपतिनाथ प्रजापति, स्वयं पशुभक्षी होते दिखाई पड़े। सरस्वती के अंचल में माँ का दूध, अपनी ही सन्ततियों के आत्मभक्षी रुधिर से आक्रन्द कर उठा। यज्ञपुरुष लुप्त हो गये। अग्निहोत्र भ्रष्ट हो गये। परब्रह्म के महाभाव गायक, ऋग्वेद के ऋषि-पुत्र, ब्रह्महंता होकर सर्वभक्षी और सर्वशोषक भोग की संस्कृति का जयगान करने लगे।

. . पर भीतर का स्वभाव से ही ऊर्ध्वचेता पुरुष अन्तिम रूप से सो कैसे मर सकता था। वह फिर जागा : वह फिर आत्म-भावित हुआ। और गंगा-यमुना के मर्कत-प्रच्छाय नैमिषारण्य में आर्य ऋषि फिर से आत्म-साक्षात्कार की गहन समाधियों में ज्योतिर्मान हुए। परात्पर परब्रह्म की द्रष्टा पराविद्या का फिर से आविष्कार हुआ। उपनिषत् के आत्म-ज्ञानी अन्तर्द्रष्टाओं ने, यज्ञ को पाशव लिप्सा से मुक्त कर, आत्मकाम की सिद्धि का प्रतीक बनाया। पर दुर्दान्त पशु सहज ही दमित न हो सका। क्षुधा और काम की कराल डाढ़ों में फिर भी, हिंसा की तांडवी जिह्वा लपलपाती रही। . . देवाहुति, विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य के ज्ञान-सूर्य को बराबर ही पाशव यज्ञों का कालधूम्र प्रच्छन्न करता रहा।

तब शत-सहस्र जिह्वाओं में लपलपाती यज्ञ की उस सर्वग्रासी ज्वाला के शिखर पर उतरे महाश्रमण पार्श्वनाथ। कमठ की अहंग्रस्त तपाग्नि के काष्ठ में से जीवित नाग-युगल प्रकट करके उन्होंने समस्त जम्बूद्वीप को अपने कैवल्य-सूर्य से भास्वर कर दिया। सत्य, अहिंसा, अचौर्य और अपरिग्रह का प्रकृत चतुर्याम धर्म उन्होंने उद्घाटित किया। तमाम सृष्टि के जड़-जंगम प्राणियों ने तीर्थंकर के सर्व-वल्लभ श्रीचरणों में अभय शरण प्राप्त की। उपनिषत् के ऋषियों ने अपने

आत्म-साक्षित ब्रह्मज्ञान को उनमे मूर्तिमान देखा। क्योंकि महाश्रमण पार्श्व ने सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान को प्रतिपल के जीवनाचरण मे जीवन्त किया था। सो ब्रह्मर्षियों ने उन्ही के स्वर मे स्वर मिला कर 'मा हिंस्या ' का मन्त्रोच्चार किया। 'आत्मन प्रतिकूलानि परषान समाचरेत्' का मत्र-दर्शन प्रजा को देकर प्राणिमात्र के लिए मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया।

पर ढाई सौ वर्ष बीते न बीते कि तीर्थंकर पार्श्व की वह कैवल्य-प्रभा फिर अन्तर्धान हो गई। आज फिर मनुज पर दनुज की विजय-भेरी बज रही है। पश्चिमाचल के आर्य ब्राह्मण फिर उद्दण्ड हो उठे है। पार्श्व की कैवल्य ज्योति के अस्तप्राय आलोक की शेष प्रभा केवल इस विपुलाचल के शिखरों पर स्तभित होकर रह गई है। और लोकाचल मे उनका चातुर्याम धर्म-मार्ग कुछ राजकुलों और श्रेष्ठि श्रावकों का मृत और पालतू श्रवकाचार होकर रह गया है। उसम प्राणिमात्र के प्रति आत्मभाव का जीवन्त सवेदन सचरित नही। उनके चैत्यों की रत्न प्रतिमाओं मे तीर्थंकर उनके वभव के बन्दी होकर मात्र उनकी जड चैत्य पूजा के उपकरण हो गये है।

अहिसा और अपरिग्रह के तथाकथित धर्म पालक मगध, अवन्ती और चम्पा के धनकुबेर श्रेष्ठियों के तहखाने मे लोक का तमाम सुवर्ण रत्न सगृहीत है। कोटि कोटि श्रमिक प्रजा इन राजपुरुषों और श्रेष्ठियों द्वारा अपहृत लोक सपदा की क्रीत दास होकर, मजबूरी का जीवन बिता रही है। यह पार्श्व का धर्म-साम्राज्य नही, कुलीन ब्राह्मण-क्षत्रिय और वणिकों का काम साम्राज्य आज के समस्त आर्यावर्त मे व्याप्त है।

एक विचित्र कौतूहल से देख रहा हूँ, कि मेरे ही मातृकुल का रक्त, इस काम साम्राज्य के सिहासनों पर आसीन है। मेरी ही मौसियाँ भारत के तमाम महाराज्यों के अन्त पुरों मे महारानियाँ बनी बैठी है। विश्व विश्रुति वैशाली गणतत्र के गणपति मेरे मातामह चेटकराज की पाच पुत्रियॉ लोक लक्ष्मी के पावन सिहासन को अधिकृत किये है। आचूड आर्यावर्त मे अपना एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित करने के महत्वाकाक्षी महाराज श्रेणिक बिम्बिसार के हृदय कमल पर बैठा है, मेरी परम रूपसी मौसी चेलना। अवन्तिनाथ का वध करके, उनके सिहासन को हथिया लेने वाले, उज्यनीपति चण्डप्रद्योत की पट्टमहिषी बनी है, मेरी मोसी शिवादेवी। समकालीन विश्व की अप्रतिम विलास नगरी कौशाम्बी के अधीश्वर महाराज शतानीक के अक मे आसीन है, मेरी मौसी मृगावती। उन्हीं की कोख से जन्मा, प्रणय और पराक्रम के सहस्र रजनी चरित्रो का नायक, वत्सराज उदयन मेरा मौसेरा भाई है। भारत के पश्चिमी तोरण पर, सिन्धु सौवीर के महाराज उदायन के वाम कक्ष मे सुशोभित है, मेरी मोसी प्रभावती। भारत के पूर्वीय समुद्र तोरण चम्पा मे, अगराज दधिवाहन की महारानी होकर, विराजित है मौसी पद्मावती। दशार्ण देश के अधिपति राजा दशरथ की प्राणेश्वरी है मेरी मौसी सुप्रभा।

मे नही जानता कि इसमे गणतन्त्राधिपति चेटकराज की कोई योजनाबद्ध राजनीति है, या यह मात्र सयोग है। अचरज नही, कि इस तरह वैशाली गणतत्र की स्वातन्त्र्याभिमानिनी बेटियों को अपनी अकशायिनी बना कर, ये राजेश्वर अपने विजय गर्व को तुष्ट करना चाहते हैं। असलियत जो भी हो, किन्तु यह एक प्रकट तथ्य है कि वैशालिकाएँ, इन राजकुलों के भावी सिहासनधरों की माताए बनी बैठी है। यह घटना इतनी उजागर है कि इसे मात्र सयोग कह कर नही टाला जा सकता। सत्ता-सुरक्षा की राजनीति ही मुझे तो इसमे जाने अनजाने सक्रिय दीखती है।

. . बड़ा रोचक है राजचक्र का यह चित्रपट । मेरी आँखों के सामने चतुरंग शतरंज की एक अच्छी खासी बाजी जमी हुई है । हार-जीत, सुरक्षा और अधिकार की यह चक्राकार क्रीड़ा सचमुच देखने लायक है ।

शिशुनागवंशी महाराज बिम्बिसार, मागध बृहद्रथ और जरासंध के बाद, आर्यावर्त में एकराट् साम्राज्य की स्थापना करने का सपना देख रहे हैं । उनकी महत्वाकांक्षा का अन्त नहीं । योद्धा होने के साथ ही, वे प्रेमी भी हैं । दुर्दान्त पौरुष की प्रतिमा होते हुए भी, अन्तःकरण से वे बहुत कोमल और स्त्रैण हैं । भावना, संवेदना, सौन्दर्य-पूजा, स्वप्नशीलता, विलासिता और वीरता का उनमें एक अनोखा संगम है । दर्प और समर्प की ऐसी युति मुश्किल है । एक मृगी की आँख का भोला सौन्दर्य देख कर वे पसीज सकते है : पर अगले ही क्षण उसका आखेट भी कर सकते है । मुग्ध होकर जिसे वे अपना कण्ठ हार बना लें, उसे अगले ही क्षण शूली पर भी चढ़ा सकते हैं ।

श्रेणिक के पिता मगधेश्वर उपश्रेणिक ने उत्तर यौवन मे इस शर्त पर एक भील-कन्या को ब्याहा था कि उसी का पुत्र राजगद्दी का अधिकारी होगा । सौ अवमानित होकर श्रेणिक, निर्वासन मे निकल पड़े । दक्षिणावर्त मे भटकते हुए उन्होंने अपनी पुण्यप्रभा से राजपुरोहित सौमशर्मा की सुन्दरी कन्या नन्दश्री का हृदय जीत कर उसे ब्याह लिया । उसी की कोख से जन्मा है अभय राजकुमार, जो आज बिम्बिसार का निजी मंत्री है और मगध-साम्राज्य का गोपन मंत्रीश्वर है । वैशाली के किसी चित्रकार द्वारा अंकित चेलना के चित्रपट को देखकर, मगधेश्वर की रातें बेचैन हो उठीं । तब कूट-कौशल में दक्ष अभय राजकुमार गुप्त राहों से चेलना तक जा पहुँचे । श्रेणिक का चित्र चेटक-नन्दिनी को दिखाकर उसे मोहाविष्ट कर दिया और उसका हरण कर लाये । चेलना को पट्टमहिषी बना कर बिम्बिसार ने एक साथ, लिच्छवि कुल का मानभंजन और सम्मान किया । महारानी-मौसी चेलना के पद-नख पर वैशाली और मगध की सन्धि ठहरी हुई है । पर मगधेश्वर में सौन्दर्य-लिप्सा और साम्राज्य की जो बराबरी की टक्कर है, उससे मेरी भोली मौसी अनभिज्ञ है ।

सामने फैले नक्शे की तरह जो यह घटना-चक्र देख रहा हूँ, यह मेरी किसी तीसरी ही आँख का खेल है । बचपन से ही पाया है कि जब भी देश-काल मे कुछ जानने की जिज्ञासा बहुत तीव्र हुई, तो मै अवधि बाँध कर, सहज ही उसका ज्ञान कर लेता हूँ । आज वह अवधि-ज्ञान का अन्तर्चक्षु अपलक खुला रह गया है, और मै सहस्राब्दियों से इस क्षण तक के देश, काल, घटना और व्यक्तियों के अन्तस्तलों में झाँक रहा हूँ ।

और उससे स्पष्ट देख रहा हूँ, कि मगधराज श्रेणिक का रक्त एक बार आसमुद्र आर्यावर्त पर अपनी साम्राज्य-पताका फहरायेगा । पर आज का लिप्साग्रस्त और मोहग्रस्त यह राजा, कहीं भीतर मृदु, अकपट, उदार और क्षमाशील है । इसके मार्दव और आर्जव से मै आकृष्ट हूँ । अपनी मोह-रात्रि के छोर पर, उसे आत्मघात करता देख रहा हूँ । . . लेकिन मृत्यु में भी प्रतिक्रमणशील रहेगी उसकी चेतना । . . मागध, वर्द्धमान को तुम्हारी जरूरत है ।

. . देख रहा हूँ, मल्लों की कुशीनारा के उस पार काशी और कोसल का महाराज्य । तक्षशिला का स्नातक प्रसेनजित कोशल के सिंहासन पर बैठा है । उसकी राजधानी श्रावस्ती मे सारे जम्बूद्वीप के राज-पथों, नदी-पथों और समुद्र-पथों को जोड़ने वाला धारा-संगम है । इसी से भरतखण्ड और उससे परे के समुद्रमार्गों से जुड़े ज्ञात-अज्ञात अनेक देशों और द्वीपों के सार्थ

श्रावस्ती के पण्यों में उतरते हैं। इस तरह वर्तमान के तमाम गम्य विश्व की वस्तु-संपदा से श्रावस्ती के पण्य, श्रेष्ठि-महल और राजमहल भरे पड़े है। इसी के राज्य मे रहता है वह महागृहपति श्रेष्ठि अनाथ पिण्डक, जो अपनी सुवर्णराशि से कई राज्यों को खरीद सकता है। ऐसे विपुल वैभव-संपन्न राज्य का स्वामी यह प्रसेनजित, निकम्मा, कामुक और कापुरुष है। पर फिर भी वर्तमान के तीर्थंक और श्रमण उसे पुण्य-पुरुष कहते है।

मल्ल-गण के असाधारण योद्धा युवा बन्दु मल्ल के बल और शस्त्र-कौशल का मल्लों ने उचित सम्मान न किया, तो वह स्वयं ही अपने गण-राज्य से निर्वासित हो गया। यह बन्धु मल्ल तक्षशिला में प्रसेनजित का मित्र और सहपाठी था। स्वदेश-त्याग के बाद जब वह इधर-उधर भटक रहा था, तभी प्रसेनजित ने उसे सम्मानपूर्वक अपने राज्य मे आमंत्रित किया। फिर प्रसेनजित के अनुरोध पर उसने कोसल का सेनापतित्व स्वीकार लिया।

उसी प्रचण्ड योद्धा बन्धु मल्ल के बल पर यह कामान्ध और अकर्मण्य प्रसेनजित भी सम्राटत्व का सपना देख रहा है।

श्रावस्ती की एक मालाकार-कन्या मल्लिका प्रसेनजित का मन हर कर, कोसल की पट्टमहिषी बनी बैठी है। पर शूद्र कुल की यह सेवक-वर्गीय कन्या उच्चात्मा है। काम के इस केलि-सरोवर मे भी वह पवित्र कमला-सी अलिप्त विराजित है। मनुष्य के बाह्य आचरण से ही पूरे मनुष्य का निर्णय संभव नही। विचित्र विरोधी वृत्तियों का समुच्चय होता है मनुष्य। पाप के पंक मे भी जागृत उज्ज्वल आत्मा की चिन्तामणियाँ कहाँ-कहाँ लिपटी पडी है, सो कितने लोग देख पाते है। सम्यक्-चारित्र्य आत्मिक वस्तु है, वह बाह्याचार से बाधित नही। सम्यक्-चारित्र्य आत्म-शुद्धि का परिणाम ही हो सकता है। बाहरी प्रवृत्तियों मे न झलकने पर भी, वह ठीक समय आने पर आत्मा को अन्तर्मुहूर्त मात्र मे मुक्ति का अनुभव करा देता है। यह मालाकार-कन्या मल्लिका ऐसी ही है। भव्यात्मा है यह।

कोसलपति प्रसेनजित भी अपने आधिपत्य के शाक्य गणतन्त्र की बेटी ब्याह कर, अपने राज्याभिमान को तुष्ट किया चाहते थे। मातहत शाक्य मना तो नही कर सके, पर उन्होंने चतुराई बरती। उन्होंने महानाम शाक्य की दासी-पुत्री वार्षभ-क्षत्रिया प्रसेनजित को ब्याह दी। शाक्य-पुत्री मे उन्होंने बड़े गौरव के साथ, राजपुत्र विडूडभ को उत्पन्न किया। विडूडभ एक बार मेहमान होकर, अपनी ननिहाल कपिलवस्तु गया। शाक्यों ने ऊपर से भानजे का सम्मान किया, पर उसके जाते ही, दासी-पुत्रीय भागिनेय के स्पर्श से अपवित्र हो गये अपने संथागार को धुलवाया। विडूडभ का एक अंगरक्षक अपना बरछा सथागार में भूल आया था। वह लेने को वह वहाँ गया, तो पाया कि कुछ दासियाँ विडूडभ को गालियाँ देती हुई संथागार को धो रही थीं।. . विडूडभ पर रहस्य खुल गया कि वह शाक्यों की दासी-पुत्री का बेटा है। दोतरफा अपमान की आग में जलते हुए एक ओर तो वह अपने काम-लिप्सु जनक का प्राणद्रोही हो उठा, तो दूसरी ओर उसने कपिलवस्तु को निःशाक्य करने की सत्यानाशी प्रतिज्ञा की है। अपने ओज से दासियों की फसल उगा कर ये गणतंत्री और राजा समान रूप से उन्हे अपने अहंकारों और सत्तामद का पाँसा बनाये हुए हैं। ये अपनी माँओं और प्रियाओं को गोटे बना कर, अपनी राजनीति की शतरंजे खेल रहे है।

. . भुवनमोहन वत्सराज उदयन पर अनुरक्त थी, गान्धारराज-नन्दिनी कलिंगसेना। पर

रूप-ज्वाला के लाचार पतिंगे प्रसेनजित को यह असह्य हो गया। उस गान्धारी के लावण्य से हिन्दूकुश के अधियारे दर्रे और पश्चिमी समुद्र की उत्ताल तरंगें झलमला रही थीं। जम्बूद्वीप के केन्द्रीय राजनगर श्रावस्ती के अधिपति की हर इच्छा पूरी होकर ही रहती है। अपनी विश्व-व्यापारी केन्द्रीय शक्ति और अपने संबंधों के राजनीतिक आतंकों के बल पर, उसने गान्धारराज को विवश कर दिया। और गान्धार की स्वातंत्र्य बलि के रूप मे कलिंगसेना स्वयम्वरिता होकर उन्हे समर्पित हो गयी। गान्धारी का उदात्त प्रेमी अजेय बाहुबलि उदयन, प्रिय के इंगित पर चुप रह गया। कलिंग ने अपने पैत्रिक गणतंत्र की बलिवेदी पर अपने हृदय को चढ़ा दिया। अपनी आत्मा उदयन को सौंप कर, गांधार की उस परम रूपसी राजबाला ने अपनी देह को प्रसेनजित की चरणदासी बना दिया है। इस मोहान्ध नृपति के लिए मेरे मन मे अपार करुणा है। बहुत करुण होगा इस अन्धकार-रात्रि का अन्त ! और गान्धारी के समकक्ष ही मुझे याद आ रही है देवी आम्रपाली। अपने-अपने गणतंत्रों की रक्षावेदी पर उत्सर्गित दो बलि-कन्याएँ।

. . मुझे बहुत प्रिय लगता है, मौसी मृगावती का भुवनमोहन पुत्र उदयन। अवन्तीनाथ चन्द्रप्रद्योत के प्रचण्ड प्रताप की चुनौती पर, वह उज्जयिनी पर धावमान होने को विवश हुआ। अपनी कुजर-विमोहिनी विद्या और अमोघ काम-चितवन के बल पर वह अवन्ति की उर्वशी राजकन्या वासवदत्ता का हरण कर लाया और उसे कोशाम्बी की सिंहासनेश्वरी बना दिया। वासवदत्ता की रूपश्री का गुणगान अन्तरिक्षों के गन्धर्व तक करते है। और उदयन की सगीत मूर्च्छाओं पर किन्नरियॉं मॅंडलाती रहती है। अपनी कुजर-विमोहिनी वीणा के वादन से वह दुर्दान्त हस्तिवनों को कीलित कर देता है। सुनता हूँ, गन्धर्वराज चित्ररथ स्वयं उसका वीणा वादन सुनने आते है, निस्तब्ध रात्रि के मध्य प्रहरों मे। और वासवदत्ता की घोषा-वीणा के साथ जब उदयन अपनी कुजर-विमोहिनी वीणा की युगलबन्दी करता है, तो सृष्टि का कण-कण एक महामिलन के आनन्द मे समाधिस्थ हो जाता है। सौन्दर्य, कला, विद्या, स्वप्न, ज्ञान और भावना का ऐसा समन्वय-पुरुष समकालीन विश्व मे शायद दूसरा नही है। कलाकार है उदयन। वह कविता और स्वप्न को जीता है। इसी से उसके प्रणय और विलास मे भी चिद्‌विलास की तन्मय गहराई और आभा है। भोग मे आचूड डूबा होकर भी, वह सहज ही एक रसयोगी है, भावयोगी है, सौन्दर्य-योगी है। जानता हूँ, उदयन, तुम आओगे एक दिन मेरे पास ! तुम्हारी अविकल्प तन्मयता ने तुम्हे भोग मे ही योग का अनुभव करा दिया है। परापूर्व के राजयोगीश्वर भरत का स्मरण हो आया है। तुम्हारी स्वप्न-नगरी कौशाम्बी मे आऊॅंगा एक दिन। तुम्हारे विलास-कक्ष की शिल्पित शाल-भंजिकाएँ उस क्षण चलायमान हो उठेगी।

और मौसी पद्मावती, सुनो, भले ही पूर्वीय समुद्र की लहरे आज तुम्हारे कमल-रातुल चरणों मे अठखेलियॉं कर रही हों, पर अगराज दधिवाहन की चम्पा के सिन्धु-तोरण पर एक साथ समस्त आर्यावर्त के राजमण्डल की गृद्ध-दृष्टि लगी हुई है। सुनता हूँ, तुम्हारी बेटी और मेरी बहन शीलचंदना कर्पूर-वर्तिका की तरह उज्ज्वल, सुगंधित और पवित्र है। पर मगध की नंगी तलवार उसके कुँवारे सीमन्त पर तुल रही है। काश, चम्पा के अतुल धनशाली निगंठोपासक श्रावक श्रेष्ठि, सारे ससार के रत्न-सुवर्ण से अपने कोषागार न भरते, तो चम्पा में अरिहन्तों का जिन-शासन चिरकाल जीवन्त रह सकता ! उन्होंने धर्म की चिर प्रवाही धारा को ठोस स्वार्थ-शिलाओं से पाट

कर, सारी पृथ्वी पर अपनी सार्थवाह यात्रा का सुदृढ़ पुल चुन दिया है।

मौसी प्रभावती के राजनगर वीतिभय के पत्तनघाट पर सोलोमन की खदानों का सुवर्ण उतरता है। और माहिष्मती और उज्जयिनी के नदी-मार्गों से, वह कौशाम्बी के यमुना तट को धन्य करता हुआ, चम्पा की सदानीरा के पानियों पर झलमलाता हुआ श्रावस्ती, काशी-कौशल, वैशाली तथा मल्लों और शाक्या के सारे गणतत्री गृहपतियों और राज पुरुषों की धुरियों को हिलाता रहता है। और देख रहा हूँ कि अन्तत मगध के प्रचण्ड प्रतापी राजदण्ड के नीचे वह समर्पित हो जाता है। राजगृही के रत्न-सेट्ठियों के कोषागार मे सचित होकर, वह समस्त आर्यावर्त के राज-मुकुट, और महारानियों की कटि मेखलाएँ गढ़ता है।

इन महाराज्यों के सिर पर स्वतत्र हवा की तरह बह रहे नौ गणतत्रों को देख रहा हूँ। शाक्य, भग्ग, बुलिय, कालाम, कोलिय, मल्ल, मौर्य, विदेह और लिच्छवियों को गर्व है कि वे किसी एकराट् राजा के दास नही। कि उनका हर नागरिक उनके राजतत्र के चालक सथागार मे, अपने छन्द (मतदान) द्वारा, शासन के हर मामले और निर्णय मे अपना दखल रखता है। कोई सर्वसत्ताधीश राजा नही, किन्तु वे स्वय अपने भाग्य के निर्णायक है। ये गणतत्र साधारणत अपनी सर्वसामान्य हित रक्षा से प्रेरित होकर ही एकता के सूत्र मे बँधे हुए है। राजेश्वरों को उनकी यान्त्रिक स्वतत्रता असह्य है उसमे इन्हे ईर्ष्या है। वैशाली के गणेश्वर की पॉच बेटियों का पाणिग्रहण करके मानो इन नृपतियों ने अपनी उस ईर्ष्या की जलन को किसी कदर मिटाया है, और अपने नरपतित्व को तृप्त किया है।

पर देखता हू, इन गणतत्रों मे भी पारस्परिक विग्रह दबे छुपे चलते ही रहते है। एक छोटे मे खेत या भू खण्ड को लेकर भी इनके बीच चाहे जब तलवारे तन जाती है। मानुषिक राग-द्वेष जब तक है, तब तक स्वतत्रता का क्या अर्थ रह जाता है ? व्यष्टि अपने भीतर जब तक अपनी कषायों की दास है, तब तक समष्टि की सच्ची स्वतत्रता कैसे प्रकट हो सकती है ? अपने भुजबल और शस्त्रबल से पडोसी को सदा आतकित रख कर जो स्वतत्रता बनी है, वह कब तक टिकी रह सकती है ? कुशीनारा और पावा के मल्ल भी अपने ही मे विभाजित है। लोकमाता अचिरावती नदी का ऑचल, सदा ही अपनी सतानों की परस्पर विग्रही कृपाणों से कॉंपता रहता है। बधुल मल्ल जैसा अचिरा का अजेय विक्रान्त बेटा स्वय मल्लों की ईर्ष्या का ग्रास बना, और आखिर अपने ही स्वजनों की असह्य अवहेलना से आहत होकर स्वेच्छाचारी कोसलेन्द्र का सेनापति हो गया। बेशक इस शर्त पर कि मल्ल गणतत्र के विरुद्ध उसकी तलवार नही उठेगी। इसमे बन्धुल का गौरव अवश्य है। पर मल्ल अपने ही कुलावतस के प्रताप से ईर्ष्या-द्विष्ट हो गये, यह एक कुरूप और कठोर सत्य है।

लिच्छवियों के गणतत्र की गौरव-गाथा तो समुद्रों को पार कर सुदूर पारस्य, मिस्र, महाचीन और यवन देशों तक के आकाशों मे गूँज रही है। वैशाली के सथागार मे उपस्थित होने के लिए जाने कितने ही दूर-देशान्तरों के यात्रियों ने दुर्गम पर्वत और दुस्तर समुद्र लॉघे है। उसके चौराहों और अन्तरायणों मे, पृथ्वी की जाने कितनी ही जातियों के कन्धे टकराते है। उसके पण्यों मे विश्व की दुर्लभतम वस्तु-सपदा बिकने को आती है। ससार के चुनिन्दा पडितों और ज्ञान-धुरन्धरों का सगम उसकी ज्ञान-गोष्ठियों मे होता है। उसके उपवनों और चैत्यों मे विभिन्न धर्मों और मत सम्प्रदायों के

उपदेष्टा तीर्थक मुक्त भाव से विचरते हैं। वे निर्विरोध अपने-अपने मतों का प्रवचन करते हैं।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ की जिनेश्वरी परम्परा का सूर्य लिच्छवियों की वैशाली में ही आज सर्वाधिक उद्योतमान है। उसके संथागार के शिखर पर आदि तीर्थंकर ऋषभ देव के विश्व-धर्म की, वृषभ के चिन्ह से अंकित केशरिया ध्वजा, बड़े गौरव से फहरा रही है। उसकी छाया में संथागार के भीतर उसके गणनायक के सिहासन की पीठिका में सारे ही प्रवर्तमान धर्मों के चिन्ह समन्वित भाव से अंकित हैं। दुर्द्धर्ष तपस्वी, इन्द्रियजेता श्रमणों के विहार और प्रवचन से वैशाली के वन-कानन सदा ही प्रकाशित और आप्लावित होते रहते है। अनेकान्त और अहिसा की कल्याणी धर्मवाणी आज भी वहॉं, दूर-दूर के मानव-कुलों को आकृष्ट करती है। अधिकांश लिच्छवि क्षत्रिय नित्य के आहार-विहार मे भी श्रावक धर्म को आचरित करते हैं। उनकी महारानी-बेटियों ने भारत के पॉंच महाराज्यों मे अरिहन्तों के जिनधर्म की प्रतिष्ठा और प्रस्थापना भी की है।

पर ऐसा लगता है कि यहॉं भी धर्म मात्र जीवन का एक विभाग होकर रह गया है। भवन के कई कक्षों मे, एक वह भी है। फिर चाहे उसे शिखर कक्ष कह लो। श्रावक के नित्य के आवश्यक षट्कर्मों से आगे वह धर्म जाता नहीं दीख रहा। अपने ही धर्म को विश्वधर्म के आसन पर स्थापित कर, अन्य धर्मियों को मानो वे अपना आश्रित मानते है। उन्हें आग्रह है कि उन्ही का धर्म श्रेष्ठ है, अन्य सब पाखण्ड और मिथ्यात्व है। अनेकान्त की जयकारों का अन्त नही। पर भीतर एकान्त का हठ पल रहा है। आग्रह जहॉं है, वहॉं परिग्रह है ही। परिग्रह जहॉं है, वहॉं विग्रह है ही। धर्म मे हो, कि शासन मे हो, कि सम्पदा मे हो, मुझे विग्रह मे ऊपर नहीं दीख रही है वैशाली। परम परमेष्ठिन् अरिहन्त, सुवर्ण, रत्न, पाषाण की प्रतिमा में सदा को निश्चल प्रतिष्ठित हो गये दीख रहे हैं। वे मुझे लोक जीवन मे प्रवाहित नहीं दीख रहे। अनेकान्त, अहिमा, अपरिग्रह केवल प्रवचन तक सीमित है। जीवन मे इन स्वयम्भु सत्य-धर्मों का प्रकाश मुझे कही नहीं दीख रहा है। जहॉं उच्च कुलों का वंशाभिमान है, जहॉं अष्टकुलक ही सर्वोपरि गरिमा से मंडित है, जहॉं ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, कुलीन-अन्त्यज के भेद और अन्तर-विग्रह दबे छुपे मोजूद है, जहॉं धरती माता की अपार संपदा कुछ राजन्यों और कुबेरों के कोषागारों में एकत्रित और संचित है, वहॉं अनेकान्त, अहिसा और अपरिग्रह का, सिवाय मृत शब्दों के और क्या मूल्य रह जाता है !

धर्म मे हो, कि शासन मे हो, कि धन मे हो, जब तक सबसे ऊपर हो रहने की वासना हममे बनी है, तब तक किसी भी स्वतंत्रता का क्या अर्थ रह जाता है। जिनेन्द्र ने वस्तु मात्र की स्वतत्रता का उद्घोष किया है। उसी परम सत्य के आधार पर लोक मे सच्ची स्वतंत्रता स्थापित हो सकती है। जो वस्तु मूलत· अपनी स्वयं की है, वह जीवन मे सर्व का स्वतंत्र उपभोग्य ही हो सकती है। उस पर वैयक्तिक अधिकार की मोहर लगाना ही तो परिग्रह है। और परिग्रह सारे पापों का मूल महापाप है। परिग्रह का ऐसा दुर्मत्त रूप जब तक लोक में उजागर है, तब तक अनेकान्त और अहिंसा की निरी तत्व-चर्चा से क्या लाभ है।

. . इस संदर्भ में वैशाली की जगत-विख्यात मंगल-पुष्करिणी का ख्याल आ रहा है। यह सर्वत्र दन्त-कथा की वस्तु बनी हुई है। वज्जिसंघ के अष्ट-कुलीनों को इस पर बड़ा गर्व है। मत्स्य देश के मर्मर पाषाणों से बने इसके घाट और सोपान स्वर्ग के कल्प-सरोवर की याद दिलाते हैं। इसके जल इतने पारदर्शी हैं, कि तल में पड़ी वस्तु भी ऊपर से साफ दीख जाती है। संपूर्ण

पुष्करिणी एक सुदीर्घ प्राचीर से परिवेष्टित है। इसकी सतह पहले ताँबे की एक विशाल-चमचमाती जाली से आच्छादित है। और उसके ऊपर फौलाद की शलाका-जाली का प्रकाण्ड ढक्कन लगा हुआ है, ताकि उसमे कोई पक्षी तक चचु न मार सके। उसके भीतरी जलों को बड़े ही जतन से इतना निर्मल और निर्बाध रक्खा जाता है कि कोई जलचर जीव भी उसमे जन्म ले ही नही सकता। और इस महार्घ, दुर्लभ जलराशि की रक्षा के लिए पुष्करिणी के द्वार पर अहर्निश संगीन पहरा लगा रहता है। इसके जल से केवल राजतिलकोत्सव के समय कुलराजा का अभिषेक हो सकता है। कुल-पुत्रों के अतिरिक्त जन-सामान्य तो शायद इसकी झलक भी नही देख सकते। प्रवाही जल-तत्व का ऐसा बन्दी स्वरूप लोक मे शायद ही अन्यत्र कहीं हो। यह जितना ही दुर्लभ हुआ, इसका आकर्षण लोक मे उतना ही दुर्दान्त हो उठा। .

कोसलेन्द्र के दुर्वार पराक्रान्त सेनापति बन्धुल मल्ल की पत्नी मल्लिका असिधारा-सी तेजस्विनी और सुन्दर है। गर्भवती होने पर उसे दोहद पड़ा कि वह लिच्छवियों की मगल-पुष्करिणी मे स्नान करे। बन्धुल के लिए जगत मे कुछ भी अलभ्य नहीं हो सकता। अकाट्य को काटने की धार उसकी तलवार मे है। अपनी प्राण-वल्लभा को वक्षारूढ़ कर घोड़ा दौड़ाता हुआ बन्धुल एक बड़ी वीर मगल-पुष्करिणी पर आ पहुँचा। प्रहरी तो उसकी लहराती तलवार का तेज देखकर ही भाग खडे हुए। प्रिया को लेकर वह भीतर गया। अपने वज्रभेदी खड्ग के एक ही झटके से उसने पुष्करिणी की दोनों जालियाँ काट दी। मल्लिका उसके भीतर उतर कर जी भर नहायी। . और पलक मारते मे अपनी रानी का दोहद पूरा कर, बन्धुल मल्ल हवाओं पर अश्वारोहण कर गया। वीरभोग्या वसुन्धरा के इस खतरनाक बेटे को मै प्यार करता हूँ। वीर प्रसविनी मल्लिका के इस जोखिम-भरे दोहद-स्नान का मै अभिनन्दन करता हूँ। .

पता चलते ही, लिच्छवि शूरमा पीछा करते हुए, बन्धुल पर टूट पड़े। बात की बात मे भयकर रक्तपात हो गया। पर बन्धुल अपनी तलवार के कुछ ही वारों से, सैकड़ों नरमुण्ड हवा मे उछाल कर, बिजली की कौंध की तरह लिच्छवियों के हाथ से साफ निकल गया।

. जल-तत्व को जो इस तरह अपनी सत्ता के फौलादों मे बाँधेगा, उसे काटने वाला दूसरा फौलाद कही पैदा होगा ही। ये गणतत्र अपने आप मे कितने स्वतत्र है, इनमे जनगण कितना स्वतत्र है, इनके पारस्परिक सबधों मे स्वतत्रता की कितनी प्रतिष्ठा है, उसका परिचय तो इस घटना से स्पष्ट मिल ही जाता है। जल और जलचर की भी दया पालने वाले, और पानी को भी छान कर पीने वाले निग्रंथी श्रावकों के यहाँ स्वतत्र जल द्रव्य को ऐसे कठोर कारागार मे बन्दी देख कर मेरे आश्चर्य की सीमा नही है। और वह कुलीनों की महर्द्धिकता का दास होकर रह सकता है? और उसकी अभिजात्य-रक्षा के लिए, गर्भवती माँ पर लिच्छवि तलवार उठ सकती है, और सैकड़ो निर्दोष सैनिकों की बलि चढ़ायी जा सकती है? क्या पार्श्व के अनुगामी श्रमण भगवन्तों का समर्थन और आशीर्वाद, लिच्छवियों के इस कुत्सित कुलाभिमान को चुपचाप प्राप्त है?

गणतंत्री शाक्यों का कुलाभिमान और भी भयंकर है। कामलोलुप प्रसेनजित को कूटपूर्वक दासी-पुत्री ब्याह देना तो मै समझ सकता हूँ। पर वासभ-खत्तिया के निर्दोष पुत्र और अपनी दासी-पुत्री से जन्मे अपने ही रक्तांश भागिनेय का ऐसा अपमान कि उसके पाद-स्पर्श से उनका संथागार अपावन हो गया? और उसके जाने पर उसे धुलवाया गया! क्या यही है शाक्यों की

गणतांत्रिकता, जिस पर उन्हें भयंकर अभिमान है ? एक निर्दोष मानवी को पहले तो महानाम शाक्य ने अपनी पाशव लिप्सा की तृप्ति का साधन बनाया। और फिर उससे जन्मी एक और निर्दोष कुमारिका को उन्होंने अपने दुर्मत्त रक्ताभिमान और अहंकार की रक्षा तथा राजनीतिक षड्यंत्र का हथियार बनाया। क्या यही है इन गणतंत्रों में जनगण की स्वतंत्रता, उनके अधिकारों की रक्षा ? क्या यही है गण की एक बेटी का सम्मान ? सिवाय शासन-विधान के कुछ सतही स्वरूपों के, इन गणतंत्रों, और एकाधिकारी राजतंत्रों के बीच कोई मौलिक भेद मैं नहीं चीन्ह पा रहा हूँ।

. . सत्ता और संपदा के इन भव्य दुर्गों की नींव एकाएक मेरे सामने खुलने लगी। . . जैसे कोई घड़ी किया हुआ, लम्बा-चौड़ा चित्रपट खुल रहा हो। थल, जल, नदी और समुद्र-पथों का एक जटिल-कुंचित जाल जैसे किसी अदृश्य मछियारे ने आकाश और पृथ्वी के बीच फैला दिया। . .

अनाथपिण्डक सुदत्त और मृगार जैसे आर्यावर्त के धन-कुबेरों के सौ-सौ सार्थ, चारों दिशाओं में जाते-आते देख रहा हूँ। . . ये केवल जम्बूद्वीप में ही नहीं, ताम्रलिप्ति के मार्ग में बंग देश की खाड़ी, और भृगुकच्छ तथा शूर्पारक से अरब-सागर को पार कर, सुदूर द्वीपों और देशान्तरों में जाकर संपदा का विस्तार कर रहे है। श्रावस्ती से प्रतिष्ठान तक का मार्ग माहिष्मती, उज्जयिनी, गोनर्द, विदिशा और कौशाम्बी होकर जाता है। श्रावस्ती से राजगृह का मार्ग हिमवान की तराई में होकर गया है। इस मार्ग में सेतव्य, कपिलवस्तु कुशीनारा, पावा, हस्तीग्राम, भण्डग्राम, वैशाली, पाटलीपुत्र और नालन्द पड़ते हैं। पूर्व से पश्चिम का मार्ग प्रायः नदी-यात्राओं से तय होता है। गंगा में सहजाती और यमुना में कौशाम्बी तक बड़ी-बड़ी नावें और जलपोत चल रहे हैं। सार्थवाह विदेह होकर गान्धार तक, और मगध होकर सौवीर तक, भरुकच्छ से ब्रह्मदेश तक, और दक्षिण होकर बाबुल तक, तथा चम्पा से महाचीन तक जाते हैं। मरुस्थलों में लोग रात को चलते हैं और पथ-प्रदर्शक नक्षत्रों के सहारे मार्ग निर्णय करते हैं। सुवर्ण भूमि से लेकर यवद्वीप तक, तथा दक्षिण मे ताम्रपवर्णी तक सार्थों के आवागमन का ताँता लगा हुआ है। . .

अवन्तीनाथ चण्डप्रद्योत की उज्जयिनी समस्त जम्बूद्वीप का एक केन्द्रीय व्यापारिक राजनगर है। पश्चिमा समुद्र के पत्तनों से जो व्यापार उत्तरावर्त में होता है, वह सब उज्जयिनी के रास्ते ही होता है। पश्चिमी समुद्र के पत्तनों से अवन्ती के सार्थवाहों के जहाज लाल सागर और नील नदी को पार करते हुए भूमध्य सागर तक पहुँच जाते हैं। पूर्वीय और पश्चिमी गोलार्द्ध की अकल्प्य और रहस्य-भरी खनिज, भूमिज और जलज सम्पत्तियों का आदान-प्रदान इसी महा जलपथ से होता है। सिन्धु सौवीर और भरुकच्छ के समुद्र तोरणों पर पारस्य, मिस्र, बाबुल और सुदूर एथेस तक की प्रजाओं और पदार्थ-सम्पत्तियों का संगम होता है। गान्धार में पूर्व और पश्चिम की रक्तधाराएँ और संस्कृतियाँ आलिंगित होती है। अवन्ती के पण्यों और चतुष्पथों से गुजर कर, आदान-प्रदान की यह धारा व्यापारिक सार्थवाहों के जरिये कौशाम्बी से गंगा-यमुना को पार करती हुई, चम्पा के नदी घाटों से टकराती है। चम्पा से पूर्वीय समुद्र को पार कर, सुवर्ण द्वीपों और महाचीन तक व्यापारी श्रेष्ठियों का यह महासाम्राज्य फैला हुआ है।

मनुष्य के आन्तर साम्राज्य को विस्तारित करने वाली विद्याएँ, कलाएँ, संस्कृतियाँ और धर्म इन सार्थवाहों के हाथों में खेलते हैं। . .

इन व्यावसायिक महापथों और उन पर चलने वाले सार्थों पर ही, आर्यावर्त के इन तमाम महाराज्यों और ग्णराज्यों की चतुरग-चौपड़ बिछी हुई है। कामिनी और कांचन के कुटिल ताने-बानों से यह चौपड़ नित नई बुनी और उधेड़ी जा रही है। मेरी पाँच राजेश्वरी मौसियाँ इस चौपड़ के केन्द्र मे बैठी हुई है। आज वेद-वेदांग, धर्म, यज्ञ, अग्निहोत्र, ब्रह्मज्ञान, तीर्थंकर, सारे बाहुबल, विक्रम, प्रताप, प्रेम प्रणय, कलाएँ, विद्याएँ इस कामिनी-काचन की महा-चतुरग-चौपड़ के मुहरे बने हुए हैं।

और जैसे मेरे सामने खड़ी एक चुनौती, भूमध्य सागर की तरग-चूडा पर से ललकार रही है। कि जम्बूद्वीप की इस चौपड़ पर मुझे भी अपनी कोई मौलिक चाल चलनी है। . चलूँगा, निश्चय चलूँगा एक अपूर्व चाल। लेकिन लेकिन उससे पहले क्या इस बाजी को उलट देना होगा ?

प्रमद-कक्ष की शिवानी

आभारी हूँ प्रमद कक्ष की उन प्रमदाओं का। उनकी केलि तरग ने जाने कब मुझे ऊपर उछाल कर, नद्यावर्त के इस नवम खण्ड पर ला बैठाया है। वहाँ वे सब इतनी पास थी, और घिरी थीं कि उन्हे सम्पूर्ण देखना और जानना सम्भव नही हो रहा था। इस ऊँचाई और दूरी पर से पाता हूँ कि वे अपनी जगह पर है, फिर भी समीपतम चली आई है। वहाँ उनमे से हर एक की इयत्ता और अस्मिता को जानने की भी सुविधा नही थी। यहाँ उनमे से प्रत्येक के विलक्षण सौन्दर्य का समग्र दर्शन सम्भव है। मै भी वहाँ उनके हाथ खण्ड-खण्ड ही तो आता था। किसी के हाथ में केशों के साँप ही रह गये थे, तो उसकी मृदुल बाहु को डस लेते थे। कोई मेरी आँखों की काजल-रात में ही खो रहती थी। कोई मेरे कन्धे पर झूल कर ही आपा गँवा बैठती थी। कोई केवल वक्ष मे बिलस रही, तो कोई कक्ष मे बिछुड रही।

यहाँ देखता हूँ कि मै अखण्ड भोक्ता हूँ। और उनमे से हरेक पूरी सुलभ है। और वे सब मिल कर, समग्र मेरी हो रही है। जानना और देखना यहाँ अविकल है। सो विकलता की टीस नही है। दर्शन और ज्ञान यहाँ सम्यक् और समूचा है। सो भोग भी सम्यक् और समीचीन है। यही तो सम्यक् चर्या है। यानी सम्यक् चारित्र्य। और जब ये तीनों एकाग्र और सयुक्त हुए, तो सारी सुन्दरियों के साथ योग और मिलन नित्य और अखण्ड हो गया। यहाँ निषेध की बाधा नही, सभी कुछ आपोआप वैध हो गया है। श्रेय और प्रेय का विरोध समाप्त हो गया है। रक्त-मांस की बाधा से परे, यह सौन्दर्य और प्रीति का पूर्ण आलिंगन है। . .

नवम् खण्ड का मेरा यह कक्ष अष्टदल कमल के आकार का है। इसके वातायन दसों दिशाओं पर खुलते है। हिमवान की अदृश्य चोटियों की सुनील हिमानी आभा, इसकी दीवारों और द्वारों पर खेलती रहती है। और दूरवर्ती पुष्पित बहुशाल वन की सुगन्ध सदा इस कक्ष में छायी

रहती है। जिस लोकालय की परिक्रमा कर आया हूँ, उसकी ऊष्मा और उसके सुख-दुखों की यहाँ सतत सह-अनुभूति होती रहती है।

आज सवेरे ईशान के कोण-वातायन पर खड़ा, किसी अलक्ष्य मे आरूढ़ था कि अचानक कमरे मे सुगन्धों का ज्वार-सा आ गया। कई नूपुरों के रणन से मेरा ध्यान-भंग हुआ। देखा, प्रमद-कक्ष की सारी बालाएँ दल बाँध कर आयी है। हाथ जोड़ सबका स्वागत किया, तो वे सकुचा आईं। फिर पंक्तिबद्ध प्रणिपात कर, अर्द्ध वर्तुल मे हार बाँध कर, स्फटिक के फर्श पर ही बैठ गईं। मुझे उन्होंने अपने साथ नीचे न बैठने दिया। तो अपने मर्मर तल्प पर आसीन हो लिया।

'तुम सब आईं, कृतज्ञ हुआ।'

चपल मादिनी बोली सबकी ओर से ·

'आपको तो अब हमारी याद ही नहीं आती। दर्शन दुर्लभ हो गये ! '

'अरे याद की गुजाइश कहाँ है, मादिनी, जबकि सदा सब मेरे साथ रहती हो।'

'आपकी लीला अपरम्पार है, देव ! हम अज्ञानिनी, उसका पार कैसे पाये ?'

'अपार को पा गई हो, तभी तो ऐसे बोल रही हो। मुझे तो वह अपार तुम्हारी ओढ़नी की गाँठ बँधा दीख रहा है। . मेरे कुंतलों के सँभलिये जान पडता है, अब तुम्हारी बाहु को वेध कर, वक्ष पर आन्दोलित है। क्या कमी रह गई ! '

सब मरोरों सी खिलखिला आईं। तब कौशाम्बी की बाला अनोमा बोली

'कितने दिन हो गये, प्रमद-कक्ष के कमल पाँवड़े हर साझ अछूते ही कुम्हला जाते है। घोषा वीणा जाने कब से सूनी और निस्पंद नीरव पड़ी है। लगता है, देवता रूठ गये ! '

'ऐसा यदि तुम्हे लगता है, तो सचमुच मै अपराधी हूँ। और तुम सबके योग्य नही हूँ।'

'हाय-हाय, ऐसा न बोले प्रभु, हमे यों झटक कर दूर न करे ! '

'मतलब, दूर पड़ गया हूँ तुमसे। कम पड़ गया हूँ तुम्हारे लिए। तभी तो तुम कातर हो।'

'नही-नही, रच भी कम नहीं हो हमारे लिए। बहुत पास हो, और पूरे हमारे हो। फिर भी आँखे ही तो ठहरी। दर्शन की प्यास इनका स्वभाव है न।'

'हाँ हाँ, वह मै समझ सकता हूँ। पर जिस रूप को देख लेने पर आँखों की प्यास बनी ही रह जाये, तो मानना होगा. कि वह रूप कमतर है।'

'इतनी कसौटी न करे, प्रभु, हम अज्ञानियों की। और कोई रूप देखने की इच्छा तो अब रही नही।'

और कोशा तुम्हारी घोषा वीणा तो अब हमारे भीतर निरन्तर बजती रहती है। कितनी अच्छी हो तुम, समूची भीतर आ बैठी हो, और अपनी वीणा मे मुझे समूचा बजाती रहती हो। अद्भुत है, वत्स देश की कन्या का संगीत कौशल ! '

वैशाली की वन्दना सबकी ओर से बोली .

'महादेवी का आदेश मिला है। हम सब अपने घर लौट रही है। विदा दे, वर्द्धमान कुमार, तो हम सब . जाये।'

लड़की का गला भर आया था।

'विदा तो वर्द्धमान किसी को देता नहीं। क्योंकि विछोह उसके वश का नहीं। यह उसका

स्वभाव नहीं ! '

'आप कहाँ चाहते है, कि हम सब यहाँ रहे ! इसी से तो जाने की बात उठी है . . ।'

'मैने कब कहा, कि तुम जाओ । अपनी बात महादेवी जाने । चाहो तो सदा मेरे साथ रह सकती हो । उसमे यहाँ रहने या और कही रहने से क्या अन्तर पड़ता है ? '

'आप अपने पास रक्खे, तो और कही क्यों जाये हम ? '

'मेरे साथ कुमारियाँ ही रह सकती है । विवाह की सीमा मुझे सह्य नहीं । क्योंकि उसमे आखिर कही वियोग है ही । और वियोग मेरा स्वभाव नही । सोच लो तुम सब ! '

सबकी सब आँखे झुकाये, चुप हो रही । कमरे मे एक गहरा सन्नाटा व्याप गया । तब मगध की सुवर्णा बोली ·

'आप हम रोकना नही चाहते न ? '

'रोकने वाला मै कौन होता हूँ ? रहोगी तो अपने से, जाओगी तो अपने से । कौन किसी को यहाँ बाँध कर रख सकता है, सुवर्णा ! '

'और कोई बँधना ही चाहे तो ?

'मोह की यह मधुर भ्राँति सच ही बहुत मादक है । मगर, काश, मै तुम्हे तुम सब को बाँध कर रख सकता, स्वय बँध कर रह सकता ! '

'आप चाहे, तो क्यो नही, देव ! '

'जो स्वभाव नही, सत्य नही, वह कैसे चाहूँ ! मोह मे पड़ कर, तुम्हारा विलास भोगूँ, यह मेरा प्रेय नही ।'

'तो हम सब जाये, महाराज ? '

'जाना-आना, कहाँ है, सुवर्णा ? अपने ही मन मे यह सब घटित होता है । अपने मे पूरी रहो, और मुझे पूरा अपना लो । तो फिर जाने आने का झमेला ही खत्म हो जाये ! '

'कब लौटा लाओगे हम फिर, अपने पास ? ' बोली गांधारी प्रियाबा ।

हाय, नारी की बँधने की कातर चाह का अन्त नहीं !

'नदी हो । समुद्र मे से ही एक दिन उठकर, बादल बनी थी, स्वेच्छा की तरग मे । घूम-फिरकर, फिर एक दिन समुद्र मे ही लौटोगी । फिर चिन्ता किस बात की, कल्याणी ! '

. . सबके चेहरों पर मैने समाधान की पूर्ण आश्वस्ति देखी । समवेदना की बहुत महीन पानी की पर्त मे, वे उन्मुख, ऊर्मिला योगिनी ही लगी, वियोगिनी तो जरा भी नही लगी ।

सबको सजल नयन एक साथ प्रणिपात मे विनय देख कर, अनुभव किया, वे सब मेरी ही तो है, अशेष मेरी । और मै समूचा इनका । चुपचाप जाती उन सबके चरणों के नजीरों मे कैसी मधुर आगमनी बज रही है ! नदियाँ समुद मे मिलने को दौड़ी आ रही है ।

. सहसा ही देखा, वैनतेयी कक्ष मे चली आ रही है । सर्प-कचुक-सा महीन नीला उत्तरासंग धारण किये है । चेहरे को घेर कर, दोनों कन्धों पर ढलके उसके घने घुँघराले कुन्तल उसका भामण्डल बन गये है । उज्ज्वल लिली फूलों की शोभा उसके मुख-मण्डल पर व्याप्त है । निस्पन्द, लम्बी, तन्वंगी, संचारिणी दीपशिखा-सी वह चली आ रही है ।

'ओ . . वैनतेयी, तुम कहाँ रह गई थी ? '

'बाहर छत में थी।'

'सबसे अलग ?'

'राज-कन्याओं के बीच, मेरा क्या काम ?'

'तो तुम . . ?'

'दासी हूँ, देव ! दासी-पुत्री भी !'

'अधिक वरणीया हो मेरे निकट। वर्द्धमान तुम्हारा अभिषेक करता है !'

'संकर हूँ, प्रभु ! इस योग्य कहाँ ?'

'संकर कन्या हो ? बहुत अच्छा। तब तो शंकरी हो, वैना। शान्ति और सन्धी हो तुम, मानव-कुल की !'

'यह तो आर्य-पुत्र का अनुग्रह है !'

'वर्द्धमान कुलजात आर्य नहीं, आत्मजात आर्य है। वह तुम्हारे विशेष परिचय का प्रार्थी है।'

वैनतेयी, जुड़े जानु-युगल मोड़े, फर्श पर ईषत् झुकी कमलिनी-सी बैठी है। परिचय की पृच्छा पर वह मौन रही और नम्रीभूत होकर, अपने में सिमटी जा रही है।

'मुक्त होओ, कल्याणी। और ग्रंथियाँ तोड़ कर, अपना हृदय खोलो। तुम्हारा परिचय पाकर धन्य होना चाहता हूँ।'

'मेरी माँ एक सुन्दर यवन कुमारी थी। पर वह दासी थी। एक भारतीय व्यापारी सार्थ के साथ एथेस से दक्षिणापथ के एक पत्तन पर आई थी। . . पांचाल के ब्राह्मण श्रेष्ठ चक्रपाणि कात्यायन दक्षिण के अरुणाचलम मे गारुड़ी साधना कर रहे थे, काम और मोक्ष की प्राप्ति के लिए। . . माँ को सामने पाकर उन्हे लगा, कि, उनकी अधिष्टात्री आ गई !'

'क्या नाम था तुम्हारी माँ का, वैना ?'

'इफ़ीजीनिया !'

'जीनिया से जन्मी तुम, नवमानव की जनेत्री ! फिर . . ?'

'माँ एथेस को कभी भी भूल न सकीं। पर ब्राह्मण पति मे उन्हें सूर्य देवता अपोलो का दर्शन होता था। पति की साधना-संगिनी होकर रहीं वे। पर अधिक जीवित न रह सकीं। मैं सात वर्ष की थी . . तब वे हमें छोड़ कर चली गईं . .'

वैना का कण्ठावरोध हो गया। उसकी आँखों में एक नदी डबडबा आई। क्षणैक चुप रह कर फिर मैंने कहा :

'मेरी ओर देखो, वैना, मैं हूँ न ! जी खोलो !'

'माँ वेनिस की तरह सुन्दर थी . । झलक भर याद है उनकी।

'सो तो यह सन्मुख चेहरा साक्षी है ! फिर वैना ?'

'साधक पिता समुद्र की तरह गम्भीर थे। वाड़व अग्नि की तरह, अपनी वेदना को तह में समेटे रहे। निश्चल साधना करते रहे। मैं उनकी सेवा में निरत रहती।'

'चक्रपाणि को सिद्धि मिली ?'

'माँ को पाकर उन्हें कामदेव सिद्ध हुए। माँ का विछोह होने पर, उनकी विरह वेदना में प्रज्ञा

जागी, और उन्हे गरुड़ दर्शन हुआ। मोक्ष के लिए, उन्होंने पृथ्वी-त्याग न स्वीकारा। अटल रहे सकल्प पर, कि पृथा ही को पूर्णकाम होना पड़ेगा। तब उन पर शक्ति-सयुक्त शिव प्रसन्न हुए। शिवानी ने उन्हें गोद में धारण किया।. . और यह कल्प-दर्पण उन्हें प्रदान किया, जो मेरे पास है . ।'

'और तुम्हें ?'

'पितृदेव ने मुझे मन्त्र-दर्शन कराया। नासमझ थी। उसी अबोधता मे मेरे कुमारी-हृदय मे अपनी विद्या-सिद्धि को प्रतिष्ठित कर दिया।'

'तुमने काम, गरुड और शिव का दर्शन पाया ?'

'मेरे रोम-रोम मे वे एकत्र सचारित हुए।'

'धन्य हो वैना । सकरी ही शकरी हो सकती है। फिर ?'

'पितृदेव ने कहा था, कौमार्य के भीतर ही यह परम विद्या अक्षुण्ण रह सकेगी। वैनतेयी नाम देकर उन्होंने मुझे प्रज्ञा के माध्यम से एक साथ काम और पराकाम शिव का दर्शन कराया था।'

'लोक मे अनन्या हो तुम, कल्याणी। फिर ?'

'एक दिन अचानक, पिता ने सावधान किया, कि उनका शरीरान्त निकट है। मुझे सकटों मे अकेले जूझना होगा। पर विद्या सदा कवच हो रहेगी। प्राण पण से उसकी रक्षा करना। तब एक दिन परित्राता आवेंगे ।'

वैना की ऑखे कृतज्ञता के भार से झुक गईं। उसका बोल रुँध गया।

'तथास्तु वैना । फिर ?'

'अनाथिनी कन्या को सुन्दर जान कर, ब्राह्मणों ने उसे अवमानित किया, उस पर अत्याचार हुए। यज्ञ की बलिवेदी से वह भाग छूटी। आश्रयदाता श्रेष्ठी की मनोकामना को उसने ठुकरा दिया। तब उज्जयिनी के पण्य मे दासी व्यापारी के हाथ वह बिकी। उज्जयिनी की महारानी शिवा देवी, आपकी मौसी, एक दिन रथारूढ होकर राजमार्ग से जा रही थी। उनकी निगाह उस पर पड गई। कृतज्ञ हूँ उनको, उन्होंने तत्काल मुझे क्रय कर लिया। उनकी सेवा मे, माँ के ऑचल सा आश्रय मिला ।'

'शिवा मौसी का आभारी हूँ, वैना । फिर ?'

'अब तो समक्ष हूँ ही। प्रियकारिणी माँ ने मुझे देखा। परिचय पाकर वे अनुकम्पा से भर उठी। महारानी शिवा देवी से अनुरोध कर यहाँ लिवा लाईं ।'

'किसलिए वैनतेयी ?'

'क्यो पूछते हो ?'

'वर्द्धमान का हाल तो तुम देख ही रही हो ?'

'सो तो देख रही हूँ, देव।'

' क्या चाहती हो, उससे ?'

क्षणेक चुप हो रही वह। अपने भीतर डूब कर, जैसे नि शेष हो गई।

'बोलो, क्या चाहती हो मुझसे, शुभे ?'

'कुछ नही . . !'

'तो अनचाहे ही, तुम्हारी हर चाह पूरी होगी !'

'वे सब तो गईं। मुझे भी जाना होगा ?'

'वैन्तेयी क्यों जायेगी ? वह शाश्वती कुमारी है !'

'मेरे परित्राता आ गये ?'

'सो तो तुम जानो !'

'कैसे स्वामी के योग्य हो सकती हूँ ? क्या आदेश है वैना के लिए ?'

'अपनी हर इच्छा की स्वामिनी होकर, नंद्यावर्त मे रहो !'

'स्वामी . !'

'और सुनो वैना, एक रहस्य जान लो। काम, गरुड़, शिव —ये सब तुम्हारी अन्तर्वासिनी आत्मा ही है। मित्र भित्र अन्य कोई नही। तुम स्वय तद्रूप हो। इसी भाव मे निरन्तर रहो।'

'दासी को अपनी सेवा मे नियुक्त करो, देवता !'

'दासी . ? छी फिर भूल कर यह शब्द कभी भी मुँह पर न लाना। स्वामिनी होकर रहो अपनी, सो मेरी भी।'

'मै दासी-पुत्री हूँ न नाथ, और उज्जयिनी के दासी पण्य से क्रीता मै शिवादेवी की दासी। इसे क्या कहोगे ? इसका कोई निवारण ?'

'निवारण ? यही कि वर्द्धमान ने तुम्हे स्वामिनी स्वीकारा। वह पृथ्वी पर से मानव के मूलगत दासत्व का उच्छेद करने आया है। ताकि मनुज ही क्यों, कण कण स्वाधीन हो। अणु-अणु अपना स्वामी होकर रहे।'

'आज्ञा दो, मै कहाँ रहूँ ? कैसे तुम्हारा प्रिय करूँ ?'

'प्रमद कक्ष मे ही रहोगी तुम !'

'उस अपार वैभव के बीच अकेली ?'

'सम्राज्ञी अकेली ही रहती है !'

'और वहा दूर रह कर, स्वामी की क्या सेवा होगी मुझसे ?'

'कुछ न करो। बस रहो अपने मे, नित्य सुन्दरी, और अपने सौन्दर्य को अधिकाधिक पहचानो। इससे बढ कर मेरी कोई सेवा नही। इससे अधिक कुछ करणीय नही !'

'दर्शन देते रहोगे न ? और अनुज्ञा हो तो, दर्शन करने आ जाया करूँ !'

'अनावश्यक है वह, वैना, तुम्हारे लिए। वह दूरी रक्खोगी, तो व्याकुलता बनी रहेगी। आँखो से देखने की प्यास, दूरी नहीं तो क्या है ?'

'नाथ !'

'सदा पास रहो, अपने, सो मेरे भी। तब, अनचाहे भी, चाहे जब, मुझे सम्मुख पाओगी।'

'कृतार्थ हुई, देव !'

'और सुनो, तुम्हारे दर्पण मे, अब शत सहस्र विद्याएँ प्रकट होंगी। निर्भय और अविकल्प उसमे निहारना। भीतर की सब ग्रंथियाँ खुलती चली जायेगी। मै तुम्हे आर-पार प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, इस क्षण !'

'कैसी हूँ, नाथ ?'

'मुझसे क्यो पूछती हो ? अपने दर्पण से पूछो !'

'आप्यायित हुई, भगवन् !'

कुमारी की वे दोनों नीलोत्पला ऑखे सजल हो, पूरी मुझ पर खुल आयी। समुद्र-सतरण का आवाहन था उनमे। फिर अपने जानु-ग्रथित आसन से ही झुक कर उसने दोनों हाथ पसार कर, मेरे चरणों पर ढाल दिये। और चुपचाप उठ कर, धीरे धीरे चली गई।

वैनतेयी, तुम्हारे रहस्य का पार नही।

अदिति, तुम्हारी कोख से मेरा आदित्य जन्मे

सुनता हूँ, कि मेरे शैशव का पालना, जब नद्यावर्त-महल मे झूला, तभी उसका राजद्वार, मुझ तक आने को, हर किसी के लिए खुल गया था। कोई ऐसी अलक्ष्य प्रेरणा काम कर रही थी, कि मेरे परिजनों से यही करते बना। और फिर अपनी बाल्य-क्रीडाओं मे स्वय मैने ही, महल की मर्यादा अनायास खत्म कर दी थी। कुण्डपुर मे, ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक की गोद मे, मै अचानक बैठा दीख सकता था। किशोरावस्था को पार करते करते, मैने अपने को अधिक अधिक अन्तर्मुख और स्वप्निल होते पाया। भरसक अकेले रहना ही मेरा स्वभाव हो चला। भीतर मे आती थी विचित्र पुकारे और उनके आवेग मे होती थी निरुद्देश्य भटकने और यात्राएँ। घर मे रहूँ या बाहर, अकेला और स्वय को भी दुर्लभ हो चला था। सुनता था, मुझे लेकर, चारों ओर दूर देशान्तरों तक अनेक कहानियाँ चल पड़ी है।

इधर लोक भ्रमण का प्रसग आया। तो प्रकट मे आकर, मैने सर्वत्र और भी प्रश्न और उत्सुकता जगाई है। बिजली के वेग मे और कौध की तरह, जनगण मे से गुजरा हूँ। सबकी ऑखों का तारा और प्यारा हो गया हूँ। सुनता हूँ, लोग मुझे बहुत चाहते है, और बुलाते है। तो जाऊँगा ही सबके पास, ठीक समय आने पर। और वह समय अब दूर नही दीखता।

इधर बाहर जो यह मेरा फैलना हुआ, तो कई दूर पास के युवागण मेरे पास आने-जाने लगे है। क्षत्रिय कुलपुत्र मुझसे खिन्न हुए है, क्योंकि उन्हे अपने मन का आभिजात्य मुझमे नही मिला। उन्हे लगता है, मै उनमे से एक नही हूँ। राजपुत्र हो कर भी, राजवेश, वैभव और कुल मर्यादा के प्रति लापरवाह हूँ। गणतत्रों के ये क्षत्रिय कुमार मुझ मे अपना नेता खोज रहे है। पर मुकुट, महिमा, सुरा, सुन्दरी, शस्त्र, राजगौरव से रहित मुझे देख कर वे निराश है।

अलबत्ता कुछ ब्राह्मण पुत्र या फिर शूद्र अनार्य और सकर युवा मुझसे अधिक आकृष्ट है। श्रोत्रियो को मै प्रसन्न न कर सका, क्योकि उनके याज्ञिक विधि विधानों और कर्मकाण्डो को मुझसे समर्थन न मिल सका। बल्कि उन्होंने मेरी भृकुटियाँ तनी और विप्लवी देखी। तो सहमे, और मुझे खतरनाक मानने लगे है।

लेकिन ब्रह्म-विद्योपासक, कई ब्राह्मण-पुत्र मुझसे प्रसन्न और आकृष्ट हैं। क्योंकि वे सतत खोजी और प्रगतिशील हैं। वे मेरे पास खिंच कर आते हैं। क्यो कि ब्राह्मण और क्षत्रिय की सीमाएँ मुझ में टूटी हैं और दोनों मुझमें मिल कर, कोई तीसरा आयाम मुझमें खुला है, जिसकी उन्हें खोज है। अन्त्यज और संकर भी इसी से मेरे प्रेमी हैं; क्योंकि उनके चिर तिरस्कृत अस्तित्व को मैंने पूर्ण स्वीकृति दी है, और क्षत्रिय-श्रेष्ठ इक्ष्वाकु लिच्छवि कुल का एक राजपुत्र उन्हें मित्र और सखा की तरह समकक्ष सुलभ है।

वैश्य जैन श्रेष्ठी मुझसे नाराज हैं, क्योंकि मेरे कुलजात जैनत्व से आकृष्ट होकर ही वे मेरे पास आये थे। पर जैनत्व का कोई पक्षपात उन्हें मुझसे न मिल सका। उनकी अतुल सम्पत्ति, वैभव, उनके अमूल्य रत्नाभरण मुझे किंचित् भी प्रभावित न कर सके, यह उन्हें विचित्र लगा। उनके चैत्यों के अकूत रत्न-निर्मित जिनबिम्बों के दर्शन करने तक की उत्सुकता मैंने नहीं दिखायी। वे अचम्भित और क्षुब्ध हैं यह देख कर। उन्हें मेरे प्रेम मे दिलचस्पी नहीं; मेरा जैनत्व और राजत्व ही उनका प्रेय है। वह बँधा-बँधाया उन्हें मुझमें न मिला। सो सर्वाधिक निराश मुझसे वही हुए हैं।

एक ब्राह्मण युवक सोमेश्वर, मुझसे विशेष संलग्न हो गया है। दूर से वह मुझे कोई पतातक, रत्नदीपों मे खोया, स्वप्निल राजपुत्र ही अधिक समझता था। क्योंकि मेरी विचित्र यात्राओं, और नितान्त एकाकी जीवन की अजीब कहानियाँ उसने सुन रक्खी थी। पर इधर मेरे लोक भ्रमण में, मर्यादा-भंजन की जो भगिमा उसने सुनी, तो वह मेरी तरफ बेतहाशा खिंचा। बहुत संकोच और पूर्वाग्रह लेकर पहली बार आया था, डरते-डरते। मगर पास आकर, थोड़ी देर में ही उसकी ग्रंथियाँ यों गल गईं कि, कहे बिना न रह सका कि वर्द्धमान, मुझे एक तुम्हारी ही तो तलाश थी। मैं उसके मुग्ध और विभोर भाव को देखता रह गया। एक ही तो ऐसा पुरुष और मित्र पहली बार मेरे सामने आया है।

सोमेश्वर पितृपक्ष मे याज्ञवल्की शाखा का ब्राह्मण है। पर माँ उसकी क्षत्राणी थी। पिता रोहिताश्व आन्तर अग्निहोत्र के साधक, दुर्दान्त ब्रह्मचारी थे। ऊर्ध्वरितस् तेज से जाज्वल्यमान। याज्ञवल्क्य से भी आगे जाकर, नचिकेतस् के आराधक। पर बढ़ती हुई क्षत्रिय प्रभुता को देख कर और क्षत्रियों को अपने कुलजात विश्वामित्र, जैवलि और प्रतर्दन जैसे क्षत्रिय राजर्षियों के अभिमान से प्रमत्त और ब्राह्मणों के प्रति उनकी बढ़ती हुई तिरस्कार भावना को देख कर, रोहिताश्व का ब्रह्मतेज क्षुब्ध हो उठा। सो जान-बूझ कर उन्होंने एक उच्च राजकुलीन, क्षत्रिय कन्या को मोहित किया और ब्याहा, और मानो क्षात्रत्व को इस तरह चरणानत कर, उसमें अपने तेजस् को सींचा। सोमेश्वर उसी विद्रोही ब्रह्मतेज की सन्तान है।

पिता कुटीरवासी, वनवासी, आत्म-तापस थे। आकाशवृत्ति पर गुजारा था। पिता की अन्तर्मुखता बढ़ती ही गई। उनसे पाया एकान्त आत्मज्ञान सोमेश्वर को तृप्त न कर सका। वह याज्ञवल्क्य की तरह, भीतर-बाहर के समन्वय द्वारा दिव्य जीवन उपलब्ध करना चाहता था। वह ब्रह्मानन्द को ही जीवनानंद बनाना चाहता था।. . सो अपने जीवन को उसने अपने हाथ में लिया; तीव्र ज्ञानपिपासा से बेचैन हो किसी तरह तक्षशिला जा पहुँचा। विश्वविद्यालय के नियमानुसार, यह निर्धन अन्तेवासी, 'धम्मन्तवासिक' होकर रहा। यानी दिन भर गुरु-सेवा करके शुल्क चुकाता था, और रात को गुरु-चरणों मे विद्योपार्जन और निद्राजयी घनघोर अध्ययन।

शास्त्र, शिल्प, शस्त्र तक की सारी विद्याओं पर उसने प्रभुता पायी है। वेद-वेदाग, उसकी साँसों मे सहज उच्छ्वसित है। इस उज्ज्वल गौर, भव्य काय, ब्रह्म-क्षत्रिय युवा मे एक निराले ही तेज, शांति और प्रज्ञा का समन्वय है। उसकी बडी-बड़ी पानीली आँखों मे, एक रक्ताभ खुमारी है, जैसे सोम-सुरा पीकर ही वह जन्मा है। ऊर्ध्वरेतस् का यह बिन्दु-पुत्र, लोक और लोकोत्तर का सन्धि-पुरुष लगता है। उसके उन्नत ललाट पर, चिन्तन की तीन समान्तर रेखाएँ, तेज की शलाकाओं-सी पड़ी है। जैसे त्रिपुण्ड्र तिलक से अकित भाल लेकर ही वह जन्मा है।

. इधर बहुत दिनों से सोमेश्वर आया नही था। और मै बल्कि प्रतीक्षा मे था उसकी, जो मेरे स्वभाव मे विरल ही है। आज आया तो अतिरिक्त आह्लाद था उसके चेहरे पर। आँखों की सोम-सुरा अधिक गहरायी हुई थी। और एक उन्मुक्त विस्तार की भगिमा थी, उसके लहराते केशों मे। बोला कि इधर बहुत भीतर डूबा-उतराया है, अपने और सृष्टि के रहस्य को थाहने की उदग्रता से व्याकुल होकर। और एक कविता इस आप्लावन और मथन मे से उसने लिखी है, कोई तट पाने की विकलता मे से। सोमेश्वर स्वभाव से ही कवि है, और उसका पूरा व्यक्तित्व कविता के लालित्य और तेजस्व से दीप्त है। उसकी देहरेखा मे भाव और सौन्दर्य की एक अनोखी तरलता और प्रवाहिता है। मैने उससे कविता सुनाने का अनुरोध किया। वह तो छलाछल भर बैठा था, सो बह आया। एक अजस्र स्वर-धारा मे ऊर्ध्व, अतल अनन्त के आयाम एकबारगी ही कशमकश करते हुए सामने आने लगे। उसने पढा

'देख रहा हूँ, परापूर्व काल मे कभी एक जलाप्लावन
सृष्टि उसमे हो गयी विसर्जन
खो गया था काल का मान, होने का भान।
पता नही, कौन बचा, किसने क्या रचा। सुनता हूँ कुछ नाम
अत्री, अगिरस, वशिष्ठ, विश्वामित्र, प्रचेतस्, भारद्वाज
आप ही अपने को करके सम्बोधन, इन आदि ऋषियों ने किया
ऋग्वेद का ऋचागान
उपास्य और उपासक के भेद से अतीत
यह था स्वचेतस्, स्व-सवेदित कवियों का आत्मगान।
सम्मुख पाकर विराट् अनन्त प्रकृति को ये हुए मुग्ध, स्मयमान।
प्रश्नायित होकर पुकार उठे ये : कहाँ से यह सब आ रहा है,
कहाँ को जा रहा है, कब से है यह और कैसे हुआ यह सब ?
ये सब कवि थे, उशनस् थे, सहज ही भावित थे,
तर्कातीत अपने को पहचानने की पीड़ा से ये थे आत्माकुल।

प्रश्नों का प्रश्न एक गूँजा इन ऋषियों के मानस-मण्डल मे
कहाँ से हुआ है यह निखिल आविर्भाव ?
प्रश्न उद्गीत हुआ उत्तर मे ऋचाएँ उद्गीत हुई कविता अवतीर्ण हुई।
जलाप्लावन से पूर्व कोई जातीय स्मृति इनकी थी नही

जो इन जल-पुत्रों ने उत्तर मे गाया : आदि में जल है,
केवल जल . . जलजलान्त :
देख रहा हूँ, जाने किस अज्ञात अन्धकार के विराट् गुम्बद में से
सहसा ही आदि जलस्रोत का उत्सरण :
एक विस्तार जलजलायमान !
यह जल कहाँ से आया ?
उत्तर मे अघमर्षण को हुआ काल-भान :
काल-तत्त्व, सम्वत्सर, ऋतुचक्र मे से जल हुआ है आविर्भान ।
बोले प्रजापति परमेष्ठिन् :
काल नही, आदि मे काम था— वैश्विक काम ।
बोले हिरण्य गर्भ . नही, आदि मे था हिरण्य-गर्भ, अपना ही बीज आप :
बोले नारायण · सृष्टि-पूर्व सूर्य थे, उनमे से जल आये,
जल मे से फिर सूर्य आये : वही है आदि और अनन्तर ।
ब्रह्मनस्पति बोले : जल आये शून्य मे से, कुछ नही मे से ।
बोले अनिल आदि में वायु थे, वायु से जल जन्मे :
यों हुआ काल-भान, तत्त्व-भान ।
किन्तु कौन किसमे से ? प्रश्न का अन्त नही . . !

प्रश्न और मूर्त हुआ किस दृश्य-वन मे से यह सब आवृत्त हुआ ?
दृश्यमान परिवर्तमान जगत मे, प्रतीयमान भूयमान सृष्टि मे
कौन शक्ति है कारण भूत, कौन वह प्रचेतस् है ?
अघमर्षण और परमेष्ठिन् ने कहा तपस् मे से सर्जन है
जल स्वयं उन्मेषित हुए तो तपस् जन्मे उनमे से गर्भित काल
जहाँ रोहित सूर्य हो प्रकटे - आदि देवत् सहस्राक्ष काल देव,
ऋतु धनी सप्त-किरण-वल्गा, सप्ताश्व रथ आरोही
काल है आदि ब्रह्म, उनमे सब अस्तिमान गतिमान प्रगतिमान ।

प्रश्न और आगे गया काल भी कहाँ से आया
आदि मे कुछ था या था ही नहीं ?
सत् मे से सत् आया, कि असत् मे से सत् आया ?
बोले परमेष्ठिन् सत् भी नही, असत् भी नही
केवल जल, अनादि जल, अनन्त जल
आदि तत्त्व अस्ति भी नही, नास्ति भी नही . वह केवल गहन गभीर जल ·
आप अपने से श्वसित् स्वधा संचालित, आप अपना उद्गम :
उसमे से काल, सूर्य, ऋतुएँ, परिवर्तन, आकार, विश्व स्वतः प्रवर्तमान :

पदार्थ से भिन्न, उसका कर्त्ता चालक कोई नही
अपनी ही गति मे से आप वह आविर्मान, भूयमान, प्रवर्तमान ।
मनुज, द्रष्टा, सूर्य, मनस से भी पूर्व, आप ही जलोभूद्गत
विश्व-तत्त्व अपना ही प्रवर्तक है ।

तब आये ब्रह्मनस्पति, बोले अनस्ति मे से अस्ति हुई
शून्य मे से सृष्टि हुई असत् मे से सत् हुआ
असत् ही अनादि अनन्त अदिति, जनेता सृष्टि की
वैश्विक काम दक्षा मे से जन्मी अदिति अदिति मे से फिर जन्मी दक्षा
पर यह अदिति पृथ्वी के पार, आकाश-बद्ध, दिशा-बद्ध
क्षितिज के अन्तहीन विस्तार मे से उत्तानपाद द्वारा जन्मी है अदिति
अनन्त होकर भी वह है सान्त, सान्त हो कर भी वह है अनन्त ।
पर क्या अनुभव्य से परे और कुछ नही ? अनुभव मनस् मे है
मनस् ही प्रजापति, विधाता भगवान मनस् मे से है सब कुछ आविर्मान ।

फिर लौटे दीर्घतमस, बोले नही जानता अपना सत्य
मै हूँ बन्धन ग्रस्त, भटक रहा अपने ही मनस् के अँधेरो मे
कदाचित् वह आदि तत्त्व है कोई अजन्मा, एकमेव अखण्ड, रहसिल,
स्वधा, स्वनिर्भर, अमर –
जो सदा रहेगा अगम्य अज्ञेय रहस्य ही
उसी एक अगम्य, अज्ञेय, अनिर्वच को
कई सद्विप्र बहुधा कहते है
मूल म वह है अमर्त्य तूल मे वही है मर्त्य
मर्त्य अमर्त्य दोनो ही है सहयोनि सहजात
मूल म वही है अक्रिय, प्रकट मे वही है सक्रिय
एक विश्व वृक्ष पर दो पछी एक फल खाता है दूसरा नही खाता,
केवल करता है चिन्तन चुपचाप
शायद वही तो हूँ मै आप

हिरण्यगर्भ हुए भावाकुल अपने से परे यह कौन,
जिसे जानकर जानू मै अपने को ?
मेरा आधार कौन ? मेरा सृजनहार कौन ?
प्रजापति से परे कौन ? 'कस्मै देवाय हविष्या विधेम् ?'
जल से ऊष्मा, ऊष्मा से अग्नि, अग्नि से सूर्य, सूर्य से अग्नि
दक्षा से अदिति, अदिति से दक्षा, अदिति से आदित्य–

सुवर्ण-बीज, अग्निगर्भ, हिरण्यगर्भ, सुपर्ण-बीज !
. . किन्तु इससे भी परे कौन तुम ? . . कस्मै देवाय ?
. . हाय रे चित्त को नहीं चैन, नहीं समाधान ! . .

. . तब आये विश्वकर्मा : उनकी दृष्टि शिल्प-चेतस थी :
पूछा उन्होंने : किस वृक्ष-वन में से यह विश्व
हुआ है शिल्पित, आकृत, मूर्तिमान ?
बोले कि मूल स्रोत ईश्वर है, वही है प्रथम और अन्तिम :
वही है आदि सत्ता, वही है अस्ति : वही आदि वृक्ष-वन .
यह सारा विश्व उसका पल्लवन
वही एक-एव, वही अज, वही शक्ति-मनस्,
वही सर्जक, विसर्जक सर्वोच्च सत्ता,
वही सञ्जक, सूचक, व्याख्याता, परिवर्ता :
उसका यह नाना रूपात्मक सृजन ही उसका आवरण :
माया का आल-जाल . . !
हृदय के गहन मे लीन होकर, सर्व में करो एकात्म-बोध :
करो उस परमतम एकत्व का साक्षात्कार ! . .

प्रश्न नही हो सका समाप्त । और आगे बढ़ा—
मै कौन ? वह कौन ? माना यह विश्वतत्त्व है ज्ञेय,
पर इसका ज्ञाता यह मै कौन ?
इसके और मेरे बीच यह कैसी अनन्त विरह-रात्रि का प्रसार ?
अज्ञात, अज्ञेय, अनादि, अनन्त रह कर,
हाय, नही रे मेरे प्राणों के प्राण की वेदना से निस्तार !
. . यज्ञ की वेदी पर यूप से बधा मैं शुन:शेप,
हाय, मै आक्रन्द कर पुकार रहा :
'अरे कौन है देवों मे ऐसा सामर्थ्यवान,
जो उस गोचर अनुभव्य, फिर भी अनन्त
अदिति माँ की गोद मे लौटा दे मुझे,
जिससे मै जन्मा हूँ जो मेरा उद्गम भी, विस्तार भी;
जो मेरा अनन्त भी, सान्त भी
ओ माँ अदिति, तुम्हे कहाँ खोजूँ मै ?
नाचिकेतस्, अमर हुए तुम ब्रह्म-पारायण मे ?
[illegible]; मृत्यु से पार किसने देखा है तुम्हारा अमर-लोक ?
याज्ञवल्क्य का गार्गी नही, मैत्रेयी अभीष्ट है । पर क्या वे उस पर रुक सके '

मैत्रेयी तुम कहाँ चली गयी ? मेरी एकमेव मित्रा ।
कहाँ हो तुम, ओ अदिति, आत्म-रूपा, अनन्त-रूपा ?
तुम नही, तो मै नही ।
तुम्हे देखे बिना जाने बिना, अपने को जानना सम्भव नही,
और अपने को न पहचानूँ, तो जीना सम्भव नही ।
कौन जिये ? क्या जिये ? कहाँ जिये
हाय, कैसे जिया जाये ?'

कविता समाप्त करते करते, मैने देखा, सोमेश्वर का सारा चेहरा, जैसे पारदर्श अग्नि हो गया था। उस अग्नि मे, लेकिन, बहुत गहरे कही, एक नीली शीतल, उर्मिल नदी थी। क्षण भर हम परस्पर एक दूसरे को आर पार देखने को उत्कंठित चुप हो रहे।

'सोमेश्वर, ऊपर से नीचे तक कवि हो। मैने उशनस को देखा मैने उद्गीथ को साक्षात् किया। अमर्षण से नचिकेतस् तक, ज्ञान की एक अखण्ड धारा को प्रवाहित देखा। प्रश्नों और उत्तरों की एक अन्तहीन तरग माला। सृष्टि की आदिकालीन महावेदना मे से प्रसूत वेद और उपनिषद् के सूर्य-पुरुषों को देखा। और तुम भी उनमे से एक हो, मित्र। तुम्हारी वेदना को समझ रहा हूँ।'

'क्या उपाय है वर्द्धमान, जो हू, वही तो रचा है। मै नही रुक सका, महान् याज्ञवल्क्य और नचिकेतस् पर भी। लेकिन आगे, पता नही ?'

'हॉ, हॉ, ठीक है। क्यो रुको कही भी, जब तक समाधान अपना अत्यन्त निजी न पा जाओ। व्यक्ति के होने का यही तो प्रयोजन है। सो अनुत्तर ज्ञान के जिज्ञासु का प्रश्न अत्यन्त निजी होगा ही। निजता बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसी से तो कवि हो तुम।'

'चैन नही है, मान । प्रश्न इतना तीखा हो उठा है, कि अपनी इयत्ता हाथ मे निकली जा रही है। एकाएक देह गायब होती सी लगती है। और भयभीत हो जाता हूँ।'

'समझ रहा हूँ, सोम । मृत्यु की अनुभूति । यानी फिर गर्भ मे लौटने की कामना। अच्छा यह बताओ, अपनी मॉ की तुम्हे याद है ?'

'माँ को मैने नही देखा। एक विचित्र स्वप्न जैसी स्मृति है एक सान्दर्य की नील आभा-सी कही देखी है। तन्वगी। और हमारे कुटीर के सामने मे बहती सुपर्णा नदी के प्रवाह पर कही, एक श्वेत वसना तापसी को दूर दूर जाते देख रहा हूँ। वह ओझल हो गयी मै तट पर अकेला छूट गया हूँ। पिता इतने अन्तर्मुख थे कि उनसे मेरा बालक कोई उत्तर कभी न पा सका। मै दो बरस का था, मुश्किल से।'

'समझ रहा हूँ सोम, कहाँ है तुम्हारी ग्रंथि । प्रजापति परमेष्ठिन् की आदि माता अदिति को तुमने ठीक पकडा है। वह अनन्त थी, सर्व का उत्स थी। लेकिन पृथ्वी पार के आकाश और अन्तरिक्ष के क्षितिज से परिसीमित थी, ऋषि के लिए। द्यावा और पृथ्वी की मिलन रेखा था वह देवों की आदि जनेत्री। सुन्दर है, सुखद है। पर पूछता हूँ, उससे भी परे जाने मे भय क्यो है ? एक और अदिति एक ओर। तब एक अनुत्तरा अदिति। जहॉ फिर तुम स्वय ही हो, अपने लिए पर्याप्त। द्वितीय कोई अनावश्यक।'

'लेकिन मै कवि हूँ, मान ? सृष्टि से विराम या पलायन मेरा अभीष्ट नही। लोक से परे और अलग, कोई लोकोत्तर आत्म मुझे नि मार दीखता है। कल्पना मात्र।'

'ठीक कहते हो। ऐसा कुछ लोकोत्तर है भी नही। क्योंकि जो सत् है, अस्ति है, वह लोकाकाश से परे कही नही। और आत्म यदि सत् है, तो वह लोकातीत कैसे हो सकता है ? पर अपने आपमे वह निर्ग्रंथ और अनन्त हो सकता है। एक शुद्ध और स्वतत्र द्रव्य हो सकता है। एक सर्व से अनिर्भर, स्वाधीन क्रिया। . वही तो अदिति है।'

'पर तुम पूछ रहे थे, मान, और भी परे जाने मे भय क्यो है ? भय यों है, कि अवबोधन से परे, कोई अनन्त शून्य—कुछ नही वह तो असह्य है। मै अनन्त शून्य नही, अनन्त जीवन चाहता हूँ। समझ रहे हो न मेरी वेदना ?'

'खूब समझ रहा हूँ, सोम ! पर शुद्ध आत्म तत्व, कोई अपदार्थ शून्य नही। एक नितान्त द्रव्य पदार्थ, सवेद्य सत्ता है वह। वह एकदम ग्राह्य, भोग्य, स्वाद्य है। एकदम तुम्हारी अपनी, तुम्हारे हाथ की वस्तु ! गाढतम आलिगन मे आबद्ध प्रिया से भी अधिक सत्य, अविच्छेद्य, अवियुक्त, एकदम तुम्हारी केवल तुम्हारी ! अनन्त जीवन चाहते हो न, तो उसके नित्य भोक्ता, ज्ञाता, द्रष्टा होने को स्वय अनन्त होना चाहोगे कि नही ?'

'सान्त मे परे, अदिति से परे का कोई अनन्त नही !'

'तुम्हारी आत्मा ही वह अदिति है, सोम ! सान्त और अनन्त दोनों है वह, तुम्हारी चाह के अनुसार। काम तुम्हारा एकाग्र और आत्मकाम हो, तो माँ, प्रिया, जिस रूप मे चाहो, अदिति तुम्हे सुलभ है। कभी वही तुम्हे अपने अनन्त गर्भ से जन्म देकर सान्त मे लाती है। कभी वही सान्त प्रिया का आलिगन बन, तुम्हे फिर अपने अनन्त गर्भ मे मुक्त कर देती है। अनन्त और सान्त एक ही द्रव्य वस्तु के दो भाव है, दो परिणमन है। ऐसे अनन्त भाव एक साथ सम्भव है, आत्मा मे और वस्तु मे। वह सान्त भी है, अनन्त भी है। वह अनेकान्त है, सोम ! अनेक रूपा है अनेक भाविनी है। सो वह अनन्तिनी है। और जो अनन्त सभव है, वह सान्त भी होने से कैसे इन्कार कर सकती है। एक खास परिप्रेक्ष्य मे, वह तद्रूप हमे सुलभ होती है। ऐसी सुलभता जहा है, वहा भय कैसा, विरह कैसा ?

'उद्बुद्ध हुआ, महावीर ! तुम अजीब हो। इतने खुले और मुक्त हो, कि कही कोई शब्द या भाव का घेरा तुम पर नही। जब जो जी चाहता है मेरा, वही तुम हो जाते हो मेरे लिए। मेरे हर प्रश्न के मनचाहे उत्तर तुम, अद्वितीय। तुम्हारी बातों से, बडी सुरक्षा और ऊष्मा महसूस हो रही है।'

'तो मेरा होना कृतार्थ, सोम ! लेकिन माँ को जो तुमने नही देखा, नही पाया, वह बहुत महत्वपूर्ण है। सहायक है। तूलगत उस वियोग मे से, मूलगत योग सम्भव है। यह विरहानुभूति, हर किसी छोटे छोर पर तुम्हे अटकने नही देगी। अनन्त होकर ही चैन पाओगे।'

'क्या सोचते हो वर्द्धमान, याज्ञवल्क्य समाधिस्थ हुए, सम्पूर्ण हुए ?'

'निश्चय। योगीश्वर थे याज्ञवल्क्य ! अघमर्षण से आरुणी उद्दालक तक सारे ऋषि, मनीषी थे, चिन्तक थे, द्रष्टा थे। याज्ञवल्क्य साक्षात्कारी योगी थे। इसी से वे किसी एकान्त पर नही अटके। वे अनेकान्त-पुरुष है। वेद और उपनिषद् के सारे ही ऋषियों का चिन्तन, उनके दर्शन मे

समन्वित हुआ। सबको यथास्थान, सापेक्ष भाव से उन्होंने स्वीकारा।'

'योग से तुम्हारा मतलब . . ?'

'विकल्पात्मक, क्रमिक चिन्तन नहीं। आत्म-ध्यान में एकाग्र, अविकल्प वस्तु- साक्षात्कार। सकल चराचर वस्तु-जगत को उन्होंने अपने आत्म-ज्ञान के प्रकाश मे, प्रत्यक्ष परिणमनशील देखा। वस्तु के अनन्त स्वरूप के साथ, वे देश-काल के भेद से परे तद्रूप हो गये। देखना, सोचना समाप्त हो गया। जो है, वह प्रतिपल अनुभव्य, भोग्य, संवेद्य हो गया।'

'उन्होंने एक नहीं, दो स्त्रियों के साथ विवाह किया, योगी होकर ! स्त्री की उन्हे अपेक्षा थी, नहीं ?'

'थी और नहीं भी। उनकी पत्नियाँ उनके योग में साधक ही हुईं, बाधक नहीं। अल्पज्ञा कात्यायनी उनकी भार्या हो रही : उनकी देह का भार उसने वहन किया। विज्ञा मैत्रेयी उनकी जाया हो रही, उनकी प्रज्ञा उसमें प्रकट हुई। शिल्पित और साकार हुई। जो पूर्ण योगी है, वह विधि-निषेध से बाधित नहीं। अपनी आन्तरिक आवश्यकतानुसार वह जो चाहे ले, जो चाहे न ले। वह स्वाधीन होता है, अपने काम मे भी, कामना मे भी। क्योंकि वह अपना स्वामी होता है।'

'तो क्या याज्ञवल्क्य जन्मना योगी थे ?'

'निश्चय ! नही तो ऐसे पूर्णत्व की सिद्धि एक जन्म मे सम्भव न होती। और जिसने जड़ गुरु परम्परा तोड़ कर, सीधे सूर्य से शुक्ल यजुर्वेद विद्या प्राप्त की, वह तो जन्मजात योगी था ही।'

'तो फिर उनके जीवन मे, बाहर से इन स्त्रियों की अनिवार्यता समझ न सका।'

'अन्तत बाहर-भीतर जैसा कुछ है ही नही। सत्ता के भीतर जो स्वत स्फूर्त परिणमन है, उसी का रूपात्मक परिणाम जीवन है। भीतर के उपादान से ही ये स्त्रियाँ उनके जीवन मे आयी थी।'

'उपादान किसे कहते हो ?'

'भीतर की स्वतंत्र चिति-शक्ति। भीतर की अनन्त-सम्भावी आत्मशक्ति। स्वयं प्रज्ञ, स्वयं-प्रचेतस् सत्ता। वही अन्तत. निर्णायक है।'

'यह तो कुछ ईश्वरी-शक्ति जैसा हुआ ?'

'शब्द पर मै नही अटकता। भाविक जिसे ईश्वर कहने को विवश है, तात्विक उसी को शुद्ध परम सत्ता कहता है।'

'तो तुम ईश्वर-कर्तृत्व पर पहुँचे ?'

'हॉ, और नही भी ! कहीं कोई, हमसे अलग, वस्तु से अलग, कर्त्ता ईश्वर है, ऐसा नहीं। वस्तु मात्र के भीतर जो उसकी ज्ञाता, द्रष्टा, स्वय-संचालिका, स्वधा, स्वयम्भु प्रज्ञा है, वही ईश्वरी शक्ति है। सत्ता, उपादान, परिणमन, की जो शुद्ध क्रिया, वही ईश्वरी शक्ति। भक्त के भाव में वही भगवत्-तत्व है, ज्ञानी के ज्ञान मे वही शुद्ध सत्-तत्व है।'

'तो कहना चाहते हो, कि याज्ञवल्क्य के जीवन में ये स्त्रियाँ उनकी कामना से न आईं, उनकी अन्त सत्ता या उपादान के निर्णय से आईं ?'

'निश्चय। भीतर का जो आत्म है न, वही अपने रूपात्मक परिणमन मे आत्म-काम होता है। कामना उनमे हुई नारी की, तो इस परिणमन के भीतर से ही। वह निरी लिप्सा नहीं, अभीप्सा

थी, उच्चतर मे संक्रान्त होने की।'

'तो इन स्त्रियों को पाना, उनकी आत्म-परिपूर्ति में अनिवार्य था ?'

'हो सकता है। उनका जीवन इसका प्रमाण है। भार्या कात्यायनी और जाया मैत्रेयी विधायक शक्तियों के रूप मे दीखती हे। ये सस्थापक यानी वादी शक्तियां है। गार्गी प्रतिवादी शक्ति थी। उसके प्रतिवाद से वे और भी प्रबुद्ध और चैतन्य हुए। तब वादी और प्रतिवादी शक्तियों के सघात से, सवाद सिद्ध हुआ उनके जीवन मे। वे समरस और प्रगत हुए।'

'प्रगत से मतलब ?'

'पूर्णत्व की दिशा मे आगे बढ़े !'

'नारी का त्याग करके, या उसे ले करके !'

'अतिक्रान्त करके, जिसमे त्याग और ग्रहण का भेद नही। तब जो बाहर है, उसकी स्थिति बाहर अनिवार्य नहीं रहती, भीतर स्यगत, आत्मगत हो जाती है।'

'सन्यास के समय वे मैत्रेयी को त्याग तो गये ही।'

'त्याग नही गये, आत्मसात् कर गये। बाहरी सम्बन्ध अनिवार्य न रहा। अहकाम, आत्मकाम हो गया, आप्तकाम हो गया।'

'समझा नही।'

'याज्ञवल्क्य ने उस क्षण जो आत्म निरूपण मैत्रेयी के समक्ष किया, उससे वह स्पष्ट है। प्राथमिक अवस्था मे, जीवन मे सौन्दर्य, प्रेम, दाम्पत्य, घर, सन्तान, स्वजन-बाधव, देवी-देवता, समाज, राष्ट्र, परोपकार, विश्व-सेवा आदि मे जो हमारा अनुराग है, वह अपने आत्म को लेकर है, उन वस्तुओं या व्यक्तियों को लेकर नही। उनमे हम अपने ही को प्रेम करते है। उत्तरोत्तर अनुभव से इस अहकाम का मिथ्यात्व साक्षात् होने लगता है। प्रत्यय होता है, कि प्रेम अन्तत आत्मगत है, परगत नही। हम सबमे अपने ही को प्रेम करते है, उनको नही। क्रमश. निष्क्रान्त होकर, यही अहंकाम, शुद्ध आत्मकाम हो जाता है। यह अहम् ही सोहम् हो जाता है। अहकार सर्वाकार हो जाता है। ममता, समता हो जाती है। स्वार्थ ही पराकोटि पर पहुँच कर परमार्थ हो जाता है। तब बाहर के सर्व मे आसक्ति नही, स्वार्थ नही, परमार्थ भाव हो जाता है।

'याज्ञवल्क्य की यह विशेषता रही, सोम, कि उन्होंने आत्मा के विकास-क्रम मे, जीवन की हर चीज को, सम्बन्ध को विधायक स्वीकृति दी है। यथास्थान स्वीकारा है। विकास मे आपोआप ही, आज का अहकाम प्रेम, यथाक्रम शुद्ध आत्मकाम हो रहेगा। उन्होंने अहगत आत्मकाम और सर्वगत आत्मकाम मे, प्रकार-भेद नही देखा, केवल गुण-भेद देखा है। विरोध या विसगति नही देखी : सामजस्य, संगति, सम्वाद देखा है। त्याग और ग्रहण, भोग और योग का उनके यहाँ सहज समन्वय हुआ है। उनकी उपलब्धि सर्व-समावेशी, अविरोधी और विधायक है। इसी से मै उनको पूर्णयोगी मानता हूँ। लोक और लोकोत्तर, धर्म और कर्म, स्व और पर के, सम्यक् स्वरूप और सम्बन्ध का उन्होंने साक्षात्कार कर लिया था। इसी से वे योगीश्वर थे। परापूर्वकाल में राजर्षि भरत ऐसे ही एक पूर्ण योगीश्वर हो गये। उनकी यौगिक स्थिति, स्वयं भगवान ऋषभदेव से उच्चतर कक्षा की थी। स्वय तीर्थंकर पिता ऋषभ ने भरत की इस महिमा को स्वीकारा था।'

'समाधीत हुआ, वर्द्धमान ! लेकिन यह जो 'नेति-नेति' याज्ञवल्क्य ने कहा, तो इसमें

नकार नही है क्या ?'

'नकार नही, यह पूर्ण स्वीकार का अनैकान्तिक रास्ता है, सीमा मे से भूमा मे जाने की एक सहज कुजी है यह । पूर्ण अखण्ड तक पहुँचने के लिए, यह खण्ड अपूर्ण से निष्क्रमण का द्योतक है । यही नही, यही नही, और भी है । इतना ही नही, इतना ही नही, और भी है । इति यहाँ नही, इति यहाँ नही, और भी है । अन्त यही नही, अन्त यही नही, और भी है । यानी इदम् से तदम् तक, सान्त से अनन्त तक, क्रमश सम्वादी रूप से, सहज पहुँचने की कुजी है— यह याज्ञवल्क्य का नेति-नेति ।'

'तुम कितना साफ और आर पार देखते हो, काश्यप ! अद्भुत । अच्छा, यह जो तुम सत्ता कहते हो न, वह बहुत धुधली लगती है । परिभाषा उसकी सम्भव है क्या ?'

'अन्तिम सत्ता, सत्, अपरिभाषेय है, अनिर्वच है । वह अनेकान्त है, अनन्त है । अनन्त और अनेकान्त कथ्य नही । कथन मात्र सापेक्ष ही हो सकता है ।'

'तुमने कहा कि ईश्वर कर्तृत्व है भी, नही भी । क्या कोई एकमेवाऽद्विनीय, सर्वव्याप्त, अद्वैत परब्रह्म, कर्ता ईश्वर तुम्हे दीखता है कही ?'

'मैने कहा न, भाविक उस परमार्थिक सत्ता को भगवान कहता है, तात्त्विक उसी को केवल परम तत्व, परम सत्ता । यह केवल दृष्टि भेद है । सत् अनेकान्त है, तो उसके ज्ञाता द्रष्टाओं की दृष्टि मे भेद हो ही सकता है । आत्मा, परमात्मा, विश्वात्मा, विश्व, वस्तु, मे जा अभेद है देखते है, वह महासत्ता की अपेक्षा । जो भेद देखते है, वह अवान्तर सत्ता की अपेक्षा । भेद-अभेद, द्वैत अद्वैत ये सब बौद्धिक ज्ञान से उपजी सज्ञाएँ हैं । परम तत्व बुद्धिगम्य नही, बोध गम्य है, कैवल्य गम्य है । भेद विज्ञान बौद्धिक अपरा विद्या है । अभेदज्ञान आनुभूतिक परा विधा है । वह पारमार्थिक सत्ता, भेद-अभेद, द्वैत-अद्वैत, भाव विभाव, नित्य-अनित्य के सारे भेदज्ञान से परे है ।

'इसका कारण यह है, सोम, कि शुद्ध सत्ता अत्यन्त सुनम्य, प्रवाही, अनन्त परिणामी है । जो जिस रूप म उसे पाना चाहता हैं, उसी रूप मे उसे वह उपलब्ध हो जाती है । क्योकि वह अनेकान्त और अनन्त है । जिसने उसे ईश्वर रूप मे पाने की अभीप्सा की, उसे उसी रूप मे उसने पूर्ण साक्षात्कार कराया । जिसने उसका शुद्ध आत्म साक्षात्कार या तत्व साक्षात्कार पाना चाहा, उसको उसी रूप मे वह उपलब्ध हुई । अब जो अकथ और अनन्त है, उसम असम्भव क्या है, और उसको लेकर दृष्टि विशेष का कोई भी मत या सम्प्रदाय बनेगा, तो वह मिथ्यादृष्टि ही हो सकता है । विरोधी आग्रह मात्र मिथ्यात्व हे । सबके प्रति स्वीकारात्मक समर्पण, समन्वय ही एकमात्र सम्बुद्ध सम्यग्दर्शन कहा जा सकता है । सत्ता के परिणमन अनेक भावों मे है । सो हरेक को वह स्व-भावानुसार भासती है । उसको लेकर जो झगड़े मे पडे है, वे एकान्ती और अज्ञानी है ।'

'लेकिन वर्द्धमान, देख तो रहे हो, वैदिक अग्निहोत्रियों की भी कई शाखाएँ है । उपनिषद् के ब्रह्मज्ञानी ऋषियों के भी कई सम्प्रदाय है, शाखाए है । और तुम लोगों का कुल पार्श्वानुयायी है । उनका सिद्धान्त अलग है । वे अपने को जैन श्रावक कहते है । उनके मुनि, ऋषि नही, श्रमण कहलाते है । सबमे विवाद है, विग्रह है । तुम भी तो जैन ही हो न, वर्द्धमान ?'

'नही, मै जैन नही, सोमेश्वर । जिन होना चाहता हूँ, तो जैन होकर कैसे रह सकता हूँ ?

अपने को जैन कहूँगा तो सम्प्रदायी, विवादी हो जाऊँगा । एकान्तवादी हो जाऊँगा । और जो एकान्तवादी है, वह सम्यक्-दृष्टि कैसे हो सकता है । वह तो मिथ्यादृष्टि ही हो सकता है । मैं अनेकान्ती हूँ. सो जैन नहीं हो सकता, किसी परम्परा या सम्प्रदाय का अनुयायी नहीं हो सकता । मात्र आत्मदर्शी, आत्मानुयायी, स्वयं आप हो सकता हूँ । जो जिन है, वही ब्रह्म है । ऋषि प्रायः सत् और ऋत् का केवल ज्ञाता-द्रष्टा होता है . श्रमण मे वही शुद्ध दर्शन-ज्ञान तपस-युक्त होकर आचार बनता है । राजर्षि जैवलि, राजर्षि अजातशत्रु, राजर्षि प्रतर्दन मे, ब्राह्मण उत्तरोत्तर श्रमण भी होता गया । याज्ञवल्क्य मे इनका उदात्त सर्वतोमुखी समन्वय प्रकट हुआ । नचिकेतस् मे वह और भी उत्क्रान्त हुआ । महाश्रमण पार्श्वनाथ मे सत्, ऋत् और तपस् की यह सयुति अपने चूडान्त उत्कर्ष पर पहुँची । . . '

'फिर तुम्हे अपने को उनका अनुयायी कहने मे संकोच क्यो ?'

'मेरे मन हर अनुगमन, एक हद के बाद मिथ्या दर्शन हो ही जाता है । अनुयायी एकान्तवादी हुए बिना रह नही सकता । शुद्ध सत्यार्थी, अनुयायी और स्थिति-पोषक हो नही सकता । सत्य और मुक्ति के मार्ग की कोई पक्की सड़क नही बन सकती । हर परम सत्य के खोजी को, अपने स्वभाव और स्वधर्म के अनुसार, एक कुँवारा जगल चीर कर, अपनी मुक्ति का मार्ग स्वय पा लेना होता है । पार्श्वनाथ पर मै समाप्त कैसे हो सकता हूँ । मेरी खोज उनसे आगे भी तो जा सकती है । सत्ता यदि अनन्त है, तो जीवन मे, व्यक्ति मे, उसकी सम्भावना भी तो अनन्त है । सो मै जैन नही सोम, निरन्तर वर्द्धमान महावीर हूँ । स्वय आप हूँ ।'

'साधु, साधु, मित्र । तुम तो सचमुच अपने नाम के अनुरूप ही निरन्तर वर्द्धमान हो ! तो तुम मानते हो, कि विकास-प्रगति जैसा कुछ है ?'

'सत्ता अनन्त है, और निरन्तर परिणामी है, तो विकास-प्रगति है ही । पर वह सीधी रेखा मे नही, चक्रावर्ती है ।'

'तो तुम आदि वैदिक ऋषियों से लगाकर, इन वर्तमान के सजय वेलट्ठिपुत्र आदि तथाकथित तीर्थकों तक कोई विकास की एक अटूट धारा देखते हो . ?'

'निश्चय ही । वेद ही क्यों, जाने किस अनादिकाल से ज्ञान की एक अविच्छिन्न धारा चली आ रही है । और युगयुगान्तर मे, देश-कालानुरूप विश्व और मानव की नित नूतन रचनाएँ हुई है । और जैसे इस ज्ञेय विश्व और इसके ज्ञान की एक सुश्रृखल्रित धारा है, वैसे ही इसके विभिन्न युगीन परम ज्ञानियों की भी एक अटूट धारा है । ज्योतिर्धरो की एक जुडी हुई जाज्वल्यमान परम्परा है । वाद, प्रतिवाद और फिर सम्वाद के अनैकान्तिक चक्रावर्तन मे होकर, विकास-प्रगति की यह परम्परा अनन्त मे गतिमान है । जोत से जोत जलती जा रही है, सोमेश्वर ।'

'तो तुम नही मानते कि वैदिक और जैन, ब्राह्मण और श्रमण की धाराएँ सर्वथा अलग, विशिष्ट और समानान्तर है ?'

'भेद मात्र अन्तर या अवान्तर धाराएँ हैं । महाधारा केवल एक है । जैसे महासत्ता केवल एक है । उसी के अनैकान्तिक रूप है, ये विभिन्न मत, सम्प्रदाय, धर्म, दर्शन । और कौन धारा पहले से है या पीछे से आई, यह भी एक मण्डल मे आगा-पीछा देखने जैसा ही भ्रामक है । ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का एक अन्तहीन चक्राकार परिणमन है, जो अनन्त आयामी है । उसमे पूर्वापर, आगे-पीछे

और ऊपर-नीचे ऑकना भी एक अपूर्ण दर्शन का अज्ञान ही कहा जा सकता है।'

'तुम तो ऐसे समीचीन और समग्र बोल रहे हो, काश्यप, कि अनपूछे भी अनेक प्रश्न उसमे उत्तरित हो जाते है। ऋग्वेद के आदि द्रष्टा अघमर्षण से आज तक के स्वतन्त्र विचारकों के बीच का तारतम्य, मेरे हित, खोलने का कष्ट करोगे, भाई ।'

'तुम्हारी कविता मे उसकी भावात्मक सामासिकता है तो। वही अभीष्ट है, और पर्याप्त भी।'

'लेकिन यह जो चक्रावर्ती विकास की बात कही न तुमने। उस शृंखला की कड़ियाँ यदि स्पष्ट करो तो ।'

'देखो सोम, आदि और अन्त, न बुद्धि से बनता है, न बोध मे वह ग्राह्य है। अनादि और अनन्त स्वीकारने मे ही समाधान है। ऋग्वेद के ऋषियों की ठीक पिछली जातीय स्मृति जलाप्लावन की है। सो अपनी प्रत्यभिज्ञा मे वे लौट कर, आदि मे जल ही देख पाते है। ऋग्वेद काल की चेतना सामुदायिक है, और बहिर्मुख भी, सो उसकी वाणी भी वैयक्तिक नही, सामूहिक है। अघमर्षण, प्रजापति परमेष्ठिन्, ब्रह्मनस्पति, हिरण्यगर्भ, विश्वकर्मा—ये व्यक्ति नही, प्रतीक पुरुष है। कई अज्ञात नाम ऋषियों ने मिलकर उद्गीथ रचे, और इन प्रतीक पुरुषों के मुँह मे रख दिये। उनमे अपने नाम का ममत्व नही, केवल समवेत गान का उल्लास था। ये आदि मन्त्र द्रष्टा कवि थे। अनन्त विराट् प्रकृति के विविध सौन्दर्यों से भावित होकर इन्होने अपने उद्गीथों मे एक समग्रात्मक बोध व्यक्त किया। यह प्राण पुरुष का उद्गायन है। क्रमश इनमे प्राण से मनस की ओर विकास दीखता है।

'अघमर्पण को आरम्भ मे, केवल एक अज्ञात घनाटोप तमस् मे से, जल का आविर्भाव होता दीखा। जल के विविध वस्तु रूपों मे प्राकट्य का कारण खोजते, वे काल बोध तक पहुँचे सम्वत्सर, ऋतु, मास। वैविध्य और परिवर्तन के कारण की खोज मे, वे तपस् पर पहुँचे। यों जल मे से अग्नि, और अग्नि मे से सूर्य तक आये। सम्वत्सर पर पहुँचे तो उन्हे लगा कि उसी से यथाक्रम सूर्य, चन्द्रमा, द्यावा, पृथ्वी, आकाश, प्रकाश आविर्भूत हुए। दिन-रात हुए। उस काल पुरुष मे से ही जीवन और मृत्यु भी आये। इस तरह काल तक पहुँच, उनके हाथ ऋत् भी लगा। अर्थात् उन्हे विश्व प्रक्रिया मे कोई निश्चित अधिनियम और क्रम भी काम करते दीखा।

'प्रजापति परमेष्ठिन् की जिज्ञासा ने आगे बढ कर प्रश्न उठाया कि —सत्, सत् मे से आया है कि असत् मे से ? सत्ता के पूर्व शायद कुछ न रहा हो, शून्य ही रहा हो। वे चक्कर खाकर यहाँ आये कि आदि मे न सत् था, न असत् न अस्ति, न नास्ति। बस, जाने कहाँ मे 'गहनम् गभीरम्' जल उमड़ता दीखता है। है न यह ऋषि निरा कवि, सोम ? केवल एक प्रत्यक्ष बोध से भावित। इस जल मे ही स्वत स्फूर्त काम उत्पन्न हुआ। इस अकारण आदिम ईहा मे से ही उनके हाथ मनस् आया। और इस मनस् मे से उन्हे आद्य चैतन्य झाँकता दीखा। सो आदि कारण मे इस प्रकार चैतन्य की परिकल्पना विकसती दीखती है।

'ब्रह्मनस्पति ने इस आदि ईहा या काम को अनन्त देखा, सो उसके कवि ने उसे अदिति कहा आद्या माँ। देख रहे हो न, भटकते पुरुष ने किसी अलक्ष्य माँ मे शरण खोजी। यही कही, निरी प्रकृत ईहा या काम, प्रेम की उदात्त भाव-चेतना मे विकसित होता दीखता है। फिर

अदिति मे से दक्ष जन्मी : दक्ष मे से अदिति जन्मी : देखा न, उद्गम और विकास सपाट रेखा में हाथ नही आते. चक्राकार परिणमन मे परिभाषित होते है । ब्रह्मनस्पति ने अदिति यानी अनन्त को पृथ्वी से पार के आकाश मे अवश्य देखा : मगर दिशा, क्षितिज और काल मे बद्ध देखा । प्रत्यक्ष ऐन्द्रिक अनुभव से परे इस आद्या अनन्तिनी को उन्होंने अमर, अविनाशी कहा । अमरत्व की प्यास जागी । और उसे विश्वाधार मान कर, जीवन गन्तव्य मे भी उन्हे अमृत दीखा । . .

'आगे दीर्घतमस् अन्तत: किसी एकमेव, अखण्ड, सम्पूर्ण, स्वाधारित, स्वनिर्भर तत्व तक पहुँचे । जो अक्षय्य शक्ति का स्रोत है, अनन्त, अमर, अविनाशी है । तमाम वस्तुएँ इसी एकमेव मे से निष्पन्न, परस्परापेक्षी, स्वधा, स्व-सचालित है । अपने मे स्वधा और स्वयम्भु होकर भी, वे उस परम एक मे से ही उद्भूत है । देख रहे हो न, अभेद महासत्ता और भेदात्मक अवान्तर सत्ता तक ये पहुँच गये । यानी अनेकान्त इनके चिन्तन मे स्पष्ट झलकता है । ब्रह्मनस्पति ने स्पष्ट कहा . 'एकम् सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'। फिर 'अमर्त्यो मर्त्येन सहयोनि' कह कर इन्होंने सत्ता की द्रव्यार्थिक अनश्वरता और पर्यायिक नश्वरता को भी ठीक पकड़ लिया । आगे बढ़ने पर हिरण्यगर्भ भगवत्ता मे भगवान दीखते है । किस परात्पर, परमतम को पूजे ? 'कस्मै देवाय हविष्या विधेम् ?' प्रजापति की भौतिक देवमूर्ति काफी नहीं दीखी । उससे परे पराभौतिक परमात्मा की ओर खोज बढ़ रही है । लेकिन विश्वकर्मा फिर चक्र मे लौट कर, मूर्त जगत के उद्गम मे, मूर्त आधार खोजते है । किस वृक्ष-वन मे से विश्व आकृत हुआ ? और फिर नीचे को अपने मे समेट कर, ऊपर की ओर लौट कर, सर्वदर्शी, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, एकमेव ईश्वर पर पहुँचते है । वह अदृश्य है, इन्द्रियातीत है । बीच का [illegible] मे उत्पन्न जगत, उसके हमारे बीच माया का आवरण है । जगदीश्वर जगत स्वरूप भी है, जगतातीत भी । देखा न, सत्ता अनेकान्तिक ही हाथ आई यहाँ भी । द्वैत भी, अद्वैत भी । नित्य भी, अनित्य भी । मूल द्रव्य मे अमर्त्य भी, पर्याय मे मर्त्य भी ।

संक्षेप मे, इसी बिन्दु पर मानव का दर्शन ज्ञान अन्तर्मुख हो गया . पराभौतिक अध्यात्म का सूत्रपात हुआ । यह वैदिक युग का अन्तिम चरण है । इसके ठीक बाद एक सक्रान्तिकाल आता है । ब्राह्मणों की वर्ण-व्यवस्था भग हो गई । विविध कुलों मे रक्त-मिश्रण हुआ । एक प्रचण्ड प्रतिवादी शक्ति यहा सक्रिय दीखती है जिसमे से महाक्रान्ति होती है । एक ओर रक्तशुद्धि, वर्णशुद्धि के आग्रही ब्राह्मण प्रतिगामी होकर, सत्ता और लालसा से प्रमत्त हुए । पुरोहितों ने वेदों पर ब्राह्मण रच कर अपने स्वार्थों के पोषक कर्मकाण्डी यज्ञों के विधान किये । यह ब्राह्मणत्व के पतन और अराजकता का युग है । इसके सघर्षण मे से ज्ञान की प्रगतिशील विद्रोही प्रतिवादी शक्तियाँ उदय मे आयी । प्रबुद्ध ऋषियो ने रक्त-शुद्धि की मिथ्या मर्यादाएं झझोड़ कर तोड़ दी । चाण्डाल, शूद्र और दासी स्त्रियो मे भी उन्होंने सन्ताने उत्पन्न की । ये सकर सन्ताने मौलिक ज्ञान के धुरन्धर सूर्यों की तरह उदय हुई । आत्मज्ञान की एकाग्र जिज्ञासा के फलस्वरूप, मनुष्य का विकास, सामुदायिक से वैयक्तिक चेतना स्तर पर सक्रान्त हुआ । इस वेदोत्तर आध्यात्मिक चेतना का आदि पुरस्कर्ता हुआ महीदास ऐतरेय । ब्राह्मण ऋषि की सवर्णी से इतर, यानी 'इतरा' शूद्र पत्नी की कोख से जन्मा यह पुत्र, सवर्णी पत्नियों से जन्मे शुद्ध ब्राह्मण-पुत्रों के समक्ष, पिता द्वारा उपेक्षित, अपमानित हुआ । इसी घायल आत्माभिमान के जख्म में से आगामी उपनिषद युग के अपराजेय आदित्य की तरह उदय हुआ महीदास ऐतरेय । 'मैं कौन हूँ : वह कौन है ?' का सर्वोपरि आध्यात्मिक प्रश्न इसी ने

उठाया। ब्रह्मज्ञान का आदि जनक यही शूद्र-कन्या इतरा का पुत्र महीदास ऐतरेय था। इसके अनुसरण मे सत्यकाम जाबालि आते दिखायी पड़ते है। उनकी माँ जाबाला को नही पता था कि किस ऋषि ने उसके गर्भ मे सत्यकाम को जन्म दिया। पहली बार एक आर्य-पुत्र, माँ के नाम-गोत्र से प्रसिद्ध हुआ। अज्ञात-पितृजात, इस जारज मनु-पुत्र ने उपनिषद-युग मे विकास का एक और सशक्त चरण भरा।

'और सोमेश्वर, इसी सन्धि-मुहूर्त मे सत्ता-प्रमत्त, वासना-प्रमत्त, लालसा-लम्पट भ्रष्ट ब्राह्मणत्व से टक्कर लेकर, आर्यों की प्रचण्ड नवोन्मेषी प्रज्ञाधारा को उत्तरोत्तर आगे ले जाने को, योद्धा क्षत्रिय राजा और राजपुत्र, एक हाथ मे शस्त्र और दूसरे मे शास्त्र लेकर, आधुनिक भारतीय पुनरुत्थान का नेतृत्व करने लगे। इन्होंने अपने बाहुबल को आत्म-बल मे परिणत कर दिया। अपनी लोहे की तलवार को अपने तप तेज मे गला कर, उसमे से इन्होंने ज्ञानतेज की नयी और अमोघ तलवार ढाली। सुन रहे हो, सोमेश्वर, प्रकारान्तर से तुम इन्ही ब्रह्मतेजस्वी क्षत्रियों के वशधर हो।

'इस धारा मे पाचाल के अधीश्वर राजर्षि प्रवहण जैवलि ने सर्वप्रथम, निरे द्रष्टा ब्राह्मणों के तत्वज्ञान को, आचार और पुरुषार्थ की कसौटी पर उतारा। पचाग्नि-सिद्धान्त रच कर, इन्होंने श्रमण पार्श्व के आगामी चतुर्याम सॅवर की नीव डाली, और परापूर्व के तीर्थंकर ऋषभदेव के महाव्रती धर्म का अनजाने ही पुनरुत्थान किया। देख रहे हो न, सत्ता की चक्रावर्ती विकास धारा।

'आगे फिर ब्राह्मण ऋषि गार्ग्यायन ने इसी जमीन पर, कट्टरपथी वैदिक ब्राह्मणों के कर्मकाण्डों और कामलिप्सु यज्ञों का विरोध किया। कहा कि लक्ष्य, भेदाभेद से परे निरुपाधिक शुद्ध ब्रह्म का साक्षात्कार करना है। इन्होंने सोपाधिक और निरुपाधिक, दो ब्रह्म-स्वरूपों का निरूपण कर, भौतिक और आत्मिक, जगत और जगदीश्वर मे सम्वाद स्थापित किया।

'इसके अनन्तर आये एक और क्षत्रिय योद्धा, काशीराज दिवोदास के पुत्र राजर्षि प्रतर्दन। उन्होंने भी ऐहिक और पारलौकिक कामना प्रेरित बाह्य यज्ञों का प्रचण्ड विरोध कर, आन्तरिक अग्निहोत्र का तपश्चर्या-मार्ग प्रशस्त किया। वे बोले कि उत्तरोत्तर अपनी ही दैहिक, ऐंद्रिक, प्राणिक, मानसिक सत्ताओ की, अपनी आन्तरिक ज्ञानाग्नि मे आहुति देकर, हमे परात्पर ब्रह्म तक पहुँचना होगा। उसे मात्र ज्ञान तक सीमित न रख कर, जीवन मे और आचार मे अवतरित करना होगा।

'इसके अनन्तर उद्दालक आरुणी और उनके पुत्र श्वेतकेतु, इन तप पूत राजर्षियों से, जीवन्त ब्रह्म विद्या प्राप्त कर महान श्रुतर्षि हुए। छान्दोग्य-उपनिषद मे उन्होंने एक अखण्ड प्रवाही सत्ता के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। नाना पदार्थों की स्वतन्त्र गुणात्मक सत्ता होते हुए भी, इस विराट् विश्व तत्व मे वे समष्टि रूप से अखण्ड प्रवाहित हैं। देख रहे हो, सोमेश्वर, अनेकान्त दृष्टि फिर प्रकाशित हुई। महासत्ता, विश्व प्रवाह मे अभेद, अखण्ड प्रवहमान है पर अवान्तर रूप से हर पदार्थ की अपनी गुणात्मक अस्मिता भी है ही। यानी द्वैत भी, अद्वैत भी। देख रहे हो न, अनैकान्तिक चक्रावर्ती विकास-क्रम। पुनरावर्तन, प्रत्यावर्तन, और तब उत्क्रान्त परावर्तन।

'फिर पाचाल के ब्राह्मण-पुत्र बालाकि को, विदेह के राजवशी राजर्षि अजातशत्रु ने, सत्ता

के भौतिक, दैहिक, प्राणिक, ऐंद्रिक, मानसिक, सारे चेतना-स्तरों को अतिक्रान्त कर अपनी बहत्तर हजार नाड़ियों के भीतर पर्यवसान पाकर, अन्ततः सुषुम्ना की राह सहस्रार मे परब्रह्म के साथ तदाकारिता उपलब्ध करने की एक वैज्ञानिक, क्रियायोगी विद्या प्रदान की। यहाँ से योग का सूत्रपात हुआ। योग द्वारा ही ब्रह्म को जीवन-मुक्ति और परा मुक्ति में उपलब्ध करने की विद्या को सिद्ध होना था। . .

'योगीश्वर याज्ञवल्क्य मे आकर वह पूर्णयोग सिद्ध हुआ। अपने मामा-गुरु से प्राप्त, रूढ़ि और जड़ कर्मकाण्ड प्रधान कृष्ण यजुर्वेद-विद्या का त्याग कर, दुर्द्धर्ष तपस्या द्वारा इस महाब्राह्मण ने सीधे सूर्य से शुक्ल यजुर्वेद-विद्या प्राप्त की। फिर कैसे उसके द्वारा इस महायोगी ने परात्पर कैवल्य-विद्या और बोधिमूलक ब्रह्मयोग को अपने जीवन मे उपलब्ध किया, चरितार्थ किया · कैसे उसके सर्वांगीण, सर्वतोमुखी योग मे परापूर्व से तत्काल तक की सारी मानवीय ज्ञान की उपलब्धियाँ समन्वित और सम्वादी हुईं, वह मै तुम्हे बता ही चुका हूँ। .

'इन्ही की परम्परा मे माण्डूक्य और पिप्पलाद भी सिद्ध योगी हुए। उन्होंने ब्रह्मलाभ के सक्रिय योग की गोपन कुजियाँ माण्डूक्य और कठोपनिषद मे प्रदान की।

'काशी के राजपुत्र तीर्थंकर पार्श्वनाथ के रूप मे, फिर इसी परम्परा मे एक और महासूर्य राजर्षि उठा। उसने दिगम्बर अवधूत होकर, सम्मेद शिखर पर्वत के चूडान्त पर, घनघोर कायोत्सर्ग की तपोसाधना की। फलत त्रिलोक और त्रिकालवर्ती निखिल पदार्थ-जगत के, एक-एक अणु-परमाणु का अनुत्तर साक्षात्कार कराने वाली केवलज्ञान विद्या उन्होंने उपलब्ध की। पार्श्व के आगे अभी ज्ञान नही जा सका है, सोमेश्वर।

'इस बीच फिर एक विच्छेद और सूर्यास्त का अन्तराल देख रहा हूँ, सोमेश्वर। क्षत्रिय और ब्राह्मण दोनों ही ब्रह्म-विद्या की उस तेजोमान परम्परा मे विच्युत दीख रहे है। ब्राह्मण पतन की पराकाष्ठा पर पहुँच कर, हिंसक पशुमेध यज्ञो द्वारा, कापुरुष और हततेज सिंहासनधरों को ऐहिक धन सत्ता और पारलौकिक स्वर्ग-प्राप्ति का आश्वासन देने के लिए, घनघोर कर्मकाण्डों मे डूब गये है। ब्राह्मण और क्षत्रिय परस्पर एक दूसरे के स्थिति पोषक होकर अधिकाधिक पतन के महागर्त मे गिरते जा रहे है। इस बीच वैश्यों ने अपने दुर्द्धर्ष वाणिज्य के पुरुषार्थ से, अस्तित्व के आधारभूत सुवर्ण-सम्पदा के क्षेत्र पर पूर्ण वर्चस्व जमा कर, इन ब्राह्मणों और क्षत्रियों को अपने हाथों का खिलौना बना लिया है। आज आर्यावर्त का भाग्य, शुद्ध सुवर्ण-जीवी वणिकों के हाथो मे खेल रहा है, सोमेश्वर। 'हिरण्मयेण पात्रेण सत्यस्यापि हितमुख' 'अरे सत्य का मुख भी सुवर्ण के पात्र मे ढँक गया है।' तेज और क्षात्रतेज एकबारगी ही बुझ गया है।

' ज्ञानावसान की इस रात्रि मे सजय वेलट्ठिपुत्र आदि तीर्थक् तपश्चर्यापूर्वक, फिर से आर्यावर्त के उस अस्तागत ज्ञान सूर्य की खोज मे भटक रहे है। ये सच्चे है, जिज्ञासु है, मुमुक्षु है, प्रखर और पराक्रमी है। दीर्घ तपस्या के पथचारी है। पर बौद्धिक चेतना से आगे इनकी गति नही। परब्राह्मी सत्ता के उपरि मानसिक ऊर्ध्व चेतना स्तरों की विद्या इन्हे सुलभ नही। सो ये बुद्धि के कुतर्की अस्त्र लिये, बंजर धरती मे, कुज्ञान की खेती कर रहे है। बडा ही पीडक और करुण है यह दृश्य, सोमेश्वर। आर्यावर्त की इस अवसान-सन्ध्या के तट पर, मेरा मन बहुत उदास है पर उदग्र भी कम नही ।'

'वर्द्धमान, इस सन्ध्या मे क्या किसी नई स्वर्ण उषा की आशा तुम नहीं देख पा रहे ?'

. . मै सहसा ही स्तब्ध, अवाक्, अन्तर्लीन हो रहा। और फिर जैसे किसी परावाक् तृतीय पुरुष को अपने में से बोलते सुना :

'सोमेश्वर, नूतन युग का यज्ञपुरुष अवतीर्ण हो चुका है। उसमे संयुक्त रूप से ब्रह्मतेज और क्षात्रतेज, आर्यावर्त की धरती पर मूर्तिमान विचरण करेगा। उस कैवल्य सूर्य की प्रतीक्षा करो, सोमेश्वर !'

'वर्द्धमान . . न्‌न्‌न् . .।'

वह स्तब्ध, मुग्ध, एक अपूर्व तेजोद्भासित दृष्टि से मुझे एकटक देख रहा था। मै प्रीति और प्रतीति की उस ज्वलन्त वेधक दृष्टि को जैसे सह न पाया।

मैने कहा

'सोमेश्वर, कल फिर आ सकोगे, एक बार ?'

'तुम जो चाहोगे, वह होगा ही, मान ! निर्णय तुम्हारा है, मेरा नही।'

और चुपचाप हमने समानान्तर चलते हुए छत पार की। मै कब सोमेश्वर से बिदा हो लौट आया, पता ही न चल सका। . .



अगले दिन सवेरे

'आ गये, सोमेश्वर ? कल तुम व्यथित, फिर भी उद्दीप्त आये थे। कविता मे अपनी व्यथा को बहा लाये थे न। . . पर शायद तुम्हे मुक्त न कर सका, व्यथित ही लौटा दिया। इसी से ।'

'व्यथित नही, समाधीत लौटा मै, वर्द्धमान !'

'हॉ, विस्तार मे गये हम, इतिहास मे फैले हम। व्यष्टि और समष्टि के प्रबल संघात से गुज़रे हम। तो उसमे व्यष्टि की व्यथा का क्षणिक उन्मोचन तो होता ही है। पर केन्द्र मे जो कसक है न, वह और भी तीव्र नही हुई क्या ? . . . कल रात सोना विरह मे हुआ, कि मिलन मे . . ?'

'वर्द्धमान, मेरी तहों के पार चले आ रहे हो तुम ! मै लज्जित हूँ।'

'लज्जित क्यो होओ, सोम ? स्वभावगत ओर सत्य है तुम्हारी व्यथा। वह गर्भवती और चिन्मती है। समष्टि मे खोकर मुक्ति सम्भव नही। केन्द्र व्यष्टि मे है। जहॉ से विश्व और इतिहास प्रवाहित है। व्यष्टि के केन्द्रस्थ और आत्मस्थ हुए बिना, समष्टि, विश्व ओर इतिहास के साथ उसका पूर्ण तादात्म्य सम्भव नहीं।'

'कसक यदि अब भी बनी है, मान, तो क्या उसी के लिए नही है ?'

'सो तो है। पर कसक मे कही अदिति का विरह है, उसकी याद दिला रहा हूँ। . .'

'वर्द्धमान . . ! खोलो मुझे मनचाहा। बोलो, क्या कहना चाहते हो ?'

'यह बताओ, सोम, लड़कियों से मिलते हो कि नहीं . ?'

सोम किंचित् लजा आया। चेहरे पर उसके रक्ताभा झलक उठी। वह चुप रहा, मैं उसे देखता रहा। वह बोला, कुछ रुँधा-सा :

'लड़कियों की क्या कमी है, वर्द्धमान ! सब जगह वे हैं, और सामने आती ही हैं . . ।'

'देखता हूँ, उनसे बच रहे हो। किसी खास लड़की की खोज में हो क्या ?'

'मान . . !'

'मतलब, किसी अदिति की खोज में ?'

'खोज कर क्या होगा, कहीं होगी तो आयेगी ही।'

'वह तो जब आनी होगी, तब आ जायेगी। तब तक यों विमुख और बच कर चलोगे, तो उलझन बढ़ेगी और अदिति उसमें लुप्त हो रहेगी। . . तुम तो द्वार बन्द करके बैठे दीखते हो !'

'ब्रह्मचर्य के अतिरिक्त, मुझे मिलन कहीं दीखता नहीं, वर्द्धमान।'

'लेकिन तुम्हारी कविता में जो अदिति की पुकार है, उसे क्या कहोगे ? . . स्त्री से तुम्हारा सरोकार मूलगामी है। . . तब भी तुम समझते हो कि स्त्री से मुँह फेर कर ही ब्रह्म में चर्या संभव है ? स्त्री में ब्रह्म न देख सको, तो उससे निस्तार कहाँ ?'

'ब्रह्म तो सर्वत्र है, मान। पर उसमें चर्या तो भीतर अन्तर्मुख रह कर ही सम्भव है न। बहिर्मुख होकर तो वासना-तृष्णा का अन्त नहीं दीखता मुझे। और उसमें प्राप्ति कहाँ . . ?'

'अन्तर्मुख होकर, कोई विमुख कैसे रह सकता है ? जो उन्मुख नहीं, वह अन्तर्मुख नहीं, अधोमुख लगता है मुझे। शुतुरमुर्ग की तरह। स्त्री को सन्मुख लोगे, तो वह अनायास भीतर समा जायेगी, और रिक्त भर कर मुक्त कर देगी। जीवन की अभिव्यक्ति में 'वह एक' ही तो दो, और फिर बहु हुआ है। रिक्त और विरह भीतर दिया गया है, कि जीवन उस व्यथा में से रस खींचकर वर्द्धमान हो। विरह जहाँ तीव्रतम है, वहीं पूर्णतम मिलन सम्भव है। . . नारी को सामने पाकर, शायद तुम भूल जाते हो कि 'वह एक' ही तो दो हुआ है : नर और नारी। तब इनमें से केवल एक यानी अर्द्धांग पर ही निगाह रख कर, उसकी जो उत्तरांशिनी बाहर चली आयी है जीवन की लीला के लिए, उसे अन्य या पर समझ कर उससे विमुख होओगे, तो अखण्ड और पूर्ण कैसे हो सकोगे ? सम्मुख होकर ही तो वह सम्पूर्ति सम्भव है। ब्रह्मचर्य और किसे कहते हैं ? तुम ब्रह्म हो, तो नारी उसकी चर्या है, क्योंकि ब्रह्म की चर्या उसी में होकर सम्भव है। वह तुम्हारे ब्रह्मचर्य की भूमि और कसौटी एक साथ है। जब तक नारी तुम्हारी दृष्टि में अन्य है, द्वितीय पुरुष है, तब तक ब्रह्मचर्य नहीं। अब्रह्मचर्य ही बना रहता है। इसी से कहता हूँ, जब तक उससे बचोगे, वह बाधा ही बनी रहेगी। तब एकमेव ब्रह्म में चर्या और मिलन कैसे सम्भव होगा ?'

'बचता हूँ, ऐसा तो नहीं लगता। जब तक नारी बाहर है, वह पर और इतर ही नहीं है क्या ? और भीतर क्या उसे बाहर की तरह लिया जा सकेगा ? ऐसा हो, तो फिर अब्रह्म भोग किसे कहेंगे ?'

'सुनो सोम, उस अनन्य एक पर निगाह रहे, तो बाहर की नारी में अन्य और पर देखने की भ्रान्ति ही पैदा न हो। वह भ्रान्ति बनी हुई है, कि ब्रह्मचर्य भंग हुआ है। उसे अ-पर और उत्तरांशिनी देखो, अर्द्धांगिनी देखो, तो लिंगभेद टूटेगा और मिलन अनायास होता रहेगा। सन्मुख होकर ही तो वह मिलन और सम्पूर्ति सम्भव है। विमुख रहकर, विरह और अन्तहीन वासना के

सिवाय और क्या पाओगे ?'

' माँ का वह अनदेखा चेहरा मुझे भीतर खीचता है, मान ! बाहर का हर स्त्री-मुख उस विरह को उभार देता है। और मै भीतर के अतल मे जैसे माँ को टोहता चला जाता हूँ। '

'बाहर के हर स्त्री-मुख से शकित और भयभीत होकर ही न ?— कि नही, . यह अन्य है, अनन्य मेरी नही। . . ठीक कहता हूँ न ?'

'वर्द्धमान, अ-ठीक तो तुम कभी भी कहते ही नही। मेरी गोपन से गोपन पीड़ा मे, जैसे सहभागी हो तुम। आश्चर्य !'

'सुनो सोम, एक लड़की से मिलोगे ? यही है वह, अभी आती ही होगी। लो, वह चली तो आ रही है !'

गुलाबी उषा के रग का उत्तरासग धारण किये, नीली लहर सी सहज वैनतेयी चली आ रही है।

'आओ कल्याणी, प्रत्याशित थी तुम। ठीक मुहूर्त क्षण मे आई। इनसे मिलो, ये मेरे मित्र सोमेश्वर याज्ञवल्की। आचूड कवि है। सो तो तुम देख ही रही हो, यह भाव-मूर्ति। ब्राह्मण ओजस्क और क्षत्रिय रजस्क है ये, कहो कि ब्रह्म क्षत्रिय। लेकिन सकर तुम दोनों ही नही, मै भी हूँ। हाँ, तो ये तक्षशिला से सारी वेद-वेदाग विद्याओं मे पारगत होकर आये है। पर बडी बात यह कि महाभाव-राज्य के स्वैर विहारी कवि है सोमेश्वर !'

सोमेश्वर सहज लज्जानत आँखों से, सस्मित वैननेयी को देखते रहे। पर आदत के अनुसार आज आँखें नीची न कर सके।

'और ये वैनतेयी चक्रपाणि है, सोमेश्वर। यूनानी माँ की यह जाया, भारत के ब्रह्मतेज की बेटी है। पूर्व और पश्चिम की सुनीला सन्धि है वैनतेयी ! तुम्हारी अदिति इसके पास है। वह अनन्तिनी इसमे सान्त हुई है। जो अपार आकाशों के भी पार है न, वह इसमे रूप धर कर आ गयी है, कवि के लिए, नन्द्यावर्त मे !

'और वैना, ये तुम्हारे कवि है। तुम स्वय कविता हो, दिति और अदिति एक साथ हो। ये तुम्हारे उस सयुक्त अ‍ा सौन्दर्य के गायक, कवि है !'

'आर्य-श्रेष्ठ सोमेश्वर से मिल कर मै आप्यायित हुई। अहोभाग्य मेरा !'

और वैना ने हाथ जोड़, नतमाथ होकर प्रणाम किया सोमेश्वर को।

'तुम्हे प्रमद-कक्ष मे बहुत अकेलापन लगता है न वैना ? मेरे कवि-मित्र ने कृपा की मुझ पर। आ गये तुम्हारा साथ देने।'

'नही, अब मुझे अकेलापन नही लगता, प्रभु !'

'पर सोमेश्वर को लगता है। और तुम्हे अब नही लगता, तो वह विद्या मेरे इस मित्र को भी सिखा देना ! '

'और सोमेश्वर, जब चाहो नि सकोच प्रमद-कक्ष मे वैना के पास आ जाया करो। अन्य भाव की शका न रहे। अनन्य और आश्वस्त भाव से आओ। वैना अचूक है।'

क्षण भर एक गहन शान्ति व्याप रही।

'अच्छा तो, वैना, लिवा ले जाओ सोमेश्वर को, और दिखाओ इन्हें अपने अनेक ऐश्वर्य-कक्ष । मैं अब आज्ञा लूँगा तुम लोगों से ।'

कह कर मैं उठ खड़ा हुआ । सोमेश्वर कठिनाई और असमंजस में था । बहुत भर आया-सा दीखा कवि । मुझे छोड़ कर जाने में उसे आज मानो कष्ट हो रहा था । मैंने कहा :

'सोम, फिर जल्दी ही आओगे । जब चाहो, आ जाना । समझे . . ! उधर देखो वातायम में । हिमवान का कोई शिखर जैसे नीलिमा में उभर रहा है . . ।'

सोमेश्वर किंचित् खोया-सा वातायन की ओर बढ़ गया । वैना ने झुक कर, आँखों से मेरे चरण-तट को तरल कर दिया । पद-नख को उसके मृदु ओंठ छुहला गये ।

'देवता, अनन्य रहो मेरे ।'

'मैं तो हूँ ही, वह । निश्चिन्त रहो, और मेरे कवि-मित्रको मुझ से अन्य न समझो। जानोगी ।'

'सोमेश्वर, वैनतेयी तुम्हारी प्रतीक्षा मे है ।'

सोमेश्वर चौंका और वैना के साथ हो लिया । मैंने उन्हें साथ, समकक्ष जाते देखा। मन-ही-मन कहा मैने :

'अदिति, तुम्हारी कोख से मेरा आदित्य जन्मे . !'

जब पुकारोगी, आऊँगा

जब से नन्द्यावर्त महल के इस नवम खण्ड मे आ बसा हूँ, माँ के दर्शन नही हुए । शायद वे मुझसे नाराज हों । उनका चाहा मै न कर सका । मेरा दुर्भाग्य । आर्यावर्त के राजकुलों की चुनिन्दा सुन्दरियाँ वे मेरे लिए लायी, पर मै उनमे से एक को भी न चुन सका । इस या उस बाला को वुर्नू, तो शेष की अवज्ञा होती ही । यह मेरे वश का नही था : क्योंकि मैं उन सबको नि.शेष ही ले सकता था । और कई दिन साथ रह कर, वह सुख उन्होंने मुझे दिया ही । मैं संपूरित हुआ । उस सब का कितना कृतज्ञ हूँ ।

विशिष्ट का चुनाव जो मै न कर पाया, यह मेरी ही मर्यादा रही : या कह लीजे अ-मर्यादा । उनमे तो कोई कमी थी नही । कमी मेरी ही रही कि मै विवाह के योग्य अपने को सिद्ध न कर सका । विवाह से परे वे मुझे पा सकीं या नही, तो वे जाने । मैं, बेशक, उन सबको इतना समग्र पा गया, कि विवाह के द्वारा उस सम्पूर्ण प्राप्ति को खंडित करने को जी न चाहा । . . और जब वे गयीं, तो निराश या निष्फल तो रच भी नहीं दीखी । लगा था, जैसे भरी पूरी जा रही हैं । और मेरे मन में भी कहीं ऐसा बोध किंचित् भी नहीं है, कि वे लौट कर चली गयी है ।

पर पता चला है, कि इन दिनों वैनतेयी की साल-सँभाल में माँ स्वयं ही लगी रहती हैं । मुझ पर से हट कर, उनका सारा लाड़-दुलार उस संकर दासी-पुत्री पर केन्द्रित हो गया है; क्योंकि वह

शाश्वत कौमार्य-व्रती बाला मेरे प्रति समर्पित है। जान पड़ता है, जो मैं उन्हें न दे पाया, उसे वैना से वे पा गयी हैं। इससे बहुत राहत महसूस होती है।

. . आज सवेरे सहसा ही माँ द्वार में खड़ी दिखायी पड़ीं। उनका यह अतिथि रूप अपूर्व सुन्दर और प्रियंकर लगा। मैं देखता ही रह गया। ऐसा भूला उस रूप में, कि अलग से विनय करने तक का भान न रहा। एकाग्र उन्हें निहार रहा था, कि सुनायी पड़ा :

'सुनता है मान, वैशाली से चन्दना आयी है। तेरी छोटी मौसी चन्दन।'

'बहुत अच्छा . . !'

'तुझसे मिलना चाहती है।'

'कौन माँ . . ?'

'कहा न , चन्दना . . !'

'ये कौन हैं, माँ ? . .'

'कहा न तेरी चन्दन मौसी ! कितनी ही बार तो तुझे उसके विषय में बताया है।'

'अच्छा-अच्छा . . हाँ-हाँ-हाँ ! तो ये कहाँ से आयी हैं ?'

'तू तो कभी कोई बात पूरी सुनता नहीं। कहा न, वैशाली से आयी है।'

'बहुत अच्छा . . !'

'हर बात का एक ही उत्तर है तेरे पास—बहुत अच्छा !'

'सो तो सब अच्छा है ही, माँ ! है कि नहीं ? असल में आज तुम कितनी अच्छी लग रही हो, यही देख रहा था ! . .'

क्षण भर एक सभर मौन हमारी परस्पर अवलोकती आँखों के बीच छाया रहा। उसमें से उबरती-सी वे बोलीं :

'तो लिवा लाऊँ चन्दना को, यहाँ तेरे पास ?'

'अ . . हाँ, वे आयें। अनुमति से क्यों, अधिकार से आयें। मुझे पराया समझती हैं?—दूर मानती हैं क्या ?'

'पर तू किसका अपना है, और किससे दूर नहीं है, यह तो आज तक कोई जान नहीं पाया !'

'बहुत अच्छा ! . . तुम्हारे सिवाय यह कौन जान सकता है, अम्मा ? . . हाँ, तो आज्ञा दो माँ !'

'तो लिवा लाऊँ चन्दना को ?'

'अरे तुम क्यों कष्ट करोगी माँ। बस, वही आ जाएँ !'

और माँ एक निगाह, मुझे ताक कर चली गयीं।

. . हाँ, माँ से सुनता रहा हूँ, सबसे छोटी चन्दन मौसी हैं, वैशाली में। कि स्वभाव में वे ठीक मेरी सगी बहन हैं। न किसी से खास मेल-जोल, न बोल-चाल। बस, अपने में अकेली, और बेपता रहती हैं। और यह भी कि मुझे बहुत याद करती हैं। नहीं तो किसी को याद करना उनकी आदत में नहीं। अहोभाग्य मेरा !

. . अचानक ही क्या देखता हूँ कि हिमवान की कोई अगोचर चूड़ा, जैसे नन्द्यावर्त की

छत पर, निर्झरी-सी चली आ रही है। नीली-उजली-सी एक इकहरी लड़की। हलके पद्मराग अंशुक के कौशेय में, वैदिक ऋषि की उषा को जैसे यहाँ सहसा प्रकट देखा। एकत्रित घना केश-पाश, जरा बंकिम ग्रीवा के एक ओर से पूरा वक्षदेश को अतिक्रान्त करता, चरण चूमने को आकुल है।

. . पूरा आसपास मानो बदली-बदली निगाहों से देख उठा। . .

'आओ चन्दन मौसी, वर्द्धमान प्रणाम करता है।'

'अरे वर्द्धन, कितना बड़ा हो गया रे ! पहली बार तुझे देख रही हूँ।'

'और मै भी तो तुम्हें पहली बार देख रहा हूँ, मौसी !'

'सो तो है ही। तुझे तो हमारी पड़ी नही। वैशाली जैसे तीन लोक से पार हो कहीं . . !'

'तुम वहाँ रहती हो, तो है ही . !'

'मेरी बात छोड़, पर अपनों मे, परिवारों में कभी कही दीखा है तू ? कितना तरसते है सब तुझे देखने को। मगध, उज्जयिनी, कौशांबी, चम्पा, सौवीर में जाने कितने उत्सव-विवाह प्रसग आये होंगे। पर तेरे दर्शन दुर्लभ। अपनों से, आत्मीयों से तुझे तनिक भी ममता नही क्या ?'

'हॉ-हॉ, है क्यो नही ! सब ओर स्वजन, परिवार ही तो है, मौसी ! और उत्सव भी, देखो न, सदा चारों ओर है। अब अलग-अलग कहॉ-कहॉ जाऊॅ !'

'और सुनता हूँ मौसी, तुम भी तो खास कही जाती-आती नही। आरोपी मै अकेला नही हूँ !'

' देख न, मै आयी हूँ कि नही !'

'सो तो देख रहा हूँ। मेरे पास आयी हो न, मेरा अहोभाग्य ! लेकिन और भी सब जगह जाती हो क्या ?'

'वैशाली मे ही आ जाती है मेरी सारी दीदियॉ। छोटी हूँ न, सबकी लाड़ली, सो मेरा मान रख लेती है . . !'

'तो ठीक है, मेरा मान तुमने रख लिया। किसी का लाडिला तो मै भी हो ही सकता हूँ !'

'पागल कही का . . ! उम्र मे तुझसे छोटी हूँ तो क्या हुआ ? मौसी हूँ तेरी, तो बड़ी ही हूँ तुझसे। है कि नही ?'

'बड़ी तो तुम आदिकाल से हो मेरी। यह छत्र-छाया सदा बनाये रखना मुझ पर, तो किसी दिन इस दुनिया के लायक हो जाऊँगा !'

एकटक मुझे देखती, वे ममतायित हो आयी।

'सुनती हूँ, जगलों-पहाड़ों की खाक छानता फिरता है। पर न अपने से कोई सरोकार, न अपनों से। किसी से कोई ममता-माया नहीं रही क्या ?'

'देखो न मौसी, सबसे ममता हो गई है, तो क्या करूँ ! अलग से फिर किसी से ममता या सरोकार रखने को अवकाश कहॉ रह गया !'

'सो तो पता है मुझे, तू किसी का नही। अपनी जनेता मॉ का ही नही रहा ! . . जीजी की आँखे भर-भर आती है . .'

'तो प्रकट है कि उनका भी हूँ ही। पर उन्ही का नहीं हूँ, सबका हूँ, तो यह तो स्वभाव है

मेरा। इसमें मेरा क्या वश है, मौसी ! '

'मान . . ! '

आगे चन्दना से बोला न गया। डबडबाई आँखों से मुझे यों देखती रह गयीं, जैसे मै अगम्य हूँ। पर उनकी वे आँखें भी कहाँ गम्य थीं !

'तुझे अपने से ही सरोकार नहीं रहा, तब औरों की क्या बात ! '

'तुम हो न ! . फिर मुझे अपनी क्या चिन्ता ?'

'मेरी और किसी की भी चिन्ता का, तेरे मन क्या मूल्य है, मान ?'

'मूल्य यह क्या कम है, कि तुम हो . . . मेरे लिए ! '

'सो तो देख रही हूँ। . . यह हाल जो तुमने बना रक्खा है अपना ! . . '

'जैसे . . ?'

'इस कक्ष मे कोई शैया तो दीखती नही। पता नही कहाँ सोते हो ? सोते भी हो कि नही ?'

'शैया तो, मौसी, जहाँ सोना चाहता हूँ, हो जाती है। कोई एक खास शैया हो जाए, तो सोना भी पराधीन हो जाए। सोना तो मुक्ति के लिए होता है न ! . . पराधीन शैया मेरी कैसे हो सकती है ?'

'पूछती हूँ, कहाँ सोता है . ?'

'देख तो रही हो यह भर्मर का उज्ज्वल सिहासन, जिस पर बैठा हूँ। महावीर का सोना अपने सिहासन पर ही हो सकता है ! तो क्या तुम खुश नही हो इससे ?'

'इस ठण्डे शिला-तल्प पर ? . न गद्दा, न उपधान ! इस सीतलपाटी पर ? . . ठीक है न ?'

'गद्दे पर सोऊँ, तो अपने ही मार्दव से वचित हो जाऊँ। गद्दे की नरमी और गरमी मुझे बहुत ठण्डी लगती है, मौसी ! अपनी ही नरमी और गरमी मेरे लिए काफी है। . स्वाधीन ! '

'ठीक है, तब उपधान का तो प्रश्न ही कहाँ उठता है ?'

'रूई, रेशम और परों के उपधान मुझे सहारा नही दे पाते, मौसी ! प्रिया की गोद हो, या फिर उसकी बाहुएँ ! जड़ उपधान पर क्या सर ढालना ! '

चन्दना को बरबस ही हँसी आ गयी। कुछ आश्वस्त होती-सी वे बोली ·

'तो क्या वह प्रिया रात को आसमान से उतर आती है ?'

'यह मेरी बाहु देखो, मौसी ! किस कामिनी की बाँह इससे अधिक कोमल और कमनीय होगी ? अपनी प्रिया को अपनी इस बाँह मे अलग तो मै कभी रखता नही। जब चाहूँ, वह मेरे सोने को गोद, या बाँह ढाल देती है। मुझसे अन्य कोई भी प्रिया, पहले अपने मन की होगी, फिर मेरी। उसका मन न हो, तो अपना मन मारना पड़े। उसके भरोसे रहूँ, तो ठीक से सोना या चैन नसीब ही न हो . . ! '

सामने स्फटिक के भद्रासन पर बैठी चन्दना के चेहरे पर एक गहरी जल-भरी बदली-सी छा गयी। मेरे सामने देखना उसे दूभर हो गया। . . उसकी झुकी आँखों ने सहसा ही तैर कर,

अपनी पद्मिनी बाहुओं को एक निगाह देखा। अपने ही जानुओं में सिमटी गोद को निहारा। . .

'तो फिर मेरी क्या जरूरत तुझे . . ?'

उस आवाज में जल-कम्पन-सा था। वहाँ मुद्रित, मुकुलित उस कमलिनी का समग्र बोध पाया मैने।

'ओह चन्दन, . तुम कितनी सुन्दर हो ! . . मुझे पता न था . . !'

एक अथाह शून्य हमारे बीच व्याप गया। चन्दना की पलकें मुँद गयी। जानू पर ढलकी हथेली पर, अँगूठे और मध्यमा उँगली के पौर जुड़ कर, एक अँजुली की मुद्रा-सी वहाँ बन आयी। . . फिर कुछ आपे मे आकर वह बोली :

'मान, तू ब्याह क्यों नहीं करता ? अब तो बड़ा हो गया है तू। जीजी का मन कितना कातर है, तेरी इस हठ से ! . . '

'ओ . . ब्याह ? हाँ-हाँ-हाँ। लेकिन सुनो मौसी, तुम इतनी सुन्दर हो, फिर मै ब्याह कैसे करूँ ? . . '

अन्तर्निगूढ़ लाज का एक अभ्र चन्दना की बरौनियों मे खेल गया। और चेहरे पर एक महीन रक्ताभा। सम्हल कर बोली

'मेरे सौन्दर्य का तेरे विवाह से क्या सम्बन्ध, मान ?'

'तुम्हारा ही नही, मौसी, ऐसा सौन्दर्य जगत् म कही भी हो, तो विवाह मेरे लिए अनावश्यक है !'

'मतलब . ?'

'विवाह, तब, मेरी अन्तस्-तृप्ति को भग करता है।'

चन्दना के मर्म मे उतर कर लुप्त और गुप्त हो रही यह बात। डुबकी खाकर ऊपर आती-सी वे बोली :

'मान, मै तो हूँ ही, कहाँ जाने वाली हूँ . . !'

'तब मै कही और क्यों बँधू ? तुम हो ही मेरे लिए, यह क्या कम है ?

'पागल कही का ! बहू तो चाहिए न।'

'नही, वल्लभा चाहिए मुझे।'

'समझी नही . ?'

'जो आत्मवत् लभ्य हो, वही वल्लभा।'

'सो तो बहू होगी ही।'

'नही, वल्लभा और बात है, वैदेही !'

'तो उसे कही और खोजेगा क्या ?'

'खोजने नही जाना पड़ा। . . मुझे पता था, वही आयेगी एक दिन मेरे द्वार पर।'

'कब आयेगी ?'

'आ गयी . . !'

'कब, कहाँ . . ?'

'अभी, यहाँ !'

एकटक प्रणत भाव से मै चन्दना को देखता रह गया। चहुँ ओर से लज्जावेष्टित, वह अपने मे तन्मय, मुकुलित, मौन हो रही। मौन तोड़ा पुरुष ने

'अच्छा मोसी, तुम विवाह कब करोगी ?'

'पहले तेरा, फिर मेरा। मै छोटी हूँ कि नही तुझसे ?'

'एक साथ ही हो जाए, तो क्या हर्ज है ?'

'मतलब ?'

'यही कि तुम करो ब्याह, तो मै अभी तैयार हूँ

चुप रह कर चन्दना, नमित लोचन, चट्टी उँगली चबाती रही फिर सहसा ही बडी-बड़ी उज्ज्वल आँखे उवका कर बोली

'और मान लो, मै ब्याह करूँ ही नही ?'

'तो मौसी, जान लो, कि मै भी नही करूँगा।'

'ये तो कोई बात न हुई ।'

'बस, यही तो एक मात्र बात है, चन्दन ।'

'अच्छा, वचन देती हूँ, मै विवाह करूँगी। तू भी वचन दे।'

'वर्द्धमान भविष्य मे नही जीता। वह सदा वर्तमान मे जीता है। इसी क्षण वह प्रस्तुत है। वह कहता नहीं, बस करता है।'

'वर्द्धमान ।'

'चन्दन ।'

एक अभग विराट मौन कक्ष मे जाने कब तक व्याप्त रहा। काल वहाँ अनुपस्थित था। चन्दना उठ कर खडी हो गयी। फिर मेरे सम्मुख निश्चल अवलोकनी रह गयी।

और अगले ही क्षण, उसने माथे पर आँचल ओढ, झुक कर महावीर के चरण छू लिय।

'कब मिलोगे फिर ?'

'जब चाहोगी। जब तुम पुकारोगी, आऊँगा।'

और माथे पर ओढे पल्ले की दोनों कोरों को, चिमटी से चिबुक पर कसती सी चन्दना धीर गति से चलती हुई, कक्ष की सीमा से निष्क्रान्त हो गई।

कैवल्य-सूर्य की पूर्वाभा

मुझे याद नही आता, कि पिता के ओर मेरे बीच कभी सम्वाद रहा हो। बचपन मे उनकी बाँहों और गोदी मे खेलते और दुलार पाते अपने को देखा है। लड़कपन मे बेपता रहने लगा था। फिर भी कभी-कभी मेरी टोह मे वे आते थे। बहुत ऊधम किये मैने। राजोपवन का प्राणि-उद्यान ही पूरा उजाड़ दिया। पर मुझे सामने पाकर, नाराज न हो सके। मेरे गालों और माथे पर हाथ फेर कर

इतना ही कहा · 'बेटा, यह क्या किया तुमने ?' उत्तर मे केवल मै नीरव उन्हें देखता रहा। वे मानो समझ गये, और चुप हो रहे : मानो कि मेरा उत्पात उन्हे स्वीकार है : गलत मैं जैसे कुछ कर ही नही सकता। अब युवा होकर, जो स्वच्छन्द और खतरनाक भ्रमण पर निकल पड़ता रहा हूँ, उसकी कहानियाँ तो सारे जम्बूद्वीप और यवन समुद्रों तक फैली है। माँ से उन्हे सुन कर वे स्तम्भित हुए हैं, पर रोक-टोक उनके वश की बात न हो सकी। मेरे गर्भाधान की रात, माँ को जो सोलह सपने आये थे, उनका मर्म उन्ही के मुख से तो सवेरे खुला था। उन सपनों की राह जिस बेटे को आते देखा था, उस पर प्रश्न उठाने का साहस ही उन्हें कभी नही हुआ। इस बीच कुल की, राज्य की, परम्परागत धर्म और समाज की अनेक मर्यादाएँ मुझसे टूटी है, वे सुन कर परेशान भी हुए है; पर चुप रह गये। माँ से केवल इतना ही कहा : 'देखती रहो, क्या होता है। इस बेटे को क्या केवल गर्भज मान कर, इसे अपने आँचल के दूध से कातर कर सकती हो ? असम्भव त्रिशला !'

माँ से ही अपने प्रति, पिता के इस रुख को जानता-सुनता रहा हूँ। उन्ही के माध्यम और परामर्श से, वे मुझे पुत्र रूप मे सुलभ और स्थापित देखने के प्रासगिक प्रयत्न करते रहे है। सम्मुख वे कभी न आये : मानो उन्हे साहस ही न हुआ। इतनी ममता है उनकी मुझ पर, कि द्वितीय पुरुष के रूप मे वे मुझे मानो देख ही नही पाते। जो, जैसा हूँ, जो भी करता हूँ, उसे अपनी ही अभिव्यक्ति समझ, अपने मे बने रहते है। सुनता हूँ, राज्य मे भी बहुत रुचि नहीं उनकी। कर्त्तव्य और परम्परा का निर्वाह भर होता है। भगवान पार्श्वनाथ के निर्ग्रंथोपासक श्रावक है वे। सामायिक और धर्मचर्या मे ही अधिकतर लवलीन रहते है।

बरसों बाद आज सवेरे अचानक ही नवम खण्ड मे आ पहुँचे। पैर छूने को झुका ही था, कि स्वय उठा कर मुझे मेरे मर्मर के सिहासन पर बैठा दिया। तत्काल प्रयोजन की बात कही . 'बेटा, तुम नही गये वैशाली, तो तुम्हारे मातामह, वैशाली के गणाधिपति चेटकराज स्वय ही तुमसे मिलने आये है। कब मिलना चाहोगे ?'

'अहोभाग्य मेरे ! . . आज तीसरे पहर तात ?'

'यहाँ आये हम कि मंत्रणा-कक्ष मे आओगे ?'

'महाराज चेटक के योग्य तो वही होगा। यहाँ कहाँ ? और मिलने भी मुझे ही आना चाहिए न !'

'साधु पुत्र ! . '

एक निगाह क्षण भर कक्ष मे चहुँ ओर देखा। वैभव, सुख-साधन, साज-सज्जा से शून्य इस कक्ष को देख उनकी आँखे जैसे गुमसुम हो रही। कुछ पूछा नही। चलती बेर, मेरे कन्धे पर हाथ रख, गहरी दृष्टि से मेरी आँखों मे देख, बोले · 'बेटा, हमे तुम्हारी जरूरत है ! .' 'तो प्रस्तुत हूँ ही, तात !' . . और क्षण मात्र मे ही वे अचल पग लौट गये।

. . इधर बराबर ही वैशाली से रथ और सवार मुझे बुलाने को दौड़े है। समझ रहा हूँ, कुछ अनिवार्य मुझे वहाँ बुला रहा है। पर कही भी जाना-आना, बाहरी प्रसग या पुकार से, मैं नही कर पाता। वह मेरा स्वभाव नही। अकारण, अचानक और अतिथि भाव से ही कही जा पाता हूँ। यहाँ से चार योजन पर जो वैशाली है, वहाँ अब तक न जा सका तो इसी वजह से, कि भीतर से कोई निर्देश नहीं मिला। आखिर मातामह को स्वयं आना पड़ा, मेरी टोह में। तो मेरी यह

कृतकृत्यता, शायद कुछ अर्थ रखती है। माँ से अनेक बार मातामह के विषय मे सुना है। उच्च गुणस्थान के जिनधर्मी और सुदृढ़ व्रतनिष्ठ श्रावक है। उन्ही की धर्मश्रद्धा के प्रभाव से, वैशाली मे जिनेश्वरों का धर्म-शासन आज सिंहासनासीन है। वैशाली के सथागार के गुम्बद पर फहराता वृषभ-ध्वज, आज के तमाम विश्व की राज्य-पताकाओं मे शिरोमणि माना जाता है। और आर्यावर्त के सारे ही शीर्षस्थ राज-कुलों मे मेरी मौसियों की कोख द्वारा जिन-धर्म सचरित हुआ है। अपने उन धर्मात्मा मातामह के आज दर्शन कर सकूँगा . मेरा सौभाग्य।

. महार्घ कस्तूरी से सुवासित मत्रणा-गृह का ऐश्वर्य सम्भ्रमित कर देने वाला है। खिड़कियों पर भी रत्न-कणियों से गुँथे भारी पर्दे पडे है। उनकी मोतियों की झालरों और पन्ने के हरियाले रत्नदीपों की विभा से कक्ष मे गहरी शीतलता व्याप्त है। प्रवेश करते ही एक स्निग्ध प्रशाति से मन विश्रब्ध हो जाता है। यहाँ पहली ही बार आया हूँ। इससे पहले बुलाने पर भी, आना न हो सका था। विदेशी की तरह चुपचाप आकर एक ओर खड़ा ही हुआ हूँ, कि सहसा अन्तर्कक्ष का पर्दा हटा कर चेटक्राज आये, और उनके पीछे महाराज सिद्धार्थ। पैर छूने को बढ़ा ही था कि वैशालीपति ने मुझे भुजाओं मे भर गाढ आलिगन मे बाँध लिया। उनकी मुँदी आँखों से उमड़ते स्नेहाश्रुओं से मेरे गाल गीले हो गये। मेरा रक्त उस वात्सल्य की उमड़न से क्षण-भर को ही सही, अछूता न रह सका।

यह क्या देख रहा हूँ, कि मातामह ने मुझे अपनी बाँहों से मुक्त करते हुए, सीधे शीर्ष पर बिछे राजसिहासन पर स्थापित कर दिया। जान ही न पाया कि कहाँ बिठाया जा रहा हूँ सो सकोच को अवसर ही न मिला। बैठ जाने पर देखा, कि दोनों राजपुरुष अगल बगल लगे भद्रासनों पर बैठ गये है। अपनी इस स्थिति को देख कर, केवल स्तब्ध हो रहा। विकल्प न कर सका। अपने को वहाँ बेठे, बस देखा। और स्थिति को समझना चाहा।

'शैशव के बाद आज ही तुम्हे देखना नसीब हो सका, बेटा। तुम्हे किसी भी तरह वैशाली मे नही पाया जा सका। न रहा गया, सो स्वय ही चला आया, तुम्हे देखने।'

'मेरे सौभाग्य की सीमा नही, तात। गणनाथ के इस अनुगृह के प्रति नतमाथ हूँ।'

'अब तुम वयस्क और योग्य हुए, बेटा। तुम्हारे विक्रम और प्रताप की गाथाएँ, ससागरा पृथ्वी पर गूँज रही हैं। अपने ऐसे वशावतस को देखने को बेचैन हो उठा।'

'मुझ एकलचारी को कौन जानता है, महाराज। जैसे लोक से बाहर कही खड़ा हूँ।'

'इसी से तो अपूर्व और अलग दीखे, सो पहचान लिये गये। पिप्पली-कानन के मेले से लौट कर, लिच्छवि-कुमार तुम्हारा गुणगान करते थकते नही। और सुना, विदेह, मगध, कौशल, काशी, अग-बग तक के सारे सन्निवेशों की प्रजाओं के बीच तुम प्रकाश की तरह घूम गये। तब से वैशाली के राजकुमार को देखने के लिए और उसे अपने बीच पाने के लिए सारे आर्यावर्त के जनगण तरस रहे हैं। गणतन्त्र के योग्य बेटे की इससे बडी पहचान और क्या हो सकती है?'

'लोक ने मुझे अपनाया। मेरा होना कृतार्थ हुआ।'

'अब समय आ गया है, कि जनगण के छत्रधारी बनो तुम। वैशाली की मगल-पुष्करिणी तुम्हारे राज्याभिषेक की प्रतीक्षा मे है।'

'वही मगल-पुष्करिणी, तात, जहा मुक्त जल-तत्व बन्दी है? और राज्य यदि मेरा कोई

हो, तो उसे मैं वैशाली तक सीमित नही देख पाता। लगता है कि, मेरा राज्य असीम का ही हो सकता है। और ऐसा राजा यदि मैं हूँ, तो मंगल-पुष्करिणी का कैदी जल नहीं, आकाश से बरसती हुई मुक्त वृष्टिधाराएँ ही मेरा राज्याभिषेक कर सकती हैं।'

'साधु-साधु वर्द्धमान . . ! सचमुच, हम तुम्हारे उसी साम्राज्य का सपना देख रहे हैं। मंगल-पुष्करिणी तुम्हारे चरणों का प्रक्षालन कर, अभयदान पाना चाहती है। उसे अपने मुक्तिदाता की प्रतीक्षा है।'

'जल-तत्व अपने स्वभाव से ही स्वतंत्र है; मेरे चरण-प्रक्षालन पर उसका स्वातंत्र्य निर्भर नही। उसे मैं सिर पर ही धारण कर सकता हूँ। क्या ताले और पहरे में रख कर, आप सोचते हैं, आप उसकी रक्षा कर सकते है ?'

'पुष्करिणी हमारे पूर्वजों के अंग-स्पर्श से पावन है। उसमे राज्याभिषेक प्राप्त कर, हमारे वंशधर अपनी देह मे, अपनी परम्परा की रक्तधारा को अटूट अनुभव करते है। उसकी रक्षा . . '

'उसकी रक्षा, आपके और मेरे वश की नही, तात ! अपनी रक्षा करने मे वह आप समर्थ है। उसकी पवित्रता, आपके और मेरे पूर्वजों के अंग-स्पर्श और राज्याभिषेक की कायल नही। जल अपने निज रूप मे ही पवित्र है। आपके परकोटों, फौलादों, पहरों और तालों को तोड़ कर बंधुल मल्ल अपनी प्रिया मल्लिका को उसमे नहला गया। क्या आपका तमाम इन्तजाम भी उसकी रक्षा कर सका ?'

गणाधिपति का चेहरा तमतमा आया।

'वह बलात्कारी था। . अत्याचारी ! इसी से तो . .।'

'हमने उसे बलात्कारी होने को विवश किया, महाराज। क्योंकि उससे पहले हम जल-तत्व के बलात्कारी थे। असत्य और हिंसा के इस दुर्वृत्त मे, किसे अपराधी कहें और किसे नही ? मुझे तो ऐसा लगा कि बन्धुल की वज्रभेदी तलवार और मल्लिका के दोहद-स्नान से, मंगल-पुष्करिणी के चिर बन्दी जल मुक्त और पवित्र हो गये .।'

चेटकराज की भृकुटियाँ टेढ़ी हो गईं। पिता सहम आये।

'वर्द्धमान, तुम एक अत्याचारी को समर्थन दे रहे हो ! हत्यारे और डाकू का पक्ष ले रहे हो ! हमारे शत्रु को तुमने अपने सर पर चढ़ा लिया।'

'अत्याचारी, हत्यारा, डाकू शायद हमने ही उसे बनाया। स्वतन्त्र जल-तत्व पर अपना एकाधिकार स्थापित करके, उसे दुर्लभ बना कर। और ऐसी प्रमत्त हुई हमारी यह अधिकार-वासना कि उसकी रक्षा के नाम पर, गर्भवती मल्लिका पर भी, लिच्छवियों की तलवारें तनने से बाज न आयीं। कुलगर्व की तुष्टि के लिए सैकड़ों मानवों का खून बह गया। कौन निर्णय करे कि चोरी, हत्या, बलात्कार, शत्रुत्व का बीज कहाँ था ? और मै तो अपना शत्रु अपने से बाहर, देख ही नहीं पाता राजन् . . ।'

'वर्द्धमान, तुम कौन हो ? तुम्हे पहचान नही पा रहा मै ? तुम्हें समझना मेरी बुद्धि के वश का नही ! . '

'बुद्धि कब कुछ समझ पाती है, बापू। खण्ड का केवल खण्ड ज्ञान ही वह बेचारी कर सकती है। अखण्ड सत्य का ग्रहण हृदय से ही सम्भव है। आपके बेटे का निवेदन वही से आ रहा है।'

'आयुष्मान्, सारे दैवज्ञ कहते है कि वर्द्धमानकुमार के पगतल चक्र चिन्ह से अकित है। वे जन्मजात चक्रवर्ती है। समुद्र पर्यन्त पृथ्वी पर होगा उनका साम्राज्य।'

'षट्खण्ड पृथ्वी जीत कर, वृषभगिरि पर्वत की विक्रम शिला पर अपना हस्ताक्षर करनेवाला चक्रवर्ती ? जो वहाँ जाकर देखता है कि ऐसे असख्य चक्रवर्ती पहले हो चुके है, और शिला पर नाम लिखने की जगह नही है ? तब अपने से पिछले का नाम मिटा कर, वह अपनी हार के हस्ताक्षर कर देता है और पराजित होकर लौट आता है। हार के हस्ताक्षर करने वाला ऐसा चक्रवर्ती मै नही, तात ! वह तो मै पहले कभी हो चुका। उसे मै पीछे छोड आया।'

'तो क्या ये दैवज्ञ झूठ कहते है ? क्या तुम जन्मजात चक्रवर्ती नही ?'

'निश्चय ही ऐसा सनाम चक्रवर्ती मै नही हो सकता, जिसके नाम को आखिर मिट जाना पडे। मै अनाम चक्रवर्ती ही हो सकता हूँ, जिसकी अस्मिता को कोई मिटा नही सकता।'

'मै समझा नही, बेटा ?'

'रूप और नामधारी चक्रवर्तित्व, अहकार का होता है। अह मिथ्या है, और उसका मिट जाना अनिवार्य है। अगर मै हो सकता हूँ, तो सोऽहम् का चक्रवर्ती, जो नाम-रूप से परे, स्व-निर्भर आत्म-स्वामी होता है। जिसकी सत्ता षट्खण्ड पृथ्वी की विजय से सीमित नही और विक्रम-शिला की कायल नही। उस नामातीत की सत्ता, स्वायत्त होती है। उसका कोई प्रतिस्पर्धी सम्भव नही। सो उसे कोई हरा और मिटा नही सकता। ऐसा कोई अजातशत्रु चक्रवर्तित्व हो, तो वह मेरा हो सकता है।'

'तो फिर ससागरा पृथ्वी अनाथ और त्राणहीन ही रहेगी ? उस पर शासन कौन करे ? उसका परिचालन और परित्राण कौन करे ?'

'उसका सच्चा परिचालक, शासक और त्राता वही हो सकता है, जो पहले अपना पूर्ण स्वामी हो। जो पहले अपना स्वतन्त्र परिचालक और परित्राता हो !'

'वह कौन वर्द्धमान ?'

'वह जिसका चक्रवर्तित्व पृथ्वी और समुद्र की सीमाओं से बाधित नही। जो देश और काल के सीमान्तों को अतिक्रान्त करे। देश और काल, मात्र जिसके चक्र के आरे होकर रह जाये।'

'और उसका साम्राज्य ?'

'उसका साम्राज्य कण-कण, क्षण क्षण और जन-जन के हृदय पर होता है। त्रिकालवर्ती जड और चेतन, हर पदार्थ के स्वभाव को वह पूरा जानता है, और समझता है। इसी से वह त्रिलोक के सकल चराचर का पूर्ण प्रेमी होता है। सो उनका अखण्ड जेता, त्राता और शास्ता होता है। जो सर्व का ज्ञाता हो, जिसकी आत्मा सर्व की वेदना से सवेदित हो, वही सर्व का स्वजन और प्रेमी, सर्वजयी और सर्व का शास्ता होकर रह सकता है।'

'तो वर्तमान लोक और काल मे, तुम्हारे चक्रवर्तित्व का स्वरूप क्या हो सकता है ?'

'सच्चा चक्रवर्ती वह, जो अह और राग-द्वेष के अनादिकालीन दुश्चक्र का भेदन करे, उसे उलट दे। जो वैर-विद्वेष के इस दुर्वृत्त से बाहर खडा हो सके, वही इसको तोड सकता है, इसका भेदन कर सकता है। जो पहल कर सके, उपोद्घात कर सके, नयी शुरुआत कर सके, जो सृष्टि के इस आदि-पुरातन दुश्चक्र को चूर चूर करके, वस्तु और व्यक्ति मात्र को अपना स्वभावगत

स्वराज्य प्रदान कर सके; जो स्वार्थ और अहम् पर आधारित झूठे राज्यों, वाणिज्यों, व्यवस्थाओं और प्रतिष्ठाओं के तख्ते उलट कर, कण-कण और जन-जन के स्वाधीन आत्मराज्य की स्थापना कर सके। जो जड़ीभूत, सड़ी-गली वर्तमान विश्व-व्यवस्था में आमूल-चूल अतिक्रान्ति करके, वस्तु और व्यक्ति के स्वतन्त्र सत्य के आधार पर, कोई सर्वोदयी, समवादी और सम्वादी राज और समाज रच सके, ऐसा ही चक्रवर्ती वर्द्धमान महावीर हो सकता है, महाराज ! और किसी रूढ़, परम्परागत, ऐतिहासिक चक्रवर्तित्व की आशा आप उससे न करें, देव ! करेंगे तो आपको निराश होना पड़ेगा।'

'इतिहास से बाहर का यह चक्रवर्तित्व तो मेरी समझ में नहीं आता, बेटा ! इतिहास और लोक से परे और बाहर कौन हो सकता है?'

'भन्ते मातामह, जरा इतिहास पर दृष्टिपात करें आप। उसमें आदिकाल से आज तक, राग-द्वेष, अहंकार-ममकार, जय-पराजय, मान और मानभंग के दुश्चक्रों का अन्त नहीं। उनके चलते क्या लोक मे कभी कोई स्थायी सुख-शांति का राज्य स्थापित हो सका? यह चक्र विकासमान, प्रगतिशील और अभ्युदयकारी नही। यह चिर प्रतिक्रियाशील और प्रतिगामी है। जड़ राग-द्वेष जनित प्रतिक्रियाओं की इस अन्धी शृंखला का नाम ही इतिहास है। एक ऐसा अन्धा चक्र, जो अपने मे ही घूमता है, अपने को ही दोहराता है, जो आगे नहीं जाता। लोक और इतिहास से परे जाकर, उससे ऊपर उठकर या उसके केन्द्र में खड़ा होकर, जो इस प्रतिक्रिया की धारा का अपने आत्मबल से प्रतिवाद करे, इसे प्रतिरोध देकर तोड़ दे; जो इतिहास की इस जड़ रूढ़ और अन्ध गतिमत्ता को छिन्न-भिन्न कर दे; वही इतिहास को बदल सकता है, वही लोक के हृदय में एक आमूल-चूल अतिक्रान्ति उपस्थित कर सकता है। जो देशकाल का अतिक्रमण कर, अपने पराऐतिहासिक आत्म-स्वरूप मे आत्मस्थ होकर, इतिहास के इस दुश्चक्री और प्रतिगामी प्रवाह को उलट सकता है; इसे सम्वादी, समवादी और प्रगतिवादी बना सकता है : ऐसा ही लोकोत्तर पराऐतिहासिक पुरुष सच्चा इतिहास-विधाता होता है। जड़ीभूत इतिहास और लोक में जो आमूल मांगलिक क्रान्ति लाना चाहता है, उसे लोक और इतिहास से ऊपर और अलग हो ही जाना पड़ता है।'

'तो अभी हाल, यहाँ, जो लोक की प्रासंगिक समस्याएँ हैं, उलझनें हैं, संघर्ष हैं, उनसे तुम्हारा कोई सरोकार नहीं, आयुष्यमान?'

'बेशक है, गणनाथ। लेकिन मौलिक और असली सरोकार है, मात्र सतही और सांघातिक नही। प्रासंगिक समस्याओं का सच्चा और अन्तिम समाधान. प्रज्ञान के केन्द्र में खड़े होकर ही पाया जा सकता है। जो व्यक्ति और वस्तु, आत्म और विश्व के सच्चे स्वरूप को न जाने, उनके बीच के मौलिक और सम्वादी सम्बन्ध का जिसे ज्ञान न हो, वह प्रासंगिक समस्या को सुलझाता नहीं, उलटे अधिक उलझाता है। जो प्रासंगिक समस्या को समक्ष पाकर, स्वयं ही उसके प्रति राग-द्वेषी प्रतिक्रिया से ग्रस्त हो जाये, कषाय से अशान्त और आत्मछिन्न हो जाये, वह स्वयं ही समस्या के उस दुश्चक्र का शिकार हो जाता है। और दुश्चक्र के अन्धड़ में जो बह जाये, वह उसे उलट कैसे सकता है? इसी से कहना चाहता हूँ, कि जो लोक की प्रासंगिक समस्या का समाधान पाने की सच्ची वेदना से तप्त है, लोक का ऐसा प्रेमी, पहले प्रसंग से अनासक्त होकर, आत्मस्थ हो लेता है।

लोक का और अपना सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना है। और तब उसके मोह-मुक्त चैतन्य के केन्द्र से जो क्रिया आयेगी, वह प्रतिक्रिया नही होगी, शुद्ध और प्रगतिशील प्रक्रिया होगी। ऐसी ही प्रज्ञानात्मक प्रक्रिया, प्रासगिक समस्या का सच्चा, अन्तिम और विधायक समाधान प्रस्तुत कर सकती है। इसी से हो सके तो, मै पराऐतिहासिक आत्म स्वरूप मे समाधिस्थ होकर, इतिहास और प्रासगिकता को अपूर्व, मौलिक और नवीन परिचालना देना चाहता हूँ। इसके लिए मुझे पहले पहल करनी होगी, महाराज। पहले स्वय अपने को सुलझा लेना होगा, बदल देना होगा। जो स्वय ही उलझा है, प्रतिक्रिया के दुश्चक्र मे ग्रस्त और कषायान्ध है, जो स्वय ही अपने को सुलझा और बदल नही सका है, वह इतिहास और लोक को कैसे बदल सकेगा ?

'सुने बापू, ऐसे तमाम सतही बदलावों की बात जो करते है, वे दम्भी, पाखण्डी और पलातक होते है। वे भीतर कही अहकार, स्वार्थ और प्रतिक्रिया के नासूर से अस्वस्थ और पीडित है। जो प्रसग और इतिहास से ग्रस्त नही, सन्यस्त और अनासक्त होते है, वही प्रसग के सच्चे परित्राता, और इतिहास के मौलिक विधाता होते है ।'

'तो आज जो हमारे सामने प्रासगिक सघर्ष है, उससे निस्तार पाने का तुम क्या उपाय सुझाते हो, आयुष्यमान् ?'

'कौन सघर्ष, तात ? स्पष्ट करे आप तो मै अपना नम्र मन्तव्य व्यक्त करूँ।'

'वर्द्धमान, तुम तो जानते हो, हमारा वैशाली गणतन्त्र, आज ससार का सर्वश्रेष्ठ सघराज्य है। वह प्रजातन्त्र है। उसके अतर्गत हमारा प्रत्येक प्रजाजन पूर्ण स्वतन्त्र है। शासन मे वह साझीदार है। अपनी छन्द शलाका द्वारा अपना मत व्यक्त करके वह शासकीय निर्णय मे भाग लेने का अधिकारी है। हमारा यह स्वातत्र्य और समृद्धि मगधराज बिबिसार को असह्य हो उठी है। हमारे समान ही अन्य गणसत्ताक राज्यों को हडप कर वे आर्यावर्त के दूसरे राजतात्रिक राज्यों के साथ मिल कर, समस्त भरतखण्ड पर अपना एकराट् साम्राज्य स्थापित किया चाहते है। इस षड्यन्त्र के चलते हमारा यह स्वतन्त्र गणराज्य निरन्तर मगध की साम्राज्य लोलुप तलवार के आतक तले जी रहा है।'

'वर्तमान आर्यावर्त का मानचित्र मेरी ऑखों के सामने स्पष्ट है, महाराज। उसके राजकीय, आर्थिक, सामाजिक विग्रहों और सघर्षों को अपनी हथेली के रेखाजाल की तरह साफ देख और समझ बूझ रहा हूँ। पूछता हूँ, तात, क्या वैशाली विशुद्ध गणराज्य है ? क्या ऊपर से नीचे तक के प्रत्येक वर्ग का प्रजाजन, उसके शासन-तन्त्र मे सहभागी है ?'

'यह तो जगत-विख्यात बात है, आयुष्यमान्।'

'जहाँ तक मुझे पता है, महाराज, यह गणराज्य नही, कुल-राज्य है। वज्जियों के वशानुगत अष्ट राजकुलक ही वैशाली पर राज करते है। इन अष्टकुलों के सात हजार सात सौ सात सदस्य ही आपके सन्थागार की शासक परिषद के सदस्य हो सकते है। राजतन्त्र तो अन्तत इन्ही अष्टकुलकों के हाथ मे है। क्या कोई कृषक, कम्मकार, लोहार, बढई, जुलाहा भी आपकी इस परिषद् का सदस्य हो सकता है ?'

'वैशाली का हर जनगण अपना राजा है, वह अपने को राजा कहता है, वर्द्धमान। अष्टकुलक शासक-परिषद गणतन्त्र के सारे ही वर्गों का प्रतिनिधित्व करती है।'

'परम्परागत कुलतन्त्र शक्तिमान है, और उसका राज्यतंत्र नीतिमान है, निश्चय। उसने मागलिक शासन-कौशल द्वारा प्रजा का हृदय जीत लिया है। और हर जनगण को पूर्ण स्वातंत्र्य का बोध होता है, निश्चय ! सो उन्होंने अष्टकुलक को सहज ही अपना प्रतिनिधि स्वीकार लिया है, पर मेरी बात का उत्तर आपने नहीं दिया। क्या आपकी 'प्रवेणी-पुस्तक' (कानून-ग्रन्थ) के अनुसार वैशाली का हर कोई कृषक, कम्मकर, वणिक या ब्राह्मण तक हमारी शासक-परिषद का सदस्य हो सकता है ?'

महाराज चेटक कुछ चकराये-से दीखे। फिर बोले : 'हमारी प्रजा को हमारे गणतन्त्र की शासक-परिषद में पूर्ण विश्वास है। तो उनका प्रतिनिधित्व और सदस्यता, उसमें समाहित है।'

'आप बात को फिर टाल गये, महाराज। मैं भी एक लिच्छवि राजकुल का पुत्र हूँ। और आपकी ओर से मै ही बात को स्पष्ट कर दूँ। वस्तुस्थिति यह है कि मूलतः यह गणतन्त्र नहीं, गणराजतंत्र है। यानी प्रजाओं का नहीं, गणराजाओं का तन्त्र है। अष्टकुलीन राजवंशियों का। इन राजवंशियों के परम्परागत आभिजात्य, बाहुबल, शस्त्रबल और अपेक्षाकृत नीतिमान शासन-कौशल के प्रभाव से प्रजा इतनी दबी हुई और अभिभूत है, कि वह इन कुल-पुत्रों को सहज ही अपना प्रतिनिधि स्वीकारे हुए है।'

'तो यह क्या हमारे गणतंत्र कहलाने को काफी नहीं ?'

'है भी, नहीं भी, पितृदेव ! परम्परागत बलवानों के राज्य को स्वीकारने के सिवाय, निर्बल प्रजाओं के लिए और क्या चारा है। जन्मजात ही शासित और दमित रहने का उनमे संस्कार पड़ गया है। कुलीन राजवंशियों ने उन्हें मनवा दिया है, कि वे उनके प्रतिनिधि शासक हैं। एक हद तक वे प्रतिनिधि और उत्तरदायी हैं भी, और वह शुभ है। पर उसमें उनका स्थापित स्वार्थ भी तो है, कि प्रजाओं को सतुष्ट रख कर, वे इस रत्नगर्भा वसुन्धरा के श्रेष्ठ का निर्बाध भोग कर सकें। वज्जी, शाक्य, मल्ल, कुरू, काम्बोज, सारे ही गणतंत्रों की मूलगत स्थिति यही है। मूलतः तो वे गणतंत्र नही, गणराजतंत्र ही है।'

'तो तुम्हारे विचार से, पृथ्वी पर गणतंत्र जैसी कोई चीज अस्तित्व मे नही ?'

'अभी तक तो नही है, महाराज ! पर वह होनी चाहिए। उसे होना पड़ेगा, विकास मे अनिवार्यत आगे जाकर। उसमे सदियाँ लग सकती हैं। आपका यह बेटा विश्व के उसी भावी गणतन्त्र का स्वप्नद्रष्टा है—उसका एक विनम्र दूत, यदि आप उसे पहचान सके।'

'तुम पर हमे गर्व है, आयुष्यमान् ! तुम्हारी जन्मजात महिमा से हम अवगत हैं। पर गणतन्त्र और राज्यतंत्र में तुम कोई भेद नहीं देखते, आश्चर्य ! तुमने हमारे गणतंत्रों को मात्र गणराजतंत्र कह कर, तुच्छ कर दिया। क्या इन साम्राज्य-लोलुप राजाओं और हम गणपतियों मे तुम कोई अन्तर नहीं देखते ?'

'एक हद तक, निश्चय ही देखता हूँ। पर मूलतः और अन्ततः कोई भेद देख नहीं पाता। मैं स्पष्ट करूँ, बात को। आदिम मानव-कुलों या कबीलों ने जब पहले पहल, पारस्परिक अस्तित्व की सुरक्षा से प्रेरित होकर, सभ्यता के विकास मे अनिवार्य होने पर, समाज को समुचित व्यवस्था देने के लिए राज्य या शासन-तत्र रचा, तो जो अधिक बलवान और बुद्धिमान थे, जो शीर्ष पर थे, उन्होंने अपना शासन-तंत्र संगठित कर, व्यवस्थापक राज्य-तंत्र का आविष्कार किया। पर मूल मे

उन कबीलों में व्यक्तियों के भुजबल की टक्कर और प्रतिस्पर्धा तो थी ही। सो इन कबीलों या कुलों के बलवान अधिपतियों के शक्ति-संतुलन के आधार पर ही, ये कुलतंत्र स्थापित हुए। आज के हमारे गणतंत्र उन कुलतंत्रों का ही अधिक सभ्य, सुस्थापित और विकसित रूप है। पर इनके मूल मे निर्णायक तत्व बल है, जनगण का हृदय या उनका सर्वोदयी कल्याण और प्रतिनिधित्व नहीं।'

'क्या तुम हमारे गणतत्र मे जनगण का सर्वोदयी कल्याण और प्रतिनिधित्व नही देखते ?'

'सर्व का समान अभ्युदय तो मुझे कही दिखाई न पड़ा। पिछले दिनों आस-पास के राज्यों और गणराज्यों के कई सन्निवेशों और ग्रामों मे घूम गया था। मैने देखा कि चारों ओर वर्गभेद का खासा जाल बिछा है। धनी और निर्धन के बीच की खाइयाँ बहुत चौड़ी और अँधेरी है। कृषक, जुलाहे, बढ़ई, लुहार, स्थापत्यकार, मूर्तिकार, शिल्पी, चर्मकार, धीवर, रात-दिन अविराम कठोर परिश्रम करते है। उन्ही के श्रम की नीव पर, वैशाली, राजगृही, चम्पा, श्रावस्ती, कौशाम्बी के ये गगन-चुम्बी प्रासाद-भवन खड़े है। उनके खून-पसीनों की उपज से ही, इन महलों के वैभव-ऐश्वर्य और भोग-विलास फल-फूल रहे है। उन्ही के द्वारा निर्मित चक्रों और फौलादों पर इन सोलह महाजनपदों के दुर्भेद्य दुर्ग खड़े है, उनके शस्त्रागार सर्वसहारक शस्त्रों से चमचमा रहे है। समस्त जम्बूद्वीप और उससे पार के द्वीप-देशान्तरों तक आवागमन कर रहे महाश्रेष्ठियों के सार्थ उन्ही की अस्थियों से ढले चक्रों, कीलों, नावों और जहाजों पर गतिमान है। वैशाली, चम्पा, श्रावस्ती और राजगृही के सत्ताधारियों और धनकुबेरों के कोशागार, इन्ही श्रमिकों के रक्त-स्वेद से वाहित सुवर्ण-रत्नों से उफना रहे है। पर मैने देखा, महाराज, ये कम्मकर दीनहीन और दरिद्र है। अन्न-वस्त्र और साधारण जीवन-साधन का उन्हे, बेशक, अभाव नही। पर महानगरों के नागरिकों को उत्कृष्ट अन्न-वस्त्र, आवास, वाहन, भोग-विलास प्रदान करने वाले ये श्रमिक, निम्नतम कोटि के जीवन-साधनों पर निर्वाह करते है। हम महाजन कहे जाने वाले प्रभुवर्ग के लोगों ने इन्हे शूद्र, हीनजातीय और हीन शिप्पणि जैसी सज्ञाएँ प्रदान कर रक्खी है। हम सत्ता के आसन पर है, सो सत्ताबल से उनके श्रम के उपार्जन पर अपना एकाधिकार स्थापित कर, उस सम्पत्ति का स्वामित्व हम भोगते है। और सम्पत्ति के सच्चे उत्पादक ये श्रमिक, हमारे मातहत रह कर शोषित विपन्नों का जीवन बिताते है। अपने स्वामित्व से हमने उन्हे पददलित कर रक्खा है। हम वश-परम्परा से राज्य-सुख भोगते चले जाते है, और उन्हे हमने वश-परम्परागत रूप से श्रमिक और शोषित जीवन बिताने को विवश कर छोडा है। हम अभिजात कुलीनो की कई पीढियों ने इन कम्मकरों की हर पीढी के रक्त मे आत्महीनता के भाव को सस्कारित और परम्परित किया है। मानव-पुत्रों की कई-कई पीढ़ियों मे हीन भाव को एक सक्रामक रोग की तरह प्रवाहित करने से बड़ा पाप और क्या हो सकता है, महाराज ? उनके रक्तकोशों, मास, मज्जा, अस्थियों तक मे हमने हीनत्व की खेती की है। . . क्या इसी को हम सर्वोदयी, सर्व-कल्याणकारी गणराज्य कहते है ? राजतंत्रों मे हो कि गणतत्रों मे हो, धनी और निधन, श्रमिक और स्वामी तथा शोषक और शोषित के बीच की यह खाई, मैने सर्वत्र समान रूप से फैली देखी है। समझ नहीं सका कि पृथ्वी पर कहाँ है गणराज्य, सर्वोदयी कल्याणराज्य, जिसकी बात आप कर रहे है ?'

'आयुष्यमान्, अपना उत्कर्ष करने को हमारे गणतत्र मे तो सर्वजन स्वतत्र है। यह तो व्यक्ति के अपने स्वतंत्र सकल्प और पुरुषार्थ पर है कि अपने को नीचे से उठा कर ऊपर ले जाये।'

'यह स्वतंत्रता मात्र हस्तिदंती है, महाराज ! हाथी के ये दिखाऊ दाँत हैं, खाने के दाँत दूसरे ही हैं। वे उसके जबड़े में छुपे है : वे बड़े कराल और सर्वभक्षी हैं। आपकी 'प्रवेणी-पुस्तक' के नियम-विधान और शासन-विधान में, बाहर से हर प्रजाजन को मतदान का अधिकार भले ही हो, पर अधिनियम और शासन-विधान के निर्माण और उसके स्वायत्त परिवर्तन का अधिकार तो अष्टकुलकों तक ही सीमित और सुरक्षित है। कोई भी दीन-दलित चाह कर, पीढ़ी-दर-पीढ़ी दलित-शोषित रहना नहीं चाह सकता, उसे सो भ्रमों और भुलावों मे डाल कर यह रक्खा जाता है। इस विधान के अन्तर्गत उसे ऊपर उठने का कोई अवसर नही। शूद्रों और चाण्डालों की सन्तानों को आर्यावर्त के गुरुकुलों में शिक्षा पाने का अधिकार नही। उन्हे पदत्राण तक धारण करने का अधिकार नहीं। स्पष्ट है कि दीन-दुर्बल-दलित को सुव्यवस्थित रूप से वह रक्खा जाता है, ताकि उच्च कुलीन अभिजात वर्ग, पृथ्वी की श्रेष्ठ निधियों का अधिकतम संचय और निर्बाध भोग अन्त तक करते चले जायें।'

'जगत और जीवन की वस्तु-स्थिति और मनुष्यों के भाग्य बदलना तो किसी शासन-तंत्र के हाथ नहीं, बेटा। मूलत· और अन्ततः तो मनुष्य अपने ही किये और बाँधे कर्मों का परिणाम है, आयुष्यमान्। स्वतंत्र-परतंत्र, ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, मनुष्य अपने ही उपार्जित कर्मो के फलस्वरूप होता है। यह श्रेणिभेद तो प्राणियों और मानवों मे आदिकाल से चला आया है, और सदा रहेगा। हमारे सर्वज्ञ तीर्थंकरों और श्रमण भगवन्तों ने भी क्या मनुष्य की स्थिति का निर्णायक कर्म को ही नहीं माना है?'

'आदिकाल से जो चला आया है, वही अनतकाल तक चलेगा, यह सत्य नही, बापू। द्रव्य का परिणमन किसी चक्र मे सीमित नही। द्रव्य मे अनन्त गुण और अनन्त पर्याय सम्भव है। सो उसकी सम्भावनाएँ भी अनन्त है। जो अनन्त है, वह अनिवार्यतः विकास-प्रगतिशील होगा ही। सो अनंत रूढ़, चक्रबद्ध, और अन्तिम कैसे हो सकता है? तब इस लोक, पदार्थ और मनुष्य का स्वरूप भी रूढि और परम्परा से बद्ध और अन्तिम कैसे हो सकता है? जो मनुष्य का भाग्यचक्र आज है, सदा वही रहेगा, ऐसा मान लेने पर वस्तु का स्वरूपगत अनंतत्व समाप्त हो जाता है। सो यह मान लेना कि जो आदिकाल से चला आया है, वही अनन्तकाल में चलता रहेगा, यह सर्वज्ञों द्वारा कथित वस्तु-स्वरूप का विरोधी है। स्थापित-स्वार्थी वर्ग, सर्वज्ञों के कथन की स्वार्थमूलक व्याख्या कर, उसकी आड़ मे सदा ही ऐसा प्रमादी प्रवचन करते आये है।'

'तब तो मानना होगा, कि कर्म या भाग्य जैसी कोई चीज है ही नहीं : मनुष्य अपनी स्वाधीन इच्छा-शक्ति से अपना मनचाहा भाग्य बना सकता है। उसका जीवन किसी पूर्वार्जित कर्मबन्ध के आधीन नही?'

'आप तो जिन-सर्वज्ञों के उपासकों में श्रेष्ठ श्रावक-शिरोमणि और ज्ञानी हैं, महाराज! सर्वज्ञों द्वारा उपदिष्ट कर्म के स्वरूप से तो आप भली-भांति परिचित ही होंगे। कर्म एक विभावात्मक और नकारात्मक वस्तु है। वह स्वभावात्मक और विधायक वस्तु नहीं। वह अभीष्ट नहीं, अनिष्ट वस्तु है। सो कर्म का विधान शिरोधार्य करने योग्य नही, वह तोड़ देने योग्य है। यहाँ तक कि सर्वज्ञ भगवन्तों ने अन्ततः कर्म को अरि यानी शत्रु तक कहा है। बल्कि मूलतः वही कहा है, और जो कर्म-बन्धन का अंतिम रूप से नाश करे, वही हमारा सर्वोपरि इष्टदेव अरिहंत कहा

जाता है। 'णमो अरिहन्ताणं': यही जिनेश्वरों द्वारा दिये गये अनादि-सिद्ध मंत्र का प्रथम पद है। उस कर्मारि को हम अपने आदिकाल से अनन्तकाल तक का चरम भाग्यविधाता कैसे मान् सकते हैं ? यह तो शत्रु को ही इष्टदेव के आसन पर बैठा कर उसे पूजना हुआ। तब तो हमारे परमाराध्य अरिहंत नही, अरि होना चाहिए—ये कर्मारि। और यदि कर्म ही मनुष्य के भाग्य का अन्तिम निर्णायक हो, तो फिर उसके पुरुषार्थ का क्या मूल्य रह जाता है ? इस तरह मनुष्य की सत्ता केवल अन्धकर्म और भाग्य की चिरन्तन दास हो जाती है। पर जिनेश्वरों का धर्म ऐसा नहीं कहता। वह चरम परम पुरुषार्थ का धर्म है। सर्वज्ञ प्रभुओं ने केवल मोक्ष को ही नही, धर्म, अर्थ और काम तक को पुरुषार्थ कहा है। यानी मनुष्य अपनी स्वायत्त ज्ञान-चेतना से धर्म की कालानुरूप नूतन व्याख्या कर सकता है, वह अर्थ और काम को अपने विवेक और विज्ञान के पुरुषार्थ से, अपने अभीष्ट रूप मे स्वाधीन भोगने की सामर्थ्य रखता है। वह अपनी आत्म-शक्ति के स्वतन्त्र सकल्प से, अपने लिए और सर्व के लिए, सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय मांगलिक और समत्व-धर्मी विश्व-रचना कर सकता है।'

'तो फिर वर्द्धमान, आदिकाल से अनेक सर्वज्ञ तीर्थकरों के होते भी विभिन्न मानवों के भाग्य विषम और विसम्वादी क्यों रहे ? जगत सदा ही विषम रहा। केवल व्यक्ति ही अपने चरम ज्ञानात्मक उत्थान से, अपने कर्मपाशों का अन्तिम रूप से नाश करके, अपना वैयक्तिक मोक्ष सिद्ध कर सके है। पर कोई तीर्थकर भी समुदाय के भाग्य को न बदल सका, सर्व का समान अभ्युदय न कर सका। क्या वे तीर्थकर गलत थे, सीमित थे, असमर्थ थे ?

'तीर्थंकर के गर्भ मे आने के क्षण से लगा कर, मोक्ष लाभ के क्षण तक, जो आश्चर्यजनक पच-कल्याणक के अतिशय होते है, क्या उनकी ओर आपका ध्यान न गया तात ? इन कल्याणकों के भीतर अन्तर्निहित रूप से सक्रिय, समस्त विश्व के सामुदायिक कल्याण और उत्कर्ष की शक्तियों का भरपूर परिचय हमे मिलता है। वे शक्तियॉ तो अमोघ होती है, और पूर्ण वेग से प्रवाहित होती हैं। तत्कालीन लोक मे वे चमत्कारिक मांगलिक क्राति भी घटित करती है। पर प्राणियों में श्रेष्ठ और सर्वाधिक सज्ञान हम मनुष्य अपने कषायों और स्वार्थों से इतने अन्धे होते हैं, कि उन शक्तियों के प्रभाव को पूर्ण रूप से ग्रहण कर, उनके आधार पर विश्व का सर्वकल्याणकारी मांगलिक रूपान्तर करने का पुरुषार्थ हम जान बूझकर नही करते। सर्वज्ञ तीर्थंकर के उपदेश मे तो वैयक्तिक और सार्वजनिक अभ्युदय और मुक्ति का विधान सयुक्त रूप से समाहित होता है। वह वाणी तो अनेकान्तिनी, और अनन्त सम्भावी होती है। हमारे द्वारा उसका ग्रहण ही सीमित, एकान्तिक और स्वार्थिक होता है। सो हम उस वाणी की प्रमादी और स्वार्थ-सीमित व्याख्या करके लोक को भ्रम मे डाले रखते है। वर्ना मूल में तो तीर्थकर के अवतरण और उसकी दिव्य ध्वनि में, व्यष्टि और समष्टि के लौकिक और लोकोत्तर सर्वाभ्युदय और मुक्ति का अमोघ मंत्र समाया रहता है। . . क्या कर्म-भूमि के आद्य तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के जीवन-काल मे लोक का सर्वांगीण और सार्वजनिक अभ्युत्थान नही हुआ था ? तब मानना होगा कि वह सर्वकाल सम्भव है। हम स्वार्थी श्रोताओं ने और सीमित ज्ञानी श्रुतकेवलियों ने तीर्थंकर की कैवल्य-वाणी की सीमित और मनमानी व्याख्याएँ की है। इसी से सार्वजनीन लोक के, सर्वाभ्युदयी कल्याण की धारा भंग हुई है। कल के विगत तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ तक की कैवल्य-वाणी मे वही सर्वाभ्युदयी कल्याण का

मत्र मै आज भी स्पष्ट सुन रहा हूँ। उसमे केवल वैयक्तिक कर्मनाश ही नही, किन्तु समष्टिगत अनिष्ट कर्मनाश और सर्व के अचूक पुण्योदय और पूर्ण उत्कर्ष का गहन रहस्य समाया है। मै उसे प्रत्यक्ष अनुभूत कर रहा हूँ। भीतर साक्षात् कर रहा हूँ। अब तक जो न हो सका, आगामी तीर्थंकर उस सम्भावना का रहस्य जगत पर खोलने को आ रहा है।'

'वर्द्धमान, तो क्या यह तीर्थंकर अपूर्व होगा ? अब तक के तीर्थंकर अपूर्ण ज्ञानी थे ?'

'हर तीर्थंकर पूर्ण ज्ञानी, किन्तु अभिव्यक्ति मे पिछले से फिर भी अपूर्व, अधिक प्रगतिमान हुआ है। वैसा न हो, तो सत्ता की अनन्तता का क्या अर्थ रह जाता है ? आगामी तीर्थंकर भी अपूर्व प्रगति का सन्देशवाहक होगा, व्यष्टि और समष्टि दोनों ही की मुक्ति का अपूर्व रचनात्मक विधाता होगा। उसकी प्रतीक्षा करे, वैशालीनाथ !'

'इससे बडा आनन्द का सम्वाद क्या हो सकता है, कि कोई ऐसे तीर्थंकर आने वाले है, जिनका उपदेश केवल व्यक्ति के लोकोत्तर मोक्ष का ही मार्गदर्शक न होगा, बल्कि जो लोक की सामुदायिक मुक्ति और उसकी सर्वमगलकारी, सम्वादी और समवादी मुक्ति का भी विधायक होगा। लेकिन तब तो प्राणियों के वैयक्तिक कर्मबध, पाप-पुण्य का कोई अर्थ नही रह जायेगा। आखिर तो व्यक्ति, वस्तु और अन्य व्यक्तियों के प्रति, अपनी आत्मपरिणामगत प्रतिक्रिया से ही कर्मबन्धन करते है। ऊँच नीच, कुरूप सुरूप, धनी-निर्धन, सुखी-दुखी मनुष्य अपने गोत्रकर्म, नामकर्म, अन्तराय कर्म, वेदनीय कर्म आदि कर्मों के फल स्वरूप ही तो होता है ?'

'तात, हम समझे, कि आखिर कर्म बध है क्या वस्तु ? नित्य के जीवन व्यवहार मे प्राणि, अन्य प्राणियों और पदार्थों के प्रति जो शुभ अशुभ, राग द्वेषमूलक भाव करता है, उसी से तो वह पाप या पुण्य कर्म बाँधता है। यानी शुभाशुभ भाव, प्रतिक्रिया और कर्म करने को व्यक्ति स्वतत्र है। यह उसकी आत्म सत्ता के अधीन है, कि वह अन्य के प्रति क्या भाव रक्खे, कैसे बरते। जड कर्म-परमाणुओं की क्या ताकत, कि मनुष्य के न चाहते उसकी चैतन्य आत्मा को बाँध ले। यानी प्रथमत जड कर्म परमाणु, चैतन्य आत्मशक्ति के अधीन है। आत्मा अपने स्वाधीन सकल्प से कर्म करने, या कर्म बधन को स्वीकारने या नकारने को स्वतत्र है। तब पहले अविवेक या अज्ञान से कोई कर्मराशि व्यक्ति बाँध चुका हो, तो इस जीवन मे अपने सद्ज्ञान और सद् सकल्प से वह उसे तोड या बदल न सके, तो आत्मा की स्वतत्रता या मुक्ति का क्या अर्थ रह जाता है ? आप तो जानते है, ये वर्तमान वर्ण, जाति, गोत्र, ऊँच नीच की व्यवस्थाएँ कुछ बलवानों द्वारा निर्बलों पर आरोपित बलात्कार है। जिनेश्वरों ने इन भेदों को मूलगत या जन्मजात नही स्वीकारा। व्यक्ति अपने स्वतत्र भाव, पुरुषार्थ, आचार और व्यवहार से इन्हे बदल देने को स्वाधीन है। वर्ण व्यवस्था, और वर्ग व्यवस्था व्यक्ति की तात्कालिक योग्यता और रुचि के अनुसार नियोजित एक कर्म विभाजन मात्र है। व्यक्ति अपने स्वतत्र सकल्प से अपनी आत्मिक उन्नति करके, इन बाहरी भेदों और विभाजनों की सीमा तोड कर, उच्च कक्षा मे पहुँच सकता है। फिर, पूर्वोपार्जित जड कर्म को ही प्रस्तुत जीवन व्यवस्था और समाज-व्यवस्था का अन्तिम और अनिवार्य विधाता मानकर, उसे सर पर धारण किये फिरना, क्या जिनेश्वरों के स्वतत्र पुरुषार्थी धर्म, और आत्मा की मूलगत स्वतत्रता की अवहेलना नही है ? मानो कि चैतन्य आत्मा कर्म की निर्णायक नही, जड कर्म चैतन्य आत्मा के निर्णायक है। यह जिनेन्द्र के स्वतत्र आत्मधर्म का द्रोह और अपलाप है। जिनेन्द्र

की अनैकान्तिनी और अनेकार्थी वाणी के मनमाने तार्किक अर्थ और व्याख्याएँ करके, जड़धर्मी स्थापित स्वार्थियों ने अपने स्वार्थों की पुष्टि-तुष्टि के लिए, जिनवाणी की आड़ में, जड़ कर्म को चैतन्य आत्मा के सिंहासन पर विधाता बना कर बैठा दिया है। वर्ना तो, स्वतंत्र आत्मशक्ति में निश्चय ही यह सामर्थ्य है, कि वह अपने स्वतंत्र पुरुषार्थ से केवल पारमार्थिक मुक्ति ही नहीं प्राप्त कर सकती, बल्कि इस प्रापंचित विश्व में उच्च आत्मलक्ष्यी मुक्ति की व्यवस्था को, अपने उच्चतर विकास की आवश्यकतानुसार स्वतंत्र रूप से रच सकती है . . !'

'तब तो व्यक्तियों के व्यक्तिगत पापोदय, पुण्योदय की व्यवस्था निरर्थक सिद्ध हो जाती है।'

'निश्चय ! यह सब स्थापित स्वार्थी बलवानों की, निर्बलों को सदा निर्बल और अपने दास बनाये रखने की जड़ कामिक व्यवस्था है। स्वतंत्र और सतत परिमणनशील आत्म-तत्व में अन्तिम रूप से पाप या पुण्य जैसा कुछ नहीं है। कामना से प्रेरित होकर ही तो व्यक्ति तद्नुसार कर्म बाँधता है। शुभ कामना से व्यक्ति पुण्य बॉधता है, अशुभ कामना से पाप। पुण्य कर्म के फलस्वरूप व्यक्ति विपुल सांसारिक विभूति पाकर प्रमत्त होता और फिर अनन्त पाप बाँधता है। तब पापोदय और पुण्योदय में क्या अन्तर रह जाता है ? पुण्यवान कहे जाने वालों को, मैंने पापी कहे जाने वालों से अधिक पापात्मा, स्वार्थी और शोषक ही देखा है। और जो लोग पापोदय से लोक में निर्धनता, शोषण, नाना यातना झेलने वाले कहे जाते हैं, उन्हें मैंने हृदय से प्रायः अधिक निर्मल, सज्जन, परदुख-कातर देखा है। तब तो तथाकथित पुण्यवान से, तथाकथित पापी होना ही मेरे मन, अधिक अभीष्ट और उच्चतर आत्म-स्थिति है। स्वार्थ-लक्ष्यी, सकाम कर्म से ही मनुष्य जड़ कर्मपाश में बँधता है। उसमें पुण्य और पाप का यह स्थूल भेद, दरअसल व्यक्ति की असली आत्मस्थिति का निर्णायक नहीं हो सकता। पुण्यवान कहे जाते राजाओं और श्रीमन्तों के पापाचारों, बलात्कारों, शोषणों, दुष्कर्मों, स्वार्थों का अन्त नहीं। उन्हें पुण्यवान कहने से बड़ा व्यंग्य और मिथ्यात्व और क्या हो सकता है ? और पापी कही जाने वाली वेश्या को मैंने तथाकथित सती से कहीं अधिक उज्ज्वल चरित्र पाया है। पाप के फलभोगी कहे जाते दरिद्र और दुखी को, मैंने अत्यन्त उदात्त, पवित्र, और शुद्ध आत्मा भी पाया है। ये सारे भेद बहुत उथले, अटकलपंचू, आनुमानिक और स्वार्थी धर्म-व्याख्याताओं की देन हैं ?'

'वर्द्धमान, तब तो लोक के जो शलाका पुरुष, तीर्थंकर, चक्रवर्ती अनन्त वैभव के भोक्ता और स्वामी होकर जन्म लेते है, वे पुण्यात्मा नहीं, पापात्मा ही कहे जा सकते हैं ?'

'महाराज, आप क्या यह नहीं जानते, कि तीर्थंकर ने लोक की सम्पत्ति के व्यक्तिगत संचय और स्वामित्व को परिग्रह का महापाप जाना, इसी से वे राज्य और सम्पदा को ठोकर मार कर, अकिंचन हो गये। जो तीर्थंकर चक्रवर्ती होकर जन्मे, उन्होंने भी अपनी चक्रवर्ती सम्पदा को पाप और बन्ध का मूल जान कर, काकबीट की तरह त्याग दिया। क्या जिनेश्वरों ने सारे पापों का मूलभूत महापाप परिग्रह को ही नहीं बताया है ? तथाकथित पुण्योदय और पापोदय, अनन्तः दोनों ही, वैयक्तिक आत्मा और लोक की जीवन-व्यवस्था के घातक हैं। वे व्यक्ति और विश्व की कल्याणी व्यवस्था के भंगकर्ता, अपहर्ता और समान रूप से लौकिक और लोकोत्तर मुक्तिमार्ग के अवरोधक हैं। लोक की विषम व्यवस्था को जो जीवों के पुण्य-पाप पर आधारित बताया जाता है, यह सम्यक् दर्शन नहीं है, महाराज। इस विसम्वादी, असमवादी व्यवस्था का आधार, कोई

पारमार्थिक तत्व नहीं, स्वार्थिक अज्ञान और बलात्कार है।'

'तो फिर लोक-जीवन की कल्याणी क्रान्ति के सन्दर्भ में, तुम कर्म-बन्धन को कैसे व्याख्यायित करते हो, बेटा ?'

'कर्मोदय केवल वैयक्तिक ही नहीं, सामुदायिक भी होता है, बापू। एक ही नाव में बैठे सौ व्यक्ति एक साथ डूब जाते हैं। एक काल या देश विशेष में, लाखों प्राणी एकबारगी ही दुर्भिक्ष, महामारी, प्रलयंकर बाढ़ों के ग्रास हो जाते हैं : या करोड़ों प्रजा एक साथ उत्कर्ष और सर्वांगीण सुख की सीमा छू लेती है। . . कर्म-बन्धन अन्ध, अज्ञान-जन्य वस्तु है, गणनाथ। कर्म हमारा विधाता नहीं, हम कर्म के विधाता हैं। कर्म स्वीकारने, पालने, माथे चढ़ाने की वस्तु नहीं। वह तोड़ने के लिए है, बदलने के लिए है, अपने विकास की आवश्यकतानुसार ढालने और रूपान्तरित करने की वस्तु है। वर्गभेद, ऊँच-नीच, धनी-निर्धन यदि व्यक्तियों और समूहों के अनिष्ट कर्मोदय से भी हो, तो जो लोक का सम्यग्दृष्टि शलाका-पुरुष या तीर्थंकर है, जो सर्व का पुंजीभूत अभ्युदय होता है, वह अपनी वीतराग, निष्काम आत्म-शक्ति के स्वतंत्र और शुभ-संकल्प से, लोक के पुंजीभूत सामूहिक अनिष्ट कर्मोदय का विनाश कर सकता है। वह अपने सर्व वल्लभ प्रेम से सर्व के भीतर शुभ और शुद्ध आत्म-परिणाम संचारित कर सकता है। प्रेम में एक परम मांगलिक संक्रामक शक्ति है। सर्ववल्लभ प्रेमी, अपने सर्वचराचर व्यापी प्रेम से, समस्त लोक के प्राणि-मात्र के हृदय में ही नही, बल्कि कार्मिक पुद्गल-परमाणुओं तक मे, एक सर्वकल्याणकारी क्रान्ति, अतिक्रान्ति या रूपान्तर उपस्थित कर सकता है। क्या आप नही जानते, कि तीर्थंकर के समवशरण में, उनकी शुद्ध आत्मप्रभा के प्रभाव से प्राणि मात्र के वैर शान्त हो जाते हे ? इस महाशक्ति को यदि हम पूर्ण रूप से आत्मसात् करें, तो क्या यह सम्भव नही कि लोक के प्राणि-मात्र के बीच शाश्वत, निर्विरोध प्रेम का साम्राज्य स्थापित हो जाये ?

'हो सका तो, मै अपने प्रेम को ऐसा अनन्त और विराट बनाऊँगा कि अपने देश-काल की समस्त विश्व-सत्ता को एक अभीष्ट और सर्वाभ्युदयी शक्तियों के संघात मे आप्लावित और रूपान्तरित कर दूँगा। अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य जैसे अनन्त गुण और सम्भावनाएँ हैं हमारी आत्मा मे। वह चैतन्य आत्मा, जड़ कर्म से अनन्त गुना अधिक बलवान है। उसके स्वतंत्र संकल्प और निष्काम इच्छा-शक्ति के लिए कुछ भी असम्भव नही। उसके अकर्त्ता कर्तृत्व और सम्भावना का पार नही।'

'ऐसा कुछ हो जाये, तो जादू हो जाये, वर्द्धमान ! कोई अपूर्व चमत्कार घट जाये। हमारा कुलावतंस ऐसी कोई अतिक्रान्ति करे, तो उसे देखने को मै जीना चाहूँगा, बेटा . . '

'जादू नही हो जायेगा, महाराज, न कोई इन्द्रजालिक चमत्कार होगा। आगामी तीर्थंकर प्रगति और विकास की उत्क्रान्त शक्तियों के कोई अपूर्व मंत्र-बीज मानव-चैतन्य में बोयेगा। उसके जीवन-काल मे भी उसका एक विप्लवी सघात तो प्रकट होगा ही। पर विकास-प्रगति की धारा तो अन्तहीन है, क्योंकि जीवन-जगत ही अन्तहीन है। सो आगामी तीर्थंकर के धर्म-शासन की आने वाली कई शताब्दियों मे, विशिष्ट शलाका-पुरुषों और योगीश्वरों के भीतर वे उत्क्रान्ति बीज संसरित होंगे, फूटेंगे, अंकुरित होंगे। व्यष्टिगत और समष्टिगत रूपान्तरों की अपूर्व शक्तियाँ उन बीजों में से विस्फोटित होंगी, परम्परित होंगी।'

'तब तो पूर्वगामी तीर्थंकरों की कैवल्य वाणी मिथ्या हो जायेगी ?'

'जिनेश्वरों का केवलज्ञान तो अनन्त होता है, तात, सो उनकी उपदेश धारा भी अनन्तिनी होती है। वह साधारण सीमित शाब्दिक वाणी नहीं होती। शब्द तो एक बार में एक देश, एक काल ही कह सकता है। तीर्थंकर तो एकबारगी ही, अनेकान्त, अनन्त वस्तु-धर्म कहते हैं : एकबारगी ही अनन्त देश-कालवर्ती सत्य कहते हैं। सो उनकी दिव्य ध्वनि शब्दातीत अनहद नाद होती है। उनके गणधर उसका असंख्यातवाँ भाग ही ग्रहण कर पाते हैं। उसका भी असंख्यातवाँ अंश ही वे कह पाते हैं। उसका भी असंख्यातवाँ भाग श्रुतकेवली कह पाते हैं। उसका भी असंख्यातवाँ भाग शास्त्रों के पल्ले पड़ता है। इसी से शास्त्रों तक पहुँचते-पहुँचते वह कैवल्यवंती जिनवाणी सीमित, दूषित, विकृत हो जाती है। उसमें सीमा या दोष जिनेंद्र का नहीं। उन्होंने तो सदा पूर्ण, अनन्त सत्य को साक्षात् किया और कहा है। सीमा या दोष अनुगामी अनुशास्ताओं और श्रुतकेवलियों में होता है। हम अनुयायियों मे होता है। सो वह सर्वज्ञ-वाणी कालदोष के दूषण से बच नहीं पाती। तत्कालीन देश-काल और जनगत मीमाओं और स्वार्थों से दूषित होकर, वह सर्वज्ञ प्रभुओं की आर्षवाणी अनर्थक हो जाती है, और उसके प्रश्रयदाता श्रावक समुदायों तथा वर्गों के स्वार्थ की पोषक और समर्थक तक हो जाती है। दरअसल वह सर्वज्ञ-वाणी रह ही नहीं जाती है, अज्ञों की स्वार्थ-वाणी हो जाती है।'

'तब तो, वर्द्धमान, हमारे आज के पार्श्वानुगामी श्रमण-भगवंत जिस जिनदर्शन और सिद्धांत का प्रवचन वर्तमान में कर रहे हैं, वह मिथ्या, दूषित, सीमित है, और उसे उनके प्रश्रयदाता श्रावक-समर्थों का स्वार्थ-पोषक ही कहा जा सकता है ?'

'ऐसा हो भी सकता है, नहीं भी। पर आप जैसे विज्ञ, धर्मात्मा श्रावक कर्म, पुण्य-पाप, धर्म की जो व्याख्याएँ कर रहे है, यदि वही उन श्रमण-भगवंतों की व्याख्याएँ हैं, तो क्षमा करें महाराज, मै उसे भगवान पार्श्वनाथ की अनैकान्तिनी जिनवाणी मानने को तैयार नहीं। और यह भी आप जान लें कि सर्वज्ञ भगवान, दर्शन और सिद्धांत नहीं कहते। वे तो एकबारगी ही, अनन्तधर्मी वस्तु-सत्य का अनेकार्थी और प्रवाही कथन करते हैं। अनिर्वच को वे अपने अनहदनाद से वाक्‌मान करते है। वह एक बँधा-बँधाया, सुनिर्दिष्ट, पक्का सिद्धान्त हो ही नहीं सकता। दर्शन और सिद्धान्त तो बहुत पीछे आने वाले श्रुतज्ञानी आचार्य सुनिश्चित बौद्धिक परिभाषाओं मे रचते है। भाषा-सीमा के कारण उनमे एकान्तवाद का दोष आ जाता है। दर्शन और सिद्धान्त बन कर, सत्य एकान्तवादी हो ही जाता है। अनैकान्तिक वस्तु-सत्य का ताद्रष्ट और यथार्थ प्रवक्ता वह रह नही सकता।'

'तब तो मानना होगा कि सर्वज्ञ का वचन भी टल सकता है, मिथ्या हो सकता है ?'

'सर्वज्ञ एकवचनी वाणी नही बोलते, तात, वह वाक्मान होकर भी, अनेकार्थिनी, अनेक-भाविनी वाणी होती है। वह टल और अटल, धारणागत सत्य और मिथ्या की भाषा से परे, एक अनन्त ज्ञान-ज्योति की धारा होती है। वह बौद्धिक अर्थ, व्याख्या, विवेचन से परे, मात्र भाव-गम्य होती है। उसके श्रवण मात्र से चेतना में अतिक्रान्ति घटित हो जाती है।'

'तो ऐसी वाणी का मर्म आज कौन उद्घाटित करे, उसका बोध कौन कराये ?'

'उसका जो समग्र बोध मेरे भीतर, निरन्तर उद्भासित है, उसे किंचित् शब्दों तक लाने का

प्रयास मैंने अभी किया है, भन्ते मातामह ! जिनेश्वर भगवन्तों की कृपा से, अपने अन्तश्चैतन्य की गहराई में, उस कैवल्य-ज्योति की पूर्वाभा को मैं फूटता देख रहा हूँ।'

'वर्द्धमान, क्या हमारे काल का वह तीर्थंकर जन्म ले चुका ?'

'निश्चय, महाराज ! . .'

'कहाँ, किस पुण्य-भूमि में . . कब ?'

'वह अन्यत्र और आगामी अब नहीं, राजन् ! प्रत्यक्ष को प्रमाण क्या . . ?'

'बेटा . . ?'

'तो अब आज्ञा दें, तात !'

'लेकिन हमारी प्रस्तुत समस्याओं में, हमें तुम्हारा परामर्श चाहिए, आयुष्यमान् । आज बात तात्विक हो गई; प्रासंगिक के लिए तुम्हारा निर्देश और सहयोग पाना चाहूँगा।'

'कल इसी समय, यहीं उपस्थित रहूँगा, भन्ते मातामह !'

मैंने दोनों पितृजनों के चरण-स्पर्श कर बिदा ली। और मुझे लगा, कि दोनों राजपुरुष संभ्रमित से खडे, मेरी जाती हुई पीठ को ताकते रह गये है।

आगामी मन्वन्तर की तलवार

मैं तो कुछ सोचता नहीं। शून्य ही रहता हूँ। स्वयं और सहज रहता हूँ। कोई दस्तक देता है, तो भीतर के शून्य में से उत्तर आता है। ऐसा लगता है कि महासत्ता के साथ एकतान और सम्वाद मे ही जी पाता हूँ। इसी से अपने परिवेश में और लोक में जो विसंगति और विसम्वाद है, वह मुझे स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उससे मुझे सुरभंग की पीड़ा होती है। तब मेरी स्वानुभूति ही, सर्व के साथ एक मौलिक सहानुभूति का रूप ले लेती है। सत्य, न्याय, प्रेम, अहिंसा, अपरिग्रह, इसी स्वानुभूति की जाया सहानुभूति की स्वाभाविक सन्ताने हैं। शब्द और सिद्धान्त मैं क्या जानूं। भीतर का सत् जीवन में बह कर जब तत् बनता है, और फिर आत्मवत् अनुभव होकर मेरे आचार में उतरता है, वही मेरे लिए जीवन है। पता नहीं वैशालीपति को मुझ से समाधान मिला या नहीं। पर, मेरे शून्य पर उन्होंने अपने प्रेम का आघात किया है। अब उसमें से जो भी आया, और आये, वह उनका, सर्व का। उस तरह मैं वैशाली के और लोक के कुछ काम आ सकूँ, तो मेरा होना सार्थक हो जाये।

. . आज जब मंत्रणा-गृह में पितृजनों के समीप उपस्थित हुआ, तो वे परेशान और विस्थापित-से दीखे। उनके भीतर अब तक बने आधार, कल की बात से जैसे ध्वस्त हो गये थे, और वे किनारा पाने को कहीं अधर और मझधार में छटपटा रहे थे।

'आयुष्यमान्, वैशाली का अस्तित्व खतरे में है। उसका त्राण अब केवल तुम्हारे हाथ है।'

'वैशाली से अधिक श्रीमान और शक्तिमान दूसरा राष्ट्र तो मैं आज पृथ्वी पर नहीं जानता, महाराज ! उसकी प्रासाद-मालाओं के शिखरों पर दिगंगनाएँ शयन करने आती हैं। उसकी मंदिर चूड़ाओं के चिन्तामणि-दीपों से आसमुद्र पृथ्वी आलोकित है। उसके राजन्यों और धनकुबेरों के

कोषागारों में वसुन्धरा के सारभूत सुवर्ण-रत्नों की राशियाँ लोट रही हैं। उसके चैत्य-काननों में निरन्तर श्रमणों की धर्मवाणी प्रवाहित है। उसके लोक-हृदय पर अनुत्तर सुन्दरी आम्रपाली शासन करती है। महानायक सिंहभद्र और आचार्य महाली जैसे महाधनुर्धरों के दिगन्तवेधी तीर उसके संरक्षक हैं। वह संसार में, सर्वतंत्र स्वतंत्र गणतंत्र के रूप मे सर्वोपरि विख्यात है। और उसके संथागार में राज-सिंहासन नहीं, त्रैलोक्येश्वर जिनेन्द्र भगवान का सर्वजयी सिंहासन बिछा है। समकालीन विश्व की चूड़ामणि नगरी है वैशाली, महाराज। उसका अस्तित्व खतरे में है, बात समझ में नहीं आती, भन्ते मातामह ! और मुझ जैसा अनजान अकिंचन उसका त्राण करे ? विचित्र लगता है, राजन् !'

'वर्द्धमान, वैशाली की यह अप्रतिम समृद्धि और उसकी स्वतंत्र सत्ता ही तो आज सारे आर्यावर्त के राजुल्लों की आँखों मे खटक रही है। मगध सम्राट बिंबिसार श्रेणिक ताम्रलिप्ति से पार्शव देश तक एक महासाम्राज्य स्थापित करने का सपना देख रहे है। चिरकाल की अजेय वैशाली ही उनकी राह का सबसे बड़ा रोड़ा है। वैशाली जय हो जाये, तो फिर आर्यावर्त के अन्य सारे राजतंत्र और गणतंत्र उसे अपनी मुट्ठी मे दीखते है।'

'पर अजेय शक्तिशाली वैशाली को भय किसलिए ?'

'सदा आतंक और युद्ध की ललकारों तले जीना भयानक और खतरनाक ही कहा जा सकता है, बेटा। भेड़िये का भरोसा क्या ? कब कहाँ से टूट पड़े !'

'सम्राट बिम्बिसार तो आपके जामाता है, भन्ते तात ! और मेरी विश्वमोहिनी मौसी चेलना, सुनता हूँ, उनके हृदय-राज्य पर एकतंत्र शासन करती है। आपको अपनी ऐसी समर्थ बेटी का भी कोई सहारा नहीं ? और फिर आर्यावर्त के कौन से राजेश्वर आपके जामाता नहीं ? अवन्तीपति चण्ड प्रद्योत, कौशाम्बीनाथ मृगांक, पश्चिम समुद्राधिपति उदायन, पूर्व सागरेश्वर अंगराज दधिवाहन, दशार्णपति दशरथ, आर्यावर्त के ये सारे ही शिरोमणि महाराजा आपके जामाता है। ये सब मेरी सुन्दरी मौसियों की गोद के छौने बने हुए है। और मगध का दुर्दण्ड प्रतापी राजकुमार अजातशत्रु और भुवनमोहन वत्सराज उदयन आपके भाजे है। आपकी बेटियों ने इन राजकुलों की पीढ़ियों मे अपना रक्त ढाल दिया है। जान पड़ता है, वैशाली को विश्व-सत्ता बनाने के लिए आपने जम्बूद्वीप के छोरों तक अपनी नाकेबन्दी कर ली है। फिर वैशाली की सुरक्षा में क्या कमी रह गई ?'

मेरे पूज्य मातामह का आसन डोलता दिखाई पड़ा। उनकी बुनियादें थरथरा रही थीं। सकपकाये-से बोले :

'मेरी ये बेचारी बेटियाँ ? आखिर तो अबलाएँ हैं ?'

'कोशकारों ने नारी को अबला जाने क्या सोच कर कहा। पर पुराण और इतिहास में इन बलाओं का प्रताप क्या आपने नहीं देखा ? इनके एक कटाक्ष की मोहिनी पर क्या आपने साम्राज्यों को भस्मीभूत होते नहीं देखा, पुरुषोत्तमों को हार जाते नही देखा ? हम पुरुषों ने अपने दुर्दम्य बल से इन महाबलाओं की मृदुता को दबोच कर, इन्हे अबला बनाये रखने का महापाप किया है। इनकी निसर्गदत्त मातृ-ममता, और प्रिया-सुलभ समर्पणशीलता का हमने शोषण किया है। वर्ना मेरी मौसी महारानियाँ, अपने प्रेम की सत्ता से पृथ्वी का भाग्य बदल सकती थीं।'

'जो वस्तु-स्थिति है, वह तो तुम देख ही रहे हो, बेटा। बिम्बिसार से भी अधिक हमारा भागिनेय अजातशत्रु, वैशाली पर अपने दाँत गड़ाये है।'

'देख रहा हूँ तात, हमारा ही रक्त हमारे विरुद्ध उठा है। यह काम-साम्राज्य है, महाराज, इसमे कोई किसी का सगा नहीं। कामिनी और कांचन की ठण्डी शिलाओं से चुने इन दुर्गों की बुनियादे, तृष्णा की बालू पर पड़ी हुई है, गणनाथ। तृष्णा के इस महा भयावह जंगल में कौन सुरक्षित है? यहाँ कौन किसी को पहचानता है? जहाँ हम अपने ही को नहीं पहचानते, अपने ही शत्रु बने हुए हैं, वहाँ दूसरे के साथ मैत्री और प्रेम का क्या आधार हो सकता है? हम सब यहाँ एक-दूसरे को अजनबी और पराये है। अपनापा और सम्बन्ध मात्र यहाँ स्वार्थ का है। आप जैसे ज्ञानी भी अहं-स्वार्थों के इस दुश्चक्र की कडी बन गये? मृगमरीचिकाओं में कल्याण-राज्य खोज रहे हैं?'

'सारा जगत आज वैशाली को कल्याण-राज्य कहता है। वह क्या झूठ है, आयुष्यमान्?'

'सच्चा कल्याण-राज्य तो प्रेम का सर्वराज्य होता है। वह किसी भी बाहरी राज-सत्ता से आतंकित और भयभीत कैसे हो सकता है?'

'जो हो रहा है, सो तो तुम देख ही रहे हो, बेटा!'

'जो मै देख रहा हूँ, वह कुछ और ही है, राजन! और आपके ध्यान से शायद वह बाहर नही! गंगा और शोण के सगम पर मगध और वैशाली का सीमांतक प्रदेश है। उस प्रदेश की नदी-घाटी मे जो सुवर्ण की खान है, उन पर इन दोनों ही राष्ट्रों का समान अधिकार है। गंगा-शोण संगम के पत्तन-घाट पर जब भी उस सुवर्ण से लदे जहाज आते हैं, तो आधी रात ही वैशाली के महाधनुर्धर महाली अपना सैन्य लेकर वहाँ पहुँच जाते हैं। और अपनी बाणावली के बल पर साझे का वह सारा सुवर्ण वे अकेले ही बटोर लाकर वैशाली को धन्य कर देते है। और सवेरे जब अजातशत्रु अपना सैन्य लेकर, अपने भाग का सुवर्ण लेने आता है, तो खाली जहाजों पर तलवार टकरा कर वह लौट जाता है। मगध की तलवार यदि अब हमारे खून की प्यासी हो उठी है, तो किसका दोष है, महाराज?'

'सधिराज्य का सुवर्ण सदा बाहुबल और शस्त्रबल से ही बटोरा जाता रहा। उसका अन्तिम निर्णय कब कहाँ हो सका? अजातशत्रु समर्थ हो, तो अपने बाहुबल से उठा ले जाये वह सुवर्ण! हमे कोई आपत्ति नही!'

'तो बाहुबल और शस्त्रबल की इस टक्कर पर आधारित राज्य तो सदा आतंक-छाया में ही जियेगा, राजन्! यह तो एक स्वत:सिद्ध बात है। भौतिक समृद्धि ही जिस राज्य का सर्वोपरि लक्ष्य हो रहे, उसका अस्तित्व सदा भय मे ही रह सकता है। आज वज्जियों से अधिक सम्पत्तिशाली विश्व मे कोई नहीं। विदेशी यात्री वैशाली के ऐश्वर्य को देखकर स्तम्भित रह जाते हैं। पार्शव का शासानुशास, महाचीन, और यवन एथेंस तक की सत्ताएँ वैशाली के कामिनी-कांचन पर गृद्ध-दृष्टि लगाये हैं। तो भारत के इन बेचारे राजुल्लों की क्या बिसात? अपने इस सुवर्ण-साम्राज्य के विश्व-व्यापी विस्तार के लिए, हमने अनेक अलिच्छवि श्रेष्ठियों और सार्थवाहों को भी वैशाली में बसा लिया है। अतल सागरों और पृथ्वियों की अलभ्य रत्न-सम्पदा उनके तहखानों में बन्दी है। ताम्रलिप्ति के भूगर्भ से क्षीर-स्फटिक और महानील जैसे दिव्य रासायनिक रत्न निकलते हैं। बेचारी

वहाँ की प्रजा उन्हे अपने लिए रख पाने मे असमर्थ है। अपने लक्ष-कोटि हिरण्यों की क्रय-सामर्थ्य से वैशाली के श्रेष्ठि उन्हें खरीद लाते है। और निश्चय ही वे संथागार के सिंहासन पर विराजमान जिनेद्र देव के छत्र मे नही चढ़ते। अधिकतम हिरण्यों की स्पर्धा पर चढ़ कर वे महारानियों और वारवनिताओं के रूप-राज्य की मोहिनी को भयकर से भयकरतम बनाते है।. . '

'पर वर्द्धमान, उन्नत प्रजाएँ सदा ही भौतिक समृद्धि के शिखरों पर पहुँची है। तुम हमारे इस राष्ट्रीय उत्कर्ष को अनिष्ट मानते हो ? वह तो हमारे समस्त जनगण के उत्कृष्ट ऐहिक कल्याण का साधन है! जनगण के इस उत्कर्ष को . . '

'इसमें जनगण का कोई उत्कर्ष नही, महाराज ! बेशक गणराजाओं के उत्कर्ष की कोई सीमा नही ! हमारे इस नन्द्यावर्त प्रासाद का यह स्वर्गिक वैभव, इस मन्त्रणा-गृह की ये सुगंधित रत्न-यवनिकाएँ इसका प्रमाण है, पितृदेव !'

सुन कर पिता और मातामह की जैसे तहे कॉप उठी हों। वे कुंचित भौंहों से अपने इस बागी बेटे को सन्देह की दृष्टि से देख उठे।

'पर इस राष्ट्रीय उत्कर्ष का लाभ अन्तत तो सारे जनगण को पहुँचना ही है।'

'हॉ, मक्खन-मलाई शासक और श्रेष्ठि बटोर लेते है, फिर बचा हुआ नि सत्व दूध तो बेशक गण के हर जन तक पहुँचता ही है! हम समर्थो के भोगों की खुर्चन-खार्चन और जूठन भी इतनी तो होती ही है, कि उसे पाकर भी प्रजाएँ अपने धन्य भाग्य मानती है। . मैने देखा है, महाराज, ये जनगण महान है। जो पाते है, उसी से सन्तुष्ट है। निर्लोभ, निरासक्त, निर्ग्रंथ है। कुल राजाओ और श्रेष्ठि श्रावकों से, इन श्रमिकों की आत्माएँ उच्चतर है। उनका चारित्र्य, अभिजात वर्गों से श्रेष्ठतर और उत्कृष्टतर है। श्रमणों के धर्म को, सच पूछो तो, मैने इन्ही अकिंचनों में जीवित देखा, वैशाली के महालयों मे नही।'

'हमारे गण मे कोई अभावग्रस्त नही, वर्द्धमान ! प्रचुर मात्रा मे अन्न, वस्त्र, जीवन-साधन सबको सुलभ है।'

'अभाव निश्चय ही नही है। पर दैन्य है, दारिद्र्य है, गरीबी है। धनी और निर्धन के बीच की खाई बहुत बडी है। कुछ लोग लोक के सारे धन का अपहरण करके बड़े और धनी बने है। फलत शेष जन छोटे और दीन हुए है। उन्हे निर्धन और दीनहीन रखने मे ही इन धनियों और राजाओं का अहकार तुष्ट होता है। जैसा कि कल भी मैने कहा था, मानवों और प्राणियों के बीच, मानवों द्वारा नियोजित यह वैषम्य, महान पाप है, अधर्म है, भन्ते तात। यह कर्म-विहित नही, मानव-निर्मित अन्याय है, सामाजिक अन्याय। निसर्ग वस्तु-स्वभाव मे, महासत्ता के मूल राज्य मे, वैषम्य कही नहीं, विसम्वाद कहीं नही। जिनेन्द्रों द्वारा कथित वस्तु-सत्य को व्यभिचरित कर, जो यह विषम राज और समाज-व्यवस्था बनी है, वह अधर्म्य है राजन्। यह एक सार्वजनिक असत्य, हिंसा और अन्याय का अधर्म-राज्य है, पाप-राज्य है, काम-राज्य है। इसके मूल में ही विनाश है, खतरा है, संकट है। जो राज्य असत्य पर टिका है, उसे सदा भय मे जीना ही होगा।'

'भय और आतंक तो ईर्ष्यालुओं और हमारी उन्नति के द्वेषियों ने उत्पन्न किया है, कुमार !'

'उस भय का बीज पहले आप मे है, मुझ मे है; जो चोरी की सम्पदा को अपने तहखानों में

रक्खेगा, वह सदा भयभीत तो रहेगा ही ! क्योंकि तब बाहर के समान स्वभावी अन्य मानव उस सम्पदा से ईर्ष्या और द्वेष करेंगे ही। मैने कहा था न, तात, अहं-स्वार्थ, राग-द्वेष के इस प्रतिक्रिया-जनित दुश्चक्र का अन्त नहीं। शासक-तंत्र, सेना, कानून, राज-न्यायालय, शस्त्रागार, तालों, परकोटों, दुर्गों, साँकलों और अर्गलाओं से रक्षित राज्य सदा आतंकों और युद्धों के भय में ही जियेंगे। क्योंकि वह राज्य-सम्पदा चोरी की है; वह दैवी सम्पदा नहीं, आसुरी सम्पदा है। जिस राज्य में करोड़ों को दीनहीन रख कर, कुछ लोग अपार ऐश्वर्य में बिलखते हैं, वह वस्तु-धर्म का विद्वेषी पाप-राज्य है, पितृदेव। चुराई हुई अतिरिक्त सम्पदा है वह, अनधिकार भोग है वह; इसी से तो उसके भोक्ता, सदा भयभीत रहते हैं; सैन्य, कोटवाली, कानून और दुर्गों से वे अपनी इस पाप-सम्पदा को सुरक्षित रखना चाहते हैं। पर वह कब तक ? यदि आप सदा बलात्कार के बल जीना और भोगना चाहते है, तो दूसरा सवा-बलात्कारी होकर आपकी सम्पदा और राज्य को छीन लेता है, उसमें अन्याय कहाँ है ? बल के जंगल राज्य मे बल ही सत्य है, न्याय है, निर्णायक है। उसमें फिर मगध और वैशाली में कहाँ अन्तर करूँ, समझ नहीं पाता हूँ, महाराज ?'

'जब चारों ओर बलात्कार का जंगल फैला है, तो आत्मरक्षा के लिए, क्या शासन-तंत्र अनिवार्य नही ? दुर्ग, परकोट, सैन्य, शस्त्रागार, कानून, न्यायालय, चोकी-पहरा आखिर तो आत्मरक्षा के लिए है, प्रजा की रक्षा के लिए है। कोई भी शासन-तंत्र लाखों-करोड़ों प्रजाजन की सुरक्षा के लिए ही तो नियोजित होता है। उसे भी तुम न्यायसंगत नही मानते ?'

'मुझे तो नहीं दीखता, भन्ते राजन्, कि शासन, सैन्य, शस्त्र, दुर्ग और कानून प्रजा के लिए हैं। उनके तल को टटोल देखिए, तो साफ दीखेगा कि ये सारे राज्यतंत्र, और इनके अंगभूत सुरक्षा-साधन, फिर चाहे वे राजतत्र हों या गणतंत्र के हों, प्रजा की रक्षा के नाम पर, वे प्रथमतः और अन्ततः शासक और श्रीमंत वर्गों की सत्ता और सम्पदा की सुरक्षा पर नियोजित रहे हैं। तीर्थंकर ऋषभदेव, रघु, भरत, और राम आदि के राज्य इसके अपवाद ही कहे जा सकते हैं। क्योंकि ये शलाका पुरुष मूलतः अपनी चेतना मे ही अपरिग्रही और सर्वस्व-त्यागी थे। बाकी तो सारे राजत्वों का इतिहास मुझे तो शासक और धनिक वर्गों के स्थापित-स्वार्थों की सुरक्षा का इतिहास ही दीखता है।'

'इसके माने तो यह हुए कि राज्य में तुम्हारा विश्वास नहीं। पर यह तो तुम भी मानते हो, कि यह जगत बलवानों की आपाधापी का जंगल है। राज्य ही न रहे तो इस अराजकता की पराकाष्ठा हो जायेगी। मनुष्य मनुष्य को फाड़ खायेगा।'

'यह सच है, भन्ते तात, कि मनुष्य, मनुष्य को फाड़ न खाये, इसी स्थिति से उबरने के लिए राज्य अस्तित्व में आया। पर यह राज्य-संस्था भी क्या उस अराजकता से मनुष्य का त्राण कर सकी ? परस्पर फाड़ खाने की जंगल-नीति व्यक्तियों के स्तर से उठ कर, सामूहिक स्तर पर अवश्य आ गयी है। इस बर्बरता ने अधिक सूक्ष्म होकर, सभ्यता के कपड़े पहन लिये हैं। सभ्यता के दौरान पारस्परिक मारफाड़ और शोषण ने अधिक संगठित रूप धारण किया है। उसने पहले से अधिक घातक और विषैले शस्त्रों का आविष्कार किया है। पहले एक-दूसरे को मारता था, एक-दूसरे से भय खाता था। अब तो लक्ष-लक्ष मानव-समूह, ना कुछ समय में लक्ष-कोटि प्रजाओं का संहार कर देता है। राज्य-संस्था द्वारा अराजकता किंचित् भी मिटी नहीं, महाराज, वह

अधिक सूक्ष्म, भयंकर और सत्यानाशी हो उठी है। युद्ध और आयुध, कला और विज्ञान बने हैं : वे नैतिकता, राजनीति, कूटनीति के नाम पर कपट-कौशल बन कर, धर्म और प्रजा-पालन की आड़ में, भयंकरतम सर्वसंहार की ओर प्रगति कर रहे हैं।'

'तो तुम, वत्स, राज्य और शासन के मूलोच्छेद में विश्वास करते हो ? राज्य में तुम्हारी कोई निष्ठा नही ?'

'अहं-स्वार्थों के दुश्चक्रों पर आधारित राज्य-शासन का निश्चय ही मूलोच्छेद कर देना होगा, गणनाथ ! राज्य वह, जो मूलगत अराजकता का उच्छेद करके, सर्वसम्वादी मौलिक राजकता स्थापित करे। धर्मराज्य की स्थापना द्वारा ही वह सम्भव है। धर्म-राज्य वह, जो व्यक्ति और वस्तु के मूलगत धर्म के आधार पर स्थापित हो। 'वस्तु-स्वभावो धम्मो' : वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। महासत्ता के उस मूलगत धर्म-राज्य में वस्तु और व्यक्ति दोनों ही पूर्ण रूप से स्वतंत्र हैं। उनका अपना-अपना स्वतंत्र परिणमन है। उस स्वभाव-राज्य में, एक-दूसरे पर अधिकार-स्थापन को कोई स्थान नहीं। स्वाभाविक आत्मदान के आधार पर ही उसमें पारस्परिक आदान-प्रदान सम्भव है। शुद्ध सत्ता के उस मौलिक विश्व में, सत्य, अहिंसा, अचौर्य और अपरिग्रह स्वाभाविक रूप से ही प्रतिष्ठित हैं। वस्तु-धर्म के और स्वधर्म के आत्मानुशासन में हम जियें, तो पारस्परिक व्यवहार मे उपरोक्त आचार स्वयं ही प्रतिफलित होगा। आत्म-रक्षा का मूल-मंत्र है---'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'। 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'— अपने शुद्ध रूप में, उसी वस्तु-धर्मी व्यवस्था मे सम्भव है। अभी जो व्यवस्था है, वह तो 'परस्परोपग्रह स्वार्थानाम्' की नीति पर आधारित है। वर्द्धमान, मानवों में बद्धमूल इस स्वार्थ-राज्य का मूलोच्छेद करके, मूल सत्ता में विराजमान 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' का पारमार्थिक धर्म-राज्य प्रस्थापित करने आया है।'

'साधु-साधु, बेटा ! हमारा कुल तुम्हें पाकर धन्य हुआ। इक्ष्वाकु धर्मराजेश्वरों के तुम सच्चे तेजधर और वंशधर हो। पर बेटा, आत्मा और वस्तु के इस पारमार्थिक निश्चय धर्म की स्थापना तक, हमें व्यवहार धर्म की क्रमिक श्रेणियों से गुजर कर ही तो पहुँचना होगा ? इसीलिए न हमारे श्रमण भगवंतों ने निश्चय सम्यक्त्व और व्यवहार सम्यक्त्व मे भेद करके उत्तरोत्तर आत्म-विकास का एक क्रमिक श्रेणिगत राजमार्ग स्थापित किया है।'

'निश्चय और व्यवहार सम्यक्त्व के इस भेद के पीछे, एक विवेक अवश्य था, बापू। पर नित्य के जगत और जीवन का इतिहास-व्यापी अनुभव यह बता रहा है कि यह भेद, वस्तु-सत्ता और आचार के बीच सदा एक अभेद्य दीवार ही सिद्ध हुआ है। इस भेद की दीवार की ओट सुविधा, समझौते और प्रच्छन्न स्वार्थों के पाखण्ड ही पनपे हैं। और धर्म की आड़ में पाखंडों की यह परम्परा सुदृढ़तर होती चली गई है। श्रीमन्तों और शासकों के हाथों में यह कहा जाता व्यवहार सम्यक्त्व शोषण और स्वार्थ-पोषण का अमोघ हथियार बन कर रह गया है। इसी से कहना चाहता हूँ, भन्ते, कि निश्चय और व्यवहार का यह भेद-विज्ञान एक विफल प्रयोग सिद्ध हुआ है। भेद की इस पाखण्डी दीवार का पर्दाफाश करके, मैं इसे सदा के लिए ध्वस्त कर देना चाहता हूँ। . . वस्तु-सत्य दो नहीं, महाराज, एक ही है। धर्म दो नहीं, पितृदेव, एक ही है। सम्यक्त्व दो नहीं, एक ही है। सम्यक्त्व एकमेव है, भन्ते, एकमेवाद्वितीयम् है।'

'पर हमारे श्रमण भगवंत तो आज भी इस द्विविध धर्म-मार्ग का उपदेश कर रहे हैं, बेटा। क्या तुम उसे मिथ्या कहोगे?'

'श्रमण भगवंत क्या कहते हैं, मुझे नहीं मालूम। पर मुझे सम्मेद-शिखर के चूड़ान्त से भगवान पार्श्वनाथ की धर्मवाणी स्पष्ट सुनाई पड़ रही है। या तो सम्यक् दर्शन है, या फिर मिथ्या-दर्शन। बीच में कोई व्यवहार-सम्यक्दर्शन जैसी चीज ठहर नहीं पाती। उसे ठहराया गया, तो वह पाप और पाखण्ड की जनेत्री सिद्ध हुई। असत्य, हिंसा, चोरी, परिग्रह और व्यभिचार उसकी ओट धर्म की सुन्दर वेशभूषा मे सज कर प्रकट हुए। लोक में यह मिथ्यात्व सिद्ध हो चुका है। इस भेद के चलते, धर्म एक निर्जीव और दिखावटी श्रावकाचार हो कर रह गया है। मात्र एक रूढ़ी-निर्वाह। अपने बाद के दूसरे मनुष्य या जीव के साथ हमारा कोई सम्वेदनात्मक, जीवंत सरोकार नहीं। कहाँ है हमारे भीतर, मानवमात्र और प्राणिमात्र के प्रति कोई ज्वलन्त सहानुभूति, अनुकम्पा, मैत्री, करुणा? कहाँ है हमारे भीतर सर्व के प्रति कोई सक्रिय आत्मोपम भाव? हम श्रावकाचार के नाम पर केवल सूक्ष्म एकेन्द्रिय स्थावर जीवों की थोथी दया पालते हैं। हम पानी को छान कर पीते हैं; मच्छर तक को नहीं मारते। सूक्ष्म निगोदिया जीवों तक की रक्षा के रूढ़ी-प्रचलित जतन करते हैं। पर राज्य और सम्पत्ति के उपार्जन और संग्रह के लिए अनर्गल भाव से, लक्ष-लक्ष मानवों का शोषण करते चले जाते हैं। आत्म-रक्षा के व्यवहार धर्म के नाम पर हम सहस्रों मानवों को तलवार के घाट उतार सकते है। पर क्या उससे सच्ची आत्म-रक्षा सम्भव होती है?'

'पर वर्द्धमान, इस तरह तो जगत मे अस्तित्व धारण असम्भव हो जायेगा। महाव्रती मुनि के लिए तो यह एकान्त निश्चय और सर्वत्याग का मार्ग उपयुक्त है। पर अणुव्रती श्रावकों और गृहस्थों के लिए तो अरिहन्तों ने, आत्मरक्षा के हेतु शस्त्र उठाने को धर्म ही कहा है न! तीर्थंकरों और चक्रवर्तियों तक ने आत्मरक्षार्थ और लोक-रक्षार्थ, अत्याचारियों के विरुद्ध शस्त्र उठाया। क्या राजयोगीश्वर भरत और कर्मयोगीश्वर वासुदेव कृष्ण ने अपने चक्र से बलात्कारियों और अत्याचारियों का संहार नहीं किया?'

'सुने भन्ते तात, हिंसा का सम्बन्ध शस्त्र-प्रहार या शस्त्र-त्याग से नहीं। तलवार चलाने न चलाने, काटने न काटने जैसी स्थूल क्रियाओं में हिसा-अहिसा समाहित नहीं, सीमित नहीं। हिंसा या अहिंसा का सम्बन्ध विशुद्ध आत्म परिणाम से है, मनुष्य के अन्तर्तम भाव से है। द्रव्य-हिसा तो उसकी एक फलस्वरूप क्रिया मात्र है। द्रव्यतः तो कौन किसको काटता है, कौन मारता है, और कौन मरता है? क्रिया मे तो केवल पुद्गल देह, पुद्गल देह को काटता है: तलवार, तलवार को काटती है: फौलाद, फौलाद को काटता है। आत्मा तो अमर है, और पदार्थ अविनाशी है। फिर मरना, मारना, कटना, काटना एक औपचारिक माया मात्र है। हिसा और अहिंसा का सम्बन्ध बाह्य क्रिया या पदार्थ से नहीं, आत्म-परिणाम से है, आत्म-भाव के कषयन से है। निष्काम और निष्कषाय जो शुद्ध सर्व कल्याण के भाव से तलवार उठाता है, वह निश्चय ही हिंसक नहीं होता। भरत चक्रवर्ती की तलवार और कृष्ण का सुदर्शन चक्र, निश्चय ही अहिंसक थे। क्योंकि उनके पीछे न तो उनके स्वपरिणाम का घात था, और न पर के घात का कषाय था। ऐसा संहार मारक नहीं, तारक ही हो सकता है। वासुदेव कृष्ण ने जिसे मारा, वह तर गया: योगीश्वर भरत ने जिसे मारा,

वह पाप से उबर गया । इस विश्व के सकल ऐश्वर्यों को भोग कर भी, वे अभोक्ता और अभुक्त ही रहे । उनके भीतर विशुद्ध सम्यक् दर्शन ही, शुद्ध सम्यक्-चरित्र्य बन कर प्रकट हुआ था । सम्यक्-चारित्र्य बाहर से धारण करने और पालने की चीज नही, वह मात्र आत्मा को सम्यक्दर्शन प्रकृति का शुद्ध, स्वाभाविक, उचित परिणाम होना है । तब स्पष्ट है कि निश्चय सम्यक्-दर्शन से ही, लोक-व्यवहार का शुद्ध कल्याण-मार्ग प्रकट होता है । निश्चय है मात्र शुद्ध सम्यक्-दर्शन और उसके अनुसार जो शुद्ध आचार है, वही शुद्ध व्यवहार-चारित्र्य है । दृष्टि सम्यक्त्व की शुद्धि पर, शुद्ध आत्म-स्वभाव पर रहनी चाहिए । तब व्यवहार अपने आप ही शुद्ध होता है । बीच की और हर कोई योजना अनिवार्यत मिथ्यात्व होकर रहेगी ।'

'और जब तक हमारे बीच नारायण कृष्ण या भरतेश्वर न हों, तब तक क्या हमे आत्म-रक्षा के लिए तलवार उठाने का अधिकार नही ?'

'यह अविश्वास क्यो, महाराज, कि आज भी हममे से कोई शुद्ध सम्यक् दर्शन के साथ तलवार नही उठा सकता । निष्काम और निष्कषाय होकर तलवार उठाने का सकल्प हममे क्यो नही उठता ? इस कायरता मे ही यह झलकता है, कि अपनी आत्म-रक्षा की शुद्धता मे हमे सन्देह है । हमे अपनी नि स्वार्थता, निष्कामता, निष्कषायता मे सन्देह है । हमारी इस आत्म रक्षा की भावना मे सत्ता और सम्पति के अधिकार और परिग्रह का चोर छुपा बैठा है ।'

'वर्द्धमान, तुम हमारे लिए बहुत कठिन कसौटी प्रस्तुत कर रहे हो । हमे हमारी सामर्थ्य से परे कस रहे हो ।'

'निश्चय ही कसूँगा, बापू । क्योंकि आप मेरे स्वजन है, आप मेरे रक्त है । क्योंकि हम लिच्छवि ऋषभ और भरतेश्वर जैसे निष्काम कर्म योगियों के वशधर है । मेरा दावा आप पर न हो, तो किस पर हो ? वैशाली मे मेरे मत तीर्थंकर का धर्म-सिहासन बिछा है । मै उसे महान देखना चाहता हूँ । मुझे यह असह्य है कि वैशाली स्वार्थ, सुविधा और समझौते की राजनीति का खिलौना बने । कि वैशाली लोक के आदिकालीन मिथ्यात्व की शृखला की कड़ी बने । मै यह देखना चाहूँगा, कि वैशाली असत्य और हिसा के उस आदिम दुश्चक्र का भेदन करे । वह पहल करे । वैशाली यदि यह नही करती, तो उसका विनाश अनिवार्य है ।'

'वर्द्धमान, तुम अपने ही प्रति बहुत कठोर हो रहे हो ।'

'वर्द्धमान सब से पहले, अपने ही भीतर छुपे बैठे शत्रु का सहार करता है, राजन् ! यही उसके होने का प्रयोजन है । वर्द्धमान आत्म-अरिहन्ता अरिहन्तों की अजेय परम्परा का सूत्रधार है, भन्ते तात !'

'तो फिर तुम्ही वह निष्काम और निष्कषाय तलवार, अरिहन्तों की शासन भूमि वैशाली की रक्षा के लिए उठाओ, वर्द्धमान !'

'वह तलवार उठाने की अपनी योग्यता और सामर्थ्य मे मुझे रच भी सन्देह नही है, महाराज ! अनिवार्य हुआ तो उठाऊँगा तलवार, आप निश्चिन्त रहे । पर अपनी नियति को मै जानता हूँ । मेरा चक्रवर्तित्व धर्म-साम्राज्य का होगा, कर्म-साम्राज्य का नही । महासत्ता ने मुझे उसी आसन पर नियोजित किया है । इसी से इन सारे अनाचारों के सम्मुख मै चुप हूँ, और लोक की वेदना के विष को चुपचाप अपने एकान्त मे पी रहा हूँ और पचा रहा हूँ । क्या आप सोचते है,

महाराज, लोक मे धर्म के नाम पर चल रहे इन दानवीय सर्वमेधयज्ञों से मै अनभिज्ञ और अस्पर्शित हूँ ? असख्य निर्दोष प्राणियों की चीत्कारे और क्रन्दन मेरी आत्मा मे अनहद नाद बन कर निरन्तर गूँज रहे है, देव । मेरी वह नियति होती, बापू, तो अब तक लोक मेरी निष्काम तलवार के तेज से जाज्वल्यमान हो चुका होता । लेकिन '

'लेकिन क्या, बेटा ?'

' फौलाद की तलवार से आगे, एक और तलवार है आत्मा की । जो एक ही अविभाज्य मुहूर्त मे, विनाश और निर्माण एक साथ करती है । अब तक वह केवल आत्म-त्राण मे नियोजित रही । हो सके तो मै उसे आगामी युगों मे लोकत्राण मे नियोजित देखना चाहता हूँ । उस तलवार के अवतरण तक, मेरे लिए फौलाद की तलवार को स्थगित रहना होगा । हो सके तो महावीर आगामी मन्वन्तरों मे स्वय अमोघ आत्म शक्ति की वह तलवार होकर प्रकट होना चाहता है ।'

'लेकिन तब तक लोक व्यवहार कैसे चले ? आज, अभी क्या हो ?'

'इसी से तो कहता हूँ, भन्ते तात, मुझे आज निष्काम योगीश्वर कृष्ण की जरूरत है । मुझे उस कर्म चक्रवर्ती की जरूरत है, जो जन्मजात चक्रवर्ती था । उसके कोषागार मे, त्रिखण्ड पृथ्वी का विजेता चक्र, स्वयम्भु रूप से जन्मा था । लेकिन उसने त्रिखण्ड पृथ्वी जीत कर भी, सिहासन भोगना स्वीकार न किया । अपने काल के अनाचारी साम्राज्य लोलुपों और सिहासनधरों के सिहासन उसने अपनी ठोकरों से चूर चूर कर दिये । सिहासन भजक हो कर आया था वासुदेव कृष्ण । सो स्वय अपने ही सिहासन का उसने सब से पहले भजन किया । और तब उसकी कल्याणी ठोकर इतनी तेजोमान हो उठी कि लोक के सारे अत्याचारी सिहासन और व्यक्ति उसके दर्शन और छुवन मात्र से भस्म हो गये । सत्य, न्याय, अहिसा प्रेम और अपरिग्रह का मूर्तिमान कर्म विग्रह था कृष्ण । भावती महासत्ता ने उसके भीतर कर्म चक्रवर्ती, लोक त्राता शक्ति के रूप मे अवतार लिया था । तलवार की धार की तरह खरतर थी उसकी सत्य निष्ठा, न्याय निष्ठा और वीतरागता । ऐसी वीतरागता और समता का वह स्वामी था, कि लोक के कल्याण के लिए उसने स्व वश नाश का खतरा तक उठा लिया । अपनी लीला से उसने छप्पन करोड यादवों की देव नगरी द्वारका मे आग लगा दी । और स्वय इस कामराज्य से निर्वासित हो गया, ताकि वह इसके दुश्चक्र को तोड सके । अंतिम साँस तक इस दुश्चक्र के भेदन, और धर्मराज्य के प्रवर्तन का महाभाव और महाप्रयत्न उसकी आत्मा मे चलता रहा । उसने इस कामराज्य के महल मे नही, जगल के एकान्त मे ओझल, मनुष्य की आँख से ओझल, मर जाना पसन्द किया । हिसामत्त लोक के पारधी का तीर अपनी पगतली की जीवनमणि मे बिधवा कर उसने आत्मोत्सर्ग कर दिया, आत्माहुति दे दी । उस तीर के फल मे पुजीभूत, प्रमत्त लोक की हिसा का विष वह चाट गया । अपने ही भाई के विपथगामी रक्त से उसने अपनी हत्या करवा ली । सुन रहे है, महाराज, सत्यधर कृष्ण ने, लोक के परित्राण के लिए, अपने वश तक का मूलोच्छेद कर दिया । मुझे इस क्षण उस कृष्ण की जरूरत है । '

मेरी आँखों मे, लपलपाती ज्वाला की तलवार देख कर, दोनों राजपुरुष सहम उठे । मातामह मोह कातर हो कर क्रन्दन सा कर उठे

'लिच्छवि कुल और वैशाली के विनाश के लिए ?'

'लिच्छवि कुल और वैशाली के चूड़ान्त उत्कर्ष के लिए ! और उसके लिए स्व-वशनाश अनिवार्य हो, तो वह तक मै चाह सकता हूँ, ताकि ज्ञातृपुत्र वर्द्धमान महावीर का वंश लोक-परित्राता तीर्थंकर के तेज-गौरव से मडित हो। वैशाली मे त्रैलोक्येश्वर जिनेन्द्र भगवान का समवशरण रचा जाये। वैशाली लोक मे तीर्थंकर का धर्मचक्र और मान-स्तम्भ हो कर रहे !'

'साधु-साधु, हमारे रक्त के लाड़िले, तुम धन्य हो ! तुम तो वज्रवृषभ-नाराच-संहनन के धारी सुने जाते हो, बेटा। अघात्य है तुम्हारी देह। अभेद्य है तुम्हारी वज्र की हड्डियाँ। किसी मर्त्य की तलवार तुम्हारा घात नही कर सकती। क्या तुम्हारी ऑखों तले, मगध का साम्राज्य-लोलुप भेड़िया, तुम्हारी देव-नगरी वैशाली को निगल जायेगा ? तुम्हारे धर्मचक्र-प्रवर्तन मे क्या विलम्ब है, वर्द्धमान ? वैशाली तीर्थंकर के समवशरण की प्रतीक्षा मे है।'

'तीर्थंकर का कैवल्य-सिहासन अब मगध के विपुलाचल पर बिछेगा, मातामह। मागध बिबसार को आप आज लोक के शत्रुत्व का प्रतीक मानते है न। उस शत्रु को जय करने के लिए उसी के राज्य मे धर्म-चक्रेश्वर का धर्म-चक्र सर्व-प्रथम पृथ्वी पर उतरेगा। मागध प्रेम का प्यासा है। महाराज, वह सौन्दर्य का प्रेमी है। उसकी प्रेम की आग उसे चैन नही लेने दे रही। क्योकि वह अनन्तकामी है और उसके अनन्त-काम को जगत मे तृप्ति नही मिल रही। उसकी साम्राज्य-लिप्सा मे उसी निष्फल प्रेम की ज्वाला का प्रत्याघाती रूप प्रकट हुआ है। उसके स्वप्न को महावीर सिद्ध करेगा। मगध के विपुलाचल पर ही धर्म साम्राज्य-नायक का सिहासन बिछेगा। मागध उसका शरणागत आज्ञावाहक हो जायेगा, राजन् ! और आप क्या चाहते है ? मै छद्म गणतंत्र नही, एकराट्, धर्म साम्राज्य जम्बूद्वीप पर स्थापित देखना चाहता हूँ। वैशाली और मुझसे क्या चाहती है, आज्ञा करे, पितृदेव !'

'यही कि, वैशाली के सथागार मे आओ, और उसके जनगण को अपना यह मंगल-सदेश सुनाओ, आयुष्यमान् !'

'ठीक मुहूर्त के आवाहन पर, माँ वैशाली के चरणों मे आऊँगा। भगवती आम्रपाली की सौन्दर्य-प्रभा से पावन वैशाली को एक बार देखना चाहता हूँ।'

मातामह आश्चर्य स्तब्ध से मेरे अन्तिम वाक्य मे खो गये। ऐसी प्रत्याशा उन्हे मुझ से नही थी। एक गणिका, और भगवती ?

'मै धन्य हुआ तुम्हे पाकर, बेटा ! वैशाली तुम्हारे दर्शन को तरस रही है। वचन दो, शीघ्र आओगे !'

'वर्द्धमान एक ही बार बोलता है, तात ! वही अन्तिम होता है। आपूर्ति वचन। ठीक मुहूर्त मे, वैशाली मुझे अपने चरणों मे पायेगी।

दोनों पितृदेवों के चरणों को छू पाऊँ, उससे पूर्व ही मै चार बॉहों मे आबद्ध था। छूटना कठिन था। पर एक झटके मे मुक्त होकर, मै तीर की तरह राजसभा-भवन पार कर गया।

परा-ऐतिहासिक इतिहास-विधाता

. . वह चीत्कार मेरे अतल मे भिद गई है। ऐसा लगा था, कि तमाम चराचर उसके आघात से बहरे हो गये हैं। उत्तरोत्तर वह अधिक तीखी और लोमहर्षी होती चली गई। एक अन्तहीन आर्त्तनाद था वह। उस क्षण स्पष्ट बोध हुआ, कि समस्त आर्यावर्त्त की आत्मा आक्रन्द कर उठी है।

मेरा सारथी जब यह नया काम्बोजी अश्व ले कर आया था, तो मैने तुरन्त इसे स्वीकार लिया था। यह अश्व मानो मेरे पास भेजा हुआ आया था। कोई भी चीज चुनने या लेने की स्पृहा मुझ मे कभी नही रही है। पर यह नया घोड़ा मुझ से अस्वीकारते न बना।

और उस दिन, मानो उस अश्व ने ही पुकारा था, कि मै उस पर सवार होकर निकल पड़ूँ। यों भी जब निकलता हूँ, ऐसे ही अचानक कोई अकारण गतिमत्ता मुझे आक्रान्त कर लेती है। और मै अलक्ष्य दिशा मे चल पड़ता हूँ।

सो उस दिन भी इस नये काम्बोजी अश्व ने जब हिनहिना कर अपने फड़फड़ाते पट्टों पर मुझे धारण किया, तो मेरी जाँघें एक प्रबल आरोहण के वेग से छटपटा उठी थीं। . . तीर की तरह वह धावमान था। कितनी राहें, दिशाएँ उसने बदली, उन पर मेरा लक्ष्य नहीं था। मानो एक निर्धारित दिशा मे वह मुझे उड़ाये ले जा रहा था। कितने रात-दिन या घटिकाएं बीती, यह काल बोध तक मेरी चेतना मे नही था।

कोसल को पार कर, अहिच्छत्र के सीमान्त पर पहुँचा कि हठात् एक चीत्कार घिरती साँझ के धुँधलके को विदार्ण करती हुई जैसे क्षितिज के मण्डल को बेधने लगी। कण-कण त्राहिमाम् पुकार उठा। वज्रवृषभ-नाराच-संहनन के धारी मेरे शरीर की अघात्य हड्डियों के बन्ध भी उससे तड़तड़ा उठे।

. . और मेरा घोड़ा ठीक उस चीत्कार की दिशा मे एक वज्र-बाण की तरह मुझे लिये जा रहा था। एकाएक वह थमा, कि वह चीत्कार खामोश हो गई। कुछ ही दूर पर एक गाँव के आँगन मे भारी भीड़ के बीच मशाले उठी हुई थी। उतर कर मेदनी को चीरता हुआ जब घटना-स्थल पर पहुँचा, तो देखा कि दीन-मलिन वेश मे एक अधेड़ मनुष्य बेहोश धरती पर पड़ा है। कुछ लोग उसकी नाड़ियाँ और हृदय-गति टटोल रहे है। और मानुष-मांस के जलने की एक तीव्र चिरायंध गन्ध वातावरण मे घुटन पैदा कर रही है।

. . पृच्छा करने पर पता चला कि एक श्रोत्रिय ब्राह्मण-देवता नदी-तट पर वेद-मंत्रों का उच्चार करते हुए सन्ध्या-वन्दन कर रहे थे। जरा दूर पर जा रहा यह चाण्डाल मन्त्र-ध्वनि सुन कर ठिठक गया। ठिठक कर सुनता रहा। ब्राह्मण देवता उसे देख कर क्रोध से तिलमिला उठे। इस पामर चाण्डाल की यह हिमाकत, कि वेद-मत्र सुनने को खड़ा रह गया ? गायत्री के सविता को

अपावन कर दिया इसने, अपनी शूद्र काया में उन्हें ग्रहण करके।

भू-देवता मुक्के और लातें मारते-मारते उस चाण्डाल को गाँव में घसीट लाये। विपल मात्र में सारे श्रोत्रिय पुरोहित एकत्र हो गये। हाय-हाय, अन्त्यज ने भर्ग देवता को अपने कर्ण-रन्ध्र में ग्रहण कर लिया। घोर पाप किया है इसने ! पहले तो सब ने तड़ातड़ लात-घूँसे मार कर उसे अधमरा कर दिया। जितनी ही उसने अधिक क्षमा माँगी, घूँसों की बौछार प्रबलतर होती गई। तब इस पाप के निवारण के लिए याजकों ने 'शतपथ ब्राह्मण' के विधान के अनुसार सीसा पिघला कर, वह खौलता द्रव धातु उसके दोनों कानों में भर दिया, ताकि भविष्य में कोई अन्य शूद्र और चाण्डाल, वेद-मंत्र सुनने का दुःसाहस न करे।. .

जिस समय मैं पहुँचा, असह्य यंत्रणा से चीखता-चिल्लाता वह मनुज-पुत्र अचेत हो चुका था, और उसे देखने और छूने के पाप से उबरने को उसके दण्डदाता श्रोत्रिय, गंगा-स्नान को पलायन कर चुके थे।

वेदना से विकल होने के बजाय, यह दृश्य देखकर, मैं स्तब्ध और विश्रब्ध हो रहा। वह उबलता हुआ सीसा जैसे मेरी नाड़ियों और हृदय की धमनियों में बहता चला आया। मैंने अपनी जगह पर ही अचल खड़े रह कर, अचेत पड़े उस मनुष्य के जड़ और पीड़क धातु से अवरुद्ध कानों मे, नीरव उच्छ्वास से मंत्रोच्चार किया · 'ॐ णमो अरिहंताणं !'. . ॐ णमो अरिहंताणं ! ॐ णमो अरिहंताणं ! और विपल मात्र में ही, जैसे सीसा फिर गल-गल कर उसके कानों से बाहर आने लगा। वेदनामुक्त हो कर वह चाण्डाल एकाएक सचेतन होता आया। कुनमुनाता-सा चारों ओर देखने लगा। उसके ओठों से अस्फुट मंत्रोच्चार हो रहा है · 'ॐ णमो अरिहंताणं !' और उसकी त्रास से मुक्त, अश्रु-कातर लाल आँखे किसी को खोज रही थी।. .

मुझ अजनबी की ओर कई निगाहे लगी थी · पृच्छा की फुसफुसाहट चारों ओर थी। भूदेवों के आखेटित उस मनुज की अश्रु-सजल दृष्टि मेरी आँखों से मिली, कि अन्तर-मुहूर्त मात्र मे, मैं वहाँ से मानो अन्तर्धान हो गया।

. धांडे पर छलाँग भरते हुए मन-ही-मन फूटा · मनुष्य को मनुष्य द्वारा धर्म के नाम पर यों निर्दलित होने और अपनी मौत मरने को छोड़ कर, क्या मैं अपनी वैयक्तिक मुक्ति के मार्ग पर निर्बाध आरूढ़ हो सकूँगा ? . . नही, यह मेरे वश का नही है। कोटि-कोटि सिद्धों और योगियों ने परापूर्वकाल मे, सबकी ओर से पीठ फेर कर, भले ही अपनी मुक्ति उपलब्ध कर ली हो, महावीर से यह नही हो सकेगा।.

. . देखता हूँ, पथभ्रष्ट ब्राह्मणत्व ने आर्य ऋषियों और ज्योतिर्धरों के सर्व-परित्राता धर्म को रसातल में पहुँचा दिया है। भगवान ऋषभदेव ने वर्णाश्रम धर्म की स्थापना व्यक्तियों के स्वभाव के आधार पर की थी। यानी मूलतः वह वस्तु-धर्म पर आधारित थी। जिसमें स्वभाव से क्षात्र-तेज हो, वह प्रजा का सरक्षण और शासन करे। जो धरती से जुड़ा हो, उसे जोते और उससे उपजाये, वह कृषि-कर्म करके प्रजा का पालन-पोषण करे। जो स्वभाव से समर्पित और आज्ञाकारी हो, वह प्रजा का सेवक होकर रहे। इस प्रकार कर्मयुग के आद्य तीर्थंकर ने वृत्तियों के अनुसार व्यक्तियों को विशिष्ट कर्मों पर नियोजित किया था। यह नियोजन अन्तिम और प्रति-बन्धक नहीं था। यदि विकास के साथ व्यक्ति की वृत्तियों मे परिवर्तन हो, तो वह तदनुसार अपना कर्म बदलकर, अन्य

वर्ण में उत्क्रान्त हो जाये। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का विभाजन उन्होंने इस तरह स्वाभाविक वृत्ति और प्रवृत्ति पर आधारित किया था। और स्वभावगत विकास की राह सबको उन्नत और उत्क्रान्त होने की छूट उन्होंने दी थी।. . उनके पुत्र राजर्षि भरत चक्रवर्ती, जन्मजात योगी और ज्ञानी थे। उन्होंने एक दिन देखा कि एक व्यक्ति उनके पास आने को, राह में उगी दूब को बचा कर, चलने में तल्लीन है। राजर्षि सर्वात्मभाव से भावित हो उठे। उन्हें प्रतीति हुई कि यह व्यक्ति प्रतिपल 'सर्व खल्विदं ब्रह्मम्' के भाव में जीता है। स्वभाव से ही इसकी चर्या ब्रह्म में है : यह निखिल चराचर भूतों में ब्रह्म देखता है। और नन्ही दूब का भी जी नहीं दुखाना चाहता। तब भरतेश्वर ने कहा : शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय से भी ऊपर यह ब्राह्मण है।. . और इस प्रकार सर्वकाल ब्रह्म मे ही चर्या करने वाले परिपूर्ण सम्वेदनशील ब्रह्मज्ञानियों की एक श्रेणि उन्होंने स्थापित की। वही लोक में ब्राह्मण कहलाये।

. . सूक्ष्मतम जीवों के साथ भी निरन्तर आत्मोपम भाव से जीने के व्रती वही ब्राह्मण, आज इतने अज्ञानी और प्रमादी हो गये है, कि उनके अधःपतन से वस्तु-धर्म पर आधारित आर्यावर्त की समाज-व्यवस्था एक सर्वनाशी अराजकता के खतरे मे पड़ गयी है। अपने को मूर्धा पर बैठे पाकर ब्राह्मण अहंकार से प्रमत्त हो उठे। जो जन्मजात ब्रह्मचारी होने को नियोजित थे, वे अत्याचारी हो उठे। अपनी हीनतम वृत्तियों के तोषण-पोषण के लिए, उन्होंने अपने ज्ञानगर्व और पदस्थ से व्रप्त होकर, स्वार्थों के पोषक मनमाने मिथ्या शास्त्र रचे। अपनी ज्ञानवत्ता के बल पर उन्होंने क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों को अनेक लोक-परलोक के भय दिखाकर आतंकित किया। क्षत्रियों और वैश्यों के राज्य और उपार्जन से वे लुब्ध हुए, छोटे पड़ गये। उनमें संचय और अधिकार की तृष्णा जागी। उन्होंने आडंबरी कर्म-कांडों का विधान किया और दान-दक्षिणा के नाम पर लोक की समस्त सम्पदा अपने लिए बटोरने लगे। उन शीर्षस्थों के अधःपतन ने विपथगामी आदर्श प्रस्तुत किया। उनके अनुकरण मे क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र भी धर्म-च्युत हो गये। लक्ष्य में धर्म न रहा, लोभ प्रतिष्टित हो गया। तब कुछ क्षत्रिय जागे : इस अनाचार के मूल को उन्होंने चीन्हा। उन्होंने अपनी क्षात्र तलवार को ब्रह्मज्ञान की सान पर चढ़ा कर, लोकत्राता क्षात्र-धर्म की एक नयी उत्क्रांन्ति उपस्थित की। योगीश्वर कृष्ण, तीर्थंकर अरिष्टनेमि, राजर्षि विश्वामित्र, गौतम, प्रवहण जैवली, प्रतर्दन, विदेह जनक, भगवान पार्श्वनाथ आदि, ब्रह्मतेज और क्षात्रतेज से संयुक्त इस नूतन धर्म की परम्परा मे आदित्यों की तरह प्रकाशमान हुए। अधःपतित ब्राह्मणत्त्व पर, परित्राता क्षत्रियों का यह ब्रह्मतेज विजयी हुआ। आत्माहुति के यज्ञ मे, इन राजर्षियों ने अपनी तलवारों को गला कर, सर्व चराचर के संरक्षक एक नूतन विश्वधर्म की प्रतिष्टा की।. .

यह क्षत्रिय-प्रभुता भी पराकाष्ठा पर पहुँच कर, उसके वंशधरों के हाथों फिर स्वार्थ का हथियार बनी और अध.पतित हुई। मेरे काल का यह आर्यावर्त क्षात्रतेज के उसी अधःपतन की पराकाष्ठा पर है। अब देख रहा हूँ, वणिक् प्रभुता का उदय हुआ है। पूर्वीय समुद्र से पश्चिमी समुद्र के छोरों तक की आसमुद्र पृथ्वी पर इन वणिकों के सार्थवाह अपनी विजय-वैजयन्ती बड़े गर्व से फहरा रहे है। ब्रह्मतेज और क्षात्रतेज दोनों ही आज हतप्रभ होकर, इन वणिकों की अपार सम्पत्ति के हाथो बिके हुए हैं। इस क्षण इतिहास के विधाता और निर्णायक ब्राह्मण और क्षत्रिय नहीं, वणिक श्रेष्ठी है।

. . इस व्यवसाय-प्रधान व्यवस्था में, राजर्षियों द्वारा परास्त ब्राह्मण ने अपने को पुनरस्थापित करने के लिए धर्म को एक वाणिज्य का स्वरूप प्रदान किया है। हतवीर्य और विलासी हो गये क्षत्रियों को राजसूय यज्ञ द्वारा साम्राज्य-स्थापना का लोभ दिखा कर, ये ब्राह्मण उनकी निर्बल आत्माओं के साथ खेल रहे है, उन्हे परलोक के भयों से आतकित किये है। पश्चिमाचल के ब्राह्मणों ने पूर्वांचल तक फैल कर, अवन्ती से मगध तक के राजुल्लों को धार्मिक वाणिज्य के बल अपने अंगूठे तले ले लिया है। इस समय ये सारे राजन्य या तो वेश्या के वशीभूत है, या वैश्य के; और कामिनी-कांचन के इन किलों पर अपनी प्रभुता कायम रखने के लिए, वे यज्ञ-व्यवसायी ब्राह्मणों की यज्ञोपवीतों पर टॅगे हुए है। काशी, कोसल, मगध और वैशाली तक मे ये छद्‌म-याज्ञिक ब्राह्मण फिर तेजी के साथ उत्कर्ष कर रहे है। मगधेश्वर ने राजगृही के सीमान्तों पर ऐसे कई ब्राह्मण आचार्यों को प्रतिष्ठित कर दिया है, जो उनकी काम और साम्राज्य लिप्सा की तृप्ति के लिए अपनी प्रयोगशाला मे सन्यानाशी रसायनों और विषैले शस्त्रों का निर्माण कर रहे है, और प्रतिपक्षी राजाओं को मोह-मूर्छित कर मार डालने के लिए विष कन्याएँ तैयार कर रहे है। कोसलेन्द्र प्रसेनजित तो मानो इन ब्राह्मणों के अनाचारी हिसक यज्ञों के बल पर ही सारी पृथ्वी पर राज्य करना चाहता है सारे जगत के सुवर्ण और कामिनी को भोगना चाहता है। उज्जयिनी और कोशाम्बी ने भी इन याज्ञिकों को अपने कवच बना कर पाल रक्खा है। सारे ही राजतत्रों और गणतत्रों मे, अध पतित क्षत्रियों की कायर और लोभ कातर आत्माओं म ये ब्राह्मण गहरे पैठ गये है। पर कपिलवस्तु और वैशाली मे इन्हे प्रश्रय नही मिल सका है। शाक्य और लिच्छवि अपने स्वाधीन क्षात्रतेज और ज्ञानतेज पर आज भी अटल है। वैशाली के गणराज्य मे ब्राह्मण को निबाध प्रवेश है, पर उसकी प्रभुता का सिक्का वहाँ नही जम पा रहा। इसी से मगध के मत्रीश्वर ब्राह्मण-श्रेष्ठ वर्षकार की ऑख की किरकिरी बन गयी है वैशाली।

मगध का यह महामात्य वर्षकार, श्रेणिक बिबिसार की साम्राज्य लिप्सा की ओट, फिर से समस्त आर्यावर्त मे ब्राह्मण-साम्राज्य-स्थापित करने का सपना देख रहा है। इस सर्वस्व-त्यागी ब्राह्मण का तप-तेज और कूट कौशल देखने लायक है। सारे राजुल्लों और गणनायकों को गोट बना कर वह ब्राह्मण साम्राज्य स्थापना की शतरज खेल रहा है। अपनी कुटिल चालों से वह, इन सारे रक्त सम्बन्धों मे बॅधे राजन्यों के बीच शीत युद्ध, छुपे विग्रह और शक्ति-सतुलन बनाये रखता है। उसने बेटे को बाप के विरुद्ध उठाया है। उसने हर राजा के अपने ही रक्त को अपने विरुद्ध बागी और सदिग्ध बना छोडा है। मगध के राजपुत्र अजातशत्रु की तलवार, सदा अपने बाप श्रेणिक के सिर पर झूल रही है। कोसलेश्वर अपनी दासी-रानी मल्लिका के पुत्र राजकुमार विडूढभ की प्राणघाती धमकियों तले साकेत मे निर्वीर्य विलास की राते गुजार रहा है। हर राजा और रानी की आलिगन मे बद्ध छातियों के बीच प्यार नही, शुद्ध वासना तक नही, सुवर्ण है, साम्राज्य है, बलात्कार है। श्रावस्ती के अनाथ पिण्डक और मृगार जैसे श्रेष्ठियों की सुवर्ण-राशि समान रूप से ब्रह्मतेज और क्षत्रतेज को खरीद कर अपने तहखानों मे रक्खे हुए है।

ये श्रेष्ठी, स्वतन्त्र आत्मधर्म के प्रवक्ता और मुक्तिमार्ग के साधक श्रमणों और परिव्राजकों को आराम, चैत्य और मठ दान मे देकर, उनके परम कृपापात्र बने हुए है। राजुल्ले अपनी राज्य और सम्पदा लिप्सा की तृप्ति के लिए व्यवसायी ब्राह्मण याजनिकों से विराट् खर्चीले यज्ञ करवाते है

और दक्षिणा में ब्राह्मणों को बेशुमार सुवर्ण-रौप्य, सुन्दर्र दासियाँ, अन्न-वस्त्र और गोधन दान करते हैं। उसी के बल पर ब्राह्मण प्रमत्त हो उठे हैं। आर्यावर्त के सभी प्रधान राजनगरों में चल रहे दासी-पण्य इन्हीं वणिक ब्राह्मणों की कृपा से फलफूल रहे हैं। कुल मिला कर, आज प्रभुता वाणिज्य की है, और वणिक के साथ उसमे साझीदारी करने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, श्रमण और सन्त तक एक गहरे षड्यन्त्र के दुश्चक्र में फँसे हुए हैं।

शूद्र, चाण्डाल और दास-वर्ग, इन कहलाते उच्च वर्णों की वाणिज्य-संधि के फौलादी पंजे तले कुचले जाकर, मानुषिक शोषण, आघात और अपमान के नरक में जी रहे हैं। द्रूब की भी दया से एक दिन जो आदि ब्राह्मण प्रवित हो उठा था, उसके वंशज को मैंने कल शाम, मोक्ष के अधिकारी स्वतन्त्र मनुज के कानों में उबलता सीसा डालते देखा, क्योंकि वह कुलजात चाण्डाल था, किन्तु उसमें औचक ही ब्रह्म-पिपासा जाग उठी थी, और उसने वरेण्य सविता के मंत्र-श्रवण का अपराध किया था। . .

. . नही, इस काम-साम्राज्य मे अब मेरा ठहरना नही हो सकेगा। पर अपनी मुक्ति के लिए इससे भागूगा नही, इसे बदल कर ही चैन लूँगा। इससे पराजय और पलायन महावीर को स्वीकार नहीं। मै अपने ज्ञान, तप और तेज की अग्नि से इस वासना-राज्य के अनादिकालीन बीजों और मूलों तक को जलाकर भस्म कर दूँगा। उन बीजों और मूलों के अगम्य अन्धकारों मे उतरने के लिए, शायद मुझे दीर्घ और दुर्दान्त तपश्चर्या करनी पड़े। अपनी इन वज्र कही जाती हड्डियो तक का गला देना पड़े।

नही, नही ठहर सकूँगा अब और इस 'नन्द्यावर्त' मे · इसकी दिगन्तवाहिनी रत्निम छतों और वातायनों पर। जिन दिशाओं पर ये देखते है, उन्हे मै अपने इस तन पर ही धारण कर लूँगा। जाने-अनजाने यह महल भी तो उसी काम-साम्राज्य की एक कड़ी बना हुआ है। मेरे गर्भावतरण के समय जो आकाश से रत्नों की राशियाँ बरसी थी, वे केवल सम्पन्नों, कुलीनों, राजन्यों, श्रेष्ठियों के लिए नही थी। वैशाली के जन-जन के घर उन रत्नों से भर गये थे। पर वे दीन जन उन रत्नों का मूल्य क्या जाने। वे कम्मकर और शूद्र, जिन्हे शिक्षा पाने और उपानह पहनने तक का अधिकार नहीं! ब्राह्मण, वणिक और क्षत्रियों ने अपने वाणिज्य-कौशल से उन तमाम विपन्न जनों के संचित रत्नों को कौडियो के मोल खरीद कर अपने भण्डार भर लिये। और परम्परागत दीन-दरिद्र, फिर केवल अन्न-वस्त्र जीवी, दलित अपमानित जीवन बिताने को छूट गये। आकाश से सर्व के लिए बरसे वे दिव्य रत्न विश्वभरा महासत्ता का अपनी तमाम सन्तानों को दिया गया वरदान था। इस कामना-राज्य के वाणिज्य तंत्र ने उस दैवी सम्पदा तक से दीनों को वंचित कर, उसे अपनी आसुरी सम्पदा के कोशागार मे बन्दी बना लिया। जीवन्त प्राणदायी सम्पदा को, इन्होंने जड़, मृत लोभ के शिकंजों मे कस लिया। केवल मनुज की ही नही, कण-कण की, स्वयं वस्तु धर्म की हत्यारी है यह वणिक-व्यवस्था। इसने तत्व को अपने लोभ के कारागार में कैद किया है!

नही . नही . अब एक क्षण भी इस वेश्या-राज्य और वैश्य-राज्य मे मेरा ठहरना सम्भव नही। इससे मुझे निष्क्रान्त हो जाना पड़ेगा। मुहूर्त क्षण आ पहुँचा है। मुझे इस ऐश्वर्य-मण्डित राजमहल से निकल कर चले जाना होगा।

. . ताकि कण-कण के हृदय में विचरूँ। ताकि पाप, तृष्णा और अनाचारों की तहों में उतरूँ। उन्हें अपनी विप्लवी ठोकरों से चूरचूर कर दूँ। और यों उनकी सतहों पर चल रहे उत्तुंग दुराचारों के तख्तों, ताजियों और सिंहासनों को उलट दूँ।

इस काम-साम्राज्य को, प्रेम-साम्राज्य में परिणत कर देने के लिए, मुझे तत्काल इससे निर्वासित हो जाना पड़ेगा। इतिहास को अपनी मनचाही गति में मोड़ देने के लिए मुझे उसकी परिधि के बाहर खड़े हो जाना होगा। इस चक्रावर्तन को अन्ध पुनरावर्तन से मुक्त कर, प्रगतिमान कर देने को, मुझे इसके केन्द्र पर अधिकार करना होगा।

. . सुनो माँ वैशाली, पतन, पाप, पीड़न और पारस्परिक शोषण के गर्त में पड़े आज के विश्व में, तुम्हीं मनुष्य की एक मात्र आशा हो। क्योंकि तुम्हारे संथागार में राज्यासन नहीं, जिनेश्वर का देवासन बिछा है। पर तुम भी जाने-अनजाने इस काम-साम्राज्य की शृंखला की कड़ी होने से बच नहीं सकी हो। सो माँ की मुक्ति के लिए, मुझे उसकी मोहाविष्ट गोद को छोड़ जाना होगा। उसके बन्धनों को तोड़ने के लिए, पहले मुझे स्वयं निर्बन्ध हो जाना पड़ेगा। इस महल की आकाश-चुम्बी अट्टालिका से मेरी अगली छलाँग, अब आकाश-वेधी पर्वत-कूट पर ही हो सकती है। माँ वसुन्धरा की उस वक्षोज-चूड़ा पर नग्न लेट कर, मै उसके हृदय तक पहुँचना चाहता हूँ। ताकि इस बार जो दूध उसकी छाती से उमड़े, वह उसकी हर सन्तान को समान रूप से सुलभ हो सके। ताकि उसकी छाती महिषासुरों के बलात्कार से मुक्त होकर, सही अर्थों मे जगदम्बा की छाती हो सके। .

. . अपूर्व है मध्य-रात्रि का यह मुहूर्त क्षण। निर्णायक है यह घड़ी। कई रातों से सोना नही हो सका है। इस महल मे अब वह सम्भव भी नही। चंक्रमण, चंक्रमण, चक्रमण। मेरी पगतलियों में चंक्रमण के चक्र चल रहे है। . .

'मैं आ सकती हूँ? . .'

'माँ, इस समय, तुम यहाँ?'

'हाँ, इससे पहले तुम मेरी पहुँच से परे थे . .?'

'अर्थात् . .?'

'अबेर रात गये, अचानक ही चेलना राजगृह से आई। तुरन्त मिलना चाहती थी। अनिवार्य। . . पर यहाँ आकर जो देखा . .। उल्टे पैरों लौट गई। चेलना को क्या उत्तर देती। कहला दिया, बाहर से तुम लौटे नही अभी। पर जो देख गई थी, उसके बाद रहा न गया। सो आये बिना रह न सकी . .।'

इससे पूर्व माँ इतनी अजनबी और दूर तो कभी नही लगी थी। उनका सारा चेहरा दबी रुलाई से दमक रहा था।

'वह तुम्हारा अधिकार है, माँ! उसमे संकोच कैसा?'

'जो रूप तुम्हारा देखा . . उसके बाद भी?

'हाँ-हाँ, माँ, निश्चय। क्या नग्न ही नही जन्मा था तुम्हारी कोख से? बीच में आवरण आये। पर अब फिर अन्तिम रूप से तुम्हारी गोद में नग्न हो सो जाना चाहता हूँ। तुम्हीं संकोच करोगी, अम्मा, तो फिर मुझे कौन सहेगा . .?'

'क्या नहीं सहा अब तक, मान! घूँट पीती गई और चुप रही। पर आज मेरे धीरज का

बाँध टूट गया। . . अब कहे बिना चैन नहीं है . . ।'

'तो कहो न, जी खोल कर कहो। तुम चुप रहती हो, तो मुझे भी उससे पीड़ा होती है। बोलो, जी खोलो। तुम्हें सुनना चाहता हूँ। सम्भव हो तो इस शरीर से आगे, तुम्हारे भीतर आना चाहता हूँ . . ।'

'तो सुनो बेटा, तुम्हें किसी से ममता नहीं, मुझसे भी नहीं। यह तो दीये जैसी साफ बात है। पर अन्न-वस्त्र तक से तुम्हें शत्रुता हो गई ? तुम्हारी इस देवोपम काया ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, जो इस पर भी तुम अत्याचार कर रहे हो। अपने ही तन-मन तुम्हारे मन बैरी हो गये, फिर मेरी क्या बिसात ! . . '

'लगता है, तुम्हें भ्रांति हो रही है, माँ।'

'भ्रांति ? अपनी इन आँखों घड़ी भर पहले जो देख आई हूँ ! शीतकाल की यह हिमानी रात। तीर-सी ठण्डी ये हवाएँ। . . और इस खुली छत में तुम . . निर्वसन ? क्षण भर पहचान न सकी कि तुम हो या कोई मर्मरी पाषाण-मूर्ति . . ?'

'ओ . . समझा ! कब क्या होता है मेरे साथ, मुझे पता नहीं रहता, अम्मा ! यह सब मेरे लिए नया नहीं है। शायद तुमने पहली बार देखा। इसी से . . ।'

'तो . . तो इसे क्या समझूँ ?'

'तुम लोग जिसे कायोत्सर्ग कहते हो न, मै उसे कायसिद्धि कहता हूँ, काय-जय . . !'

'कायोत्सर्ग मे बेचारा कपडा कहाँ आडे आता है। मुनियों की बात अलग है। तुम्हारा तो अभी कुमारकाल भी नहीं बीता। अभी राज्य और गार्हस्थ्य के कर्तव्य तुम्हारे सामने हैं। और तुम हो कि . . ।'

'तुम कपड़े की कहती हो, मुझे काया तक का ध्यान नही रहता, माँ। क्या करूँ ! और मेरा कौमार्य कालगत नहीं, अम्मा ! वह मेरे मन शाश्वत है। सो उसके बीतने की तो बात ही नहीं उठती मेरे लिए। और, राज्य और गार्हस्थ्य, जो लोक मे रसातल को चला गया है, हो सके तो उसको समतल पर लाना चाहता हूँ। उसमें अलग से मुनि हो कर निकल जाने से काम कैसे चलेगा ? मेरा मार्ग मुनि से आगे का है। मुनि तो कोड़ा-कोड़ी हो गये, और वे लोक से पीठ फेर मोक्ष चले गये। लेकिन मैं लोक की अवज्ञा कर, अपनी मुक्ति की खोज में खो रहूँ, यह मेरे वश का नही। वह मेरा अभीष्ट नहीं।'

'अभीष्ट तेरा जो भी हो। वह मै कभी समझ न सकी, समझ भी न सकूँगी। माँ हूँ तेरी . . और मै क्या जानूँ ? अन्न-वस्त्र तक से तुझे बैर हो गया ? भोजन के थाल हर दिन अछूते लौट आते है। दो दिन मे एक बार कभी एकाध कटोरी खाली लौटती है। ऐसे में हम कैसे खाये-पिये, जियें . . ? सोचा है कभी ?'

'क्षत्राणी होकर इतनी अधीर हो गईं तुम, अम्मा ? बेटा युद्ध की राह पर निकल पड़ा है, तो उसे बल दोगी कि नहीं ? योद्धा की माँ अबला और कायर हो जाये, तो कैसे चले ?'

'युद्ध ? कैसा युद्ध है यह ?'

'जानती तो हो, वैशाली संकट में है। चेटकराज यही तो कहने आये थे, कि महाधनुर्धर महाली और सिह मामा की अजेय धनुर्विद्या काफी नहीं होगी। मुझे लगता है कि संकट गहरा और विश्व-व्यापी है। वैशाली के राजकुमार वर्द्धमान से उन्हे दिग्विजयी चक्रवर्ती की आशा है। उन्हें

त्राता चाहिए। बोलो, क्या इनकार करता उन्हे ?'

'वैशाली को तुम अजेय रक्खो, यह मुझसे अधिक कौन चाह सकता है। और मेरी छाती गर्व से फूल उठी यह सुन कर, कि तुम उसके लिए सन्नद्ध हो। पर योद्धा अन्न-वस्त्र त्याग कर युद्ध की राह पर निकल पडा है । समझ न सकी, यह कैसा युद्ध है ?'

'ऐसा युद्ध, माँ, जो इतिहास में पहले कभी न लडा गया। ऐसी लडाई, जो सतहों पर नही, तहों तक मे मुझे लडनी होगी। सिर्फ बाहर नही, भीतर की खन्दकों मे, अतलान्तों मे। भला बताओ, उन खन्दकों मे अन्न-वस्त्र, माँ की स्नेह-चिता और ममता कहाँ मिलेगी। सो उसे जीतना होगा कि नही ?'

'खन्दके ? ये कौन-सी खन्दके है, मान ?'

'हाँ, चारों ओर खन्दके है, माँ । राष्ट्र और राष्ट्र, जाति और जाति, देश और देश के बीच खन्दक है। मनुष्य और मनुष्य के बीच खन्दक है। माँ और बेटे के बीच खन्दक है। प्रियतमा और प्रियतम के गाढतम आलिंगन के भीतर तक खन्दक है। कण-कण के बीच खन्दक है। जीव जीव, प्राणि-प्राणि, प्राण प्राण, हृदय हृदय, मन-मन, आत्मा-आत्मा के बीच खन्दक है, माँ। स्वय अपनी ही एक साँस और दूसरी साँस के बीच खन्दक है। अपने ही तन, प्राण मन, आत्मा के बीच अलघ्य अँधियारे पाताल पडे है। अपनी ही साँसे आपस मे लड रही है। अपना मूल शत्रु अपने ही भीतर छुपा बैठा है। मेरा युद्ध उसी के विरुद्ध है, माँ। मगध को जीतने के लिए, पहले उसे जीतना होगा। अपने को जीतना होगा। वह जय हो जाये, तो मगध और जम्बूद्वीप क्या है, कण कण और क्षण क्षण पर अप्रतिहत और अजेय सत्ता स्थापित हो जाये। उसी अनिरुद्ध युद्ध की राह पर चल पडा हूँ, माँ, आशीर्वाद नही दोगी ?'

वह क्या अलग से देना होगा ? मेरा आँचल, मेरा अस्तित्व, मेरी हर साँस और क्या है ? पर यह तो लोकोत्तर मुक्ति का मार्ग हुआ, बेटा । राज्य और प्रजा के लौकिक त्राण से इसका क्या सरोकार ? जो इस गह गये, उनके लिए मगध क्या और वैशाली क्या, दोनों ही नगण्य और त्याज्य हो रहे। देख रही हूँ, लोकोत्तर और लौकिक को आपस मे उलझा रहे हो।'

'उलझा नही रहा, माँ, चिरकाल से इतिहास पुराण मे चली आ रही उलझन को सदा के लिए सुलझा रहा हूँ। लौकिक और लोकोत्तर मुक्ति को मै अलग करके नही देख पा रहा। इन्हे आज तक अलग करके देखा गया इसी मे उलझन द्वद्व, अन्तर विग्रह, समस्याओं का अन्त नही। मौलिक महासत्ता मे लौकिक और लोकोत्तर का भेद नही। लोक से परे सत्ता कही है ही नही मोक्ष और सिद्धालय तक लोक से परे नही। लोकोत्तर और लोकोत्तीर्ण होने का अर्थ है, एक बारगी ही स्वय समस्त लोक हो जाना लोकाकार हो जाना। जो आत्मजयी होगा, वह अनायास ही लोकजयी होगा ही। इस मौलिक और अविनाभावी सत्य की प्रतीति मुझे स्पष्ट हो गई है। इसी से मै अपनी और लोक की मुक्ति को अलग करके नही देख सकता। मै अपनी आत्मिक मुक्ति को समग्र विश्व की लौकिक मुक्ति तक मे प्रतिफलित और घटित देखना चाहता हूँ। मै सिद्धालय के अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य को लोकालय मे प्रकाशित देखना चाहता हू।'

'असम्भव बेटा, आज तक तो कोई तीर्थंकर, अरिहत, या सिद्ध यह नही कर सका। उनसे भी बडा होने का दावा करता है क्या तू ?'

'दावा मैं नहीं करता। जो मेरा अभीप्सित है, उसे मैं केवल करता हूँ, माँ ! जीवन के प्रतिक्षण में, अभी और यहीं उसे जीता हूँ। बड़ा और छोटा मैं किसी से नहीं। केवल स्वयं हूँ। और अपूर्व तो मैं या कोई भी हो ही सकता है। सत्ता अनन्त गुण-पर्यायात्मक है। यह उसके स्वभाव में ही नहीं, कि जो अब तक न हो सका, वह आगे भी न हो सकेगा। और आज जो गुण-पर्याय सत्ता की प्रकट हो रही हैं, वे पहले भी हो चुकी हैं, और मात्र दोहराव हैं, इसका किसी के पास क्या प्रमाण है ? और सत्ता को जब जिनेश्वरों ने अनन्त परिणमनशील कहा है, तो उसमें पुनरावर्तन देखना, क्या मिथ्या-दर्शन और अज्ञान ही नही है ?'

'पर अब तक के अरिहन्तों ने फिर ऐसा क्यों न कहा ?'

'अरिहन्तों ने जो जाना और कहा, क्या वह शब्दों में सिमट सकता था ? उन्होंने अनन्त जाना, और वह अनन्त, कथन में कैसे अँट सकता था ! इसी से तो उसे मात्र बोधगम्य, अनुभवगम्य, अनिर्वच कहा गया। इसी से तो तीर्थंकर की दिव्य-ध्वनि सदा शब्दातीत ही रही . . । शब्दों में बँध कर श्रुतज्ञानियों और आचार्यों तक आते-आते तो वह मात्र परिमित सिद्धान्त होकर रह गई। सिद्धान्त अनेकान्त रह नही पाता। सिद्धान्त जिन्होंने बनाये हैं, उन्होंने प्रकृत अनेकान्त सत्ता के अनन्त को सान्त और समाप्त कर दिया है। सिद्धान्त मात्र मिथ्यादर्शन है, वह सम्यक्‌दर्शन नहीं। केवलज्ञान का सिद्धान्त नहीं बन सकता। त्रिलोक और त्रिकालवर्ती पदार्थ का ज्ञान अनन्त और अकथ्य है, सो वह सिद्धान्त से अतीत है। इसी से जो अब तक न हुआ, वह आगे भी न हो सकेगा, यह कथन सत्ता की मौलिक अनुभूति के विरुद्ध पड़ता है।'

'तुम्हारी बातों से भीतर के आधार टूट रहे है, नीवें हिल रही है, मान ! सत्ता मे ठहरना कठिन हो जाता है।'

'मानसिक धारणा और परम्परागत ज्ञान से बने आधार और नीवे टूट जाना ही इष्ट है, माँ ! आज नहीं तो कल, स्वानुभव की प्रत्यक्ष चोट उन्हें तोड़ेगी ही। और सत्ता स्वतंत्र है। केवल उसी में तो ठहरना सम्भव है। हूँ, हो, और है में तो सन्देह सम्भव ही नही। क्योंकि वह स्वानुभूत और स्वयं-सिद्ध है। मात्र इन तीनों के बीच के सही सम्बन्ध को प्रत्यक्ष देखना, जानना और उसमें जीना है। वही सम्यक्‌दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं। इसमें, तुम, वह के बीच के सम्यक् सम्बन्ध, सह-जीवन और सह अस्तित्व को स्वरूप में जैसा साक्षात् कर रहा हूँ, वही तो मैं कह रहा हूँ। और केवली के केवलज्ञान से यह मेरा साक्षात्कार या अनुभव तरतम नहीं है, यह दूसरा कोई कैसे कह सकता है ? सत्ता अतर्क्य और अनिर्वच है। और चूँकि वह अन्तत है, इसी से विभिन्न प्रगतिमान आत्माएँ उसे अपूर्व रूप से देख, जान और जी भी तो सकती हैं।'

'बेचारी वैशाली और मगध जाने कहाँ छूट गये ! . . क्या इस तत्वज्ञान से ही वैशाली का त्राण करेगा ? मगध और जम्बूद्वीप में चक्रवर्तित्व क्या इससे होगा ? कैसी अनहोनी बातें कर रहे हो, बेटा ! धर्म और कर्म अपनी-अपनी जगह पर हैं। हाँ, धर्म-पूर्वक कर्म करो, यह समझ सकती हूँ।'

'पूर्वक नहीं माँ, धर्म को ही कर्म में प्रतिफलित होना होगा। धर्म और कर्म के अलगाव से ही तो सृष्टि का सारा इतिहास प्रतिक्रियाओं का दुश्चक्र होकर रह गया है। वस्तु-धर्म को ही कर्म में परिणत हो जाना पड़ेगा। सत् को ही तत् हो जाना होगा। उसके बिना निस्तार नहीं। समस्या का

कोई समाधान नहीं। तत्व के साथ अस्तित्व को सम्वादी बनाये बिना, वैशाली और मगध के बीच का विग्रह मिट नहीं सकता। इसमें जो पहल करेगा, साम्राज्य उसी का होगा। उसमें हार-जीत से परे वैशाली और मगध, हर राज्य, देश, जाति, व्यक्ति, कण-कण अपनी सत्ता में स्वतंत्र रह कर एक-दूसरे के सहयोगी होंगे, सहधर्मी और सहकर्मी होंगे। इससे उल्टी तरफ का कोई मार्ग मेरा नहीं। मेरा युद्ध अन्तिम और सीमान्तक है, माँ। प्राणि-प्राणि, जीव-जीव, वस्तु-वस्तु, अणु-अणु के बीच पड़ी अज्ञान और अन्धकार की अभेद्य खाइयों को भेदे और पाटे बिना, मुझे चैन नहीं, विराम नही। मेरी दिग्विजय उसके बिना अखण्ड और सम्पूर्ण नही हो सकती। केवल इसी राह मगध-जय सम्भव है। केवल इसी राह वैशाली का त्राण सम्भव है। केवल इसी राह प्रत्येक जन, जाति, राष्ट्र, व्यक्ति का स्वातंत्र्य और गणतंत्र सम्भव है। और सारे स्वातंत्र्य और गणतंत्र मरीचिका और इन्द्रजाल है, जिन्हे स्थापित स्वार्थी सत्ता-सम्पदा-स्वामियों ने, प्रजा को भुलावे में रख कर एकच्छत्र प्रभुता भोगने को रच रक्खे है। . महावीर इतिहास के इस चिरकालीन पाखण्ड और द्वैत का अन्तिम रूप से पर्दाफाश करने आया है। आदर्श और वास्तव, निश्चय और व्यवहार के स्वार्थ-पोषित छद्म भेद विज्ञान की ओट ही इतिहास के सारे युद्ध, विग्रह और व्यक्तिगत कलह परवरिश पाते रहे है। मै विग्रह के इस मूल को ही सदा के लिए उच्चाटित कर देने आया हूँ, माँ! तुम देखती जाओ, क्या होता है . . .'

' चेलना बहुत बेचैन आई है, बेटा। अब तो उसे समझा कर सुला दिया है। कब मिल सकेगा उससे तू ?'

'तुम जब, जहाँ कहो, माँ!'

'मेरे खण्ड मे, सबेरे ?'

'उपस्थित पाओगी मुझे, ठीक समय पर, अम्मा!'

. . और माँ आश्वस्त पगों से जाती दीखी।

सूरज को गोद नहीं लिया जा सकता

बरसों बाद माँ के इस शयन-कक्ष मे आया हूँ। मेरी चेतना स्मृतियों से अनुकूलित नही, सहज ही विकूलित है। एक नदी · आदि से अंत तक जो एक अखंड धारा है। कूल-किनारे उसमे झाँक कर पीछे छूट जाते है। सो हर बार, हर कही आना मेरे लिए नया ही होता है।

मेरे गर्भकाल में बरसे दिव्य रत्नों से मंडित है यह सारा कक्ष। शैयाएँ, आसन, दीपाधार, दीवारें, फर्श, छतें, झूमरे, सब उन्ही आकाशी रत्नों से निर्मित और जड़े हुए हैं। इनमें से बहती तरल आभा में जाने कितनी समवेत अनादि सुगंधें तरगित हैं। सौंदर्य और ऐश्वर्य का यह लोक, पार्थिव से कुछ अधिक लगता है। एक ऐसी अन्यत्रता है: यहाँ, जो चेतना को बाँधती नहीं, अधिकाधिक खोलती है। इसमें परिग्रह नहीं, अपरिग्रह का बोध है। मानो जो नारी यहाँ रहती है, वह यहाँ अवरुद्ध नहीं, उद्बुद्ध है। . . माँ, तुम्हें जानता हूँ, फिर भी पूरी कहाँ पहचानता हूँ। मैं

अभी यहाँ आया हूँ, खड़ा हूँ, प्रतीक्षा में हूँ। निरा अतिथि। अजनबी।

. . सुगंध एकाएक महीन झंकार होती प्रतीत हुई। सामने की दीवार की मणिमाया जैसे एक पर्दे की तरह सिमट गयी। कमल-केसर-सी पीताभ एक पूर्णकाय स्त्री झलमलाती जोत की तरह सामने आती दिखाई पड़ी। और उसके पीछे आ रही है, महारानी त्रिशला देवी। मेरी माँ।

'काश्यप वर्द्धमान, मगध की महारानी का अभिवादन करता है . . !'

ऐसा कुछ देखा सामने, कि आँखे वहाँ से हटा कर, चरण छूने का उपचार बीच मे न आ सका।

'बड़ा आया महारानीवाला ! मौसी को नही पहचानता क्या रे ? . तो फिर कहूँ कि वैशाली के महाराज कुमार जयवत हों ! . '

'वैशाली का एक जनगण हूँ मै, सम्राज्ञी ! मगधेश्वरी से इसी नाते मिलने आया हूँ, मेरा यह गौरव अक्षुण्ण रहे, प्रार्थी हूँ . !'

चेलना का हाथ जैसे वासुकी नाग के फणा-मडल पर पड़ गया हो। वे चौंकी। मुझे विस्मित-सी ताकती रह गयी . और फिर वह सारा चेहरा प्रार्थनाकातर हो आया।

'मगध की महारानी का मुकुट, वैशाली के इस जनगण के चरणों मे भिक्षार्थी है। . . संतुष्ट हुए तुम, मान ? हमारे रक्त से तुम इतने बेलाग ? कैसे कहूँ . 'बेटा' ? मेरा अपनत्व मुझसे छीनते तुम मिले। मेरी जीभ की नोक पर आये 'बेटा' शब्द को तुमने अपनी उँगली से जैसे हँस कर दबा दिया। . 'ठीक है !'

हम मीना-खचित, मसृण रेशम के गद्दों वाले सुखपालों पर व्यवस्थित हो चुके हैं। आपाद-मस्तक अकल्प्य रत्नाभरणों और जामुनी कौशेय मे सज्जित, मगध की पट्ट-महिषी को मैने ऊपर से नीचे तक समग्र साक्षात् किया। कपिशा के लाल अंगूरों की रक्तिम वारुणी के चषक मे, जैसे एक निर्मल हीरा तैर रहा हो। अभिजात सौंदर्य की यह पराकाष्ठा है। भरा-भरा केशर-सा पीला गात, साँचे ढले अवयवों की तराश और सुघरता। कोई अप्रतिम सुदर शिल्पाकृति जैसे एकाएक सजीव हो उठने का आभास दे रही हो। रभस-रस से भरी इस गभीर कादंबिनी को मानो बिजली की झालरों ने बाँध रक्खा है। यह केवल साम्राज्ञी नही, केवल विलासिनी नही, केवल अंकशायिनी नहीं। अभ्रकश है यह नारी। कीचड़ मे से ही फूट कर, उसे कृतार्थ किया है इस कमल ने।

मौसी स्तब्ध और उदास बैठी रह गयी है। माँ रुआँसी और सब कुछ झेलती-सी चुप है। एक गहरी चुप्पी के तट पर हम तीनों उपस्थित है।

'मौसी, नाराज हो गयी ? पहली बार बेटे से मिली हो, बलाये भी नही लोगी ? '

दोनों ही बहने एकदम मुक्त हो, उमग आयी। भर आते-से गले से मौसी बोली .'मान, और किसलिए आयी हूँ ? सुना था, सूरज हो। बडी साध थी इस सूरज बेटे को गोद लेने की।

लेकिन सामने पा कर देखा, कि सूरज को गोद नही लिया जा सकता। छुटपन की याद है तुझे, मान, जब तू एक बार जंगलों से खेल कर लौटा था ? तेरे बिथुरे बालों में घास, फूल, पत्ते उलझे थे, और मैने तुझे उठा कर समूचा छाती में भर लिया था। और आज . . ?'

'आज भी वही हूँ, मौसी। यही न, कि बड़ा सारा हो गया हूँ। और तुम संकोच में पड़

गयीं ! अपनी बाँहों को कुछ फैला लेती, तो क्या उनसे बाहर रह पाता मै ?'

'वह तुमने सभव ही नही रक्खा। तुम तो मगध की सम्राज्ञी से मिलने आये। माँ के आँचल को चुनौती देते आये। और तुम्हारी भृकुटियों के बीच, एक चक्र देखा मैंने। तुमने मुझे रहने ही नही दिया, बेटा। किसी से कोई लगाव नही रहा तुम्हे ? क्या हमारे कोई नही हो तुम ? '

'मै किसका नही हूँ, कि तुम्हारा न हो सका ? फिर क्यों तुम मुझे अपना नहीं पायी ? और मगध की महारानी तो इसलिए कहना पडा, कि इस समय मौसी से अधिक मेरा सरोकार उनसे है। मै वैशाली का एक रजकण होकर आया, कि सम्राज्ञी अपने सम्राट को खबर कर दे कि क्या देख आयी है, किससे मिल आयी है ।'

'खबर तो उन्हे क्या, हवाओं और समुद्रों तक को हो गयी है कि तुम कौन हो ! इसी से हिम्मत करके यह कहने आयी हूँ, कि सर्वनाश की इस घड़ी से तुम्ही हमे उबार सकते हो। और कही, कोई त्राण नही दीखता।'

'मगधेश्वर की कुशल पूछता हूँ, और उनकी मगल कामना करता हूँ। सम्राट वैशाली चाहते है, तो कह दो कि मिलेगी उन्हे। पर उनकी राह नही, मेरी राह। महामात्य वर्षकार की कुटिल चाल से नही, मेरी सीधी और सरल चाल से। साफ बताओ, वे क्या चाहते है ?'

'मुझे तो यही लगता है मान, कि वे स्वय नही जानते कि वे क्या चाहते है ? कुटिल और कोई हो चाहे मगध मे, वे नही है। इतना जानती हूँ, कि अपने राज करने को उन्हे मगध छोटा लगता है। सागर पर्यंत पृथ्वी से कम कोई साम्राज्य उन्हे तृप्त नही कर सकता। साम्राज्य की लौ लगन मे ही वे दिन रात जीते है ।'

साम्राज्य से अधिक सुदरी की लौ लगन मे जीते है श्रेणिकराज ! अच्छी बात है यह। पर वह स्वप्न सुदरी नही मिल पाती, तो उसकी छटपटाहट मे, साम्राज्य के कल्पित विस्तारों मे अपनी भुजाएँ पछाड रहा है योद्धा। नही मौसी, षट्खड पृथ्वी का चक्रवर्तित्व भी उन्हे तृप्त न कर सकेगा, यह तुम मुझसे जान लो ।'

दोनों महिषियों की आभिजात्य मर्यादा जैसे आघात पाकर चौंकी।

'उनका साम्राज्य स्वप्न वैशाली पर अटका है, वर्द्धमान। सोचते है कि वैशाली जय हो, तो सारे जबूद्वीप पर उनकी एकराट् सत्ता हो जाये।'

'उनकी ऑखे वैशाली से अधिक आम्रपाली पर लगी है मौसी ! काश, तुम जान सकती कि मगधेश्वर की साम्राज्य अभीप्सुक तलवार देवी आम्रपाली के रातुल चरणों में समर्पित है। '

सम्राज्ञी की ऑखे नीची हो गयी। क्षण भर चुप रह कर बोली 'सो तो तुम जानो, मान ! शायद उन्हे तुम मुझसे अधिक जानते हो। पर इतना मै अवश्य जानती हूँ कि एकदम ही बालक है उनकी आत्मा। लेकिन उनके दर्प और प्रताप को सम्मुख पा कर हार जाती हूँ।'

'हारती तुम नही, हारते है श्रेणिकराज, मौसी ! चेलना को पा कर भी वे वैशाली को नही पा सके ! काश, वे मेरी मौसी को पहचान सकते।'

'मुझे कम नही मानते वे, वर्द्धमान। चारों ओर के कूट चक्रों और युद्ध प्रपचों से उद्विग्न होकर, अचानक आधी रात आते है। मेरी गोद मे सिर डाल कर, गहरी उमाँसे भरते रहते है। कुछ

पूछने को जी नही करता। इतने हारे दीखते हैं, कि करुणा से कातर हो जाती हूँ। केवल यही चाहती हूँ, कि मेरी छुवन से उन्हें समाधान मिले। वे शांति पायें, और सो जायें ।'

'शांति पाते हैं वे तुम्हारे पास ?'

'बस उतनी ही देर। फिर वही उचाट। और फिर कई दिन दर्शन दुर्लभ। मंत्रणा-गृह में, या फिर अपने एकाकी शयन-कक्ष में। या फिर कई दिन गायब। . . काश, उनकी मर्म-व्यथा को जान सकती।'

'ब्राह्मणी-पुत्र अभय राजकुमार के पास है, सम्राट के हृदय की कुंजी। महारानी नंदश्री का यह बेटा, अपने सम्राट-पिता का पिता और सखा एक साथ है। वही एक दिन बाप की चाह पूरी करने को, वैशाली की रूपशिखा चेलना का हरण कर गया था। क्या तुम सोचती हो कि अभय से उनकी कोई गतिविधि छुपी रह सकती है ?'

'सो तो मुझे पता नही। पर अभय चुप रहता है। बड़ा शालीन और गभीर लडका है। अपनी माँ से अधिक मुझे प्यार करता है। आता है, तो बड़ी देर चुपचाप मेरे पास बैठा रहता है। बिना बोले ही मेरी सेवा करता रहता है। या फिर कभी मौज आने पर, अपनी नित-नयी करतूतों की साहस वार्ताएँ सुना कर मुझे खूब हँसाता है। मेरी चुप्पी और उदासी उससे सहन नही होती। पर सम्राट की बात आने पर खामोश हो जाता है, या फिर टाल-मटोल करता है।'

'चतुर-चूड़ामणि है अभय राजकुमार। कूट-चक्री वर्षकार तक की चोटी उसके हाथ में है। वही तो है मगधराज का असली मत्रीश्वर ! वैशाली की जनपद-कल्याणी आम्रपाली की स्पर्धा में, मगधेश्वर के सौंदर्य-स्वप्न को सिद्ध करने के लिए, अभय ही परम रूपसी सालवती को खोज लाया था। और उसे राजगृही की जनपद-कल्याणी के गवाक्ष में आसीन कर दिया। आम्रपाली को सहस्र सुवर्ण से पाया जा सकता है, तो सालवती का दर्शन मात्र दो सहस्र सुवर्ण से हो सकता है पर सालवती के होते भी सम्राट को राजगृही अँधेरी ही लगती रही। गगा और शोण के कछारों मे आधी रातों इस विजेता का दौड़ता घोडा क्या खोजता है ? वैशाली के सीमात या आम्रपाली का कुँवारा सीमंत ?

'वर्द्धमान, चुप नहीं करोगे . !'

'मै उनकी निंदा-आलोचना नही कर रहा, मौसी। मैं उनका अभिनंदन कर रहा हूँ। मै केवल वस्तु-स्थिति को तुम्हारे सामने पढ़ रहा हूँ। बिंबिसार श्रेणिक ने दूर से ही मेरे मर्म को छू लिया है। मैं उसके खोये-भूले बालक हृदय को तुम तक चौकस पहुँचा देना चाहता हूँ। समझ रही हो, मौसी ? वर्द्धमान को प्रिय है, श्रेणिक बिंबिसार।'

'समझ रही हूँ, बेटा। तुम्हारी मुझे इस घडी बहुत जरूरत है। मुझे ही नही, मगध, वैशाली और समस्त आर्यावर्त को।'

'तो जो मै कहूँ, वह करोगी मौसी ? सम्राट से कहला दो, कि . 'आपको मेरी ज़रूरत नहीं है, तो मगध-वैशाली के सीमावर्ती गंगा-तट के महल में कुछ दिन एकांत-वास करने जा रही हूँ। मेरा सैन्य-परिकर मेरे साथ रहेगा'। जब चाहें, वहाँ आपका स्वागत है . . '—फिर देखो, क्या होता है !'

'क्या कह रहे हो, वर्द्धमान ! वे सुन कर पागल हो जायेंगे। एक दिन भी वे मेरा दूर

जाना सह नही सकते, चाहे फिर महीनों मेरे पास न आये। और मगध-वैशाली के सीमान्त-महल में? अनर्थ हो जाये . . !'

'कितने समय से तुम उन्हे नही मिलीं, मौसी?'

'पूरा चौमासा बीत गया। बादल-बिजली की तूफानी रातों मे चिंतित हो उठी हूँ बार-बार, कि कहाँ होंगे? पर अभय तक को पता नही है कि कहाँ है वे?'

'अभय की आँख से श्रेणिक की बचत कही नही है, राजेश्वरी ! सालवती के नीलकांति-प्रसाद मे तुम जा सकती हो, मौसी?'

'किसलिए . . ?' चेलना की भौंहे कुंचित हो गयी।

'अपने सम्राट का पता पा लेने को . . !'

'मुझ पर दया करो, वर्द्धमान !'

'सालवती का अज्ञात-पितृजात पुत्र जीवक कौमार भृत्य, अभय की तरह ही तुम्हारा बेटा है। अभय ने घूरे पर से उठा कर अपने महल मे उसे पाला। तक्षशिला मे रख कर उसे अनेक शिल्प-विज्ञानों मे दक्ष बनाया। आज वह भारतीय आयुर्वेद का धनवंतरी है। उज्जयिनी-पति चण्डप्रद्योत और कोसलेन्द्र प्रसेनजित का वह निजी और गोपन चिकित्सक है। मगध से वीतिभय और गांधार तक, वह केवल इन राजेश्वरों के धातुओं का ही कर्त्ता-धरता नहीं, इनके कूट-चक्रों की नाड़ियाँ भी जीवन भिषग की उँगली के इशारों पर चल रही है। मगधेश्वर का यह सूर्यांशी पुत्र वर्तमान भारत का सबसे बड़ा रासायनिक है . !'

'वर्द्धमान, तुम क्या कहना चाहते हो ?' मौसी का स्वर रुआँसा हो आया।

'यही कहना चाहता हूँ, मौसी, कि सालवती के महल मे जाकर एक बार पता कर आओ, कि क्या तुम्हारे स्वामी को वहाँ चैन पड़ा? और उनसे कहो, कि जहाँ चाहे वहाँ वे निश्चिंत विचरे। चाहे तो तुम्हे भी साथ ले जाये। पृथ्वी की तमाम जनपद-कल्याणियों और अपनी मन-मोहिनियों के समक्ष वे तुम्हे खड़ी देखे। उनसे कहो मौसी, कि चलो मेरे साथ वैशाली, देवी आम्रपाली के पास तुम्हें पहुँचा आऊँ। और कहो कि वैशाली की विशाला के धानी सौंधे आँचल मे एक बार टुक निश्चिंत होकर सो जाये। वैशाली तब उनकी होगी। साम्राज्य तब अपनी फिक्र खुद ही कर लेगा। पर उन्हे तब लगेगा कि वारि-वसना कुमारी पृथ्वी, जयमाला बनकर उनके गले मे झूल गयी है !'

'मान, उनकी मर्यादा तोड़ने को कहते हो मुझसे?'

'उनकी मर्यादा तुम हो, मौसी। उनका यह ग्रंथिभेद तुम्हारे सिवा और कौन कर सकता है?'

'ग्रंथि की बात तुमने भली कही, मान। ग्रन्थियों का यह जाल तो उनके आसपास ऐसा छोरहीन फैला है, कि सोचती हूँ, तो विक्षिप्त हो जाती हूँ। वे चारों ओर से इसमे जकड़े हुए हैं। महामात्य वर्षकार है उनके साम्राज्य स्वप्न का वाहक। उसी के बनाये नक्शों पर रात-दिन इनकी उँगली घूमती रहती है। चंपा को घेरे बैठा है, इनका सेनापति चंडभद्रिक। वह मगध के सैन्य बल पर, इनकी आँखों मे धूल झोंक कर, चंपा का सिंहासन हथिया लेने के षड्यंत्र रच रहा है। और अपनी ही कोख का जाया अजातशत्रु, मेरे सौभाग्य तक का शत्रु हो उठा है। ये उसे आँखों से

दुलराते है, पर इनको वह फूटी आँखों नही देखना चाहता। बाप और बेटे के बीच सम्राटत्व की टक्कर है। अपना ही घर फूटा हुआ है। मगध मे आज कौन शत्रु है और कौन मित्र, पहचानना कठिन हो गया है। बहुत बाते है, वर्द्धन, मेरा दिमाग काम नही करता।. बहुत व्याकुल होकर तेरे पास चली आयी हूँ। ऐसी-ऐसी बाते है कि कहते नही बनती .'

'जब मेरे पास आयी हो, तो साफ-साफ कहो, मोसी, सब सुनना चाहता हूँ।'

'जानता तो है, चपा के राज-महालय मे बैठी है, मेरी जीजी पद्मावती, तेरी बडी मौसी। उनकी बेटी चद्रभद्रा शील-चदना, आर्यावर्त के पूर्वीय समुद्र-तोरण की सौंदर्य-लक्ष्मी है। ऐसी सुदर है तेरी यह बहन और मेरी भागिनेया, कि चदन नदी की लहरे उसमे साकार हुई है। सम्राट कहते है कि—शील-चदना का ही दूसरा नाम चपा है। द्रचपा मे बिछेगा भावी साम्राज्य-लक्ष्मी का सिहासन। और तब वैशाली उनकी तलवार के कोश मे होगी।'

'मुझे सब पता है, मौसी। तुम्हारे सम्राट के मन को मै हथेली पर रक्खे ऑवले की तरह पढता रहता हूँ। अच्छा, और भी सब साफ साफ कहो, मौसी।'

'तो सुन वर्द्धन, अजातशत्रु और वर्षकार चपा के निगठोपासक श्रावक श्रेष्ठियों के महालयों मे घुसकर, चपा के विनाश का षड्यत्र रच रहे है। और चपा के ये श्रेष्ठी, जिन शासन के अनुयायी, हमारे सहधर्मी होकर भी दोहरी बाजी खेल रहे है। एक ओर श्रावक श्रेष्ठ महाराज दधिवाहन के प्रति इनकी राजभक्ति का अत नही, दूसरी ओर अपनी अमित सुवर्ण-राशि से ये अजातशत्रु को वशीभूत कर, साम्राज्य का सोदा अपने हित मे करना चाहते है। वर्तमान राजा और भावी राजा दोनों को अपनी मुट्टी मे रखकर, अपने न्यस्त स्वार्थ की खातिर, जिनेश्वरों की आदिकालीन शासन भूमि चपा को किसी भी जिनद्रोही के हाथ बेच देने तक मे इन्हे कोई हिचक नही। लगता है, जैसे व्यापारी के आत्मा जैसी कोई चीज होती ही नही।'

'सो तो नहीं होती, मौसी। फिर? और भी कुछ कहना है?'

'शील चदना बहुत सवेदनशील और गहरी लडकी है, मान। आर्हत् धर्म की यह ग्लानि उसे असह्य है। चपा होती हुई आयी हूँ, और अपनी ऑखों सब देख आयी हूँ। शील के ऑसू सहे नहीं जाते। चपा के ध्वस के सपने उसे रात दिन सता रहे है। और उसके कौमार्य पर साम्राजी तलवारो की झनझनाहट मडरा रही है। कहा न, मान, अपना ही घर फूट गया है। बोल, कहाँ जाऊँ, क्या करूँ? क्या ऐसे मे भी तू चुप ही रहेगा? सबकी ऑखे, केवल तुझ पर लगी है, वर्द्धमान!'

'सुनो मौसी, कोई ठीक ठीक नही जानता कि वह क्या चाहता है। लिप्सा सुवर्ण की है, राज्य की है, रूप की है या अपने ही रक्त की? किसी को नही मालूम। हर कोई अपने ही विरुद्ध उठा है। अपना ही शत्रु हो उठा है। यह जड की बात है, मोसी। काश, तुम्हे समझा सकता! काश, हम पहले अपने ही को प्यार कर सकते, अपने ही मित्र और सम्राट हो सकते! हो सके तो मगधेश्वर को, मै इस सत्यानाश के दुश्चक्र मे निकालना चाहता हूँ। मुझे बिबिसार की जरूरत है।'

'तू मिलेगा उनसे?'

'नही, ठीक समय पर वही आयगे।'

'पर आग तो लगी हुई है ! अभी और यहाँ बचने का कोई उपाय नही ?'

'है। पर युद्ध अनिवार्य है। वैशाली का गण पुत्र वर्द्धमान इस युद्ध का परिचालन करेगा। वह इसका स्वय-नियुक्त सेनापति होगा। राज्य और सैन्य के बल नही, शस्त्र-अस्त्र के बल नही, अपने ही बाहु और आत्म के बल पर वह लडेगा। वह एक साथ हर मोर्चे और हर पक्ष पर लड़ेगा। वह वैशाली की ओर से मगध के विरुद्ध लड़ेगा। वह मगध की ओर से वैशाली के विरुद्ध लडेगा। हर पक्ष उसका होगा कोई पक्ष उसका नही होगा। धर्म का ध्रुव ही उसका एकमात्र राज्यासन और मोर्चा होगा। मेरा सीमात मेरे भीतर है, और वहाँ मेरा युद्ध आरभ हो चुका है। इस युद्ध मे पुरुष ही नही, स्त्रिया भी लडेगी। चेलना अब और मगध के अत पुर की बदिनी होकर नही रह सकेगी। शील-चदना से कह देना, महावीर उसके साथ है। वह निर्भय हो जाये !'

'और मगधेश्वर के लिए तुम्हारा क्या सदेश है, मान ?'

'उनके साम्राज्य-स्वप्न को मै पूरा करूँगा। उनकी हर चाह को मै पूरा करूँगा। उनसे अधिक मै जानता हूँ, वे क्या चाहते है।'

'और मेरी वैशाली का तुम्हे कोई दर्द नही ?'

'वैशाली अजेय है। वह कुछ योजनों और महालयों मे बसा मात्र एक महानगर नही। इस सुवर्ण रत्नो के प्रासादों वाली वैशाली का ध्वस कोई कर भी सकता है। पर इस वैशाली के भीतर एक और वैशाली है। वह अविनाशी और अनतिक्रम्य है। वह प्राणिमात्र के स्वातत्र्य की यज्ञ-वेदी है। मगधेश्वर से कह देना, कि उसका अग्निहोत्री वर्द्धमान महावीर है। मगध की तो बात दूर, कोई बडी से-बडी दैवी, दानवी या मानवी सत्ता भी उसका विनाश नही कर सकती। इक्ष्वाकुओं का सूर्य कभी अस्त नही हो सकता !'

'मेरे राजा बेटे, मेरे वर्द्धमान, शत सहस्र सवत्सर जियो ! तुम कितने अच्छे हो कितने बडे हो तुम ! राजगृही आओ वर्द्धन, तुम्हे पाकर मगध की हवाओं का रुख बदल जायेगा। तुम्हे पाकर कितने कृतार्थ होंगे, तुम्हे कल्पना नही। सुनो, मै जानती हूँ, वे मन ही मन तुम्हे बहुत प्यार करते है।'

'मुझे पता है, मौसी। आसमान की तरह निर्लेप है श्रेणिक की आत्मा। यह मेरे और तुम्हारे सिवाय और कोई नहीं जानता। सब मुझ पर छोड दो और तुम निश्चित होकर जाओ। वैभार पर्वत की कूट शिलाए मेरा पगतलियों मे कसक रही है। राजगृही के चैत्य काननों मे एक दिन अचानक तुम मुझे विचरता पाओगी। मगधेश्वर से कह देना कि अपनी सेनाओं के बल पर वे वैशाली को त्रिकाल भी नही जीत सकेगे। चाहे तो वर्द्धमान के बल पर वे वैशाली तो क्या, समस्त जबूद्वीप पर अपना चक्रवर्तित्व स्थापित कर सकते है। अन्यथा जो भी बाजी खेलेगे, वह हार की होगी। उस तरह, साम्राज्य पाने के बजाय, अपने ही को गँवा बैठेगे सावधान !'

चेलना की भुवन-मोहिनी भुजाओ का भरा भरा आलिंगन, मेरे चारों ओर उमड़ कर भी, मुझे समेट न पाया। मै मौसी और माँ के चरण स्पर्श को एक साथ झुका। दोनों बहने एकबारगी ही मुझ पर छाकर वत्सल आह्लाद से फूट पड़ी।

एकटक निहारती चेलना की उस स्थिर सजल दृष्टि मे, अपनी ही चेतना का एक प्रोज्ज्वल विस्तार देखा मैने।

'मेरे साथ चलोगी, मौसी ?'

'कहाँ . . ?'

'जहाँ मैं ले जाऊँ ! . . '

'तब न आना क्या मेरे वश का होगा ?'

'तो तुम्हें लिवा ले जाने को, एक दिन राजगृही आऊँगा . . !'

. मौसी को अपनी भावाकुलता और बाँहों पर संयम करना पड़ रहा था।

. . मैं दोनों हाथ जोड़, मुस्कराता हुआ अनायास कक्ष से बाहर हो गया।

वैशाली के संथागार में

महाराज सिद्धार्थ अपने निज कक्ष मे, एकाएक मुझे सामने खड़ा पाकर भौचक्के रह गये। बचपन के बाद पहली बार यहाँ हूँ, और इस वैभव के कक्ष मे, जैसे एकदम ही विदेशी की तरह खोया खड़ा हूँ। आश्चर्य से राजा निस्तब्ध है, और मानो मुझे नये सिरे से पहचानना चाह रहे है।

'बापू, कल वैशाली जाना होगा। आदेश पा गया हूँ !'

'यह तो चमत्कार हुआ बेटा ! आज बड़ी भोर ही वैशाली से अश्वारोही तुम्हारे लिए निमंत्रण लेकर आया है। मै स्वय तुम्हारे पास आने ही को था, कि तुम खुद भी आकर मुझ से वही कह रहे हो। आश्चर्य !'

'मुहूर्त इसी को तो कहते है, महाराज !'

'चेटकराज ने लिखा है, बेटा, कि चम्पा को भीतर बाहर चारों ओर से मागधों ने घेर लिया है। पूर्वीय समुद्र-पत्तन पर से सुवर्ण-द्वीपों को जाने वाले जहाजों को मागध अपने पोतों मे खाली कर, सारी सम्पदा मगध पहुँचा देते है। चम्पा का वाणिज्य समाप्त हो गया।'

'तो चम्पा की मुक्ति का मार्ग आसान हो गया, बापू !'

'वर्द्धमान, यह क्या कह रहे हो तुम ?'

'यही कि चम्पा अपने शत्रु को अब ठीक ठीक पहचान सकेगी।'

'शत्रु को पहचानना तो अब असम्भव हो गया है, चम्पा मे। जन-जन के घर-घर मे शत्रु मित्र बन कर घुसे बैठे है। ऐसा लगता है कि चम्पा के जन ही देशद्रोही हो उठे है।'

'देशद्रोही नही, राजद्रोही कहिए, बापू। और जन के लिए वह होना तो स्वाभाविक था। पर मातृभूमि का द्रोह कभी जन नही करते तात, वह तो महाजन और राजन ही करते है। क्योंकि उनके मन सम्पदा और सत्ता मे अधिक मूल्यवान और पवित्र कुछ नही। माँ और वल्लभा का सतीत्व भी उनके लिए गौण हो सकता है। फिर बेचारी मातृभूमि की क्या कीमत ! वह उनके मन जड़ धरती से अधिक माने नही रखती, जिसे अपनी तलवार और सुवर्ण से वे खरीद और बेच सकते है। ताकि रत्न-गर्भा वसुन्धरा को वे मनचाहा लूट ले।'

'बेटा, मै तो तुम्हे निपट सौम्य जानता था। कल्पना न थी कि इतने उग्र भी तुम हो सकते

हो। कभी तुम्हारी आवाज तक इस राजमहल में नहीं सुनाई पड़ी। और अब देखता हूँ कि ज्वालामुखी बोल रहा है . . !'

'मै नहीं बापू, महाशक्ति बोल रही है, और मै भी उसे सुन रहा हूँ। उसका साक्षात्कार करके मैं स्वयं स्तम्भित हूँ।'

'इष्ट ही है बेटा, इस समय वैशाली को तुम्हारी आग की जरूरत है। रूप उसका जो भी हो। महाधनुर्धर महाली धनुर्वेद के एक विकट प्रयोग मे, अचानक ऑखे खो बैठे है। तो मानो सारी वैशाली अन्धी हो गई। हमारे दुर्भाग्य की पराकाष्ठा हो गई। तुम्हारे मामा महानायक सिंहभद्र तक इस दुर्घटना से एकदम हताहत हो गये है। कहते हैं, मेरी दक्षिण भुजा टूट गई,मेरा धनुष भूलुण्ठित है।'

'मगर सुनता हूँ, तात, सिह मामा तक्षशिला के आचार्य बहुलाश्व की वीरांगना बेटी को ब्याह लाये है। कहते है, सौ तने धनुषों की ताकत, अकेली रोहिणी मामी की बायी भुजा में है। आर्यावर्त के पंक्तिबद्ध धनुर्धर एक ओर हों और गान्धारी रोहिणी एक ओर हो, तो भारी पड़ती है। सुनता हूँ साक्षात् रणचण्डी है मेरी रोहिणी मामी। सिह मामा ऐसी बायी भुजा के रहते भी, इतने निराश कैसे हो गये ?'

'कुछ भी हो बेटा, आखिर तो स्त्री है। कोमल कान्ता ही ठहरी न।'

'पर यह कान्ता जब काली हो उठती है, तो कराली कर्वाली हो जाती है, तात ! गान्धार की उस महाकाली को एक बार देखना चाहता हूँ।'

'उसी ने तो तुझे बुलाया है बेटा, तुरन्त। चेटकराज के सन्देश के साथ अनुरोध-पत्र तो रोहिणी का ही है। वह अविलम्ब तुझसे मिलना चाहती है।'

'अहोभाग्य, पितृदेव ! तो कल सबेरे बड़ी भोर हम प्रस्थान कर जायेंगे।'

'साधु बेटा, साधु . . !'

और मै चलने को उद्यत हुआ कि महाराज सहसा बोले :

'आये हो मेरे पास, तो एक बात तमसे पूछनी है। तुम्हारी मॉ तक तुम्हारे मन की थाह न पा सकी। फिर भी एक बार हो सके तो रूबरू तुम्हारा अन्तरग जानने की इच्छा होती है।'

'इससे अधिक सुख मेरा क्या हो सकता है, कि आप मेरा मन जाने, मुझे जाने। आप नि सकोच पूछे, मै प्रस्तुत हूँ।'

'कलिगराज जितशत्रु की बेटी यशोदा, कालोदधि समुद्र के मुक्ता-फल-सी मोहक सुनी जाती है। कहते है, उसकी कान्ति क्षण-क्षण नव्य-नूतन होती है। मन-ही-मन वह तुम्हारा वरण कर बैठी है। कहती है, केवल तुम्हारी नियोगिनी है वह, तुम हो एकमात्र उसके नियोगी पुरुष। जम्बूद्वीप के अनेक राजपुत्र उसके पाणि-पद्म के प्राथी हैं। पर उसने सारे मॉगे लौटा दिये हैं। तुम्हारी बाट जोहती बैठी है। कलिगराज सन्देशों पर सन्देश भेज रहे हैं। क्या कहते हो तुम ?'

'नियोगिनी मेरी कौन नही है, तात ! लोक की सारी ही कुमारियाँ मुझे तो अपनी नियोगिनी लगती हैं। तब चुनाव का तो प्रश्न ही नहीं उठता। सब स्वीकृत हैं मुझे, तो कलिगराज-नन्दिनी क्यों अस्वीकृत होंगी ?'

'सब नियोगिनी है, तब तो सम्बन्ध का सूत्र ही हाथ नही आता।'

'सम्बन्ध का एक मात्र यही सूत्र मुझे स्वीकार्य है, बापू। यही एक सम्यक् और सच्चा सम्बन्ध हो सकता है। और सारे सूत्र कम पड़ते हैं, क्योंकि वे क्षणिक और परिवर्तनशील हैं। नित्य और सत्य सम्बन्ध के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध मेरा तो हो नहीं सकता।'

'समझा नहीं मैं?'

'नियोगिनियाँ तो कई जन्मों की जाने कहाँ-कहाँ होंगी मेरी। जाने कब कौन कहाँ मिल जाये, क्या उसका दावा झूठ मानूँगा? स्वीकारते ही तो बनेगा। विवाह और अन्तःपुर की सीमा में वे सब कैसे सिमटें?'

'तो क्या विवाह नहीं करोगे?'

'करना मैंने कुछ भी अपने हाथ नहीं रक्खा, बापू। जो है, जो होगा वह सब मेरा ही तो है। तब अलग से अपनाने की छूट कहाँ रह जाती है। जो सम्मुख आये, उस सबका स्वागत ही तो कर सकता हूँ।'

'प्रकट है कि विवाह तुम नहीं स्वीकारते, और नियोगिनी तुम्हारे मन नगण्य है।'

'नगण्य वर्द्धमान के लिए कुछ भी नहीं। सभी उसके मन वरेण्य हैं। अन्तर केवल इतना है कि नियोगिनी नहीं, मुझे योगनी चाहिए। नियोग मात्र नैमित्तिक और नाशवान है। केवल योग ही स्वायत्त और अविनाशी है। मेरे सम्बन्धों का आधार है नित्य योग, क्षणिक भोग नहीं। विवाह, नियोग और भोग में, वियोग अनिवार्य है। क्योंकि वह सब खेल मोह का है, मूर्च्छा का है, मोहिनी कर्म का है। सो मुझे नियोगिनी नहीं, वियोगिनी नहीं, योगिनी चाहिए।'

'तो वह भी तो कहीं होगी ही, और कभी आयेगी ही ! आखिर कब?'

'वह कहीं और कभी से परे, सदा अभी और यहाँ है, देव ! नहीं तो फिर योगिनी कैसी? देश और काल सापेक्ष जो है, वह योग कैसे हो सकता है, उसमें तो वियोग और मृत्यु बद्धमूल है।'

'अभी और यहाँ है वह योगिनी तुम्हारी? मतलब . . ?'

'मतलब कि वह तो भीतर के अन्तःपुर में सदा प्रस्तुत बैठी है। भीतर गये कि उसके आलिंग की बाँहें फैली हैं, हमें समेटने को। ऐसा रमण जो विरमण जानता ही नहीं . . !'

'समझ रहा हूँ, आयुष्यमान् ! समझ यहाँ समाप्त दीखती है। जो समझ से परे है, उसे समझने की कोशिश ही गलत है। काश, मैं सम्बुद्ध हो सकता।'

'वह हैं आप, वह अन्यत्र और अगले क्षण में कहीं नहीं है। आप जो अपने को नहीं मानते, वही तो एकमात्र हैं आप . .।'

पिता पराजित-से अधिक प्रसन्न दीखे: अपने बावजूद, अपने आप हुए लगे।

'तो कल प्रभात बेला में, आप मुझे सिंह-तोरण पर प्रस्तुत पायेंगे।'

महाराज उठ कर मुझे द्वार तक पहुँचाने को बढ़े, तब तक मैं जा चुका था।



उत्तर-पूर्व के कोण-वातायन पर, नीहार में नहा कर उठती-सी उषा फूट रही है। मैं तैयार हो कर कक्ष में टहल रहा हूँ। सहसा ही सिंहपौर पर मंगल का शंखनाद और घण्टा-रव सुनाई पड़ा। फिर

दुंदुभियों का घोष और अनेक प्रकार की तुरहियों का समवेत स्वर उठने लगा। रेलिंग पर से झाँका, राजद्वार से लगा कर जहाँ तक मार्ग दीखा, नाना रंगी फूलों और पल्लवों के वितान से छाई वीथी, कदली-स्तम्भों के बने द्वारों मे से होकर दूर तक चली गई है।

देखा कि ठीक सामने की उषा के रंग का ही उत्तरासग और अन्तरवासक धारण किये हूँ। अनायास ही तो ऐसा हुआ है। तभी छत मे दिखाई पडा, अपूर्व महार्घ शृगार किये महारानी त्रिशला देवी सी चली आ रही है। उनके दोनों हाथों मे उठे सुवर्ण थाल मे, मेरे जन्म-कल्याणक के समय सौधर्म इन्द्र द्वारा लाये दिव्य रत्नों के किरीट-कुण्डल, केयूर,मणिबन्ध, कण्ठहार और वस्त्राभूषण जगमगा रहे है। उनके अगल-बगल दो सुवेशिनी सुन्दर प्रतिहारियॉ, विविध मगल सामग्रियों के थाल, मणि-कुम्भ और एक रत्नजटित कोशवाली तलवार लिए चली आ रही हैं।

मॉ की चरण रज-ललाट पर चढा कर, मैने कहा 'क्या कोई भेट लेकर जाना होगा वैशाली, मॉ ? वहॉ कोई राजा राज-दरबार भी है क्या ?'

'वह मुझे नही पता। मेरा राजा तो मेरे सामने खडा है। वह तो राजवेश धारण करेगा ही।'

'सुनता हूँ, वैशाली मे तो जन-जन राजा और राजपुत्र है। फिर मै कोई विशेष राजा बनूँ, यह तुम चाहोगी ?'

'मेरा बेटा वैशाली का ही नही, तीनों लोकों का राजा है। राजराजेश्वर है।'

कहते कहते मॉ का गला भर आया। उन्होने चौकियों पर थाल रखवा कर, सेविकाओं को जाने का सकेत दे दिया।

विकल्प असम्भव प्रतीत हुआ। आज की यह मॉ, केवल मेरी नही, भुवनेश्वरी जगदम्बा लगी। और राज्याभिषेक तथा शृगार मैने अपना नही, त्रैलोक्येश्वर का होते देखा। उसमे बाधक होना, क्या अहकार ही न होता ? मै कौन होता हूँ, कि वह स्वीकारूँ, या अस्वीकारूँ। साक्षी और समर्पित होकर वह नतशिर मैने झेला। श्रीफल के साथ इक्ष्वाकुओं की परम्परागत महामूल्य तलवार महारानी-मॉ के हाथों मे उठ कर, समक्ष प्रस्तुत हुई। मैने सादर उसे दोनों हाथों मे ग्रहण किया और अपने मर्मरी सिहासन पर उसे लिटा दिया।

'वहॉ नही, कटि पर इसे धारण करेगा मेरा केसरी कुमार।'

'नही मा, यह तलवार मेरी शैया ही हो सकती है, मेरा हथियार नही। तुम्हारी ढाली ये दो भुजाएँ क्या कम हथियार है मेरे लिए। तलवार पर मै सो ही सकता हूँ, उसका भार मै नही ढो सकता।'

'क्षत्रिय का बेटा होकर, खड्ग धारण से इनकार करेगा, मान ? अब तक तेरी हर हठ मैने मानी, आज तुझे मेरी हठ रखनी होगी।'

'तुम्हारी हर हठ मै पूरी करूगा मॉ। अपनी दी देह का मनचाहा शृगार तो कर ही लिया तुमने। पर मेरा क्षात्रत्व तलवार की सीमा नही स्वीकारता। वह उसके आगे का है, शस्त्रातीत है। वही लेकर वैशाली जा रहा हूँ। क्या तुम चाहोगी कि मेरा प्रयोजन ही पराजित हो जाये ?'

मॉ नि शब्द इस पुत्र को पहचानती-सी देख रही। उनकी बड़ी-बड़ी आयत्त ऑखों पर आरतियॉ-सी उजल उठी। झुक कर मैने तिलक धारण किया। माँ ने मुझ पर अक्षत-फूल वारे, ऑचल फैला कर ओवारने के लिए। माणिक की पायलों से मण्डित माँ के चरण-युगल मे मैने माथा

ढाल दिया। उठा तो उनकी बाँहों में था, और सर मेरा उनकी ग्रीवा और कन्धे पर। . .

. . सिंहपौर पर अनवरत शहनाइयाँ, नक्काड़े, घण्टा और शंख बज रहे हैं। माँ की अगवानी में, राज-परिवार की केशरिया-वेशित रमणियाँ मंगल प्रस्थान के रोमांचक गीत गा रही हैं। सहसा ही जामुनी कौशेय में आवरित ऊषा-सी वैनतेयी सामने आयी। उसकी आँखों के नीर कितने दूरगामी लगे। उनमें ट्रॉय की करुण-मुखी हेलेन गंगा-स्नान करने आयी है। उसका तिलक, श्रीफल, पुष्पहार झेलते एक अपूर्व रोमांच-सा अनुभव हुआ। . . फिर तो जाने कितनी ही गौर बाँहों पर उछलती फूल-मालाओं और पुष्प-वर्षा ने महाराज सिद्धार्थ को और मुझे ढाँक दिया।

तुमुल जयकारों के बीच, मैं आगे खड़े अपने 'त्रिभुवन-तिलक' रथ पर आरूढ़ हुआ। और उसके पीछे खड़े 'सूर्य ध्वज' रथ पर महाराज-पिता आरूढ़ हुए। . . पुष्प-पल्लव वितानों में झूलती गान-लहरियों को पीछे छोड़ते हुए हमारे रथ वैशाली के राजमार्ग पर धावमान थे।

• • •

. . बहुशाल चैत्य-कानन को पार कर, हम दक्षिण कुण्ड-ग्राम से गुजरे। वहाँ के स्वागत-समारोह मे सहसा ही एक पाण्डुर तापसी ब्राह्मणी ने आगे आकर जब मुझे पुष्प-हार पहनाया, तो एक विचित्र पुलक-कम्प का अनुभव हुआ। उसके मुक्त केशाविल आँचल की गन्ध जाने कैसी परिचित-सी लगी। भीतर के कान में जैसे किसी ने कहा : 'महाब्राह्मण, तुम आ गये !' . . ज्ञातृयों के समूचे कोल्लाग सन्निवेश मे, उत्सवी प्रजा की उमड़ती भीड़ और दर्शनाकुल आँखों में अपना अपनत्व हारता-सा अनुभव हुआ। . . फिर बागमती नदी के तटान्त से गुजरते हुए हम ठीक वैशाली के राजमार्ग पर थे। शारदीय फूलों से लदी, यक-सा तरुमालाओं में से गुजरते हुए देखा : आईने-सी स्वच्छ सड़क पर दोनों ओर की वनराजि मानो पन्ने की शिलाओं से तराश दी गई है। दोनों ओर के उपान्तों में झाँक रही थीं ठोर-ठोर कमलों भरी वन-सरसियाँ। कास फूलों के तटों वाली विजनवती नदियाँ। हंसों, चक्रवाकों, हरिणों के युगल-विहार। एक अद्भुत निर्मलता, लयात्मकता और पूर्णत्व का बोध हुआ। वैशालियों की सौन्दर्य-चेतना पर मुग्ध हुए बिना न रह सका। अलौकिक लगा यह प्रदेश : कोई स्वर्ग-पटल ही पृथ्वी पर अनायास जैसे उतर आया है।

एक जरा ऊँचे भूभाग के शीर्ष पर जब हमारे रथ आये, तो अप्रत्याशित ही दूर पर देव-नगरी वैशाली गर्वोन्नत खड़ी दिखाई पड़ी। अन्तर-मध्यभाग में सात हजार सुवर्ण कलशों वाले उत्तुंग प्रासाद आकाशतटी को चूम रहे हैं। उसके बाद ज़रा नीचाई में चौदह हज़ार रौप्य कलशों वाले सौध जगमगा रहे हैं। और तीसरे मण्डल में उनसे किंचित नीचे इक्कीस हज़ार ताम्र कलशों वाले श्वेत भवन बादलों पर सोपान रच रहे हैं। नारद की उजली कोमल धूप में भव्य धवल नगर-परकोट, कँगूरे, सिंहद्वार, वातायन, और सारी भवन मालाओं को अतिक्रान्त करते जिन-मन्दिरों के रत्न-जटित शिखरों पर केशरिया-श्वेत ध्वजाएँ उड्डीयमान हैं। इस मण्डलाकार नगर की मनोज्ञ दिव्य रचना में एक ब्रह्माण्डीय समग्रता की अनुभूति हो रही है।

. पूर्वापूर्वकाल का स्मरण हो आया। सहस्रों वर्ष पूव त्रिकाल सूर्योदयी इक्ष्वाकु वंश के

राजा तृणबिन्दु ने, अप्सरा अलम्बुषा के गर्भ में राजा विशाल को उत्पन्न किया था। उसी अप्सराजात राजपुत्र विशाल की लोकोत्तर कल्पना में से उसकी यह राजनगरी विशाला आविर्भूत हुई थी।

पृथ्वी पर उर्वशी की रूपज्योति का एक अवशिष्ट टुकड़ा है यह वैशाली। उसके केशपाश से अकस्मात चू पड़ा एक सुवर्ण कमल। विश्वामित्र के साथ जनकपुरी जाते हुए भगवान रामचन्द्र, विदेहों की इस वैभव-नगरी को देख कर मुग्ध हो गये थे। सूर्यवंश के इस ऐश्वर्य विस्तार को उन्होंने गौरवभरी आँखों से निहारा था और मैं इस विशाला का बेटा हो कर भी, पहली बार इसके द्वार पर ठीक अतिथि की तरह आया हूँ।

. . एकाएक पाया कि हम रत्नों, मणि-जालों और फूल-जालियों के वितानों से गुज़र रहे हैं। अगल-बगल की पुष्पित वृक्ष-वीथियों को ही प्रियंगु-लताओं से गूँथ कर तोरणों की एक अन्तहीन सरणि चली गई है। जाने कितने ही रंगों के फूलों की गन्ध और पराग से ओस-बीनी हवा गर्भिल और ऊष्म हो गई है। और आसपास के ग्राम-जनों, कम्मकरों का भारी मेला चारों ओर मचा है। रंग-बिरंगी सज्जाओं में युवा-युवतियों के यूथ राह में धमकते-गमकते, नाना वादित्रों के साथ गान-नृत्य करते दिखाई पड़े। और सहस्रों कण्ठों से जाने कितनी जयकारें गूँज रही हैं।

. . हमारे रथ विशाला के विशाल नगर-तोरण पर आ पहुँचे। सुवर्ण की नक्काशी वाले इस तुंग मर्मर तोरण के शीर्ष पर शिखर-मंडित देवालय में अरिहंत की चतुर्मुखी भव्य प्रतिमा विराजमान है। अगल-बगल के पच्चीकारी वाले प्रकाण्ड वातायनों में नक्काड़े और जय-भेरियाँ बज रही है। उनके रेलिंगों पर से पंक्तिबद्ध बालाओं की चम्पक-गौर बाँहें फूलों की राशियाँ बरसा रही है। कारु शिल्प से मंडित तोरण के द्वार-पक्षों के विशाल आलयों में अखण्ड जोत महादीप जल रहे हैं। सुवर्ण खचित हाथी दाँत से मढ़े नगर कपाटों की पच्चीकारी इन्द्र की ईशानपुरी के प्रवेश द्वार का स्मरण कराती है। सिहपौर के दोनों ओर सुवर्ण झूलों से अलंकृत धवल हस्तियों की पंक्तियाँ शुण्ड उठा कर प्रणाम कर रही हैं। विशाला के पुराचीन इक्ष्वाकु शंखों की ध्वनियाँ दिगन्तों को हिला रही हैं।

एक परम लावण्यवती केशरवर्णी कुमारिका ने द्वार के बीच खड़े हो कर सहस्रों दीप आरती उतारी। महानायक सिंहभद्र भव्य लिच्छवि राजवेश में अनेक कुल-पुत्रों के साथ हमारे स्वागत को सामने प्रस्तुत हैं। उनके अभिवादन के साथ ही सहस्रों कण्ठों का एक महारव गूँज उठा :

ज्ञातृपुत्र वर्द्धमान कुमार जयवन्त हों . .

लिच्छविकुल-सूर्य वर्द्धमान महावीर जयवन्त हों . .

कुण्डपुराधीश्वर महाराज सिद्धार्थ जयवन्त हों . .

वैशाली गणतंत्र अमर हो : वज्जियों का गणसंघ जयवन्त हो . .

द्वार में प्रवेश करते ही लक्ष-लक्ष कण्ठों से अनवरत जयध्वनि होने लगी 'इक्ष्वाकु-नन्दन महावीर जयवन्त हो ! . . वैशाली का गण-केसरी महावीर जयवन्त हो ! ' राज-मार्ग से लगा कर, परकोटों के कँगूरे, और दोनों ओर के भव्य भवनों के चबूतरे, अलिन्द, वातायन, गवाक्ष, छत, छज्जे, पारावार नरनारियों की रंगछटा से चित्रित-से लग रहे हैं। फूल, गुलाल, अबीर, मणि-चूर्णों की चहुँ ओर से वृष्टि हो रही है। आगे-आगे विपुल वैभव के इन्द्रजाल-सी शोभा-यात्रा अनेक

वादित्रों, पताकाओं, रथ-श्रेणियों, सुसज्जित अश्वों, हाथियों के साथ चल रही है। महार्घ वेश-भूषा से शोभित कुलांगनाएँ और बालाएँ वातायनों पर से मणि-माणिक्य और फूलों की हार-मालाएँ निछावर कर रही हैं। रथ के अश्वों, कलशों और खम्बों पर फूलों के ढेर लग गये हैं। अनवरत जयकारों से आलोड़ित इस जन-प्रवाह को मैंने शोभा के एक पारावार की तरह उमड़ते देखा। और सहसा अनुभव किया, कि वह महासमुद्र मेरे भीतर मूर्तिमान होकर, एकाकी उस विशाल जन-प्रवाह की तरंगों पर चल रहा है।. . और अगले ही पल, पर्वतों-से डग भरते उस विराट् पुरुष को अपने में से निष्क्रान्त हो कर मैंने चलते हुए देखा। वैशाली की इस लक्ष-कोटि प्रजा की बाहुओं को मैंने अपनी भुजाओं में आत्मसात और उद्दण्डायमान अनुभव किया।

. . भवनों, द्वारों, शिखरों, गवाक्षों, विपुल वैभवों, सज्जाओं, सहस्रों मानव मुखों को मैंने एक पुंजीभूत प्रभा के रूप में देखा। एकाग्र और समग्र हो गया वह सौन्दर्य-दर्शन। मैंने माँ वैशाली का भव्योज्ज्वल किरीट-मंडित मुख-मण्डल आँखों आगे जाज्वल्यमान देखा।. . माँ के सीमन्त पर एक अमर सिन्दूरी ज्वाला जल रही है। मेरा माथा बरबस ही झुक गया। एक विशद चतुष्पथ से गुज़रते हुए एकाएक सारथी ने कहा :

'भन्ते कुमार, यह है देवी आम्रपाली का सप्तभूमिक प्रासाद !'

सुवर्णिम हाथियों पर खड़े अपने भव्य तोरण पर आरूढ़ सप्तभूमिक प्रासाद की रत्नच्छटा को एक झलक देखा, कि हठात् एक बड़ा सारा पद्म-गुच्छ आकर मेरे पैरों पर पड़ा। उसके बीचो-बीच स्तम्भित श्वेत ज्वाला-सा एक हीरा झगर-झगर झलमला रहा था। कमल-गुच्छ को उठा कर सन्मुख किया तो पाया कि उस सूर्याभ हीरे के दर्पण में मेरा समस्त एकबारगी ही प्रतिबिम्बित हो उठा है। और एक पदनख मेरी छाती में गड़ कर गहरा उतरता ही चला गया। एक असह्य ज़ख्म मेरी वज्रवृषभ सन्धियों में कसक उठा। एक वह्निमान तीर-सा प्रश्न सामने खड़ा उत्तर माँग रहा है।. . 'हाँ, वही उत्तर देने तो आया हूँ, माँ !'

. . नगर के केन्द्रीय चौक में हमारे रथ आ लगे। असंख्य लहरों में उमड़ते मानव-महासागर की जय-निनादों पर तैरते अपने रथ को एकाकी समक्ष देखा।. . लक्ष-लक्ष आँखों के प्यार के केन्द्र बने एक सूर्य-पुरुष को रथ में आसीन देखा। स्वयं डूब गया उन लाखों आँखों में, और उनके लक्ष्य को देख स्तब्ध रह गया। मैं नहीं रहा, वही रह गया।. .

. . और सामने दिखाई पड़ा वैशाली का विश्व-विख्यात संथागार, जिसकी कीर्ति-पताका ससागरा पृथ्वी पर फहरा रही है। मनुष्य और वस्तु-मात्र की जन्मजात स्वतंत्रता का यह मानस्तम्भ है। चिर प्रगतिमान मानव के स्वातंत्र्य-संघर्ष की यह एक मात्र परित्राता आशा है।

शत-सहस्र जनगण की भुजाओं के चक्र पर वाहित, 'त्रिभुवन-तिलक रथ' ठीक संथागार के विस्तीर्ण मर्मर-सोपान के सम्मुख आ खड़ा हुआ। सभागार के अन्तराल और अलिन्दों से अविराम जय-ध्वनियाँ गूंजने लगीं। अनेक मुकुटबद्ध कुल-राजन्यों का नेतृत्व करती, सबसे ऊपर के सोपान पर धनुष की प्रत्यंचा-सी दुर्नम्य और उत्तान एक कोमल गौरांगना खड़ी है। वह अपने दोनों हाथों में मंगलाचार का रत्न थाल उठाये है। उसकी आँखों के प्रदीप्त नीलमों में पश्चिमी समुद्र बन्दी है। उसके सुडोल अंगांगों में कापिशेय अंगूरों की लताएँ झूम रही हैं।

. . निमिष मात्र में ही मैंने गान्धार-बाला रोहिणी को पहचान लिया। स्वागत में फैली

उसकी इषत् मुस्कान को शिरोधार्य कर, मै एक ही छलाँग मे रथ से उतर कर संथागार के सोपान चढ़ गया। मेरे संकेत पर मेरे सारथी गारुड़ ने भी मेरा अनुसरण किया। गान्धारी मामी ने अक्षत-फूल बरसा कर मुझे बधाया। उनके मुख से सहज ही फूटा :

'इक्ष्वाकुओं के सूर्य-पुत्र को गान्धारी रोहिणी प्रणाम करती है। विशाला धन्य हुई, अपने आँचल की छाँव मे अपने भुवन-मोहन पुत्र को पाकर !'

'विशाला का गणपुत्र गान्धार गण-नंदिनी रोहिणी से मिलने आया है। आर्यावर्त के पश्चिमी समुद्र-तोरण की स्वातंत्र्य-लक्ष्मी को प्रणाम करता हूँ।'

कह कर ज्यों ही मै मामी के चरण-स्पर्श को झुका, कि उनकी, धनुषाकार बाँहों के कण्ठहार तले, मेरा ललाट उनके वक्षदेश पर उत्सर्गित हो रहा।

'मामी !'

'मेरे महावीर !'

सुवर्ण की एक प्रशस्त चौकी पर सामने ही फूल-पल्लवों से आच्छादित माटी का एक सुचिन्नित कुम्भ रक्खा है। उसे दोनों हाथों मे उठा कर रोहिणी ने उस पर ढँके श्रीफल को अतिथि के चरणों मे अर्पित करते हुए कहा

'वैशाली की मगल-पुष्करिणी का राज्याभिषेक स्वीकारो, देवपुत्र वर्द्धमान !'

' क्या मगल-पुष्करिणी के चिरकाल के बन्दी जल मेरे हाथों मुक्ति चाहते है, मामी ?'

कहते हुए मैने रोहिणी के हाथों थमा कलश, बरबस ही अपने हाथों मे ले लिया। एक हाथ की अजुलि मे उसका जल ले कर मै मुडा, और उसे पीछे उमड रहे जन-पारावार पर उछाल दिया। फिर पास ही अनुगत खडे अपने सारथी गारुड के मस्तक पर एक जलाजुलि ढाल दी, और एक और जलाजुलि भर कर उसके पग पखार दिये। गाधारी आह्लाद से स्तब्ध देखती रह गई। स्वागतार्थी गणराजन्यों की भृकुटियाँ तन आईं।

और पीछे सहस्र गुने उल्लास की गर्जना लक्ष-लक्ष गण-कण्ठों से बारम्बार गूँज उठी।

'लिच्छवियों का गण-सम्राट अनन्तों मे जयवन्त हो !'

मैने कलश रोहिणी के हाथों मे थमाते हुए कहा

'इन्द्रप्रस्थ के राजसूय यज्ञ मे वासुदेव कृष्ण ने द्वार पर. आगत अतिथियों का पाद-प्रक्षालन किया था। आज वैशाली मे मेरा भी राजसूय यज्ञ सम्पन्न हुआ, मामी . . ! आज मगल-पुष्करिणी के चिर बन्दी जल अपने जनगण का अभिषेक करके मुक्त हुए। चाहो तो, मामी, इस मुक्त जल-तत्व से अपने दोहिन का अभिषेक करो !'

मामी ने कई-कई अँजुलियाँ भर वे सुगन्ध-जल मेरी आचूड देह पर बरसाये। भाल पर तिलक करके, उस पर हीरक-अक्षत लगाये। सर झुका कर मैने उनकी जयमाला धारण की।

फिर आगे-आगे चलती हुई वे मुझे सभागार मे ले चली। नौ सौ निन्यानवे कुल-राजन्यों, सामन्तों, श्रेष्ठियों, नागरिकों से सभागार खचाखच भरा है। मत्स्य देश के नील-श्वेत मर्मर पाषाणों से निर्मित, बेशुमार स्वर्ण-खचित स्तम्भिकाओं से मडित, इस भव्य भवन का शिल्प-वैभव विस्मयकारी है। इसकी दीवारों पर चहुँ ओर आर्य शलाका-पुरुषों और तीर्थंकरों की जीवन-लीलाएँ चित्रित है।

मेरे प्रवेश करते ही समस्त परिषद में एक मुग्ध और अलौकिक निःशब्दता व्याप गई। सभागार के शीर्ष पर, एक विशाल मर्मर वेदी के मध्य स्फटिक की भव्य गन्धकुटी आसीन है। उसके सर्वोपरि देवालय में, माणिक्य के विशद कमलासन पर भगवान वृषभदेव का एक भव्य मनोज्ञ बिम्ब विराजमान है। वेदी पर चढ़ते ही मैंने उसके पाद-प्रान्त में साष्टांग प्रणिपात किया। उसके एक ओर के स्वर्णिम भद्रासन पर गणपति चेटकराज आसीन हुए। . . और मैंने पाया कि, मैं सहसा ही गन्धकुटी के अन्तिम सोपान पर एक जानू मोड़, दूसरा जानू खड़ा कर, शार्दूल मुद्रा में बैठ गया हूँ। और अपने लिए बिछे सुवर्ण-सिंहासन की पीठिका पर मैंने अपनी एक बाँह पसार दी है। परिषद में प्रत्याशा और विभोरता का एक अखण्ड मौन व्याप गया है।

. . औचक ही कांस्य-घंट पर रजत-दण्ड का गम्भीर आघात हुआ। सन्नीपात भेरी तीन बार बज कर चुप हो गई। परिषद का उपोद्घात करते हुए चेटकराज ने खड़े होकर कहा :

'भन्तेगण सुनें। दिव्य है आज का यह मंगल-मुहूर्त। लिच्छवि कुल के देवांशी आर्यपुत्र वर्द्धमान आज हमारे बीच उपस्थित हैं। समकालीन विश्व के आकाश उनकी कीर्ति से गुंजायमान हैं। सूर्य सम्मुख है। वह स्वयं ही अपना परिचय है। आप सबकी चाह पर वे यहाँ आये हैं। आपकी ओर से उनसे निवेदन है कि वे अपनी वाणी से वैशाली को कृतार्थ करें।'

खड़े होकर मैंने अपने को यों सम्बोधन करते सुना :

'भन्तेगण सुनें। आपके सम्मुख हूँ, माँ वैशाली के चरणों में प्रस्तुत हूँ। तो अपने होने को धन्य मानता हूँ। एक अनुग्रह का प्रार्थी हूँ। भन्तेगण, एक बार मेरे निवेदन को पूरा सुनें। फिर कोई प्रश्न उठे, तो उत्तर मुझसे आयेगा ही।

'यहाँ आने वाला मैं कौन होता हूँ। लगता है कि बुलाया गया हूँ, लाया गया हूँ। भेजा हुआ आया हूँ। आयोजन उसी महासत्ता का है। मैं यहाँ इस क्षण उसी के द्वारा नियुक्त हूँ। वही बोलेगी, मैं नहीं। वैशाली के तोरण में प्रवेश करते ही पाया है, कि अपने को रख नहीं सका हूँ केवल अपने को होते हुए देख रहा हूँ।

' . . सुना कि वैशाली संकट में है, और आवाहन है कि उसके त्राण की तलवार और ढाल बनूँ। सो तलवार और ढाल त्याग आया : स्वयं वह बन कर इस कसौटी पर अपने को परखने आया हूँ। कृतज्ञ हूँ आप सबका कि अपने को पहचानने का यह अवसर आपने मुझे दिया है।

'भन्तेगण, सुनें। यदि वैशाली आक्रान्त है तो मैं उसे बचाने नहीं आया, आक्रमण तले उसे बिछा देने आया हूँ। मैं युद्ध को प्रतियुद्ध से पराजित करने नही आया। मैं युद्ध को स्थगित करने नहीं आया, उसे अन्तिम रूप से लड़ कर समाप्त कर देने आया हूँ। मैं संधियों पर ठहरी भयभीत शांति को कायम रखने नहीं आया, उसे सदा के लिये भंग कर देने आया हूँ।

' . . क्यों है एक आक्रान्त और दूसरा आक्रामक ? क्योंकि कोई अधिकार किये है, तो कोई अधिकार किया चाहता है। क्योंकि कुछ मेरा है, कुछ तेरा है। और मेरा-तेरा जब तक है, युद्ध रहेगा ही। मैं और मेरा है, कि तू और तेरा खड़ा होता है। सो मैं और मेरा का भाव ही, सारी उपाधि का मूल है। वह स्वभाव नहीं, विभाव है, सो वह सत्य नहीं, मिथ्या है। वह अज्ञान है, असत्य है। वह कुछ वह है, जो दरअसल है ही नहीं। मात्र प्रमादजन्य भ्रान्ति है, जो मूर्च्छा से उत्पन्न होती है। वह स्वभाव से गिर कर, अभाव में जीना है। जो मेरा और वस्तु का स्वभाव नहीं,

वह उसमें रहना है। वही असली पाप है। इसी मूर्च्छा को प्रज्ञों ने परिग्रह कहा है। और परिग्रह को ही उन्होंने सबसे बड़ा पाप कहा है। परिग्रह यानी अपने को और वस्तु को चारों ओर से घेर लेना, क़ैद कर देना। वस्तु को क़ैद कर, उसे लेकर व्यक्तियों और राष्ट्रों तक के बीच जो लड़ाई है, वह क़ैदियों के बीच है। यह कारा टूट जाये, तो सारा और सब स्वतंत्र हो जाये और युद्ध सदा को समाप्त हो जाये।

'मैं वस्तु और व्यक्ति से लगा कर, व्यवस्था और राष्ट्रों तक की उस कारा को तोड़ने आया हूँ। मैंने अभी संथागार के द्वार पर मंगल-पुष्करिणी का ताला तोड़ दिया : और उसके मुक्त जल से जन-जन का अभिषेक कर दिया। तो वर्द्धमान भी विशेष नहीं रहा, वह अशेष, निःशेष हो गया। अब मुक्त वर्द्धमान, मुक्त वैशालिकों से बोल रहा है।

'. . आप कहते हैं, वैशाली पर संकट है, आक्रमण है। पर अभी जो जनगण का उल्लास मैंने देखा है, उसमें संकट मुझे कहीं नहीं दीखा। आक्रांति नहीं दीखी · दीखी तो अतिक्रान्ति दीखी : आनन्द दीखा। भीतर जो अभाव की खन्दक सबमें है, उसे अतिक्रान्त कर सबको आनन्दित होते देखा। यानी मुझे सामने पाया, तो सब विभाव के अन्धकार को लाँघ कर स्वभाव में आ गये। तो भीतर जो अँधेरा है, भय है, वह मिथ्या है, मूर्च्छाजन्य है, क्षणिक है। सत्य और संचेतन जो है, वह तो वह वैशाली है, जो मैंने अभी देखी।

'मैंने जो अभी देखा, वह वैशाली का ऐश्वर्य है, अभिशाप नहीं। अभिशाप जो हम देख रहे है, वह हमारा मात्र अज्ञान है। वर्ना तो ऐश्वर्य यहाँ अनन्त और अव्याबाध है। ऐश्वर्य ईश्वरीय है, वह पुरुषीय है ही नहीं। मैंने यहाँ जन और धन का वह मुक्त ऐश्वर्य देखा। कारा हमारे मन में, हमारे अज्ञान मे है, जिसे अपने ऊपर और वस्तु पर लाद कर, हमने अपने बीच आक्रान्त और आक्रामक का द्वंद्व उत्पन्न कर लिया है। मैं और मेरा, तू और तेरा का यह परिग्रह जब तक रहेगा, तक तब विग्रह रहेगा ही : युद्ध अनिवार्य होगा ही। मै और मेरा मिट जाये तो मुहूर्त मात्र में सारा संकट समाप्त हो जाये!

'वही तो करने को मै आया हूँ : इसी से नि:शस्त्र और निष्कवच आया हूँ। शुद्ध, स्वाभाविक, स्वतन्त्र स्वयं आया हूँ। अपने ऊपर आये हर कोश और कारा को तोड़ कर आया हूँ, ताकि वैशाली कारागार न रह जाये, वह सर्व का अपना स्वतन्त्र आत्मागार हो जाये।

'आप कहेंगे वैशाली तो स्वतन्त्र है ही, क्योंकि वह गणतन्त्र है। उसमें कोई राजा नहीं, यहाँ का जन-जन राजा है। हर व्यक्ति यहाँ स्वतन्त्र है, और अपने भाग्य का स्वयं निर्णायक है। पर यह भ्रांति है, यह आत्मवंचना है। यहाँ का हर व्यक्ति स्वतंत्र और आत्मनिर्णय का अधिकारी मुझे नहीं दीखा। ऐसा होता तो आर्यावर्त की तेजशिखा, देवी आम्रपाली को गणिका के गवाक्ष पर बैठने को विवश न होना पड़ता। हमने उनके आत्म-निर्णय के अधिकार का अपहरण करके, उन्हें अपने काम का क़ैदी बनाया है। आपकी 'प्रवेणी पुस्तक' चाहे कितनी ही प्राचीन क्यों न हो : उसमें निर्धारित सारे कानून वासना को अपने हक़ में व्यवस्था देने के लिए रचे गये हैं। बाहरी व्यवस्था मात्र, काम और परिग्रह का सरंजाम और इन्तजाम है। परम्परा केवल एकमेव सत्य की ही अक्षुण्ण और शिरोधार्य हो सकती है। अन्य सब परम्पराएँ पर्याय की हैं, और द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव के नित-नूतन परिणमन के अनुसार उन्हें पलट जाना होता है। इसी से कहता हूँ, 'प्रवेणी पुस्तक' के

कानून, नूतन विश्व-परिणमन के साथ अपने आप ही टूट गये। ख़त्म हो गये। उन्हें पाले रख कर, हम परतंत्र ही कहे जा सकते हैं, स्वतन्त्र नहीं।

'उस कानून के कारागार को सर चढ़ा कर, हमने देवी आम्रपाली और अपने गणतंत्र का सत्कार नहीं किया, उन पर बलात्कार किया है। सर्वसुन्दरी और सर्वप्रिया हैं वे, तो अधिकार और क्रय-विक्रय की वस्तु वे कैसे हो सकती हैं। निश्चय ही त्रिभुवन-मोहिनी हैं अम्बपाली। पर त्रिभुवन-मोहिनी वे गणिका होने के लिए नहीं, समस्त मानव-कुल की माँ-वल्लभा होने के लिए हैं। ताकि मनुष्य की जन्मान्तर-व्यापिनी सौन्दर्य-वासना को वे अपनी मातृ-ममता से दुलरा कर, उसे अपनी ही स्वाधीन आत्म-लक्ष्मी के सौन्दर्य का दर्शन करा सकें।

'अज्ञात कुलशील हैं अम्बपाली, तो इसलिए नहीं कि तथाकथित अभिजात कुलीन लोगों की भोग-सम्पत्ति होकर रहें। भगवती माँ अज्ञात कुलशील ही होती हैं, ताकि वे कुलशील की क्षुद्र मर्यादा से अतीत हों। मोहाविष्ट मानव रक्त से परे वे कुलातीत हों, अकुला हों, अनाकुला हों। जगदम्बा मानवनिर्मित सारी छद्म नीति-मर्यादा को तोड़ कर ही मानव देह मे प्रकट होती हैं, ताकि द्रव्य के स्वतन्त्र परिणमन का वे प्रतिनिधित्व कर सकें। वे अवैध जन्मा भी हैं, तो इसलिए कि वैधता के छद्म शील में छुपे कुलशील के विधि-विहित व्यभिचार का वे पर्दाफाश कर सकें। सर्व को नग्न और निःसर्ग कर देने के लिए ही, वे महाकाली सदा नग्न विचरती हैं। और मिथ्याओं के सर्वसंहार के लिए वे सिंहवाहिनी होकर प्रकट होती हैं।

'भन्तेगण, कान खोल कर सुनें। पिप्पली-कानन में विराजमान इक्ष्वाकुओं की कुलदेवी अम्बा ही आम्रपाली के रूप में अवतीर्ण हुई हैं। आम्र-शाखा से औचक ही अम्बा बन कर चू पड़ी वे आकाश-पुत्री हैं। उस आकाशिनी माँ के उन्मुक्त आँचल पर हिरण्यों की होड़ें लगा कर, हमने मातृघात और आत्मघात का अक्षम्य अपराध किया है। सर्व की माँ है अम्बा, इसी से तो वैशाली को आपस में कट-मरने से बचाने के लिए, और वैशालकों के पशु को पाशव-पाश से मुक्त करने के लिए, उसने अपने अस्तित्व तक की बलि चढ़ा दी है।

'. . जीर्ण-जर्जर जगत के पुनरुत्थान के विधाता बन कर जो आये, वे सदा पालतू वैधता की पुरातन मर्यादाओं को तोड़ते हुए ही जन्मे हैं। उनके अवतरण के साथ ही, मिथ्या हो गई मर्यादाएँ टूटी हैं, और नयी मर्यादाएँ स्वतः स्थापित हुई हैं। परापूर्व काल में मत्स्य-गन्धा के अवैध गर्भ से जन्मे थे भगवान वेद व्यास। कुलाभिमान को तोड़कर अकुलजात ब्रह्म-पुरुष का तेज पृथ्वी पर प्रकट करने को वे आये थे! शान्तनु के काम-प्रमत्त क्षात्रत्व का तेजोवध करके, इसी महाब्राह्मण ने अपने अजितवीर्य की यज्ञाहुति देकर, विकृत हो गये क्षात्रत्व को शुद्ध करने के लिए, अपने लिंगातीत ब्रह्मचर्य की बलि चढ़ाना भी स्वीकार किया था। पर भारतों ने उस ब्रह्मतेज को भी व्यर्थ करके ही चैन लिया। . .

'. . इस तरह, इतिहास के आरपार, चारों ओर स्वभाव की ग्लानि देख रहा हूँ। स्वभावगत सोहंकार वैभाविक अहंकार हो गया है। उस विकृति में से लोभ का असुर जन्मा है। मैं और मेरा, तू और तेरा की अराजकता उससे निपजी है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपना स्वभावगत कर्म त्याग कर, पथ-भ्रष्ट हुए हैं। उसका परिणाम है आपाधापी का यह अन्तहीन दुश्चक्र। वस्तु अपने आप में शुद्ध और स्वाभाविक है, पर अपने अहं, लोभ और अधिकार-वासना से हमने उसे

भी विकृत और अराजक बनाया है। सो सम्वाद और मित्रता का स्थान विसम्वाद और शत्रुता ने ले लिया है। हमारे अपने ही अहं के सिवाय, बाहर हमारा कोई शत्रु नहीं है। पथ भ्रष्ट ब्राह्मणत्व को सत्तासीन और बलवान क्षत्रिय ने धर दबोचा है। त्राता क्षात्रत्व, बलात्कारी अपहर्ता हो गया है। कुलाभिमान से प्रमत्त होकर क्षत्रिय ब्राह्मणत्व को पैरों से रौंद रहा है। हम मानो अपनी ही भुजाओं से अपने मस्तक का भजन कर रहे हैं। शीर्ष पर सदा वही होगा, जो ब्रह्म को जाने। जो स्वभाव से ही ब्राह्मण हो, और स्वधर्म में ही चर्या करे। ब्राह्मणत्व का यह भंजन मुझे असह्य है। ब्रह्मयोगी का आसन उच्छेद करके लोक में धर्मराज्य का संतुलन कायम नहीं रह सकता। मैं पददलित ब्राह्मणत्व को फिर से लोक की मूर्धा पर स्थापित करूँगा। मुझे उस महाब्राह्मण की प्रतीक्षा है, जो ब्रह्मज्ञानी के उस आसन पर आसीन हो सके। धर्मराज्य योगी ही स्थापित कर सकता है, भोगी नहीं। वह, जिसका भोग भी योग हो जाये, और योग भी भोग हो जाये। वैशाली की यह भूमि ऐसे ही एक राजयोगीश्वर की लीला-भूमि रही है। जनक विदेह के वंशधर होने के कारण ही हम विदेह कहलाते है, और हमारी यह भूमि तक विदेह देश कही जाती है। एक बात मैं कहे देता हूँ। राजसत्ता के सिहासन पर एक दिन योगी को आना होगा। योगी को राजा होना पड़ेगा। उसके बिना पृथ्वी पर धर्मराज्य की स्थापना त्रिकाल सम्भव नहीं।. .

'शासन की मूर्धा पर जब तक योगी न हो, तब तक तुम्हारे ये सारे राज्य, वाणिज्य, व्यवस्था, प्रतिष्ठान गैरक़ानूनी है, अवैध है। वैध और क़ानूनी केवल वही व्यवस्था हो सकती है, जो सत्ता के स्वभाव पर आधारित हो। वर्तमान के सारे ही राज्य वाणिज्य वस्तु-स्वभाव के व्यभिचार की उपज है। इसी से ये सब ग़ैरक़ानूनी हैं। तुम्हारी यह 'प्रवेणी पुस्तक', तुम्हारे ये सारे क़ानून, न्यायालय, सैन्य, कोट्टपालिका, नगर-पालिका, सिक्का, शांति, सन्धि-विग्रह, सब अवैध और ग़ैरकानूनी है। क्योंकि ये स्वधर्म पर नही, पारस्परिक स्वार्थों की प्रतिस्पर्धाओं और समझौतों पर आधारित है। ये सारी राज्य-सीमाएँ, संधियाँ, संरक्षण, स्वतंत्रताएँ अवैध और ग़ैर क़ानूनी हैं। क्योंकि ये असत्य, अधर्म, हिंसा ओर होड़ों पर टिकी है।. .

'बलशाली स्थापित स्वार्थ ने ही सिक्के का आविष्कार किया है। अधर्म का सुदृढ़ दुर्ग है यह सिक्का। सिक्का है कि संचय, स्वार्थ-पोषण, शोषण, और स्वामित्व की सुविधा सम्भव और निर्बाध हो गई है। स्वभावगत, सम्वादी, सुखी और शान्तिपूर्ण जीवन-जगत के अभ्युदय के लिए यह अनिवार्य है कि सिक्का और उस पर टिके राज्य और वाणिज्य समाप्त हो जायें। सिक्के ने जीवित मनुष्य और मनुष्य के बीच के, जीवित वस्तु और मनुष्य के बीच के, सम्बन्धों को जड़ीभूत कर दिया है। सिक्के ने सत्ता का स्वत्व छीन लिया है, सत्व छीन लिया है। जब तक सिक्का है, व्यक्ति और वस्तु की मूलगत स्वतंत्रता का धर्मराज्य स्थापित नहीं हो सकता। सिक्के ने मनुष्य और जगत की सारी सुन्दरताओं और भावनाओं को व्यवसाय बना दिया है। सिक्के पर टिके वाणिज्य ने आत्मा की सती सुन्दरी को वेश्या बना कर छोड़ दिया है।. .

'यह सिक्के का ही प्रताप है कि वैशाली मे भगवती आम्रपाली को गणिका के कोठे पर बैठा दिया गया है। उसे प्राप्त करने का मूल्य हिरण्य है, प्यार नहीं, आत्माहुति नहीं। हमने माँ को यज्ञ की वेदी पर से उतार कर, भोगदासी बना दिया है। भन्तेगण, सावधान, आम्रपाली वैशाली के भाग्य की निर्णायक है। जब तक वह माँ हमारी वासना की जंज़ीरों मे बँधी है वैशाली का विनाश

अनिवार्य है। केवल भगवती आम्रपाली में यह सामर्थ्य है कि वह वैशाली को सत्यानाश की लपटों से बचा सकती है। मैं यहाँ केवल माँ के उस धर्म-शासन का सन्देश सुनाने को उपस्थित हुआ हूँ।

'कामिनी और कांचन जब तक भोग की भूमि से उठ कर योग की भूमि पर उत्तीर्ण नहीं हो जाते, तब तक आक्रामक श्रेणिक, अजातशत्रु और पार्शव के शासानुशासों की परम्परा का अन्त नहीं हो सकता। जब तक सर्वस्वहारी श्रेष्ठि हैं, और उनके वाणिज्य का संवाहक सिक्का है, तब तक श्रेणिविग्रह और आक्रमणकारी श्रेणिक सुरसा की चोटी होते ही चले जायेंगे।

'. . इसी से मैं स्वार्थ-न्यस्त राज्य, वाणिज्य, सिक्का और उसके व्यवस्थापक तमाम कानूनों को तोड़ने आया हूँ। मैं इस झूठे कानून पर आधारित सारी सरहदों और मर्यादाओं का भंजन करने आया हूँ। . .

'वैशाली के शत्रु मगध और बिम्बिसार नहीं, महामात्य दर्षकार नहीं, वैशालकों का अहंकार-ममकार है। हम धर्म से विच्युत हो गये हैं, इसी से हमारे चारों ओर शत्रु हैं। इक्ष्ववाकु लिच्छवियों की यह मर्यादा लोक-विख्यात है कि वे काष्ठ के उपधान पर सर रख कर सोते हैं। उनके सिरहाने तलवार है, और वे सदा जागृत हैं। आज काष्ठ के उपधान की तो बात दूर, फूलों के तकियों पर और सुन्दरी की बाहु पर भी लिच्छवि को चैन नहीं। उसकी वासना, लिप्सा और आरति का अन्त नहीं। साँझ होते न होते, वैशाली गण का समस्त तारुण्य मदिरा की मूर्च्छा में डूबा, आम्रपाली के सप्तभूम प्रासाद के आंगने में, उसके एक कटाक्ष का भिखारी होता है। क्या यही है वैशाली का स्वातंत्र्य-गौरव ? क्या इसी कापुरुषता की रक्षा के लिए आप चाहते हैं, कि वर्द्धमान तलवार उठाये, वह आपकी ढाल बने ?

'आपकी इस झूठी आत्मरक्षा के लिए नहीं, पर आपकी आत्मा की रक्षा के लिए, बेशक मैं स्वयं तलवार और ढाल बनूँगा। फ़ौलाद की तलवार नहीं, चैतन्य का खरधार खड्ग लेकर मैं स्वयं अपने और वैशाली के विरुद्ध उठूँगा। अपने ऊपर और वैशाली पर बिजलियाँ बन कर टूटूँगा। मैं बिंबिसार श्रेणिक को आगे रख कर, वैशाली का प्राचीन और जीर्ण परकोट तोड़ूंगा। मैं सरे राह उसे ले जाकर देवी आम्रपाली की गोद में डाल दूंगा, कि वे उसकी जन्म-जन्मों की प्यासी आत्मा को शरण दें। दमित वासना के जन्मान्तर व्यापी नागपाशों से उसे मुक्त करें। मागध अजातशत्रु के सैन्य-बल और वर्षकार के कौटिल्य को जीतने के लिए, मुझे शस्त्र और सैन्य की ज़रूरत नहीं। ये सारे विपथगामी और शत्रु, प्यार के प्यासे हैं। और अकिंचन वर्द्धमान के पास यदि कोई सत्ता है, तो केवल प्यार की। उसके प्यार में पराजय और जय वे एक साथ पायेंगे। और फिर भी यदि वे आक्रामक और घातक रह जायेंगे, तो केवल अपने : तब आत्मघात के सिवाय और कोई विकल्प उनके लिये नहीं रह जायेगा। . .

'मैं वैशाली को उस अनिवार्य सत्यानाश और आत्मपात से बचाना चाहता हूँ। क्योंकि मैं उसे सर्वकालीन मानव-आत्मा, और सत्ता मात्र की स्वतंत्रता का प्रतीक मानता हूँ। मैं उसे पृथ्वी पर जिनेश्वरों के सर्वशरणदायी धर्म-साम्राज्य का सिंहासन मानता हूँ। . .

'. . तो भंतेगण सुनें, उसके लिए अनिवार्य है कि वैशाली के परकोट निःसैन्य हो जायें, वैशाली के शूरमा निःशस्त्र हो जायें। वैशाली के धनकुबेरों के कोशागारों, पण्यों, अन्तरायणों और सिंह-तोरणों के सारे कपाट और ताले सदा को टूट जाय। माँ के सतीत्व को झूठी सुरक्षा की

जंजीरों से मुक्त कर दिया जाये। उसके आँचल के धन-धान्य, सुवर्ण-रत्न, तमाम जीवन साधन, परिग्रह, अधिकार और कानून के शिकंजों से मुक्त होकर, उसके दूध की तरह मुक्त उमड़ कर, जन-जन को सुलभ हो जायें। दुर्गों, कपाटों, तलवारों, तालों, जंज़ीरों, सैन्यों और कानूनों से हम चिर बन्दिनी सत्ता-माँ को सदा के लिए मुक्त कर दें। फिर आप देखेंगे कि वैशाली को जीत सके और उसे पद-दलित कर सके, ऐसी ताक़त पृथ्वी पर पैदा नहीं हुई है। . .

'वैशाली के तमाम हमलावरों के विरुद्ध मेरी यही एकमात्र युद्ध-योजना है। आपको यदि यह स्वीकार्य हो, तो इसका सेनापतित्व ज्ञातृपुत्र वर्द्धमान महावीर को सहर्ष शिरोधार्य होगा। . .

'आप सबने अभंग शांति में मुझे सुना, मैं कृतज्ञ हूँ आपका। आपका कोई प्रति-प्रश्न हो, तो समाधान को मैं प्रस्तुत हूँ। . . '

. . और चुप होते ही, अपार्थिव निस्तब्धता में मैंने अपने को एक जाज्वल्यमान शलाका की तरह निश्चल खड़े देखा। . .

महानायक सिंहभद्र ने गण-प्रमुख की ओर से घोषणा की :

'भन्तेगण सुनें, आपके गणपुत्र वर्द्धमान ने अपनी युद्ध-योजना आपके समक्ष प्रस्तुत की है। उसे स्वीकारने या नकारने को आप स्वतंत्र हैं। छन्द-शलाका में वर्द्धमान का विश्वास नहीं। वे किसी भी स्वतन्त्र आवाज़ का स्वागत करेंगे।'

सात हज़ार सात सौ सितहत्तर गण-श्रोता कुछ इतने निःशब्द दीखे, कि प्रश्न उनके भीतर जैसे खोया, ख़ामोश और पराजित दीखा। तब हठात् जैसे सबकी उलझन को व्यक्त करती एक बुलन्द आवाज़ दूर श्रोता-मण्डल में से सुनाई पड़ी :

'आयुष्यमान वर्द्धमान, सुनें। आप हमें वह करने को कहते हैं, जो इतिहास में कभी हुआ नहीं, होगा नहीं। न भूतो न भविष्यति।'

'बेशक, वही करने को कहता हूँ, सौम्य। मैं इतिहास को दोहराने नहीं आया, उसके चिरकालीन आत्मघाती दुश्चक्र को तोड़ कर, उसे मनुष्य और वस्तु मात्र के हित में उलट देने आया हूँ।'

'असम्भव को सम्भव बनाने की यह टेक जोखिम भरी है, आर्य वर्द्धमान ! जो आज तक न हुआ, वह कभी हो नहीं सकता। उसका प्रयोग वैशाली पर करना, अपने ही हाथों अपने घर में आग लगा देना है।'

'यह सता का स्वभाव नहीं कि जो अब तक न हुआ, वह आगे भी न होगा। ऐसा मानना सत्ता के सत्तत्व और अनन्तत्व से इनकार करना है। सत्ता के सत्य को यहाँ स्थापित करने के लिए, यह जोखिम उठा लेनी होगी। अपने ही घर में आग लगा कर, उस आग के साथ अन्तिम रूप से जूझ लेना चाहता हूँ। उसमें अपने और वैशाली के आत्मतेज को परखना चाहता हूँ। खरे हम उतरेंगे, तो इतिहास में अपूर्व और अप्रतिम विजय का वरण करेंगे। उस आँच में तपे बिना, वैशाली अजेय नहीं हो सकती। उस अग्नि स्नान से अमर होकर न निकल सकूँ, तो अपना और वैशाली का भस्म हो जाना ही श्रेयस्कर मानता हूँ। नित्य के आत्मघात के बजाय, एक बार सत्य के हुताशन की आहुति हो जाना ही मुझे अपने और वैशाली के लिए अधिक योग्य लगता है।'

. . और सहसा ही ज्वालामुखी के विस्फोट-सी एक आवाज उठी :

'भन्तेगण सावधान, गणनाथ सुनें, मैं ज्ञातृपुत्र वर्द्धमान को वैशाली के लिए ख़तरनाक़ मानता हूँ ! वे यदि वैशाली में रहेंगे, तो वैशाली का सर्वनाश निश्चित है।'

'भन्तेगण सुनें, वर्द्धमान की आत्मा वैशाली की सीमाओं से कभी की निष्क्रान्त हो चुकी। आप निश्चिन्त रहें, अब देर नहीं, कि उसका शरीर भी वैशाली के सीमान्तों से सदा को अभिनिष्क्रमण कर जायेगा। पर सावधान भन्तेगण, एक बात कहे जाता हूँ, कि वैशाली से निर्वासित होकर, उसका यह गणपुत्र और राजपुत्र उसके लिए और भी अधिक ख़तरनाक़ हो सकता है। . . पर आप चाहें भी, तो अब उसे अपनी सीमाओं में बाँध कर नहीं रख सकते। जानें, कि इस क्षण के बाद वर्द्धमान किसी का नहीं, अपना तक नहीं ! वह अपने ही से निष्क्रान्त है। . .

'. . और भन्तेगण सुनें, जाने से पहले मैं वैशाली की राज-लक्ष्मी को त्रैलोक्येश्वर जिनेन्द्र के चरणों में अर्पित किये जा रहा हूँ। उन परम सत्ताधीश के हाथों में वैशाली का भाग्य सौंपे जा रहा हूँ। उनकी इच्छा होगी तो एक दिन वैशाली का यह गणपुत्र ऐसे धर्म-साम्राज्य की नींव डालेगा, जो आज तक इतिहास में न भूतो न भविष्यति रहा है। माँ वैशाली अनन्तों में जयवन्त हो . . !'

और मेरे अनुसरण में सहस्रों कण्ठों से गूँजा :

'माँ वैशाली अनन्तों में जयवन्त हो, लिच्छवि-कुलसूर्य महावीर अनन्तों में जयवन्त हों . . !'

. . और मैंने पीछे लौट कर भगवान वृषभनाथ के चरणों में साष्टांग प्रणिपात किया। अपने मुकुट, कुण्डल, केयूर, रत्नहार उतार कर, त्रैलोक्येश्वर प्रभु के चरणों में अर्पित कर दिये। और चहुँ ओर घूम कर जनगण को हाथ जोड़, सिर नवा कर बारम्बार प्रणाम किया। . और तत्काल रोहिणी मामी के कन्धे पर हाथ रख कर, मैं संथागार के अनेक सरणिबद्ध स्तम्भों और द्वारों को पार करता चला गया। . .

. . संथागार से बाहर आकर उसके सर्वोपरि सोपान पर खड़े होकर जो जनगण का प्रेम-पारावार उमड़ता देख, जो जयकारों का हिल्लोलन सुना, उसमें डूब जाने के सिवाय और कुछ शक्य ही नहीं था। . . हमारा रथ कब और कैसे उस महाप्रवाह में तैरता हुआ, महानायक सिंहभद्र के महालय पर पहुँच सका, सो पता ही न चल सका।

जीवन-रथ की वल्गा

. . गई रात सोना नहीं हो सका है। ऐसा जागा हूँ, कि सोना इस जीवन में अब शायद ही सम्भव हो।

परिषद से लौट कर कल पूर्वाह्न में रोहिणी मामी ने सूचना दी थी कि महाराज सिद्धार्थ चेटकराज के महालय में ठहरे हैं। सिंह मामा भी सीधे उधर ही चले गये थे और अब तक नहीं

लौटे है। पता चला है कि गण-शासन-समिति की बैठके कल सारा दिन और अबेर रात तक चलती रही हैं। वैशाली मे भूकम्प आया है, और संथागार की बुनियादें डोल रही हैं।

परिषद के उपरान्त शब्द मुझमें शेष नहीं रहा था। मामी ने मुझे समझा और वे चुपचाप मुझे निहारती मेरी परिचर्या करती रही। पूर्वाह्न भोजन पर विविध व्यंजनों का जो विशाल थाल सामने आया, उसे देख कर ही एक अनोखी तृप्ति का अनुभव हुआ। कपिशा के कुछ द्राक्ष और एक कटोरी क्षीरान्न का प्राशन कर मैने हाथ खींच लिया। मामी अचरज और अनुरोध से कातर हो आईं। उनके ताम्रगौर चेहरे पर एक जलिमा-सी छा गई। पर मेरी सस्मित ऑखों को देख, उनका बोल न खुल पाया। कण्ठावरुद्ध और प्रश्नायित वे मुझे मूर्तिवत् ताकती रह गईं।

. . विश्राम के समय वे मेरे शयनागार मे पीछे-पीछे चली आईं। मेरे शैया मे लेटने पर, समीप ही बैठ गई। मेरी ऑखे सहज ही मुँद गईं। प्रत्यचा के कषाघात से सुकठिन हो आई एक कोमल हथेली मेरे ललाट पर क्षणैक टिकी रही, और जाने कब मेरी तहों मे लीन हो गयी। जैसे बाहर कोई हथेली अब शेष नही रही थी। . .

अब सबेरे तैयार होकर बाहर आया हूँ तो तन फूल-सा हलका है, और मन शरद के इस निरभ्र आकाश की तरह ही निर्मल है। सारा अन्तर-बाह्य मानो एक गहन नीलिमा मे तैर रहा है।

रोहिणी मामी मुस्कुराते मुकुल-सी आईं, और मुझे अपने कक्ष मे लिवा ले गईं :

'मान, बहुत कुछ सुना था तुम्हारे विषय मे। पर जो देखा, तो मेरी सारी कल्पनाऍं छोटी पड गईं। लगा कि तुम्ही को तो जाने कब से खोज रही थी। मेरी सारी धनुर्विद्या को तुमने व्यर्थ कर दिया।. जी चाहता है, तुमसे हारती ही चली जाऊॅं।'

'तो अन्तिम जीत तुम्हारी रही, मामी। अन्तिम हार का सुख नही दोगी मुझे? . .'

मामी की ऑखे झुक गईं। वे चुपचाप मेरे बहुत पास आकर बैठ गईं, और मेरे बालों के छल्लों को उँगलियों से दुलराती रही। और अधिक बोल उन्हे नहीं भाया।

सहसा ही मामा सिंहभद्र आये। मैने उठ कर विनय किया, वे मुझे भुजाओं मे भर मेरी पीठ सहलाते रहे। फिर बैठते हुए बोले

'आयुष्मान्, तुमने समस्त जम्बू द्वीप को ज्वालामुखी पर खड़ा कर दिया है।'

'ज्वालामुखी पर तो हम सब बैठे ही है, मामा! मैने केवल उसे नग्न कर दिया है। ताकि हमे अपनी असली स्थिति का भान हो जाये।'

'वर्द्धन, गण-राजन्यों की भृकुटियॉं तन गई है, वे आपे में नही है। पर वैशाली का जनगण तो पागल होकर जैसे विजयोन्माद मे झूम रहा है। युद्ध और संकट का मानो उसे भान ही नही रह गया है।'

'तो वैशाली मे मेरा जन्म लेना सार्थक हुआ। यदि भीतर का बैरी बिसर जाये, तो बाहर तो हर कदम पर जीत जयमाला लिये खड़ी है। प्रसन्न हूं कि मेरे कल्याण-राज्य की नीव लोक-हृदय मे पड़ गई।'

'लेकिन आयुष्यमान् . .'

'लेकिन का तो अन्त नहीं, महानायक! वह सुन कर क्या करूँगा। विकल्प नहीं, विस्मरण चाहिए। भीतर का स्वधर्म सीधा कर्म होकर सामने आये। धर्म और कर्म के बीच विकल्प

की खन्दकें तो अनादिकाल से पड़ी हैं, और उनमें इतिहास उलझता चला गया है। शुद्ध और निर्विकल्प चेतना, जो सहज ही क्रिया होती चली जाये, बस केवल वह चाहिए।'

'पर तुम्हारे इस निगूढ़ अध्यात्म को कितने लोग समझेंगे, वर्द्धमान ?'

'वैशाली के सारे जनगण ने बिन समझे ही तो बूझ ली मेरी बात। तुम्हीं ने तो अभी साक्षी दी है, मामा। विकल्प उनके मन में है, जो शासन की मूर्धा पर हैं। क्योंकि उन्हें अपने अहं से छुट्टी नहीं है। और मैं कोई निगूढ़ अध्यात्म नहीं बोलता, निरा हृदय बोलता हूँ, शुद्ध जीवन बोलता हूँ। प्यार को परिभाषाएँ देकर हम उसे जटिल और कुंठित करते हैं। अध्यात्म के प्रवचन कर, हम आत्मा को उसके बहते प्यार से वंचित कर देते हैं।'

'तुम कुछ दिन यहाँ रहो वर्द्धन, हमें तुम्हारी ज़रूरत है।'

'वह ज़रूरत, मामा, मेरे दूर चले जाने से ही अचूक पूरी होगी। यहाँ रहूँगा तो तुम्हारे नौ सौ निन्यानवे गण-राजा सदा मेरे और जनगण के बीच दीवार बन कर खड़े रहेंगे।'

'. . तो विस्फोट होगा, मान, और युद्ध टल नहीं सकेगा।'

'विस्फोट अनिवार्य है, मामा, ताकि नया विधान निर्विकल्प आ सके। और कहा न मैंने, कि मैं युद्ध को टालने नहीं आया, उसे अन्त तक लड़ कर समाप्त कर देने आया हूँ !'

'तो गंगा-शोण के सीमान्त को सम्हाल कर, हमें निश्चिन्त करो, आयुष्यमान् !'

'मेरा सीमान्त मेरे भीतर है, महासेनापति। तुम्हारे सैन्य-शिविर मेरा मोर्चा नहीं हो सकते। और मैं बचाव की लड़ाई नही लड़ता। मैं आक्रामक का इन्तज़ार नहीं करूँगा। मैं स्वयं सीधे मगधेश्वर बिंबिसार पर आक्रमण कर दूंगा। कहूँगा कि सम्राट, हमारे बीच सेनाएँ नहीं हो सकती। शूरमा सीधे लड़ कर, स्वयं ही निपटारा कर ले। शस्त्र तक क्यों हो हमारे बीच में, केवल ललाट का सूर्य लड़े। और जानता हूँ, मागध मेरी चुनौती को मुकर नहीं सकेगा। . . '

उल्लास मे झूम कर बीच में बोल पड़ीं रोहिणी मामी :

'मेरे दोहित्रलाल, तुम्हारे उस सूरज-युद्ध की साक्षी होना चाहती है, तुम्हारी रोहिणी मामी। क्या उसे साथ ले चल सकोगे ?'

'अपने धनुष-बाण लेकर चलोगी, मामी ?'

'वह तो तुमने छीन लिये, देवता ! केवल आँचल ही तो अब बचा है मेरे पास। मेरे इस अन्तिम अस्त्र से मुझे वंचित न करना और हो सके तो मुझे साथ रखना !'

'आर्यावर्त की रणचण्डी रोहिणी का ठीक समय पर आवाहन करूँगा !'

. कि तभी चेटकराज का सन्देशा लेकर एक चर आया। सान्ध्य-भोजन पर उनके महालय में आमंत्रित हूँ। स्वजन-परिवार मुझसे मिलने को उत्सुक हैं। मैंने अनुचर से पूछा :

'देवी चन्दनबाला क्या यहीं पर हैं ?'

'वे कब कहाँ होती है, प्रभु, कौन जाने। वह राजमाता और महाराज तक को पता नहीं रहता।'

'अच्छा भन्ते प्रतिहारी, ठीक समय पर पहुँचूँगा। महाराज से कह देना।'

प्रणाम निवेदन करके प्रतिहारी चला गया। भौचक्की-सी देखती रोहिणी बोली :

'. . भन्ते प्रतिहारी ! . . तुम्हारे लिए तो, लगता है, सभी भन्ते हो गये हैं,

वर्द्धमान् !'

'अभन्ते कहीं कोई दीखता ही नहीं, क्या करूँ !'

'दास-दासी तो गान्धार में, हमने भी मनुष्य की सन्तानों को नही रहने दिया है। पर जन-जन और कण-कण में तुम्हारा देव बसा है, यह नया देखा और सीखा, आयुष्यमान् !'

'परस्पर एक-दूसरे को हम देव हो जायें, तो सोचो मामी, सारी समस्याओं का समाधान आपो-आप हो जाये . . !'

'तुम्हे पाकर मै आप्यायित हुई, देवांशी वर्द्धमान !'

. . और सहसा ही मै उठ खड़ा हुआ। सिह मामा बोले

'वैशाली के राजमार्गों पर निकल सकोगे, आयुष्यमान् ? दर्शनाकुल जनगण के उल्लास का ज्वार उपद्रव तक खड़ा कर सकता है।'

'मुकुट-कुडल तो मै समर्पित कर आया, मामा। बिथुरे बालों, और उड़ते उत्तरीय से स्वय अपना रथ हाँकते, मुझ अकिचन को वैभव-नगरी वैशाली मे कोन पहचानेगा ? और फिर प्रवाहों पर छलाग मार कर, गायब हो जाना मुझे आता है, मामा !'

. . कक्ष-देहरी पर खड़ी रोहिणी देखती रह गई। छूटे हुए तीर को पकड़ कर नहीं लौटाया जा सकता, यह वीरांगना रोहिणी से अधिक कौन जान सकता है। पार्शव के शूरमाओं को अपने तीरों पर तौलने वाली यह लड़की भीतर इतनी तरल भी हो सकती है कल्पना मे नहीं आ सकता था।

• • •

रत्नगर्भा वसुन्धरा का हर सम्भव वैभव चेटकराज के महालय मे देखा। पर उस सबके बीच आकाश की तरह सहज व्याप्त, फिर भी निर्लिप्त उस राजपुरुष को देख मेरी आँखे श्रद्धा से भीनी हो आईं। मातामही सुभद्रा उनकी यथार्थ अर्द्धागिनी दीखी। मुझे सामने पाकर गोदी मे भरने तक को वे ललक आईं 'जुग-जुग जियो मेरे लाल, चिरकाल यह धरती तुम्हारा यशोगान करे !' कहती-कहती वे रो आईं। उनकी गोद मे क्षणैक रक्तस्नेह की अगाधता का तीव्र अनुभव पाया।

फिर धन, दत्तभद्र, उपेन्द्र, सुदत्त, सुकुभोज, अकंपन, सुपतंग, प्रभंजन और प्रभास मामाओं ने मुझे घेरकर जाने कितना प्रश्न-कौतूहल किया। पकड़ कर बैठ गये मुझे, कि नही, अब कहीं नही जाने देंगे मुझे। प्यार की बादाम-गिरियाँ लेकर, मोह के छिलके उतार फेकने की कला अवगत हो गई है, इसी से रम कर भी चाहे जब विरम जाना मेरे लिए सहज हो गया है। एक शून्य है भीतर, जिसमे सबको अवकाश है, तो स्वजनों को भी है ही। सो निर्बाध इन सब मे खेला, और निकलता चला गया।

पिता एक ऐसी आनन्द वेदना मे खोये और स्तब्ध थे, कि बस, मेरा मुँह जोहते रहे बोले कुछ नही। चेटकराज ने इतना ही कहा 'तुमने तो हम सब को निर्वस्त्र और नि शस्त्र कर दिया है, बेटा। प्रश्न नि शेष हो गया है हम निरुत्तर है। पर तुम तो क्षितिज से बोल रहे हो, आकाश हो कि धरती हो, समझ मे नही आता। हमारी बुनियादे चूर-चूर हो गई है। और तुम हो, कि कही से

पकड़ाई में नहीं आते। जनगण तो वस्तु-स्थिति भूल कर तुम्हारी मोहिनी से पागल हो गया है। पर दायित्व जिनके कन्धों पर है, वे तुम्हारे ध्रुव से टकरा कर बेधरती हो गये हैं। क्या करना होगा, समझ में नहीं आता। मेरी तो बुद्धि गुम हो गई है।'

'करना कुछ नहीं होगा, तात, अब आपको सिर्फ देखते रहना है। तब जो करने को है, वह मुझ से आपोआप होगा ही। चीज़ों को अपने पर ही छोड़ दीजिए, और उन्हें होने दीजिए। क्या आप सबके किये अब तक कुछ हुआ है, आपका मनचाहा ? . . फिर चिन्ता किस बात की ? मुझ पर आपको श्रद्धा हो, तो देखते रहिए यह खेल। मैं तो बुनियादों में खेलता हूँ, मैदानों में नहीं। जीर्ण बुनियादें यदि टूट गई हैं, तो जानिए कि मेरा पहला मोर्चा सफल हुआ; आगे के खेल में मैं न भी दीखूँ, तो नयी बुनियादें पड़ते और भवन उठते तो आप देख ही लेंगे। और क्षितिज यदि हूँ आपकी निगाह में, तो ओझल नहीं हो सकता। कभी उस पर सूर्योदय हो ही सकता है। इतना ही जानें, कि क्षितिज को पकड़ और बाँध कर नही रक्खा जा सकता। क्योंकि वह अनन्त है।...'

. . चलते हुए बापू ने बताया कि यहाँ कुछ परिषदों के लिए वे ठहरेंगे, मैं चाहूँ तो जा सकता हूँ। फिर आकर मातामही के चरण छुए और विदा चाही : कि आज ही रात के शेष प्रहर में प्रस्थान कर जाऊँगा। उनके आँसू अविराम बह रहे थे, और वे मुझ में विराम खोजती-सी बोलीं :

'. . कितना समझाया, पर चंदन नहीं रुकी, बेटा ! जाने कहाँ चली गई। कल से रूठी बैठी है, बोली कि : 'नहीं, मुझे किसी से नहीं मिलना है !' संथागार से लौट कर भरी आई थी, मेरी गोद में फूट पड़ी। बोली—'अपना राज रक्खो तुम सब, वर्द्धमान तो चला ही जायेगा। तुम्हारी राह का फन्दा कट गया, अब खुशियाँ मनाओ तुम सब। . . और तुम्हारे इस राज में तब मेरे लिए भी ठौर नहीं ! . . ठीक है, अपनी राह मैं भी चली ही जाऊँगी ! . . '—मैंने बहुत समझाया उसे, तुझ से मिल कर बात करे, और समाधान पाये। ऊँ हूँ—एक नहीं मानी उसने। . . 'नहीं, मुझे नहीं मिलना है किसी से। वर्द्धमान को मेरी नहीं पड़ी, तो मुझे भी उसकी पड़ी नहीं है . . !' तू आया, तो महल-उद्यान सारे में खोज आई, जाने कहाँ खो गई है चन्दन . . !'

'उसे न छेड़ो नानी-माँ। वह ठीक अपनी जगह पर चौकस है। और मुझ से नाराज़ होने का हक़ उसका पूरा है। उससे अधिक शायद किसी का नहीं ! . . '

मेरे माथे को नानी-माँ ने छाती से चाँप-चाँप लिया : और मेरे बालों को एक गहरी उसाँस के साथ वे सूँघती चली गईं। वहाँ से मुक्ति आसान न थी। . . पर मैं अगले ही क्षण वैशाली की सीमान्तक राहों पर अपना रथ फेक रहा था।



साँझ बेला में जब देवी रोहिणी के आवास-भवन पहुँचा, तो सारा महालय ऊपर से नीचे तक सहस्रों दीपों से जगमगा रहा था, और पौर के सामने के मार्ग पर वैशालकों का उत्सव-उत्साह बेक़ाबू था। मैंने चुपचाप रथ पीछे उद्यान की राह भीतर ले लिया। शयनागार में रोहिणी मामी मेरी प्रतीक्षा में थीं।

'मान, देवी आम्रपाली का निजी अनुचर मणिभद्र, बाहर तुम्हारी प्रतीक्षा मे है।'

'स्वागत है उनका, मामी !'

थोड़ी ही देर मे एक विशालकाय वात्सल्य-मूर्ति वृद्ध पुरुष ने आकर भूमिसात् दण्डवत् किया और कहा :

'देवी का एक निजी पत्र ले कर सेवा में प्रस्तुत हूँ, स्वामिन् !'

'देवी आम्रपाली प्रसन्न हों। मै देवी का क्या प्रिय कर सकता हूँ, भन्ते ?'

'धन्य भाग प्रभु, आपके दर्शन पा सका !'

कह कर एक छोटी-सी रत्न-जटित मजूषा उमने मेरे हाथ मे थमा दी। उसे खोलते ही जाने कैसी पर पार की-सी दिव्य गन्ध कक्ष मे व्याप गयी। पट्ट खोल कर पढ़ा ·

' तुम्हे एक बार नयन भर देखने की साध, चिर दिन से मन मे सँजोये थी। पार्थिव मे और कुछ देखने की चाह अब नही रह गई है। जब सुना कि तुम वैशाली के सथागार मे आ रहे हो, तो अब तक जो तुम्हे जाना और माना था, वह एक बिजली ने जैसे कौंध कर भूँस दिया। अभिमान हो आया, नही नही आऊँगी तुम्हारे सामने। मेरी क्या हस्ती ! तुम वैशाली के देवाशी राजपुत्र और मै तुम्हारे गण की एक तुच्छ गणिका। ओर कोई मुझे कुछ समझे, तुम्हारे सामने हलकी नही पडूँगी, और अपनी गर्हित काया को सामने रख कर, तुम्हे अपमानित होते नही देख सकूँगी।

' किन्तु जाने क्या भीतर धक्का दे रहा था। मै अवश हो गइ, तैयार तक हो गई : द्वार पर रथ प्रस्तुत करने का आदेश भी दे दिया। आईने के सामने होकर एक बार अपने को देखा। चूर चूर हो गई। अपने रूप की बिजली मे जलकर, लज्जा और अनुताप से भस्म की ढेरी हो रही। असह्य लगा, अपना यह त्रिलोक-मोहन सौन्दर्य। नहीं, नीलाम पर चढ़े हुए लावण्य से देवता की पूजा नही हो सकती। जाऊँगी सथागार मे, तो तुम्हारे गणपुत्र मेरे रूप की धूल उड़ायेगे। तूफान के बवडर उठेगे। वैशाली का सूरज उससे ढँक जायेगा। नही, यह नही होने दूँगी, वैशाली की बेटी हूँ, और चाहूँगी कि उसके सूरज का आवरण न बनूँ। उसकी प्रभा को अपने रूप की रज से मलिन न होने दूँ। वैशाली का जनगण खुली आँखों अपने इस सूर्यपुत्र का दर्शन करे।

'सो अपनी इस निर्माल्य माटी को अपने ही मे समेट कर, शैया मे औंधी पड़ रही। .

' . . संथागार से लौट कर मेरी अभिन्न सहचरी वासवी ने वह सब बताया, जो वहाँ उसने देखा और सुना था। मैने उसे जाने को कह दिया, और मेरी छाती मे जन्मान्तरों के दबे रुदन और विछोह घुमडने लगे। इस अभागी छाती को अब किसकी प्रतीक्षा है, जो फट न गई।

' तुमने वैशाली और आम्रपाली को एक कर दिया। तुमने एक गणिका को गणदेवी के आसन पर बैठा दिया। अनर्थ किया तुमनें, वर्द्धमान ! मुझ अभागिनी को मशाल की तरह अपने दोनों हाथो मे उठाकर तुमने सारे जम्बूद्वीप मे आग लगा दी। भेडियों के बीच तुमने मुझे सिंह पर आसीन कर दिया। इस सारे जगल का पशुत्व अब बलवा कर उठेगा। यों ही मै कम हत्यारी नही थी। अब तुम चाहते हो, कि मैं रक्त की नदियों पर चलूँ ? कैसा ख़तरनाक खेल तुम खेल गये, महावीर ! तुमने मुझे मौत के बीच अरक्षित खड़ी कर दिया है।

'. . और अब तुम कहते हो कि तुम वैशाली में नहीं रहोगे; तो बोलो, मुझे अब यहाँ किसके भरोसे छोड़े जा रहे हो ! नहीं . . नहीं चाहिए मुझे तुम्हारे ये पूजा के फूल ! प्यार नहीं कर सकते मुझे, तो किस अधिकार से मुझे यों मार कर, अपनी राह अकेले चले जाना चाहते हो ? . . मेरा कहीं कोई नहीं . . आकाश की जायी मैं चिर अनाथिनी, किसी तरह अपने रूप की माया में अपने को भुलाये थी। तुमने उस माया के पाश को भी छिन्न करके, निरी नग्न मुझे अपने आमने-सामने कर दिया है। . . मैं तो अकेली ही थी जनम की : तुमने मुझे अन्तिम रूप से अकेली कर दिया ! मेरा मरना और जीना दोनों ही तुमने मेरे हाथ नहीं रक्खा। कौन हो तुम मेरे, ओ बलात्कारी, जो मेरी सत्ता के यों बरबस ही स्वामी हो बैठे हो ? आधार नहीं दे सकते, तो अन्तिम रूप से निराधार क्यों कर दिया इस दुःखिनी को। और अब कहते हो, छोड़ कर चले जाओगे, इस वैशाली को, जिसे तुम आम्रपाली कहते हो। इतने निर्मम तुम हो सकते हो यह तो कभी नहीं सोचा था।

'. . जानती हूँ, मेरे द्वार पर तुम कभी नहीं आओगे। तुम्हारे चरणों की धूल बन कर इस रूप को सार्थक कर सकूँ, ऐसी स्पर्धा एक गणिका कैसे कर सकती है ! हाय, मरण के इस महाशून्य में किसे पुकारूँ ? कहाँ है मेरा परित्राता ? दिशाएँ निरुत्तर हैं . . ! तुमको देख रही हूँ, केवल पीठ फेर कर जाते हुए। . . बोलोगे नहीं ? . .

अम्बा

जो किसी की नहीं'

अपने मूलाधार में घुमड़ आये प्रलय को, अपने अँगूठे तले क़लम से दाब कर मैंने लिखा :

'. . किसी की तुम्हें इसलिए नहीं होने दिया गया, क्योंकि तुम्हें सब की होना था। कार्षापणों और सुवर्णों की क्रीत दासी नहीं, सर्व की आत्म-वल्लभा माँ !

'. . नहीं, तुम कभी कहीं अकेली नहीं हो, अम्बा। . . अकेली अब तक यदि थीं भी, तो आज निश्चय ही वह नहीं हो तुम ! . . मैं कहीं जाऊँ, कहीं रहूँ, हर दिशा आम्रपाली हो रहेगी। वहाँ मेरे स्वागत में खड़ी नहीं मिलोगी क्या तुम ?

'. . परित्राता तुम्हारा अहर्निश तुम्हारे साथ खड़ा है। वह अन्यत्र कहीं नहीं है। महावीर यदि कोई अन्य और अन्यत्र है, तो वह भी नहीं। उस अपर और एकमेव अपने को पहचानो !

'. . एक दिन आऊँगा तुम्हारे पास। अपने में नितान्त अपनी हो कर रहना। वही महावीर है ! . .

अनन्य

वर्द्धमान'

. . पत्रोत्तर की रत्न-मंजूषा दोनों हाथों में झेल कर, मणिभद्र ने बार-बार उसे सिर-आँखों से लगाया। उसकी आँखें छलछला रही हैं। भूमिष्ठ प्रणिपात कर, बिना मुझे पीठ दिये, पीछे पग चलता हुआ, वह द्वार पार कर ओझल हो गया।



रात के तीसरे पहर, भवन के सिंहपौर पर रथ लगा। महानायक सिंहभद्र गंगा-शोण के स्कन्धावार पर गये हुए है। मामी अकेली मुझे पहुँचाने द्वार पर आयी। पार्श्वों को बारम्बार, अकेले हाथों पछाड़ने वाली, हिन्दूकुश के दर्रे की वह सिहनी, ऐसे रो पड़ेगी, ऐसा तो कभी सोचा नही था। अपनी बाहुओं की प्रत्यचाओं मे मुझे बॉध कर, मेरी छाती पर वह फूट पड़ी।

'मुझे समूची नि शस्त्र और सर्वहारा कर दिया तुमने, लाला ! क्या यों पीठ फेर जाने के लिए . . ?'

'भूल गईं वादा, गान्धारी ? मेरे सूरज-युद्ध की एकमात्र साक्षी होने वाली हो कि नही तुम ? सिहनी माँ यदि दूध नही पिलायेगी, तो किस बल पर एकाकी यह विश्व युद्ध लड़ूँगा, मामी !'

उन्होंने मेरे सारे चेहरे को अपनी छाती मे प्रगाढ़ता से समा लिया। . . छूट कर मैंने उनकी चरण-धूलि माथे पर चढा ली।

ब्राह्म मुहूर्त मे जब उत्तर-कुण्डपुर के मार्ग पर अपने रथ की रास को कस-कस कर खीच रहा था, तो लगा कि मेरे पीछे जाने कौन एक नि सीम ऑचल वल्गा बन कर मेरे जीवन-रथ का सारथ्य कर रहा है।

परित्राता का पाणिग्रहण

मुझे तो कही कोई दु ख नही, कष्ट नही। कोई अभाव, कोई आरति मै नही जानता। बाहर राजमहल का विपुल वैभव है, भोग-सामग्री है भीतर सहज भुक्ति की तृप्ति सदा अनुभव करता रहता हूँ। जगत के सारे सम्भव सुख-भोग, सम्मुख समर्पित खडे मेरा मुँह ताकते रहते है। पर भीतर कोई अभाव अनुभव नही होता, तो क्या करूँ ! क्यो भोगूँ, क्या भोगूँ, कौन भोगे ? लगता है मेरे ही भीतर से ये भोग, नाना रूप धारण कर बाहर प्रवाहित होते रहते है। भोक्ता भी मै ही, भोग्य भी मै ही। फिर भोगने और न भोगने का प्रश्न ही कहाँ उठता है !

फिर भी आज तीन दिन हो गये, जाने कैसी यह एक वेदना मेरे तन के अणु-अणु में व्यापती चली जा रही है। हवा और पानी की पर्तों से भी महीन जाने कितने सूक्ष्म फल निरन्तर मेरे प्राणों को बीधते चले जा रहे है। मेरी अघात्य और अभेद्य अस्थियों मे यह कैसा उबलता लावा और लोहा-सा भिदता चला आ रहा है। तीन रात, तीन दिन हो गये, ठहराव शक्य नही रहा। लेटना, बैठना तो दूर, खड़े तक नही रहा जाता। उद्भ्रांत और बेचैन इस महल के सारे खण्डों मे चक्कर काट रहा हूँ। चल रहा हूँ, चल रहा हूँ, अविराम चल रहा हूँ। चलते ही चले जाना है। चले जाना है, जाने कहां चले जाना है। कहाँ जाना होगा, पता नही। पर आकाश और धरती के बीच अब कोई मुकाम सम्भव नही है।

आज मध्य रात्रि के इस स्तब्ध अन्धकार मे यह कौन चीख उठा है ! सारा राजमहल डोल उठा है. धरती और आकाश विदीर्ण हो गये है. . |

'प्रभु, काम्बोजी अश्व प्रियंकर राजद्वार पर आ खड़ा हुआ है। वह स्वामी को पुकार रहा है!'

'गारुड़, क्या चाहता है वह?'

'तीन दिन-रात हो गये, वह छटपटाता हुआ घुड़साल में फेरी देता रहा है। उसकी तिलमिलाहट और हिनहिनाहट सही नहीं जाती। जान पड़ता है रात-दिन क्रन्दन कर रहा है। ब्राह्म-मुहूर्त में अचानक मेरी पलकों पर बूँदें-सी टपकीं। हड़बड़ा कर जागा, तो देखा आपका लाड़िला प्रियंकर मेरे चेहरे पर गर्दन झुकाये चुपचाप खड़ा है। उसकी आँखों से आँसू टपक रहे हैं। . . संकेत पाकर मैं समझ गया। मैंने उसे तैयार कर दिया। वह राजद्वार पर स्वामी की प्रतीक्षा में आ खड़ा हुआ है।'

. . ठीक है : मुझे नहीं, प्रियंकर को ठीक पता है, मुझे कहाँ जाना है। . . और जाने कब शेष रात्रि के जामली अँधेरे में पाया, कि प्रियंकर का आरोही, एक असूझ तमसारण्य को बिजली के तीर की तरह भेदता चला जा रहा है। अविराम और अविश्रान्त दौड़ते घोड़े की गति के सिवाय और कुछ भी मेरे लिए दृश्य नहीं रह गया है। देश और काल से परे, एक दुरन्त गतिमत्ता के भीतर, अपने को एक वात्याचक्र की तरह जैसे ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करते देखा।

. . बढ़ते हुए अपराह्न की मन्द पड़ती धूप में भूगोल का भान हुआ। देखा कि मगध की भूमि पर धावमान हूँ। . . उदंडपुर गुज़रा; नालक ग्राम से सरे बाज़ार दौड़ता घोड़ा निकल गया। बहुचैत्रक के सीमा-प्रदेश में पहुँचते साँझ नम आई। . . अस्तंगत सूर्य को किरणों में बहुत दूर राजगृही के पंच शैलों के पवित्र कूट सहसा ही जैसे रक्त से अभिषिक्त दिखाई पड़े।

. . और क्या देखता हूँ कि गृद्धकूट की उपत्यका में लपलपाती अग्नि जिह्वाओं-सी कई ज्वालाएँ भड़क-भड़क कर आकाश चूम रही हैं। शत-शत कण्ठों की हवन-मंत्र ध्वनियों के अविराम घोष, प्रचण्ड से प्रचण्डतर होते जा रहे हैं। घृत, पुरोडाश, मदिरा और नाना हव्य धूपों तथा सामग्रियों की गन्ध से वातावरण व्याकुल है। रक्त-मांस, त्वचा, चर्बियों, अँतड़ियों, हड्डियों के जलने की तीव्र श्वास-रोधक दुर्गन्धि से आकाश, हवा, जल, वनस्पति धरती के प्राण घुट रहे हैं। पंचतत्व जैसे पीड़ित होकर, स्वय ही अपनी हत्या कर देने को विवश हो गए हैं !

और बहुचैत्रक के प्रांगण में आकर, अचानक ही घोड़ा पत्थर की तरह स्तम्भित, अचल खड़ा रह गया। . .

सामने दिखाई पड़ा : गृद्धकूट और विपुलाचल के ढालों पर जैसे ज्वालाएँ फैलती चली जा रही हैं। वे सदा के सुरम्य पर्वत नहीं रह गये हैं : सारी पृथ्वी उनमें सिमट कर मानो दुर्दान्त ज्वालामुखी हो उठी है। और उसमें से शत-सहस्र थलचर, जलचर, नभचर प्राणियों का एक अन्तहीन और समवेत आर्त्तनाद उठ रहा है। अन्तरिक्ष के सारे पटलों को भेद कर, जैसे लोक की त्रस-नाड़ी सन्त्रास से फटी जा रही है।

. . एक हिल्लोल-सा उठा भीतर : कि एक छलाँग में उस दुर्दाम ज्वालामुखी में कूद पड़ूँ। वल्गा की तरह अपनी मुट्ठियों में उन अग्नि-शिखाओं को पकड़ कर, उस प्रलय को बाँध लूँ और उस पर सवार हो जाऊँ। अपनी नग्न छाती में उसे शोष कर, शान्त कर दूँ। . . मैंने घोड़े को एड़ दी : वह टस-से-मस न हुआ। मैं उन्मत्त होकर उसे एड़ पर एड़ देता चला गया। पर घोड़ा नहीं,

चट्टान है, अटल और अनम्य। . . मैने उस पर से कूद कर, इन्द्र के वज्र की तरह उस सत्यानाश पर टूट पड़ना चाहा। पर नही उस चट्टान मे मै अभिन्न भाव से प्रस्तरीभूत हूँ, जड़ीभूत हूँ। घोड़े के उस स्तंभित प्राण से अलग, मेरा कोई प्राण अस्तित्व में नही रह गया। यह स्थिति मेरी समझ से परे है, केवल उसके निस्तब्ध बोध मे ही मै रह सकता हूँ।

और अपने भीतर सुनाई पडा 'नही, अभी समय नही आया है !' मात्र एक निष्कम्प दर्शन की मुद्रा मे मै देखता ही रह गया प्रदोष बेला के घिरते धुँधलके मे, क्षीणतर होती अग्नि-शिखाओं मे, एकीभूत आर्त्त क्रन्द का छोर डूबता सुनाई पड रहा है। और राशिकृत प्राणी मेरी शिराओं मे सरसराते चले आ रहे है।

• • •

लौट कर जब नन्द्यावर्त पहुँचा तब रात का अन्तिम प्रहर ढल रहा था। मेरे कक्ष के द्वार पर, एक प्रतिहारी मेरी प्रतीक्षा मे अखण्ड रात जागती खडी थी

देव, एक पत्र आपके लिए उस चौकी पर रक्खा है। कल साँझ की द्वाभा वेला मे कलिंग का एक अश्वारोही वह लेकर आया था। कलिंग-राजनन्दिनी यशोदा का वह अनुचर अतिथिशाला मे प्रतीक्षमान है।'

मुक्ताफलों की एक बन्द सीपीनुमा मंजूषा चौकी पर पडी थी। खोल कर पढा

' दर्शन की प्रत्याशी हूँ ! द्युति-पलाश चैत्य कानन मे कल साँझ प्रतीक्षा करूँगी।——यशोदा'

हूँ ! अविकल्प उसी के नीचे आँक दिया मैने "तथास्तु !" और मुक्ताफल-मजूषा प्रतिहारी को लौटा दी।

• • •

खिली सन्ध्या के चम्पई आलोक मे सारा उपवन बहुत मृदु हो आया है। बन्धूक फूलों की महावर से रची भूमि पर पडती, अपनी पगचापों को लालित होती अनुभव कर रहा हूँ। शेफाली और मालती की भीनी महक ने यह कैसी एक छुवन और पुलक तैर रही है '

सघन श्वेत फूलों से छाये सप्तच्छद-वन के अन्तर्देश में दिखाई पड़ा एक तने के सहारे, ऊपर झुक आई एक डाल को भंगिम बाँह मे थामे, कोई प्रतीक्षा वहाँ आँखों के कुवलय बिछाये है। कालोदधि समुद्र के अंगूरी मोतियों की आभा उस प्रलम्ब देह-यष्टि में लचीली हो आई है।

मुझे सामने पाकर, सहसा ही जानुओं पर ढलक कर, उसने अपनी दोनों बाहुएँ मेरे चरण-तटों मे पसार कर माथा धरती पर ढाल दिया। जैसे वह सारा सप्तच्छद वन अवश धरती पर लुढक आया। तो उस पर बैठ जाने को मानो मुझे विवश हो जाना पडा।

वह उठ कर भी झुकी ही रह गई। आँखें वे ढलकी ही रह गईं :

'सुनती हूँ, मुझे छोड़ कर चले जा रहे हो !'

'सबसे जुड़ने जा रहा हूँ, तो तुम्हें क्यों छोड़ जाऊँगा ?'

'सबसे जुड़ने को आकाश भले ही हो आओ। मेरे पैरों तले की धरती तो छिन ही जायेगी। असीम आकाश तले मुझ ना-कुछ की क्या हस्ती; मुझे कौन याद रक्खेगा ?'

'ना-कुछ हो जाओ, यश, तो सारा आकाश तुम्हारा होगा !'

'आकाश को बाँध सकूँ, इतनी बड़ी बाँहें मेरे पास कहाँ ? उस सूनेपन में हाथ-पैर मारती, उसका बगूला भले ही हो रहूँ।'

'जिसे बाँधना चाहती हो, उसे क्या इतना असमर्थ मानती हो, कि तुम्हारी बाँहों को वह असीम न कर सके ?'

'छोड़ो वह। नहीं चाहिए मुझे तुम्हारा आकाश ! मैं धरती की हूँ, और वह तुम मुझ से छीन लो, यह नहीं होने दूँगी।'

'धरती की नहीं, स्वयं धरती हो तुम, देवी। तुम हो कि आकाश की सत्ता सम्भव है। तुम हो कि आकाश देखा जा सकता है, पाया और गहा जा सकता है। चाहो तो वह तुम्हारी अँगुली में बँध आने तक को विवश हो सकता है !'

'तुम्हारी यह कविता और तत्वज्ञान मेरे वश का नहीं। मेरी उँगलियाँ अन्तरिक्ष की नहीं बनी : वे ठोस रक्त-मांस की है। और उन्हे ठोस रक्त-मांस की पकड़ चाहिए !'

'स्वय कविता हो, कल्याणी ! लेकिन कविता, बस होती है, वह अपने को समझती नहीं, पहचानती नही। पर मैं उस कविता की खोज मे हूँ, जो अपना बोध आप ही पाये, अपने सौन्दर्य में आप ही रमण करे। उसे अपने भावक पर निर्भर न करना पड़े। यशोदा को मैं ऐसी ही कविता देख रहा हूँ। और तब वह निश्चय ही मेरी कविता है !'

वह झुक कर जैसे अपने ही वक्ष में लीन होती-सी दीखी। उस चुप्पी की सरसी में मैं निम्ज्जित-सा हो रहा।

'. . तुम्हारी जनम-जनम की दासी हूँ। तुम्हारे सिवाय त्रिलोक और त्रिकाल में मेरा पाणिग्रहण कोई और नही कर सकता ! . .'

'पाणिग्रहण करने के लिए ही तो मेरा जन्म हुआ है, यशोदा। सब का हाथ पकड़ने आया हूँ, तो क्या तुम्हारा नही पकड़ूँगा !'

'वह सब मै नही समझती। पहले मेरा पाणिग्रहण करो, फिर जहाँ चाहो जाओ, चाहे जिसका हाथ पकड़ो, मुझे आपत्ति नही। . . तुम्हारी हथेलियों के ये कमल मेरे हैं, तुम्हारे ये चरण-युगल चिर जन्म से इस दासी के हैं। अपनी खोई निधि को पहचान लिया है और पा गई हूँ, तो उसे मुझ से छीनने वाले तुम कौन होते हो !'

'वर्द्धमान दासियों को नापसन्द करता है। उसे दासी नहीं, स्वामिनी चाहिए और स्वामिनी को अपने स्वामी पर इतना अविश्वास कैसे हो सकता है, कि उसे उस पर अलग से अधिकार का दावा करना पड़े !'

'स्वामी . . तुम आ गये ? . . मेरे स्वामी ! . . कहो, मुझे छोड़ कर नहीं

जाओगे ! '

'स्वामिनी पहले अपनी हो रहो, तो स्वामी तो तुम्हें तुम्हारा अपनी बाँहों में अनायास आबद्ध मिलेगा । ऐसा अन्तिम और अचूक, कि जिसके छोड़ कर जाने का अन्देशा होता ही नहीं । इस बाहर खड़े स्वामी वर्द्धमान का भरोसा करोगी, तो संकट में पड़ सकती हो । इसका क्या भरोसा, यह कब छोड़ जाये . . ! '

'सच ही सुना है . . बहुत निष्ठुर हो तुम ! '

'सन्देह है तुम्हें अपने संयोगी पर, तो जानो कि वह तो तुम्हारा संयोगी है ही नहीं । तुम्हें सन्देह है कि वह अन्तिम रूप से तुम्हारा नही है, इसी से तो भय बना है तुम्हें कि वह छोड़ कर जा सकता है । ऐसे क्षणिक और सन्दिग्ध प्रीतम की माया में क्यों पड़ी हो ? '

'तुम्हारी कसौटियों पर मुझे नहीं उतरना । . . निर्दय कहीं के . . ! '

'मेरी दया पर जीना चाहती हो ? तो सुनो, जो दयनीय और पराधीन हैं . . वह महावीर की प्रिया नहीं हो सकती ! '

'नाथ . . ! '

वे बड़े-बड़े पलक-पक्ष्म उठ कर सामने देख उठे, और उनसे आँसू गालों पर ढरक आये ।

'अपना नाथ यदि सचमुच पाती हो मुझे, तो नाथूँगा ही तुम्हें । मेरी नथड़ी पहनने को, अपनी नाक तुम्हें मुझ से नथवानी होगी कि नहीं . . ? '

'नाथो मुझे, मेरे नाथ, और पहनाओ अपनी नथड़ी । तुम्हारे सिवाय मुझे सोहाग और कौन दे सकता है ? '

'तब नाक ही नहीं, अपनी सारी इन्द्रियाँ मुझे सौंप देनी होंगी । जो नाक को नाथेगा, वह तुम्हारी हर साँस को नाथेगा । तुम्हारी प्राण-ग्रंथि का अन्तिम रूप से भेदन करेगा । तब कोई भी तुम्हारी इन्द्रिय, मुक्त और स्वच्छन्द नहीं रह सकती ।'

'सर्वस्व ले लो, और सदा-सदा को मेरे स्वामी हो जाओ . . ।'

'तो अब वही कर सकोगी, जो मैं कहूँगा । तुम्हारा कहना और करना सदा को समाप्त हो गया ।'

'मैं ही समाप्त हो गई इन चरणों में, तो कहना और करना मेरा अब कहाँ बचा? '

'तो तुम आज से मेरी सहधर्मचारिणी हुई । सो स्वधर्मचारिणी हुई । तो अपने स्वधर्म में रहो, और मुझे अपने स्वधर्म की राह पर जाने दो । तुम्हारा स्वामी, तुमसे अनुमति चाहता है ।'

'अद्वैत का वचन देकर, फिर द्वैत की भाषा बोल रहे हो ? '

'स्थिति मे अद्वैत, सत्ता में अद्वैत, स्वभाव में अद्वैत, किन्तु गति में, प्रगति में, परिणमन में, जीवन की लीला में, द्वैत अनिवार्य है, यशोदा । एकान्त अद्वैत, एकान्त द्वैत, दोनों ही मिथ्या हैं । एकबारगी ही अद्वैत भी. द्वैत भी, यही सत्ता का स्वभाव है । यही जीवन है, यही जगत है, यही मुक्ति है ।'

'आदेश दो, यश प्रस्तुत है ! '

'त्रिलोक और त्रिकाल की सारी आत्माएँ मुझे पुकार रही हैं । वे मेरे साथ एकात्मता पाने को विकल हैं । वे चिरकाल की अनाथिनी हैं, और मुझ में अपना नाथ खोज रही हैं । तो बोलो, उन्हें

कैसे मुकर सकता हूँ ?'

'पर प्रथम और अन्तिम रूप से सम्पूर्ण मेरे नाथ रहोगे तुम !'

'यही चाहती हो न ? तो अनिवार्य है कि पहले स्वयंनाथ बनूँ, ताकि सर्वनाथ हो सकूँ। उसके बिना तुम्हारा सम्पूर्ण नाथ नहीं हो सकता। वह स्वभाव नहीं।'

'मेरी ओर देखो . . ! बोलो, क्या चाहते हो ?'

'देख रहा हूँ, तुम्हारी ये आँसूभरी आँखें ! प्राणि-मात्र की पीड़ा, करुणा, विरह-वेदना इनमें झलक रही है। तुम्हारे इन सुन्दर भोले मृग-नयनों में, हत्यारों की स्वार्थी बलि-वेदियों पर होमे जाने को खड़े, कोटि-कोटि कातर क्रन्दन करते, निर्दोष मृग-शावक मुझे त्राण के लिए पुकार रहे हैं। तुम्हारी इन कजरारी आँखों की अभेद मोहरात्रि में भटकती जाने कितनी ही आत्माएँ, मुक्ति के लिए छटपटा रही हैं। देख रहा हूँ तुम्हारी चितवन की अन्तहीन दूरियों में : वहाँ अनन्त विरह की रात्रियाँ आर्त विलाप कर रही है। . . क्या नहीं चाहोगी, कि तुम्हारी भीनी पलकों के इन करुण-विह्वल कूलों की सीमाएँ तोड़ जाऊँ ? इनकी विरह-रात्रियों को भेदता हुआ, त्रिलोक और त्रिकाल के अनन्त चराचर जीवन का संगी और संत्राता हो जाऊँ। सर्व का रमण हो कर, सर्व की चिर अतृप्त रमण-लालसा को, चरम-परम तृप्ति प्रदान कर सकू। मेरी अविकल रमणी हो कर रहना चाहती हो, तो मुझे सकल का रमण होने दे कर ही, अपने शाश्वत रमण के रूप में उपलब्ध कर सकोगी। . . बोलो, क्या कहती हो ?'

'मेरे परम रमण, जैसे चाहो अपनी रमणों में, अबाध रमण करो . . !'

. . और वह यशोदा सहसा ही एक मुक्त, अतिक्रान्त चितवन से मेरी खुली छाती की ओर देख उठी :

'उफ् . . . यह क्या ? मेरे प्रभु, रक्त . . ! तुम्हारी छाती से यह कैसा रक्त उफन रहा है . . ?'

और वह आँखें मूंद कर, मूर्च्छित-सी हो, मेरे वक्ष पर लुढ़क आने को हुई। मैंने उसकी दोनों सुकुमार भुजाओं को अपने दोनों हाथों से पकड़, उसे अपनी जगह पर ही थाम दिया।

'मेरी छाती के इस रक्त से आँखें मूँदोगी ? पलायन करोगी ? नहीं, इसकी ओर से मूर्च्छित नहीं हुआ जा सकता, यश। इसे खुली आँखों देखना होगा, सहना होगा, इसका सामना करना होगा। हत्यारों की यज्ञ-वेदियों पर, आहुति बनने को खड़े करोड़ों मूक पशुओं और मानवों का यह निर्दोष रक्त है। इसे सहो, इसे अपने आँचल में झेलो। यह तुम्हारे सर्वमातृक वक्ष में शरण खोज रहा है . . !'

वह अपना आँचल खसका कर, उसे पोंछने को उद्यत हो आइ।

'नहीं, इसे पोंछो नहीं, इसे दबाओ नहीं। इसे अपनी बहत्तर हज़ार नाड़ियों में आत्मसात करो। इसे अपने आँचल के दूध में अभय और मुक्त करो। इससे अपने अणु-अणु को आप्लावित कर, जीवन मात्र को अघात्य और अवध्य कर देना होगा !'

. . और सहसा ही पाया कि उसका माथा मेरी छाती से उफनते उस रक्त पर ढलक आया है।

'लो, तुम्हारी माँग भर गई, यशोदा ! तुम्हारी लिलार पर सौभाग्य का तिलक उजल आया। मेरी सीमन्तिनी, अपने सीमन्त के कूल में चिरकाल की इस अनाथ रक्तधारा को सनाथ

करोगी तुम ! '

'मेरे भगवान, जन्म-जन्मान्तरों की तुम्हारी नियोगिनी दासी, कृतकृत्य हो गई ..! ' '

'नियोगिनी होकर तो सदा वियोगिनी ही रही तुम। आज तुम योगिनी हुई। दासी मिट कर सदा को स्वामिनी हो गई, अपनी, मेरी, और सबकी ! '

डाल पर पूरे पक आये आम-सी, वह रस-सम्भार से आपूर्ण हो कर, महावीर के चरणों में ढलक पड़ी। एक अभेद नीरवता में, जाने कितनी देर हम निर्वापित हो रहे। . . सहसा ही मैंने अपने पैरों को आँसुओं के एक अगाध, असीम समुद्र पर चलते देखा।

'फिर कब दर्शन दोगे, देवता ?'

'कलिंग के समुद्र-तोरण पर, ठीक मुहूर्त में, एक दिन तुम्हारा पाणिग्रहण करने आऊँगा। बहते पानियों की वेदी पर, तुम्हारा वरण करेगा महावीर . . ! '

'कलिंग की राजबाला उन समुद्रों पर आँखे बिछाये रहेगी।'

. . प्रियंकर के उड्डीयमान अश्वारोही का अनुसरण करती दो आयत्त आँखें, पानी होकर तत्वलीन हो रहीं।

प्रति-संसार का उद्घाती प्रति-सूर्य

'रो रही हो, वैना ? . . तब तो मेरा जाना और भी ज़रूरी है। प्रकट है कि अब भी मेरी वियोगिनी ही हो, योगिनी नही हो सकी। अभी तक सुलभ हूँ न तुम्हें, इसी से स्व-लभ न हो सका। उसके लिए आवश्यक है कि सुलभ न रहूँ, बल्कि बाहर अलभ तक हो जाऊँ।'

'जानती हूँ, जाओगे ही। मैं रोकने वाली होती कौन हूँ ? मेरा तो कहीं कोई था ही नहीं। तुमने कहा कि नहीं, तुम हो, और मैं अकेली नहीं हूँ। . . क्यों मुझे इस माया में डाला ? तुम्हारा दोष नहीं, भूल मुझी से हुई। तुम्हें पाकर अपनी अकिंचनता को भूल बैठी। . . मैं चिर अनाथिनी, फिर वही हो गई। मेरा भाग्य ! तुम ठहरे सम्राट ! मुझ दुःखिनी का तुम पर क्या दावा हो सकता है ! '

'मेरा कहीं कोई है, या कोई नही है : ये दोनों ही भाव माया हैं, वैना, मिथ्या हैं। आज यदि मेरा कहीं कोई है, तो कल उसे—कहीं कोई नहीं—होना ही है। कोई एक जब तक अपना रहेगा, और अन्य सब पराये रहेंगे, तो एक दिन यह अपना भी पराया होकर ही रहेगा। क्योंकि वह कोई एक बेचारा, जो स्वयं पूरा अपना नहीं, तो तुम्हारा कब तक बना रहेगा। स्वयं अपनी और आप हो जाओ, तो किसी एक की अपेक्षा न रहेगी, सब अपने हो जायेंगे। किसी एक की पर्याय विशेष तो विनाशीक है, उससे वियोग अनिवार्य है। अटूट संयोग केवल पर्यायी के साथ सम्भव है : जो अविनाशी है, अविकल एकमेव है। पर्याय विशेष के साथ वह सम्भव नहीं। मोह की इस मरीचिका में कब तक चला जा सकेगा ! उसका अन्त यदि सामने आ गया है, तो खुश होना चाहिए कि

नहीं ?'

'मरीचिका यदि टूटी है, तो इस बेसहारगी में, तुम जो एकमेव हो, वह भी आँख से ओझल हो जाओ, तो खड़ी कैसे रहूँगी मैं ?'

'मैं जब नहीं था, तब किसके सहारे खड़ी थी ? पल-पल संकट, अत्याचार, अरक्षा, मौत के बीच जो अचल पग अकेली चल रही थी, वह कौन थी ? . . उसे तुम भूल गई ?'

'इसी आशा में तो चल रही थी, कि कभी कहीं तुम मिलोगे। तुम मिल गये : तुमने मुझे तार कर तट पर खींच लिया। तुम्हें देखते ही पहचान गई कि तुम्हीं अन्तिम हो, मेरे स्वरूप की साक्षात् मूर्ति हो। तब तुम्हीं कहो, क्या वही अकेली, बेचारी, पीड़िता बनी रहती ?'

'अन्तिम हूँ, और तुम्हारे स्व-रूप की मूर्ति हूँ, तो क्या इतना सीमित और अल्प हूँ, कि तुम्हारी आँख पर ही समाप्त हूँ ? आँख से ओझल होकर जो खो जाये, सन्दिग्ध, अनिश्चित, वियुक्त हो जाये, क्या उसी को तुम अन्तिम, एकमेव और स्व-रूपी कहती हो? तुमने मेरे स्व का नहीं, पर का वरण किया। तुम मेरे योगी से नहीं, वियोगी से चिपटी रहीं। इसी से मेरे आँख से ओझल होने की बात आते ही, वियोगिनी हो उठी हो, और रो रही हो ! . . '

क्षण भर एक ख़ामोशी व्याप रही। फिर पूरी आँखें मेरी ओर उचका कर वह बोली :

'सच, कितने अच्छे हो तुम ! कितने अपने। बोलते हो, कि आवरण उटते चले जाते हैं। आँखों से आगे का तुम्हारा स्वरूप, सचमुच देख रही हूँ सामने। नाथ, तुम्हीं मेरी आँखें बन जाओ न ! तुम्हीं मेरा दर्शन, स्पर्शन, ज्ञान हो जाओ। मेरी हर इन्द्रिय तुम्हीं बन जाओ। तो इन्द्रियों की यह सीमा और बाधा ही समाप्त हो जाये। बनोगे न ? . . '

'बन गया वैना, इसी से तो एकाएक ऐसी खिल आयी हो। वह एक क्षण पहले की वैना अब कहाँ रही। जिस स्वरूप की झलक अभी पाई है, बस उसी में तन्मय रहो, फिर अन्तिम और अनन्त तुम्हारा हूँ, चाहे जहाँ रहूँ। रहूँ या न रहूँ की भाषा से परे, वही एकमेव मैं हूँ, तुम हो, नित्य, अविनाशी, संयुक्त !'

'जिस मुहूर्त में तुमने अपनाया था, उसी क्षण जान गयी थी कि कल्प-दर्पण सार्थक हो गया, समाप्त हो गया। काम, गरुड़, शिव तब तक भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ और धाराएँ बन कर मुझ में संचरित थे। कभी यह होती थी, कभी वह होती थी। निरन्तर संक्रमण में चल रही थी। संक्रांतिकाल था यह मेरा। तुमने उस दिन कहा था : 'वैना, ये तीनों केवल आत्मा हैं : आत्मा के अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं।' वहाँ तक पहुँचने को संक्रमण की एक पूरी अवधि पार करना थी। लगता है, वह आज पार हो गई, मैं अतिक्रान्त हो गई—तुम्हारे भीतर, अपने अन्तरतम में। जहाँ केवल तुम हो मेरे, मैं हूँ तुम्हारी, और कोई नही . . ! देवता, अपरम्पार हो तुम !'

और मेरे एक पग को दोनों हथेलियों में कमलायित कर, मेरे पदनख पर उसने माथा ढाल दिया। और उसे चूम लिया।

'तो तुम स्वयं हुई, और मेरा संगिनी हुई। क्योंकि तुम असंगिनी हो गई ! . . मैं आप्यायित हुआ।'

'अच्छा, हमें ये बताओ, कब, कहाँ जाओगे ?'

'अभी और यहाँ, जहाँ तुम हो, मैं हूँ सदा। केवल मेरे जाने पर ही अब भी तुम्हारी निगाह

लगी है ! यह जो आया हूँ, अभी तुम्हारे पास संयुक्त, उसे नहीं देखोगी . . ?'

'देख रही हूँ . . वही तो देख रही हूँ। लेकिन प्यार करने के लिए, दुर्लभ रहोगे, तभी तो सम्पूर्ण स्व-लभ हो सकोगे। मैं मोक्ष में नहीं, जीवन की द्वैतिनी लीला में ही तुम्हें, अद्वैत भाव से अपने संग पाना चाहती हूँ। क्या यह सम्भव नहीं ?'

'तथावस्तु . . ! अनेकान्त में कुछ भी असम्भव नहीं।'

और वैनतेयी की आँसुओं से उमड़ती आँखों में मैंने अपने को तैरते देखा : जल-क्रीड़ा करते देखा।

'लो, ये कवि सोमेश्वर चले आ रहे हैं ! . . '

'अरे सोमेश्वर, कहाँ रहे इतने दिन ? याद कर रहा था तुम्हें, कि लो, आ ही गये तुम !'

'तुम जब तक याद न करो वर्द्धमान, तब तक तुम्हारे पास कौन आ सकता है ! दिन-दिन दुर्लभ जो होते जा रहे हो।'

'तो ठीक हो रहा हूँ। यह जो सुलभता है न, यह मुझे सच्चे मिलन में बाधक दीखती है। यह हमें, परस्पर को पुरातन और व्यतीत ही मिला पाती है, नूतन और चिरन्तन नहीं मिलाती। सुलभ नहीं, स्व-लभ हम हो जायें परस्पर, तो मिलन में हमेशा एक तरुणाई और ताज़गी रहे।'

'तुम जैसे रक्खोगे, वैसे ही तो हमें रहना है। तुम जो मुझे चाहो, वही होना चाहता हूँ। सो चुप और दूर रहता हूँ।'

'इसी से तो मेरे बहुत पास हो। परिसर में नहीं, अभ्यन्तर में हो। और सुनाओ, क्या ख़बर है ? सुना, इधर कई दिन यात्रा पर रहे ?'

'तुम कहीं टिकने जो नहीं दे रहे। धक्के देते रहते हो, तो यात्रा अनिवार्य हो गई। पहले दक्षिणावर्त के छोर तक गया। फिर पश्चिमी समुद्र के द्वीपों और पार्शव तक भी पहुँच गया। तब उत्तर-पश्चिम के राज्यों और गणतंत्रों मे हो लिया। गान्धार में आचार्य बहुलाश्व के दर्शन किये। फिर सिन्धु सौवीर से भृगुकच्छ होकर, उज्जयिनी, कौशाम्बी, श्रावस्ती, चम्पा, मगध होता हुआ, वैशाली पहुँचा था। कल ही तो लौटा हूँ।'

'तब तो बहुत खबरें लाये होगे। कोई ख़ास ख़बर है, सोमेश्वर ?'

'बड़े खिलाड़ी हो, वर्द्धमान ! ख़बरों का दरिया खुद बहा कर, कैसे बेख़बर और भोले बने बैठे हो ! भरत क्षेत्र से लेकर, हैमवत्, विदेह, हैरण्डवत्, ऐरावत तक, जम्बूद्वीप की आसमुद्र धरती में भूचाल उठाया है तुमने। लवणोदधि के पानी उबल रहे हैं, और जम्बूद्वीप के केन्द्रस्थ जम्बूवृक्ष की जड़ें हिल रही हैं।'

'अरे कविता ही करते चले जाओगे, सोम, कि कुछ कहोगे भी !'

'संथागार में उस दिन तुम बोले, तो आर्यावर्त के सोलहों महाराज्य बौखला उठे हैं। वैशाली की गण-परिषद विभाजित हो गई है। वहाँ अन्तर-विग्रह प्रबलतर हो रहा है। तुम्हारे स्वपक्षियों और विपक्षियों में बराबरी की टक्कर है। वैशाली गृह-युद्ध के ख़तरे में है।'

'तो मेरी वैशाली-यात्रा सार्थक हो गई। सचाई यह है, मित्र, कि हम सभी तो अपने भीतर विभाजित हैं। और वह विभाजन खुल कर सामने आ जाना ज़रूरी था। सृष्टि के कण-कण, जन-जन से लगा कर, जातियों और राष्ट्रों तक में सर्वत्र एक अन्तर्विग्रह सदा चल रहा है। वह

फट पड़ा है, तो बड़ा काम हो गया। लगता है विस्फोट बुनियाद में हुआ है, तो सम्पूर्ण संयुक्ति होकर रहेगी। और बताओ, अवन्ती और मगध क्या कहते हैं?'

'एक अजीब तमाशा हुआ है। सारे राजे-महाराजों पर यह आतंक छा गया है, कि गणतंत्रों का यह बेटा, हमारे सारे राज्यों में बलवा करवा कर, तमाम आर्यावर्त में वैशाली का गणतंत्री संघराज्य स्थापित करने का षड्यंत्र रच रहा है। उधर गणतंत्रों के दिलों में यह दहशत पैदा हो गई है कि वर्द्धमान साम्राज्यवादी है, और वह बिम्बिसार को अपना हथियार बना कर, अखण्ड भरतक्षेत्र में अपना एकराट् साम्राज्य स्थापित करना चाहता है ! . . '

मुझे ज़ोरों की हँसी आ गई। बोल पड़ा मैं : 'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा ! बड़ा मनोरंजक है यह उदन्त सोम, सचमुच। ये बड़े-बड़े शस्त्र-सज्जित छत्रधारी, इनके अतुल शस्त्रास्त्रों से लैस लक्ष-लक्ष सैन्य, इनके फौलादी दुर्ग, और मैं अकेला निहत्था, नादान लड़का ! और ये सब मुझ से भयभीत हैं, आतंकित हैं? सचमुच अद्भुत है महासत्ता का यह खेल !'

'तुम्हारी महासत्ता को शायद, पहली बार इतिहास मे ऐसा खिलाड़ी मिला है! चारों ओर यह स्वयं-सिद्ध देख आया हूँ कि इन तमाम शस्त्र-स्वामियों, इनके अपार शस्त्रों और सैन्यों से तुम निहत्थे आदमी अधिक ख़तरनाक हो। क्योंकि शस्त्र-बल से चिर दमित और आतंकित पृथ्वी और प्रजाएँ, एक निहत्थे पुरुष-पुंगव को, तमाम शस्त्रधारियों के विरुद्ध अपने पक्ष में उठते देख कर, तुम्हारे पीछे खड़ी हो गई हैं। तमाम दुनिया की सामूहिक शस्त्र-शक्ति को, अकेला चुनौती देने वाला व्यक्ति, आज तक तो पुराण-इतिहास में सुना नहीं गया।'

'अच्छा हुआ सोमेश्वर, तुमने समय पर सावधान कर दिया मुझे ! इस मौलिक और संयुक्त शस्त्र-सत्ता का सामना करने के लिए मुझे भी तो कोई मौलिक और अमोघ अनस्त्र बल खोज निकालना होगा। सोचता हूँ मेरी निष्कवच और नग्न काया, उसके मुकाबले कम नहीं पड़ेगी। और सुनाओ, चण्डप्रद्योत, उदयन, प्रसेनजित, श्रेणिकराज क्या कहते हैं?'

'चण्डप्रद्योत तो सदा का उद्दण्ड है ही। समय से पूर्व ही वह क्षिप्रा के पानी पर अपना डण्डा बजा रहा है। कहता है— 'लिच्छवियों की वैशाली में कुलद्रोही जन्मा है। दूध के दाँत हैं अभी, और दहाड़ रहा है सिंह बन कर। मरने को मचल पड़ा है नादान लड़का!' . . पर तुम्हारा भाई वह वत्सराज उदयन बड़ा रोचक और विचित्र युवक है। जब से उसने यह उदन्त सुना है, वह अपनी मातंग-विमोहिनी वीणा बजाने में और भी गहराई से तल्लीन हो गया, और सुन्दरियों के स्वप्न-लोक में पूरा खो गया है। कहता है—'ठीक कहता है वर्द्धमान—कितना ही लोहा बजाओ, लोहे पर टिका क्षणभंगुर हिंसक साम्राज्य एक दिन टूटेगा ही। सत्य और नित्य है केवल संगीत और सौन्दर्य का साम्राज्य। मेरे लिए वही काफी है। . . विचित्र है न यह उदयन, वर्द्धमान !'

'जानता हूँ, सोम, उदयन विलक्षण है। उसकी वीणा के सप्तक पर मेरे स्वर बजेंगे। यह आज का उद्विलासी उदयन, कल का चिद्विलासी है। मुझसे अधिक यह कोई नहीं जानता। और श्रावस्ती क्या कहती है?'

'प्रसेनजित तो, जानते हो आयुष्यमान्, कापुरुष है। पुरोहितों, वैद्यों और कुटनियों के भरोसे जीता है। जब से तुम्हारा सन्देश उससे सुना है, चाटु और पेटू ब्राह्मणों के बहकावे में आकर

राजसूय यज्ञ की तैयारी कर रहा है, ताकि सेतमेत मे सारी पृथ्वी पर उसका साम्राज्य स्थापित हो जाये। सुरा और सुन्दरी में रात-दिन डूबा है, और वैशाली के सारे शत्रुओं को श्रावस्ती में स्कन्धावार रचने के लिए निमंत्रण दे रहा है। अंगराज दधिवाहन भयभीत हैं कि तुम चम्पा के तहखानों की अतुल सुवर्णराशि रास्तों पर लाकर दरिद्रों को लुटा देना चाहते हो। मगर उनकी बेटी शीलचन्दना ऐसी भाविक भक्त है तुम्हारी कि, रो रोकर वह सदा तुम्हें ही पुकारती रहती है।'

'चन्द्रभद्रा शीलचन्दन, तुम्हे ठीक महावीर की बहन की तरह तलवारों की छाया मे चलना होगा ! तैयार रहो। मै तुम्हारे साथ हूँ।'

'और मगधेश्वर तो, वर्द्धमान, जब से यह उदन्त सुना है, तुम्हारे गुण गाते नहीं अघाते। कहते है— 'अध. पतित क्षत्रियों के बीच यह एक ही तो नरशार्दूल जन्मा है। सारे ही दैवज्ञ एक सिरे से भविष्य-वाणी कर रहे है कि वह जन्मजात चक्रवर्ती है। गणतंत्री होकर वह नहीं रह सकता, वह भारतों का राजराजेश्वर होकर रहेगा। मेरी प्रेम और सौन्दर्य-पूजा का मर्म केवल वही तो समझता है। वर्द्धमान मुझे साथ लेकर तमाम जम्बूद्वीप मे एकराट् साम्राज्य स्थापित करना चाहता है।' सो मित्र, जिस मगध सम्राट की आक्रामकता से वैशाली आतंकित है, उसे तो चुटकी बजा कर ही तुमने चॉप लिय'। उधर कुटिल वर्षकार भी हर्ष से गद्गद हो उठा है। यह एक जगत-विख्यात तथ्य है कि वज्जिमघ की एकता अटूट है : और जब तक लिच्छवियों मे यह एका है, वैशाली अजेय है। तुम्हारे भाषण से वज्जियों मे अन्तर्विग्रह जाग उठा है, और वर्षकार अब वैशाली को चुटकी बजाते मे जीत लेने की सोच रहा है। उसने चोगुने वेग से आक्रमण की तैयारी शुरू कर दी है। आर्यावर्त के सारे दबे हुए अन्तर्विग्रहों की आग को तुमने खुले चौराहों पर प्रज्जवल्यमान कर दिया है। अब तक मत्र-दर्शन की बात केवल सुनता रहा हूँ, तुमने अपने शब्द की शक्ति से उसे सिद्ध कर दिया। तुम्हे पहचानना कठिन होता जा रहा है, आयुष्यमान् ' असम्भव हो तुम, इसी से अनन्त सम्भव हो ।'

'असम्भव की सीमा-रेखा, असम्भव पुरुष ही तोड सकता है ! व्यक्ति मे यदि सत्ता साक्षात् प्रतिभासित ओर परिभाषित हुई है, तो जानो सोमेश्वर, मै और तुम से परे कोई तीसरी ताकत इस समय काम कर रही है। और तुम मुझे उसके देवदूत लग रहे हो। कवि होकर, अव्यक्तों, असम्भव सम्भावनाओं, परान्तरों और भविष्यों के द्रष्टा हो तुम ! . और कहो, पश्चिमी सीमान्तों और उसके पार के देशों की भी कुछ खबर है ?'

'वही तक की क्या पूछते हो ! भरत-क्षेत्र से मनुष्य द्वारा अगम्य विदेह क्षेत्रों तक का उदन्त सुनो मुझसे। कहते है कि, विदेह क्षेत्रों के नित्य विद्यमान तीर्थंकरों की दिव्य-ध्वनियाँ प्रखर और प्रभजन की तरह वेगीली हो उठी है। उनमे सुनाई पड़ा है कि : 'अरे भव्यो, अपूर्व और अप्रतिम है भरत-क्षेत्र का यह कुमार तीर्थंकर महावीर ! अनन्त कैवल्य ज्योति के नये पटल यह खटखटा रहा है। आदिकाल से चले आ रहे जीवन, जगत और समाज का ढॉचा इसने तोड़ दिया है। सहस्राब्दों के घिसे-पिटे वस्तुओं और व्यवस्थाओं के जडीभूत ढॉचों को उसने अपनी एक ही ललकार मे ढहा दिया है। विश्व की तमाम तलवारे • र सकी, वह उसने अपनी एक ही ललकार मे कर दिया है। उसने ज्ञाता और ज्ञेय मे अन्तर्निहित एक नयी ही क्रिया-शक्ति का स्रोत खोल दिया है। शुद्ध और पूर्ण ज्ञान को, शुद्ध और पूर्ण क्रिया मे परिणत कर, वह धर्म और कर्म की,

लोक और लोकोत्तर की एक अपूर्व संयुति पृथ्वी पर सिद्ध करने आया है।' . . अब तुम्हीं कहो वर्द्धमान, यहाँ के पूर्व-पश्चिम की क्या सुनाऊँ ? फिर भी सुन लो, पश्चिमी गणतंत्र तुम्हारे भीतर विश्व का प्रथम गण-सम्राट देख रहे हैं। गान्धार में तो प्रजाओं ने तुम्हें सर पर उठा लिया है। परशुपुरी का शासानुशास तुम्हारी मैत्री को उत्सुक हो उठा है : क्योंकि वह सोचने लगा है कि आर्यावर्त अब तुम्हारी मुट्ठी में है; और ऐसी संयुक्त शक्ति की मैत्री के बिना वह अपना अस्तित्व सम्भव नहीं देखता। आर्यावर्त में तुम्हारा स्वागत सबसे अधिक ब्रह्म-क्षत्रियों और संकरों ने किया है। शूद्र, कम्मकर और चाण्डाल अपना पीढ़ियों-पुरातन भय और दैन्य त्याग कर, रात-दिन तुम्हारी जयकारों से आकाश गुंजित कर रहे हैं। ऐसा लगता है, कि जानी हुई ससागरा पृथ्वी के दिगन्त तुम्हारे इस शंखनाद से हिल उठे हैं। अनुभव कर रहा हूँ, कि तमाम सृष्टि में विप्लव की एक हिलोर दौड़ी है, और कुलाचल दोलायमान हुए हैं ! . . .'

'और कुछ कहीं हुआ हो या नहीं सोम, पर तुम्हारी कविता में ज़रूर एक अतिक्रान्ति हुई है। और तुम्हारे जैसे पारदर्शी कवि की कविता असत्य नहीं हो सकती। उसमें यदि यह सब घटित हुआ है, तो कल पृथ्वी पर वह निश्चय रूपायमान होगा। मै तुम्हारा कृतज्ञ हूँ। . . '

'लेकिन वर्द्धमान, यह क्या सुन रहा हूँ कि तुम जा रहे हो ? आख़िर क्यों और कहाँ ?'

'तुम्हीं तो कह रहे हो कवि, कि चारों ओर से मेरे लिये पुकार आ रही है। पुकार यदि मैंने सबमें पैदा की है, तो उत्तर देना होगा कि नहीं ? तब इस महल की चहार दीवारी में बन्द कैसे रह सकता हूँ। मेरी आवाज़ से तुम्हारे भीतर ऐसा विराट् स्वप्न जागा है, तो उसे सिद्ध करना होगा कि नहीं ? कण-कण यदि मेरे शब्द से ज्वालागिरि हो उठा है, तो क्या उसकी लपटों से बच कर, यहाँ बैठा रह सकता हूँ ?'

'तो लोक के बीच आओ, लोक का त्याग करके, उसे पीठ देकर, अरण्यों के एकान्त में निर्वासित होकर, वह कैसे सम्भव है ?'

'वर्तमान ससार को यदि मैने तोड़ा है, तो एक नया और मौलिक प्रतिसंसार मुझे रचना होगा। वर्तमान के ह्रासोन्मुख काम-साम्राज्य को यदि मैंने छिन्न-भिन्न किया है, तो मौलिक सत्ता के स्वरूप पर आधारित एक अभीष्ट और ऊर्ध्वोन्मुख प्रति-साम्राज्य मुझे अपने भीतर से अवतीर्ण करना होगा।'

'तो क्या उसके लिए अपने ही किये इस सत्यानाश से पलायन करके अपने एकान्त मे खो रहोगे ?'

'पलायन नहीं, यह पुनरुत्थान की दिशा में महाप्रस्थान का प्रथम चरण है। लोक मे जो भी आमूल अतिक्रान्ति करने आये, उन्हें एक बार तो लोक से निष्क्रान्त हो ही जाना पड़ा है। जो वर्तमान देश-काल को आमूल-चूल उलटकर बदल देने आये, उन्हें सदा एक बार तो लोक से बाहर खड़े हो ही जाना पड़ा ! .

'सोचता हूँ, इतिहास के विपथगामी दौर को जो उलट देने आया है, उसे इतिहास के चौराहे पर खुल कर खेलना होगा। धारा को जो मोड़ देने आया है, उसे उसके सम्मुख खड़े होकर, अपनी खुली छाती पर उसे प्रतिरोध देना होगा। . .

'ऐसा युद्ध सतह के मैदानों और चौराहों पर नहीं लड़ा जाता, सोमेश्वर ! ऊपरी कड़ियों

की जोड़-तोड़ से, मौलिक एकता पर आधारित रचना सम्भव नही । उससे केवल ऊपरी सदाचारों के पाखड पनपते है । सुविधा, सुधार और समझौतों की स्वार्थी राजनीति का जन्म होता है । वह स्थिति को सुलझाने के बजाय, और अधिक उलझाती है। उसमे मौलिक धर्म-सत्ता का स्थान मानवों की कृत्रिम और स्वार्थी कर्म-सत्ता ले लेती है । वर्तमान का विपर्यय उसी का तो प्रतिफल है ।

सुनो सोम, धारा यदि विकृत हो गई है, तो मानना होगा कि अपने प्रकृत उत्स से वह उच्छिन्न हो गई है । उसे मैने तोड़ा है, तो इसीलिए कि उसके अतल उत्स मे उतर जाऊँ, और उसके प्रकृत प्रवाह को लोक मे अनिर्वार प्रवाहित कर दूँ ।'

'तुम्हारी बात को पूरी तरह समझ नही रहा, वर्द्धमान, कुछ और स्पष्ट करो ।'

'जगत को जीते बिना, उसमे जी चाहा रूपान्तर नही लाया जा सकता । और जगत को जीतने के लिए उसकी जड मे जाना होगा । वृक्ष के फूल, फल, शाखा जब विपन्न और विकृत हो जाते है, तो माली उन पर सीधे औषधि प्रयोग नही करता, वह वृक्ष की जड का उपचार और सशोधन करता है । मूल को स्वस्थ किये बिना वृक्ष के डाल फूल फल स्वस्थ और सम्पन्न नही हो सकते ।'

'तो मूल का उपचार तुम कैसे करना चाहते हो ?'

उसके लिए पहले अपने ही मूल मे जाना होगा । अपनी ही आत्म शुद्धि और सशोधन करना होगा । अपने मूल मे आत्मस्थ होना, निसर्गत समग्र महासत्ता के मूल से जुड जाना है, उसमे स्वरूपस्थ और तदाकार होना है । तब अपने ही वैयक्तिक जीवन और सत्ता मे आपोआप एक आमूल आत्मक्रान्ति और रूपान्तर घटित होता है । फलत व्यक्ति निरी व्यष्टि न रह कर, समष्टि का केन्द्रीय पुरुष हो जाता है । अपने आपमे सुसम्वादी और सयुक्त हो जाने पर, समग्र विश्वसत्ता मे वह स्वभावत सयुक्ति और सुसवादिता की एक परमाणविक विद्युतशक्ति का सचार कर देता है । लोक मे सर्व का रूपान्तर करने के लिए, पहले अपना सम्पूर्ण रूपान्तर कर लेना अनिवार्य होगा । सबको जो सही रूप मे बदलने चला है उसे पहले स्वय सही अर्थ मे बदल जाना होगा ।'

तो सब के लिए क्या यह आवश्यक है न कि लोक के बीचो बीच खडे रह कर, अपने आत्म रूपान्तर की प्रक्रिया सम्पन्न करो । तभी तो उसका प्रभाव सार्व पड सकेगा ।

'मैने कहा न सोमेश्वर, यह काम सतह पर रह कर नही, तह मे खोकर ही सम्भव है । केन्द्रस्थ होने के लिए बाहर की सारी जड़ीभूत हो गई परिधियों को तोड कर, उनसे निष्क्रान्त हो जाना पड़ेगा । यहाँ तक कि भीतर बाहर शून्य हो जाना होगा । क्योकि शून्य मे ही केन्द्र का अवस्थान है और वहीं से आत्यतिक नव्य नूतन सृष्टि सम्भव है ।'

'तो उसके लिए क्या गृह त्याग अनिवार्य है ? यहाँ रह कर भी तो अब तक तुम अपनी एकान्त अन्तर्यात्रा का जीवन बिताते रहे हो ।'

'इस चहारदीवारी मे रह कर अब आगे की यात्रा सम्भव नही, सोमेश्वर । विकास के इस मोड पर पहुँच कर मैने स्वय ही तो इस चहारदीवारी को तोड दिया है जहाँ खडा हूँ उसी धरती को तो मैने ध्वस्त कर दिया है । बाहर के सारे आधार मैने छिन्न भिन्न कर दिये, अब यहाँ टिकाव

सम्भव नहीं; अपने और सृष्टि के भीतर चले जाने के सिवाय और कोई विकल्प अब नहीं बचा।'

'वर्तमान व्यवस्था का भंजन तुमने किया है, वर्द्धमान, तो उसके सूत्रधार होकर तुम्हें, अभी और यहाँ उसे नयी अवस्था और व्यवस्था प्रदान करनी होगी कि नहीं ?'

'जिस व्यवस्था का मैं आमूल उच्छेदन चाहता हूँ, उसका अंग होकर मैं कैसे रह सकता हूँ ! यह सारी व्यवस्था स्वार्थियों की सुविधा और उनके समझौतों पर टिकी हुई है। इसका अंग होकर रहूंगा, तो इसके स्थापित स्वार्थों, सुविधाओं और समझौतों को जाने-अनजाने अंगीकार करना अनिवार्य हो रहेगा। यहाँ का कुछ भी सत्य, न्यायोचित और समवादी नहीं। इस व्यवस्था से प्राप्त जीवन साधनों का उपयोग जब तक करता हूँ, इनका ऋणी और अधीन जब तक हूँ, तब तक चोर होकर ही रह सकता हूँ। चोरी और सीनाज़ोरी एक साथ कैसे चल सकती है ! वैशाली और नन्द्यावर्त की बुनियाद में मैंने उस दिन सुरंग लगा दी, सोमेश्वर, तो इस सारी व्यवस्था की धरती में सुरंग लग गई। घटस्फोट की प्रतीक्षा करो। सीधे भूमि के गर्भ में पहुँच कर मुझे उसके विकृत डिम्ब का विस्फोट करना होगा : तभी सत्य और सुन्दर का गर्भाधान सम्भव होगा : तभी भूमा का सर्वाभ्युदयी साम्राज्य भूमि पर प्रतिफलित हो सकेगा।'

'निवृत्ति मे जाकर, प्रवृत्ति कैसे सम्भव है, मान ?'

'पूर्ण निवृत्ति और पूर्ण प्रवृत्ति दोनों एक ही बात है। प्रवृत्ति में निवृत्ति और निवृत्ति में प्रवृत्ति, यही परिपूर्ण जीवन का महामंत्र है। जो भीतर से नितान्त निवृत्त है, वही बाहर की अनन्त प्रवृत्ति की परिपूर्ण और समीचीन संचालना कर सकता है। क्योंकि उसके भीतर महाशक्ति के संतुलन का कॉटा सतत प्रक्रियाशील रहता है। . . '

'नचिकेतस् और पार्श्व निवृत्ति की राह चल कर ब्रह्म-परिनिर्वाण पा गये; पर उनके उस ब्रह्मलाभ से जगत को क्या प्राप्त हुआ, आयुष्यमान् ?'

'हर तीर्थंकर, योगीश्वर या युग-विधाता महापुरुष, एक विशेष द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की तत्कालीन माँग पूरी करता है। नचिकेतस् और पार्श्व के जगत में मनुष्य की पुकार वैयक्तिक मुक्ति की खोज से आगे न जा सकी थी। उसे प्राप्त कर उन्होंने, अपने पीछे कैवल्य-ज्योति के चरण-चिन्हों से अंकित एक प्रशस्त आलोकपथ छोड़ा है। पर आज के युगन्धर के सामने समष्टि की इहलौकिक मांगलिक मुक्ति की चुनोती उठ खड़ी हुई है। मैं यहाँ इसीलिए हूँ कि वैयक्तिक मुक्ति के कैवल्य-सूर्य को केवल निर्वाण के तट मे विलीन हो जाने को न छोड़ दूँ; उसे भू और द्यु के क्षितिज मे उतार कर, लोक और काल के उदयाचल पर एक अपूर्व सर्वरूपान्तरकारी क्रिया-शक्ति के रूप मे उद्योतमान करूँ। मैं निर्वाण को पादुका की तरह धारण कर, सिद्ध परमेष्ठी को लोक के सम्वादी पुनरावतरण के लिए, लोकालय की राहों और चौराहों पर लौटा लाना चाहता हूँ। . . नचिकेतस् और पार्श्वनाथ से पूर्व, ऋषभदेव, राजर्षि भरत, जनक विदेह और याज्ञवल्क्य, निवृत्ति और प्रवृत्ति के समन्वय की पथ-रेखा हमारे बीच छोड़ गये हैं। वर्तमान का आगामी तीर्थंकर उसी पथ-रेखा को आगे ले जाने वाला पुरोधा और अपूर्व प्रतिसूर्य होगा। . . '

'वर्द्धमान, तुम्हारी पहंचान फिर हाथ से निकल गयी। तुम आँख से ओझल हुए जा रहे हो ! . . '

कहते-कहते सोमेश्वर मेरे एक हाथ की उद्बोधिनी मुद्रा को, अपने दोनों हाथों में पकड़

कर, भीतर ही भीतर फूट पड़ा। उसकी मुँदी आँखों की बरौनियाँ भीनी हो आईं।

और वैनतेयी की आँसू-धुली पारदर्श आँखें पूरी खुल कर, उस अगम्य दूरी में मेरा अनुसरण कर रही थी, जहाँ वर्तमान के क्षितिज का तटान्त तोड़ कर, मैं आगे बढ़ा जा रहा था।

'. . वैना, अपने कवि को तुम्हारे हाथ सौंपे जा रहा हूँ। उसे ऐसा न लगे कि वह अकेला पीछे छूट गया है। दोनों संयुक्त और युगलित चलोगे, तो उसकी कविता भव्यतर और दिव्यतर होती हुई, महावीर में साकार होती चली जायेगी। वही तो तुम होगी वैनतेयी . . !'

विप्लव-चक्र का धुरन्धर

'. . एक वर्ष हो गया, वर्षीदान चल रहा है। हमारे सारे ख़ज़ाने ख़ाली हो गये, और क्या चाहते हो, बेटा?'

'ख़ाली होकर ख़त्म हो गये? क्या भरते नहीं जा रहे, तात?'

'बेशक, ख़ाली होकर फिर भरते ही जा रहे है। वर्द्धमान का यह प्रसाद तो उसके जन्म के दिन से ही देख रहा हूँ, कुण्डपुर मे !'

'ख़ाली कह कर ही आप चुप हो गये न, बापू? भरने की बात तो आपने मेरे पूछने पर कही। इसी से पूछना पड़ा?'

'हमारे ख़ज़ाने तो ख़ाली हो ही गये, बेटा। अब जो है, वह तो वर्द्धमान का प्रसाद है। चमत्कार के समक्ष तो चुप और चकित ही रहा जा सकता है न, उसे अपना कैसे कहूँ?'

'तो सुनें बापू, यह प्रसाद हर घर और हर आत्मा तक पहुँचा देना चाहता हूँ। ताकि जन-जन के भीतर-बाहर के ख़ज़ाने अखूट हो जाये। यह चमत्कार नहीं बापू, चिन्मय का साक्षात्कार है। वस्तु सामने आ रही है, तो क्या आप उससे ऑखे फेरेगे? प्रत्यक्ष का भी प्रमाण चाहेगे आप?'

'तुम जन्मे उसी दिन से हमारा तो कुछ रहा नही, लालू। यह सारा वैभव तुम्हारा है। इसके स्वामी तुम हो, हम नहीं। जो चाहो इसका कर सकते हो !'

'बहुत कुछ रह गया है, महाराज ! और उसका स्वामी मै नही। मेरे स्वामित्व मे मेरा कुछ रह नही सकता। नन्द्यावर्त और वैशाली पर अभी भी आपके सगीन पहरे है। स्वामित्व मेरा होता तो अब तक .'

'बोलो, क्या चाहते हो, आयुष्यमान् !'

'मेरा वश चले, तो मै नन्द्यावर्त और वैशाली को भी दान कर देना चाहता हूँ. . इस वर्षीदान का समापन केवल यही हो सकता है !'

प्रियकारिणी त्रिशला के शयन-कक्ष की रत्न-विभा मे हज़ारों ऑखे खुल कर, स्तब्ध ताकती रह गई।

'किसे दान कर कर देना चाहते हो?'

'लोक को ! जो समस्त लोक का है, वह उसी के पास लौट जाये। लोक स्वयं लोक का है, वस्तु स्वयं वस्तु की है। यहाँ कुछ भी किसी का नहीं। मेरा भी नहीं, आपका भी नहीं, अन्य किसी का नहीं। सब अपना-अपना है।'

'वैशाली को तो तुमने सत्यानाश के कगारे पर खड़ा कर ही दिया है। वह अब सिर्फ तुम्हारे आख़िरी धक्के के इन्तज़ार में है। तब बेचारा नन्द्यावर्त कहाँ रहेगा ?'

महारानी-माँ सामने के रत्नासन पर शिलीभूत, अपलक मुझे समूचा पी जाना चाहती थीं, कि चुप हो जाऊँ।

'यदि यह प्रतीति आप सब पा गये है, तो शुभ समाचार है, बापू ! और वह अन्तिम धक्का देने के लिए, मुझे नन्द्यावर्त और वैशाली छोड़ जाना होगा !'

'तारो या मारो। इस समय सत्ता केवल तुम्हारी है। हम कोई नही रहे। जो चाहो कर सकते हो।'

'सत्ता मै किसी की नहीं स्वीकारता। अपनी भी औरों पर नहीं। वह कण-कण और जन-जन की अपनी स्वतत्र है। वैशाली अब तक केवल नाम का गणतन्त्र है। दरअसल तो वह कुलतंत्र है। अष्ट-कुलकों का राजतंत्र है। मै उसे एक विशुद्ध और पूर्ण गणतंत्र के रूप में देखना चाहता हूँ। उस दिन संथागार मे एक जनगण ने सीधी और साफ़ माँग की थी, कि वर्द्धमान वैशाली के लिए ख़तरनाक है, और उसे वैशाली मे नही रहने दिया जा सकता। उसकी माँग पूरी करके, मैं वैशाली मे शुद्ध गणतन्त्र का शिलारोपण कर जाना चाहता हूँ !'

'पर तुमने उत्तर मे यह भी तो चुनौती दी थी कि वैशाली के बाहर खड़ा होकर, वर्द्धमान उसके लिए और भी ख़तरनाक़ हो सकता है ?'

'बेशक हो सकता है, ताकि विश्व की तमाम शक्ति-लोलुप राजसत्ताओं के लिए वैशाली के द्वार नि:शस्त्र और मुक्त हो जाये। ताकि वर्तमान की सारी पुंजीभूत शस्त्र-सत्ता एक साथ उस पर आक्रमण करने आये, और माँ वैशाली की गोद मे आकर वह अनायास नि:शस्त्र और शरणागत हो जाये !'

'कहने मे यह बहुत सुन्दर लगता है, बेटा, पर करना क्या इतना आसान हो सकता है ?'

'बापू, देखते तो है, कि वर्द्धमान ने बचपन से जो चाहा, चुपचाप करता ही रहा है, कहा तो उसने कभी नहीं। आप सबने कहा कि बोलो, तो मै पहली बार बोला भी वह, जो मै किया चाहता हूँ और जो अनिवार्य है !'

'चक्रवर्तित्व के चिन्ह ललाट और पगतलियों पर लेकर जन्मे हो, बेटा, तो अपने स्वप्न का वह चक्रवर्तित्व, लोक के बीच खड़े होकर, लोक मे स्थापित करो। निर्जन कान्तारों मे निर्वासित होकर वह कैसे सम्भव होगा ?'

'मेरा चक्रवर्तित्व आपके मानचित्रों के लोक तक सीमित नही रह सकता, महाराज ! चक्रवर्ती मै लोक-लोकान्तर, दिग्-दिगन्तर, काल-कालान्तर का ही हो सकता हूँ। और दिक्काल का चक्रवर्ती दिगम्बर ही हो सकता है। और वह मै हो जाना चाहता हूँ।'

'मान . !'

एक चिहुक के साथ, दोनों हाथों से मुँह ढाँप कर माँ पीठिका पर ढुलक रहीं। उनकी छाती

में दबती सिसकियों को मैं सुन सका।

'. . इस चोरी के राज्य का एक लत्ता भी जब तक मेरे तन पर है, अचौर्य का साम्राज्य स्थापित नहीं हो सकता। यह महल, यह वैशाली, ये सारे राज्य, वर्तमान का यह सारा लोक, चोरी के प्रपंच पर ही टिका हुआ है। चोरों की साठ-गाँठ से प्रतिफलित है यह सारा ऐश्वर्य। मेरे तन पर यह चोरी का माहार्घ उत्तरीय पड़ा हुआ है। चोर निरावरण सत्य का सामना कैसे कर सकता है ! नग्न होकर ही, नग्न सत्य के आमने-सामने खड़ा हुआ जा सकता है।'

'तुम्हारे अकेले के नग्न हो जाने से क्या होगा, बेटा ?'

'आरपार नग्न जब खड़ा हो जाऊँगा लोक में, तो उस दर्पण के सामने सबके छल-छद्म और अज्ञान के कपड़े आपोआप उतर जायेंगे, तात ! उसके बाद जो कपड़े बच रहेंगे, वे चोरी के नहीं, असली और अपने होंगे। वे मानो आवश्यकतानुसार अपने ही भीतर से बुन कर, ऊपर आ रहेंगे। जैसे पराग पर पँखुड़ियाँ : बादाम की गिरी पर उसका रक्षक छिलका . .।'

'यह तो भाव की बात हुई, तो निश्चय ही भाव की शुद्धता ऐसी रहे। स्थूल पदार्थ का राज्य और व्यापार तो अधिकार और आदान-प्रदान पर ही सदा से चलता आया है।'

'सदा से जो चलता आया है, वही सत्य और इष्ट हो, तो जगत में इतने दुःख की सृष्टि किसलिए ? भाव ही वस्तु का असली स्वभाव है। और वस्तु के स्वभाव को हम जानें, उसमें जियें, तो फिर जगत में विभाव और अभाव का त्रास हो ही क्यों ? वस्तु का स्वभाव-राज्य स्वतंत्र आत्मदान से चलता है, अधिकार और सौदे के आदान-प्रदान से नहीं। वस्तु के मूल सत्य और उसके व्यवहार को एक हो जाना होगा। तभी लोक में जीवों के निर्वैर प्रेम का अहिंसक और सत्य राज्य स्थापित हो सकता है।'

'श्रमण भगवन्तों ने निश्चय और व्यवहार का भेद तो किया ही है।'

'वह श्रुतज्ञानियों द्वारा उपदिष्ट सहूलियत और सुविधा का मिथ्या-दृष्टि विधान है।. . यह जो व्यवहार सम्यक्-दर्शन कहा जाता है न, यह सत्य को सामने और सीधे लेकर जीने से जो भयभीत हैं, उनका पलायनवादी विधान है। व्यवहार सम्यक्-दर्शन, अपने भीतर छुपे मोह की गर्मी से सत्य को सहलाकर सुलाये रखने का एक छद्म व्यापार है।. . वह पाखंड का एक सुन्दर और कारगर हथियार है !'

'श्रमण भगवन्तों ने तो व्यवहार को निश्चय की सीढ़ी कहा है, वर्द्धमान !'

'सत्य सीढ़ियाँ चढ़ कर प्रकट नहीं होता, बापू। वह तो अन्तर्मुहूर्त मात्र में होने वाला साक्षात्कार है। वह एक आकस्मिक और अखण्ड विस्फोट है। ये सीढ़ियाँ, सुविधाजीवी स्वार्थियों का, अपने असत्य और अनाचार को धर्म की आड़ में छुपा कर अनर्गल चलाने का षड्यंत्री आविष्कार है। तथाकथित व्यवहार-सम्यक्दर्शन की पक्की सड़क से चल कर, प्रवाही सत्य तक कैसे पहुँचा जा सकता है ?'

'वर्द्धमान, क्या तुम नहीं मानते कि मनुष्य को यहाँ जो कुछ प्राप्त है, यह जो सुखी-दुखी, धनी-निर्धन, ऊँच-नीच के भेद दिखाई पड़ते हैं, ये सब मानवों के पूर्वोपार्जित पुण्य-पाप के फल हैं ? अरिहंतों ने इस कर्म-विधान को ही लोक की परिचालना का परम नियम कहा है।'

'अरिहंतों ने, जो होता है, जो यथार्थ है, केवल उसका कथन किया है। मैं कई बार कह

चुका, कर्म-बन्ध एक नकारात्मक शक्ति है, वह विधायक विधान नहीं। वह केवल तथ्य की अराजकता है, सत्य की व्यवस्था नहीं। सत्य की व्यवस्था, समवादी और सम्वादी ही हो सकती है। तथ्य के वैषम्य को अपने आत्म-संकल्प से छिन्न-भिन्न करके, हमें सत्य की समता-मूलक व्यवस्था स्थापित करनी है। जिनेश्वरों ने कर्म को काटने को कहा है, पूजने को नहीं। पुण्य और पाप दोनों ही मूलतः कषाय हैं। वे दोनों ही बन्धक हैं, मुक्तिदायक नहीं। नकारात्मक कर्माश्रव से यदि लोक में वैषम्य, वर्ग और भेद की सृष्टि हुई है, तो वह धर्म्य कह कर पाये चढ़ाने योग्य नहीं, मिटाने योग्य है। पुण्योदय यदि किसी के हुआ है, तो वह अकेले भोगने के लिए नहीं, सबमें बाँट देने के लिए है। उस तरह पुण्य बन्धक कषाय न रह कर, मुक्तिदायक स्वभाव हो जाता है। जो यहाँ पुण्य को अपना न्यायोचित उपार्जन समझ कर, उसे अपने ठेके की वस्तु बनाते हैं, और उसे गौरवपूर्वक अकेले भोग कर, अपने अहं और स्वार्थ को पोषते हैं, वे अपने और अन्यों के लिए, पाप का नया और चक्रवृद्धि नरक ही रचते हैं। यहाँ अधिकांश मे पुण्य को मैंने पाप में प्रतिफलित होते ही देखा है। तथाकथित पुण्यवानों को लोक के सबसे बड़े पापी होते देखा है। पुण्य आख़िर तो कषाय की ही सन्तान है, उसे पाला और पूजा कैसे जा सकता है, उसे तो संहारा ही जा सकता है। व्यवहार सम्यक् दर्शन का मुखौटा पहन कर, पुण्य यहाँ शोषण का एक अमोघ, सुन्दर और वैध हथियार बना है। वह पूजा-प्रतिष्ठा के सिंहासन पर बैठ गया है।. . सदियों से धर्म की आड़ में चल रहे पुण्य के इस षड्यंत्र का मैं भंडाफोड़ कर देना चाहता हूँ। पुण्य के इस हिरण्मय घट का विस्फोट करके मैं उसमे छुपे कषाय के हिरण्यकश्यपु का सदा के लिए वध कर देना चाहता हूँ। ताकि सत्य प्रकट हो, और लोक में सर्व का समत्व-मूलक अभ्युदय हो।'

'यह तो कुछ अपूर्व सुन रहा हूँ, आयुष्यमान् !'

'सत्य सदा अपूर्व ही होता है, बापू। सत्ता अनैकान्तिक और अनन्त है; सो वह अपने हर नये प्रकटीकरण में अपूर्व ही हो सकती है। अब तक का हर तीर्थंकर, पिछले से अपूर्व हुआ, तो अगला भी अपूर्व होगा ही।'

'अरिहंतों का तो यही दर्शन सुनता आया हूँ, आयुष्यमान्, कि तत्वतः यहाँ कोई व्यक्ति अन्य व्यक्ति का, कोई पदार्थ अन्य पदार्थ का उपकारक नही हो सकता। अनन्त वस्तु और अनन्त व्यक्ति हैं यहाँ, और सबका अपना स्वतन्त्र परिणमन है। सब अपने स्वभाव में रम्माण और क्रियमाण है, पर में कोई क्रिया या परोपकार तत्वतः ही सम्भव नहीं। स्व-पर के भेद-विज्ञान को क्या तुम मिथ्या मानते हो ? जिसे जिनेश्वरों ने त्रिकाल असम्भव कहा, उसे सम्भव कहना और बनाने की बात करना, क्या मिथ्या-दर्शन ही नहीं होगा ?'

'त्रिकाल-ज्ञानी तीर्थंकर, 'त्रिकाल असम्भव' जैसी पक्की और अन्तिम भाषा बोल ही कैसे सकता है ? अनन्त ज्ञानी कभी अन्तिम शब्द नहीं कहता। सत्ता जब स्वभाव से ही अनैकान्तिक और अनन्त है, तो उसके विषय में अन्तिम शब्द कैसे कहा जा सकता है। कथन मात्र सापेक्ष ही हो सकता है, निरपेक्ष और अन्तिम होकर तो वह सत्याभास हो ही जाता है। महासत्ता अद्वैत है, अवान्तर सत्ता द्वैत है। अद्वैत और द्वैत दोनों अपनी जगह सत्य हैं। उनकी पारस्परिक लीला का रहस्य इतना गहन, अभेद्य और अकथ्य है, कि कथन द्वारा उसका अन्तिम निर्णय मात्र मिथ्या-दर्शन ही हो सकता है।'

'तब तो तीर्थंकरों का सारा भाषाबद्ध तत्वज्ञान तुम्हारे लेखे मिथ्या-दर्शन है ?'

'कोई भी दोटूक भाषा में बद्ध तत्वज्ञान, एक हद के बाद मिथ्या-दर्शन हो ही जाता है। अरिहन्तों ने सप्तभंगी नय से ही पदार्थ के कथन को सत्य-विहित माना है। और अन्ततः उन्होंने सातवें भंग मे पदार्थ को अनिर्वच कह ही दिया। यानी कि तत्व अन्ततः कथनातीत है। वस्तु अन्ततः वचनातीत है। उसे कथन से परे केवल अनुभव किया जा सकता है, जिया जा सकता है। मैं सत्य को केवल जीना चाहता हूँ। उसकी अनैकान्तिक और बहुआयामी प्रभा को अपने व्यक्तित्व और आचरण में प्रकाशित किया चाहता हूँ। तब उसका जो यथार्थ स्वरूप है, वह आपोआप प्रकट हो ही जायेगा। मैं कथन द्वारा उसके निर्णय के झमेले में क्यों पड़ूँ ! कथन को लेकर जो चले, वे सब वादी हुए और सब वादियों में प्रतिवादियों की एक पूरी शृंखला खड़ी कर दी। उससे सम्यक्-दर्शन नही, मिथ्या-दर्शन ही प्रतिफलित हुआ। उससे कल्याण नहीं, अकल्याण का ही विस्फोट हुआ। धर्म और सत्य के नाम पर, उससे अधर्म्य और असत्य भेदों और सम्प्रदायों की सृष्टि हुई। तीर्थंकर वादी नहीं, सृष्टि और मुक्ति के मौन सम्वादी और स्रष्टा होते हैं। इसी से उनकी वाणी निरक्षरी और अनाहत दिव्य-ध्वनि होती है; वह शाब्दिक विधान और उपदेश नहीं होता। वे कुछ कहते नहीं, करते नहीं, अपनी कैवल्य-ज्योति के विस्फोट से, सृष्टि मे केवल प्रतिफलित होते चले जाते है। वे मूर्तिमान सत्य और कल्याण होते हैं। उनकी कैवल्य-क्रान्ति एक अनहदनाद द्वारा, सृष्टि मे चुपचाप व्यापती और व्यक्त होती चली जाती है।'

'अद्भुत और अपूर्व प्रतीतिकारक है, तुम्हारी वाणी, बेटा। प्रकट में वह अर्हतों के परम्परागत धर्म-दर्शन की विरोधिनी लग सकती है। पर यथार्थ में वह उसकी विरोधिनी नहीं, सम्वादिनी और समावेशिनी है। जो शास्त्र और वाङ्मय सूत्रबद्ध होकर जड़ हो गया है, उसे तुम अपने उद्‌बोधन से मुक्त और जीवन्त किये दे रहे हो। बोलते हो तो जैसे आपोआप परदे उठते चले जाते है, और प्रवाही सत्ता भीतरी चेतना में बहती चली आती है, उत्तरोत्तर अपने अनन्त रूप मे प्रकाशित होती चली जाती है।'

. . और मैंने देखा कि माँ निश्चल, स्तम्भित, मुग्ध, एकटक मुझे निहार रही हैं। और उनके अश्रु-धौत मुखमण्डल पर एक अपूर्व सौन्दर्य और शान्ति की आभा झलमला उठी है।

'एक बात पूछूँ बेटा, तुम जो नयी व्यवस्था स्थापित करना चाहते हो, उसे कौन लाये, कौन उसका विधान करे ? तुम तो आरण्यक होकर, अपनी आत्मा के एकान्त में निर्वासित हो जाना चाहते हो।'

'मेरी व्यवस्था धर्म की है, वह वस्तु-धर्म पर आधारित है। वस्तु-धर्म तो अपनी जगह नित्य विद्यमान है। तो लोक में उसकी व्यवस्था को बाहर से स्थापित नहीं किया जा सकता। यह जो ज्ञाता-द्रष्टा मनुष्य है न, वह अपने आत्मधर्म को जाने, उसमें स्थित हो, आसपास के व्यक्तियों और वस्तुओं के साथ स्वाभाविक और सत्य सम्बन्ध में जिये, तो वह व्यवस्था आपोआप मानव-इकाई मैं से प्रकट होकर, सर्वत्र प्रसारित होती चली जायेगी। बाहर के कृत्रिम शासन विधान, नियम-कानून, सेना और कोट्टपालिका के बल पर जो भी व्यवस्थाएँ रची जाती हैं, उनमें व्यक्तियों के न्यस्त स्वार्थ और कषाय अनजाने ही बद्धमूल होते हैं, सो वैसी व्यवस्थाएँ अपने आप मे विकृति और विभाग के बीज छुपाये रहती हैं। फलतः कालान्तर में वे विकृत और अधर्मी होकर

नष्ट हो जाती हैं। प्रश्न यह संगत है कि कौन वह मौलिक धर्म की व्यवस्था लाये ? . . वही जो स्वयं धर्म-स्वरूप हो जाये, जो धर्म का स्रोत हो जाये। तब वैसी व्यवस्था, वैसे एक व्यक्ति की चेतना में से नदी की तरह प्रवाहित होकर, समस्त लोक जीवन में व्याप जाती है। उसमें भिद कर, सिंच कर, उसके स्वाभाविक धर्म को लोक के कर्म, सम्बन्ध और व्यापारों में प्रफुल्लित कर देती है।'

'तो कहना चाहते हो कि, तुम अपनी एकान्त आरण्यक साधना में लीन हो रहोगे, और यहाँ धर्म अपने आप फलीभूत हो जायेगा ?'

'एकान्त शब्द से किसी भ्रान्ति में न पड़ें, बापू। एकान्त में जाना चाहता हूँ, अपने अनैकान्तिक स्वरूप में स्थित होकर, उससे प्रकाशित हो उठने के लिए। एकाकी हो रहना चाहता हूँ, एकमेव हो जाने के लिए, ताकि स्वतः सर्वमेव हो जाऊँ। . . फिर, तीर्थंकर की साधना केवल अपनी निजी, आत्मिक मुक्ति पर तो समाप्त नहीं होती, वह सर्व की मुक्ति का मार्ग बन कर लोक में प्रकाशित होती है। हर तीर्थंकर सदा एक बार तो अपनी आत्म-प्राप्ति के लिए अवश्य, अरण्य की तपोभूमि में निर्वासित हो गया, पर सिद्धि पाने पर उसकी सर्व-व्याप्ति के लिए लोक में लौट आया। लोक में उसका समवशरण रचा गया, जहाँ सर्व को समत्व, समाधान और शरण प्राप्त हुई। और परम वीतरागी होते हुए भी, अंतिम साँस तक उसके श्रीमुख से सकल चराचर का सम्पूर्ण कल्याण करने वाली दिव्य ध्वनि प्रवाहित होती रही। इसी को मैं ज्ञानालोकित व्यष्टि में से, समष्टि में धर्म के प्रवाहन, प्रसार और प्रस्थापना की मौलिक प्रक्रिया मानता हूँ !'

'तो तुम अपने वैयक्तिक निर्वाण में खो नहीं जाओगे, सर्व के परित्राण के लिए लौट कर लोक में आओगे . . ?'

'वह नियति और अस्मिता तो मैं लेकर जन्मा हूँ, तात ! मैं कौन होता हूँ, जो अपने निर्णय से, उससे बच सकूँ। महासत्ता ने मेरी आन्तरिक संरचना में ही, इस अनिवार्य सम्भावना को नियोजित कर दिया है। मेरे व्यक्तित्व को पहले स्वयं साधना की तपाग्नि से, सम्पूर्ण शुद्ध और सर्व का आरपार दर्पण हो जाना पड़ेगा। सत्ता और अनैकान्तिकता, मेरे व्यक्तित्व में जाज्वल्यमान और मूर्तिमान होगी। जब मै भीतर-बाहर सम्पूर्ण निरावरण हो जाऊँगा, तो सत्य स्वयमेव ही यहाँ अनावरण हो उठेगा। तब आपोआप ही, नित-नव्य सत्य का सूर्य लोक मे संचरण करने लगेगा। भगवान मानव होकर पृथ्वी पर चलेंगे : मानव भगवान होकर अन्तरिक्षों मे विहार करेगा। भगवत्ता मानवता का वरण करेगी, और मानवता भगवत्ता को यहाँ साकार करके उसे धन्य और कृतार्थ करेगा। तब कण-कण मे एक ऐसी क्रान्ति और अतिक्रान्ति चुपचाप प्रज्वलित हो उठेगी, जो समकालीन संसार मे, एक तत्कालीन अभीष्ट परिवर्तन घटित करेगी; पर समस्त विश्व में स्वाभाविक वस्तु-धर्म के व्यक्तिकरण, और निखिल के आमूल रूपान्तर को घटित होने मे, सहस्राब्दियाँ लग सकती है। आने वाले युगों मे जो भी क्रान्तिकारी योगी, तीर्थंकर, अवतार आयेंगे, वे प्रकट मे अधूरे और परस्पर-पूरक के बजाय भले ही विरोधी दीखें, पर मूलतः और वस्तुतः वे इसी एकमेव वैश्विक अतिक्रान्ति और रूपान्तर के संवाहक और सहयोगी होंगे। एक ही महाविक्रिया की वे विविधमुखी प्रक्रियाएँ होंगी। . . एक ही शृंखला की कड़ियाँ . . !'

'साधु-साधु बेटा, बहुत मौलिक और नयी बात कही तुमने। परम्परागत श्रमणों और शास्त्रों से तो

ऐसा समूल समाधान नहीं मिलता। कोई अर्हत् और प्रगत शास्ता ही ऐसी बात कह सकता है।'

'छोड़िए उस अर्हत् शास्ता को अपने रास्ते पर। मैं तो केवल आपका, वैशाली का, और इक्ष्वाकुओं का एक योग्य बेटा भर होना चाहता हूँ। बोलो बापू, अपने बच्चे से और क्या चाहते हो . . ?'

. . सुन कर एकाएक माँ खिल कर तरल हो आईं। बोलीं : 'बच्चा इन्हीं का नहीं, मेरा भी तो है। और मैं चाहती हूँ कि वह अब चल कर हमारे साथ भोजन करे। बहुत अबेर हो गई, लालू ! मेरा पयस् तेरी प्रतीक्षा में है।'

'भोजन तो, माँ तुम्हारे आशीर्वाद से, मेरे भीतर सदा होता ही रहता है। तुम्हारे पयोधर से एक बार पिया पयस् क्या चुक सकता है ? वह तो मेरे अणु-अणु को निरन्तर आप्लावित किये है। आज और कोई नया पयस् पिलाओगी क्या ? तो प्रस्तुत है, तुम्हारा बेटा !'

सुन कर माँ का सारा चेहरा तरल और कातर हो आया। . . बरसों बाद आज दोपहर माँ और पिता के साथ भोजन किया। बहुत मौलिक और शाश्वत लगा आज के इस प्रसाद का स्वाद। माँ के आनन्द का पार नहीं है। उदास तो वे किंचित् भी नहीं लगीं; बल्कि आज जैसा उत्फुल्लित उन्हें शायद ही पहले कभी देखा हो। .

पूर्ण सम्वादिता की खोज में

माँ और पिता मुझे समझ रहे हैं। यह कम बात नहीं। बात करता हूँ, तो उनकी चेतना में एक गहरा समाधान व्याप्त रहता है। पर उनके मन-प्राण मोह से कातर और विह्वल हैं। आसन्न विछोह की कल्पना से वे भीतर ही भीतर थर्रा उठे हैं। वे अच्छी तरह जान गये हैं, कि अब मैं यहाँ रुक नहीं सकता। किसी भी क्षण जा सकता हूँ। उनकी आँखों में एक ही चित्र झटके दे रहा है :

एक दिन अचानक ऐसा होगा कि मैं नन्द्यावर्त की सीढ़ियाँ उतर जाऊँगा। सदा के लिए इस राजद्वार को पार कर जाऊँगा। फिर कभी इस जीवन में लौट कर, इस महल में नहीं आऊँगा।

सूना हो जायेगा सदा को यह मेरा कक्ष ! मेरी अनुपस्थिति का सूनापन, इस महल के एक-एक खण्ड, उद्यान, झाड़-गाँछ, सरोवर, पत्ती-पत्ती, कण-कण में व्याप जायेगा। अपने पीछे के इस विछोह के क्षत और उदासी का खयाल मुझे भी कभी-कभी आता है। पर मेरी अविछोही, अखण्ड चेतना में वह ठहर नहीं पाता : धारा में बह कर जाने कहाँ खो जाता है। लेकिन परिजनों की विरह-व्यथा को पूरी तीव्रता से अनुभव करता हूँ, और उनके साथ तद्रूप होकर, कभी-कभी हिल उठता हूँ। अपनी तो कोई व्यथा मुझे नहीं व्यापती, पर स्वजनों की व्यथा से बच नहीं पाता हूँ।

तिस पर समाचार आया है कि वैशाली में गृह-युद्ध फूट पड़ने की सम्भावना है। देवी आम्रपाली ने अपने सप्त-भूमिक प्रासाद के द्वार बन्द कर लिये हैं। सारी नगरी अवसन्न, उद्वेलित

और संकटापन्न है। मुझसे गण-परिषद को कोई आशा नहीं : क्योंकि मेरा मार्ग अपनाने का साहस उनमें नहीं। फिर, पार्षदों मे भी परस्पर तीव्र मतभेद की खाई खुल पड़ी है। एक ओर मेरे अभिनिष्क्रमण के सदमे से माँ और पिता काँपे हुए है। दूसरी ओर उनके अस्तित्व के आधारों पर ही सत्यानाश का काल भैरव मँडरा रहा है। घर के बेटे ने ही घर को तोड़-फोड़ दिया : और अब वह उन्हें छोड़कर चला भी जाना चाहता है। विचित्र है उनकी स्थिति। इस अनहोने बेटे पर गर्व करें, या उसके सामने खड़े हो बुक्का फाड़ कर रोयें, और उससे अपने लुटते अस्तित्व के त्राण की भीख माँगे : क्या करे वे ? उनके असमंजस का अन्त नही। पर मेरे मन मे तो कोई असमंजस नहीं।. . क्योंकि मैं कोई नहीं, मेरा कोई विधान नहीं। अन्तिम विधान महासत्ता का है, जिसने महावीर को इस रूप में यहाँ घटित किया है। जाने वाला मै कौन होता हूँ ? मैं निरा व्यक्ति नहीं : उस परम सत्य से चालित एक निर्बन्ध शक्ति मात्र हूँ। परिचालना उसी की है, मेरी नहीं।. .

आज अपराह्न अचानक माँ और पिता मेरे कक्ष मे आये। विनयाचार के बाद हम यथास्थान बैठे। शब्द बहुत देर तक सम्भव न हो सका। तनाव के त्रिकोण में, एक विस्फोटक सन्नाटा घुटता रहा।. .

'वर्द्धमान, प्रलय की इस घड़ी मे तुम्ही पहल करो। जाओ वैशाली और उसके सिंहतोरण में खड़े होकर, अपने सत्य के बम गोले का विस्फोट कर दो। इस घुटन मे अब एक पल भी हम जी नही सकते। जाने से पहले तुम्ही अपने जगाये ज्वालागिरि का दो टूक फैसला कर जाओ। या तो हमे मार जाओ, या तार जाओ। हमे फाँसी के फंदे मे दम घोंटते छोड़ कर, तुम जा नहीं सकते।'

'शान्त हों तात, जाना-आना तो देश-काल की एक माया मात्र है ! मै तो सदा सबके साथ हूँ, तो आपके साथ भी हूँ ही। स्पष्ट कहे, क्या चाहते है आप मुझसे ?'

'वैशाली के सिंहपौर पर खड़े होकर घोषणा कर दो, कि तुम वैशाली के राजपुत्र वर्द्धमान, वैशाली को लोक के प्रति दान करते हो। तुम्हारी चाह पूरी हो। फिर उसका फल भोगने को हम यहाँ है ही। तब तुम निर्द्वद्व जा सकते हो !'

वृद्ध पिता की घुमड़ती आवाज़ मे गहरा रोष था, अभियोग था, और आर्तनाद था। सहसा मै कुछ बोल न सका : एकटक सम्यक् दृष्टि से मै उन्हे आरपार देखता रह गया।

'बापू, मेरा जो भी कर्तव्य होगा, वह मुझसे पूरा होगा ही। आप निश्चिन्त रहे। वैशाली मुझसे बाहर कहीं नही। वह मुझमे, और मै उसमे ओत-प्रोत है। उसका विनाश या उत्थान, दोनों मेरी साँसों पर होगा। मुझ से बाहर कोई वैशाली है, तो उसे दान करने का दम्भ कैसे कर सकता हूँ ! हर वस्तु अपना दान स्वयं ही कर सकती है, दूसरे का उस पर वैसा कोई अधिकार नही। उस दिन संथागार के द्वार पर मैने मंगल-पुष्करिणी के जल को मुक्त करके जो जनगण का अभिषेक कर दिया, और फिर उसके मंच से जो मैं बोला, उसके बाद मैने देखा कि वैशाली ने स्वय ही अपना आत्मदान जगत के प्रति कर दिया। अब जो वहाँ हो रहा है, वह उस दान की लोक-व्याप्ति की एक अनिवार्य प्रक्रिया है। इस आत्मदान में से वैशाली का और आपका कल्याण ही प्रतिफलित होगा, इसमें मुझे रंच भी सन्देह नहीं है। इस प्रक्रिया को आप केवल धैर्यपूर्वक देखें : और विश्वास रखें कि इस विप्लव-चक्र की वल्गा वर्द्धमान के हाथ मे है। वह यहाँ रहे, या विजन कान्तार मे रहे, इस चक्र की धुरी पर वह बैठा है, यह आस्था अपने मन मे अटूट रक्खे। क्या

आपको अपने बेटे की सचाई पर विश्वास नही ?'

'अविश्वास तुम पर करूँ बेटा, तो अपनी आत्मा को ही खो बैठूँगा। जब तुम बोलते हो, तो आश्वासन की समाधि-सी अनुभव होती है। पर तुम्हारी चेतना के शिखर पर, सदा तुम्हारे साथ खडे रह सकने की सामर्थ्य तो हमारी नही। सुनूँ, क्या है हमारे परित्राण का वह उपाय, जो तुम्हारे मन मे चल रहा है।'

'परित्राण केवल मेरा या आपका नही, सर्व का एक साथ ही हो सकता है। उसकी मार्ग रेखा इस सामने के सूर्य की तरह मेरे हृदय मे स्पष्ट है। मुझे अपना ही नि शेष आत्मदान कर देना होगा। अपना सम्पूर्ण आत्मोत्सर्ग करेगा वर्द्धमान । इसके लिए उसे कायोत्सर्ग मे चले जाना होगा। देख तो रहे है आप, लोक मे चारों ओर अनर्गल इच्छा वासनाओं के हवन-कुण्ड धधक रहे है। स्वार्थी सवर्णी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य एकजुट होकर, अपनी लालसाओं और स्वार्थों की पूर्ति के लिए, लाखों पशुओं और निर्बल मानवों की, अपने पाखडी यज्ञ कुण्डों मे आहुतियाँ दे रहे है। फिर भी देखता हूँ, उनकी इच्छाओं का अन्त नही। उनकी वासनाएँ तृप्त नही हो पा रही। उनकी नि शेष वासनाओं की चरम तृप्ति के लिए, वर्द्धमान स्वय सर्वकामपूरन यज्ञ करेगा। वह स्वय ही होगा उसका एक मात्र अग्निहोत्री। उसका स्वय का जीवन बनेगा उसका हवन कुण्ड, और स्वयम् वर्द्धमान उसका होता होकर, उसमे अपनी नि शेष आत्माहुति देगा। इन लाखों निर्बल, निर्दोष प्राणियों और अज्ञानी मानवों का हत्याकाड और शोषण जब तक लोक मे चलेगा, तब तक किसी का भी त्राण सम्भव नही। अपनी आत्माहुति द्वारा, मै अनादिकाल से सन्तप्त, परस्पर एक दूसरे की हत्या मे रत जीव मात्र को उद्बुद्ध करूँगा। उसी परम यज्ञ का याज्ञिक बना कर महासत्ता ने मुझे यहाँ भेजा है। और यह मेरी अपनी नि शेष आत्माहुति चाहता है। ऐसी कि तपाग्नि मे तप तप कर, गल-गल कर, भस्मसात् होकर इस सृष्टि के कण कण के साथ आत्मसात् हो जाऊँ। केवल मै रह जाऊँ या वह रह जाये। ऐसी अद्वैत प्रीति का प्रकाश जब तक लोक मे प्रवाहित न हो, मेरा, आपका, वैशाली का या जगत का, किसी का भी त्राण सम्भव नही, बापू। जब तक एक भी जीव लोक मे सतप्त है, तब तक यहाँ की असख्य जीव राशि, उसके सताप और सत्रास से अछूती नही रह सकती। हो सके तो पारस्परिक सताप, सत्रास हत्या और शोषण की इस दुष्ट शृखला को, मै सदा के लिए तोड देने आया हूँ। हिसा के इस आदिम दानव को सदा के लिए समाप्त करके ही, वर्द्धमान चैन ले सकेगा। जब तक मार की इस शृखला से मै स्वय मुक्त न हो जाऊँ, तब तक इसका मारनहार, और जगत का तारनहार अरिहत मै नहीं हो सकता। वह हो जाने पर, मै मोक्ष लाभ करके भी उस मोक्ष से नीचे उतर आऊँगा। जीवन के बीचोबीच जीवन्मुक्त रह कर अनन्त काल मे असत्य, अज्ञान और हिसा के इस असुर के विरुद्ध लडता चला जाऊँगा। इतिहास मे सहस्राब्दियों के आरपार यह महान अनुष्ठान चलता रहेगा। महावीर और अहिसा यहाँ पर्यायवाची हो कर, लोक-हृदय मे सक्रमण करेगे। हिसा यदि सत्य नही, स्वभाव नही जीव का और पदार्थ का, तो कोई कारण नही, कि समग्र सृष्टि मे अहिसा की पूर्ण सम्वादी कल्याणी जीवन-रचना सम्भव न हो। जो सृष्टि और पदार्थ का मौलिक सत्य है, स्वभाव है वह उसकी बाह्य रचना मे भी सम्पूर्ण प्रकट हो ही सकता है। इसी अनिवार्य सम्भावना और आशा का दूसरा नाम महावीर है।'

पिता ने जैसे मेरे भीतर सत्ता का एक और अपूर्व आयाम खुलते देखा । विस्मित और प्रश्नायित वे मुझे ताकते रहे ।

'अब तक के तीर्थंकरों ने जो नहीं कहा, जो करने मे वे असफल रहे, वह तुम करने को कहते हो, बेटा ? तब तो वे सारे पूर्वगामी तीर्थंकर मिथ्या हो जायेंगे ?'

'अब तक के तीर्थंकरों ने अपने अनन्त कैवल्य में से जो अनन्त देखा, कहा, उसे सान्त श्रुतज्ञानी पूरा ग्रहण ही नहीं कर सकते थे । तब वे उसे कह कैसे सकते थे । अरिहन्तों ने तो अशेष देखा जाना था, जो कथनातीत था । वह केवल ज्ञेय था, बोध्य था, कथ्य नहीं । उनसे मुझ तक, ज्ञान की एक अनाहत धारा चली आ रही है । उसमें जो मेरे भीतर प्रवाहित और प्रकट हो रहा है, वही तो मै कह रहा हूँ । इस अखण्ड प्रवाह में, मैं उन्हीं का एक अगला प्रकटीकरण हूँ । वे थे कि मैं हूँ, उनसे अभिन्न, उन्ही का एक और विस्तरण । मैं उन्हीं की एक प्रतिपत्ति हूँ, फलश्रुति हूँ, प्रतिफलना हूँ । .

' . और विगत तीर्थंकरों ने जो अहिंसा की वाणी उच्चरित की, उसका प्रतिफलन प्रकट के लोक मे चाहे आज लुप्तप्राय दीखे, पर तत्वतः वह वाणी व्यर्थ और विफल नहीं हुई है । वह विकास के बीज बन कर विश्व-चेतना मे अन्तर्व्याप्त हो गई है । उसी का एक उत्कर्ष महावीर है । उनकी वाणी यहाँ सिद्ध और कृतार्थ हुई है, कि महावीर का अवतरण सम्भव हो सका है ।'

'तब यह जो 'जीवो जीवस्य जीवनं' ही प्रकृति का नियम-विधान सुनता हूँ, यह क्या है ?'

'झूठ है यह, सरासर ग़लत है यह विधान । शून्यांश पर हिंसा नही, अहिंसा ही है। वह है कि सृष्टि सम्भव हो सकी है, जारी रह सकी है । सृष्टि का श्रेष्ठ फल मनुष्य पहले हिंसक और शोषक हुआ, तो उसी के अनुसरण मे प्रकृति के भीतर कीट और पशु-जगत में, सबल प्राणि निर्बलों के हिंसक और शोषक अपने आप होते चले गये । यह जो सिंह, हरिण और ख़रगोश जैसे निर्दोष प्राणियों के आहार पर जीता है, उसका दायित्व प्रथमतः आदिम मनुष्य पर है ! '

'ज़रा स्पष्ट करो, आयुष्यमान् !'

कहना चाहता हूँ, कि यह 'जीवो जीवस्य जीवनं' का विधान, अज्ञानी, स्वार्थी, इन्द्रिय-लोलुप मानवो का, अपनी स्वार्थतुष्टि के पक्ष मे किया गया एक झूठा आत्म-समर्थन है । अपनी हथेली की रेखाओ की तरह मै यह स्पष्ट देख रहा हूँ कि प्रकृति के तिर्यंच पशु-राज्य मे जो एक जीव दूसरे के भक्षण पर ही जीता दिखाई देता है, इस शोषक परम्परा का सूत्रपात भी प्रथमतः मनुष्य ने ही किया है । मनुष्य को यह जो मन और बुद्धि मिली है न, उसका दुरुपयोग करके उसने अपने जीवन धारण के लिए अन्य जीवों को अपना भक्ष्य और साधन बनाने को, एक तर्क-संगत विधान का भी आविष्कार कर दिया । पहले मनुष्य अपने से निर्बल मनुष्यों और पशुओं का भक्षण-शोषण करने लगा, तो निम्न जीव-जगत भी उसका अनुसरण अनायास करने लग गया । हिंसा का जो दुश्चक्र मनुष्य ने चालित किया, वही सारी प्रकृति के सूक्ष्मतम जीवों तक अनिवार्यतः व्याप्त हो गया । सीधी-सी तो बात है, एक सर्वोपरि बलवान अपने से निर्बल का भक्षण कर जियेगा, तो वह निर्बल अपनी बारी से अपने से निर्बल का भक्षण आप ही करने लग जायेगा ।'

'तो तुम कहना चाहते हो कि प्रकृति में मूलतः हिंसा कहीं है ही नहीं ?'

'निश्चय ही नहीं है, तात । कहा न, शून्यांश पर हिंसा नहीं, अहिंसा है, नही तो सृष्टि

सम्भव और संक्रमित न होती। सत्ता अपने स्वभाव में ही धार्मिक है, सर्व की धारक और निर्वाहक है। जीवों के पारस्परिक उपग्रह और प्रेम-मिलन पर ही जीवन टिका हुआ है : पारस्परिक विग्रह और भक्षण पर नहीं। सत्ता के मूल में ही अहिसा है। वह अस्तित्व की शर्त है। अस्तित्व का विनाश कदापि काल सम्भव नहीं। तो विकास के दौरान लोक के सम्पूर्ण अभ्युदय के लिए, सम्पूर्ण अहिंसा का उदय अवश्यंभावी है। विशुद्ध सत्ता, स्वभाव से ही अहिसक है, इसी से तो जब अरिहन्त स्वयं सत्ता-स्वरूप हो जाते हैं, तो वे मूर्तिमान अहिसा बन कर लोक में विचरते है। तब समस्त जड़-जंगम प्राणी उनके भीतर अभय और शरण पाते हैं। सिह और गाय उनके चरणों में एक साथ पानी पीते हैं। उनके सामीप्य में सिह-शावक गाय का थन पीने लगता है : और गोवत्स को सिंहनी अपने स्तन धवाने लगती है। स्वयंसिद्ध है कि प्रकृति में, स्वभाव मे, हिसा का कोई तात्विक, विधायक अस्तित्व नहीं। हिंसा और अस्तित्व परस्पर विरोधी तत्व हैं। जीव के अज्ञान से जब उसकी परिणति विभावात्मक और विकृत होती है, तो उसी के फलस्वरूप प्रकृति में विकृति का आविर्भाव होता है। विकृति सत्ता मे, स्वभाव मे, अस्ति में, आत्मा में कहीं है ही नहीं : वह हमारे आत्म-स्वरूप से स्खलन की निष्पत्ति है : वह हमारी स्वाभाविक स्थिति नहीं, वैभाविक परिणति है . .

'सच पूछिए, बापू, तो सत्ता में मूलगत रूप से ही, सम्वादिता, समत्व, प्रेम, कल्याण, संतुलन विराजमान है। अपने स्वरूप को विस्मृत कर, जब हम इच्छा-वासनाकुल होते है, तो अपने विकृत आचरणो से हम सृष्टि के, सत्ता के इस मौलिक सन्तुलन को भंग करते है। जिनेश्वरों ने लोक मे ऐसे क्षेत्रों का अस्तित्व बताया है, जहाँ सर्वदा जीव मात्र एक सम्वादिता मे जीते हैं। आपने तो शास्त्रों मे पढ़ा ही होगा कि इसी जम्बूद्वीप मे जो विदेह-क्षेत्र है, वह हमारे इस भरत-क्षेत्र से आत्मविकास के उच्चतर धरातल पर प्रतिष्ठित है। कहते है कि वहाँ ईति-भीति नहीं, जीवों में पारस्परिक शोषण-भक्षण नही, स्वराष्ट्र-परराष्ट्र के भेद और विग्रह नही, दुर्भिक्ष और महामारी नही। वहाँ तीर्थंकर, अरिहन्त और शलाका पुरुष शाश्वत विद्यमान हैं। तब स्वयंसिद्ध है, कि सत्ता मे पूर्ण संवादिता की यह सम्भावना मूलतः अन्तर्निहित है। कही वह व्यक्त हो गई है, कहीं वह अव्यक्त रह गई है। यदि विदेह क्षेत्र मे यह सम्भव हो सका है, तो अन्यत्र भी वह सम्भव हो ही सकता है। अर्थात पूर्ण अहिसक, पूर्ण सम्वादी जीवन-जगत, अपने स्वभाव मे ही एक अनिवार्य सम्भावना है। विकास के उस चरमोत्कर्ष पर पहुँचने में शायद हज़ारों-लाखों वर्ष लग जायें, पर वह इस धरती पर सिद्ध होकर रहेगा, इसमे मुझे रंच भी सन्देह नहीं। सामने के इस सूर्य को क्या प्रमाणित करना होगा ? मानव-इकाई अपनी चेतना को इस क्षण स्वभाव मे आत्मस्थ करे, अपने को रूपान्तरित करे, और विकास का यह सम्वादी चक्र इसी क्षण चलायमान होकर, विकृति के क्रम को उलट कर, प्रकृति को उसकी मौलिक सम्वादिता मे स्थापित करता चला जायेगा। तीर्थंकर का धर्मचक्र-प्रवर्तन और किसे कहते है, तात ?'

'. . तो महावीर के धर्म चक्र-प्रवर्तन की हम प्रतीक्षा में है। वही हमारी एकमात्र आशा है। तो अब चलूँगा। तत्काल वैशाली जा रहा हूँ। तुम्हारा यह आशा का सन्देश परिषद तक पहुँचाऊँगा।'

मै द्वार तक उन्हें पहुँचाने गया। कितने सुबोध, भोले, निरीह, निश्छल है मेरे बापू ! धीर निश्चल पग लौटते अपने उन पिता की पीठ देख, एक अजीब आश्वस्ति अनुभव हुई। . .

मैं सिद्धालय से फिर लौटूँगा

. . और तब लौटकर देखा कि स्फटिक के भद्रासन पर माँ आँखें मूँदे अधलेटी-सी हैं।

'माँ, उठो न, ऐसे क्यों लेट गई ? क्यों उदास हो गईं ?'

उठ कर कुछ बैठती-सी माँ की आँखों की कोरों पर पानी की लकीरें उजल आईं। विस्फारित नयन वे मुझे देखती रह गईं।

'माँ, बोलो। . . बोलोगी नहीं मुझसे !'

'बोलने को अब बचा ही क्या है ? . .'

'फिर भी, जी में जो हो, मुझसे कहो . . !'

' . . तुम नहीं जा सकते, मान, तुम कहीं नहीं जा सकते। मेरी आँख से तुम ओझल हो जाओ, यह होने नहीं दूँगी।'

'तो मत होने दो। पर पूछता हूँ, तुम मेरे लिए और मैं तुम्हारे लिए, क्या आँख पर ही समाप्त है ? आँखों से परे, जो हम एक-दूसरे को सदा सुलभ हैं, वह नहीं देखोगी?'

'तुम्हारा यह ज्ञान सुनते-सुनते मैं थक गई, लालू। मुझे नहीं चाहिए तुम्हारा ज्ञान। मुझे मेरा मान चाहिए। और उसे तुम मुझसे छीन लो, यह नहीं होने दूँगी। नही, तुम नहीं जा सकते . तुम मुझे छोड़ कर कहीं नहीं जा सकते। . '

माँ का स्वर रुऑसा हो आया।

'सोचो तो माँ, कहाँ जा सकता हूँ मैं ? इसी लोक मे तो हम-तुम है, सदा थे, सदा रहेंगे साथ। लोक मे परे तो सिद्धात्मा भी नही जा सकते। और यह लोक तो तुम्हारे और मेरे ज्ञान मे अखण्ड समाया है। खण्ड को ही देखोगी, अखण्ड को नही देखोगी, माँ ?'

'मै तुम्हारे इस खण्ड और अखण्ड की बकवास से तंग आ गई। खण्ड और अखण्ड, लोक-लोकान्तर माँ के लिए केवल तुम हो। तुम, जिसे मैंने अपने पिण्ड में धारण कर, पिण्ड दिया, कि तुम सामने खड़े हो और यह सब ज्ञान बघार रहे हो।'

'पर इस पिण्ड मे ही ब्रह्माण्ड है, बाहर तो कही नहीं। तब जाना-आना तो एक प्रयोजनकृत उपचार मात्र है। आख़िर, जाकर भी कहाँ जाऊँगा। जा रहा हूँ, तो इसीलिए न, कि जाने-आने की उपाधि ही सदा को मिट जाये। तुम्हारा और मेरा मिलन अटूट हो जाये। वियोग सदा को समाप्त हो जाये, और योग मे हम सदा को आवागमन से परे संयुक्त हो जाये।'

'यह सब मेरी समझ के बाहर है। जो होना हो, करना हो, यहाँ करो, मेरी आँखों तले। . देखूँ, कैसे जाते हो ! मैं द्वार रोक कर खड़ी हो जाऊँगी, इस कक्ष का। क्या मुझे धकेल कर जाओगे ? तुम्हें रुक जाना पड़ेगा; मेरी छाती को सामने लेटी देखोगे, तो उसे रौंद जाओ, यह तुम्हारी हिम्मत नहीं होगी।'

'जब तक, माँ, हम इस खण्ड और द्वैत में हैं, तब तक रुकना और रोकना क्या हमारे-तुम्हारे बस का है। मान लो कि इसी क्षण मेरा या तुम्हारा देहपात हो जाये, तो क्या हम एक-दूसरे को रोक कर, बाँध कर रख सकेंगे ? क्या नहीं चाहोगी कि काल और कर्म-चक्र की इस अधीनता से मुक्त होकर, रोकने-रुकने की लाचारी से परे, मैं सदा तुम्हें सुलभ हो

रहूँ ?   '

'मां के हृदय की विवशता को माँ होकर ही समझा जा सकता है, मान। चाहे तुम अरिहन्त हो जाओ, सर्वज्ञ हो जाओ, माँ के प्राण की इस विकलता को तुम कभी नही समझोगे। किस पुरुष ने कभी नारी की इस अन्तिम विवशता को समझा है ? हमारे गर्भ से पिण्ड धारण कर, तुम पुरुष सदा ही हमारे गर्भ को धोखा दे गये, ठुकरा गये। तुम्हारी इस स्वार्थी मुक्ति को माँ का प्रवंचित हृदय न कभी समझा है, न समझना चाहेगा।'

'मुक्ति अपनी ही नही सभी की तो चाहता हूँ, माँ। मेरी ही नही, सबकी माँ हो तुम, सर्व चराचर की माँ। यदि उन सबके कष्ट की पुकार से पीडित होकर, उन सबके त्राण के लिए जाना अनिवार्य हो गया है, तो क्या मेरी जगदम्बा माँ उसे नही समझेगी ?   '

'मान, समझ मेरी समाप्त हो गई। तुझसे आगे अब वह नही जा पा रही, तो मै क्या करूँ ?'

'सबको छोडो, पर क्या मेरे ही हृदय की व्यथा और विवशता को अनदेखा करोगी ? रात-दिन जो वेदना मेरे पोर-पोर को जला कर भस्म किये दे रही है, उसे तुम्ही न समझोगी, तो और कौन समझेगा ?'

'तुझे भी वेदना हो सकती है, यह तो मै कभी कल्पना भी न कर सकी। फिर अपने मन की बात तो तू मुझ से कभी कहता नही। बोल बेटा, मन खोल कर कह, सब सुनूँगी।'

'एक आधी रात अचानक एक चीख सुनाई पडी थी। मानो भूगर्भ से आई हो। मानो तुम्हारे ही गर्भ से आई हो। और तब मुँह अँधियारे ही मेरा घोडा मुझे यहाँ से निकाल ले गया था वहाँ, जहाँ से वह चीख आइ थी। अपने घोडे पर से ही मैने यज्ञ-वेदी पर यूप से बँधा एक घोडा देखा एक वृषभ देखा। उनकी मूक भयार्त आँखों से आँसू बह रहे थे। और वे थरथराते हुए सामने धधकते हवन कुण्ड की सर्वभक्षी लपटों को ताक रहे थे। जिनमे उन्हे अभी-अभी झोंक दिया जायेगा। और मैने असंख्य पशुओं तथा मानवों की भयाकुल, अवश, आँसू भरी आँखो को अपनी ओर निहारते देखा। मेरी अस्थियाँ तडक उठी। इस एक शरीर की सीमा असह्य हो गई। वे सारे शरीर, वे सारे प्राण मैं हो गया। और तब जो पुंजीभूत सन्त्रास मैने अनुभव किया, उसकी कल्पना कर सकती हो, माँ ?'

'तेरी जनेता हूँ, तो तेरे साथ ही वह सब अनुभव करना चाहती हूँ।'

' ठहराव तो बचपन से ही मै कही अनुभव न कर सका। जी मे एक उचाट लेकर ही मेरा जन्म हुआ है। ऐसी उच्छिन्नता, कि अपरिच्छिन्न हुए बिना पल भी चैन नही। पर उस दिन उन प्राणियों की आँखों के वे सजल किनारे, मुझे लोक के अन्तिम समुद्रों के पार खींच ले गये। तब से इस शरीर मे, इस महल मे, तुम्हारे लोक मे ठहरना अशक्य हो गया है। अपनी ये साँसे तक अपनी नही लग रही है। जैसे अपने से ही बिछुड गया हूँ। यह असीम अवकाश और काल मुझे अवलम्ब नही दे पा रहा। अन्तरिक्ष स्वय जैसे छिन्न भिन्न होकर मुझ मे शरण खोज रहा है। सोचो माँ, कैसा लगता होगा मुझे   !'

'सोचना क्या है, वह तो सामने देख रही हूँ   '

'ये दूरियाँ, दिगन्त, क्षितिज, ये सारे विस्तार मुझे बरबस खीचे ले रहे है। खड़ा नही रहा

जाता। या तो इन्हे अपनी बाँहों मे समेट लूँ, या इनमे सिमट जाऊँ। बालपन से ही इन दूरियों को देखकर मेरा जी बहुत उदास हो जाता था। देखा है, कई साँझों मे हिमवान की अगोचर चूड़ाएँ मेरी आँखों मे झलकी हैं, और मेरे प्राण आक्रन्द कर उठे है। पार-परान्तरों की विह्वल पुकार सुनाई पडी है। जैसे सब कुछ को जाने बिना, सब कुछ मे पहुँचे बिना, मै रह नही सकता, जी नही सकता। हर दूरी के छोर पर, मानो मेरा कोई है। . दिगन्त के वातायन पर वह कौन प्रिया, जाने कब से मेरी प्रतीक्षा मे है। एक अज्ञात और अबूझ विरह वेदना मेरी आत्मा मे सदा टीसती रही है। '

'तेरी भटकने और उचाट क्या मुझ से छिपे है। बस, चुप रह कर सब सहती रही। पूछने आई तेरे जी की व्यथा, पर तू या तो चुप रहा, या टाल गया। इसी मे तो कई बार चाहा, लालू, कि अपने मन की सुन्दरी तू चुन ले, विवाह कर ले, तो तेरा यह भटकाव समाप्त हो जाये ।'

' जानता हूँ, मेरी व्यथा तुम्हे सर्वथा अनजानी नही थी। मुझे बिरमाने और बहलाने के कम जतन तुमने नही किये। सारे आर्यावर्त की सर्वसुन्दरी बालाओ को तुम इस महल मे ले आई, कि मै किसी को अपना लूँ, चुन लूँ। पर अपने स्वभाव की विवशता का क्या करूँ, माँ। किसी एक या कई सुन्दरियों को अपना कर भी मेरा जी विरम नही पा रहा था। तब विवाह की मर्यादा मे अपने को कैसे बाँधता। बार-बार यही लगा है कि त्रिलोक और त्रिकाल की तमाम सुन्दरियों को एकाग्र और समग्र पाये बिना मुझे चैन नही आ सकता। असीम और अनन्त के उस आलिंगन काम ने, किन्ही दो बाँहों मे मुझे बँधने न दिया। लगता है, जाने कितनी प्रियाएं, कहाँ कहाँ कितने जन्मान्तरों मे मुझ से बिछुड़ी रह गई है। जाने किन अपरिक्रमायित सागरों के कटि-बन्धों मे वे मेरा आवाहन कर रही है। जाने कितने अज्ञात द्वीपों और देशों मे, जाने कितने दीपालोकित कक्षों मे मेरी मिलन शैया बिछी है। सौन्दर्य और प्यार की ऐसी अन्तहीन पिपासा और पुकार, प्राण मे लेकर, तुम्ही बताओ माँ, मै कैसे किसी एक बाहु, वक्ष, कक्ष या शैया मे बन्दी हो सकता था। जो भी प्रिया, प्रीति या सौन्दर्य सामने आया, उसे अपनाया, समा लिया अपने मे पर उसकी सीमा मे समा कर, मै अटक न सका। उसे अपने मे समेट कर, मै सदा उससे, अपने से तक अतिक्रान्त होता चला गया। यह मेरे स्वभाव की विवशता रही माँ, मै कर ही क्या सकता था।'

कुछ ऐसा ही तो मन बालापन मे तेरी मा का भी था, मान। ऐसे ही सवेदनों से मेरी किशोर चेतना सदा कातरती रहती थी। इसी से तो तेरी इस वेदना का अपने मन के मन मे अनजाने ही अनुभव करती रही ह। तेरी यह कसक जैसे मेरे गर्भ मे टीसती रही है। मेरी छाती मे उमड़ते दूध ने उसे बूझा और चीन्हा है। देख रही हूँ, मेरे ही कुमारी हृदय की वह पुकार, तुझ मे विराट और अनिवार हो उठी है। मै तो नारी होकर जन्मी थी। सो मेरी काया पृथ्वी से परिमित थी। ताकि पृथ्वी को अपने मे धारण कर सकूं। लोक की अनाथ आरति को अपने रक्त मे आत्मसात् कर सकूँ। तुम्हे अपनी देह मे, अपने गर्भ मे धारण कर जन्म दे सकूँ। पर तुझमे तो आकाश को यहाँ अवतीर्ण होना था तो उसे झेलने को स्वय समूची पृथ्वी होकर अपने मे समाहित रहने को मै विवश थी। विवाह की ओर से मेरा जी उन्मन था, पर समर्पित हो रही उसके प्रति, ताकि मेरे

भीतर तेरा ध्रु, भू की माटी में सर्वांग साकार हो सके ! . . '

'तुम आज कह रही हो, माँ, पर तुम्हारे भीतर बैठी उस कुमारी की झलक मुझे बार-बार मिली है। तुम्हारे चित्त की वह व्याकुलता ही तो मेरे भीतर महावासना बन कर संक्रांत हुई। सुनो माँ, तुम्हारे ही प्राण की उस पुकार का उत्तर तो मैं खोजने जा रहा हूँ। तब क्या रंच भी तुम मुझ से कहीं छूट या टूट सकोगी ? . . मेरी इस खोज की महायात्रा में तुम मुझे यों देखो, जैसे अपने ही को दूर-दूरान्तों में जाते देख रही हो . . ।'

'अपने किये मुझ से कुछ न होगा, मान। एकदम ही आत्महारा और शून्य हो गई हूँ। तुम्हीं मेरी आँखें बन कर मुझे यहाँ खड़ी, और तुम्हारे भीतर जाती देखो। . . '

'दर्पण में नहीं, तुम्हारी आँखों में ही मैंने अपना चेहरा देखा है, और अपनी इयत्ता को पहचाना है, माँ ! तुम मुझे अपनी आँखों का तारा कहती हो, तो क्या तुम्हारी पुतलियों में केवल मैं ही नहीं हूँ . . ?'

'मोह की तमिस्रा को भी तुम कैसी गहरी ममता से वेधते हो, बेटा ! मानो अपने अगाध प्यार से, मोह को काटने के बजाय, उसे ही मुक्ति में फलित करते चले जाते हो। . . फिर भी जाने क्यों एक अँधेरा हमारे बीच घिर-घिर आता है, और मैं तुझ से बिछुड़ जाती हूँ। . . अकेली पड़ जाती हूँ !'

'यह वह अन्तिम और गहिरतम अँधेरा है, जिसमें से सवेरा फूटने वाला है, माँ। तुम्हारी उदास आँखों के तटों में उस उषा के लाल डोरे झाँक रहे हैं। कितना सुन्दर और भव्य है तुम्हारी आँखों का यह विषाद ! सारे विश्व की अपार करुणा इसमें जैसे घटा बन कर छायी है। . . और तब यहाँ ठहरना एक पल को भी दुःसह हो जाता है। अपनी माँ की मनोव्यथा के इस दुस्तर समुद्र को मुझे तैर जाना होगा। . . '

क्षण भर चुप रह कर मैने माँ की आँखों के उस अकूल विषाद-सागर में अपने को एकाकी यात्रा करते देखा। एक गहन धुन्ध में मै खोता ही चला गया। और उसके भीतर से ही जैसे आक्रन्द-सा कर उठा :

' . . माँ, सुनो, देखो, सारे लोक को अपने भीतर साकार होते देख रहा हूँ। कटि पर दोनों हाथ धर, लोक-पुरुष को पैर फैलाये खड़े देख रहा हूँ। असंख्यात द्वीप-समुद्रों से यह आकीर्ण और वलयित है। स्वयं ही वह अपने को जानने को विकल, बेताब, अविराम अपने ही अनेक पेटालों, और प्रदेशों में यात्रा कर रहा है। मैं होकर भी वह कोई और है, मुझ से उत्तीर्ण : वह चला जा रहा है, जैसे चाँद और सूरज के डग भरता हुआ। और इस गहराती धुन्ध में मैं नितान्त अकेला, अवरुद्ध और स्तंभित खड़ा रह गया हूँ। मेरे पैर जैसे किसी बादली चट्टान में कीलित हो गये हैं। . और सामने प्रस्तुत हैं ज्वाला की दो पादुकाएँ। उनमें चुनौती है कि उन्हें पहनूँ, और बढ़ जाऊँ। पर मेरे और उनके बीच, मेरे पैरों को घेर कर, काल का भुजंगम बेशुमार कुण्डल मारे पड़ा है। मै केवल खड़ा रह सका हूँ और सामने खुलते दृश्यों को देखने को विवश हूँ। गति के लिए आकुल मेरे पैरों की कसमसाहट असह्य है। . . मेरे पगों की यह अजगरी साँकल तोड़ो, माँ। मुझ से खड़ा नहीं रहा जा रहा . '

'मान, तुझे एकाएक यह क्या हो गया ? . . आविष्ट की तरह तू यह सब क्या बोल रहा

है ! मुझे डर लग रहा है . . '

'डरो माँ, पूरी डर जाओ । इस भय से भागो नहीं, इसका सामना करो । यह भय ही तो मृत्यु है : इसकी आक्रान्ति को समूची सह लोगी, तो मृत्यु की खन्दक पार हो जायेगी । . . हो सके तो देखो, मैं मृत्यु की कराल डाढ़ों में हूँ, और उसे भेद जाने को विवश हूँ । अतलान्तों तक चली गई सुरंगें और सीढ़ियाँ खुलते देख रहा हूँ । . . और आखिरी पटल है यह लोक का । . . लो, यह आख़िरी सीढ़ी भी टूट गयी । और उसके तल में खुल पड़ी है, सात राजुओं में विस्तृत एक धुन्ध भरी जगती । घड़े में भरे घी की तरह असंख्यात जीवराशि यहाँ अपने ही में आलोड़ित हो रही है । यह निगोदिया जीवों का लोक है । केवल एकेन्द्रिय, स्पर्श का एक निःसीम पिण्ड मात्र है यह । ये जीव मेरे अपने एक श्वास में अठारह बार जन्म-मरण कर रहे हैं । और मैं इनकी एक अबूझ वेदना मात्र रह गया हूँ। आँखों से अदृश्य होने पर भी, ये जीव अपने स्पर्श की छटपटाहट से मेरे तन के अणु-अणु में भिदे जा रहे हैं : ये यहाँ से निकल कर, मुझ में शरण पाना चाहते हैं । पर इनके और मेरे बीच जाने कैसे अवरोध की टकराहट है । एक अन्धकार की शिला पड़ी हुई है ! . .

'देखते-देखते, माँ, जीव के स्पर्श की वह ऊष्मा विदीर्ण हो गई है । . . उस लोकाकार पुरुष के चहुँ ओर अनन्त शून्य का विस्तार फैला है । उसमें कोई अस्तित्व नहीं : निपट नग्न नास्तित्व का अन्तहीन प्रसार है । इस शून्य में खोया जा रहा हूँ । नास्ति हुआ जा रहा हूँ । अपनी इयत्ता, अपना स्वभाव हाथ से निकला जा रहा है । मैं नहीं रह गया हूँ : केवल अपरिभाषेय शून्य का स्वतः स्तम्भित समुद्र रह गया है । इस अपदार्थता में बोध समाप्त हो गया है । मेरी इस वेदना को समझ सकोगी, माँ ? . . एक विराट् खालीपन में निरस्तित्व हो जाने की यह पीड़ा कहने में नहीं आती । . . हूँ कि नहीं हूँ . . कौन बताये मुझे . . माँ-माँ-माँ . . !

' . . लो, एकाएक किसी अस्पृश्य तट से टकरा गया हूँ । . . लौटने की अनुभूति हो रही है । अस्ति का यह पहला किनारा है । . . यह तनु-वातवलय का प्रदेश है । अनेक परस्पर मिश्रित रंगों का यह एक वायवीय प्रस्तार है । यह अपने ही अन्दर समाता हुआ, जहाँ उत्तीर्ण हुआ है : वहाँ देख रहा हूँ घन-वातवलय : मूंगिया रंग का एक दुस्तार वलयन । . . और अपने ही में लुढ़कता यह कहीं जा गिरता है, और छपाके के साथ खुल पड़ा है घनोदधि-वातवलय : एक पीताभ तमिस्रा का साम्राज्य । ऐसा लगता है, घनघोर शीत के प्रदेश से किसी ऊष्मा का प्रान्तर सहसा ही छू गया हूँ। इन तीनों वातवलयों को एक चित्र की तरह स्पष्ट सामने देख रहा हूँ ; ये सब दण्डाकार लम्बे हैं, घनीभूत हैं, चहुँ ओर स्थित, चंचलाकृति, परस्पर संक्रान्त, ये आमूल-चूल लोक को आवेष्टित किये हुए हैं । . . '

'मेरा कौतूहल बढ़ रहा है, पर तू हाथ से निकला जा रहा है, लालू । देख, ऊपर खड़ी मैं तुझे खींच रही हूँ । मेरे पास आ जा रे . . ।'

'तुम ठीक खड़ी हो माँ, और तुम्हारे खिंचाव से मैं बँधा हूँ । . . मेरे पैर जैसे अस्ति की अचल चट्टान से बँधे हैं । तुम निश्चिन्त रहो । मैं यात्रित होकर भी यात्रित नहीं, स्थित हूँ : पर दृश्य के इस अनावरण से निस्तार नहीं । . . अरे कहाँ गया वह घनोदधि वातवलय ! एक महातमिस्रा से मैं समूचा आवृत हो गया हूँ । . . ओ, यह महातमःप्रभा नामा सातवें नरक की

पृथ्वी है। यहाँ यातना अनुभूति को अतिक्रान्त कर गई है। एक पिण्डीकृत अन्धकार-राशि : अनुभूति से परे होकर यहाँ जीव की मूर्च्छा का उत्पीड़न और घुटन पराकाष्ठा पर है। . . और एक पर एक, ऊपरा-ऊपरी छह और पृथ्वियों के पटल अपने आप में उलट-पुलट रहे हैं। तमःप्रभा, धूम्र-प्रभा, पंक-प्रभा, बालुका-प्रभा, शर्करा प्रभा, रत्नप्रभा। . . पूरे सात नरकों को एक साथ देख रहा हूँ। उनका भिन्नात्मक बोध नहीं पा सक रहा हूँ। गड्ड-मड्ड होती हुई, विकराल जन्तुओं, पशुओं, नारकियों, मानवों, देवों की एक आलोड़ित राशि : एक विराट् नसैनी पर आवागमन करती हुई, परस्पर टकराती, धक्के खाती, एक-दूसरे को शून्य में फेंकती, उछालती, एक पूरी संसृति। विशुद्ध यातना के ये चिरन्तन अँधियारे लोक, अपने-अपने छोर पर विविध वर्णी प्रभाओं से जैसे आवेष्टित हैं। अन्धकार, धूल, धुँआ, पंक, बालू, कीले भी अन्ततः जैसे किसी प्रभा की गोद मे है। . . महातमस् अपने आप में अन्त नहीं : इसकी पराकाष्ठा पर प्रकाश ही खड़ा है। अपार पीड़क होकर भी, पाप की कोई सत्ता नही। वह निरी एक विभावात्मक माया है। . . पर अपनी ही आत्मच्युति से रचित इन नरकों को स्पष्ट देख रहा हूँ। अन्धता और घटाटोप अँधियारों के इन प्रसारों मे यातनाओं के विविध और असख्यात् बिल है, विवर हैं, वापियाँ हैं। और वे सब अपनी गहराइयों मे गुणानुगुणित होते चले गये है। जीव के आबद्ध कर्मों के अनन्त शाखाजाल : ऐंठन की बेशुमार ग्रंथीभूत सर्प-राशियाँ। आत्म-पीड़न और पर-पीड़न का अन्तिम, तात्विक, नग्न संघर्ष। एक अकल्पनीय तुमुल घमासान। . . जीव का कपट खुद ही, कीले बन कर, अपने आवरणों और ग्रथियों को छेद रहा है। मान अपनी ही शूली बन अपनी सीमाओं को भेद रहा है। क्रोध अपना ही कुठार बन अपनी आत्मनाशी प्रमत्तता के पर्दे फाड़ रहा है। अधोगामी काम अपने ही स्पर्श-घर्षण के आघातों से लहूलुहान, अतृप्त, पराजित, ऊपर की ओर फेंक दिया गया है। भयावह अग्नि-कुण्डों सी सहस्रों योनियों मे लिंगाकार होकर भिदता, अन्धा, संत्रस्त, पछाड़ें खाता, मूर्च्छित होकर भी, कामात्मा नीचे नही ऊपर की ओर उछाल दिया गया है। बड़ा से बड़ा पाप भी जीवात्मा को एक हद के आगे, नीचे नहीं गिरा सकता। क्योंकि अन्ततः आत्मा का स्वभाव पतन नही, उत्थान है। अधोगमन नही, ऊर्ध्वगमन है। . . '

'मान, इस भयावह मृत्यु के बीच भी, तू कैसी उद्बोधक, चरम आशा की वाणी बोल रहा है। . . '

'लेकिन माँ, लग रहा है, जाने कितने जन्मों मे, कितनी बार इन नरकों मे मैं भटका हूँ। बहुत परिचित और भोगे हुए यथार्थ-सी लग रही है, यहाँ की तमाम यातनाएँ। . . देख रहा हूँ माँ, एक नारकी जीव, दूसरे नारकी जीव के लिए उबलती कढ़ाई बन गया है। जन्मान्तरों में अनेक बार भोगी प्रिया के अंग-प्रत्यंग, सहस्रों शूलों के आलिंगन-कषाघातों से जीव की मोह-मूर्च्छा को भेद रहे हैं। अपनी ही नसों का कषाय-क्लिष्ट रक्त यहाँ की वैतरणी के रूप मे बह आया है। उस पर झुक आये है, सेमर वृक्षों के अभेद्य तमसा वन। उनके पत्ते और डाले भालों और असिधारों-से वेधक है। इस वैतरणी मे एक-दूसरे पर लुढ़कते, खदबदाते, सीझते जीव ऊपर छाये असि-फलों से निरन्तर छिदते-भिदते अपने आप ही अपने कपट-कषायों के आखेट हो रहे है। . . माँ, नही . . नही . . नहीं ठहर सकता अब मैं तुम्हारे आँचल की सुखद छाँव मे . . इस महल के ऐश्वर्य-कक्षों मे। अनादि अनन्त काल मे, अज्ञानवश जो ये असंख्यात जीव ऐसे दारुण, दुःसह

कष्टों में डूबे हैं, इनकी मूर्च्छान्ध आत्माओं में से मुझे यात्रा करनी होगी : उनके साथ तद्रूप होकर, उन सबकी समीकृत यातना को एकबारगी ही, अपने भीतर भोगना और सम्वेदित करना होगा . . ।'

'यह कैसा विचित्र अनुभव है, मान ! . . मैं अपने पगतलों में ही तेरी यह सारी निगोदिया जीव-राशि इस क्षण जी रही हूँ ! . . मेरे जघनों, जानुओं, जंघाओं में ये सारे नरक के पटल अपने तमाम विवरों के साथ सुलग उठे हैं। अपनी माँ की गोद में लेट जाओ बेटा, और सारे नरकों को एक साथ भोगो, पर मेरे अंगों से जुड़े रहो, फिर जो चाहो करो। . . '

'. . देख रहा हूँ माँ, नसैनी की सबसे ऊपरी सीढ़ी पर आ पहुँचा हूँ। यहाँ पृथ्वी विशीर्ण हो गई है। अधर अन्तरिक्ष में एक गहरे हरे पन्ने की चट्टान पर पैर धरे खड़ा हूँ। और ऊपर आकाश में भवन-वासी और व्यंतर देवों के विपुल सुखभोगों से भरे अनेक रंगी प्रभाओं वाले विमान तैर रहे हैं। पर बड़े अभागे हैं ये देव; भटकी हुई है इनकी चेतना। अपरूप सुन्दरी देवांगनाओं और सुख-शैयाओं को छोड़, ये जाने किन अँधेरों में अपनी ही कषायों की प्रेत-छायाओं से संघर्ष कर रहे हैं। पंकिल खन्दकों, निर्जन वीरानों, खण्डहरों, सूनकारों में ये आत्म-पीड़ित अबूझ टक्करें खाते, किस सुख को खोज रहे हैं ? काश, मै इन्हें आपे में ला सकता : इन्हे इनकी देवांगनाओं की मिलन-शैयाओं मे लौटा सकता। लौटना होगा इन्हें, अपने वैभव में : उसके बिना मुझे चैन नहीं। . . नहीं . . नहीं . . मैं नहीं ठहर सकता इस उत्तुंग महल के वातायनों पर ! . .

'. . देखो माँ, कूद पड़ा हूँ अपने इस नवम् खण्ड के उत्तरी वातायन से। और आ पड़ा हूँ जाने कहाँ। पर यहाँ मैं ठीक तुम्हारी त्रिवली पर लेटा हूँ। मेरे सिरहाने है तुम्हारा नाभि-कमल। उसमें उगा है एक विराट् जम्बू-वृक्ष ! जिसके शाखा-जाल और पल्लव-वितानों तले सारी मर्त्य-पृथ्वी आश्रय खोज रही है, यह मध्य लोक है : मर्त्य-मानवों की लीला-भूमि। तिर्यंच पशु प्राणियों, वनस्पतियों, जाने कितने पर्वत-सागरों, नदियों, अरण्यानियों से आकीर्ण। लोक-मध्य में यह जम्बूद्वीप है इसके ठीक केन्द्र के जम्बू-क्षेत्र मे तुम्हारे नाभिज इस जम्बू-वृक्ष के शिखर पर बैठा मै, अनन्त दूरियों का सिहावलोकन कर रहा हूँ। असंख्यात द्वीप समुद्रों से आवेष्टित यह जम्बूद्वीप अद्भुत हे। यह लवण-समुद्र से स्पर्शित है। वज्रमयी तट-वेदिका से घिरा है। इसके केन्द्र में महामेरु खड़ा है। एक लाख योजन है इसका विस्तार।

'. . और देख रहा हूँ, इस विस्तार में, विचित्र रंगी विभाओं से भास्वर छह कुलाचल पर्वत। प्रकृति के सारे परिवर्तनों और प्रलयों में ये अटल रहे हैं। हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रूक्मी और शिखरी : इन छह कुलाचलों के स्वर्णाभ शृंगों पर डग भरता चारों ओर निहार रहा हूँ। इन अनादिकालीन पर्वतों ने तमाम जम्बू-द्वीप को सात क्षेत्रों में विभाजित कर दिया है : भरत, हैमवत्, हरि, विदेह, रम्यक्, हैरण्यवत्, और ऐरावत। उत्तरान्त में ऐरावत की अन्तिम केशरी ध्वजा उड़ते देख रहा हूँ! दक्षिणान्त में भरत क्षेत्र की वह नीली पताका फहरा रही है। . . भरत क्षेत्र के ठीक मध्य भाग में विजयार्ध पर्वत पूर्व से पश्चिम समुद्र तक फैला है। दोनों महा-समुद्र जैसे उसके फैले हाथों की अँजुलियों में उछल रहे है। इस विजयार्ध के रूपाभ प्रसारों में विद्याधरों की हज़ारों सुरम्य रत्न-दीपित नगरियों फैली पड़ी हैं। इसके सिद्धायतन, दक्षिणार्धक,

खण्ड-प्रपात, पूर्णभद्र, विजयार्ध-कुमार, मणिभद्र तमिस्र-गुहक, उत्तरार्ध, वैश्रवण—इन नौ कूटों को अपनी पगतलियों में कसकते अनुभव कर रहा हूँ। . . सिद्धायतन कूट पर पूर्व दिशा में सिद्धकूट नामक एक उज्ज्वल जिन मन्दिर चमक रहा है। अन्तरिक्ष में तैरते एक विशाल हीरे की तरह द्युतिमान यह मन्दिर अविनाशी है। क्षणभंगुर पुद्गल के परमाणुओं तक ने यहाँ शाश्वती में पुंजीभूत होकर, पदार्थ की अन्तिम अनश्वरता का परिचय मूर्तिमान किया है। एक अद्भुत आश्वासन अनुभव कर रहा हूँ, माँ ! . . '

' . . तो साक्षी पा गई हूँ, मान, कि सचमुच ही मेरी त्रिवली का यह त्रिकोण, यह मेरा नाभि-कमल अविनाशी है। और मेरा स्रष्टा बेटा सदा इस पर लेटा अनन्त नव्य-नूतन सृष्टियाँ रचता रहेगा, और उनके साथ खेलता रहेगा। . . '

' . . सच ही विचित्र है यह अनुभूति। देख रहा हूँ माँ, सारी चीज़ों का एक ज्ञान-शरीर भी है। उसके भीतर विनाशी और अविनाशी का भेद समाप्त हो जाता है। वहाँ मानो सारी सृष्टि अपनी तमाम सम्भावनाओं के साथ शाश्वत विराजमान है। लग रहा है, जैसे कभी कोई, कुछ खो जाने वाला नहीं है। सभी कुछ वहाँ सुरक्षित, सुप्राप्त है। . अरे यह क्या देख रहा हूँ, इन छह महाकुलाचलों के बीच खुल पड़े हैं कई विशाल सरोवर। पद्म, महापद्म, तेगिच्छ, केसरी, महापुण्डरीक, पुण्डरीक : हर सरोवर में से उत्तीर्ण होता, एक नवीनतर पूर्णतर सरोवर। उनकी जल-प्रभाओं के रंग और सुगंधों को संज्ञायित नहीं किया जा सकता। एक निर्नाम सौन्दर्य-बोध और आनन्द के सिवाय, और कुछ शक्य नहीं इस अन्तर्जगत में। प्रवाहों और तरंगों को किस नाम और मूर्ति पर अटकाया जा सकता है ! अद्भुत हैं पदार्थ के ये अन्तर्कक्ष। परमाणु के भीतर पूरे ब्रह्माण्ड की लीला चल रही है। . . और लो देखो, इन सरोवरों से कितनी सारी महानदियाँ निकल पड़ी है। गंगा, सिन्धु, रोहितास्या, हरितकान्ता, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता, रक्तोदा . . । और उस पद्म सरोवर का ओर-छोर नहीं। एक विशाल छत्र की तरह, पूरे योजन का एक कमल इस पर उत्फुल्ल है। और उसकी कर्णिका के मंडल में सौरभ और मकरन्द के जाने कितने प्रदेश है, महल हैं, जिनमे श्री, ह्री, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी देवियाँ निवास करती हैं। और इस सरोवर के चित्र-विचित्र मणियों से देदीप्यमान तोरण वाले वज्र-मुख से गंगा फूट पड़ी है। हिम-पर्वत के दक्षिण तट पर जिह्विका नामा यह कोई प्रणाली है, जो गोमुखी और वृषभाकार दिखाई पड़ रही है। इस प्रणाली में गंगा गोशृंग का आकार धारण करती हुई, श्री देवी के भवन के आगे गिरी है। और इन सारी नदियों के समुद्र-प्रवेश-तोरणों में दिक्कुमारियों के आवास दिखाई पड़ रहे हैं। दिगन्तों की अगम्य सौन्दर्य-विभा, इनमें देहवती होकर, स्पृश्य और ग्राह्य हो गई है। कैसा अनिर्वच मार्दव और आश्वासन है, इनके स्पर्श में . . ! '

' . . और तेरा स्पर्श इस क्षण कितना प्रगाढ़ हो गया है, मानू। कैसी प्रतीति है, कि मेरे इस स्पर्श में से छूट कर तू कभी कहीं, जा नहीं सकता।'

'लेकिन माँ, इस सीता नदी को तो देखो। नील-पर्वत पर बहती यह फेनिला, एकाएक अदृश्य होती सी, विदेह क्षेत्र का भेदन कर गई है। मेरु-पर्वत की ईशान दिशा में इसी सीता नदी के पूर्व तट पर नील कुलाचल के समीप वह जम्बू-स्थल है, जिसके केन्द्रीय जम्बू-वृक्ष की छाँव में इस समय लेटा हूँ, तुम्हारे नाभि-कमल के सिरहाने। योजनों में फैले हैं इस जम्बू-वृक्ष के मूल,

तने, शाखाएँ। नीलमणि-प्रभा है इसका महास्कन्ध : इसकी हीरक शाखाओं और पन्ने के पत्तों में यह कैसा अनोखा लचाव है। और इसकी डालों में झूमते जम्बू फलों के झूमखे तुम्हारे वक्ष पर झुक आये हैं, माँ, और इनका जामुनी-गुलाबी रस, कैसे रभस-आस्वाद से मुझे विसुध किये दे रहा है। . . और देखो, वह मेरु-पर्वत की नैर्ऋत्य दिशा में है शाल्मली-स्थल : उसके शाल्मली वृक्ष की दक्षिण शाखा पर अविनाशी जिन-मन्दिरों की एक पूरी श्रेणी भास्वर है। . . देख रहा हूँ, नील-पर्वत के ढालों में नीलवान, उत्तर-कुरु, चन्द्र, ऐरावण, माल्यवान नामा महाह्रद। उनके रत्नों से चित्र-विचित्र तट। उसके कमलों पर बने नागकुमार देवों के फेनोज्ज्वल भवन। . . और कांचन-कूट नामा उस गिरिमाला पर, अधर में आसीन वे जिन-प्रतिमाएँ। उनकी वैडूर्य विभा में झलकते प्रकृति के नव्य-नूतन परिणमन। . . मेरु-पर्वत के पश्चिमोत्तर में गन्धमादन महापर्वत पर, भोगंकरा, भोग-मालिनी, वत्समिला, अचलावती देवियों को नीलमी घासों में क्रीड़ा करते देख रहा हूँ। . . नीलाचल को पार कर गन्ध-मादिनी, फेन-मालिनी, ऊर्मि-मालिनी नदियों के प्रवाहों पर पग-धारण करते, एकाएक दिखाई पड़ गई हैं विदेह क्षेत्र की वे अविनाशी नगरियाँ। ग्रह-नक्षत्रों की नाना रंगी ज्योतियों से दीप्त हैं उनके भवन, कक्ष, अन्तरायण। वहाँ नित्य उद्योतमान कैवल्य-सूर्य तीर्थंकरों के समवशरणों में मेरी अस्मिता विलुप्त प्राय है। . . इन विदेह क्षेत्रों में अर्हत्ता और भगवत्ता ही, भोग्य पदार्थ बनकर, जैसे पल-पल मनुष्यों की सारी भोगाकांक्षाओं को विपल मात्र में तृप्त कर देती हैं। भूमा यहाँ भूमि में फलद्रूप हो उठी है। कैवल्य-सुख यहाँ भोजन के स्वाद तक में उतर आया है ! . .'

'रुको मान, यहीं रुक जाओ। मेरे पास आओ, मेरे पास आओ, तुम्हारी इन्द्रियों और देह में झरते इस अतीन्द्रिय सुख में मुझे डूब जाने दो . . !'

'लेकिन माँ, अवस्थान अभी सम्भव नहीं हो रहा। प्रस्थान और अभियान की बिजलियाँ मेरे पैरों में खेल रही हैं। जम्बूद्वीप की अन्तिम तट-वेदी में खड़ा देख रहा हूँ, लवणोदधि के निःसीम जल-प्रसार। उससे परे धातकी-खण्ड द्वीप, फिर कालोदधि समुद्र की छोरान्त रत्न-वेलाएँ, फिर पुष्करार्ध और पुष्करवर द्वीपों की जगतियाँ . .। आकाश ही जिसमें आकृत हो उठा है, वह मानुषोत्तर पर्वत, जिसके आगे मनुष्यों की गति नहीं। . . फिर वह पृथ्वी का अन्तिम और अन्तहीन स्वयम्भुरमण-समुद्र, उसके प्रकाण्ड मगरमच्छों के पेटालों में विचित्र रत्न-तरंगित ज्योतियों के महल। . . यह है मध्य लोक का छोर, मर्त्यों की उस पृथ्वी का अन्तिम किनारा, जहाँ मर्त्य मानव-पुरुषोत्तम जरा मृत्यु, ह्रास-विनाश के साथ निरन्तर जूझते हुए अमरत्व-सिद्धि के नित-नव्य सोपान अनावरण कर रहे हैं। स्वर्गों और भोग-भूमियों के अकल्पनीय भौतिक सुख, मृत्युंजयी संघर्ष की इस शाश्वत साधना-भूमि पर निछावर होते हैं। अमर लोकों का देवत्व जहाँ मानवत्व का वरण करने को तरसता है। मनुष्य की भंगुर देह में उतर कर ईश्वरत्व जहाँ अपने परम पुरुषत्व को कसौटी पर चढ़ाता है . .। अरे माँ, अप्रमेय विस्तारों में फैले ये असंख्यात द्वीप-समुद्र, कुलाचल, सुमेरु-शिखर, स्वयम्भु-रमण समुद्र के वे अन्तिम जल-वातायन, मेरे अणु-अणु को खींच रहे हैं। उद्वेलित किये दे रहे हैं। . . तुम्हीं कहो माँ, कैसे . . कैसे रुकूँ, इस बिन्दुभर नन्द्यावर्त के खण्डों, कों, वरण्डों, वातायनों में —जो मेरी आँखों पर पर्दे डाले रहते हैं। . .'

'अरे मान, यहीं बैठा सारे लोकान्तरों में तो भ्रमण कर रहा है तू । फिर कहीं जाने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?'

'भ्रमण से जी नहीं भरता, वह भटकन है, माँ । अब तो सदेह सर्वत्र इनमें रमण् करने को मेरे प्राण पल-पल व्याकुल हैं । . . सुमेरु-पर्वत के अनेक परिवेशगत वनों, अरण्यों, तटान्तों, कटिबन्धों में देव-देवांगनाओं को क्रीड़ा करते देख रहा हूँ । पृथ्वी के इस उपान्त से आगे देवों की सदेह गति नहीं । . . और लो, सोलहों स्वर्गों के पटल खुलते जा रहे हैं । कल्पवृक्षों की सर्वकामपूरन आलोक-छाया में सारे मनोकाम्य फलों का उपभोग करते देव-देवांगना, इन्द्र-इन्द्राणियाँ । प्रत्येक अगले स्वर्ग में विपुलतर, ऊर्ध्वतर होते उनके रत्नाविल विमानों, सरोवरों, क्रीड़ा-पर्वतों, उद्यानों के अकल्प्य सुख-वैभव । क्षणक्षण अभिनव सौन्दर्य और भोग की लहरों के इस चंचल लोक में आपा खो जाता है। भोग की प्रगाढ़तर होती महावासना में यहाँ सब कुछ अवमूर्च्छित, लुप्तप्राय, तन्द्रालीनता मे इन्द्रधनुषी लीला की तरह चल रहा है । . . दिव्यांग जाति के कल्प-वृक्षों के ज्योतिर्मय वन सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं । जिनके तले कामना करते ही, मनचाहे दिव्य भोजन, दिव्य वसन तथा अन्य सारी ही दिव्य भोग-सामग्रियाँ इन देवों को प्राप्त हो जाती हैं । छहों ऋतुओं के वातावरण, प्रभाव. फल-फूल यहाँ के आकाश-वातास और कानन-उद्यानों में सदा सुप्राप्त है । रक्त-मांस, अस्थि-मज्जा से रहित इन देव-देवांगनाओं के शरीर विशुद्ध पुद्गल द्रव्य की तरह प्रवाही है । नितान्त लचीले और मनोभावी हैं । इनके दिव्य देह-बन्ध मे तन-मन मानो एकाकार हो गये हैं । इनके शरीरों के बीच वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श भी बाधक नहीं, पारस्परिक संयोग मे साधक होते है । मनचाही विक्रिया करने मे ये सक्षम होते है । एक शरीर में से ठीक उसी के अनुरूप सहस्रों छोटे-बड़े मनचाहे शरीर ये बना लेने में समर्थ हैं । दिव्य कक्ष की उपपाद शैया में स्वयंभु प्रक्रिया से सहसा ही ये अँगड़ाई भर कर उठ आते हैं : और इस प्रकार अपने पूर्णकाय रूप में ही ये जन्म लेते हैं । तब किसी भी देव की एकान्त काम्या देवागना, अन्यत्र जन्म लेकर, तत्काल उसके सम्मुख आ खड़ी होती है । जन्म से देहपात तक इनके शरीर अक्षय सौन्दर्य-यौवन से मंडित रहते है । . . '

'अरे मेरा मान भी तो ऐसा ही है, वह किस देव या इन्द्र से कम है . . ?'

' . . सागरों पर्यन्त ऐसे विपुल वैभव-भोग मे जीकर भी, ये देव बेचारे अतृप्त ही रह जाते है । और काल के भीतर बुद्-बुद् की तरह विलीन हो जाते है । ऐसी अतृप्ति और मृत्यु से मुझे सीमित करोगी माँ ? क्षय और विनाश की इस परम्परा मे जुड़े रहने को अब मैं तैयार नहीं । . काम को परा-कोटि पर भोग कर भी, क्या ये पूर्णकाम हो सके है ? काम जितने रूपों में तृप्ति चाह सकता है, वे सारे आयाम इन्हे सुलभ है । एक प्रमुख देवांगना या इन्द्राणी, फिर कई-कई देवियाँ, इनकी भोग-शैया में बिलसती रहती हैं । इन देवांगनाओं के प्रासादों से भी ऊँचे इनकी वल्लभाओं के भवन होते हैं, जो इनकी विदग्ध भाव-चेतना को एक विलक्षण तृप्ति देती हैं । और फिर होती है सहस्रों गणिकाएँ, जो इन देवों के उद्दामतम देह-काम और मनोकाम को निर्बन्ध, उच्छृखल आलोड़नों और विलासों से तृप्त करती हैं । . . इन देव-निकायों में, उच्च से उच्चतर स्वर्गों के देव-देवांगनाओं का काम-सुख और ऐन्द्रिक सुख सूक्ष्मतर और गहिरतर होता चला जाता है । अपने मैथुन को ये प्रवीचार कहते हैं । इस प्रवीचार के सूक्ष्मतर और निविड़तर होते स्तरों को

देख कर स्तब्ध हूँ। काम स्वयं ही अपनी सघनता में तीव्रतर होता हुआ, ऊर्ध्वतर अनुभूतियों में रूपान्तरित होता चला जाता है। सौधर्म और ईशान स्वर्ग के देव-देवियाँ मानवों की तरह ही स्थूलकाय-मैथुन से तृप्ति पाते हैं। उससे ऊपर के सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देव-देवांगनाओं के स्पर्श मात्र से परम प्रीति को प्राप्त होते हैं। उससे ऊपर ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ स्वर्गों के देव अपनी देवियों के शृंगार, आकृति, अंग-भंग और भाव-भंगिमा, विलास-चातुरी, मनोज्ञ वेष तथा मोहक रूप के देखने मात्र से आह्लाद-मग्न हो जाते हैं। . . और यह क्या देख रहा हूँ, सामने शैया में लेटा वह देव नैपथ्य में कहीं दूर अपनी प्रिया की नूपुर-झंकार सुन कर ही गहन रमण-सुख की मूर्च्छा में लीन हो गया है। . . हाँ, यह शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार स्वर्ग के देवों का क्रीड़ा-लोक है। यहाँ के देव, देवांगना के संगीत, कोमल हास्य, ललित कथा और भूषणों के मृदु रव को सुन कर ही एक अद्भुत विदग्ध सुरति-समाधि में लीन हो जाते हैं। इससे भी ऊपर जाकर आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्प के देव अपनी अंगना का मन में संकल्प करने मात्र से, उसके साथ संयुक्ति का सुख पा जाते हैं। प्रिया के स्मरण मात्र से, यहाँ स्मर-देवता आत्मलीनता की कोटि का मैथुन-सुख पा जाते हैं। रति का सुख यहाँ समाधि के अनन्त सुख-राज्य का स्पर्श करता है। इससे ऊपर के अनुत्तर स्वर्गों, सर्वार्थ-सिद्धियों और नव-ग्रैवेयकों में बहिर्मुख काम की वेदना ही तिरोहित हो जाती है। प्रतिकार की आवश्यकता से परे उनका प्रवीचार यहाँ अन्तर्मुख और स्वायत्त हो जाता है। उनकी साहजिक आत्मस्थिति में, सुरति-सुख स्वयमेव ही उनके भीतर निरन्तर प्रवाहित रहता है। . . कामिक चेतना की इन सारी स्थितियों और भूमिकाओं में इस क्षण, संयुक्त रूप से अपने को रम्माण अनुभव कर रहा हूँ, माँ। पर इनके भी सारे प्रस्तरों मे संसरित होता हुआ, मैं इनके अन्तिम छोर पर आ खड़ा हुआ हूँ। . . और सामने देख रहा हूँ—मृत्यु की अतलान्त अभेद्य, अँधियारी खन्दक। यह जब तक है, परमतम काम-सुख का अन्त भी वियोग और विच्छेद में होना ही है। चरम तमस के इस राज्य को भेदे बिना, मेरी चेतना को विराम नही, माँ . . !'

'रुको, रुको मान, तुम इस समय बड़े दुर्दान्त और भयंकर दिखाई पड़ रहे हो। हर पार्थिव आधार से उच्छिन्न, इस ख़न्दक में कूद पड़ने को उद्यत लग रहे हो . . मान, इस किनारे को सहना, देखना, मेरी सामर्थ्य से बाहर है। . . लौट आओ बेटा . . लौट आओ . . । तुम्हारी माँ की छाती टूटी जा रही है। . . हाय, मेरी बाँहे छोटी पड़ गईं . . मेरी हड्डी-हड्डी तड़क रही है . और मै चूर-चूर हुई जा रही हूँ। तुम्हे पकड़ पाने में असमर्थ ! . . भीतर-बाहर की दृष्टि मात्र इस भय और असह्यता मे मुँद गई है। . . कहाँ है मान तू, मेरे लालू . . ! हाय, तूने यह कैसा वज्राघात देकर खोल दी मेरी आँखें। . . यह क्या देख रही हूँ . . एक ही छलाँग में पार गया तू यह ख़न्दक। . . और उस पार एक नीली रोशनी के तट पर अकेला खड़ा है तू। हमारे बीच अपरिमेय अलंघ्य फैली है यह खाई। मान, इससे बड़ा वियोग तू मुझे क्या दे सकता था। पुत्र होकर ऐसा हत्यारा, निर्दय हो गया तू ? जीते जी, खुली आँखों, चलती साँसों के बीच तू मुझे मौत के इस अँधियारे निर्जन तट पर अकेली छोड़ गया . . ? हाय, अब कहाँ जाऊँ . . क्या करूँ . . मान . . मान . . मान . . कहाँ अदृश्य हो गया तू ?'

'अरे ऊपर, इधर, मेरी ओर देखो माँ, यहाँ खड़ा तो हूँ मैं। देखो न, सर्वार्थ-सिद्धि के

इन्द्रक-विमान का ध्वजा-दण्ड नीचे रह गया। उससे भी बारह योजन ऊपर आकर, देखो, यह ईषत्-प्राग्भार नाम की आठवीं पृथ्वी है। नरकों की सात पृथ्वियों से ऊपर, सर्वार्थ-सिद्धि तक के सारे लोक पृथ्वी तत्व से उत्सेधित होकर अन्तरिक्षों में ही उप-पृथ्वियों पर अवस्थित हैं। पर तीन लोक के मस्तक पर, यह जो सिद्धालय है, यह फिर विशुद्ध पृथ्वी से आलिंगित है। मूलगत ठोस पार्थिवता ही यहाँ परम दिव्यता में परिणत हो गई है। मुक्त सिद्धात्मा यहाँ पृथ्वी के साथ अन्तिम और अभेद रूप से संयुक्त हो गये हैं। दोनों ही पूर्ण स्वरूपस्थ होने से, महासत्ता यहाँ भेद-विज्ञान से परे निजानन्द में लीन हो गई है। लोक-शीर्ष पर आरूढ़ यह प्राग्भार पृथ्वी ही मोक्षधाम है, निर्वाण-भूमि है। इसके मध्य में उत्तान श्वेत छत्र के समान, अर्द्धचन्द्राकार सिद्धशिला विद्यमान है। यह उत्तरोत्तर ऊपर की ओर अपसारित होती हुई त्रिलोक के चूड़ान्त में अंगुल के असंख्यातवें अंश परिमाण में तनु, सूक्ष्मतम हो गई है। अपने छोर पर यह तीसरे तनु-वातवलय को भेद गई है। उस वातवलय की सघनताओं में निर्बन्ध अवगाहना करते हुए अनन्त कोटि सिद्धात्मा नित्य शुद्ध, बुद्ध, आत्म-स्वरूप में लीन, अपने ही भीतर के अनन्तों में निर्बाध परिणमनशील हैं। अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, अनन्त सुख आदि अनन्तानन्त गुण और शक्तियाँ उनमें स्वतः स्फूर्त भाव से निरन्तर सक्रिय हैं। इसी को सर्वकाल के द्रष्टा, ज्ञानी और शास्ता मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण आदि संज्ञाओं से अभिहित करते आये हैं। . . इन मुक्तात्माओं के सुख की कल्पना कर सकती हो, माँ?'

'. . देख लालू, तू मेरे कितना पास आ गया फिर। मै तो केवल तेरा यह सलोना मुखड़ा देख रही हूँ। इस सुख से बड़ा तो कोई सुख माँ के लिए नहीं। तेरे चेहरे में वह सारा सुख समाया है। फिर किसी कल्पना की मरीचिका में क्यों पड़ूँ!'

'यह कल्पना की मरीचिका नहीं, माँ। मेरे भीतर इस क्षण जो प्रतीयमान है, वही कह रहा हूँ। तुम मुझे चक्रवर्ती देखना चाहती हो न? पर उसके आगे भी सुख के कई सोपान हैं। चक्रवर्ती के सुख से भोग-भूमिज मनुष्य के सुख अनन्त गुना हैं। उससे अनन्त गुना सुखी धरणेन्द्र है। उससे अनन्त गुने सुख का भोगी देवेन्द्र है। उससे अनन्त गुने सुख में अहमीन्द्र विलास करता है। विगत, आगत, अनागत की इन सारी सत्ताओं के सुख को एकत्र किया जाये, तो उससे भी अनन्त गुना सुख मोक्ष में आसीन सिद्धात्मा एक क्षण में भोगते हैं। सत्यत. यह गुणानु-गुणन भी उस सुख का सही आयाम प्रकट नहीं करता। क्योंकि अहर्मिन्द्रों तक के सारे सुख पराश्रित हैं, इन्द्रियजन्य हैं, सो आकुलतामय है। पर सिद्धात्मा का सुख, स्वायत्त, आत्मोत्थ, निराकुल, आत्मन्येवात्मानातुष्टः हैं। इसी से वह वचन और गणना से अतीत मात्र अनुभव्य है। . . '

'ऐसे सुख को तू मेरी गोद में लेटा अनुभव कर रहा है, फिर कहाँ जाने की पड़ी है तुझे?'

'नही माँ, यह उस सुख की अनुभूति नहीं. उसमें स्थिति नहीं, यह मात्र उसकी प्रतीति है। चाहो तो इसे सम्यक् दर्शन कह लो। इस दर्शन को सम्यक् ज्ञान बनना होगा। और उस सम्यक् ज्ञान को चारित्र बन जाना होगा। यानी इस सुख में ही तब निरन्तर रमण और विचरण होगा। . . '

'कोई अन्त भी है तेरे इन उलझावों का! सभी श्रमणों और शास्त्रों से यही गाथा सुनते मैं थक गई हूँ। कोई उस मोक्ष में जाकर आज तक लौटा तो नहीं। कौन साक्षी दे कि ऐसा कोई सुख

कहीं है ?'

'हो सके तो वह साक्षी, मैं सदेह यहाँ उपस्थित करना चाहता हूँ। . . जाने क्यों, मुझे ऐसा लग रहा है, माँ, कि यह निर्वाण भी अन्तिम उपलब्धि नहीं। मेरी यात्रा यहीं समाप्त नहीं दीखती। . . इस निर्वाण से भी आगे की एक स्थिति मेरी अभीप्सा में झलक रही है। भेद-विज्ञान से परे एक अद्वैत महासत्ता में स्थिति : जिसमें संसार और निर्वाण एकाकार हैं। वे परस्पर एक-दूसरे में अन्तर-संक्रांत हैं। . . अरे माँ, देखो न, मैं निर्वाण को अनिर्वाण जगत में पग-धारण करते देख रहा हूँ। मैं अपने भीतर सदेह सिद्धात्मा को लोक में शाश्वत संचरण करते देख रहा हूँ ! . . '

'कितनी देर हो गई तुझे, बोलते-बोलते। चुप हो जा लालू . . मेरे लाल . . !'

. . और सहसा ही अपने बालों और गालों पर माँ का हाथ फिरता अनुभव किया। आँखें खुल गईं। . . यह क्या देख रहा हूँ। माँ की गोद में उत्संगित हूँ। बरसों से ऐसा नहीं हुआ था। उस मोहोष्मा को सह न पाया, और उठने को हुआ कि माँ ने दोनों बाँहों से मुझे समूचा आवरित कर लिया। . . लगा, जैसे एक तीखा प्रश्न माँ ने बिन बोले ही, मेरी नस-नस में झनझना दिया . . !

' . . सच ही तो है तुम्हारा अनुरोध माँ, अनन्त केवल सिद्धात्मा ही नहीं, यह सारा लोक, इसके सारे बद्धात्मा जीव भी अनन्त हैं। सत्ता मात्र अपने द्रव्यत्व में अनन्त और अविनाशी है। तीना लोकों का ढाँचा, उसके कई पटलों में स्थित पर्वत, नदियाँ, समुद्र, कई भवन-मन्दिर जैसे पुद्गल-समुच्चय तक शाश्वत अनादि-निधन हैं। तब सिद्धात्मा की अनन्तता, और अविनाशिकता की क्या विशेषता ? वह अनन्त जब तक अपनी सारी अनन्त गुणवत्ताओं के साथ, सान्त में व्यक्त न हो, अभी और यहाँ जीवन की लीला में संक्रान्त न हो, उसकी क्या सार्थकता ? अपार संत्रास, यातना, मृत्यु झेलते असंख्य संसारी जीवों से मुँह मोड़ कर, जो अपने ही निर्वाण-सुख में बन्द हो गया है, उस सिद्धत्व को लेकर मैं क्या करूँगा ! हो सके तो उस परात्पर सिद्धत्व को, लोक की रचना में सिद्ध और संचरित देखना चाहता हूँ ! . . '

' . . मेरी बात तो तू मानने से रहा। जब से मैं यही तो कह रही हूँ . . । पर तू सुने तब न। चिर दिन का हठीला जो है। पर आया न वहीं, जो मैं कह रही थी। देख मैं हूँ न, मुझमें ला अपनी मुक्ति। इस कक्ष में, इस महल में, माँ की गोद में लेटे-लेटे सभी कुछ तो देख लिया तेने . . ! फिर अब कहाँ जाना है रे ?'

' . . नही माँ, मोक्ष से भी आगे की सिद्धि जिसे लाना है, वह यहाँ कैसे रुक सकता है। त्रिलोक और त्रिकाल के समस्त जीवों की सृष्टि में, उनके जीवन में, मुक्ति के शाश्वत संवादी सुख को जो सचरित देखना चाहता है, उसे उन तमाम असंख्यात जीवों की चेतना में उतर कर, उनके साथ तद्रूप तदाकार होना होगा। उसके लिए उसे विराट् प्रकृति के असीम जीव-राज्य में विचरण करना होगा। और जीवों के और अपने बीच जो अनन्तकाल के कर्मावरण और मनोग्रंथियाँ पड़ी हैं, उन्हे भेद कर, प्रत्येक जीवाणु के साथ आत्मसात् हो जाना पड़ेगा। माँ की मोहोष्म गोद, और नंद्यावर्त की सुरभ-शैया में वह सम्भव नहीं। प्रकृति में व्याप्त युग-युगों के हिंसा-प्रतिहिंसा और कर्मों के दुश्चक्रों के प्रति आत्मोत्सर्ग कर देना होगा। उनके प्रति अपने को खोल कर, उनके सारे

कषाघातों को झेलते हुए, अपने चैतन्य की अव्याबाध अवगाहना मे उन्हें विसर्जित कर देना होगा। अपनी देह के रेशे-रेशे को योगाग्नि में तपा कर, गला कर, अपने विशुद्ध द्रव्य में संस्थित होने पर ही निखिल के साथ ऐसी एकाकारिता सम्भव है। . . अभी-अभी अन्तहीन नरकाग्नियों में जलते जीवों की यातनाएँ आँखों आगे देखी हैं। अनन्त निगोदिया जीव-राशियों को वेदना तक से आत्म-विस्मृत, अपने ही में खदबदाते, बेचैनी के साथ एक साँस में अठारह बार जनमते-मरते अनुभव किया है। वे सारे जीव मेरी आत्मा में त्राण के लिए चीत्कार कर रहे हैं, आक्रन्द कर रहे हैं. . । माँ, मेरी पीड़ा को समझने की कोशिश करो। . '

'कहो बेटा, सुन रही हूँ। . . '

'जाने कितने जन्मान्तरों मे, जाने कितनी योनियों मे, कितने ही जीवों से मैने शत्रुत्व बाँधा होगा। वे सारे जीव अपने बैर का बदला मुझ से लेने को, कषाय-प्रमत्त होकर निम्नातिनिम्न योनियों मे मोहांध भटक रहे है। जहॉ-जहाँ भी होंगे वे, अपने कायोत्सर्ग के बल उन्हें अपने पास खींचूँगा। उनके प्रति आत्मार्पण करके, अपनी नग्न काया के अणु-अणु मे उनके प्रतिशोधी बैर के सारे प्रहार मौन भाव से सहूँगा। . . सहता ही चला जाऊँगा, ताकि वे अपनी समस्त कषाय को मुझ पर उतार कर, उससे मुक्त और निर्वैर हो जाये। पहले अपनी ही आत्मा मे, अपने ही निजी वैरियों से, पूर्ण मैत्री और सम्वादिता स्थापित न कर लूँ, तब तक निखिल चराचर में मैत्री और सम्वाद का सुख-साम्राज्य कैसे स्थापित किया जा सकता है ! . . '

' . . कायोत्सर्ग तो भीतरी बात है न, मानू ? इस बाहर की छत में जाने कब से तेरा कायोत्सर्ग चल तो रहा है। तेरी ध्यान-साधना मे आप ही एक दिन, सारे जीव खिचे चले आयेंगे। है कि नही ?'

' . . नहीं . . नही मॉ, असम्भव ! मुझे स्वय जीवों के पास जाना होगा। अपने अहम् की सारी ग्रंथियॉ भेद कर, उन्हे सुलभ हो जाना होगा। छोड़ो लोकालोक की जीव-राशियों को : ठीक इस महल से बाहर निकलते ही, जो मानवों की बस्तियॉ हैं, उन्ही के साथ मैं अभी कोई समत्व और सम्वाद नही साध पाया। :ल्लीकानन की यात्रा के समय, तुम्हारे इस आर्यावर्त की कई ग्राम-बस्तियों मे भटका था। कृषकों, कम्मकरों, चांडालों, अंत्यजों की जो जीवन-स्थिति देख आया था, उसके बाद तुम्हारे इस सुख-वैभव से भ` राजमहल मे लौटने का मन न हुआ। वह सब असह्य लगा : अक्षम्य अपराध प्रतीत हुआ। इन महलों और राज्यों के ऐश्वर्यों की नीवों में जो प्रतिपल अपने जीवनों की आहुतियॉ दे रहे है, उनकी विपन्नता, दीनता और आत्महीनता को देख, मुझे स्पष्ट प्रतीति हुई, कि लोक मे कुछ समर्थ लोग, अपने बाहुबल और उत्तराधिकार के ज़ोर पर, निरन्तर एक सार्वभोमिक हत्या और हिसा की सृष्टि कर रहे है। कर्म-विपाक से यदि यह वैषम्य है, तो उस गलत कर्म-शृंखला को उलटना भी जागृत और चैतन्य मनुष्य का दायित्व है। कोई भी आत्मवान और जागृत व्यक्ति, होश-हवास रहते एक हत्यारी और शोषक जगत-व्यवस्था में सहभागी होकर, करोड़ों मानवों की सामुदायिक हिसा के इस व्यापार को कैसे चलने दे सकता है ? . .

'क्या करूँ माँ, बहुत विवश हो गया हूँ मैं, यहाँ से चले जाने को। धनी-निर्धन, सुखी-दुखी, शोषक-शोषित, पीड़क-पीड़ित के ये भेद, ये दरारें मुझ से सही नहीं जातीं। मेरी नसों

में रक्त नहीं, जैसे बिच्छू बह रहे हैं। मेरे तन का अणु-अणु उनके निरन्तर दंशनों से उत्पीड़ित है। लगता है माँ, हजारों-लाखों लोग, जब तक पीढ़ी-दर-पीढ़ी बेहाल, निर्धन, मजबूर हैं, लाचारी और आत्महीनता में जी रहे हैं, तब तक इस ऐश्वर्य से मचलते महल में मैं कैसे रहूँ ? तुम्हारा यह सारा वैभव मुझे काटता है, यह मुझे चोरी का लगता है। यह सार्वभौमिक हत्या की खेती का प्रतिफल लगता है। तुम नाराज न होना माँ . . ! क्या करूँ, जब यह सब मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। यह सब सहते हुए जीना अब मेरे वश का नहीं . . !'

'मान, तेरी इन अनहोनी हठों का अन्त नहीं। जो आज तक कोई न कर सका सृष्टि के इतिहास में, वह तू करेगा ? असम्भव को कौन सम्भव कर सका है ?'

'असम्भव और महावीर साथ नहीं चल सकते, माँ ! मनुष्य के कोष में से असम्भव शब्द को मैं सदा के लिए निकाल फेंकना चाहता हूँ। सत्ता यदि अनन्त सम्भावी है, तो असम्भव यहाँ कुछ भी नहीं। वह केवल अज्ञानियों और अर्द्धज्ञानियों की, अपनी सीमा से निष्पन्न एक मिथ्या धारणा मात्र है। असम्भवों की लकीरें खींचने वाले तुम्हारे परम्परागत शास्त्र और श्रमण स्थापित स्वार्थों के स्थिति-पोषक हैं। यह असम्भव शब्द उन्हीं का आविष्कार है। . . अर्हतों की कैवल्य वाणी को कौन लिपिबद्ध कर सका है। अर्हत् के मुख से असम्भव शब्द उच्चरित नहीं हो सकता। अर्हत् और असम्भव, ये दोनों विरोधी संज्ञाएँ हैं। सर्वसम्भव, सर्वज्ञ, तीर्थंकर, असम्भव की मर्यादा पर कैसे अटक सकता है ? . .'

. . एकाएक मैं उठ बैठा, और देखा, माँ प्रस्तरीभूत-सी पहचान-भूली, भटकी आँखों से मुझे देख रही हैं। बहुत सूना लगा उनका आँचल, और वे निपट लुटी-सी बहुत अनाथ हो आई हैं। . .

'. . मैं बहुत पीछे छूट गई, मान !, माँ से तू बहुत आगे जा चुका। . . जाने कब का? फिर भी क्यों रह-रह कर भरम में पड़ जाती हूँ। जिसका बछड़ा सदा के लिए खो गया है, उस 'गाय-सी रम्भाती, बिलखती मैं बावली बेकार वीरानों में दौड़ी फिर रही हूँ . !'

माँ अपने आँसू न रोक सकीं। उन्हें पोंछने का अधिकार मैं खो चुका हूँ, जाने कब का। मोहरात्रि को पुचकार कर अब और सुलाये रखना मेरे वश का नहीं। . .

'. . जाओ, जहाँ तुम्हारा जी चाहे जाओ, मान ! तुम्हें रोक कर रखने वाली मैं कौन होती हूँ। सारे आसमान को अपने आँचल की कोर में गाँठ देकर बाँध लेने की भ्रांति में पड़ी हूँ मैं। . . ऐसी मूढ़ स्त्री, तुम्हारी माँ कैसे हो सकती है ! . .'

'तन की माँ तो हो ही, अब मेरे मन, चेतना, आत्मा की माँ भी बन जाओ न। तुम्हारी ही गोद में द्विजन्म पाना चाहता हूँ, माँ, सत्य का ज्योतिर्मय जन्म . . !'

'तो उसके लिए मुझे त्याग कर मौत की अँधेरी ख़न्दकों में कूदोगे तुम ? मेरी मति-बुद्धि से बाहर है यह सब।'

'वह अँधेरी ख़न्दक भी तो तुम्हारे ही गर्भ में है, माँ। फिर लौट कर उसी में कूदूँगा, और उसकी मोहान्ध कारा को सचेतन, सज्ञान तोड़ कर, अखण्ड, अनन्त गुना अधिक, समूचा तुम्हारा होकर, तुम्हारी गोद के सिंहासन पर प्रकट हो उठूँगा . . !'

माँ ने शब्द न सुने : केवल भावित हो आईं; बोध से उजल आया उनका मुख। और

अखण्ड माँ को मैंने जैसे साक्षात् किया। . .

'आवागमन से परे की, अपनी और मेरी स्थिति को मेरी आँखों में बूझो, माँ ! तब पाओगी कि जाना-आना, यह निरी शब्द-माया है। तब मेरी जाती हुई बिछोही पीठ नहीं देखोगी, मेरा सन्मुख आता मुख ही देखोगी। काश सत्ता का वह आयाम तुम्हें प्रत्यक्ष दिखा सकता ! लेकिन शब्द के राज्य की सीमा आ गई . . । अब बोलना निःसार लगता है। देख सको तो देखो, मैं तुम्हारे सामने हूँ समूचा . . सदा।'

' . . तू तो कहता है, मोक्ष में खो नहीं जायेगा। लौट कर आयेगा मेरे पास। क्या लायेगा मेरे लिए ? . . '

' . . हथेली पर रक्खा हुआ एक ऐसा सहस्र-पहलू हीरा, जिसमें त्रिलोक और त्रिकाल के तमाम परिणमन झलक रहे होंगे ! तब दुःख, मृत्यु, विनाश, शोक, वियोग के अन्धकारों से आच्छन्न लोक मेरे हृत्कमल मे सहज अनुभूत और आश्वस्त होगा। उसे प्राप्त करने को, उसमें व्यापने को, चौरासी लाख योनियों मे मुझे फिर भटकना नही होगा। भ्रमण तो अनन्त बार किया इन सारी अन्ध योनियों मे। पर क्या फिर भी उन्हे जान सका, अपने को जान सका, इस लोक को जान सका ? बाहरी भ्रमण द्वारा नही, भीतरी आत्म-रमण द्वारा ही इसे सम्पूर्ण जाना और स्वायत्त किया जा सकता है। तभी इसमे निर्बाध रमण कर, इसके अणु-अणु मे आत्मज्ञान का चक्रवर्तित्व स्थापित किया जा सकता है। . . और वह चिन्तामणि हीरा लेकर, त्रिलोक और त्रिकाल का चक्रवर्ती, विश्वभरा माँ की गोद मे नहीं लौटेगा, तो कहाँ जायेगा ? वही बिछेगा उसके चक्रवर्तित्व का सिहासन . !'

माँ की मुँदी आँखों से आनन्द के अजस्र आँसू बह रहे है। और मै उनके अन्तर्चक्षु बन कर, उनके इस अनहोने बेटे को निर्निमेष निहार रहा हूँ।

वातावरण समाधि के अज्ञात फूलों की सौरभ से आप्लावित है। .

महाभिनिष्क्रमण

मार्गशीर्ष कृष्ण नवमी

हेमन्ती सन्ध्या के इस कोहरिल तट मे विचित्र फूल उभर रहे है। एक अपार्थिव सौरभ चेतना में व्याप गई है पर इससे अधिक सुपरिचित सुगन्ध का अनुभव तो पहले कभी हुआ नही। . . वे सारे नाना रंगी फूल जाने कब विसर्जित होकर, एक जामुनी सरोवर की लहरों में परिणत हो गये . . और सहसा ही यह क्या देख रहा हूँ कि वह सरोवर फैलकर 'अरुण समुद्र' में व्याप गया है। और उसमे से गोलाकार समुद्र राशि की तरह प्रगाढ़ अन्धकार का एक विराट् तमःस्कन्ध उठता हुआ सारे लोक पर छा गया है। अपने पादमूल मे असंख्यात् योजनों मे विस्तृत यह तमोराशि,

क्रमशः संख्यात् योजनों में अपसारित होती हुई ब्रह्म युगल के अरिष्ट-इन्द्रक विमान के तल में अवस्थित हो गई है। उसकी अगणित अन्धकार-पंक्तियाँ ऊपर की ओर उठ कर अरिष्ट विमान में चारों ओर फैल गई हैं। फिर वे चारों दिशाओं में विभाजित होकर, मर्त्यलोक के अन्त तक व्याप गई हैं। उन अन्धकार पंक्तियों के अन्तरालों में देख रहा हूँ—अग्न्याभ, सूर्याभ, चन्द्राभ, सत्याभ, क्षेमंकर आदि ब्रह्म-स्वर्ग के देवों के तैरते हुए जाने कितने द्युतिमान विमान। . .

. . और उस सागराकार गोल तमःस्कन्ध के चूड़ान्त पर लौकान्तिक देवों के कितने ही पंक्ति-बद्ध रत्नप्रभ वातायन उभर आये हैं। देवों के बीच देवर्षि कहे जाते हैं ये देव। स्वर्गों के सारे भोगों से घिरे रह कर भी ये स्वभाव से सहज ही वीतराग और योगी हैं। विषय और विषयी के भेद से परे इनकी चेतना एक निर्विषय सुख से सदा ऊर्मिल रहती है। इन्द्र-इन्द्राणियाँ तक इनकी पूजा करते है। उन चूड़ान्तिक वातायनों पर उन्हें क्रीड़ा भाव से लूमते देख रहा हूँ। . . सहसा ही वहाँ से कई मणिप्रभ विमान उड़ कर नन्द्यावर्त की ओर आते दीखे।

. . मेरे सामने पंक्ति-बद्ध आकर खड़े हो गये है, ये दिव्य रूपधारी कुमारयोगी। सारस्वत, आदित्य, ब्रह्नि, अरुण, गर्तोदय, तुषित, अव्याबाध, अरिष्ठ आदि जाने कितने ही नाम, कुहरिल हवा मे गूँज कर, कही ज्योतिर्मय अक्षरों मे भास्वर हो उठे। . . ढेर सारे कल्प-वृक्षों के फूल उन्होंने मेरे चरणों में बिखेर दिये।

एक अत्यन्त सुखद मार्दवी तन्द्रा में मेरी चेतना डूबने-उतराने लगी। कई धनुषाकार सुन्दर ओठों की पँक्तियों से उच्चरित होता सुनाई पड़ा · 'बुज्झह . बुज्झह ! मा मुज्झह . . मा मुज्झह ! . ' 'जागो जागो ! मूर्च्छा मे न रहो . . मूर्च्छा मे न रहो !' क्षणैक के अन्तराल से फिर सुनाई पड़ा . 'उट्ठाहि . . उट्ठाहि . . !' . 'उठो . . उठो !' फिर गभीर चुप्पी के उपरान्त एक लम्बायमान ध्वनि अन्तहीन हो गयी : 'पट्ठाहि . . पट्ठाहि !' . 'प्रस्थान करो . . प्रस्थान करो !'

और उस ध्वनि के छोर पर मेरी बाह्य चेतना सर्वथा विलुप्त हो गई। .

. . अपूर्व है आज के ध्यान की गहराई और उसका विस्तार। अब तक के ध्यान की चरम तल्लीनता मे, एक रेशमीन अन्तरिक्ष के दूरातिदूर विराट प्रसार मे कोई एकमेव नील नक्षत्र तैरता दिखाई पड़ता था। . . इस क्षण वह वृहत्तर होता हुआ एक अण्डाकार नील ज्योति-पुंज मे प्रभास्वर हो उटा। और अगले ही क्षण, किसी नीलमी महल के तटान्त पर खड़ी एक नीलेश्वरी सुन्दरी, बाँहे पसार कर आवाहन-मुद्रा मे विशालतर होती दिखायी पड़ी। उसकी देह के प्रत्येक अवयव मे सहस्रों आँखे खुली हैं : और उन आँखों में सारी इन्द्रियों के द्वार एकाग्र, एकाकार होते जा रहे है। . देखते-देखते मै एक सुनील समुद्र के प्रशान्त प्रसार मे विसर्जित हो गया। . .

मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी

. . ब्राह्म मुहूर्त की निर्मल वायु-तरंगों में अनुभव हुआ सारे स्वर्गों के पटल और इन्द्रों के आसन कम्पायमान हो रहे है। अनगिनती कल्प-विमानों के वैभव और ऐश्वर्य उमड़ कर नन्द्यावर्त-प्रासाद की ओर प्रवाहित है।

. . उषाःकाल के मोतिया आलोक में जब आँखें खुलीं, तो पाया कि अपनी शैया में नहीं हूँ। पद्मराग-शिला की एक चौकी पर पद्मासन में आसीन हूँ। सहस्रों इन्द्र अपनी इन्द्राणियों और देव-देवांगनाओं के परिकर के साथ, क्षीर-समुद्र के जल से भरे सुवर्ण-कुम्भों से मेरा अभिषेक कर रहे हैं। . . शची जाने कितनी ही कमनीय बाँहों से मेरा अंग-लुंछन् कर रही है। कल्प-लताओं के पुष्प-पराग से मेरे सारे शरीर में अंगराग-प्रसाधन किया गया है। फिर एक अखंड उज्ज्वल ज्योतिर्मय उत्तरीय मेरी देह पर धारण कराया गया। उसके उपरान्त अनादिनिधन चित्र-विचित्र रत्नों के किरीट, कुण्डल, केयूर और समुद्र-तरंगिम मुक्ताफलों की मालाओं से आपाद-मस्तक मेरा शृंगार किया गया है।

. . सारा आकाश एक प्रकाण्ड मृदंग की तरह अन्तहीन नाद से शब्दायमान है। स्वर्गों से नन्द्यावर्त के प्रांगण तक का समस्त अन्तरिक्ष देव-देवांगनाओं, अप्सराओं, यक्षों, गन्धर्वों के उतरते यूथों से छा गया है। जैसे एक निःसीम चित्रपटी दिव्य रंग-प्रभाओं से झलमला उठी है। तरह-तरह के देव-वाद्यों, संगीतों, नृत्यों की झंकारों से दिगन्तों के तट रोमांचित और द्रवित हो उठे हैं।

. . देख रहा हूँ, राजद्वार पर तुमुल वाद्य-संगीतों के बीच एक भव्य पालकी उतर आयी है। यह 'चन्द्रप्रभा' नामा पालकी, मानो करोड़ों चन्द्रमाओं के स्कन्ध में से तराशी गयी है। इसकी शीतल-तरल आभा से सारे लोकाकाश के हृदय में एक गहरी कपूरी शीतलता और शान्ति व्याप गई है।

. . शक्रेन्द्र और शची मुझे बड़े सम्भ्रम के साथ हाथ पकड़ कर उस पालकी की ओर ले गये। शची ने अवलम्ब के लिए अपनी अपरूप कमनीय कोमल बाहु पसार दी। उसे पकड़ कर मैं पालकी मे यों आरूढ़ हो गया, जैसे अपने चरम विलास कक्ष के शयन पर आरोहण किया हो।

भासित हुआ कि काल-चक्र में विजया नामक मुहूर्त-क्षण प्रकट हुआ है। मेरे पद-नख पर उत्तरा और फाल्गुनी नक्षत्रों की संयुति हुई है। पालकी में मेरे पीताभ गरुड़-रत्न के सिंहासन का आलोक उदीयमान सूर्य के गोलक की तरह भास्वर हो उठा है। पूर्वाभिमुख आसीन मैंने देखा, कि ठीक सामने पूर्व दिशा मे एक पुरुषाकार छाया दूर तक फैलती चली गयी है।

शिविका में दीखा · मेरी दायीं ओर एक कुल-महत्तरिका वृद्धा हंसोज्ज्वल वस्त्र लिये बैठी है। मेरी दायी ओर धाय-माता विपुल सामग्रियों का सुवर्ण थाल लिये बैठी है। पीछे एक परमा सुन्दरी युवती सोलहों शृगार किये मुझ पर सुवर्ण-दण्ड का हीरक-श्वेत छत्र छाये हुए है। ईशान कोण मे खड़ी एक पुण्डरीक-सी ईषत् नमिता बाला मणिमय विजन डुला रही है। पादप्रान्त में कई वार-वनिताएँ नृत्य-भंगों में निवेदित होती हुई, कई-कई ग्रंथियों-सी एक साथ खुल रही हैं। उनके आलुलायित केशों का मोहान्धकार मेरे चरण-तटों में आकर विलीन हो जाता है। . .

अगल-बगल खड़े परिजन-परिवार के सारे चेहरे, किसी एकमेव आत्मीय चेहरे की चिरन्तन परिचिति में एकाकार-से दीखे। पास झुक आये माँ और पिता के युगलित मुखड़ों पर, आँसू-झरती मुँदी आँखें मेरे सम्मुख चित्रित-सी रह गयीं। . . 'माँ, बापू, वियोग की रात बीत गयी। . . मेरे परम परिणय् की इस मंगलबेला में आशीर्वाद दो, कि अपनी अनन्या वधू का वरण कर जल्दी ही तुम्हारे पास लौट आऊँ . . !'

'ओ री पागल वैना, बहा दो अपने सब आँसू। इतने कि मेरी मुक्त जलक्रीड़ा के शाश्वत सरोवर हो जाये। . . अरे सोमेश्वर, सखा का साथ नहीं दोगे, कि यों व्याकुल हो रहे हो ? क्या

तुम नहीं चाहते कि तुम्हारी कविता को लोकालोक में साकार करूँ ? ठीक मुहूर्त में आ पहुँचोगे मेरे पास, और दोनों मिल कर महावीर की कैवल्य-प्रभा से कण-कण को भावित और सुन्दर कर दोगे . . ।'

सहस्र-सहस्र प्रजाजनों की राशिकृत मेदनी चारों ओर घिरी है। सारे चेहरे आँसुओं से उफन रहे हैं। दबी सिसकियों से सुबकते जाने कितने नर-नारी वक्ष मेरे निश्चल अंगांगों में आलोड़ित हो रहे हैं। . . एकाएक दिखायी पड़ा : चेटकराज, सुभद्रा नानी, सारे मामा लोग, रोहिणी मामी तथा वैशाली के अनेक लिच्छवि कुल-राजन्य आसपास घिर आये हैं। . . 'अरे नानी माँ, वियोग के अँधेरे में पीछे छूटोगी ? विदा के इस क्षण में अटूट संयोग की गोदी में मुझे नहीं लोगी ? . . और मेरे चेटक-बापू, क्या वैशाली के ही गणनाथ होकर रहोगे, समस्त लोक के बापू नहीं बनोगे ? और फिर जाकर भी, तुमसे दूर मैं कहाँ जा सकता हूँ ? . . और आर्यावर्त की सिंहनी रोहिणी मामी, तुम तो मेरे सूरज-युद्ध की संगिनी हो, यों कातर होकर मुझे अकेला छोड़ जाओगी ? . . ओ मेरी प्रजाओ, मैं यदि जीवन का नया रक्त बन कर तुम्हारी शिराओं में व्याप जाना चाहता हूँ, तुम्हारी साँसों में बस जाना चाहता हूँ, तो क्या यों सुबक कर मेरी राह रोकोगे ? मुझे निर्बाध अपने भीतर न आने दोगे ? . . चन्दन, तुम यहाँ न दिखायी पड़ी न ! ठीक ही तो है । तुम्हारे पास आने को ही तो यह महाप्रस्थान कर रहा हूँ। . . तुम्हें सामने पाते ही जान लूँगा, कि जहाँ पहुँचना था, वहाँ पहुँच गया हूँ ! . . लिच्छवि कुलपुत्रो, निश्चिन्त हो जाओ। मेरी आत्मजय और वैशाली की विजय को भिन्न न जानो । त्रिलोक का वैभव जो यहाँ समर्पित है इसी घड़ी, उसे क्या अनदेखा करोगे ? . .'

मानवों और देवों की अन्तहीन जयकारों के बीच, आकाश में तोरणाकार उड़ते सहस्रों देव-देवांगना फूलों की राशियाँ बरसाते दिखायी पड़े। . .

जब तुमुल जय-निनाद के साथ, परिजनों और प्रजाजनों के कन्धों पर पालकी उठी, तो लोक के सारे पटल रोमांचन से कम्पायमान होते अनुभव हुए। कुछ ही दूर जाने पर शत-शत इन्द्रों और माहेन्द्रों ने चारों ओर से आकर पालकी अपने कन्धों पर ले ली। कुण्डपुर के राजमार्ग में अनवरत बरसते फूलों के बीच से, दृष्टि के पार होती विशाल शोभा-यात्रा चल रही है। अन्तरिक्ष के अधर में शत-सहस्र अप्सराएँ नृत्य कर रही हैं। उनके नर्तित अंगांगों में से स्वर्गों के कितने ही क्रीड़ाकुल उद्यान और केलि-तरंगित सरोवर आविर्मान और लयमान होते दीख रहे हैं। बेशुमार फूल-पल्लवों, बन्दनवारों, रत्न-तोरणों में से यात्रा गुज़र रही है।

दूरियों में देख रहा हूँ : अलंकृत हाथियों की कई-कई सरणियाँ चल रही हैं। हेषारव करते श्वेत अश्वों के यूथ गतिमान हैं। वैडूर्य-शिला का एक विशाल सिंहासन, मणि-कुट्टिम पादुकाओं से दीप्त, कहीं ऊँचाई पर आलोकित है। उसे घेरे अनगिनत रथ अपने रत्न-शिखरों से आकाश को चित्रित करते चल रहे है। देवों, विद्याधरों, राजाओं की चतुरंग सेनाओं का ओर-छोर नहीं। ठीक पालकी पर, उड्डीयमान मुद्राओं में झुक झूम कर नृत्य करती अप्सराओं ने चारों ओर रूप-लावण्य का एक वितान-सा छा दिया है।

और मेरे भीतर गूँज रहा है : नेति . . नेति . . नेति . . नेति . . ! . . यह भी नहीं . . यह भी नही ! : यहाँ अन्त नही . यहाँ अन्त नही . . !' और इस सारे पार्थिव

और दिव्य ऐश्वर्य के लोकान्त-व्यापी परिच्छद से निष्क्रान्त हो, अपने को एक अगाध शान्ति के सुरभित समुद्र पर चलते हुए देख रहा हूँ।. . पूर्व कोल्लाग सन्निवेश को पार कर, धीर गति से चलती हुई यह शोभा-यात्रा जब 'ज्ञातृ-खण्ड उद्यान' में पहुँची, उस समय हेमन्त के नमते अपराह्न की कोमल धूप, वन-शिखरों पर से सरकती दिखायी पड़ी।

शिविका जहाँ उतारी गई, वहीं सामने सघन हरित मर्कत-छाया से आलोकित एक विशाल अशोक वृक्ष प्रणत मुद्रा में स्वागत करता दिखायी पड़ा। उसके तलदेश में स्थित एक ऊँची विपुलाकार सूर्यकान्त शिला पर इन्द्राणियों ने चंदन, केशर, कुंकुम और मणि-चूर्णों से स्वस्तिक और अल्पनाएँ रचीं।. .

. . हठात् सहस्रों देव-किंकरों के हाथों में थमे दण्डों की ताड़ना से इन्द्रों के करोड़ों दुन्दुभि बाजे आकाश-व्यापी होकर प्रचण्ड घोष करने लगे। नाना समवेत वाद्यों में करुण-कोमल रागिनियाँ प्रवाहित होने लगीं।. . और पाया कि पृथ्वी और स्वर्गों के तमाम समुद्रों और सरोवरों की संयुक्त जलधाराएँ महावीर का अभिषेक कर रही हैं। पाद-प्रान्त में विविध मंगल-द्रव्यों की सम्पदाएँ भीग रही हैं। धूपदानों से उठती सुगन्धित धूम्र-लहरियाँ एक अद्‌भुत पावनता से वातावरण को व्याप्त कर रही हैं।

इन्द्रों के उड़ते हुए चँवर धवल-हंस-पंक्तियों की तरह दिव्य वीणाओं की सुरावलियों में बहने लगे। चित्रा-बेलियों से बरसते रंगारंग फूल हवा में चित्रसारियाँ करते तिरोमान होने लगे। देवांगनाओं की अंजलीकृत लावण्य-प्रभाएँ कपूर-सी उड़ती दिखायी पड़ीं।. .

. . मेरे भीतर के अगाध मे से चरम उल्लास का एक रोमांचन उठ कर मेरे अंगांगों को विगलित कर चला।. . मुझ पर बरसती, प्रकृत अभिषेक की जलधाराएँ सहसा ही एक सुनील नीहार का बितान बन कर मेरे चारों ओर छा गयीं। एक निस्तब्ध नीलिमा की आभा के बीच मैंने अपने को एकाकी पाया।. . सहसा ही मेरी देह पर से उतर कर, किरीट-कुंडल, केयूर, मुक्ताहार और सारे वस्त्राभूषण झरती पत्तियों की तरह झड़-झड़ कर महावीर के पाद-प्रान्त में आ गिरे !

. . उस सूर्यकान्त शिला के आसन पर, मैंने किसी वयातीत नग्न शिशु को, एक निर्दोष निर्विकार पारदर्श प्रभा के रूप में अवस्थित देखा।

हठात् स्तब्धता की वह नील नीहारिका विलीयमान हो गयी।. . असंख्य कण्ठों की त्रिलोक-व्यापी जयकारें गूँज उठीं। छोड़े हुए सर्प-कंचुक जैसे निष्प्रभ वस्त्रालंकारों को कुल-महत्तरिका ने अपने हंस-धवल वसन में समेट लिया।

. . मैने देखा कि मेरी कुंचित कमनीय अलकावलियाँ नागिनियों-सी उछल कर, मेरे सारे मस्तक को घेर कर लहरा उठी हैं। और चारों ओर घिरी दिव्य और पार्थिव कामिनियों के हृदय मोहिनी से व्याकुल हो उठे हैं।. .

. . महावीर किंचित् मुस्कुरा आये।. . और अगले ही क्षण अपने दोनों हाथों की पंच-मुष्टिकाओं से एक ही झटके में उन मोहान्धकार-भरे केशों का लोच कर, उन्होंने उन्हें हवा में उछाल दिया। सहस्रों सुन्दरियों के अंचलों, मृणाल बाँहों और इन्द्रों के रत्न-करण्डकों ने उन्हें झेला।. . दूर कहीं क्षीर-समुद्र की लहरों में वे केशावलियाँ तरंगित दिखायी पड़ीं।. .

शक्रेन्द्र का गम्भीर स्वर सुनाई पड़ा : 'हे त्रैलोक्येश्वर, हे निखिल के एकमेव आत्मीय,

अवसर्पिणीकाल के पुरोधा तीर्थंकर, शब्द में सामर्थ्य नहीं कि तुम्हारी महिमा का गान कर सके। सृष्टि का कण-कण दारुण दुःख के दुश्चक्र में पिस रहा है। संसार की पीड़ाओं का अन्त नहीं। पारस्परिक राग-द्वेष, वैर-मात्सर्य के वशीभूत हो अज्ञानी जीव एक-दूसरे का घात, पीड़न, शोषण कर रहे हैं। जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, वियोग से असंख्य आत्माएँ सन्तप्त हैं। अबूझ कषायों के निरन्तर कषयन से हमारी चेतनाएँ सदा आरत, आहत और घायल रहती हैं। हमारी आत्मा के अभिन्न, एकमेव वल्लभ प्रभु, चिर काल से सन्त्रस्त इस लोक का त्राण करो। इसे अपने चरणों में अभय-शरण देकर, मुक्ति और जीवन का कोई अपूर्व मार्ग प्रशस्त करो . . !'

. . अपने ओठों पर सहसा ही एक प्रसन्न स्मित को कमल की तरह खिल आते देखा।

. . अपने भीतर के अथाह नीरव में ध्वनित सुनायी पड़ा :

इस क्षण से मैं न रहूँ : केवल सत्य शेष रहे : मेरे तन, मन, वचन में आरपार वही प्रकाशित हो उठे। केवल वही मुझ में जले, बोले, चले।

इस क्षण से त्रिलोक और त्रिकाल के चराचर भूत मात्र मेरे तन, मन, वचन से अघात्य हो जायें। अणु-अणु के बीच मैं 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' भाव से विचरूँ : उनके साथ तदाकार होकर रहूँ।

इस क्षण से पदार्थ मात्र मेरी दृष्टि में स्वयं अपने आपका होकर रहे। अपनी ईहा-तृप्ति की चाह के वशीभूत होकर उस पर मै बलात्कार न करूँ। माटी, जल-तृण तक को मैं उनकी अनुमति से ही ग्रहण करूँ। वे जब मेरा वरण करें, तो मैं उनका संवरण हो रहूँ।

इस क्षण से मेरे लिए, पल-पल पीड़ित 'मैं' और 'मेरा' समाप्त हो गया। सर्व को उनके स्वधर्म में निर्बाध और स्वाधिकृत रहने दूँ। न मैं उन पर अधिकार करूँ, न वे मुझ पर अधिकार करें। न मैं उन्हें परिग्रहीत करूँ, न वे मुझे परिग्रहीत करें। तन, मन, वचन से क्षण-क्षण संचेतन, अप्रमत्त रह कर, वस्तु और व्यक्ति मात्र के साथ परिग्रह का नहीं, परस्परोपग्रह का ही आचरण मुझ से हो।

इस क्षण से मेरा रमण केवल अपने में हो, आत्मा में हो, अन्य और अन्यत्र में नहीं। स्व-रमण होकर ही सर्वरमण हो रहूँ। आत्म ही लिंग, आत्म ही योनि, आत्म ही काम, आत्म ही काम्य, आत्म ही मेरा एकमात्र विलास, संभोग, मैथुन और मिलन होकर रहे। . .

. . और समय के अविभाज्य मुहूर्त में मेरी आत्मा एक अपूर्व, अननुभूत ज्ञानालोक से उद्भासित हो उठी। . . मनुष्य लोक मे विद्यमान तमाम पर्याप्त और व्यक्त मन वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणियों के मनोगत भाव मेरी अन्तश्चेतना में प्रत्यक्ष हो उठे ! . . क्या इसी को मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं ?

. . और मेरे सस्मित ओठों से प्रस्फुटित हुआ :

'तथास्तु शक्रेन्द्र ! . . मित्ती मे सव्व भूएसु : वैरं मज्झणं केणवि: . . सर्वभूत मेरे मित्र हैं : किसी से भी मुझे वैर नहीं। अणु-अणु की आत्मा में अवगाहन करेगा महावीर . . !'

. . और मैंने उस सूर्यकान्त शिलासन पर देखा : ऊर्ध्वों में उन्नीत तेज की एक नग्न तलवार की तरह दण्डायमान वह पुरुष, निश्चल कायोत्सर्ग में निस्तब्ध, निस्पन्द हो गया है। . .

सूर्य की अन्तिम किरण उसके मस्तक के आभा-वलय में आकर डूब गई।

सायाह्न की घिरती छायाओं में दूर-दूर जाता जन-रव, आसन्न रात्रि के घनान्धकार में खो गया।



द्वितीय खंड

असिधारा पथ का यात्री

तत्व का वसन्त

. . जन-रव की डूबती रेखा के छोर को सुना। देखा भी। नीरव सन्नाटा छा गया। हेमन्ती साँझ का कुहरा गहराता जा रहा है। हिमानी हवा में रक्त जम रहा है : अस्थियाँ बिंध रही हैं। देखते-देखते पाया कि स्वयं ही हिमवान हो गया हूँ : अविचल, निस्पन्द। शीत की वेधकता कहाँ खो गई : स्पर्श जैसा कुछ अब नहीं रह गया है। देख रहा हूँ, हिमावर्त, उज्ज्वल और अन्तर्लीन। केवल स्वयं आप।

घिरते प्रदोष के नीहार-प्रान्तर के तट पर, कहीं कोई नदी की रेखा चुपचाप सिरा गई। दूर का वह पहाड़ विलुप्त होकर, चारों ओर घिरी इस वनानी के झाड़ हो गया। . . देख रहा हूँ, केवल एक पेड़ को अपने पास चुपचाप सरक आते हुए। वह बेहिचक चला आया मेरे भीतर : और सहसा ही लगा कि आकार मात्र नि.शेष हो गये।

एक अथाह अंधकार के सिवाय कही और कुछ नहीं है। आदि में अन्धकार है, अन्त में अन्धकार है। मध्य मे भी वही है। अफाट और अन्तिम अन्धकार। नरक की अन्तिम पृथिवी महातमःप्रभा भी इसमे खो गई है। उसके तले का घोर तिमिरान्ध निगोदिया जीवों का संसार भी इसमें विसर्जित हो गया है। लोक को आवेष्टित किए हुए तीनों वातवलय इस प्रगाढ़ तमोराशि में तीन धागों-से विशीर्ण होते दिखाई पड़े ! . शेष रह गया है केवल आलोकाकाश का अनन्त व्यापी अन्धकार। यह शुद्ध और तात्विक अन्धकार का लोक है। अभाव की इस तमिस्रा में अपनी सत्ता भी सिराती लग रही है। चुनौती सामने है, कि क्या इसको तैर सकूँगा? . . अरे कौन, किसे तैरे ? कौन हूँ मै . कौन ?

. . पता नहीं। पर पाता हूँ कि, इससे भी परे के एक विराट नैर्जन्य में अपने को एकाकी खड़ा देख रहा हूँ। यहाँ आदि, अन्त और काल तक जैसे नही है। स्वयं आप, नितान्त एकाकी हो रहने के अतिरिक्त यहाँ कुछ संभव नही। नग्न और नितान्त सत्ता, निराधार और निरालम्ब। विनाश और विसर्जन की सीमाएँ जाने कब कहाँ छूट गईं।

भयानकता यहाँ अनजानी है। भय एक अनाथ बालक-सा घुटने टेके पैरों के पास आ बैठा है। वह शरण खोज रहा है मेरे भीतर। इस नग्न और निरीह काया में, मेरी जुड़ी जाँघों के गहराव में छुप कर, वह विलुप्त हो जाने को व्याकुल है।

अन्धकार की इस अभेद्यता में एकाएक कुछ दरारे-सी पड़ी। इस भय के छुपने की गुफाएँ भी आत्म-निवेदन करती-सी सामने आईं। व्यथा, वियोग, एकाकीपन। बिछुड़न का एक असह्य नागदंश। . . घने कुहरे और अँधियारे की प्रगाढ़ पर्तों में दिखाई पड़ा, कोई आलोकित महल। . . नन्द्यावर्त ? एक सूना कक्ष, एक परित्यक्त शैया। . . एक और रत्न-दीपालोकित कक्ष की दो जुड़ी शैयाएँ। . . प्रियकारिणी, तुम्हारी छटपटाहट को देख रहा हूँ। समझ रहा हूँ। केवल

अपनी ही बिछुड़न को, व्यथा को, एकाकीपन को देखोगी ? किसी दरिद्र की झोंपड़ी में बिलखती उस अकेली माँ को नहीं देखोगी, जिसका इकलौता बेटा आज ही सवेरे इस पराये, निर्मम संसार में उसे अकेली छोड़ गया है ? उसे आश्वासन देने वाला भी कोई नहीं है । . . अपने ही एकान्त के सन्नाटे में छाती तोड़ती, बिलपती उस युवती विधवा को नहीं देखेगी ? . . वह तुम्हारे लड़कपन की शेफाली : उसके सारे परिजन रो-धोकर, हार कर सो गये हैं । सबके होते भी वह कितनी अकेली है ! है कहीं कोई उसका सहारा ? कोई किसी को यहाँ कभी सहारा दे सका है ? तुम्हारी देह पर समर्थ सिद्धार्थराज की आश्वासन-भरी बाहु पड़ी है । और जगत की मृदुतम शैया की ऊष्मा में तुम सोई हो । . . पर क्या नहीं देखोगी, प्रजाओं की माँ होकर, वे करोड़ों झोंपड़ियाँ, जहाँ अन्तहीन अभाव, दैन्य, भूख-प्यास, रोग, वियोग, मृत्यु के मुख में, जाने कितनी ही आत्माएँ, अपने आँसू आप ही पोंछती हुई, पीती हुई, जीने को मजबूर हैं ? आप ही अपने को पुचकार कर जो सुला रही हैं । भीतर-बाहर, कहीं कोई सहारा, आशा, भविष्य जिनका नहीं है । . .

सुनो त्रिशला, मेरी यह नग्न छाती यदि उन सबको आश्वासन, आलम्ब, ऊष्मा देने को लोकालोक का तट बन गई है आज, तो क्या तुम यों शोक करोगी ? इतनी स्वार्थिनी बनोगी ? क्या मेरा यह अन्तिम आलम्ब-वक्ष भी तुम्हें सहारा नहीं दे पाता ? देखो न, पास ही तात कितने शान्त, अपनी व्यथा को अपने में समाये, निस्पन्द लेटे हैं, तुम्हें अपनी बाहुओं में आश्वस्त करने को विकल . . !

वैना, सोमेश्वर . . अपने आँसू मुझे दो : मुझ में बहाओ । जड़ शून्य में उन्हें व्यर्थ न करो । व्यथा, विछोह, एकाकीपन ? अणु-अणु के बीच पड़ी खंदकों के किनारे मैं खड़ा हूँ । हो सके तो, उन्हें अपने चरम अस्तित्व से पाट देने के लिए । अपनी परम प्रीति से उन्हें अन्तिम योग में संयुक्त कर देने के लिए । . . कान में जिसके उबलता सीसा बहा दिया गया है; वह जो कहीं कोई मरण की अन्तिम साँसें ले रहा है : राजमहल की शैया पर हो या झोंपड़ी के चिथड़ों में । कितना एकाकी है वह कोई भी, कितना असहाय ! . . नरक की वैतरणी में जो अपने ही खून की उबलती कड़ाही में खदबदा रहा है; वह सूक्ष्मतम निगोद जीव, जो निरुपाय एक साँस में अठारह बार जन्म-मरण के कष्ट को सह रहा है । वह रक्त-पीप से लथपथ, गलित-पलित कोढ़ी, जिसकी ओर कोई आँख उठा कर देखना भी नहीं चाहता । कितने अकेले हैं वे सब ?

उनकी व्यथा, उनके विछोह की कल्पना तक से मनुष्य बचता है । . . लेकिन अपने ही एकाकीपन, पीड़न, वियोग, संत्रास से कब तक मुँह छुपा कर चलोगे, आत्मन् ? . . उनका सामना करना होगा । उन्हें यों नकार कर, तड़प कर, बिल-बिलाकर, आँखें बन्द कर कब तक झेलोगे ? उन्हें सामने लो, उन्हें जी जाओ, उनकी अन्तिमता तक । फिर देखो खुली आँखों, क्या बचता है ? . . वही तुम हो, वही मैं हूँ, जिसका वियोग नहीं, विनाश नहीं । . . तुम सब इनसे पलायित हो, इसी से अनंतकाल में अन्तहीन कष्ट झेल रहे हो । तो मैं विवश हुआ कि नहीं, तुम सबको इस सन्त्रास और मृत्यु में जीते मैं नहीं देख सकूँगा, नहीं सह सकूँगा । तुम सबकी ओर से, जीव मात्र की इस चरम यंत्रणा और अन्तिम नियति का सामना करूँगा । उससे जूझूँगा, उसकी जड़ों में उतर कर उसके अज्ञान और अभाव की जड़ तमिस्रा को भेदूँगा । स्वयम् सारे अन्धकार, नरक, यंत्रणा, मृत्यु, भय होकर, उन्हें उनके ही शस्त्र से पराजित करूँगा । उनके अन्तिम छोरों से

अपने रोम-रोम को बिंधवा कर, उन्हें चुका दूँगा। देखूँगा कि मृत्यु आखिर कहाँ तक जा सकती है। . .

इस मर्त्यलोक के सारे मनों के मर्म मेरे मर्मान्तर में खुल रहे हैं : उनकी जन्मान्तरों की कष्ट-क्लिष्ट ग्रंथियों के बेशुमार जालों को अपनी शिरा-शिरा में उलझते, छटपटाते, कराहते महसूस रहा हूँ। जीव मात्र को जो आबद्ध किये हैं, उन कर्म-वर्गणाओं के तमाम अनादिकालीन क्लेश-पाशों और कषाओं के प्रति अपने इस अस्तित्व को मैंने मुक्त कर दिया है। वे आयें, और अपनी आखिरी शक्ति के तमाम एकत्र बल से वे मुझ पर आक्रमण करें, प्रहार करें। उनके हर आघात, दंश और बन्धन के प्रति अब मैं प्रतिक्षण संचेतन, जाग्रत, अवबोधित रहूँगा। निरन्तर अप्रमत्त पूर्ण अवगाहनशील, सहिष्णु अव्याबाध . .।

. . और मैंने देखा : वहाँ कोई नहीं था : मैं भी नहीं। हेमन्ती रात की तीखी ठण्डी हवाओं के थपेड़ों के बीच एक हिमवान अटल था . विश्रब्ध, अन्तःसमाहित।

• • •

. . पैरों तले की सूर्यकान्त शिला हठात् थरथरा उठी। उसके कम्प के हिलोरे मेरी देह में रोमांचन जगा गये। देखा कि मेरे इस रोमांचन से कण-कण रोमांचित है। ह्राभा की स्तिमित उजियाली में आसपास के पेड़, पौधे, लता, गुल्म, जड़-जंगम, पशु-पंखी सब पुलकित दिखाई पड़े। और जैसे मेरे ही मस्तक पर से उदय होते सूर्य की अरुणिम किरणों से सब जगमगा उठा है।

'चरैवेति . . चरैवेति': शीत हवा की लहरियों मे गूँज उठा। और पाया कि अविचल पगों से चल पड़ा हूँ। अपनी ही लम्बाई तक की दूरी मे मेरी आँखें बिछती चली जा रही हैं। भूमि के अंक में विचरते सूक्ष्मतम जीव भी मेरी आँखों के उस बिछाव मे अपने को अघात्य अनुभव कर रहे हैं। और मैं एकाग्र दृष्टि से, एक-दिशोन्मुख चला जा रहा हूँ। दिशा कोई हो, जो सामने आये, उसी दिशा में सहज भाव से चला चल रहा हूँ। एकाएक अपने पीछे से आती एक आर्त पुकार सुनाई पड़ी :

'स्वामी ! स्वामी ! स्वामी !

मेरे पैर जहाँ-के-तहाँ अटक गये। मुड़कर मैंने नहीं देखा। सामने आकर एक चिथड़ेहाल दीन-हीन वृद्ध चरणानत हुआ और कातर हो कर विनती करने लगा :

'स्वामी, सुना है, आपने एक वर्ष तक अवढर दान किया है। कुण्डपुर का सारा राजकोष बहा दिया। मैं चिर काल का दरिद्र एक ब्राह्मण, तब दुर्दैव का मारा परदेश में आजीविका की खोज में भटक रहा था। इस सन्निवेश का जन-जन स्वामी के दान से निहाल हो गया। एक मैं ही चिरवंचित, पीछे आपके राज्य में दरिद्र और अनाथ छूट गया। मुझे भी अपने दान से धन्य करें, प्रभु !'

एकाग्र मैं उसे निहारता रह गया। मेरे ओठों पर मात्र एक स्मित फैल गया। शब्द मुझमें नहीं था। उत्तर में एक ध्वनि अपने भीतर उठती सुनाई पड़ी :

'मैं तो निष्किंचन हो गया, भूदेवता, मैं और मेरा अब कुछ नहीं रहा। निपट आकाश रह

गया हूँ। वस्तु सब अपनी-अपनी हो गई। एक कण पर भी मेरा अधिकार नहीं रहा। तुम्हें जो दीखता हूँ, चाहो तो उसे ले सकते हो।..'

ब्राह्मण की आँखें उमड़ती चली आईं। उसकी वे अनाथ कातर आँखें, उसको ही अपलक निहारती मेरी आँखों से जुड़ी रह गईं।.. कि सहसा ही अन्तरिक्ष में से उसके ठिठुरते, उघाड़े, जर्जर शरीर पर एक जगमगाता देवदूष्य वस्त्र टपक पड़ा। आँखें मींच कर वह हर्षातिरेक से दण्डवत में भूमिसात् हो पुकार उठा :

'जय हो वर्द्धमान कुमार की ! जय हो दीन-दरिद्र, अनाथों के नाथ की !'

वह जैसे वहाँ पीछे छूट गये एक चरण-युगल को अपनी अँगुलियों में कस कर पकड़े, पड़ा रह गया। पर मैं उससे पहले ही अपने पन्थ पर गतिमान था।

• • •

एक प्रहर दिन शेष रहते मैं कूर्मार ग्राम के प्रान्तर में आ पहुँचा। सीमान्त के एक सुरम्य वनप्रदेश में आकर, चहुँ ओर निहारा। दूर पर ग्राम-घरों के पीली माटी के पिछवाड़े दीख रहे हैं। उनके खपरैलों पर और चारों ओर के पेड़ों पर अपराह्न की कोमल पड़ती धूप ढल रही है।

..एकाएक नाभिपद्म के ऊपर जैसे एक सुखद गुलाबी ज्वाला उठती अनुभव हुई। जठराग्नि है यह : क्षुधा की मधुर तपन। मैंने मित्रभाव से उसका स्वागत किया। दमन नहीं किया उसका : तिरस्कार नहीं किया उसका। लोक की इस जीवनी-शक्ति का निरादर कैसे कर सकता हूँ। मन-ही-मन कहा—ओ मेरी भगवती आत्मा : इस क्षुधा में भी तुम्हीं तो : अवरूढ़ हो कर व्यक्त हुई हो। तुम्हारे अतिरिक्त तो और कुछ कहीं देखता नहीं मैं। अवरूढ़ होकर, हे चिति माँ, तुम्हीं विभाविनी हो गई हो : जगत के आविर्भाव के लिए। आरूढ़ होकर तुम्हीं आत्म-स्वरूप में अवस्थित होती हो। लो माँ, तुम्हारे यज्ञ की इस लौ में अपनी इस सप्त धातुमयी देह की आहुति प्रदान करता हूँ। स्वीकारो।.. और जाने कब वह ज्वाला अन्तर्लुप्त हो गई। मैं एक अद्भुत तृप्ति में मगन हो रहा।

और प्रलम्ब-बाहु, अन्तस्थ होकर, मैं समर्पित भाव से कायोत्सर्ग में लीन हो गया। अपने अन्तरासन पर अविचल रह कर, नासाग्र दृष्टि से बाहर के सर्व के प्रति भी, विमुख नहीं, सहज ही उन्मुख हो रहा। जहाँ भी, जो कुछ भी हो रहा है, उसके अन्तर-बाह्य का केवल साक्षी।..

कुछ देर बाद देखा, एक ग्वाला अपने बैलों को लेकर वहाँ आया। मुझे खड़े देख वह आश्वस्त हुआ। उसने सोचा, मेरे बैल इन साधु पुरुष के निकट सुरक्षित ही रहेंगे। ये भले ही यहाँ चरते रहें, तब तक मैं गाँव में जाकर अपनी गायें दुह आऊँ। और वह चला गया।

बैल चरते-चरते दूर निकल गये। और जाने कब किसी अटवी-प्रदेश में प्रवेश कर गये। जो होता है, उसे देखता हूँ। इससे बड़ी निगरानी और क्या हो सकती है। सो बैलों का चरना-विचरना और वन में विलुप्त हो जाना, मैं सम भाव से देखता ही रह गया।..

बहुत देर बाद ग्वाला लौट कर आया। देखा कि बैल वहाँ नहीं हैं। उसने मुझसे पूछा : 'कहाँ गये मेरे बैल ?' मुझे तो कुछ कहना नहीं था : जहाँ गये, वहाँ ठीक ही तो गये हैं। उसमें मेरा

क्या दखल है। मेरी चुप्पी से ग्वाला कुछ क्षुब्ध दीखा। फिर वह अपने बैलों की खोज में निकल पड़ा। . .

मैंने रात-भर उसे वनखण्ड में परेशान भटकते देखा। दिशाओं के छोरों तक उसे बैलों का कोई चिह्न नहीं दीखा। सबेरे थका-हारा वह फिर मेरे निकट आया। मैं ठीक उसी स्थल पर प्रतिमायोग में अविचल आत्मस्थ था। और उसके बैल मेरे समीप ही कहीं खड़े शान्त भाव से चर रहे थे। तृप्तिपूर्वक जुगाली कर रहे थे।

ग्वाला क्रोध से भभक उठा। . . निश्चय ही इस सधुक्कड़े ने मेरे बैलों को कहीं छुपा दिया था। पाखंडी कहीं का, चोर ! साधुवेश धर कर चोरी करने की नयी विद्या निकाली है इसने।

'अरे ओ दुष्ट तस्कर, धूर्त ! साधु का भेष धर कर गौधन चुराने निकला है ? . . तुझे सब पता था, फिर बताया क्यों नहीं ? मन में जो कपट था तेरे, ओ नंगे . . !'

मै चुप ही रहा। बोल कर तो बात को उलझाया ही जा सकता है। मन-ही-मन मैंने कहा :

'शान्त बन्धु, बैलों को जहाँ जाना था गये। लौट कर ठीक समय पर, ठीक जगह वे आ गये। मै कौन होता हूँ, उन्हे भगाने वाला, उन्हे रोकने वाला, लौटाने वाला ?'

विचित्र हुआ कि ग्वाले ने सुन ली मेरी वह नीरव भाषा भी। क्रोध से उबल कर उसने अपने बैल बाँधने के रस्से को दोहरा-तिहरा किया। फिर उससे वह मेरे शरीर पर बार-बार प्रहार करने लगा। चोटे ऐसी कुछ मुक्तिकर लगीं, कि जैसे देह मे पड़ी जाने कितनी पुरानी गाँठे खुल रही हैं। मैने उस गोप बन्धु का मन-ही मन बहुत उपकार माना। कृतज्ञ हुआ उसका।

मार तले भी मुझे मौन, निश्चल देख वह और भी उत्तेजित होकर मुझे अपने रस्से से बाँधने को उद्यत हुआ। मैने कोई प्रतिरोध न किया। मेरे सारे अगाग रोमाचित होकर, डालियाँ हिला कर स्वागत करते झाड़ की तरह नम्रीभूत हो आये। . ठीक तभी वे पास ही चरते बैल, दौड़ कर मेरी ओर आये, और मुझे चारों ओर से घेर कर मेरा कवच हो रहे। वे मेरी देह से हौले-हौले रभस करने लगे। . .

. . ग्वाला अपनी जगह, स्तंभित खड़ा देखता रह गया। . वह विगलित कण्ठ से प्रार्थना कर उठा :

'हाय, मै अन्धा हो गया था, स्वामी ! अरे तुम कितने सुन्दर, सुकुमार हो ! जान पड़ता है कोई देवों के ऋषि हो। पा गया, पा गय पहचान गया . . पहचान गया। राजर्षि वर्द्धमान कुमार ! जय हो प्रभु, जय हो, क्षमा करे नाथ, मुझ अज्ञानी को। '

मैने आश्वासक मुद्रा मे हाथ उठा दिया। पता नही कितनी देर वह मेरे पैरों मे भूमिष्ठ हो, जाने क्या-क्या कहता रहा, करता रहा। मेरी देह अपने मे सिमट कर, जाने कब मेरी अन्तर्तम चेतना मे विश्रब्ध हो गई थी। . .

. . हठात् मेरे मन के मुदित कपाट पर जैसे एक कोमल हो आई बिजली की उँगली ने दस्तक दी। मै अनायास ही बहिर्मुख हुआ। सुनाई पड़ा :

'प्रभु, आपका चिर किंकर सौधर्म इन्द्र सेवा में प्रस्तुत है . . !'

'हूँ . . ?' मेरी चुप्पी से ध्वनित हुआ।

'देवार्य की यह दारुण तपस्या कितने काल चलेगी, सो कौन कह सकता है ! जानता हूँ,

इस अवधि में प्रकृति की समस्त प्रतिकूल शक्तियाँ एकत्र होकर प्रभु की राह में जाने कितने ही भयंकर उपसर्ग उपस्थित करेंगी। पद-पद पर अन्तहीन बाधाएँ आयेंगी। आज्ञा दें नाथ, कि इस काल में सदा सर्वत्र मैं आपके संग विचरूँ, और आने वाले हर उपसर्ग का निवारण करूँ।'

मेरी नीरवता और भी गहरी हो गई। मेरे श्वास तक निस्पंद हो गये। . . और इन्द्र को जाने किस अगोचर से उत्तर सुनाई पड़ा :

'शक्रेन्द्र, तुम्हारे भक्ति भाव से भावित हुआ। पर जानो स्वर्गपति, जो सारे बन्धन त्याग कर पूर्ण निर्बन्धन होने को निकल पड़ा है, वह कोई नया बन्धन कैसे स्वीकारे ? परम स्वाधीनता-लाभ की इस यात्रा में, पराधीन होकर कैसे चल सकता हूँ। कर्म-चक्र का निर्दलन अरिहन्त अकेले ही करते हैं। अपने बाँधे कर्म-बन्धन को काटने में दूसरे की सहाय सम्भव नहीं। अरिहन्तों ने पर सहाय न कभी स्वीकारी, न स्वीकारते हैं, न कभी स्वीकारेंगे। सर्वजयी जिनेन्द्र अपने ही वीर्य के बल केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं, अपने ही वीर्य के बल मोक्षलाभ करते हैं।'

'महावीर्य महावीर, जयवन्त हों, जयवन्त हों, जयवन्त हों।'

चरणानत होकर सौधर्मेन्द्र अन्तर्धान हो गया। जाने किस सुकोमला प्रिया की एक तेजोवलय-सी बाँह ने मुझे चारों ओर से आवरित कर लिया। एक अमोघ सुरक्षा-बोध में देह-भान खो गया।



छह दिन, छह रात बीत गये। इस शरीर ने अन्न-जल ग्रहण नहीं किया है। भूख-प्यास बावरी-सी मेरी परकम्मा करती साथ चल रही हैं। मैंने जरा भी उन्हें रोका-टोका नहीं, उनका निरोध नहीं किया। मैं अपने भाव में हूँ, तो वे अपने भाव में हैं। प्रकृति में अपनी जगह रह कर वे अपना काम कर रही हैं। मैं अपनी जगह अस्खलित रह कर उनके तीव्र परिणमन को महसूस रहा हूँ। अभी कल ही यात्रापथ में, कहीं एक निर्मल सरोवर लहराता दीखा था। मेरी प्यास उस ओर दौड़ी थी : वह व्याकुल होकर उन लहरों में डुबकी खा गई। सरोवर दौड़ा आया और मेरे अंगांगों में लहराने लगा। मैंने उसे रोका-टोका नहीं। वह मुझ में अन्तर्भूत हो गया। राह की एक नदी मेरे सूखे ओठ देख अकुला उठी। ओठों पर आ लगी, प्याले की तरह। मैंने उसे पिया नहीं : मुस्करा भर दिया। तो वह पगली मुझे ही पी गई। वह तृप्त हुई : मैं अधिक आत्मस्थ हुआ ! . .

आज सवेरे कोल्लाग ग्राम के परिसर से अटन करता गुजर रहा हूँ। कोई प्रयोजन नहीं, कोई लक्ष्य नहीं : बस, एक महागति से मेरे चरण धावमान हैं। पथवर्ती एक पनघट पर पानी खींचती एक युवती दूसरी से कह रही है : 'बहुल ब्राह्मण के घर आज बड़ी भारी रसोई का पाक हुआ है। सारे सन्निवेश का न्यौता है। देवभोग व्यंजनों के थाल लगे हैं। पर सुन री, बहुल उज्ज्वल अन्तर्वासक पहने, श्रीफल-कलश लिये द्वार पर जाने किस अतिथि की प्रतीक्षा में खड़ा है। पूर्वाह्न हो आया, वह हिलने का नाम नहीं लेता। . . विचित्र है न !'

. . ब्राह्मण ! तुम्हारा अधःपतन मुझे असह्य है। तुम्हारे बिना ब्रह्मज्योति को लोक-मानस में कौन संचारेगा ? दुरात्माओं ने तुम्हारे यज्ञ को अपावन कर दिया है। आज मेरी

क्षुधा की अग्नि तुम्हारे हवनकुण्ड में स्थापित हो। तुम्हारे सर्वस्व की आहुति के बिना वह शान्त नहीं होगी। प्रस्तुत हो भूदेव . . !

और मैंने कोल्लाग ग्राम के राजमार्ग पर अपने को चलते हुए देखा। एक विशाल भवन के द्वार पर सहसा ही आवाहन सुनाई पड़ा :

'भो स्वामिन्, तिष्ठः तिष्ठः आहार-जल शुद्ध है . . आहार-जल शुद्ध है . . '

मैं रुक गया। बहुल ब्राह्मण की ओर उन्मुख हो देखा : श्रीफल-कलश दोनों हाथों में थामे वह विनत हो आया है। उसकी आँखों से आँसू बह रहे हैं। उसकी समर्पिति मेरे हृदय का स्पर्श कर गई। एक सुन्दर चाँदी की चौकी वहाँ अतिथि के पड़गाहन को प्रस्तुत थी। मैंने उस पर पगधारण किया। पूजा-आरती सँजोये गृह-वधुएँ सम्मुख आयीं। मैं उनकी ओर बढ़ गया। झूलती आरतियों के बीच अविलम्ब राह बनाता हुआ भवन द्वार में प्रवेश कर गया।

भीतर के चौके में निःशब्द अतिथियों का एक भारी समुदाय एकत्रित था। उनकी एकाग्र प्रणतियों के प्रति मैं सहज ही नम्रीभूत हो आया।

बैठने के लिए बिछाये गये स्वर्ण-रत्न के आसन को भिक्षुक ने नहीं स्वीकारा। उसे लाँघ कर खड़े-खड़े ही, भिक्षा के लिये अपने दोनों हाथों को अंजुरिबद्ध कर पाणि-पात्र पसार दिया। बहुल ब्राह्मण ने पयस का कुम्भ उठाकर भिक्षुक के पाणि-पात्र में डाला। अन्तरिक्ष में से केशर और फूल बरसने लगे। वसुधारा की वृष्टि होने लगी। कोटि-कोटि सुवर्ण-रत्न बरस कर माटी में मिलने लगे। जयकारें गूंज उठीं। . . तीन ग्रास पयस ग्रहण कर भिक्षुक ने हाथ खींच लिये। बहुल ने उसका अंग-प्रक्षालन कर, उज्ज्वल वस्त्रों से पोंछा। . भिक्षुक ने उद्बोधन का हाथ उठा दिया। . . अगले ही क्षण वह चारों ओर उमड़ते जन-समूह के बीच से राह बनाता हुआ, कोल्लाग ग्राम के जनपथ को पार गया।

• • •

दायें हाथ मे मयूर-पिच्छिका और बायें हाथ में कमण्डलु झाले अविराम विहार कर रहा हूँ। वन के वृक्ष, नदी, पर्वत, चारों ओर छितरी बस्तियाँ, पनघट, खेत-खलिहान सभी तो मेरे साथ चल रहे हैं। नितान्त एकाकी हो गया हूँ : इसीसे अकारण ही सब का संग-साथ पा गया हूँ। 'चरैवेति . . चरैवेति': यही मेरी एक मात्र जीवनचर्या है। यही मेरा स्वभाव है, धर्म है। भीतर का निरन्तर आत्म परिणमन ही, बाहर निर्बाध विचरण बन गया है! सब के पास जाने को निकला हूँ : अकारण ही सबको पाने और अपनाने चला हूँ। पर देखता हूँ अपने ही एकाग्र पंथ पर निश्चल भाव से चला चल रहा हूँ. और ये सब ही स्वयं मेरे पास चले आ रहे हैं। मुझे कृतार्थ कर रहे हैं।

नहीं जानता, कहाँ जाना है, क्या करना है। बस चले चलना है, चले चलना है : चलते ही चले जाना है। दिशा और काल का कोई बोध, अपने से भिन्न नहीं रह गया है। स्वयं ही अपनी दिशा हो गया हूँ : स्वयं ही अपना समय हो गया हूँ। अपने से चल कर, अपने तक पहुँचने की इस यात्रा में बाहर का समस्त लोक और प्रकृति आपोआप ही यात्रित हो रहे हैं, अपने ही भीतर अन्तरित होकर, फिर-फिर विस्तारित हो रहे हैं।

. . शिशिर ऋतु इस समय अपनी पराकाष्ठा पर है। कभी-कभी ओस पाले में सारी प्रकृति ढँक जाती है। कभी हिमपात और वर्षा भी होती है। बर्छियों-सी ठण्डी हवाएँ पसलियों और हड्डियों में बिंधती हैं। गल-गल कर अंग-प्रत्यंग फिर पथरा जाते हैं। ठिठुरन से शरीर के सौंधे अकड़ जाते हैं। चलना कठिन हो जाता है। स्वयं जैसे बर्फ की शिला हो रहता हूँ। यह जकड़न टूटे तो कैसे टूटे। . . नहीं, इसे तोड़ने वाला मैं कौन होता हूँ। शीत की यह वेधकता तीव्र से तीव्रतर होकर मानो मुझे चुनौती देती है। मेरी हड्डियों और नसों के रक्त को, मेरे शरीर के अणु-अणु को बींध कर भी इसे चैन नहीं है। और इसके प्रति अपने को निःशेष दिये बिना मुझे चैन नहीं है। इसकी सामर्थ्य और सीमा को जान लेना चाहता हूँ। या तो इसे चूक जाना होगा, या मुझे चूक जाना होगा।

सो इसके दुःसह आघातों को झेलने के लिए, किसी नदी तट या पर्वत की उन्मुक्त चोटी पर जा खड़ा होता हूँ। काया को उत्सर्गित कर, उसकी हर टूटन और विनाशीकता को सम्पूर्ण हृदय से भोगना और जीना चाहता हूँ। जानना चाहता हूँ कि काया का विनाश होने पर कुछ शेष रहता है या नहीं। जानना चाहता हूँ कि केवल शरीर ही हूँ या उसके अतिरिक्त कोई और भी मैं हूँ। आत्मा की अविनाशीकता की बात बहुत सुनता आया हूँ। कहीं भीतर उसकी प्रतीति भी है। पर उसकी स्वायत्त और स्व-साक्ष्य अनुभूति पाये बिना जी को विराम नहीं है। . .

सो बदहवास-सा खड़े पर्वतों पर चढ़ता ही चला जाता हूँ। आसपास के झाड़ी-झंखाड़ों की बाधा पर भी लक्ष्य नहीं रहता। कटीली झाड़ियों, राह के कांटे-कंकड़ों की चुभन और शिलाओं की टकराहटों और ठोकरों से तन-बदन छिल जाता है। काँटों और डालों के खुंप जाने के कारण असह्य वेदना से शरीर टीसने लगता है। अभ्यासवश हाथ काँटा निकालने को उठ जाता है, जख्म देखने को आँखें चौकन्नी हो जाती हैं। . . नहीं, यह कैसे हो सकता है। काँटे, कंकड़, पत्थर का धर्म है चुभना। तो क्या मेरा कोई अपना धर्म नहीं है ? है : इन आघातों से परे जो मेरा अघात्य स्वभाव है, उसमें जीना, उत्तीर्ण होना। घायल अंगांगों से बह आये रक्त के प्रति कृतज्ञ होता हूँ। एक अनोखी मुक्तता उसमें अनुभव करता हूँ।

. . पर्वत की इस टोंच पर पहुँचकर, अपने को तने हुए धनुष की तरह खड़ा पाया। शीत पवन के झकोरे यहाँ चारों ओर के खुले दिगन्तों से आकर मुझ पर प्रचण्ड प्रहार कर रहे हैं। देखते-देखते दूर क्षितिज पर सूर्य का लाल बिम्ब डूब गया। घिरते प्रदोष के कुहरिल अंधकार में, दूरियों में कहीं-कहीं दीखती बस्तियों के दीये डूब गये। . .

एक समरस और सघन अंधकार। एक नीरन्ध्र और नीरव सन्नाटा। और उसमें झिल्लियों की झंकार। जो मानो इस अँधियारे का ही एकतान संगीत है। साँय-साँय, झाँय-झाँय करते झाड़ भूत-प्रेतों के सैन्य की तरह आसपास घिरते चले आ रहे हैं। पुंजीभूत तमस चारों ओर से मुझ पर आक्रमण करने को उद्यत है। और मैं कितना अकेला हूँ। कितना अशरण : कितना घात्य। किसी भी क्षण अन्धकार का यह सौ-सौ कराल जिह्वाओं और डाढ़ों वाला दानव मुझे लील सकता है। . .

दिशातीत दूरी में एक दीया कहीं चमका। उसकी टिमटिमाहट को मैंने बहुत निकट से देखा। पता नहीं किस माँ के कक्ष का यह दीया है। कैशोर्य और यौवन के इन सारे बरसों में माँ से

दूर ही रहा हूँ। वही मेरा स्वभाव हो चला था। पर आज यह क्या देख रहा हूँ : उन सारे बरसों को पार कर नन्द्यावर्त के उस रत्न-दीपालोकित कक्ष में, माँ की गोद में दुबका वह बालक चौंक उठा। कैसी ऊष्मा है : कैसी सुरक्षा है माँ की गोदी के इस गहराव में ! . . एक फुरफुरी-सी शरीर में दौड़ गई। कैसे रोमांचन के साथ कहीं दुबक जाने की सी एक विकलता चेतना में टीस उठी।

. . नहीं, नहीं . . नहीं। यह माया है : यह छलावा है अपने ही साथ। जो गोद स्वयं अपनी ही नहीं, अपने ही को शरण नहीं दे सकती, उसमें मेरे लिये शरण कहाँ? उसकी स्वामिनी स्वयं कितनी अनाथ, शोकाकुल, विरहिणी होकर, अपनी वैभव-शैया में परवश लेटी है। उसके वक्ष में किसी अन्य को शरण कैसे मिल सकती है ! जो स्वयं इतनी अनाथ और निराधार होकर लुंजपुंज, हताहत पड़ी है, वह मुझे सनाथ और अनाहत कैसे कर सकती है ! . . यह शरीर जो स्वयं कपूर की तरह उड़ सकता है, बुलबुले की तरह विलीन हो सकता है, जिसमें अपने ही लिए आधार नहीं, सुरक्षा नहीं। तो कोई दूसरा शरीर, जो खुद ही भंगुर और घात्य है, मुझे अघात्य कैसे कर सकता है ! जो स्वयं अरक्षणीय है, उसमें रक्षा कहाँ ? जो स्वयं भयभीत है, उसमें अभय कहाँ ? . .

. . सारी ध्वनियाँ, आकृतियाँ और स्पर्श क्षण मात्र में ही लुप्त हो गये। . . एक आव्याहत शून्य में जो अविचल स्थित रह गया है, वह कौन है ? वह एक शुद्ध स्वानुभूति है, जो अकथ्य है। एक असंज्ञ शरणागति में अस्मिता खो गयी। मैं कोई नहीं हूँ. . . मैं कुछ नहीं हूँ। और इसके अनन्तर जो यह बचा है, यह कौन है? . . मैं हूँ. . मैं हूँ. . मैं हूँ। . . एक विश्रब्ध गहनता में यह आत्मानुभूति भी भावातीत हो गई। . .

. . फिर जाने कब एक अति कोमल, स्निग्ध सरसराहट से शरीर की चेतना किंचित् लौट आई। पैरों को किसी मंडलाकार मृदुता ने चारों ओर से घेर लिया। प्राणिक रक्त की अज्ञात ऊष्मा ने पूरे शरीर को आवृत्त-सा कर लिया। नीचे से उठ कर कोई कुण्डलिनी एक-एक अंग को वलयित करती हुई, मेरुदण्ड में लहराती हुई, मस्तक पर छत्र-सी छा गई। झगर-झगर करती अग्निम मणियों से भास्वर एक फणामण्डल ! क्षणार्ध को भय का एक कम्प रक्त में दौड़ गया। . . और अन्तर-मुहूर्त मात्र में, अपने ही भीतर के किसी फणीन्द्र के मस्तक पर, अपने को अकम्प, अधर में आसीन अनुभव किया। तत्काल देह आत्मान्तरित हो गई। बस एक शून्य है, मैं से अतीत। अननुभूत। कौन किसे देखे, गहे, अनुभवे ?

सवेरे की कोमल धूप जब शरीर को नहलाने लगी, तो एकाएक देह की इयत्ता में लौट आया। दिगन्तों तक व्याप्त प्रकृति और सृष्टि के शीर्ष पर यह कौन खड़ा है? . .

पर्वत के ढाल पर अपने को उतरते पाया। किस दुर्गम, दुरारोह उत्तानता में चढ़ आया था, उसका किंचित् भान हुआ। जरा ही पैर चूका, कि लुढ़कते हुए नीचे फैली अतल खंदक की कराल दाढ़ में सीधे जा गिरना होगा। . . लेकिन पैर जैसे सुगम भाव से सीढ़ियाँ उतर रहे हों। हर कदम पर खंदक चौड़ी-से-चौड़ी, गहरी-से-गहरी हो सामने आती है। और मैं उसमें अविकल पैर धरता, एक समतल अधर पर चला चल रहा हूँ। . .

पग-पग पर सरिसृपों से सरसराती ढेर-ढेर पतझार में ऐसे चल रहा हूँ, जैसे पैर उस पर नहीं, अपनी ही काया पर धरता चल रहा हूँ। जड़-चेतन का कण-कण इतना वल्लभ लग रहा है,

कि मेरे पदाघात से एक सूक्ष्मतम जीवाणु भी दुख न जाये, ऐसी सावधानी मेरे रोम-रोम में अनायास व्याप्त है। हवा के झोंकों में रह-रह कर वृक्षों की पत्तियाँ झर रही हैं। पत्रहीन अरण्यानी के इन ठूँठों को बहुत निकट से देखा। और अपने ही इस सुन्दर शरीर के भीतर छुपे, भयावने हाड़-पिंजर को साक्षात् किया। शीत-पाले, कंकड़-काँटों से क्षत-विक्षत अपने मलिन शरीर की त्वचा को तड़कते, उघड़ते देखा। सामने के पेड़ों की छालें सूख कर पपड़िया गई हैं। जहाँ-तहाँ से उखड़ कर उनकी पपड़ियाँ गिर रही हैं। उस शुष्कता को भेद कर, उनके भीतर की कोई कच्ची हरी त्वचा की पर्त कहीं-कहीं झाँक रही है। और अपने शरीर की खिलानों में से भी एक और कोई भीतर का ताजा, कच्चा शरीर उघड़ आता दीखा। सूक्ष्म हो आई निगाह पेड़ों की डालों पर कहीं-कहीं फूट आते बहुत बारीक अँखुवों से टकराई. . जीवन. . जीवन . . जीवन : अनाहत और अविनाशी जीवन की अखण्ड धारा। पर्याय के पत्ते झड़ गये हैं, त्वचाएँ सूख कर, पपड़ा कर गिर गई हैं। ये ठूँठ विनाशीकता की मूर्तियाँ बने खड़े हैं।. . पर इनको भेद कर, अपने हाड़-पिंजर को भेद कर, देख रहा हूँ, अविनाशी द्रव्य की शाश्वती रस-धारा। तत्व का चिरन्तन वसन्त . .। नास्ति बीच की एक अवस्था मात्र है। अन्तिम है केवल अस्ति। अस्ति . . अस्ति . . अस्ति। वही तो मैं हूँ : वही तो सब हैं।

मन्दरचारी आकाश-पुरुष

दूर पर अचिरावती की श्वेत धारा दीख रही है। उसके तट पर देव-द्रुमों की छाया में कुछ मृगों को विचरते देख रहा हूँ। उधर झुरमुटों के पीछे मल्लिग्राम के घरों की गेरुई पीठें झाँक रही हैं। अविराम विहार करता कब मल्लों के इस प्रदेश में आ निकला हूँ, पता ही नहीं चला। भूगोल की सीमाओं पर निगाह अटकती नहीं है। असंख्य ग्रह-नक्षत्रों से भरा खगोल भी अँधेरी रात में मेरे ध्यानस्थ शरीर से रभस करता निकल जाता है। अपनी हड्डियों के दरों में उसे एक सार्थवाह की तरह गुजरते देख लेता हूँ। अनुत्तर देश की इस यात्रा में भूलोक और द्युलोक एक चित्रपट की तरह सामने आते हैं, अपने रहस्यों की पिटारियाँ खोलते हैं, और फिर अपनी ही सीमा में सिमटते चले जाते हैं।

बर्फानी रातों के तूफान जाने कहाँ सिरा गये। हवा में एक सुखद लौनापन आ गया है। कोई विचित्र स्मृति-संवेदन प्राण के तटों को छू जाता है। जान पड़ता है, दक्षिण पवन बहने लगा है। मलय का यह स्पर्श जाने किस परा उज्ज्वलता के पवित्र बोध से हृदय को पावन कर देता है।

वनांगन के दूर फैले प्रान्तरों में जहाँ-तहाँ पलाश फूटे हैं। इन रक्तिम सिन्दूरी फूलों में भीतर का प्रवाही रक्त, स्थिर ज्वालाओं में थमा रह गया है। सफेद, लाल, पीले कमलों से तालाब भर उठे हैं। उन पर सुरभित पराग की पीली सूक्ष्म नीहारिका-सी छायी रहती है। उनके तटों पर अशोक और कर्णिकारवन लाल फूलों से भर उठे हैं। उनके कमल-केसर से पांशुल तल देश में हंस और सारस-मिथुन केलि-क्रीड़ा में विदेह भाव से लीन हैं।

गाँवों के आँगनों में तीसी के नीले फूलों पर लहराती उर्मिलना देखता हूँ, तो उसमें आत्मा का विशुद्ध परिणमन गोचर हो जाता है। सरसों के पीले फूल के खेतों में यह कौन अपनी पीली ओढ़नी उतार कर, अन्तर-सरोवर में नहाने को निरावरण उतर गई है।

प्रकृति के इस सौन्दर्य से पीठ फेर कर कहाँ जाऊँगा। प्रकृत और आत्मस्थ होना चाहता हूँ, तो सबको अपने-अपने निज भाव मे परिणमन करते देखूँगा ही। इस बीच बाहर की इस सृष्टि से उदासीन रहना चाहा है, ताकि स्व-भाव में स्थिर हो सकूँ। पर लगता है, इससे उदासीन नहीं, इसमें तल्लीन ही हुआ जा सकता है। यानी इससे तदाकार होकर, इमे इसकी सम्पूर्णता में देखूँ, जानूँ, भोगूँ, जीऊँ। इस बीच इन्द्रिय-दमन की चेष्टा भी की है। मन को मारने का प्रयास भी किया है, कि मनातीत आत्मस्वरूप हो जाऊँ। पर यह मार्ग मुझे धर्म्य नही लगा। शत्रुता अरिहंत का धर्म नहीं। अरिभाव का अंतिम हंता अरिहंत पदार्थ का बैरी कैसे हो सकता है। लोक में सब कुछ अपनी-अपनी जगह पर नियोजित है। सारी ही वस्तुओं में धर्म विविधि रूपों मे प्रकट हुआ है। अस्तित्व जिस रूप मे यहाँ उपलब्ध है, उसके पीछे महासत्ता का कोई अभिप्राय है, अर्थ है, योजना है। उसे नकारने वाला मै कौन होता हूँ। वैसा करना अहंकार होगा।

सब को यथास्थान स्वीकारूँ, उनके स्वाभाविक परिणमन का निरावेग चित्त से दर्शन करूँ, यही एकमात्र सम्यक् स्थिति जान पड़ती है। इन्द्रियाँ या मन भी अपनी जगह पर अपना स्वाभाविक काम कर रहे है। वस्तुएँ अपनी जगह पर विविध पर्यायों मे अपनी अनन्तता को प्रकाशित कर रही है। इनके बीच अनाविल दर्शन-ज्ञान का एक स्वाभाविक सम्बन्ध है। उसका साक्षात्कार करना होगा। उसको तोड़ना, सत्ता के द्रव्यत्व को विच्छिन्न करना है · उसका विरोध करना है। वह वस्तु धर्म का विद्रोह है। इस अनादि-निधन सुन्दर लोक के प्रति विरोध और विद्रोह मे कैसे जिया जा सकता है। आत्मस्वरूप होना चाहता हूँ, नि.संदेह। पर इसका यह अर्थ नही कि सृष्टि-प्रकृति के स्वाभाविक परिणमन से लड़ाई-झगड़ा करूँ। वह तो हिंसा ही होगी न ! वह द्रव्य के स्वभाव-द्रोह का अपराध होगा। मिथ्या-दर्शन और किसे कहते है। मन और इन्द्रियों से बैर करूँ, तो वह भी आत्मघात की हिंसी ही होगी। प्रकृति, मन, इन्द्रियों, वस्तुएँ, सभी का मित्र ही हो सकता हूँ। इन्द्रियाँ, मन, पदार्थ सब का परिणमन यथा स्थान सत्य, शिव और सुन्दर है। उनके विरोध में नहीं, सम्वाद में ही समयक् दृष्टि जीवन जिया जा सकता है। इन्द्रियों का दमन सम्भव नहीं। मन को मारा नहीं जा सकता। जिस चेतन तत्व आत्मा मे से ये स्फुरित हुए हैं, उसमें लय पाकर ही ये सम्पूरित हो सकते हैं। अपने स्रोतोमूल चैतन्य में ही ये अपनी पूर्ण सार्थकता पा सकते हैं। इन्द्रिय और मन का निरन्तर शुद्धिकरण और परिष्कार करके, इन्हें आत्मा के अव्याबाध दर्शन-ज्ञान से आलोकित करना होगा। वैसा अवलोकन और आलोकन अपने प्राण, मन, इन्द्रियों के अवबोधन में अनुभव करने लगा हूँ।

अपने इस शरीर को यथास्थान प्रकृति के परिवर्तनों में घटित होते देख रहा हूँ। हेमन्त और शिशिर के तुषारों के प्रति इसे खुला छोड़ दिया था कि प्रकृति के साथ एकतान और समरस हो रहूँ। उसे अपनी विरोधिनी नहीं, सम्वादिनी पाऊँ। दिगम्बर हुआ हूँ इसीलिए, कि दिगम्बरी प्रकृति का, आमूल-चूल उत्संग पा सकूँ। उससे पीठ फेर कर नही, उसे आलिगन मे लेकर, उसका हृदय जीत सकूँ। शीत हवाओं के हिमपातों से देह की त्वचा सूख कर, पपड़िया-सी गई थी। वसन्त के मलय

वायु का स्पर्श पाकर, झाड़ों की सूखी छालें उतर कर झर पड़ी हैं। उनके तनों और डालों में भीतर का ताजा, कच्चा, नया शरीर उभर आया है। वैसे ही मेरे शरीर की नीरस हो गई त्वचा खिर गई है। स्निग्ध चन्दनी देह उघर आई है। मेरी शारीरिक स्थिति हवा, आकाश, जल हो गई है। वृक्ष, फूल, फल, पशु-पंखी की तरह ही वह भी प्रकृत और स्वाभाविक हो गई है।

निरन्तर परिव्राजन कर रहा हूँ। अचिरावती तट की यह सारी सुरम्य वनभूमि नवीन पल्लवों से आच्छादित वृक्षों, लताओं, गुल्मों से भर उठी है। उनकी मरकत आभा में अनुभव होता है, जैसे वनस्पतियों का हरियाला रुधिर मेरी शिराओं में बह आया है। नाना रंगी फूलों से लदे कुंजों में होकर गुजरती हवा, सौरभ और पराग से भाराहुत-सी बहती है।

और देख रहा हूँ, कि मेरे नव कुसुमित शरीर में से भी एक विचित्र सुगन्ध प्रसारित होने लगी है। इसमें चन्दन भी है, चम्पा भी है, कचनार भी है। इसमें वन-चमेली और जल-जुही की भीनी तरलता भी है। इसमें कपूर, केशर, कस्तूरी की गहरी महक भी है। . .

सो एक अद्‌भुत वस्तु-स्थिति घटित हुई। तमाम फूलवनों के भँवरे उड़-उड़ कर मेरे आसपास गुंजन करने लगे हैं। मेरी ओर से कोई विराधना और विरोध न पाकर, वे बड़े प्यार से मेरे सारे शरीर को छा लेते हैं। मेरे रोम कूपों से उफनती सुगन्ध में मूर्च्छित होकर, मेरी त्वचा के साथ जड़ित-से हो रहते हैं। सुगन्ध और मकरन्द के लिए आकुल उनके प्राण की वासना को तीव्रता से अनुभव करता हूँ। उनकी व्याकुलता के प्रति अपनी देह को शिथिल छोड़ देता हूँ। वे सुगन्ध-लोलुप प्राणी कस-कस कर मेरे शरीर में जहाँ-तहाँ दंश करते हैं। मेरे रक्त के सारे रस और सुवास को निःशेष पी जाना चाहते हैं। उनकी मधुर गन्ध-वासना का अन्त नहीं। उस वासना की अग्नि को जी भर सहता हूँ। देह में जहाँ-तहाँ रक्त बह आये हैं। प्राण के जाने कितने अवरुद्ध प्रवाह उसमें खुल पड़े हैं। इन मधुप मित्रों की इस प्राणहारी प्रीति को कैसे नकारूँ ! सो उन्हें अपनी रोमालियों में मुक्त क्रीड़ा करने देता हूँ। अपने रोमांचन, पुलकन और परस से उन्हें दुलरा देता हूँ। जितना ही अधिक वे दंश देते हैं, मेरे रोमांचन से आलोड़ित होकर मेरा रक्त और भी उमड़ कर उनके प्रति रसदान करता है।

. . तब देखता क्या हूँ कि वे बहुत ही संतृप्त होकर, अपने अंजन-नील पंखों को स्पन्दित करते हुए, आत्म-विभोर हो मेरे आसपास गुंजन-गान करते हैं। फूल-वनों के परिमल-पराग ला-लाकर मेरे दंश-घायल शरीर पर आलेपन कर देते हैं। अपनी देह-गन्ध के साथ प्रकृति की सुगन्ध के सहज मिलन में गहरी आत्मलीनता अनुभव करता हूँ। सारे व्रण शान्त हो कर, एक शीतल सुखोष्मा में देह तैरने लगती है। भूख-प्यास का पता ही नहीं चलता। मेरे रोम-कूपों से संस्पर्शित प्रकृति, अपने रस, रुधिर, सौरभ, पराग से मेरी जठराग्नि को अभिसिंचित करती रहती है। एक अक्षय्य तारुण्य की अनुभुति होती है। प्रकृति माँ है : वह परम प्रिया है।

मध्याह्न के हल्के ऊने ताप में एकोन्मुख चला जा रहा हूँ। राह के मंजरित आम्रवनों की शीतल छाया मर्मर भाषा में आमंत्रण-सा देती है : ' . . आओ यात्रिक, क्षण भर हमारी शीली छाँव में विश्राम करो ! ' . . ठिठक कर, उस छाया की ओर मुस्करा देता हूँ। उसके निहोरे को टाल कर भी, अपने ढंग से स्वीकार लेता हूँ। उसके आँचल को बचा कर, खुले आकाश तले, मध्याह्न के प्रखर ताप में, प्रलम्बमान बाँहों के साथ ध्यानस्थ हो जाता हूँ। वह मँजरियों से सुगंधित

आम्रछाया आकर लता-सी मुझसे लिपट जाती है। मेरे अंगों के प्रतप्त पलाशी स्पर्श में वह मानो बेसुध हो रहती है।. . ध्यान न तो विमुखता है, न उन्मुखता है : वह सन्मुखता है : सबके साथ आमने-सामने होना। उसके बिना दर्शन कैसे सम्भव है। तन, मन, प्राण, इन्द्रियों का निरोध नहीं करता मैं। उन्हें अपने आप में समाहित, निष्कम्प कर देता हूँ। ताकि वे सर्व का मोहमुक्त यथार्थ सौन्दर्य-दर्शन कर सकें। अखिल के साथ सच्चे अन्तिम सम्बन्ध में सम्वादी हो सकें। तब समाधि आपोआप हो जाती है। सारे अन्तर्विग्रह मिट जाते हैं। एक सघन और गहन आत्मलीनता में चेतना विश्रब्ध हो जाती है। एक अकारण और निष्काम सुख से प्राण उर्मिल होता रहता है।

. . जाने कब अपराह्न की धूप नरम हो आई है। दूर-पास की अमराइयों में कोयल की कूक सुनाई पड़ती है। तरुण युवक-युवतियों के यूथ जहाँ-तहाँ वनक्रीड़ा करते दिखाई पड़ते हैं।

कुछ मनचले छैला युवक हँसी-ठिठौली करते मेरे पास आ खड़े होते हैं। कहते हैं :

'ओ तरुण तापस, तुम यह कामदेव को लजाने वाला सौन्दर्य कहाँ पा गये ? अरे तुम्हारे धूलि-धूसरित कान्तिमान शरीर से यह कैसी मोहक सुगन्ध आती है ? अपने अंगों में यह किस दिव्य अंगराग का लेपन करते हो तुम ? हमें भी इसे बनाने की विधि बताओ न ! अपनी और अपनी प्रिया की देह को इस अंगराग से रंजित करके, हम उसके साथ अपूर्व केलि-सुख पा जायेंगे . .'

मेरी नासाग्र स्थिर दृष्टि में अपने ही ओठों की मुस्कान झलक जाती है। मन-ही-मन उन्हें उत्तर देता हूँ : 'युवा मित्रो, अपनी ही नाभि की कस्तूरी में विहार करो। आपोआप तुम्हारी और तुम्हारी प्रियाओं की देह दिव्य सुगन्धी से महकने लगेगी। खंडित काम से कब तक विकल रहोगे। अपने काम को अपने में समाहित कर, सकलकाम सुख के भोक्ता बनो . . ।'

युवाजन एकाएक प्रबोधित-से दीखते हैं। अपने ही अंगों मे वे अपनी कामिनी के स्पर्श का रोमांचन अनुभव करते हैं। कहीं दूर की अमराई में अकेले होकर, अपनी वेणु में अन्तर-प्रिया को पुकारते हैं।

तभी कोयल-कूजित अमराइयों में झूला झूलती कई सुन्दरी युवतियाँ मेरे पास घिर आती हैं। बालों में वे कर्णिकार और कुर्बक फूलों के गुच्छे खोंसे हैं। कानों में आम की मँजरियाँ उरसे हैं। उनके पीले और घेर-घुमेर बसन्ती चीरों में गुलाबी रंग की बूंदें छिटकी हैं। वे सहेलियाँ परस्पर गलबहियाँ डाल कर, मेरी ओर चंचल मदभरी चितवन से कटाक्ष करती है, भ्रूभंग करती है। आपस मे कानाफूसी करती हुई कहती हैं :

'देख तो सखी, कैसा कौतुक घट रहा है ! मदन देवता संन्यासी हो कर किसी अनोखी कामिनी की खोज में निकल पड़े है। रति बेचारी मनमारे कहीं कुंज कुंजों की छाँव मे छटपटाती होगी। इस अनंगराज के पास आने की उसकी हिम्मत नहीं। ऐसा सुन्दर और मनमोहन युवा तो हमने कभी देखा नहीं। . . इसके रूप-यौवन की प्रभा को देख कर हमें अपने लौकिक पति-प्रियतम भूल गये है। विचित्र जादूगर जान पड़ता है यह तापस। अरी सुन री, लगता है इसके पास कोई महामोहिनी विद्या है। . . इसके दिगम्बर लावण्य की विभा बड़ी हठीली और अनहोनी है। बरबस ही हमारे तन-मन के सारे आवरण उतारे ले रहा है। . .'

तो उनमें से कोई एक युवती कुमारिका सहसा ही बोली : 'मन करता है, इसका नाम-गाँव

और पता पूछें। किस माँ का लाड़िला होगा यह ? इसकी कोई प्रिया नहीं क्या ? हाय, कैसा जी चाहता है, कि यह हमें अंग लगा ले। . . कैसा सुख होगा री, इसके अंगों के रभस में ? . . '

फिर एकाएक कोई दूसरा व्याकुल स्वर सुनाई पड़ता है :

'ओ रे नीलोत्पल से नयनों वाले योगी, चुपचाप खड़े हो, पर बड़े चकोर जान पड़ते हो। तुम तो हमारा चीर-हरण करते-से लगते हो। हमारे तन, मन, प्राण, इन्द्रियों को तुमने अपनी नासाग्र चितवन से कीलित कर दिया है। अपनी वीतराग मुस्कान मे हमारी सारी चेतना को तुमने कैसे गहन सुरति-सुख से विभोर कर दिया है। तुमने तो हमारा सर्वस्व हर लिया। अपना आपा हार कर, हम तो सर्वहारा हो गई हैं। तुम्हें छोड़कर अब हमारा जी संसार के काजकर्म में कैसे लगेगा ? माता-पिता को क्या उत्तर देंगी ? हमारे कटाक्ष तो तुमने छीन लिये : अब अपने प्रियतमों को हम कैसे रिझायेंगी . . ?'

निराविल आँखें उठाकर एक बार मैने उनकी ओर देखा। मेरे ओठों पर प्रशम की एक समकित मुस्कान खिल आई। मेरी आँखों में उन्होंने पढ़ा :

'तुम्हारा ही तो हूँ। लो, मेरी आँखों को अपनी आँखों में आँज लो। फिर अपने प्रियतम में भी अपना ही रूप देखोगी। वही तो मैं हूँ। फिर बिछुड़न कहाँ रह जायेगी ! चिन्ता न करो। संसार के सारे काज-कर्म अब तुम पहले से अधिक अच्छी तरह सम्पन्न कर सकोगी . .।'

. . और वे बालाएँ सहसा ही जैसे उन्मुक्त हो उठीं। बाहरी सुध-बुध भूल कर, कर्णिकार, किंशुक और कचनारों के फूलों छाये वन-देश में उन्मन विभोर-सी विचरती दिखाई पड़ीं।



अपने जाने तो निरुद्देश्य ही यात्रा कर रहा हूँ। किसी लक्ष्य या कामना का प्रतिबंध क्यों कर स्वीकार सकता हूँ। अपनी निर्बन्धन और नैसर्गिक गतिमत्ता को उपलब्ध होना चाहता हूँ। लौट रहा हूँ या आगे बढ़ रहा हूँ, क्या अन्तर पड़ता है। अन्ततः यह संसार एक ही परिक्रमा के कई फेरों से आगे जाता तो नहीं दीख रहा। इस चक्रावर्तन के छोर पर पहुँचना चाहता हूँ। और उस बिन्दु से ही वह प्रस्थान सम्भव होगा, जिसकी यात्रा फिर प्रतिपल मौलिक और नित-नूतन ऊर्ध्व के अनन्तगामी प्रदेशों में होगी। सो चाहे जितना ही निरुद्देश्य हो मेरा भ्रमण, पर किसी परम उद्देश्य की उँगली का संकेत इसके पीछे जरूर है। हर फेरे के अनुभव से अन्तिम रूप से गुजर जाना होगा : ताकि आगे की ओर बढ़ना निर्बाध हो सके। उससे पहले अनुभव की यात्रा में, जिधर भी गति हो, उसमें कोई अभिप्राय होगा ही।

चीन्ह रहा हूँ, कि लौट कर फिर मोराक सन्निवेश के प्रदेश में आ निकला हूँ। दूरी में छोटी-छोटी पहाड़ियाँ फैली दिखाई पड़ती हैं। दिन चढ़ते-चढ़ते तेज लू भरी हवाएँ चलने लगती हैं। देह में वे आग की लपट-सी लगती हैं : सारा तन-बदन झुलसता चला जाता है। राह के तपे हुए धूल-कंकड़, नग्न पदत्राणहीन पगतलियों में गरम शलाखों से चुभते हैं। पहाड़ियों की ओर से आती धूलभरी हवा में, वृक्षों से झर-झर कर आती सूखी पत्तियाँ उड़ती दिखाई पड़ती हैं।

वनानियों में विरल ही पत्ते रह गये हैं। टीलों भरे उजाड़ में, केवल झाड़ों के ठंड-मुंड कंकाल दूर तक फैले दीखते हैं। उदास गर्म हवा के झकोरों में उन्हीं की नंगी डालें हहराती रहती हैं। . . हाँ, ग्रीष्म ऋतु आ लगी है।

भर दुपहरी में राह छोड़ कर, पहाड़ियों को पार करता चला गया। जंगल के जाली बेरों की नीची झाड़ियाँ नन्ही हरी पत्तियों से अभी भी भरी हैं। पगों और रानों में उनके काँटे खुँप जाते हैं : उन लाल बेरियों सी ही खून की बूँदें पिण्डलियों में उफन आती हैं। झाड़ियों की डालियों में बेरियाँ फली हैं : तो मेरा शरीर भी उनके कंटक-वेध से फलीभूत हो उठा है।

सामने एक जलता पहाड़ आ खड़ा हुआ है। उसकी काली ललौंही चट्टानों में एक प्रचण्ड पौरुषशाली छाती का आकर्षण है। सो पहाड़ की तपती चट्टानों के ढलानों में चढ़ चला। . . आगे जाकर चढ़ाई एकदम खड़ी हो गई है। चढ़ने के लिए पैर को मुश्किल से ही कोई अवलम्ब मिलता है। चढ़ना ही है, तो क्या सहारों और सीढ़ियों की राह देखूँगा ! मेरे पैरों और मेरे हाथों को स्वयं अपने ही अवलंब बन जाना होगा। चट्टानों की कृपा है, कि वे खुर्दरी हैं : उसी खुँपीले, जलते खुर्दरेपन पर हाथ-पैर चाँपता हुआ, केवल एकाग्र सन्मुख दृष्टि से ऊपर की ओर चढ़ता चला गया।

शिर पर पहुँच कर देखा, एक अकेला वृक्ष अभी भी कुछ हरियाला और छायादार था। वृक्ष बन्धु ने हरी डालों की बाँहें उठाकर मुझे बुलाया। मैंने मन-ही-मन कहा : 'मित्र ठहरो, इस पहाड़ की तपन को कुछ पी लूँ, तो फिर तुम्हारी छाँव में आकर विश्राम करूँगा। सो एक और सबसे ऊँचे शृंग पर चढ़ गया, जहाँ केवल दो पैर टिकाने लायक जगह थी। निरालंबता का अनुभव वहाँ पराकाष्ठा पर हुआ। सो वहीं स्थिर होकर, असीम आकाश की निरालयता और निरवलंबता में अपने को छोड़ दिया . . । खतरे की एक नीजी लपटभरी खट्टी गंध क्षण भर खून में दौड़ गयी। सहसा ही एक तेज चक्कर-सा आया : उस पार की खन्दक में अपने शरीर को लुढ़कते देखा . . । और तभी पाया कि स्वयं उस पहाड़ की अन्तिम चूड़ा होकर, उसके मस्तक पर निस्तब्ध जड़ित हो गया हूँ। लू की लपटें, सिन्दूरी लताओं-सी बहुत प्यार से मेरे अंग-अंग के साथ रमण कर रही हैं। मेरी चेतना में बिद्ध सारी वासनाएँ मानो खुल कर बाहर आ गईं। अपनी झुलसन से अब वे मुझे बाँधने और दाहने के बजाय, मुक्त करने लगीं। एक नील-लोहित अन्तरिक्ष में मेरी समस्त चेतना निस्तब्ध, निश्चल हो गई। देखते-देखते कपड़े उतरने की तरह, देहभान गायब हो गया। अन्तर में शांति का एक शीतल झरना-सा बहने लगा।

. . तीसरे पहर सहसा ही जब आँखें खुलीं, तो देह का अणु-अणु पसीने के उबलते लावा में नहाया हुआ था। सन्मुख आवाहन करते वृक्ष-मित्र की छाँव में जाकर, एक शिलातल पर बैठ गया। वृक्ष बान्धव ने अपनी विरल पल्लवी डालों का पंखा डुलाकर मुझे सहलाना चाहा . . । 'अरे नहीं बन्धु, इस तरल अग्नि के प्रवाह का निरोध नहीं करूँगा। इसे चुका कर, इसकी अवधि पर पहुँचा देना होगा, ताकि यह अपनी मर्यादा जाने : और मैं अपनी अमर्यादा में निर्बाध विचर सकूँ।'

. . पहाड़ से उतरने लगा, तो उसके ईशान कोण की अनजान बीहड़ता में जहाँ-तहाँ पद-पद पर रुंड-मुंड भीमाकार काली शिलाओं से राह अवरुद्ध दीखती थी। जैसे-जैसे नीचे को

आता था, हर चट्टान के मोड़ पर, एक द्वार खुल जाता था। . . इस तरह अवरोधों और खुलावों के कई तोरणों को पार करता मैदान में आ गया। उधर परे को लाल माटी की एक सड़क जाती दीखी। उसी पर चल पड़ा पश्चिम की ओर, जिधर सूर्य निर्गमन की यात्रा पर था। थोड़ी दूर चलने पर, ऊँची जवासे की बाड़ से घिरा कोई आश्रम दिखाई पड़ा। झूलसन और धूल-पसीने से मलिन शरीर को अविराम आगे बढ़ते देख किसी ने टोका :

'ओहो, . . राजर्षि वर्द्धमान कुमार, मैं ज्वलन शर्मा, तुम्हारे पिता सिद्धार्थराज का पुराना मित्र हूँ। दुइज्जंत तापसों के अपने इस आश्रम में मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ। कुमारयोगी प्रीत हों, और हमारे आँगन को पावन करें। चाहें तो आगामी वर्षावास यहीं व्यतीत करें। मैं यहाँ का अधिष्ठाता हूँ। अपने तापसों सहित तुम्हारी सेवा कर, हम कृतार्थ होंगे !'

मैं कुछ नहीं बोला। जहाँ ठिठका था, वहीं से ज्वलन शर्मा का अनुगामी हुआ। अब साँझ होने को है। तो रात्रिवास यहाँ कर ही सकता हूँ। तापस गुरु ने एक कुटीर की ओर इशारा कर, उसके आँगन की वट-छाया में मुझे चबूतरे पर बैठा दिया। हरे दोनों में कुछ फल, और जल की एक शीतल माटी की घड़िया सामने ला धरी। मैंने पुरातन अभ्यासवश, हाथ जोड़ कर उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की। वे मेरे मौन से संकेत पा कर चले गये। शीतल जल के घड़े और फलों को नमस्कार कर, मैं यथास्थान पर्यंकासन में ध्यान-मग्न हो गया। सूखते ओठों और रुद्ध कण्ठ में तीव्र प्यास का दाह अनुभव हुआ। उदर में भूख की ज्वाला भी प्रखर हो कर लहकी। भूख और प्यास के इस त्रास को सहने योग्य अनुभव किया। 'नहीं आज नहीं . फिर कभी मेरी बान्धवी क्षुधा-तृषा, तुम्हारे मन का कर दूँगा . .।' सारी रात गहरे ध्यान में ऐसा अनुभव होता रहा, जैसे कई ज्वालागिरियों को पार करता, एक वसन्त के हरियाले फूलों भरे मैदान में निकल आया हूँ। और एक शीतल अशोक वृक्ष तले बिछी, किसी अनाम मार्दवी शैया में निद्रालीन हो गया हूँ।

सवेरा होने पर ज्वलन शर्मा और उनके अन्य तापस शिष्य आ जुटे। मुस्करा कर उनके सम्मुख खड़ा हो गया। दायाँ हाथ उठा कर उनको निर्वाक् ही आश्वस्त कर दिया, कि हो सका तो ग्रीष्म के अन्त में यहीं लौटकर वर्षावास करूँगा। और अपने पिच्छी-कमंडलु उठाकर प्रयाण कर गया।

शेष ग्रीष्मकाल आसपास के मडंब, कर्बट, खेड़ा, ग्राम और परिसरवर्ती वनप्रदेशों में विचरण करता रहा। कभी छह टंक, कभी आठ टंक, और कभी पूरा पखवाड़ा उपवासी रहना होता है। अपने ही निकट, अपने ही भीतर प्रायः उपविष्ट रहने से, भूख-प्यास का दिनों तक अनुभव नही होता। कभी-कभी जब उनकी बाधा असह्य रूप से प्रकट हो जाती है, तो उन्हें पुचकार कर सुला देता हूँ, और अपने भीतर ही किसी नव्यतर शीतलता और तृप्ति का कुंज खोज निकालता हूँ। वहाँ निराकुल भाव से अवस्थित हो जाने पर, शांत चित्त से किसी ग्रामबस्ती में गोचरी पर निकल पड़ता हूँ। किसी भी द्वार पर अचानक अतिथि श्रमण के लिए द्वारापेक्षण करते गृहस्थ का आवाहन सुनाई पड़ जाता है :

'भो स्वामिन् तिष्ठ तिष्ठः . .'

. . पाणि-पात्र की अँजुलि में रूखा-सूखा, सरस-मधुर, स्वादु-अस्वादु जो भी आहार दिया जाता है, उसे भिक्षु समभाव से ग्रहण कर लेता है। उसके पैर उसी आवाहन पर रुकते हैं,

जहाँ का भोजन प्रासुक हो, पवित्र हो, भक्ष्य हो। फिर नाम, कुल, गोत्र, जाति से निरपेक्ष, किसी भी श्रमिक, श्रावक, धनी निर्धन, राजा रक के द्वार पर वह निर्विकल्प चित्त से भिक्षा ग्रहण कर लेता है। अपने ही लिए विशेष रूप से पाक किया भोजन वह नही लेता। नित्य जिस घर शुद्ध तन मन, शुद्ध हृदय, शुद्ध सस्कारपूर्वक आहार बनता है उसे वह सहज ही पहचान कर, उस द्वार का आतिथ्य स्वीकार लेता है।

स्वभाव ही हो गया है कि मेरे आसन, चर्या, शयन से किसी सूक्ष्म जीव की भी स्वतत्र चर्या म बाधा न पहुँचे, उनका घात न हो। जीवाणु मात्र मेरे वर्तन से अघात्य रहें, तभी तो मेरा अस्तित्व भी पूर्ण अघात्य हो सकता है। सो अपनी पुरुषाकार दूरी तक की भूमि के सारे दृश्य जीवों की रक्षा करता हुआ चलता हूँ। जब तपस्या की महावासना से उन्मेषित होकर पर्वतों पर चढता हूँ, तो शरीर स्वभावत ही फूल सा हलका और मृदु हो जाता है। जीव की विराधना तब शरीरत ही मेरे लिए सम्भव नही रहती। जिस आसन पर ध्यानारूढ होना हो या जिस शिलापट्ट पर लेटना हो, अपनी मयूर पिच्छिका से उसका शोधन कर लेता हूँ। क्षण क्षण अप्रमत्त भाव से, सर्व के प्रति जाग्रत और सावधान जीता हूँ जड चेतन सभी पदार्थों का स्पर्श आत्मा के पूर्ण मार्दव से ही कर पाता हूँ। जी मे यही लौ लगन लगी रहती है, कि मेरी हर क्रिया या चर्या प्यार हो। प्यार, जो हर किसी विशेष के प्रति न होकर, अपने आप मे एक स्वयम्भु धारा है, मेरी चेतना की। कि फिर जो भी उसमे आये, वह समाधान पाये, शरण पाये मेरे साथ सम्वादी हो जाये। इसी से मेरी सारी जीवनचर्या ही, एक स्वाभाविक ध्यान की अवस्था मे चलती है।

ज्येष्ठ मास की इस प्रखर लू भरी दोपहरी मे, चलते चलते कहीं किसी सरोवर के तीर, कोई शीतल छाया वाला जम्बूवन दीख जाता है। ओठ और कण्ठ की प्यास उत्कठित हो उठती है। लू और गरम धूल से झुलसा शरीर शीतल छाया के लिए तरस जाता है। चलते चलते रुक कर चारों ओर के दिशान्तों तक का अवलोकन करता हूँ। आसपास की दरकी हुई धरती को देखता हूँ। पानी पीने के लिए उडते व्याकुल पछियों की हारों पर निगाह डालता हूँ। घास और जल की खोज मे त्रस्त भटकते पशु चौपाये दिखाई पडते हैं चारों ओर का चराचर परिताप से सतप्त है। सर्वत्र ही तो प्यास दहक रही है। क्या वह सरोवर का जल, वह जम्बूवन की छाया, इस परिताप को शात कर देती है? तो फिर क्यो दिखाई पड रहा है चहुँ ओर, तृषा का यह सूखा, प्यासा, अन्तहीन रेगिस्तान ? जिस चट्टान से झरना फूटता है, उसके ओठ भी प्यासे हैं। जिस तट में नदी बहती है, वह भी विरहाकुल है ।

दूर उस बनाली के अन्तराल मे नदी की एक नीली सफेद रेखा दिखाई पड रही है। उस सजल नीलिमा मे क्या है, कि मेरे तपे शरीर को, ठीक इस प्रचण्ड सूर्यतप तले अभी और यहीं वह उपलब्ध हो गई है? एक शीतल नदी मेरी शिराओं मे सरसराती चली आई। सारे सरोवर, सारे छायावन, मेरी अस्थियों के घाटों मे लहराने लगे।

एक साँझ गाँव बाहर के किसी शून्य देवालय के चबूतरे पर आ ठहरा। एकाएक बादल छा गये। वे गहराते चले गये। दूर से धूल भरी ठडी आँधी आती दिखाई पडी। सारी बस्तियाँ, मन्दिरों के ऊँचे शिखर पर्वत, वन, उस वात्याचक्र मे खो गये। काल-वैशाली का प्रभजन है यह। पुर्वैया बह चली है। वर्षा के आगमन की सूचना मिली है।

सो वर्षावास के लिये दुइज्जन्त तापसों के आश्रम की ओर, मोराक सन्निवेश की राह पर चल पड़ा। पहुँचने पर कुलपति ज्वलन शर्मा ने बहुत स्नेहभाव से स्वागत किया। नैऋत्य कोण में लाल माटी से लिपी-छवी, एक सुन्दर घास की कुटिया में उन्होंने मुझे आवास प्रदान किया। आश्रम का अन्तरायन यहाँ से दीखता है। वहाँ भी तापसों के लिये ऐसे ही कई घास-फूस के कुटीर जहाँ-तहाँ बने हैं। बीच के चौगान में सुरम्य वृक्षावलियों के बीच लाल माटी का स्वच्छ-सुन्दर आँगन है। उसके ठीक मध्य में यज्ञ वेदिका है। वहाँ नित्य प्रातःकाल निर्दोष श्रौत यज्ञ होता है। वातावरण यज्ञाहुत द्रव्यों और वन-औषधियों की सुगन्ध से व्याप्त है।

मेरी मौन मुद्रा को देख कर तापस-गुरु असमंजस में दीखे। मैं ईषत् मुस्कुरा आया। हाथ उठाकर उन्हें आश्वस्त कर दिया। वे समाधान पाक.ः चले गये।

. . तापस-बटुक आकर साँझ-सकारे कुटिया और आँगन बुहार जाते हैं। मेरा कमण्डलु शुद्ध जल से भर जाते हैं। भोजन के समय यज्ञ का मधुपर्क, और फल-मूल के दोने ले आते हैं। दोनों हाथों से उनका वन्दन कर उन्हें लौटा देता हूँ। वे मेरी स्थिर आँखों में झाँक कर, मेरा भावाशय समझ लेते हैं। यह सावधानी बरतते हैं कि मेरी ध्यान-चर्या में कोई बाधा न पहुँचे। कुटिया में तो मैंने कभी प्रवेश किया नहीं। जिस दिन से नन्द्यावर्त की छत और चहारदीवारी छोड़ी है, किसी घर-द्वार का साया नहीं स्वीकारा है। जब दिशाएँ ही मेरा वसन बन गई हैं, तो बीच में दीवारें और छतें कहाँ रह पाती हैं? मन्दरचारी मन्दिर के साये में कैसे समाये? आकाश के इस विराट नीलम-महल से अधिक रक्षा अन्यत्र कहाँ सम्भव है।

सो कुटिया के खुले आँगन में एक ओर पड़ा शिला-तल्प ही मेरा एक मात्र आसन और शयन बन गया है। प्राय. उसी पर प्रतिमायोग मे आसीन हो, चाहे जब ध्यानलीन हो जाता हूँ। कभी खुली आँखों सकल चराचर को सम्पूर्ण संचेतना मे अपलक निहारता रहता हूँ। घंटों पलक अनिमेष खुले रह जाते हैं। प्रकृति के एक-एक आकार, स्पन्दन, परिणमन से तद्रूप तदाकार हो रहता हूँ. . . . । और बहिर्मुख दर्शन की यह तल्लीनता ही, जाने कब आत्मलीनता हो जाती है। आपोआप ही पलक मुँद जाते है। और भ्रूमध्य के आज्ञाचक्र मे अवस्थित होकर, अपने नासाग्र पर समस्त लोक की लीला का तद्गत साक्षात्कार करता रहता हूँ। कभी हिलोर आती है, तो बाहर के परिसर में विहार करता, किसी वनखण्ड के एकान्त मे जाकर ध्यानस्थ हो जाता हूँ।

सध्या में कभी-कभी आषाढ़ के बादल घिर कर मन्द-मन्द गर्जन होता है। ईशान कोण में बिजली लहक जाती है। कभी हलकी बूँदा-बाँदी भी हो जाती है। पर अभी भी खुल कर वर्षा नहीं हुई है। बस्ती के लोग जंगलों की सारी घास काट ले जाते हैं। नई घास अभी उगी नहीं है। सो जंगली गायें, नील गायें, हरिण आदि क्षुधार्त होकर वन में तृण-चारे के लिए भटकते है। आश्रम के कुटीरों की विपुल घास देखकर वे इधर लपक आते हैं। तापस ब्रह्मचारी अपनी दिनचर्या में व्यस्त रहते हैं। तभी उनकी असावधानी में भीतर घुस आकर ये वन्य चौपाये, उनकी कुटियों की घास खाने लगते हैं। पता लगने पर तापस दौड़े आते हैं, और उन पर डंडों का प्रहार कर उन्हें भगा देते हैं। . . विचित्र है मेरी यह काया, कि उन निर्दोष क्षुधार्त प्राणियों पर जब मार पड़ती है, तो मेरे अंग उसस कसक उठते हैं। नया तो कुछ नही है, बचपन से ही मेरा शरीर ऐसा ही सम्वेदनशील रहा है।

तापसों की मार के भय से भाग कर, ये वनैले जीवधारी अब मेरी कुटिया की ओर आने लगे हैं। यहाँ कोई बाधा या वर्जना न पा कर, सुखपूर्वक मेरी कुटिया को चरते रहते हैं। और यहाँ से आश्रम प्रांगण को निर्जन देख कर, अन्य कुटियों की घास चरने को भी चले जाते हैं।

तापसों को मेरी यह तटस्थता देखकर बहुत क्रोध आया। वे आपस मे बतियाने लगे कि कैसा विचित्र है यह राजपुत्र श्रमण, जो अपने आवास की रक्षा तक नही करता। पशु बड़ी मौज से इसकी कुटिया खाते रहते है, पर यह न तो उनका ताडन करता है, न उन्हे बरजता है। उलटे चाहे जब ये पशु-मृग उसके आसपास निर्भय ग्रीवा जुडाये खड़े रहते है, कुटिया की घास भकुस ला कर, उसी के सामने डाल, निरापद भाव से उसे चरते और जुगाली करते रहते है। आर तो और इस सुन्दर सुकुमार तपस्वी को अपने तन की तक परवाह नही। शिलासन पर स्वय भी शिलीभूत होकर जड़वत् निश्चल बैठा रहता है। और ये पशु बेखटक इसके शरीर से अपने तन का रभस कर, अपनी खुजाल मिटाते रहते है। तो कभी इसके अगों को जिह्वा से चाटते दीखते है। पर यह तो ऐसा जड़ भरत है, कि कोई भेडिया आकर, इसके अगों का भक्षण कर जाये, तब भी इसे कोई भान न आये।

तापसों के इन मनोभावो और कथनों को इस सामने के आकाश की तरह पढता सुनता रहता हूँ। सच ही तो कहते है ये। पर क्या उपाय है। राजैश्वर्य छोड़ कर इसीलिए तो निकल पड़ा हूँ, कि एक कण पर भी अपना कोइ अधिकार नही रक्खूँगा। स्वय स्वतन्त्र विचरूँगा और कण-कण को अपने से स्वतन्त्र, उसके निज भाव मे मुक्त परिणमन करने दूँगा। तब मेरे लिए क्या आश्रम, क्या कुटीर, क्या वन, क्या पहाड, क्या बस्ती, क्या श्मशान, सभी एक समान है। जब स्वयं पूर्ण स्वतन्त्र हो जाऊँगा, तो सारे चराचर प्राणी, अपनी स्वतन्त्रता मे अक्षुण्ण रह कर मेरे धर्म-साम्राज्य का शासन सहज ही स्वीकार लेगे। उससे पूर्व किसी वर्जन या ताड़न से कोई शासन चलाना, मेरे स्वभाव मे सभव नही।

मेरे पास आने का साहस तो ये तापस न कर सके। पर अपने कुलपति से उन्होंने मेरी उदासीन चर्या की शिकायत की 'हे कुलपाते, आपको यह तरुण राजर्षि आत्मा के समान प्रिय है, हम जानते है। सो हम भी इसकी यथेष्ट सेवा और सम्मान करते है। पर विचित्र है आपका यह अतिथि, जो वन्य-चौपायों को निर्बाध अपनी झोंपडी चरने देता है। तब वे ढीठ पशु हमारी सारी ताडना के बावजूद, निर्भय होकर, हमारे कुटीरो को खाने आ जाते है। न तो यह देवानुप्रिय अपनी रक्षा करता है, न ओरों की रक्षा का ध्यान रखता है। कैसा उदासी, अकृतज्ञ, दाक्षिण्यहीन, और प्रमादी है यह श्रमण। और कहो कि मौनी और समभावी मुनि है, तो वह तो हम भी है, फिर हमे ही क्या पड़ी है, जो इसकी सेवा और रक्षा करे ।'

कुलपति धर्म-सकट मे पड़ गये। उन्हे पहले से प्रतीति न हुई। तब स्वय आकर उन्होंने देखा। सच ही जो कुटीर मुझे दिया गया था, वह उजड़ गया था। शाखा-पत्रहीन जैसे कोई ठूँठ हो। पॉखों आये पंछी की तरह वह आच्छादनहीन और उड़ने को उद्यत दीखा। कुलपति चिन्तामग्न हो गये। सोच मे पड़े चुप खड़े रहे। फिर बहुत ही मृदु वचनों मे मुझे सम्बोधन किया .

'आयुष्मान, तुम तो जन्मजात प्रजापति हो। क्षत्रिय-पुत्र हो। अपनी और सर्व की रक्षा ही तुम्हारा जीवन-व्रत है। यह कैसे सम्भव है कि यहाँ तुम्हारे रहते, तुम्हारे इन तापस बन्धुओं को

कष्ट हो। उनकी साधना में विघ्न आये। जब तक जीवन है, शरीर है, और इस धरती के साधनों पर हम जीवन धारण करते हैं, तब तक वर्जन-लण्डन द्वारा प्रकृति और पशुओं के विघ्न से बचाव तो करना ही होगा। सुखपूर्वक यहाँ वर्षावास करो। पर अपने को और सबको निर्बाध रक्खोगे, ऐसी आशा है . . ।'

स्वभाव के अनुसार, कुलपति की ओर एकटक निहार कर, मैंने मुस्कुरा भर दिया। और चुप रहा। कुलपति मानो आश्वस्त होकर चले गये।

. . मैंने मन-ही-मन सोचा, मुझे तो कहीं कोई बाधा दीखती नहीं। सर्वत्र अपने को सुखी और निर्बाध ही अनुभव करता हूँ। पर यदि मेरी स्वाभाविक चर्या के कारण इन आश्रमवासियों का जीवन बाधित हो गया है, तो मेरा यहाँ से विहार कर जाना ही उचित है।

- जहाँ रहने से किसी को अप्रीति हो, उस स्थान पर भविष्य में कभी नहीं विहरूँगा।
- जब तक अरिहन्त न हो जाऊँ, अपने मौन को अटूट रक्खूँगा। चुप रहूँगा।
- नित्य कायोत्सर्ग की अवस्था में रहूँगा।
- निर्ग्रंथ स्वाधीन दिगम्बर हूँ, अपना स्वामी आप हूँ, सो अब किसी के वैयक्तिक स्वामित्व के
- स्थान में, पराधीन आश्रय ग्रहण नहीं करूँगा।
- अब से किसी के भी प्रति बाह्य विनय का उपचार न करूँगा। स्वयं ही विनयमूर्ति हो
- रहूँगा . . ।

. और अगले दिन प्रातःकाल उषा बेला में ही मैं अपने अलक्ष्य यात्रा-पथ पर विहार कर गया।

भय-भैरव के राज्य में

कभी-कभी एक विचित्र अवबोधन होता है। देखता हूँ कि कोई वर्द्धमान है, और वह अपनी जगह पर है। फिर एक महावीर है, और वह अपनी धुरी पर गतिमान है। तब यह जो तीसरा मैं हूँ, यह कौन है ? जो इन दोनों को अलग से देखता है। शायद इन दोनों के बाद जो बच रहता है, वही तो मैं हूँ। मेरा कोई नाम नहीं, धाम नहीं, मान नहीं, अनुमान नहीं, ज्ञान नहीं, अज्ञान नहीं। अनाम, अकोई, जिसकी कोई संज्ञा नहीं, परिभाषा नहीं। एक शून्य जो बस देखता है : अपने को और सर्व को। एक संचेतना, स्व की पर की : फिर भी इन दोनों से अतीत। अभेद। मात्र एक अनुभूति। और ऐसा मैं देख रहा हूँ :

—कि वर्द्धमान चलते-चलते जाने किस अपने ही भीतर की झाड़ी में उलझ गया है। असंप्रज्ञात जाने किस पूर्व जन्म की ग्रंथी में अटक कर, अटपटा-सा हो गया है . . ।

. . पर उससे आगे बेखटक चला जा रहा है महावीर। जैसे मंदराचल चल रहा है। शीत लेश्या वाला चंद्रमंडल पृथ्वी पर अनायास विहार कर रहा है। तप और तेज के इस महासूर्य को देखते आँखों के पलक ढलक जाते हैं। मेरु के समान यह निश्चल है, फिर भी जल की तरह

प्रवहमान है। पृथ्वी के समान सारे स्पर्शों को सहने वाला है। गजेन्द्र की तरह धीरगामी है : सिंह की तरह अकुतोभय है। घृत-हव्यादि से होमे हुए अग्नि के समान, मिथ्या-दृष्टियों के लिए अदृश्य है। गेंडे के एक शृंग के समान एकाकी है। प्रचंड साँड़ के समान महाबलशाली है। कूर्म की तरह अपनी इन्द्रियों को गोपन रखने वाला है। सर्प के समान एकाग्र दृष्टि रखकर विचरता है। शंख की तरह यह निरंजन है। सुवर्ण की तरह यह जातरूप सुन्दर, और निर्लेप है। पक्षी की तरह यह मुक्त है। जीव के समान यह अस्खलित गति वाला है।

. . ऐसा अप्रमत्त है यह, जैसे भारंड पक्षी हो कोई। आकाश सरीखा यह निराश्रय है। मृग की तरह सेवक रहित, फिर भी अदीन और अकिंचन है। पिता के समान जीवों की रक्षा में निरन्तर तत्पर है। कमलदल की तरह अस्पृष्ट है, फिर भी अपने मार्दव से सब को मृदु कर देता है। शत्रु और मित्र, तृण और त्रिया, सुवर्ण और पाषाण, मणि और मृत्तिका, लोक और परलोक, सुख और दु ख सब को यह एक-सा उपलब्ध है। संसार और निर्वाण दोनों ही में यह समान हृदय से निर्ग्रंथ विचरता है। ऐसा निष्कारण करुणालु है इसका मन, कि भवसागर मे डूब रहे मूढ़ जगत को यह तट हो रहना चाहता है। सागर-मेखला में वलयित, विविध ग्राम, पुर, पत्तन, पर्वत अरण्यों से मडित इस पृथ्वी पर यह पवन के समान अप्रतिबंध भाव से विचर रहा है . ।

. अरे, यह क्या हुआ ? नही है कही कोई अलग वर्द्धमान। नही है कही कोई अन्य महावीर। बस केवल एक, एकाकी मै हू, जो अपने ही को यों निर्गमन करते देख रहा हूँ।

जिस दिशा मे चल रहा हूँ, उधर से भय के भैरव का निमंत्रण सुनाई पड़ रहा है। लोमहर्षण हो रहा है, और अपने बावजूद, उस भयावहता की ओर खिचा चला जा रहा हूँ। जाने कौन, जाने किस जन्म मे भय से सत्रस्त हुआ होगा। और वही चिर भयार्त आत्मा, अब स्वयं मूर्तिमान भय होकर प्रकट हुई है। . . सारे लोक को वह आतंकित किये है। . . फिर भी अपने आप में अपने ही भय से सत्रस्त हो कर, वह आत्मा कहीं त्राण के लिए आक्रन्द कर रही है। उसे अपनी ही आत्मभीति से कौन मुक्त करे ? बड़ी विषम है उसकी वेदना ग्रंथि। उसका उन्मोचन कौन करे ?

अबेर पूर्वाह्न मे एक गाँव के प्रागण मे आ पहुँचा। देखा कि वहाँ अस्थियों का एक स्तूपाकार ढेर लगा है। उसके आस-पास भी दूर-दूर तक अस्थियों से छाया एक पूरा मैदान फैला पड़ा है। मेरे सारे शरीर में त्रास की एक कँप-कँपी सी दौड़ गई। मृत्यु, भय और विनाश को मैंने जैसे सामने खड़े देखा। . . और देखते-देखते एक प्रबल आँधी-सी उठी। और उसमें वह हड्डियों का स्तूप और प्रान्तर उड़ कर दूर-दूर जाता दिखाई पड़ा। . . अनन्तर देखा, कि वह प्रागण अब एक निर्जन उजाड़ प्रदेश मात्र रह गया है। उसमें एक दूरस्थ टीले पर कोई मंदिर दिखाई पड़ा। उसका एकान्त और नैर्जन्य मुझे अपने आवास के योग्य लगा।

. . मैं बेहिचक उस ओर बढ़ चला। तभी ग्रामजनों का एक टोला मेरे आसपास घिर आया। मैने उँगली के संकेत से उन लोगों को विज्ञापित किया कि मैं इस मंदिर में वास करना चाहता हूँ। मुझे कोई मौनी मुनि समझ कर उन्होंने मेरे आशय को भाँप लिया। तब उनके बीच से उत्पल नामक एक दैवज्ञ आगे आया, जो तीर्थंकर पार्श्वनाथ के धर्म-संघ का अनुसारी था। मेरी चर्या और चिह्नों से मुझे पहचान कर, वह मेरे प्रति प्रणत हुआ और ग्रामजनों की ओर से उसने निवेदन किया :

'भन्ते, हम आपको इस मन्दिर में नहीं ठहरने देंगे। यह शूलपाणि यक्ष का मन्दिर है। कोई भी मनुष्य यहाँ रात्रिवास करे, तो वह सबेरे जीवित नहीं निकलता है। यक्ष का कोपभाजन हो कर वह मौत के घाट उतार दिया जाता है। . . भन्ते, हम आपके आवास के लिए अन्यत्र सुन्दर व्यवस्था कर देंगे।'

ओ . . ! तब तो यही मन्दिर मेरा एकमात्र आवास यहाँ हो सकता है। इसी के निमंत्रण पर तो यहाँ आया हूँ। . . और मैं अभय मुद्रा में दोनों हाथ उठा कर, अविचलित पगों से फिर उस टीले की ओर बढ़ चला। ग्रामजन दौड़े आये और चारों ओर से मुझे घेर कर उन्होंने मेरी राह रोक ली। उत्पल दैवज्ञ ने मेरे पैर पकड़ लिये और कातर कंठ से प्रार्थना करने लगा :

'नहीं भगवन्, यह हम नहीं होने देंगे। वैशाली के देवर्षि राजपुत्र श्रमण वर्द्धमान को पहचान रहा हूँ। उनकी हमें जरूरत है। हमारी कष्ट-कथा सुनें और हमारा त्राण करें . . ।'

मैंने आश्वासन की हथेली उठा दी। अनुमति पाकर उत्पल ने कहा :

'भन्ते श्रमण वर्द्धमान, इस ग्राम का नाम भी 'पूर्व वर्द्धमान' था। अब यह अस्थिक ग्राम कहलाता है। इसकी एक बहुत कारुणिक कथा है। सुनने का कष्ट करें भगवन् .

'इस गाँव के परले पार एक वेगवती नामा विकट नदी बहती है। पानी तो उसमें बहुत गहरा नहीं, पर कीचड़-कर्दम के कारण वह ऐसी दुर्गम और जटिल है, कि उसे पार करने का साहस जो भी करता है, वह उसके दलदल मे सदा को सो जाता है। एक बार कौशाम्बी का एक धन नामा श्रेष्ठि अपने पाँच सौ शकटों के एक सार्थ में विपुल वस्तु-सम्पदा लाद कर हमारे ग्राम को आ रहा था। नदी को उथली देख कर, उसके सार्थ के शकट पार जाने को उसमें चल पड़े। पर मँझधार में आ कर उसकी सारी गाड़ियाँ गहरे कादव में फँस गईं। सारथियों ने चाबुक मार-मार कर बैलों को चलाना चाहा। उनकी त्वचा उधड़ आई, और वे डकार कर आक्रन्द करने लगे। पर आगे न बढ़ सके। तब श्रेष्ठि को अपने अति बलिष्ठ और प्रिय एक वृषभ का खयाल आया। सो सब से आगे के शकट में उसको जोत कर, उसके साथ अन्य गाड़ियों को बाँध दिया ओर बड़ी कठिनाई से वे नदी पार उतर आये।

'पार तो उतर आये, प्रभु, लेकिन श्रेष्ठि के प्यारे उस बलवान बैल की बड़ी दुर्गति हो गई। उसके शरीर के साँधे टूट गये, हड्डियां टर गईं और चमड़ उधड़ आये। श्रेष्ठि बहुत दुखित हो विलाप करने लगा। दूर-पास के अनेक पशु चिकित्सक उसने बुलवाये। रात-दिन खड़े पग रह कर उसकी सेवा-सुश्रूषा करने लगा। पर बैल की हालत में सुधार का कोई चिहून न दीखा। सार्थवाह श्रेष्ठि आखिर हार कर आगे बढ़ने को लाचार हो गया। उसने गाँव के मुखियाओं को अपना प्यारा मित्र वृषभ धरोहर के रूप में सहेज दिया। उसके पोषण और चिकित्सा के लिए उन्हें विपुल द्रव्य दे दिया। और एक दिन अपने धराशायी पशु-बान्धव की आँखों के आँसू पोंछता, स्वयं आँसू टपकाता, अपना सार्थ लेकर, वह आगे कूच कर गया। कह गया कि वृषभ के स्वस्थ होने पर, फिर उसे लिवा ले जाऊँगा। . .

'अब आप से क्या छुपा है, भन्ते, मनुष्य मनुष्य का ही सगा नहीं होता, तो पशु का क्योंकर होगा। सो हमारे गाँव के उस समय के मुखिया, बैल की सेवा-चिकित्सा के लिए दिया सार्थवाह श्रेष्ठि का धन हड़प कर निश्चिन्त हो गये। पीड़ित वृषभ तो उन्हें स्वप्न में भी याद न

रहा। बेचारे उस मूक तिर्यंच पशु की बहुत दुर्गति हुई। न किसी ने उसे चारा-पानी देने की चिन्ता की, न उसका औषध-उपचार किया। कुछ ही समय में वह भूख-प्यास से पीड़ित बैल अधमरा हो कर, अस्थि-चर्म का ढाँचा मात्र रह गया। वह पशु सज्ञी मन वाला पचेन्द्रिय प्राणी था। अतिशय दु ख के कारण उसे अपनी दयनीय स्थिति का तीव्र बोध हुआ। मनुष्यों की निर्दयता और प्रवचकता के प्रति उसका हृदय उत्कट ग्लानि और क्रोध से भर उठा। एक ओर तो अपने स्वामी की कारुणिकता और मैत्री के प्रति उसका मन कृतज्ञता से कातर हो आया। दूसरी ओर मानव मात्र की स्वार्थपरता के प्रति उसके अन्तस् में प्रबल धिक्कार और तिरस्कार उपजा।

'सो प्रभु वही वृषभ अकाम निर्जरा से मृत्यु को प्राप्त हो कर, इस ग्राम के सीमान्तर पर शूलपाणि नामा व्यन्तर हुआ। व्यन्तर देव को जन्म से ही विभग अवधिज्ञान होता है। उसी से उसने अपने पूर्वजन्म की कथा जान ली। पिछले भव के अपने सन्तप्त वृषभ शरीर को भी उसने अपनी ऑखों आगे प्रत्यक्ष देखा। सत्यानाशी क्रोध से वह यक्षदेव शूलपाणि उन्मत्त हो उठा। अपनी अधोमुखी दैवी शक्ति से उसने हमारे इस प्रदेश मे भयकर महामारी का रोग विकुर्वित किया। उसके कारण सैकड़ों ग्रामजन नित्य मरने लगे। सो यहाँ मृतकों की अस्थियों का ढेर लग गया। यहाँ का सारा वनागन अस्थियों से छा गया। उसी कारण इस ग्राम का सुन्दर नाम 'वर्द्धमान' लोगों को भूल गया। और वे इसे अस्थिक ग्राम के नाम से ही पुकारने लगे ।'

सुन कर मै सहसा ही क्षण भर को अन्तर्मुख हो गया। मेरी अर्धोन्मीलित दृष्टि में फिर एक बार वह हड्डियों का पहाड और प्रान्तर झलक आया। हे भव्यो, सारे ही जनालय मूल मे तो वर्द्धमान ही है। मनुष्य के कषायों ओर कुकृत्यों से, काल पाकर वे अस्थिक ग्राम हो जाते है। हाड पिजरों के जगल और श्मशान हो जाते है। हाय रे, कषायक्लिष्ट मनुष्य की नियति।

मेरी आँखे खुली, तो फिर से उत्पल का स्वर सुनाई पडा

'अज्ञानी और अन्ध श्रद्धालु ग्रामवासी इस दुर्दैव का रहस्य गाँव गाँव के दैवज्ञों से पूछते फिरे। सत्य को दैवज्ञ क्या जाने! उन्होंने अटकल पचू मनगढन्त कारण बताये। ऐसे कर्म-काण्ड और विधि विधान बताये, जिससे उनकी उदरपूर्ति हो सके। हर चौरे, देवल, वृक्ष, पत्थर के देव हमारे लोगों ने पूजे पथराये। पर महामारी का प्रकोप बढता ही गया। तब अधिकाश लोग यह प्रदेश छोड़कर परदेश चले गये। वहाँ भी यमदूत की तरह पहुँच कर, यक्ष ने चुन चुन कर हमारे ग्रामजनों को महामारी का ग्रास बनाया। तब ग्रामलोक ने मिलकर विचार किया जान पडता है अनजान मे हमने किसी देव, दैत्य, यक्ष या क्षेत्रपाल को कुपित किया है। सो अपने ही जनपद मे लौटकर उसे प्रसन्न करने का उपाय करे। अत लौटकर हमारे पूर्वज फिर अपने ग्राम आये।

'तब एक दिन सब ने स्नान से पवित्र हो कर, उत्तरासग धारण कर, श्वेत उत्तरीय परिधान किया। केश खुले छोड हाथों मे पूजा द्रव्य और धूप-दीप लिए आबाल- वृद्ध-वनिता, हर चत्वर, त्रिक, उद्यान, वनखण्ड, भूतगृह, खडहर मे बलि उडाते हुए, दीन वदन, मुख ऊँचा किये, जाने अनजाने सारे ही देवी-देवता, असुर, यक्ष, राक्षस, किन्नरों से प्रार्थना करते घूम चले।

कि हे देवताओ, यदि असावधानी मे हमसे आपकी कोई अवमानना हुई हो तो हमे निर्बल, क्षुद्र, अज्ञानी जान, हमारे अपराधों को क्षमा करे। हमे जीवनदान करे ।

'तब लोकजनों की आर्त वाणी के उत्तर मे अन्तरिक्ष से यक्ष बोला ओ रे दुष्ट, दुर्भावी

मानवो, तुम घोर कृतघ्न, स्वार्थी और पापात्मा हो। पूर्व जन्म में मेरे पशु शरीर वृषभ का जीवितव्य तक तुम हड़प गये। वह वृषभ मृत्यु पा कर अब मैं शूलपाणि यक्ष हुआ हूँ। और उसी पूर्व बैर से क्षुब्ध होकर मैं तुम्हारी सारी जाति से बदला ले रहा हूँ। . . पर अब तुम दीन-दयनीय होकर प्रार्थी हुए हो तो सुनो : इस अस्थियों के स्तूप का चबूतरा चुनवा कर तुम उस पर मेरे आवास के लिए एक मन्दिर निर्माण करो। और उसमें मेरे पूर्व जन्म के वृषभ-रूप की मूर्ति स्थापित कर नित्य उसका पूजन आराधना करो। तभी मेरी क्षुब्ध आत्मा शान्त होगी, और तुम्हारा त्राण हो सकेगा . .।

'सो हे भन्ते, यह सामने का मन्दिर हमारे उसी प्रायश्चित्त का प्रतीक है। इन्द्रशर्मा नामक एक ब्राह्मण को भारी वेतन देकर यहाँ पुजारी नियुक्त किया गया है। साँझ होते न होते, मन्दिर निर्जन हो जाता है। पुजारी भी अपने घर चला जाता है। कोई भटकते कापालिक, साधु, कार्पटिक हठपूर्वक यहाँ रात्रिवास करते है, तो सबेरे उनकी लाश ही मिलती है। बड़ा दुर्दान्त और भयंकर है यह यक्ष। आप लोकत्राता सुकुमार योगी हैं। आपका जीवन हमारी सम्पदा है। हम पर दया करें, और यहाँ वास न करे, भन्ते !'

'हूँ . . ।'

मेरे निःश्वास में से ध्वनित हुआ। सस्मित वदन मैंने सामने के मंदिर पर दृष्टिपात किया। अपलक उसे अवलोकता रहा। लोग गण भयभीत, स्तंभित देखते रह गये। मैंने बेखटक दायाँ हाथ उठा कर, मंदिर की ओर निश्चल अंगुलि निर्देश किया। . महावीर का आवास, अन्यत्र नहीं, इसी मंदिर में हो सकता है। मेरा निश्चय पत्थर की लकीर के समान लोकजनों के हृदय पर अंकित हो गया। वे समझ गये कि यह नियति अटल है : इसे टाला नहीं जा सकता। . . और अप्रतिरुद्ध गति से चलता हुआ, मन्दिर की सीढ़ियाँ चढ भीतर प्रवेश कर गया। लौटते हुए ग्रामजनों के भयभीत चिन्ताकुल चेहरे मैं देख सका। . . हे भव्यो, कब तक भय से यों भागे फिरोगे ?

. मन्दिर के एक कोने मे मै प्रतिमायोग आसन लगा कर ध्यानस्थ खड़ा हो गया। . . सन्ध्या घिर आई। पुजारी धूप-धूम करके शंख, घंटा, घड़ियाल और नक्काड़े के चण्डनाद के साथ वृषभ देवता की आरती करने लगा। . . एकाएक नीरवता व्याप गई। पुजारी ने मेरे निकट आ कर अनुरोध किया : 'देवार्य, मन्दिर का त्याग करे। यक्ष देवता मनुष्य की छाया तक से घृणा करते है। यहाँ रात रह कर, कोई जीवित नहीं निकला।' मैंने कोई उत्तर नही दिया। अपने पैरों मे मैंने मेरु को अनुभव किया .

मन्दिर निर्जन निपाट हो गया। घनीभूत अन्धकार। सूनकार सन्नाटा। देवासन के पाद प्रान्त में बहुत मद्धिम एकला दीया। बाहर साँय साँय, भाँय भाँय करती साँझिया हवाएँ। बज चुके नक्काड़े की अवशिष्ट प्रतिध्वनि। भय-भैरव का धौंसा अखण्ड नाद से मेरी धमनियों में बजने लगा। बाहर की पतझारों में किन्हीं वन्य जीवों की पगचापें। पीपल और उदम्बर वृक्ष की विरल पत्तों वाली शाखाओं में खड़खड़ाहट। किसी अदृश्य सत्ता की खड़ाउओं की गम्भीर आहट। . .

. . सहसा ही उत्कट घोष के साथ मेघ गड़गड़ाने लगे। ईशान कोण में विद्युल्लेखाएँ तड़कने लगीं। मन्दिर का पिण्डीभूत अन्धकार धसक आती दीवारों-सा मुझ पर टूटने लगा। दीवारों में द्वार खुलने लगे। हजारों भूत-प्रेतों की भीषण आकृतियाँ उनमें से सवारी की तरह

निकलने लगी। भयावह नैर्जन्य की स्तब्धता में किसी अज्ञात नट की छाया-खेला चलने लगी . . । संसारी प्राणियों की आत्मा में आदिकाल से बिद्ध पुंजीभूत भय, प्रचंडतर आकारों में लम्बायमान होता हुआ मेरे चारों ओर ताण्डव नृत्य करने लगा।

मेरे पैरों के नीचे की धरती धसकने लगी। ऊपर से आकाश फटता दिखाई पड़ा। शून्य की खंदक मे अधर टँगा रह गया हूँ। रह रह कर मेरी नसों मे किसी अदृष्ट का दुर्निवार पद-संचार हो रहा है। रोंगटे कीलों की तरह खड़े हो जाते है। रक्त मे बिजलियों के विस्फोट हो रहे है। अपनी काया मे उठते हिल्लोलों को देख रहा हूँ। लेकिन चेतना का लगर किसी अतल-अमूल मे पड़ा है। और पैर मेरे मन्दराचल मे गड़े हुए है। और उन्नत मस्तक, उद्भिन्न छाती के साथ निवेदित हूँ। उत्सर्गित हूँ।

. सहसा ही स्तब्ध दीपालोक मे, वृषभ पर एक कज्जल गिरि जैसी दुर्दण्ड भैरवमूर्ति सवार दिखाई पड़ी। उसमे रह-रह कर अग्नि की सिन्दूरी धारियाँ सँपलियों-सी लहरा कर विलीन हो जाती है। वज्र निनाद से धरती दहल उठी। और एक घोर रव सुनाई पडा

'ओ रे उद्धत मनुज पुत्र, तेरा ऐसा साहस ? शूलपाणि यक्ष का नाम नही सुना, क्या रे नादान ? मेरी शक्ति को ललकार रहा है ? मेरे प्रताप को चुनौती देने वाला तू कौन ? मै तेरी जाति को निर्मूल करके ही चैन लूँगा। मेरी व्यथा को तू नही जानता, पाखण्डी ? जान भी नही सकेगा।'

मन्दिर के गुम्बद म से उत्तर गूँजा मेरा

'जानता हूँ, मित्र, तेरे मर्म की यातना को। आत्म सक्लेश के नरकागार से मुक्ति नही चाहेगा, बन्धु ?'

'मुक्ति ? तू मुझे मुक्ति देने आया है, क्रूर, कृतघ्नी मनुष्य की सन्तान ! दूर हट मेरे सामने से, या फिर अपने काल का आलिगन कर !'

मुझे अडिग देख कर, यक्ष घोर अट्टहास कर उठा। सारी सृष्टि थर्रा उठी, और आकाश विदीर्ण होने लगा। मेरे पैरों मे भूकम्प के हिलोरे दौड गये। और उनके बीच मैने अपने को अकम्प लौ की तरह स्थिर देखा। और देखा कि ग्रामजन अपने बन्द घरों मे बैठे थरथरा रहे है और कह रहे है — निश्चय ही अब शूलपाणि ने उस कुमार श्रमण पर खड्ग प्रहार किया है।

मुझे अटल और अप्रतिहत खडा देख कर, फेर दुर्दान्त गर्जना करता हुआ यक्ष, अग्निबाण की तरह सनसनाता हुआ, जैसे गुम्बद को भेद कर पार हो गया ।

और क्या देखता हूँ, कि वन्या के पूर की तरह चिघाड़ता हुआ एक घोर हाथी दोनों पैर उठा कर मुझ पर टूट पडा। मेरी काया ने कोमल हरियाले क्रीड़ा-पर्वत की तरह लहक कर, गजराज के उस भारी भरकम पदाघात को झेल लिया। हाथी एक गहरी नि श्वास छोडकर मेरे पैरों मे अपनी सूँड ढाल कर लोटने लगा। मैने मन ही मन उसे प्यार से सहला दिया।

कि ठीक तभी भूमि और आकाश के मानदण्ड समान एक पिशाच सामने आ खड़ा हुआ। उसके सारे शरीर मे शूल उगे हुए थे। निमिष मात्र मे चीत्कार कर वह मुझ से लिपट गया। कस कस कर वह मुझे अपने आलिगन मे अधिक अधिक जकडने लगा। मेरे रोम-छिद्र सिकुड़े नही, एकदम ढीले हो कर खुल पडे। उनकी ऊष्मा मे पिशाच की देह के सारे शूल पिघल-पिघल

कर बहने लगे। हाँफते हुए वह मेरी छाती में गुड़ी-मुड़ी हो कर शरण खोजने लगा।

. .'पराजय के आघात से और भी अधिक विक्षिप्त होकर यक्ष ने फिर भयंकर हुंकार ध्वनि की। . . और मैंने देखा कि उस अभेद्य अन्धकार में से नीली-हरी विष-ज्वालाएँ उगलता हुआ एक भुजंगम सर्प आविर्भूत हुआ। अपनी फुँफकारों से हरियाली लपटें फेंकते हुए उसने मेरी सारी काया को अपनी कुंडलियों में जकड़ लिया। मेरे पोर-पोर में दुःसह विषदाह धधकने लगा। मैं जैसे आहुति की तरह उद्ग्रीव हो कर, उस हवन-कुंड में कूद पड़ा। सर्प की उग्र डाढ़ें, मेरे अंग-अंग को डसने लगीं। उसके दंशों के प्रति, माँ की दूधभरी छाती की तरह, मेरी रक्त-धमनियाँ उमड़ने लगीं। नागदेवता पीते-पीते अघा गये। और अलसा कर, मेरे पदनख पर फन ढलका कर विश्रब्ध हो गये।

हारे हुए यक्षराज का विक्षोभ पराकाष्ठा पर पहुँच गया। उनका सारा शरीर एक जलती हुई प्रलम्ब शलाका बन कर, सारे मन्दिर में फेरी देने लगा। फिर वह शलाका कई जाज्वल्यमान बल्लभ बन कर चारों ओर से सन्नाती हुई मेरे अंगों का छेदन करती-सी लगी। . . और हठात् अनुभव हुआ, कि मेरे मस्तक, नेत्र, नासिका, दाँत, पृष्ठ, मेरुदण्ड, मूत्राशय और नख आदि सारे ही मर्म स्थानों में एक साथ दुर्दम्य शूल की वेदना प्रगट हुई है। अपने स्नायुओं में, पीड़ा से छटपटाते अपने प्राणों के उस संत्रास को मैं नग्न और निर्निमेष नयनों से देखता ही रह गया। पूर्ण जाग्रत और सन्मुख भाव से उस वेदना को मैं सहता ही चला गया . .। अटूट और अविरोधी चेतना के साथ। अक्षुण्ण और अक्षुब्ध चित्त से यक्ष देवता के जन्मान्तरों के विक्षोभों को मैं अपने स्नायु-मंडल में धारण करता चला गया।. . अन्तहीन प्रतिषेध हीन। निष्कम्प, दुर्दम्य . . मैं।

हठात् मेरे पैरों में धमाका हुआ। नीली-सिन्दूरी लपटों से प्रज्वलित शूलपाणि यक्ष का विशाल शरीर महावीर के चरणों में ढलक पड़ा। अंजुलिबद्ध करों के साथ वह प्रार्थनाकुल स्वर में बोला :

'महाकारुणिक प्रभु ! मेरे अकारण वत्सल पिता ! सर्वशक्तिमान हो, स्वामी ! इस दुरात्मा ने तुम्हारी शक्ति को न जाना। तुम्हें पहचानने में मुझे बहुत देर लग गई। जन्म-जन्मान्तर के वल्लभ एक तुम्हीं तो हो। जाने कितने भवों की मेरी व्यथाएँ, वेदनाएँ विक्षोभ तुमने हर लिये। मेरे दारुण से दारुणतम प्रहारों को अविचल तुम सहते ही चले गये। और मेरी चेतना में बद्धमूल कषायों की भवान्तरों की विष-ग्रंथियाँ खुलती चली गयीं। मैं मुक्त हुआ, मैं उपशान्त हुआ। मेरे मुक्तिदाता . . आ गये तुम ? बोलो, तुम्हारा क्या प्रिय करूँ ?'

देवासन पर आसीन वृषभ के भीतर से उत्तर सुनाई पड़ा :

'मेरा नहीं, अपना ही प्रिय करो, बन्धु ! अपने ही को पूर्ण प्यार करो। इतना कि प्राणिमात्र आपोआप तुम्हारे प्रियपात्र हो जायें। तुम नहीं, सर्वत्र केवल तुम्हारा प्यार रह जाये। मित्ती में सव्व भूदेसु . . !'

यक्ष के भ्रूमध्य में सम्यक् चक्षु खुल उठा। वह आनन्द विभोर हो कर किलकारियाँ करता हुआ, मेरे चारों ओर, फूट पड़ते झरनों के समान नृत्य-संगीत करने लगा। आदि काल से उसकी चेतना में जमी कल्मष की चट्टानें उसमें गलगल कर बहने लगीं।. . भयाकुल ग्रामजनों ने सोचा, निश्चय ही यक्ष ने उस कुमार-योगी का वध कर दिया है। और अब वह विजय-गर्व से मत्त होकर

संगीत नृत्य कर रहा है।

चार प्रहर रात्रि तक भय-भैरव के साथ जो अनवरत युद्ध चला था, उस श्रम के कारण एक गहरी मुक्ति का-सा बोध हुआ। सो अन्तिम प्रहर में मुझ पर एक सुखद तन्द्रा-सी छा गई। और उसके दौरान विचित्र सपनों की एक परम्परा मेरी चेतना में खुलती चली गई। बाल्य औत्सुक्य से उस छायालीला को देखता रहा। सत्ता के विभिन्न स्तरों में जाने कहाँ-कहाँ कैसे अनहोने खेल चल रहे हैं, सो कितने लोग जान पाते हैं।

जब जाग कर बहिर्मुख हुआ, तो देखा कि मन्दिर के पूर्व द्वार मे आकर सूर्य वन्दना की मुद्रा में खड़े हैं। मन-ही-मन नमस्कार करके प्रथम अदिति-पुत्र का मैने स्वागत किया। तभी ग्रामजनों का एक बड़ा समुदाय मंदिर के प्रांगण में खड़ा दिखाई पड़ा। . . मै मन्दिर के सोपान पर आ खड़ा हुआ। मुझे अक्षत, पूजित और प्रसन्न देख कर ग्राम लोक आनन्द-विभोर हो जयनिनाद करने लगे।

ऊर्ध्वबाहु अभय-मुद्रा में मेरे दोनों हाथ ऊपर उठ गये! जाने कितने ही विनत मस्तकों की पंक्तियाँ सामने दिखाई पड़ीं।

सब से आगे खड़े थे, पार्श्वापत्य दैवज्ञ उत्पल शर्मा। अष्टाग निमित्तज्ञानी वे ज्योतिर्विद बोले :

'अवसर्पिणीकाल के अन्तिम तीर्थंकर, उत्पल के प्रणाम स्वीकारे ! धन्य है महाश्रमण वर्द्धमान, जो अस्थि-पिंजर हो गये अस्थिकग्राम को फिर अपनी धर्म-ज्योति से अपने मूल वर्द्धमान स्वरूप मे लौटा लाये।

'स्वामिन्, क्या यह सत्य है कि विगत रात्रि के अन्तिम प्रहर में आपने दस स्वप्न देखे है . . ?'

मै चुप, स्थिर मुस्कुरा आया। उत्पल भावित होकर बोले :

'प्रभु की आज्ञा लेकर मै उन स्वप्नों का फल कहना चाहता हूँ। अपनी गति आप स्वयं जानते हैं, अन्तर्यामिन् ! फिर भी भक्तिवश निवेदन करता हूँ। कृपा कर सुनें, भन्ते ! . . पहले स्वप्न में आपने तालपिशाच का हनन किया है : तो जानें लोकजन कि योगीश्वर महावीर एक दिन मोह का निर्मूल नाश कर देंगे। दूसरे स्वप्न में आपने शुक्ल पक्षी देखा है : तो स्वामी परमोत्कृष्ट शुक्ल ध्यान में आरूढ़ होंगे। तीसरे स्वप्न में आपने जो चित्र-विचित्र कोकिल देखा है, वह बताता है कि प्रभु के श्रीमुख से द्वादशांगी जिनवाणी उच्चरित होगी। पाँचवें स्वप्न में प्रभु ने गोवर्ग देखा है : सो उसके फलस्वरूप चतुर्विध धर्मसंघ आपका अनुसरण करेगा।

'और सुनें भगवन्, छठे स्वप्न में देखा पद्म सरोवर सूचित करता है कि सोलहों स्वर्गों के देव तीर्थंकर प्रभु की सेवा मे नियुक्त होंगे। सातवें स्वप्न में देवार्य समुद्र तर गये : सो ये महावीर भव समुद्र तर जायेंगे। आठवे स्वप्न में आपने लोकशीर्ष प. सूर्योदय होते देखा : सो प्रभु केवलज्ञान के महासूर्य होकर लोकालोक को प्रकाशित करेंगे। नौवें स्वप्न में, हे नाथ, आपने मानुषोत्तर पर्वत को अपनी आँतों से आवेष्ठित देखा : सो आपकी कैवल्य कीर्ति से तीनों लोक झलमला उठेंगे। दसवें स्वप्न में आपने अपने को मेरुगिरि के शिखर पर आरूढ़ देखा : तो सर्व लोकजन जानें कि ये भगवान त्रिलोक और त्रिकाल के सिंहासन पर आसीन होकर, सर्व चराचर को अपनी धर्मदेशना से

आलोकित करेंगे। . . लेकिन हे भगवन्, चौथे स्वप्न में जो आपने सुगन्धित पुष्पों की दो एक-सी मालाएँ देखी हैं, उनका रहस्य मैं नहीं समझ सका . . ?'

कहकर दैवज्ञ उत्पल जिज्ञासु दृष्टि से मेरी ओर देखते रह गये। मैंने अपना दायाँ हाथ, सीधा ऊपर उठा दिया और बायें हाथ से नीचे की ओर इंगित किया। अंतरिक्ष में से उत्तर ध्वनित हुआ :

'अपुव्वो . . अपुव्वो निगंठनातपुत्तो। अपूर्व है . . अपूर्व है यह निर्ग्रंथ ज्ञातृपुत्र। संसार और निर्वाण दोनों में यह जिनेन्द्र समान रूप से विचरण करेगा।'

उत्पल के मुख से निकला :

'यह तो कुछ अपूर्व और असम्भव सुन रहा हूँ, प्रभु। किसी अर्हत् ने पहले ऐसा तो नहीं कहा।'

औचक ही लौट कर मै मन्दिर मे प्रवेश कर गया। दूर-दूर जाती सहस्रों कण्ठों की समवेत जय ध्वनियाँ क्षितिज पर मँडलाती सुनाई पडी।

• • •

मन्दिर का प्रांगण निर्जन हो जाने पर, मै वन के एक सप्तच्छद वृक्ष तले की शिला पर आकर ध्यानस्थ हो गया। . दूरी में देखा कि गाँव मे भारी उत्सव मच गया है। अनेक ग्राम्य वादित्र-ध्वनियों के बीच नर नारीजन रंग बिरंगे वस्त्राभूषणों म सज कर नाच-गान कर रहे है। कई पीढ़ियों के बाद समारोहपूर्वक फिर 'वर्द्धमान' ग्राम का नवजन्मोत्सव हो रहा है। . .

आसपास के सारे सन्निवेश के लिए विविध व्यंजनी रसोई का पाक हुआ है। क्षीरान्न के केशर मेवों की सुगन्ध ने मेरी देह को व्याप लिया। उस समस्त भोजन का आपोआप जैसे मुझ मे आहरण हो गया। दिन चढ़ने पर गाजे-बाजे के साथ ग्राम लक्ष्मियाँ पक्वान्नों का एक विशाल स्वर्ण थाल सजाये यहाँ आई। उसे मेरे सम्मुख नैवद्य कर लोकजनों ने मुझसे अनुनय की :

'भो स्वामिन्, आहार अन्न शुद्ध है, शुद्ध है, शुद्ध है। ग्रहण कर हमे कृतार्थ करें। . . '

उत्तिष्ठ हो कर पाणि पात्र मे एक ग्रास ले मैने हाथ खींच लिये। . . फिर हाथ जोड़ कर आत्मस्थ हो गया। ग्रामजन आनन्द विभोर हो प्रसाद खाते हुए नाचगान के साथ हुलु-ध्वनियाँ और शखनाद करने लगे । सब की ओर से प्रेषित एक उज्ज्वल वेशिनी कुमारिका ने आकर अनुरोध किया

'भन्ते देवार्य, यह वर्षायोग यहीं सम्पन्न करके, प्रभु इस ग्राम को नित्य वर्द्धमान करें।'

मेरे निश्चेष्ट मौन से वे स्वीकृति का बोध पा कर गद्गद हो गये। फिर मेरे मनोभाव से इंगित पा कर वे मन्दिर म गये। देवासन पर प्रतिष्ठित वृषभमूर्ति में उन्होंने सर्व संरक्षक धर्म का दर्शन पाया। उत्पल शर्मा ने स्नेह•बालक-बालाओं द्वारा उसका पूजन करवाया। और मन्दिर की छत मे से पहली बार शूलपाणि का मृदु वत्सल कण्ट स्वर सुनाई पड़ा

'मित्ती मे सव्व भूदेसु . !'

अन्तिम रूप से अभय और सुरक्षा की अनुपम शांति मे मग्न हो कर जन प्रवाह फिर

आनन्दोत्सव मनाता हुआ ग्राम की ओर लौट चला।

उसी दिन के तीसरे पहर आकाश में प्रकाण्ड नक्काड़ों का तुमुल घोष होने लगा।'मेघराज कालागुरु के पहाड़ जैसे दिग्गज पर चढ़ कर आये। उनकी घनघोर गर्जना से दिगन्त दहलने लगे। आकाश को तड़काती बिजलियाँ, अज्ञात पर्वत-शिखरों और खंदकों में टूटने लगीं। मूसलाधार वर्षा आरम्भ हो गयी। बीच-बीच में अल्प विराम होता। और फिर हुमक-हुमक कर बादल वेलाएँ नित नये वेग से घुमड़ने लगतीं। लोगों को कहते सुना, इस बार का चौमासा अवढर दानी हो कर बरस रहा है।

मैं रात और दिन इसी सप्तछद के तले अविरल भाव से ध्यानस्थ रहने लगा हूँ। ऊँची-ऊँची हरियाली और कीच-कादव के गह्वरों से चारों ओर की राह रुँध गई है। भीतर ऐसी रसवृष्टि होती रहती है, कि शरीर में गमनागमन की कोई चेष्टा ही नहीं रही है। ग्रामजन नित्य भोजन-बेला में मंगल-कलश साजे, भिक्षुक का द्वारापेक्षण करते थक गये। श्रमण अविराम वृष्टिधाराओं में नहाता सप्तच्छद वृक्ष तले शिलीभूत बैठा है। हिलने का नाम नहीं लेता। बढ़ती वनस्पतियों मे उसकी देह ढँकी जा रही है।

लोकजनों ने सोचा कि हरियाली का तन रौंद कर श्रमण बाहर चर्या नहीं करेगा। सो उन्होंने कुछ शिलाखंड रख कर, मेरे निकलने की राह बनायी। और उसी राह स्वयं भी आ कर अनेक विनतियाँ करने लगे : कि विषाक्त जीव-जन्तु से भरे इन वनस्पति-जालों से बाहर आऊँ। वर्षा-पानी के थपेड़ों से बचूँ और मन्दिर की छाँव स्वीकारूँ। उनके द्वारा आयोजित प्रासुक आहार ग्रहण करूँ।. . यह नित्य-क्रम सामायिक के कालाबाधित सुख को भंग करने लगा।



. . सो एक दिन किसी निर्जन बेला मे, वहाँ से उठ कर चल पड़ा। एक पगडण्डी मुझे लिवा ले चली। जहाँ पहुँच कर वह शेष हुई, वहां पाया कि एक बीहड़ अरण्य प्रदेश में आ गया हूँ। किसी पहाड़ी की ऊर्ध्वमुख चट्टान पर आसीन हो गया हूँ। चारों ओर दुर्गम अरण्यानियों और संकुल वनस्पतिलोक से घिर गया हूँ। और विराट् वर्षाकुल प्रकृति के बीच मानो उसका हार्द-पुरुष बन कर अवस्थित हूँ।

प्रचण्ड गड़गड़ाहट के साथ घटाटोप मेघों के दल मुझ पर चढ़ आते है और कल्पान्तकाल की बहिया बन कर मुझ पर फट पड़ते हैं। चाहता हूँ, इस आप्लावन में बह जाऊँ, डूब जाऊँ, निःशेष हो जाऊँ। निर्वापित हो निर्वाण पा जाऊँ। पर क्या है यह मेरे भीतर, जो एक ध्रुव, कूटस्थ मन्दराचल की तरह ऊर्ध्व में उन्नीत है। और युगान्त के समुद्र जाने कितनी ही वन्याएँ बन कर आते है, और मेरी शिराओं मे से कोमल शांत नदियाँ बन कर बहते दीखते हैं।. . दुर्दान्त घोष करती हुई शम्पाएँ, जब क्षितिजों पर कड़कड़ा कर टूटती हैं, तो मेरे मूलाधार दहल उठते हैं और उनमें से एक महावासना की ज्वाला-सी लहकती है। जी चाहता है कि उल्काओं के ये वज्र मुझ पर टूटें, और इनके सत्यानाश को मै सहूँ, जानूं, जी जाऊँ। और मेरी इस अस्खलित वासना के उत्तर में, वे विद्युल्लताएँ मेरे अंगों पर अतीव सुन्दरी, सुकुमारी अंगनाएँ बनकर टूटती हैं।,उनकी विस्फोटक

ध्वनियों में, मेरे सर्वांग को आलिंगन में कसती बाहुओं के कंकणरव रणकार उठते हैं।

. . कुछ ही दिनों में देखा कि इस निःसीम चराचर प्रकृति के साथ एकीभूत, तदाकार हो गया हूँ। मानो कि इसी की अनादि पुरातन साँवली काया में से एक कास्य पुरुष उत्कीर्ण हो आया है। आँधी-वर्षा के मूलोच्छेदक थपेड़ों के बीच, वह आकाश को वेधता हुआ उत्तान और उन्मुक्त खड़ा है। उसकी आजानु प्रलंबमान भुजाओं, और रानों पर लताएँ लिपट गई हैं। मणियों से दमकते भुजंगम नाग उसकी जाँघों और छाती को परिरम्भण में कसे हैं। फिर उसके हृदय-देश पर चुम्बन करते हुए वे गहरी सुगंध मूर्च्छा में शिथिल हो गये हैं। अंगांगों पर कोमल काई आश्वस्त भाव से उग आई है। उसके पगतलों और टाँगों में कई सरिसृपों ने अपनी बांबियाँ बना ली हैं। उसके चरण-युगल के बीच न्योले साँपों को अपनी छाती से चाँपे स्नेह-सुख से विभोर लेटे हैं। वृष्टिधाराओं से सनसनाती भयावह प्राणहारी रात्रियों में अनेक विषाक्त गोह, छिपकलियाँ आदि जन्तु उसकी अविचल लताच्छादित जाँघों और बाहु-मूलों के ऊष्म गह्वरों में अभय भाव से शरणागत हैं। चाहे जब वे उसके शरीर के किसी भी भाग में निश्चिन्त भाव से रेंगते दिखाई पड़ते हैं। . .

तापस वर्द्धमान ने फिर एक बार महावीर को अकुतोभय मुद्रा में सामने खड़ा देखा। . . ओह, आत्मन्, तुम्हीं तो मेरे एकमेव स्वरूप हो। अनावरणीय, अनाघात्य।

देश काल का बोध विस्मृत हो गया है। और मेरे रोंये-रोंये में अनवरत जाने किस माँ के वक्षोजों का दूध अभिसिंचित होता रहता है। . . त्रिशला, तुम उदास क्यों होती हो ? देखो न, तुम्हारी छाती कितनी विस्तृत हो गई है ! और उसमें तुम्हारा बेटा जैसे सदा को अमर्त्य हो गया है।



. . वर्षायोग की समाप्ति पर, एक दिन देखा कि वृषभ-मन्दिर के सोपान उतर कर मैं प्रयाण कर रहा हूँ। परिसर के सन्निवेश से हज़ारों लोकजन मेरी अनियत राह पर बहुत दूर तक मुझे पहुँचाने आये। एकाग्र, एक दिशोन्मुख चला जा रहा हूँ। पैरों में कितने ही मस्तक, सुगंधित केश-कलाप, और आँचल बिछ कर सिमट जाते हैं। . . लौटते जनों की प्रेमाकुल सिसकियाँ सुनाई पड़ जाती हैं।

. . आश्विन की नई सुहानी धूप में, हरियाली वन्य-राह पर, एकाकी हंस की तरह अपने को गतिमान देख रहा हूँ। तभी अचानक पीछे से किसी ने मेरा कन्धा छू दिया। फिर एक विशाल तमसाकार आकृति मेरे पैरों में आ गिरी। सुनाई पड़ा :

'भगवन्, त्रिभुवन के तारनहार हो। भव-भव की क्लिष्ट कषाय ग्रंथियों से तुमने मुझ पापात्मा को मुक्त कर दिया। हे अकारण भव्यवत्सल प्रभु, जो दारुण कष्ट तुमको मैंने दिये, उनके लिए मुझे क्षमा कर जाओ !'

उत्तर में सुनाई पड़ा :

'शूलपाणि, सावधान, तुम पापात्मा कैसे ? आत्मा और पाप साथ नहीं जाते। पाप से

अस्पृश्य है आत्मा । क्षमा अन्य कौन कर सकता है ? स्वयं ही अपने प्रभु जाओ । आप ही अपने को क्षमा कर सकते हो । आप ही अपने को प्यार कर सकते हो । बुज्झह . . बुज्झह, शूलपाणि ! . . तत्वमऽसि ?'

देखते-देखते वह कज्जलकाय यक्ष श्वेताभ हो गया । उसके ललाट में सम्यक्त्व चक्षु खुल आया ।

अविज्ञात दिशा में, अपने ही समय-पथ पर चला चल रहा हूँ ।

अप्प दीपो भव

मैं तो कुछ बोलता नहीं । केवल देखता रहता हूँ, जो भी सामने आये । जहाँ कहीं भी अँधेरा दीखता है, भीतर की रोशनी आपोआप प्रकट हो कर उसे उजाल देती है । वातावरण में व्याप्त शब्द के परमाणु तब आप ही स्फूर्त हो कर उस प्रकाश को ध्वनित कर देते हैं । परावाक् वाक्‌मान हो उठते हैं । सो जब भी कहीं कोई प्रश्न उठाता है, तो आपोआप ही उत्तर अन्तरिक्ष में से सुनाई पड़ जाता है । मैं भी उसे सुन कर अधिक सम्बुद्ध होता हूँ : समाधान पाता हूँ । हर प्रश्न के समक्ष मैं तो चुप ही रहता हूँ : पर श्रोता को अचूक उत्तर सुनाई पड़ता है ।

सब जगह जाना है । सबके पास जाना है । सो कहीं या किसी के पास जाने का चुनाव क्योंकर सम्भव है । जहाँ भी रिक्त है, कष्ट है, वहीं की पुकार मेरे पैरों को खींच ले जाती है । अपने से तो कहीं जाता नहीं : मानो ले जाया जाता हूँ । जहाँ से भी आवाहन सुनाई पड़े, प्रस्तुत हो जाता हूँ ।

देख रहा हूँ, कि फिर मोराक सन्निवेश में आ निकला हूँ । एक वटवृक्ष तले के चबूतरे पर सिद्धासन से बैठा हूँ । उसकी शाखाओं में से फिर जड़ें फूट आई हैं । धरती की ओर बढ़ती हुई, वे फिर उसी में समा जाना चाहती हैं । यह वृक्ष जहाँ से आया है, वहीं लौट जाना चाहता है । यह तो कोई आत्मज्ञानी लगता है । पर इसके भाव पर किसी की निगाह नहीं । सब की निगाहे अपने भयों और इच्छाओं पर लगी हैं ।

चबूतरे पर, तने के सहारे कई पूजित पत्थर पड़े हैं । हाय रे भवारण्य में भटकते मनुष्य का अज्ञान ! जितने पत्थर हैं, उतने ही देव, उसने बना लिये हैं । वह इनमें अपने दुःखों से त्राण खोजता है । हर वृक्ष तले एक रुण्ड-मुण्ड पत्थर देव बना बैठा है । हर बस्ती की सीमा पर, कोई साधु आश्रम बना कर, गुरु के आसन पर विराजमान हो गया है । हर वृक्ष का पत्ता शास्त्र हो गया है । अज्ञानी जन, अपने संसारी परितापों से उबरने के लिये इनके चरणों मे शरणागत होते है । जो स्वयं ही भवतापों से त्रस्त हैं, वे औरों के तारनहार बन कर बैठे हैं । मूढ़ जनता को प्रवंचित कर, वे अपनी शिश्नोदर की भूख प्यासों को तृप्त कर रहे हैं ।

भव्य आर्यावर्त का ज्ञानसूर्य इस समय अस्तप्राय है । इस अज्ञानान्धकार में परम्परागत धर्म-ज्योति के सिंहासन पर छद्‌म देव, गुरु और शास्त्र ने अधिकार जमा लिया है । सत्ता और

सम्पदा के स्वामियों ने अपने वैभव से इन तेजोहीन मिथ्या गुरुओं को खरीद लिया है। शाश्वत धर्म की ज्योति मुट्ठी भर उच्च वर्गों के ठेके की वस्तु हो गई है। राजा, पुरोहित और वाणिक मिल कर धर्म की ओट अपने स्वार्थ पोषण और शोषण का व्यापार अनर्गल भाव से चला रहे हैं। व्यभिचारी और अनाचारी साधु के वेश में गुरु के आसन पर बैठ कर त्याग और तप का उपदेश प्रजा को पिला रहे हैं। वे सम्पत्तिशालियों के क्रीत दास हैं, और गरीब प्रजा की उन तक पहुँच नहीं। वे गरीब को सदा गरीब और अज्ञानी ही रखना चाहते है। पुण्य-पाप के मनगढ़न्त मिथ्या शास्त्र रचकर, वे अपने श्रीमन्त यजमानों के पुण्य का रात-दिन जयगान कर रहे है। श्रमिक, शूद्र और चण्डाल के लिए वेदवाणी सुनने का निषेध कर दिया गया है।

सो बहुसंख्यक निम्न वर्गीय प्रजा अपढ़ और अज्ञानी है। वह मूढ़ता और अन्ध विश्वासों के अन्धकार में भटक रही है। अपने ही भयों और अज्ञानो को वह देवता बना कर पूज रही है। विषम वासनाओं से पीड़ित भूत-प्रेतों, व्यन्तरों और यक्षों को, वह उजाड़ो, वन-खण्डों, खण्डहरों, वृक्षों और जलाशयों में पूजती फिर रही है। अरे कौन समझेगा इन अज्ञानी भवजनों की वेदना ? कौन इन अँधेरे में भटकते संत्रस्त संसारियों को अज्ञान और अन्ध विश्वासों के तिमिरपाश से मुक्त करेगा ? . . कौन इस तमसा मे ज्ञान का दीपक जलायेगा ?



देखा कि एक ग्वाला अपनी गायों को जगल मे चरती छोड़, मेरी ओर चला आ रहा है।

नमोस्तु, भन्ते श्रमण . . !'

'धर्मलाभ करो, गोपाल।'

'तन-मन की, जन-वन की सब कथा जानते हो, स्वामी ! कुछ मेरे जी की बताओ।'

'तेने सौवीर और कंगकूर का भोजन किया है, आयुष्मान। तेरा गोधन कोई चुरा ले गया है। अभी रास्ते मे साँप पर तेरा पैर पड़ गया था। और पिछली रात सपने मे तू बहुत रोया, वत्स . .।'

'अन्तर्ज्ञानी हो, नाथ ! आपका दर्शन पा कर, दीन जन धन्य हो गया। मेरे सब कष्ट हरो, स्वामी, मेरे दुःख दूर करो।'

'अपने को जान, वत्स। तेरे सब दु :ख आप ही दूर हो जायेंगे।'

'कैसे अपने को जानूँ, भन्ते ? मै तो अज्ञानी हूँ।'

'केवल अपनी ओर देख, वत्स। केवल अपने मे रह। तेरी शरण तू स्वय ही है। अन्य कोई तेरी शरण नही, तेरा स्वामी नही। तू ही अपना स्वामी है।'

'स्वामी . . !'

'अप्प दीपो भव। अपना दीपक आप ही हो जा रे . . !'

ग्वाला भावित हो कर गाँव की ओर दौड़ा गया। वह ग्रामजनों को एकत्रित कर हर्षावेग मे अपनी आप बीती सुनाने लगा। बोला कि—'अहो, सुनो रे सब शुभ वार्ता ! हमारे गाँव के भाग खुल गये। हमारी सीमा पर एक त्रिकालवेत्ता देवार्य आये है। तन-मन की सब जानते है। विपल

मात्र में जी का सारा दुःख-क्लेश हर लेते हैं।'

ग्रामजन सुन कर गद्गद हो गये। पूजा-सामग्रियों के थाल सजाये मेरे पास दौड़े आये। मेरे सामने अक्षत-फूलों के ढेर लग गये।

'भन्ते श्रमण, हमारे ग्राम में भी आपके समान ही एक सिद्ध-पुरुष रहता है। वह अगम-निगम के भेद जानता है। जो हुआ और जो होने वाला है, सब बता देता है। तन्तर, मन्तर, जन्तर सब विद्याओं का वह पारगामी है।'

'अच्छंदक . . ! '

'वही स्वामी, वही। आप तो लोकालोक की सब जानते है ! . . अच्छंदक ही हमारे गाँव का गुरु है। हम उसे अच्छा-बाबा कहते है।'

'वह तुम्हारा अच्छा-बाबा, सच्चा-बाबा भी है क्या ?'

'सब सच-सच बता देता है, भन्ते। और सारे दु ख दूर करने के उपाय भी बता देता है।'

'तुम्हारे दुःख दूर हो गये, आयुष्यमान् ?'

गाँव का मुखिया बोला ·

'अब भन्ते, वह तो ऐसा है कि, जैसा जजमान, जैसा उसका दान, वैसा उसका त्राण . .।'

'पाषण्ड . . पाषण्ड . . पाषण्ड। अज्ञान . . अज्ञान . . अज्ञान . .। केवल तुम स्वय ही कर सकते हो अपना त्राण। और सब प्रवचना और कुज्ञान। पाओ अपने आप का ज्ञान। आपको ध्याओ, आपको पूजो, आपको प्रेम करो। आप ही बनो अपने भगवान। आपो आप पा जाओगे सब दु खों से निर्वाण।'

आश्चर्य-चकित लोगों की भेड़िया-धँसान गाँव में लौट कर अच्छंदक के पास पहुँची। बोले कि : 'गुरुजी, गाँव बाहर जो देवार्य आकर ठहरे है, वे त्रिकाल ज्ञानी हैं। तुम तो कुछ जानते नहीं, पाखंड करके हमे ठगते रहते हो।' अच्छंदक भयभीत हो उठा : बोला : 'उस नग्न श्रमण को त्रिकाल ज्ञानी कहते हो ! चलो तुम्हे दिखाऊँ, कि पाखंडी वह है या मैं हूँ।'

क्रोध से उन्मत्त अच्छंदक ने श्रमण को पराजित करने की युक्ति मन-ही-मन सोच ली। कौतुकी ग्रामजनों से घिरा वह मेरे सम्मुख आया और दोनों हाथों की उँगलियों के बीच एक घास का तिनका लेकर बोला : 'बताओ तो त्रिकालज्ञानी श्रमण, यह तिनका मैं तोड़ सकूँगा या नहीं ?' उसके मन में यह था कि श्रमण जो कहेगा, उसका ठीक उलटा मैं करूँगा, सो इसकी वाणी झूठ सिद्ध हो जायेगी। अच्छंदक को उत्तर मिला :

'यह तिनका नहीं टूटेगा !'

अच्छंदक ने खेल-खेल में तिनका तोड़ देने की चेष्टा की। . . पर मानो किसी अज्ञात वज्र से उसकी उँगलियाँ स्तंभित, आहत हो रहीं। तिनका बिन टूटे ही अखण्ड धरती पर गिर पड़ा। ग्रामजन उल्लसित होकर देवार्य का जयकार करने लगे। इसी बीच निष्प्रभ, हताहत होकर अच्छंदक जाने कब वहाँ से भाग खड़ा हुआ। सहसा ही सुनाई पड़ा :

'यहाँ जो वीरघोष नामक सेवक है, वह सामने आये।'

'मैं वीरघोष, भन्ते।' और वह प्रणत हुआ।

'कभी तेरे घर में से दस पल परिमाण का एक पात्र खो गया था ?'

'सत्य है, भगवान् !'

'अच्छंदक गुरु वह चुरा ले गये थे। तेरे घर के पीछे, पूर्व दिशा में जो सरगवा का वृक्ष है, उसके तले एक हाथ धरती खोद कर वह गाड़ दिया गया था। जाकर ले आ।' दौड़ा हुआ जाकर वीरघोष निर्दिष्ट स्थान से पात्र निकाल लाया। सबके सामने प्रस्तुत किया। ग्रामजन स्तब्ध। फिर सुनाई पड़ा :

'यहाँ कोई इन्द्रशर्मा नामक गृहस्थ है ?'

'मैं इन्द्रशर्मा, प्रभु ! क्या आज्ञा है ?'

'भद्र, कभी तेरा एक मेंढा खो गया था ?'

'सो तो खो गया था, भन्ते !'

'अच्छंदक गुरु मेंढे को मार कर उसका आहार कर गये थे। उसकी अस्थियाँ बेर वृक्ष की दक्षिण दिशा में गड़ी हैं।'

कुछ लोगों ने वहाँ जाकर धरती खोदी, तो सूचित अस्थियाँ साबित मिलीं। प्रमाण पाकर ग्रामजनों के हर्ष और विस्मय का पार नहीं।

'ग्रामजनो, बहुत हुआ। अपने गुरु का अन्तिम दुश्चरित जानकर क्या करोगे . . !

'सत्य सम्पूर्ण कहें, प्रभु। ताकि हमारी मिथ्या दृष्टि और अन्ध श्रद्धा के अँधेरे सदा को फट जायें।'

'तो अच्छंदक के घर जाकर, उसकी स्त्री से पूछो।'

कुछ लोग दौड़कर अच्छा-बाबा के घर उनकी स्त्री के पास जा पहुँचे। अपने पति के पाखंडों और दुराचारों से पहले ही वह बहुत जली-भुनी बैठी थी। सारी कथा सुना कर अन्त में उसने अपने मन की व्यथा प्रकट कर दी :

'यह तुम्हारा गुरु और मेरा कहा जाता पति, अपनी बहन के साथ हर रात विषय-सुख भोगता है। मेरी इच्छा तो यह कभी करता नहीं।'

ग्रामलोक ने जब यह सत्य कथा सुनी, तो उनके प्रवंचित हृदय बहुत व्यथित हो उठे। किन्तु फिर एक अपूर्व मुक्ति के बोध से आल्हादित हो वे सब आकर श्रमण के चरणों मे लोट गये। कृतज्ञता से नीरव हो कर बड़ी देर आँसू बहाते रहे।

अच्छंदक प्रवंचक और पापात्मा के नाम से सर्वत्र ख्यात हो गया। कहीं से भिक्षान्न पाना भी उसे मुहाल हो गया। जंगल के एकान्त में पड़ा-पड़ा वह रो-रो कर अपने पापों का पश्चाताप करने लगा। श्रमण करुणार्द्र हो आये। लोक द्वारा परित्यक्त, निष्कासित उस एकाकी दीन-अकिंचन हो गये ब्राह्मण को सुनाई पड़ा :

'तुम्हें क्षमा किया गया, अच्छन्दक ! जब कोई तुम्हारा नहीं रहा, तो मैं तुम्हारा हूँ, वत्स। आओ मेरे पास। मुझे तुम्हारी प्रतीक्षा है।'

. . दूर से ही राजसंन्यासी वर्द्धमान की कायोत्सर्ग में लीन, निर्दोष बाल्य मुख-मुद्रा पर उसने एक अति मृदु प्यार की मुस्कान देखी। वह सम्मोहित सा खिंच आया और देवार्य के चरणों में समर्पित हो रहा।

'पापी शरणागत है, स्वामी। यह यातना असह्य है। दया कर मुझे मृत्यु दें और मुक्त करें।'

'मृत्यु है ही नहीं, तो कहाँ से दूँ। और मुक्ति तुम्हारा स्वभाव है। उसे केवल जानो, वत्स ! आत्मा हो तुम, अच्छंदक। तुम शाश्वत अस्ति हो। पाप नास्ति है : उसका अस्तित्व नहीं। वह केवल अज्ञानजन्य अभाव का अन्धकार है। देख रहा हूँ, तुम्हारे भीतर सतत प्रतिक्रमण चल रहा है। तुम अपने में लौट रहे हो। मृत्यु में मुक्ति कहाँ ? यह अनन्त अन्धकार में भटकना है। पर तुम तो प्रकाश के तट पर आ लगे हो। इधर सामने देखो। तट तुम्हारी प्रतीक्षा में है। . . '

'पा गया . . पा गया . . . तट पा गया, प्रभु ! '

'एवमस्तु . . ! '

• • •

दक्षिण वाचाला सन्निवेश से विहार करता हुआ, उत्तर वाचाला की ओर अग्रसर हूँ। यात्रापथ में देखा : एक ओर स्वर्णबालुका नदी बह रही है : तो दूसरी ओर रजतबालुका नदी। लगा कि जैसे मेरी ही दोनों बाहुएँ बहती हुई दिगन्तों तक चली गई हैं। हठात् पीछे किसी का व्याकुल पगरव सुनाई पड़ा। मैं थम गया।

'स्वामी, मैं आपका पितृमित्र वही सोमशर्मा ब्राह्मण।'

'हूँ . . ! '

'भगवन्, आपकी कृपा से प्राप्त वह देवदूष्य वस्त्र ले जा कर मैंने एक तन्तुवाय को दिखाया था। वह बोला कि यह महामूल्य वस्त्र खंडित है : श्रमण से याचना कर इसका उत्तरार्द्ध भी प्राप्त कर ला। तब इन दोनों खण्डों को जोड़ कर अखण्ड कर दूँगा। उसे बेचकर हम दोनों विपुल सम्पदा के भागी होंगे। . . कृपा करें भगवन्त, खण्ड को अखण्ड करें।'

'यहाँ के अशन-वसन मात्र सब खंडित हैं, ब्राह्मण ! अखण्ड भोग पाना है, तो स्वयं अखंड हो जा।'

'भगवन्, किन्तु लोक में सभी थोड़े बहुत सम्पन्न हैं। फिर मैं दुर्भागी ही निपट विपन्न क्यों रह गया ? '

'यहाँ सभी विपन्न हैं, कोई सम्पन्न नहीं ' सभी खंडित है, कोई अखण्ड नहीं। सभी भिखारी हैं, कोई स्वामी नहीं ! . '

'पर मुझ सा दीन विपन्न तो यहाँ कोई नहीं।' 'चरम विपन्न हुआ है, तू ! परम कृपा तुझे पूर्ण सम्पन्न किया चाहती है।'

'मुझ दीन-हीन को, जिसे एक पूरा भोजन या वसन भी नसीब नहीं ? '

'मैं तो निर्वसन हूँ, ब्राह्मण ! और मेरे भोजन का ठिकाना नहीं ! '

'भगवन्, कृपा करें ! '

'निर्वसन हो जा, ब्राह्मण, त्रिलोक के वैभव तेरा भोजन-वसन होने को तरस जायेंगे ? '

'नाथ . . ! '

. . और साष्टांग प्रणिपात में समर्पित ब्राह्मण पर दिव्य वस्त्रों की वर्षा होने लगी।

'बचाओ प्रभु, यह भार नहीं सहा जाता। ये सारे वस्त्र भी मुझे ढाँक नहीं पा रहे। मेरी नग्नता का अन्त नहीं।'

'एवमस्तु। वही तू है, ब्राह्मण !'

'यह मैं कौन हो गया, भन्ते ?'

'मद्रूप हो गया, तद्रूप हो गया !'

'देवार्य का अनुसरण करता हूँ, भन्ते !'

'अनुसरण अपना कर, मेरा नहीं।'

'भगवान् . . !'

'किसी का अनुगमन न कर। अपनी ही ओर प्रतिगमन कर।'

'कहाँ जाऊँ, स्वामी ?'

'जहाँ तेरी आत्मा तुझे ले जाये। जहाँ तेरे पैर तुझे ले जायें। सब मार्ग वहीं जाते हैं !'

'कहाँ पहुँचना होगा, स्वामिन् ?'

'गन्तव्य पर पहुँच कर, स्वयं ही जान लेगा।'

. . दूर-दूर जा रहा नग्न ब्राह्मण बिन्दु-शेष हो, ओझल हो गया। किसने किसे प्रतिबोध दिया, पता नहीं। मैं तो बोलता नहीं, उपदेश करता नहीं। स्वयं ही छद्मस्थ हूँ, अपूर्ण हूँ। पर जो अभी सुना है, उससे अपने आप में अधिक प्रबुद्ध हुआ हूँ, अधिक आलोकित हुआ हूँ। ओ अकिंचन ब्राह्मण, तेरा कृतज्ञ हूँ !

बुज्झह, बुज्झह, चण्डकौशिक

पवन की तरह अस्खलित गति से श्वेताम्बी नगरी की ओर बढ़ा चला जा रहा हूँ। इस तेज रफ्तार में भी पाता हूँ कि विशुद्ध गति मात्र हूँ, और पूर्ण संचेतन हूँ। मेरे गमन से किसी भी निकाय के जीवों की रंच भी हानि नहीं होती। अनुभव होता है कि उनके साथ आश्लेषित होता चल रहा हूँ। वे स्वयं मेरे लिए मार्ग बन जाते हैं : और मैं अपने भीतर अनवरुद्ध मार्ग की तरह खुला रहता हूँ।

एक तिराहे पर पहुँच कर मैं अटक गया। सामने दो रास्ते फटते थे, और दोनों ही श्वेताम्बी को जाते थे। जो रास्ता सरल और छोटा दीखा, उसी पर मैं चल पड़ा। ठीक तभी एक ओर से भेड़-बकरियाँ चराते आ रहे कुछ गड़रियों ने आकर मुझे घेर लिया।

'नहीं देवार्य, इस रास्ते नहीं, उस रास्ते जायें। यह रास्ता दीखने में सरल और सुगम है, पर उतना ही कुटिल है और कराल है। वह दूसरा रास्ता लम्बा है, पर निरापद है।'

विकल्प करना और अटकना मेरा स्वभाव नहीं। सो मैं उनकी अनसुनी कर, चलता ही रहा। तब वे बहुत आतंकित होकर मेरे मार्ग में लेट गये। कातर विकल हो कर अनुनय करने लगे :

'नहीं भगवन्, इस मार्ग पर हम आपको नहीं जाने देंगे। इसकी राह में तापसों का कनक-खल नामक एक उजाड़ आश्रम पड़ता है। वहाँ एक दृष्टिविष सर्प का वास है। उसके

दृष्टिपात मात्र से स्थावर-जंगम, छोटे-बड़े सारे प्राणियों का क्षण मात्र में देहपात हो जाता है। बड़े-बड़े शूरमा इस राह गये, और फिर कभी नहीं लौटे। वर्षों हो गये, मनुष्य के लिए अगम्य और वर्जित हो गया है यह प्रदेश। इसके मार्ग में प्राणी तो दूर, वायु तक संचार करने से भयभीत होता है।'

'हूँ. . !'

तब तो अवश्य इसी राह जाना होगा।

अव्याबाध होने निकला हूँ, तो राह की हर बाधा को तोड़ कर आगे बढ़ना होगा। अगम-निगम के भेद जानने चला हूँ, तो मेरे लिए अगम्य क्या हो सकता है? बचपन से ही वर्द्धमान के लिए वर्जित तो कुछ नहीं रहा। विवर्जित जिसे होना है, उसे हर वर्जना का अतिक्रमण करना होगा। देश और काल पर आरोहण करने चला हूँ, तो क्षेत्र विशेष की मर्यादा में कैसे विचर सकता हूँ? और फिर कनक-खल के आश्रम में, जो प्राणी अपनी ही भयंकरता से इतना परित्यक्त और अकेला हो गया है, उसकी पीड़ा को जाने बिना, मेरे लिए निस्तार नहीं। अन्यत्र गति नहीं। जिसके पास कोई नहीं जाना चाहता, उसके पास मेरे सिवाय कौन जायेगा। आता हूँ तेरे पास, आत्मन। तेरे ही लिए तो इस राह आना हुआ है। . .

और मैं निश्चयपूर्वक कनक-खल की ओर उँगली उठा कर, उसी राह चल पड़ा। सरल यदि कुटिल हुआ है, तो क्यों? देखना चाहता हूँ, मैं कितना सरल हूँ!

मैं उस निषिद्ध अरण्य में प्रवेश कर चुका था, और ग्वाले मेरा पीछा करने का साहस न कर सके। वे हाय-हाय करते रह गये।

'ॐ नमो अरिहन्ताणं . . !' : मेरी साँस अपनी नहीं रह गई है। झाँय-झाँय करती इस विकराल अटवी में केवल यही मंत्र-ध्वनि सुनाई पड़ रही है। कर्पूर, तमाल और तिनिश वृक्षों की सुरम्य वीथि मे पार हो रहा हूँ। सघन सुगन्धि से व्याप्त है यह दुर्भेद्यता। मेरे पद संचार से इसके बरसों के उलझे शाखा-जाल मानो हट कर राह बना देते है। अतिमुक्तक, वासंतिक और कदली के कुंजों में से क्रमशः गुजर रहा हूँ। इनके छोर के वासर कक्ष मे कौन वधू मेरी प्रतीक्षा में है?

. . हठात् पाया कि एक भयंकर वीरान में आ निकला हूँ। हरियाली जाने कब पीछे छूट गई। दूर-दूर तक फैले वृक्षों के कंकाल अंतहीन हो गये हैं। हाड़-पिजरों का एक बियाबान। भय से निपीड़ित, दबती उसाँसें और घायल सिसकियाँ सुनाई पड़ रही हैं। निर्जनता देह धारण कर, जैसे चेतना को आक्रांत कर रही है। हवा तक यहाँ से भयभीत हो कर भागी हुई है। श्वास-प्रश्वास अवरुद्ध होने लगे है। देह में रोंगटों की कटीली झाड़ियाँ उग आई हैं। लग रहा है, भयार्त होकर मेरे शरीर तक ने मेरा साथ छोड़ दिया है। नितान्त गति रह गया हूँ। एक निपट निरीह चेतना मात्र रह गया हूँ।

अनाथ, अनालम्ब, एकाकी चल रहा हूँ। स्वभाव से ही निराकुल हूँ। पर इस समय एक अन्तिम आकुलता से विगलित हूँ. . । किसी के प्रति अपना सर्वस्व दे कर शून्य हो जाना चाहता हूँ। . . ओ कोई 'अज्ञात आत्मन, तुम्हारा आदिकाल का एक मित्र तुम्हारी खोज में इस मृत्यु के महारण्य में आ निकला है। मिलोगे नहीं? तुम्हें प्यार करने को मेरा जी बहुत विकल है। जानता हूँ, तुम्हे कोई प्यार नहीं करता। यह मुझे असह्य है। इसी से जाने कितनी भवाटवियाँ पार कर

तुम्हारे द्वार पर चला आया हूँ। क्या मुझे नहीं पहचानते . . ? सामने आओ, तो पहचानोगे।

अचानक वृक्ष-कंकालों का आच्छादन हट गया। एक परित्यक्त आश्रम दिखाई पड़ा। उसके खण्डहरों में भी किसी गोपन रमणीयता का आभास है। भग्न, जनहीन दालानों, द्वारों, खिड़कियों में जाने कैसी एक जड़ीभूत उपस्थिति का बोध व्याप्त है। इस परित्यक्तता में भी एक पुरातन प्रीति का संस्पर्श है। बीच के आँगन में शून्य वेदी पर हवन-कुण्ड की अग्नि बुझे मुद्दतें हो गईं। पर देख रहा हूँ, एक नीली-हरी सिन्दूरी ज्वाला उसमें से अनाहत उठ रही है। एक हवन-शिखा, जो शताब्दियों से मेरी प्रतीक्षा में है। वह एक सर्वांग सुलक्षण पुरुषोत्तम की आहुति चाहती है। क्या मेरी आहुति इस अनाद्यन्त यज्ञशिखा को तृप्त कर सकेगी ? प्रस्तुत है वर्द्धमान। . .

देख रहा हूँ, वृक्षों में, आश्रम की दीवारों में, यहाँ के कोनों-अंतरों में, झाड़ियों में, विलुप्त प्राणियों में, जगह-जगह पड़े जीव-जन्तु, पशु-पक्षियों के मृत देहों मे, यहाँ के आकाश-वातास तक में एक दाह का त्रास निरन्तर व्याप्त है। सभी कुछ किसी निरन्तर जलन से भस्मीभूत और कलौंछा दीख रहा है। एक चिर अतृप्ति की वह्निमान जिह्वा चारों ओर लपलपाती हुई तृष्णार्त भटक रही है। . .

आश्रम के उजड़े यक्ष-मण्डप में आकर, प्रलम्बायमान भुजाओं के साथ, खड़गासन से कायोत्सर्ग मे लीन हो गया। अहंशून्य अपने आपको निवेदित पाया। . . प्रस्तुत हूँ, जो चाहे मुझे ले। . . अहो, आत्मन्, पहचान रहा हूँ मित्र, तुम्हें ! तुम्हारी याद आ रही है। . . तुम्हीं तो अब से पहले के तीसरे जन्म में गोभद्र ब्राह्मण थे। स्वभाव से अकिंचन, सरल निरीह। सर्व विद्याओं के पारगामी। पर निर्धन। तुम्हारी सुन्दरी ब्राह्मणी गर्भवती हुई। प्रसवकाल समीप पाकर उसने विनती की, कि कहीं जा कर तुम आवश्यक धनार्जन कर लाओ।'

तुम निकल पड़े धनार्जन के लिए, वाराणसी की राह पर। मार्ग में एक भव्य कान्तिमान विद्या-सिद्ध पुरुष तुम्हारा सहयात्री हुआ। विद्याबल और कात्यायनी के कवच से मंडित वह पुरुष, मंत्रोच्चार मात्र से ठीक समय पर दिव्य भोजनों के थाल प्रस्तुत कर देता। रात्रि शयन के लिए, वह सुन्दरी योगिनियों के साथ, चमत्कारिक वैभव-शृंगार से भरा विमान उपस्थित कर देता। परम लावण्यवती चन्द्रप्रभा नामा योगिनी के साथ वह शैयारमण करते हुए रात्रि व्यतीत करता। चन्द्रप्रभा की बहन चन्द्रलेखा तुम्हारे शैया-साहचर्य को एक रात तुम्हारे निकट समर्पित हुई। . . तुम्हारे अजेय ब्रह्मचर्य को देख, वह स्तंभित रह गई। वह तुम्हारे पूर्णकाम प्रेम की दासी हो गई। अपने कामरूप देश के जालंधर नगर में तुम्हें उड़ा ले गई। वहाँ अनेक विद्याओं की स्वामिनी जाने कितनी सुन्दरी योगिनियाँ तुम्हें समर्पित हुईं। अपनी विपुल सम्पदा उन्होंने तुम्हारे चरणों में डाल दी। अपने ब्रह्मचर्य के क्षुरधार तेज से तुमने उन सब के हृदय जीत लिये।

निदान, अढलक रत्न-सम्पदा लेकर एक साँझ तुम अपने नगर लौट आये। पर अपने घर को ध्वस्त खडहर पा कर तुम्हें काठ मार गया। देहरी पर तुम्हारी ब्राह्मणी की प्रतीक्षारत आँखें कहीं न दीखीं। पता चला कि विरह-पीड़ा और धनाभाव से ब्राह्मणी जाने कब परलोक सिधार गई। उस असह्य आघात से तुम्हारे अन्तरकपाट खुल गये। तुम्हारा जन्मजात विरागी चित्त पूर्ण विरागी हो गया। विक्षिप्त की तरह तुम वन-कान्तारों मे भटकने लगे। अचानक वहाँ पाँच सौ मुनिसंघ सहित

विचरते धर्मघोष नामा महाश्रमण से तुम्हारी भेंट हुई। उनसे प्रतिबोध पा कर तुम प्रव्रजित हुए। अस्खलित श्रमण-चर्या में रहते हुए तुम अपूर्व तेज और महिमा में प्रतिष्ठित हुए। .

पर हाय रे मानव हृदय, तुम्हारा उत्थान ही तुम्हारा पतन हो गया। बड़ी दुरूह, निगूढ़ और अचिन्त्य होती है, आत्मोत्थान की यात्रा। बहुत ऋजु-कुंचित और चक्रावर्ती है उसका विकास-पथ। उत्कर्ष की चूड़ा पर पहुँच कर भी कोई आत्मा कब अपकर्ष के पाताल में आ गिरेगी, सो केवली के सिवाय कौन जान सकता है। नौ ग्रैवेयक और सर्वार्थसिद्धि जैसी आत्मोन्नति की ऊर्ध्व श्रेणियों पर आरूढ़ हो कर भी कभी-कभी आत्माएँ, नारकी और तिर्यंच योनियों तक में आ पड़ती है।

सो तुम्हारे तपतेज की महिमा ने अनजाने ही तुम्हारे भीतर जाने कब अहंकार जगा दिया। तुम प्रमत्त विचरने लगे। एक दिन तुम्हारे एक क्षुल्लक शिष्य ने इंगित किया कि तुम्हारे पैरों तले कितने ही मेढकों के बच्चे कुचल कर मर गये है। दोषारोप सुन कर तुम क्रोध से उन्मत्त हो उठे। तुम दौड़ कर अपने शिष्य पर प्रहार करने गये . । बीच में खड़ी एक चट्टान से टकरा कर तुम्हारे मस्तक का मर्मप्रदेश फट गया। अति आर्तरौद्र ध्यान से मर कर, ओ पथभ्रष्ट योगी गोभद्र, तुम ज्योतिषी देवों मे उत्पन्न हुए। वहाँ देव निकाय की ऋद्धियों को भोगते हुए काल पा कर, तुम इस कनक-खल आश्रम के वासी, पाँच सौ तापसों के कुलपति की भार्या के गर्भ से जन्म लेकर, उसके कौशिक नामा पुत्र हुए। तुम्हारे पिता लोक विख्यात ऋषि थे। उनके ज्ञान, तप और तेज की कल्याण-छाया में आ कर भवारण्य मे भटकी अनेक आत्माएँ शांति-लाभ करती थी। आये दिन यहाँ अनेक दूर देशान्तरों के श्रमण, तापस और आत्मकामी जन अतिथि होते थे। यज्ञ की मंत्र-ध्वनियों और सुगन्धों से इस वनप्रदेश के वृक्ष, लता-गुल्म, पशु-पक्षी सदा प्रफुल्लित रहते थे। काल पा कर तुम्हारे पिता लोकान्तर कर गये। तुम इस आश्रम के कुलपति हुए।

तुम्हारी आत्मा सदा गहरे और ग्रंथिल अहंघात से पीड़ित रहती। तुम्हारा आहत अहं बाहर अकारण क्रोध के ज्वालामुखी-सा फुँफकारता रहता। लोग तुम्हारी छाया तक से डरते थे। मनुष्य से लगा कर, पशु-पक्षी और वनस्पतियाँ तक तुम्हारे पदाघात से आतंकित हो उठती। इसी से लोक मे तुम चडकौशिक के नाम से कुख्यात हो गये। तुम्हारी चिर आहत चेतना ने जीने के लिए आश्रम के उद्यान मे सहारा खोजा। एक अन्ध मूर्च्छा से रात-दिन तुम्हारा चित्त अपनी वाटिका में आसक्त रहने लगा। दारुण अधिकार-वासना से प्रमत्त होकर तुम इस वनखण्ड के एक-एक पत्ते तक की रखवाली करते रहते थे। इस उपवन के फूल, फल , मूल, पल्लव की ओर कोई आँख उठा कर भी देख नही सकता था। कभी कोई अनजान व्यक्ति भूले-चूके भी यहाँ का नीचे पड़ा सड़ा फल या पत्ता भी उठा लेता, तो तुम लाठी और कुल्हाड़ी ले कर उसके पीछे दौड़ पड़ते। तुम इतने शंकालु हो गये कि निर्दोष आगतुकों को भी अपने उद्यान का चोर समझ कर, उन्हे ढेले और पत्थर उठा कर मारते। . .

आखिर एक दिन ऐसा आया कि आश्रमवासी सारे तापस एक-एक कर वहाँ से चले गये। तुम नितान्त एकाकी हो गये। तुम्हारे अकेलेपन मे, तुम्हारा आत्मसंताप और भी तीव्रता से तुम्हें दहने लगा। तुम्हारे क्रोध का आखेट बनने वाला भी कोई न बचा। निरालम्ब और अनुत्तरित तुम्हारी उस कषाय की वेदना को मै इस क्षण भी अनुभव कर सकता हूँ। हाय, तुम्हारा क्रोध तक

अनाथ हो गया ! सर्व के संहारक : पर कितने बेचारे और दयनीय तुम ! स्वयं अपने ऊपर दया करने जितनी आर्द्रता से भी वंचित । अपने ही अमित्र । अपने आपको प्यार करने से भी मजबूर ।

इस बीच जाने कैसी विषम दुश्चिन्ता से पीड़ित तुम, आश्रम छोड़ कर इस वनखण्ड के दूरगामी झाड़ी-झंखाड़ों में भटकने लगे । सो कई दिनों से उपवन को अरक्षित जान कर श्वेताम्बी के कुछ राजपुत्र यहाँ आये । बन्दरों की तरह उछलकूद करते वे सारे उपवन में छा गये । चुन-चुन कर वे सारे फल खा गये । वृक्षों को कुल्हाड़ियों से काट-काट कर उन्होंने टूटी डालों, पत्तों, फूल-फलों से सारी भूमि को छा दिया ।

अचानक कुछ ग्वालों ने तुम्हें खबर दी कि, पूर्व एकदा तुम्हारे द्वारा अपमानित श्वेताम्बी के राजपुत्र, तुम्हारे उद्यान का ध्वंस कर रहे हैं, और अपने अपमान का बदला भुना रहे हैं । भीषण क्रोध से हुँकारते हुए तुम आये और एक खरधार कुल्हाड़ी लेकर उन्हें मारने दौड़े । बन्दरों की तरह कूदते-फाँदते वे सारे किशोर पलक मारते में वहाँ से पलायन कर गये । तुम्हें अपने प्रहार के लक्ष्य तक का भान नहीं रहा । तुम मूर्च्छांध होकर पागल की तरह प्रलाप करते निर्लक्ष्य, दिशाहारा दौड़ते ही चले गये । फिर अट्टहास कर तुमने अपनी कुल्हाड़ी आसमान के शून्य को फाड़ देने के लिए उछाल दी और तभी चक्कर खा कर, तुम यम के मुख जैसे एक अन्ध गह्वर में गिर पड़े । अगले ही क्षण तुम्हारी उछाली कुल्हाड़ी भन्नाती हुई तुम्हारे ही ऊपर आ कर पड़ी । तुम्हारा मस्तक फट कर दो फाँक हो गया । तुम्हारी उस मरण वेदना का साक्षी हूँ मैं, चण्डकौशिक . . !

तुम्हारी मोहरात्रि पराकाष्ठा पर पहुँची । तीव्रानुबंधी क्रोध के पुंजीभूत विष ने शरीर धारण किया । दृष्टिविष सर्प के रूप में तुम फिर इस पृथ्वी पर अवतरित हुए । इसी वनांगन की वनस्पतियों में तुम जन्मे । तुम्हारा प्राण-प्यारा उद्यान भी तुम्हे धोखा दे गया था । उस पर पूर्ण अधिकार रखने के सारे प्रयत्नों के बावजूद वह तुम्हारा न रह सका । उस पर तुम्हारे बैर का पार न रहा । उसके वंशज समस्त वनस्पति-राज्य, पशु-राज्य और अन्ततः प्राणिमात्र से उस बैर का प्रतिशोध लेने की वासना से तुम पागल हो गये । और तुम्हारा वह पुंजीभूत बैर अन्ततः अपने ही मनुज भाइयों पर केन्द्रित हुआ । श्वेताम्बी के राजपुत्रों का वंशज मनुष्य !

सो इस उजाड़ आश्रम के नैर्जन्य को तुमने अपना आवास बनाया । भूले-भटके जो पंथी इधर आ निकलता है, तुम्हारे दृष्टिपात मात्र से वह लाश होकर धराशायी होता है । सड़ती हुई लाशों से चिर दुर्गन्धित रहता है यह वनखण्ड । जाने कितने ही पशु-पक्षी, जीव-जन्तु तुम्हारे दृष्टि निक्षेप से यहाँ निरन्तर मरण पाते रहते हैं । निविड़ विष का कृष्ण-नील कोहरा यहाँ छाया हुआ है । झिल्लियों की झंकार तक से वंचित हो गया है, यह विजन कान्तार । तुम्हारे अति प्रिय सारे पेड़-पौधे तुम्हारे ही विष की फूत्कारों से जल-जल कर भस्म हो गये हैं । वायु तक का संचार यहाँ मानो शक्य नहीं । हवा, पानी वनस्पति, माटी तक यहाँ की त्रस्त, दाहग्रस्त और निर्जीव हो गई है । प्राणहीनता के इस वीराने में तुम केवल अपना आत्मदाह ले कर जी रहे हो, चण्डकौशिक ! तुम्हारी यह एकलचारी विकलता, तुम्हारा यह आत्म-संत्रास मुझ से सहा नहीं जाता । आओ मित्र, मैं तुमसे मिलने आया हूँ । हो सके तो तुम्हारे इस विष को निःशेष पी जाने आया हूँ । अपने को खाली करो मुझ में । तुम्हारे कषाय का पात्र बनने को उद्यत है वर्द्धमान . . !

और निःशब्द, विचार-शून्य हो कर मैं चरम कायोत्सर्ग में लवलीन हो गया . . । मेरी चेतना के अन्तर-चक्षु मे झलका : अपने पूर्व भवान्तरों के जाति-स्मरण से सर्पराज चण्डकौशिक वेदना से विक्षिप्त हो गया है । इसकी प्रतिशोध-ज्वाला आकाश चूमने लगी है । उसका जन्मान्तरों का आहत अहंकार सहस्रा-जिह्व होकर फूत्कारने लगा है ।

सहसा ही एक घोर आवाज की बिजली कड़की :

'अरे ओ नग्न अवधूत, इतना दु साहस, कि मेरे राज्य मे निःशंक प्रवेश कर गया तू ? और शंकु के समान स्थिर हो कर निर्भय खड़ा है, ओ ढीठ । किस मानवी माँ ने, मेरी सर्वनाशी सत्ता को ललकारने वाला, यह अपराधी पुत्र जना है . . ? आज मै तेरे नृवंश का मूलोत्पाटन करके ही चैन लूँगा . . ।'

और देखते-ही-देखते, घने विषैले नील-हरित कोहरे की लहरे तेजी से सारे वातावरण में छाने लगी । पतझारों मे होती भयंकर सरसराहट से सारा जंगल जाग उठा । विरल पक्षी पंख फड़फड़ा कर उड़ गये । अज्ञानी, असज्ञी जीव-जन्तु जहाँ-के-तहाँ भस्मीभूत हो गये । वृक्षों के सूखे स्थाणु भी चरमरा कर चीत्कार करते हुए धराशायी होने लगे ।

क्रोध से उबलते ज्वालामुखी-सा फणमण्डल विस्तारित करता, वह भुजंगम सर्पराज मेरी ओर बाढ़ की तरह बढ़ा आ रहा था । सम्मुख आकर वह अपने सहस्रों फणों को पूण उन्नत कर मेरी ओर एकाग्र दृष्टि से देखने लगा । मयूर पखों की नीली-हरियाली आभा मे वलयित उसकी हजारों ऑखे एक साथ जैसे ज्वालमालाओं का वमन करने लगी । एक घनघोर वह्नि मंडल की लपटों ने मुझे चारों ओर से छा लिया । पर सर्पराज ने देखा कि उन विकराल अग्नि-डाढ़ों के बीच भी, यह कुमार योगी निस्पन्द, अस्पृश्य और अक्षुण्ण खड़ा है । उसकी जन्मान्तरों की संचित क्रोधाग्नियाँ भी उसे जलाने मे असमर्थ, पराजित, स्तभित रह गई है ।

तब अपने समस्त प्राण को फेक कर, वह भुजगराज पर्वत शिखर पर गिरने वाली उल्का की तरह मुझ पर टूटा । पर उसकी वह प्राणोर्जा भयभीत, शरणागत पखी की तरह मेरे पैरों के पास आ गिरी । और भी चंडतर क्रोध से फुँफकार कर उसने अनिमेष सूर्य की ओर ताका । सूर्यातप से उसका विष कई गुना अधिक उत्कट हो कर मुझ पर अंगारे बरसाने लगा । उस सत्यानाश के सम्मुख मैने अपने प्राण को निर्ग्रंथ छोड़ दिया । मेरा कायोत्सर्ग पराकोटि पर पहुँच गया । नि.शेष आत्मदान के सिवाय और कोई सचेतना मुझ मे शेष नही रही । अपने उस सर्वनाशी प्रताप तले भी, इस कुमार श्रमण को फलभार-नम्र वृक्ष की तरह निवेदित और अविचल देख कर, सर्पराज ने हवा मे जोर से फन फटकारा, और मेरे पैर के अँगूठे को कस कर डस लिया . . । फिर भी मुझे अटल देख कर, वह उन्मत्त हो कर ऊपरा-ऊपरी मेरे अगांगों पर दश करता चला गया । अन्तिम दश उसने मेरे हृदयदेश पर किया । और वहाँ से फिर वह अपना सर न उठा सका । हुमक-हुमक कर वह गहरे-से-गहरे मेरे हृदय को डसता ही चला गया । मेरी पीड़ा से कसमसाती धमनियों मे माँ का वह ममतायित मुखड़ा झाँक उठा । मेरे रोये-रोये से माँ के स्तन उमड़ने लगे । मेरी शिरा-शिरा में दूध के समुद्र घहराने लगे ।

'पियो . . पियो, चडकौशिक ! कितना प्यार उमड़ रहा है, तुम्हारे फणों के इस परिरम्भण मे, तुम्हारे दशों के इन अतर्हीन चुम्बनों मे । चुकाओ अपनी चिरकाल की सचित

महावासना को मेरे भीतर । लो, मुझे लो, मुझे लेते ही चले जाओ, चण्डकौशिक । ताकि मैं समूचा तुम्हारा हो जाऊँ । मैं तुम्हारे ही लिए जन्मा हूँ । यह काया तुम्हारा अन्तिम आहार होने के लिए ही जन्मी है । कितने स्वाद और प्यार से पी रहे हो तुम मेरा रक्त । कैसी गहरी मुक्ति के सुख से तुमने मेरी नस-नस की गाँठें खोल दी हैं . . ।'

अरे बस, इतने से ही तृप्त हो गये ? . . नन्हे बालक की तरह निरीह, रुदन-कातर आँखों से मुझे ताक रहे हो । कितने कोमल, कितने मधुर, कितने निर्दोष लगते हो तुम, कौशिक !

'अरे मेरी जाँघों और वक्ष पर दिये तुम्हारे दंशों के चुम्बनों से यह कैसा उजला दूध झर रहा है ? पा गया मैं तुम्हारा प्यार । तुमने मेरे रक्त को दूध में परिणत कर दिया ? . . तुमने मुझे कृतार्थ कर दिया । कितना कृतज्ञ हूँ तुम्हारा !'

'चण्डकौशिक, मेरे वत्स, तुम कितने सौम्य, सयाने, शान्त हो गये । कैसा मार्दव उफान आया है, तुम्हारे इन मोरपंखी फनों की काली चिन्तामणि आँखों में . . ।

'इधर देखो मेरी ओर . . । कौशिक, . . बुज्झह . . बुज्झह !

'जाने कितने जन्मों से आत्मघात करते चले आ रहे हो । याद करो अपनी अहं-बंदी यातनाएँ . . नहीं, अब तुम्हें वे कभी नहीं व्यापेंगी । अब अपने को यों तिल-तिल मारोगे नहीं, सौम्य, सताओगे नहीं . . । देखो, मैं हूँ न . . फिर और क्या चाहिए तुम्हें । अपने को प्यार करो, कौशिक . . देखो मेरी ओर . . ।'

मैं नितान्त नीरव, निस्पन्द दृष्टि से यह सब केवल देख और सुन रहा था । केवल एक अकल, क्रियातीत साक्षी ।

• • •

. . हौले-हौले लोगों को अपने आप ही एक अभय भाव की प्रतीति हो गई । वे बेखटक, निरापद मुझे टोहते यक्ष-मण्डप की ओर आ निकले । सर्पराज चण्डकौशिक को उन्होंने परम शान्त भाव से श्रमण के चरणों में विश्रब्ध देखा । आनन्द और आश्चर्य से वे पुलकित और स्तब्ध हो रहे । सब के मन सर्व के प्रति करुणा और प्यार से उमड़ आये । आसपास के स्त्री-पुरुष, वृद्धजन, बालक झुंड-के-झुंड आने लगे । सहज भाव से वे सर्पराज की विशाल और निश्चिन्त पड़ी काया को हाथ फेर कर पुचकार देते । उन सब के मनों में उससे गहरी शान्ति और प्रीति का प्लावन अनुभव होता । ग्रामांगनाएँ और कुमारियाँ नित्य पूजा-थाल लिये आतीं । वे श्रमण की पूजा-वंदना करने के उपरान्त सर्प देवता की भी आरती उतारतीं । उनके तन को घी-दूध आदि से अभिषिक्त करतीं । और गीतगान करती हुई लौट जातीं ।

घी-दूध के निरन्तर अभिषेक से सर्प के तन पर चीटियों के झुंड छा गये । वे बहुत निश्चिन्त हो कर उसकी त्वचा में चटके भरती हुई, उसके रक्त का आहार करने लगीं । उसकी वेदना का पार नहीं था । पर चीटियों के हर दंश के साथ उसे अपने पुरातन वैरों का तीव्र स्मरण होता । सो वह चुपचाप पश्चात्ताप करता हुआ, चीटियों के दंशों को अत्यन्त धीर भाव से सहने लगा । उसे लगा

कि वह अपने पूर्व वैर-विद्वेषों के ऋणानुबन्ध चुका रहा है। चुका देना होगा, जनम-जनम का सारा देना-पावना।

उसकी चेतना में निरन्तर प्रतिक्रमण चल रहा है। वह हर नये दंश के साथ, मानो अधिकाधिक अपने स्वरूप में अवस्थित होता जा रहा है। उसके भीतर जागते प्रशम भाव की शीतलता को स्वयं अनुभव कर रहा हूँ। समत्व के उदय से उसकी आत्मा में अमृत का आप्लावन हो रहा है। . .

'कौशिक . . . णमो अरिहन्ताणं . . ! अप्पो भव . . अप्पो भव कौशिक !'

एक गहरा निश्चिन्त नि.श्वास। . .

उसकी साँस छूट कर कपूर की तरह सारी वनभूमि में व्याप गई। सारे पेड़ जैसे चन्दन के हो गये।

चक्रवर्तियों का चक्रवर्ती

भूख लगी है। . .

याद नहीं, कितने दिन बीत गये, आहार नहीं लिया है। आवश्यकता ही अनुभव नही होती . । आज सहसा ही क्षुधा की पुकार अनुभव कर रहा हूँ। स्वागत है। जान पड़ता है, भूख केवल अन्न के लिए नहीं। भूख केवल तन की पुकार नहीं, समूचे जीवन की एकाग्र पुकार है। समग्र समन्वित सृष्टि का अनुरोध उसके पीछे होता है। धर्म जब कर्म में प्रवाहित होता है, तो जीवन के सभी अंग अपनी परिपूर्ति चाहते हैं। देह का भी अपना एक धर्म है, वह पूरा होगा ही।

दमन से नहीं, शमन से ही देह अनुसारिणी हो सकती है। दम नहीं, शम ही परिपूर्ण जीवन की कुंजी है। दबायी हुई देह, और दबाया हुआ मन, चाहे जब द्रोह कर उठ सकता है। तब वह आत्मा को उपशम श्रेणी से भी नरक के अतल में घसीट ले जा सकता है। शत्रु नहीं, मित्र मन और तन से ही सम्पूर्ण जीवन्मुक्ति सम्भव है। विरोध से नहीं, सम्वाद से ही सर्व को जीता जा सकता है। . . शत्रु पुद्गल नही, उसके प्रति हमारा अज्ञान है, जो आत्मबोध के अभाव में हम पर हावी हो कर शुद्ध द्रव्य में भी हमें शत्रुत्व का अनुभव कराने लगता है। मुक्ति मार्ग विकासमान है। वह उत्तरोत्तर सुगम होता जायेगा, ऐसी प्रतीति होती है। मेरा तीर्थ अपूर्व होगा। उस युग के मनुष्य देह का तिरस्कार करके नहीं, उसके स्वीकारपूर्वक मुक्ति चाहेंगे। उस नूतन मुक्ति की पथ-रेखा मेरे समक्ष दिन-दिन प्रत्यक्षतर हो रही है। तन, प्राण, इन्द्रिय, मन, चेतन की सम्वावदिता ही पूर्ण जीवन्मुक्ति उपलब्ध करा सकती है, ऐसा बोध मुझ में स्पष्टतर होता जा रहा है।

भूख लगी है आज, तो जैसे कोई निर्दोष गुलाबी बालक मुझे बुलाने आया है। क्या उसे नकारूँगा ? सामने उत्तर वाचाला नगरी दीख रही है। वहाँ नागसेन गृहपति को, अतिथि के लिए द्वारापेक्षण करते देख रहा हूँ। उसका इकलौता बेटा बारह बरस पूर्व देशान्तर गया था, सो फिर

लौटा ही नहीं। कल साँझ एकाएक उसका वह खोया पुत्र घर लौट आया है। इसी से उसके घर आज समस्त ग्राम का न्यौता है। परिवार के हर्ष का पार नहीं। पर नागसेन का मन उस भिक्षु अतिथि के लिए व्याकुल है, जिसके पैरों में देश-देशान्तरों की माटी लगी है। उसकी इच्छा पूरी हो ! . .

. . नागसेन के द्वार पर भिक्षुक ने पाणि-पात्र में यत्किंचित आहार ग्रहण कर हाथ खींच लिये। दिव्य वार्जित्र ध्वनियों के साथ गृहपति के आँगन में वसुधाराएँ बरसने लगीं। मंगल प्रातिहार्यों से सारा ग्राम जगमगा उठा। . .

भिक्षुक जा चुका है। जाने कितनी माँ-बहनों की आँसू-भरी आँखें, उसकी दूर लौटती पीठ की आरती उतार रही हैं।

श्वेताम्बी नगरी की सीमा से गुजर रहा हूँ। वहाँ का राजा प्रदेशी विपुल वैभव के साथ वन्दना को आया है। क्षत्रिय को सम्मुख पा कर, क्षण भर थम गया। राजा बोला :

'वैशाली के राजवंशी श्रमण हमारा आतिथ्य स्वीकारें।'

'वर्द्धमान निर्वंश हो गया, राजन् !'

'प्रतिबोध चाहता हूँ, भन्ते !'

'अपने वैभव को सर्वजन का भोग बना दे, क्षत्रिय ! यही लोकपाल विष्णु के योग्य है।'

'. . तेन त्यक्तेन भुंजीथः।'

'प्रतिबुद्ध हुआ, देवार्य !'

मैं तो चुप ही रहता हूँ। कोई उत्तर देता नहीं। पर देखता हूँ, मौन स्वतः ही मुखर हो कर, अन्तिम शब्द कह देता है। . .



. . ग्रामानुग्राम विहार करता सुरभिपुर के समीप आया हूँ। हठात् अपने को गंगा के तट पर खड़ा पाया। महानदी गंगा। देवात्मा हिमालय की दुहिता। इसके तटवर्ती तपोवनों में वेद और उपनिषदों की मंत्रवाणी उच्चरित हुई। आर्यों का ज्ञानसूर्य इसकी लहरों पर बालक की तरह खेला। इसने अपने ऋषि-पुत्रों को चैतन्य के चूडान्तों पर आरोहण करते देखा। पर इसने अपने विश्वामित्रों और काश्यपों को वहाँ से उतर कर कामिनी के उरोजों पर आत्मार्पण करते भी देखा। काम और आत्मकाम की संधि इसके हिल्लोलित वक्षोजों पर हस्ताक्षरित हुई। पार्वती योग के सिद्धाचल से योगीश्वर शंकर को फिर एक बार अपनी गोद में लौटा लाई। आर्य द्रष्टाओं से अधिक सत्ता की अनैकान्तिनी लीला के रहस्य को किसने थाहा है?

. . और इसी गंगा के गर्भ का योनिभेद कर आदिनाथ वृषभदेव इसके उत्स को पार कर गये। स्वयं हिमाचल हो कर वे कैलाश की चूड़ा पर अविचल समाधिस्थ खड़े हो गए। और उनके चरण-युगल से अपराजेय श्रमण-धर्म की जिनेश्वरी धारा प्रवाहित हुई।

उसी महानदी गंगा के तट पर आ खड़ा हुआ हूँ। सहस्राब्दियों के इतिहासों को इसकी लहरों में उठते-मिटते देख रहा हूँ। इसकी उत्ताल तरंगों मे हिमवान के शृंगों की ऊँचाइयाँ गल-गल

कर बह रही हैं। वे इसके गर्भ की गहराइयाँ होने को विवश हो गई हैं। संसार और निर्वाण इसकी कुँवारी ओढ़नी में एकाकार झलकते दीख रहे हैं।

इसके स्निग्ध उजले बालुका तट में मेरे पैर ठहर नहीं पा रहे हैं। इसके शीतल सीकरों से तटवर्ती तरुमालाएँ धुल-धुल कर कैसी स्निग्ध और प्रांजल लग रही हैं। इसकी लहरों की लयात्मकता, उनकी पल्लव-पर्तों मे चित्रित हो गई है। . .

क्षितिज तक फैलकर इसका वक्षमण्डल इसके परम प्रियतम समुद्र का आभास दे रहा है। आवाहन है कि इस गंगा को पार करूँ। चाहूँ तो अपनी बाहुओं से इसका संतरण कर सकता हूँ। चाहूँ तो इस पर चल सकता हूँ। . . पर नहीं, नियति कुछ और ही दीख रही है। पास ही कई लोकजन आ खड़े हुए हैं। पर पार जाने के लिए वे नाव की प्रतीक्षा में हैं। इन्हें नाव देनी होगी : और अकेले नही, इन सब के साथ इसी नाव में मुझे भी गंगा पार करनी होगी।

. . तभी सिद्धदन्त नामक एक नाविक ने अपनी एक विशाल नाव तट पर लगा दी। एक ही छलांग में मैं नाव पर आरूढ़ हो गया। अनुसरण मे अन्य सारे यात्रिक भी नाव पर चढ़ आये। मृदु-मन्द फिर भी क्षिप्र गति से नाव गंगा पर खेलती-सी बहने लगी। सिद्धदन्त नाव की कोटि पर खड़ा है। उससे भी आगे नाव के अन्तिम छोर पर प्रलम्ब बाहु खड़ा हो गया है। सिद्धदन्त की हुंकारों से प्रोत्साहन पाकर नाव के दोनों ओर उसके पंक्तिबद्ध मल्लाह तेजी से डाँड़ चला रहे हैं।

. . कि सहसा ही दूर हो रहे तट पर से उल्लू का धृष्ट स्वर सुनाई पड़ा। नाव के यात्रियों में एक निमित्तज्ञानी खेम्लि भी था। उसने उच्च स्वर में टोका :

'सावधान, यह यात्रा निर्विघ्न नहीं होगी। योगिराट् वर्द्धमान रक्षा करें . .।'

नाव कुछ ही दूर आगे बढ़ी होगी, कि अचानक पूर्व दिशा में गहरे बादल घुमड़ने लगे। तेज पानी भरी आँधी बहने लगी। देखते-देखते एक प्रचण्ड तूफ़ान मे तट और दिगन्त दृष्टि से ओझल हो गये। वायु के प्रबल थपेड़ों से उछलते जल के सिवाय और कहीं कुछ भी दिखाई नहीं पड़ रहा था। घटाटोप जल की उद्दाम तरंग-लीला में नाव चारों ओर से ढँक गई।

. . देख रहा हूँ, आवर्तक सा जलाप्लावन घटित हुआ है। शुद्ध जलतत्व को उसके समस्त परिणमनों के साथ, अपने समक्ष नग्न खड़ा देख रहा हूँ। शुद्ध और नग्न जल-द्रव्य। अपने सारे रहस्यों और गहरावों का अनावरण करता वह सामने आ रहा है। पराक्रान्त है उसका नर्त्तन। उसके पदाघातों से जल-लोक के नित-नूतन द्वार खुलते जा रहे है। . . देख रहा हूँ, लोक के भीतर लोक है, और उसके भीतर अनेक लोकान्तर हैं। अन्त नहीं। . . प्रत्येक परमाणु के भीतर संख्यानुबंधी लोक-सृष्टियाँ हैं। और हर सृष्टि के उत्स में कई-कई सृष्टियाँ। जानने का अन्त नहीं। स्वयम् अनन्त हुए बिना इस अनन्त को कैसे जाना जा सकता है ? भयानक है इस साक्षात्कार की रमणीयता ! परात्पर है यह सौन्दर्य ! . .

सहसा ही तन्मयता भंग हुई। बाहर नाव मे बैठे मनुज तुमुल कोलाहल के साथ हाहाकार कर रहे हैं। आर्त्त विलाप के साथ अपने-अपने इष्ट देवों के नामोच्चार कर रहे है। खेमिल की सब से ऊँची आवाज पुकार रही है : 'त्राहिमाम् योगिराट्, त्राहिमाम् !'

पर्वत पर पर्वत, और उल्का पर उल्का की तरह उत्तुंग लहरें नाव पर टूट रही हैं। मेरी अविचलता उतनी ही अधिक बढ़ती जा रही है। नाव के छोर पर ऊर्ध्वबाहु मेरु-निश्चल खड़ा मैं

विनाश की इस लीला का मात्र द्रष्टा रह गया हूँ। अक्रिय और अभय इस आक्रान्ति को समर्पित हो गया हूँ। डाँड़ चलाते पंक्ति-बद्ध मल्लाह डाँड़ छोड़ कर नाव में गुड़ी-मुड़ी हो पड़ गये हैं। पाल फट गया है। उसका मेरुदण्ड उध्वस्त होकर जाने कब का गिर चुका है। नाव के सुदृढ़ पटिये तड़तड़ा कर फट पड़ने की धमकी दे रहे हैं। तूफान में झक-झोले खाती नाव अब डूबी, अब डूबी हो रही है। नाव में भर आये विपुल जल के तरंगाघातों में मानवों की चीत्कारें डूबती जा रही हैं। अकेला सिद्धदन्त मेरे कोणस्थ पगों पर कस कर लिपटा हुआ है। . . और मुझ पर चारों ओर से विकराल जलचर आक्रमण कर रहे हैं।

सर्वनाश के इस सीमान्त पर, सहसा ही बाहरी सृष्टि मेरी आँखों के सामने से ओझल हो गई। वस्तु-जगत विलुप्त हो गया। निर्विषय ध्यान की गहन तल्लीनता में, मेरी चेतना अन्तर्मग्न, उन्मग्न हो गई। अपने सिवा और कुछ देखने की इच्छा नहीं रह गई है। अपने सिवाय और कुछ देखना सम्भव ही नहीं रह गया है। . कि देखता हूँ, सब कुछ आपोआप दिखाई दे रहा है। जल-तत्व ने समर्पित हो कर अपने तहों में पड़ी सृष्टियों के तुमुल संघर्ष सम्मुख प्रत्यक्ष कर दिये हैं।

हठात् जल की अन्तिम तह में से एक वातायन खुल पड़ा। . . ओह, नाग कुमार जाति के जल-देवों का लोक ! उसमें से दण्डायमान हो कर एक भीषण दानवाकार जलाकृति मुझे चहुँ ओर से आवेष्ठित करती दिखाई पड़ी। पानिल गहराव मे से एक उद्दण्ड आवाज की गर्जना हुई :

'ओरे ओ उद्धत, तेरी यह मजाल, जो तूने मेरे इस एकराट् जल-साम्राज्य में प्रवेश करने का दुःसाहस किया है ? . . '

'हूँ ! . . '

'हूँ . . ? ढीठ कहीं का ! जानता है तू कौन है, और मै कौन हूँ ? तू मेरा जनम-जनम का बैरी है। याद कर . . याद कर अपना वह पूर्व जन्म। जब तू अपने त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में, त्रिखंड साम्राज्य के मद से चूर था। तब मैं अपने जंगल राज्य का एकाधिपति सिंह था। तू आखेट पर निकला था। अपने क्रीड़ा-कौतूहल को तृप्त करने के लिए तूने मेरे वनराज्य की शांति भंग की थी। मैं अपनी एकान्त गुफा में सुखासीन लेटा था। और तूने वहाँ आ कर खेल-खेल में मेरा वध कर दिया था। जनम-जनम से उस वैर की अग्नि में भस्म होता हुआ, मैं तेरी खोज में कई योनियों में भटकता रहा . . । आज आया है तू मेरे पंजे में। आज तेरी हड्डी-हड्डी को बेध कर, मैं अपने वैर का प्रतिशोध करूँगा।'

'हूँ . . ।'

'हूँ . . ? ओ धृष्ट, ओ मेरे आदिम हत्यारे। बोलता क्यों नहीं है रे !'

'जानता है, मैं कौन हूँ ?'

'जललोक के अधीश्वर सुदंष्ट्र नागकुमार को पहचान रहा हूँ।'

'और जानते हुए भी फिर एक बार तू मेरी आत्मा की शांति भंग करने आया है ? निर्लज्ज, हत्यारे !'

'भंग करने नहीं, लौटाने आया हूँ तुम्हारी शान्ति। तुम्हारे वैर का ऋण चुकाने आया हूँ, बन्धु !'

'अपराधी हो कर बड़बोली करता है रे, कृतान्त ! '

'बुज्झह, बुज्झह, नागकुमार ।'

'साधु के छद्मवेश में तू फिर मुझे छलने आया है ! मेरे मान पर चोट करने आया है, दुरात्मा ! '

'तो परीक्षा कर देखो, सौम्य ! सम्मुख हूँ ।'

और भीषण गर्जना से पातालों को थर्राती हुई वह दानवाकृति मुझ पर टूट पड़ी । अपनी फूत्कारों से प्रकाण्ड मगरमच्छ और अजगरों की राशियाँ फेकता वह मेरी अँतड़ियों में धँसने लगा ।

'सुदंष्ट्र, आओ मेरे भीतर । मेरी बोटी-बोटी को छेद कर अपनी वैराग्नि को तृप्त करो, मित्र ! '

वह रुद्र से रुद्रतर होता हुआ मेरे अस्थि बन्धों को बींधने के लिए छटपटाने लगा । मै निश्चल से निश्चलतर होता हुआ, उसके आत्म प्रदेशों मे जलधारा-सा चुपचाप सरसराने लगा । वह बार-बार हार कर, अधिक प्रचड वेग से मुझ पर अपने को पछाड़ने लगा । मानो समस्त जललोक मेरे भीतर धँसने को अकुला रहा है । .

तभी उस जलिमा के सघन अन्धकार मे से दो सुन्दर युवा नागकुमार उदय हो कर, मेरी ओर आते दिखाइ पड़े । उनके चेहरों पर जल का परम शात मित्रावरुण रूप झलक रहा था ।

पहचान रहा हूँ तुम्हे, सौम्य देवाशियो ! शबल और कबल । एकदा पूर्व तुम सम्यक्त्व वत्सल जिनदास श्रावक और उसकी सहधर्मिणी साधुदासी के प्रिय पालित वृषभ थे । व्रती श्रावक-दम्पति अपना ही प्रासुक मधुर भोजन तुम्हे भी देते थे । उनकी धर्मवाणी मे तन्मय हो कर तुम प्रबोधित होते थ । उनके उपासी होने पर तुम भी भोजन त्याग देते थे । एकदा उनका कोई निकट मित्र, उनकी अनुमति बिना, भडीवरण के यात्रा मेले मे होने वाली रथों की दौड प्रतियोगिता मे तुम्हे जोत गया । चाबुक मार-मार कर उसने तुम्हारी सुकुमार धर्म लालित त्वचा को लहूलुहान कर दिया । प्रतियोगिता मे विजयी हो कर वह प्रसन्न हो गया । सो बिना तुम्हारे घावों की परवाह किये फिर चुपचाप आकर तुम्हे ठान मे बॉध गया । श्रावक-दम्पति ने तुम्हें भोजन देने और तुम्हारी चिकित्सा करने को बहुत निहोरे किये । पर तुमने मुँह फेर लिया । अन्न-जल त्याग कर सल्लेखना के व्रती हो गये । श्रावक तुम्हे अविराम णमोकार मत्र सुनाता रहा । और तुम उन्मग्न ऑसू भरी आँखों से अपने उन श्रावक माता-पिता को निहारते देहान्त को प्राप्त हो गये ! जललोक की इस उत्तम देवगति मे जन्म ले कर तुम मुझसे क्या चाहते हो, वत्सो ?'

'प्रभु की सेवा से कृतार्थ होना चाहते है ! '

कहते ही वे दोनों ही सुकुमार कमलाकृति नागकुमार मुझ से गुँथ रहे सुदंष्ट्र के विकराल जबडे मे कूद गये । सुदष्ट्र की सांसे घुटने लगी । और कबल-शबल उसकी प्रचण्ड देह के पोर-पोर मे घुस कर उसे अतरिक्ष मे चक्राकार उछालने लगे और सुदंष्ट्र सौ-सौ गुनी अधिक शक्ति से प्रमत्त और विघातक हो कर उन फूल-से बालकों को कुचलने लगा । सुर और असुर शक्ति के संघर्ष को मैने उसकी तात्विक नग्नता मे विस्फोटित देखा । मैने अन्धकार की आदि पुरातन गुफाओं का भजन करते प्रकाश के तीरों को देखा ।

'शांतम् पापं . . शांतम् पापं . आत्मन्, शम शम . . शम । सुदष्ट्र मै तुम्हारा

हूँ।. . कंबल-शंबल मैं तुम्हारा हूँ। सोऽहम्, सोऽहम्, सोऽहम् . . '

•और मेरी नासाग्र पर स्थिर दृष्टि में झलका : मेरी छाती पर दो सुन्दर कमलों के बीच सुदंष्ट्र शिशु के समान निश्चिंत निर्विकार, शान्त भाव से सो गया है।

कायोत्सर्ग के शिखर से अवरूढ़ हो कर जब मैंने आँखें खोलीं, तो नाव पर पार के घाट पर आ लगी थी। तट की बालुका के श्वेताभ प्रसार में पद्मासन से आसीन था। और सारे यात्री त्राण और सुरक्षा की गहरी निःश्वास छोड़ते हुए मेरे जानु-सम्पुट पर माथे डाले हुए हैं।. . एक सफेद कपोत और कपोती कहीं से आकर मेरे कंधों पर आँख-मिचौनी खेल रहे हैं।. .

• • •

देख रहा हूँ . .

सुरभिपुर का सामुद्रिक-शास्त्री पुष्पदन्त गंगा के तट पर से गुजर रहा है। वह यहाँ क्या खोज रहा है, सो उसे भी ठीक-ठीक पता नहीं है। इतनी ही संचेतना उसमें है कि उसे अपनी विद्या आज आश्वस्त नहीं कर पा रही है, और वह जाने किस अलक्ष्य वस्तु को टोहता, निष्कारण यहाँ भटक रहा है।

सहसा उस उज्ज्वल, अति सूक्ष्म, स्निग्ध बालुका प्रान्तर में उसे किसी के पद-चिह्नों की पंक्ति अंकित दिखाई पड़ी। ओह, ये चरण-छापें तो पद्म, चक्र, अंकुश, कलश, प्रासाद आदि चिह्नों से लांछित हैं . .।

. . शास्त्र में जिनके विषय में केवल पढ़ा था, उन्हें आज प्रत्यक्ष देख लिया। निश्चय ही कोई षट् खण्ड पृथ्वी का अधीश्वर चक्रवर्ती इस मार्ग से गया है। मन-ही-मन उसने सोचा : क्यों न इस पद-पंक्ति का अनुसरण करूँ। कहीं-न-कहीं वह देवानुप्रिय अवश्य मिल जायेगा। उसकी सेवा करूँगा, तो मेरी सारी मनोकामनाएँ पूर्ण हो जायेंगी।. . और वह उन चरण-चिह्नों की राह चल पड़ा।

. . थूणाग सन्निवेश के चैत्य-उपवन में एक अशोक वृक्षतले ध्यानारूढ़ बैठा हूँ। सहसा ही पुष्पदन्त सामने खड़ा दिखाई पड़ा। विस्मय से वह दिङ् मूढ़ हो गया है। सोच रहा है : 'निश्चय ही, यही वह पुरुषोत्तम है। . . इसका वक्षस्थल श्रीवत्स चिन्ह से लांछित है। इसका नाभि-मण्डल दक्षिणावर्त के कारण गंभीर है। इसके अंग-अंग सूर्यमणि माणिक्य की कोमल रक्ताभा से दमक रहे हैं। महर्द्धिक चिह्न केवल इसके चरण-तलों में ही नहीं हैं; इसके शरीर का प्रत्येक अवयव अपने विशिष्ट लांछनों से दीपित है। पर विचित्र है यह व्यक्ति। ऐसे प्रशस्त्र लक्षणों से मंडित है, फिर भी निपट सर्वहारा और अकिंचन है। इसके तन पर तो एक जीर्ण वस्त्र का लत्ता भी नहीं। एक काष्ठ का कमंडलु और मयूर-पिच्छिका, यही इसकी एक मात्र सम्पदा है। किसी पांशुकुलिक से भी यह गया-बीता है। रूखे-सूखे भिक्षान्न पर निर्वाह करता जान पड़ता है। द्वार-द्वार का भिक्षुक। दीन-हीन, कंगाल, याचक . .

'. . तो क्या समस्त भरत-क्षेत्र की राज्य-लक्ष्मी के सूचक, सामुद्रिक-शास्त्र के वचन मिथ्या हो गये ? दीर्घकाल तक कष्ट उठा कर, देश-देश भटक कर, मैंने इस विद्या का गहरा मंथन

किया है। पूर्वापर दोष से रहित, अव्यभिचारी माना जाता है यह सामुद्रिक विज्ञान। हाय, वह भी आज झूठा सिद्ध हो गया। मेरे जीने का आधार ही समाप्त हो गया। क्यों न उसी गंगा में जा कर डूब मरूँ, जिसके बालुका तट ने मुझे यों प्रवंचित किया है। हाय रे हाय, भाग्य की विडंबना। मेरे सारे शास्त्र-ज्ञान के छोर पर मुझे खड़ा मिला है यह निर्वस्त्र भिक्षुक। किस पर यहाँ भरोसा किया जाये, किसका यहाँ सहारा लिया जाये। सारे अवलम्बन झूठे पड़ गये। झूठे हैं सारे शास्त्र, सारे ज्ञान-विज्ञान, सारी लक्षण-विद्याएँ। कितनी सारी मृगमरीचिकाएँ। कहाँ है वह चक्रवर्ती, जिसकी महिमा के गान से लक्षण-शास्त्र भरे पड़े हैं . . । या तो उसे पा लेना होगा, या मुझे अपने इस कंगाल जीवन का अन्त कर देना होगा।'

. . अन्तरिक्ष में से ध्वनित हुआ : 'बुज्झह . . बुज्झह . . बुज्झह । यही है . . यही है . . यही है वह चक्रवर्ती, पुष्पदन्त ! पर केवल भरत-क्षेत्र की षट् खण्ड पृथ्वी का नहीं। यह लोकालोक की समस्त सत्ताओं का एकराट् स्वामी है। यह चक्रवर्तियों का चक्रवर्ती है। . . आगामी युगतीर्थ का प्रवर्त्तक, तीर्थंकर महावीर। तेरे शास्त्रों मे भी जो नहीं लिखे, ऐसे बत्तीस हजार लक्षणों से दीपित है, इस पुरुषोत्तम की काया। . .

'निपट अकिंचन एक मात्र यही, निखिल सम्पदाओं का अखण्ड भोक्ता और प्रभु है ! . . सच ही अनुभव किया तूने, तेरे सारे शास्त्र, विज्ञान, सम्पदाएँ, सहारे, जहाँ समाप्त हो गये, वही इसे देखा और पाया जा सकता है। जान, जान, जान पुष्पदंत, यही है वह, जिसे तू चिरदिन से खोज रहा है। यही है वह, जिसे सारी विद्याएँ, आदिकाल से थाहने मे लगी है। . . बुज्झह . . बुज्झह . . बुज्झह पुष्पदन्त।'

अपने भ्रूमध्य में स्थित तृतीय नेत्र तले, मेरे ओठों पर अस्फुट स्मित खिल आयी। . .

पुष्पदन्त की ऑखों से ऑसू झर रहे है। और अपने भीने कपाल और कपोल को मेरे एक पगतल से जुड़ाये वह गहरी सॉसे ले रहा है। शायद इस आकांक्षा से कि उसका ललाट इस निष्किचन चक्रवर्ती के चरण-चिह्नों से सदा को लाछित हो जाये .।

अवसर्पिणी का विदूषक : मंखलि गोशालक

मगध के ऑगन मे आ खड़ा हुआ हूँ। पंच शैलों ने गर्दन उठाकर कौतूहल से मुझे देखा। उनसे परे, विपुलाचल उन्नत मस्तक खड़ा है : वीतराग। उसके पादप्रान्त में बिम्बिसार श्रेणिक का साम्राज्य-स्वप्न करवटे बदल रहा है। दूर पर राजगृही के अभ्रंकश गुम्बदों और भवनों के गर्वीले माथे झुक गये है।

उनसे पीठ फेरकर गॉवों की ओर चल पड़ा हूँ। राह में नालन्द-पाड़ा गाँव के बाहर, किसी तन्तुवाय-शाला का विशाल छप्पर दिखाई पड़ा। भीतर प्रवेश कर गया। सैकड़ों जुलाहों के पंक्तिबद्ध हाथ बुनाई के सॉचों पर तेजी से चल रहे है। कम्मकर बुनकर। . . याद आ गई बरसों पुरानी उस दिन की बात। पिप्पली-कानन के मेले से चुपचाप निकलकर, इन कृषकों और कम्मकरों की बस्तियों में

चला गया था। वहाँ से फिर मेरा हृदय लौटकर कभी नन्द्यावर्त के राजभवन में नहीं आया। केवल यही श्रमिक तो वे लोग हैं, जो सच्ची और जीवित रोटी खाते हैं। गर्म खून से सीधे उठी ताजा रोटी। उसके बाद महलों में बसते अभिजातों का भोजन बासा और मृत लगा था। महासत्ता से चुराया हुआ मोहन-भोग। . . फिर तो भोजन की ओर से मेरा मन ही विरक्त हो गया। . .

अविराम श्रम करते, ये जीवन के शिल्पी श्रमिक। धर्म जिनमें सहज ही कर्म हो गया है। ये जन्मजात अपरिग्रही हैं। अपरिग्रह का व्रत लेने का दम्भ इन्हें नहीं करना पड़ता। क्योंकि परिग्रह ही इन्हें अनजाना है। इनके बाद केवल अनगार श्रमण ही सच्चा अपरिग्रही होता है। प्रकृत धर्म की रेखा सीधे श्रमिक से श्रमण की ओर गई है।

तन्तुवाय-शाला के जेठ्ठक ने आकर श्रमण का विनयाचार किया। फिर सामने की ओर खड़ी श्रमण-वसतिका की ओर इंगित कर वह मुझे उस ओर ले गया। दालान के एक कोने में बिछे तख्त का मयूर-पींछी से शोधन कर, मैं उस पर आसीन हो गया। जेठ्ठक मेरी आवश्यकताएँ पूछता रहा। सो तो कुछ थीं ही नहीं। मैं चुप रहा। जेठ्ठक माथा नवाँ कर चला गया। . .

अगले दिन बड़ी भोर तन्तुवाय-शाला के एक कोने में जाकर ध्यानस्थ हो गया। करघों की खड़खड़ाहट में चेतना एकतान होकर अनहद नाद से संयुक्त हो गई। एक अद्भुत् सम्वाद की ध्यानानुभूति हुई। कर्म में अकर्म : और अकर्म में कर्म। सहसा ही सुनाई पड़ा :

'मगधनाथ श्रेणिक प्रणाम करता है, भगवन्।'

फिर एक कोमल कण्ठ स्वर सुनाई पड़ा :

'वैदेही चेलना प्रणाम करती है, भन्ते !'

समरस श्रमण की स्थिर नासाग्र दृष्टि में, राजमुकुटों के रत्न पिघलकर एक श्वेत धारा में बुलबुलों-से विसर्जित हो गये।

'मगध के साम्राजी श्रमणगार का आतिथ्य स्वीकारें, भगवन्।'

उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला। श्रमण ने दायाँ हाथ उठा कर, करघों पर तेजी से घूम रहे, सहस्त्रों पंक्तिबद्ध हाथों की ओर उँगली उठा दी।

. . देख श्रेणिक, पृथ्वी का आगामी साम्राज्य बुना जा रहा है।

महारानी चेलना ने निवेदन किया :

'देवानुप्रिय, हमारी सेवा स्वीकारें। मगध के महालय को अपनी पदरज से पावन करें।'

चुप रह कर, श्रमण फिर प्रतिमायोग में निश्चल हो गया।

• • •

एक तीसरे पहर वनचर्या से लौट कर देखा : श्रमण-शाला के एक कोने में कोई थका-माँदा युवक आकर ठहर गया है। उसके तेजस्वी चेहरे पर भोलापन है। दिङ्मूढ़- सा लगता है। निपट अकिंचन, पांशुकुलिन जान पड़ता है। उसके इकहरे गोरे सुन्दर शरीर पर, केवल जर्जर-सा अन्तर्वासक, और उपरना पड़ा है। घनेघुँघराले अवहेलित बाल धूल में सने हैं।

'भन्ते आर्य, मैं मंखलि-पुत्र गोशालक प्रणाम करता हूँ।'

मैंने निगाह उठाकर ऊपर से नीचे तक उसे हेरा।

'भिक्षुक वंश में ही मेरा जन्म हुआ है, भन्ते। जन्मजात अनगार हूँ। प्रवास की एक गोशाला में अचानक मेरी माँ ने मुझे प्रसव किया था, सो गोशालक कहलाता हूँ। . .'

श्रमण चुप रहा।

'पिता मंखलि चितेरे हैं। भद्र लोगों के चित्रपट बनाकर पेट पालते हैं। मेरी भी यही आजीविका है।'

चुप . .

'देवार्य जैसा सुन्दर पुरुष तो आज तक मैंने देखा नहीं। आज्ञा हो तो आपका चित्र आँकूँ भन्ते . . !'

श्रमण मौन, दूर की पहाड़ी ताकता रहा।

'कृपा करें भन्ते, ऐसे ही किसी निर्ग्रंथ गुरु की खोज में जाने कब से भटक रहा हूँ।

'हूँ . . !'

'चित्रांकन में अब मन नहीं लगता। भद्र लोगों के भोंथरे चेहरे कब तक आँकूँ? सो निकम्मा समझकर पिता ने निकाल दिया है। दर-दर मारा-मारा फिर रहा हूँ। कहाँ जाना है, पता नहीं। किस खोज में हूँ, नहीं मालूम। भिक्षा भी नहीं मिलती। कई दिन उपासे निकल जाते हैं। लोग मुझे कंगाल भिखारी समझकर ताड़ देते हैं। मैं कहता हूँ, मैं श्रमण हूँ। वे उपहास करते हैं। बच्चों को मेरे पीछे छू लगा देते हैं। उद्धत बच्चे मुझ पर धूल फेंकते हैं, मुझे मार-पीटकर भगा देते हैं। ये लोग मुझे समझते ही नहीं। कहाँ जाऊँ, क्या करूँ, भन्ते, राह दिखाएँ!'

मैं अपलक मौन उसे ताकता रहा।

'भन्ते, क्षमा करें, इस संसार में सब ओर मुझे मायाचार ही दीखा। सब झूठ। कोई किसी का नहीं। सब स्वारथ के सगे। राजा देखे, श्रेष्ठि देखे, श्रावक देखे, श्रमण भी बहुत देखे। सब पाखंडी। हैं कुछ और, दिखाते कुछ और हैं। पर मै तो निरा मूर्ख हूँ, भन्ते। चतुराई आती नहीं। जो मन में आता है, वही बक देता हूँ। सच्ची बात कहने से डरता नहीं। इसी से सब मुझ से चिढ़ते हैं। धक्का देकर हँकाल बाहर करते हैं। उनकी पोल खोल देता हूँ न! क्या करूँ, स्वभाव से लाचार हूँ, भन्ते।'

'हूँ . . !'

'आप महानुभाव हैं, देवार्य। मेरी बक-झक सब सुन रहे हैं। इतने धीरज से किसी ने मुझे नहीं सुना। बहुत अनुगृहीत हुआ आपको पा कर। . .'

अकारण वात्सल्य मेरी आँखों में झलक आया। मैं उस मलिनवेशी दीन युवा के प्रति दयार्द्र हो आया। निरा सरल, चिर अनाथ बालक है यह।

'भगवन्, अपने ऊपर मुझे बहुत खीझ और क्रोध आता है। आत्मग्लानि से मेरा मन सदा क्षुब्ध और कातर रहता है। कितना टूटा-फूटा, घृणित, बेकार हूँ मै। लगता है कि बहुत अधूरा और अटपटा हूँ। यहाँ सब अधूरे और अटपटे हैं। पर कपट कौशल से अपने छिद्र छुपाते हैं। मुझे कपट-कूट आता नहीं। करना चाहता हूँ, पर कर नहीं पाता। सफल नहीं होता। सो उलटी मार पड़ जाती है।'

'हूँ . . !'

'सुनें भन्ते, इस अधूरेपन से मैं बहुत ऊब गया हूँ। पूर्ण हुए बिना, मुझे पल भर चैन नहीं। और भन्ते, संसार में स्वार्थ, भंगुरता, मृत्यु देख कर बहुत-बहुत व्यथा होती है। क्या इनसे निस्तार का कोई अचूक उपाय नहीं ? . . इस संत्रास में अब जिया नहीं जाता, भन्ते। क्या पूर्णता और मुक्ति जैसी कोई चीज सम्भव है, भन्ते ?'

मेरी आँखें पूरी विस्फारित हो कर उसकी आर्त करुण मुख-मुद्रा पर छा गयीं। वह उनमें खोया, कुछ आश्वस्तता अनुभव करने लगा।

भन्ते, औद्धत्य क्षमा करें। ये जो अजित केश-कंबली आदि कई श्रमण मोक्षमार्ग का प्रवचन करते घूम रहे हैं न, ये सब दुष्ट और पाखण्डी हैं। इनके दिल में दया नहीं। हाथी के दाँत दिखाने के और, खाने के और। बारीक तत्व-चर्चा और धर्मोपदेश करते हैं। पर इनका प्रवचन अलग, जीवन अलग। जीवन में साधारण संसारी से भी ये गये बीते हैं, भ्रष्टाचारी हैं। . . मुक्ति मार्ग ये क्या जानें। मैं तो डरता नहीं किसी से। अक्खड़ हूँ न। इनके मुँह पर इनकी बखिये उधेड़ देता हूँ। सो मुझे दुत्कार देते हैं। अपने शिष्यों से पिटवा कर मुझे भगा देते हैं।'

'हूँ . .!'

मुझे निरुत्तर देख कर, गोशालक का छोटा-सा बालक मन क्षुब्ध हो आया। वह झल्ला कर अपने कोने में जा बैठा। सोचने लगा : 'मैंने तो इसे महानुभाव समझा था, पर यह श्रमण भी निरा पत्थर जान पड़ता है। उत्तर तक नहीं देता। बस, हूँ-हूँ करता रहता है। . . निर्मम, निर्दय। पर देखने में कितना भव्य, सुन्दर और वीतराग है। लगता तो दया की मूर्ति है। . . फिर मेरे प्रति ऐसा क्रूर क्यों है ? कुछ समझ नहीं आता। जान पड़ता है, जगत में सत्य है ही नहीं। सब झूठ और पाखण्ड ही है। सब निःसार, निरर्थक, माया। . . या फिर मैं ही बहुत दुर्गुणी, अपात्र, अभागा हूँ। कोई मुझे प्यार नहीं करता . . कोई मुझे नहीं चाहता। क्या करूँ, कहाँ जाऊँ ? क्या आत्महत्या कर लूँ ? . .' और वह चुपचाप रोता सुबकता दीखा। औंधे हाथों से अपने आँसू पोंछता दीखा। मतिभ्रमित और किंकर्तव्यविमूढ़ सा होकर अपने झोले में भरी चित्र-सामग्री और निरर्थक वस्तुओं को उलटने-पलटने लगा। . .

उसके मन की सारी गति-विधियों को हथेली की रेखाओं-सा स्पष्ट देख रहा हूँ। दीन-दरिद्र है यह, वृत्ति से क्षुद्र है। कोधी, मानी, लोभी, द्वेषी भी है। हर समय प्रतिक्रियाओं से जलता-कुढ़ता रहता है। मैला-कुचैला है। जड़ और अकर्मण्य भी है। पर इसके कषाय पानी की लकीर-से क्षणिक हैं। बालक की तरह, क्षणिकं रुष्टं, क्षणिकं तुष्टं है। किसी भी कषाय की ग्रंथि इसमें बँध नहीं पाती। निपट पानी है। काले के साथ काला, धौले के साथ धौला। संसारी अस्तित्व का जीता-जागता, चलता-फिरता व्यंगचित्र है। यह जगत इसे रास नहीं आया। सो कोई दुनियावी चेहरा अपना यह बना नहीं पाया। अपने किसी विलक्षण चेहरे की खोज में है। भीतर-बाहर एक है। कोई कपट-कूट, मायाचार इसमें नहीं। इस दुनिया का यह नहीं। यहाँ इसकी कोई हस्ती नहीं। अस्मिता नहीं। जानने को आकुल है कि 'कौन हूँ मैं ?' आत्मा है यह · सहज ही जिज्ञासु, मुमुक्षु। स्वतंत्र।

• • •

. . चौमासा बैठ गया है। वर्षायोग नालन्दा में ही निर्गमन हो रहा है। मगध के सम्राट-सम्राज्ञी प्रायः आ कर अनुरोध कर जाते हैं, कि श्रमण उनके भोजन को प्रसाद करें। सो क्या वह मेरे हाथ है ? चुप रहता हूँ। सुनता हूँ, महारानी चेलना नित्य राजद्वार पर द्वारापेक्षण करती हैं। पर भिक्षुक कभी उस राह नहीं आया।

मास-क्षपण हो गया : एक मास निराहार ही बीत गया। पारण राजगृह के विजय श्रेष्ठि के यहाँ हुआ। सर्वस्व-त्यागी श्रावक है वह। अर्जन कर संचय नहीं करता। कोटि सुवर्ण-द्रव्य निर्धनों को हर दिन दान कर देता है। उदन्त फैला है, श्रमण ने उसके घर आहार लिया, तो उसके आँगन में रत्न-वृष्टि हुई। आश्चर्य प्रकट हुए। मुझे तो कुछ पता नहीं।

उदन्त सुनकर गोशालक विस्मित है। सोच रहा है—प्रतापी है यह निगंठ। जिसकी भिक्षा यह ग्रहण कर ले, उसी का द्वार सुवर्ण से भर उठता है। यह सुने या न सुने, मैं तो इसका शिष्य हो रहूँगा। इसके प्रसाद से अन्न-भोजन तो पा ही जाऊँगा।

. . सो आ कर वह मेरे निकट प्रणत हुआ और बोला :

'अनुगत हूँ, भन्ते। आपका शिष्य हूँ। दीन जन को अपना सेवक स्वीकारें। आपका क्या प्रिय करूँ, भन्ते ?'

मैं सामायिक में तल्लीन था। उसे कोई उत्तर न मिला। पर देखता हूँ अब वह हर समय मेरा अनुसरण करता रहता है। ताक में रहता है, कि उसे कोई सेवा बताऊँ, तो वह धन्य हो जाये। पर मुझे तो कोई सेवा दरकार नहीं। यह शरीर स्वयं ही अपनी सेवा कर लेता है। पराश्रय मेरा स्वभाव नहीं। किन्तु गोशालक मेरे आसपास मँडलाता रहता है। चुपचाप हर समय मुझे निहारता रहता है। कहीं से भी रूखा-सूखा पा कर जीवन-यापन करता है। अपने में रहता ही नहीं। अहर्निश उसका जी मुझी में लगा रहता है। चाहे जब आ कर कहता है :

'शरणागत हूँ, भन्ते। मेरे एकमेव आश्रय हो। संसार में मेरा कोई नहीं। . . मैं किसी का नहीं . .।'

मैं उसके भोले चेहरे को एक निगाह देख, चुप ही रहता हूँ।

एक और मास-क्षपण का पारणा आनन्द लोहार के यहाँ हुआ। फिर एक मास निराहार बीत गया, तो सुनन्द जुलाहे के कुटीर द्वारे भिक्षुक प्रतिलाभित हुआ। गोशालक आकर बोला :

'भन्ते, लोग कहते हैं, सुनन्द जुलाहे ने प्रभु को सर्वकामगुण आहार से तृप्त किया। . . उत्कृष्ट रसवती तो समझ सकता हूँ, भन्ते, पर आहार में सर्वकामगुण कहाँ से आ गये ?'

मैं उसकी बाल्य-जिज्ञासा पर मुस्कुरा आया। वह बहुत गद्गद हो गया। न समझ कर भी, मानो मरम गुन लिया हो उसने।

गोशालक सोचता रहता, निःसन्देह यह स्वामी महा प्रतापी है। जान पड़ता है,परम ज्ञानी है। . . देखूँ तो, कितना ज्ञानी है ? सो कार्तिक पूर्णिमा के सबेरे मेरे निकट आकर उसने पूछा :

'देवार्य, आज नालन्द के गृहस्थ वार्षिक उत्सव मना रहे हैं। सबके यहाँ भारी अन्न-मधुरान्न का पाक हो रहा है। तो मुझे आज भिक्षा में क्या मिलेगा, भन्ते ?'

मैं एकटक चुप उसे देखता रहा। उसे जाने कहाँ से उत्तर सुनाई पड़ा :

'रे भद्र, खट्टा हो गया कोद्रव, और कूर धान्य पायेगा तू। और दक्षिणा में एक खोटा रुपया।•'

. . उत्तम भोजन की प्राप्ति के लिये लालायित गोशालक, सबेरे से साँझ तक द्वार-द्वार भटकता फिरा। पर उसे कहीं से कुछ मिला नहीं। तब सायंकाल होने पर एक सेवक राह में उस पर दया कर उसे अपने घर ले गया। उसके फैले हाथों में आ कर पड़े सचमुच ही खट्टे कोद्रव और कूरान्न। भूख की व्याकुलता वश वह उन्हें भी खा गया। . . और दक्षिणा में एक चमकता रुपया भी पाया उसने। पण्य में परीक्षा कराई तो पता चला कि सिक्का खोटा है। हाय रे भाग्य ! सच ही मेरे गुरु ज्ञानी हैं। होनी टल नहीं सकती। नियति जैसी कोई चीज अवश्य है। आकर मुझसे बोला :

'भन्ते, सर्वज्ञानी हैं आप। भावी की रेखा अटल होती है। नियतिवाद ही सत्य है।'

'निश्चय, अज्ञानी नियतिबद्ध है। पर ज्ञानी स्वयं अपना नियन्ता है। जो स्वभाव में है, अपना भावी वह आप है।'

गोशालक चौंका। मुझे मौन देख, अचंभित हो रहा। स्वामी तो चुप हैं, फिर उत्तर किसने दिया? . . असमंजस में खोया वह अपनी राह चला गया।

• • •

वर्षायोग समाप्त होने पर नालंदा से विहार कर गया। चलते समय देखा, गोशालक का कोना सूना पड़ा है। उसकी झोली भी वहाँ नहीं है। कहीं भटकता होगा।

फिर कोल्लाग सन्निवेश में आ निकला हूँ। यहाँ के बहुल ब्राह्मण का भाव उज्ज्वल है। चौमासे के अन्तिम मास-क्षपण का पारण उसी के द्वार पर हुआ। उसको हाथ से जैसे चन्द्रमा ने भिक्षुक के पाणि-पात्र में पयस ढाल दिया।

भूखे-प्यासे गोशालक का निरीह कुम्हलाया मुख सामने आ गया। देख रहा हूँ : नालन्द की तन्तुवाय-शाला के श्रमणागार में लौट कर, जब उसने मुझे वहाँ नहीं पाया, तो वह उद्विग्न हो गया। सब से पूछता फिरा : स्वामी कहाँ गये? किसी ने उत्तर नहीं दिया। सारा दिन उदास मुख लटकाये चारों ओर खोजता फिरा। मन-ही-मन कातर हो कर उसे रुलाई आ गई : 'हाय, मैं तो फिर वैसा ही एकाकी हो गया।' वह विक्षिप्त-सा हो गया। उसने झोली राह पर फेंक दी। तत्काल मस्तक मुंड़वा कर और वस्त्र त्याग कर, नग्न हो निकल पड़ा। कोल्लाग सन्निवेश में आ कर उसने सुना कि बहुल ब्राह्मण के यहाँ एक श्रमण ने आहार लिया, तो रत्न-सुवर्ण की वृष्टि से उसका घर भर गया। उसने सोचा : 'ऐसा प्रभाव तो मेरे गुरु का ही हो सकता है।' खोज-तलाश करता वह नदी तट के एकान्त में आ पहुँचा, जहाँ मैं कायोत्सर्ग में लीन था। चरणों में सर ढाल कर बोला :

'मैं भी नग्न निःसंग हो गया, प्रभु। अब इन श्रीचरणों से मुझे अलग न रक्खें। क्षण भर भी अब स्वामी के बिना मुझे चैन नहीं। पर तुम ठहरे वीतरागी, तुम से प्रीति कैसे सम्भव है? लेकिन विवश हूँ, बलात् मेरा मन तुम्हारी ओर खिंचता है। उपेक्षा करते हो, तब भी अपने ही लगते हो। क्योंकि विकसित कमल जैसी दृष्टि से तुम मेरी ओर देखते हो। ऐसी चितवन और कहाँ पाऊँगा!'

'आत्मन्, भव्य है तू ?'

श्रमण के निस्पन्द ओठों से उसे सुनाई पड़ा। उसकी आँखों से टप-टप आँसू गिरने लगे और वह पागल हो कर नाचने लगा। अवधूत की तरह निरंजन है इस लड़के की चेतना। तन-मन के ऊपरी तलों में जाने कितने ही विरोधी खेल चलते रहते हैं। पर भीतर से एकदम ही उन्मन है यह। अकारण क्रीड़ा-कौतुक करता रहता है। कितनी विचित्र होती है, जीवों की परिणतियाँ।

• • •

स्वर्णखल की ओर जा रहा हूँ। पीछे-पीछे गोशालक चुपचाप चल रहा है। मार्ग में कुछ ग्वाले खीर पका रहे हैं। गोशालक बोला :

'प्रभु, मैं क्षुधातुर हो गया हूँ। चलिये इन ग्वालों से पायसान्न का भोजन पायें।'

'यह खीर नहीं पकेगी ! ' जंगल बोल उठा।

गोशालक अपनी भूख को भूल कर उत्पात की मुद्रा मे आ गया। जा कर ग्वालों से बोला :

'अरे गोपालो, सुनो, ये देवार्य त्रिकालज्ञ है। कहते है कि यह खीर नही पकेगी। पकते न पकते, तुम्हारी हँडिया फट जायेगी, और खीर माटी में मिल जायेगी।'

भयभीत और क्षुधार्त ग्वाले चौकन्ने हो गये। उन्होंने तुरंत हँडिया को बाँस की खिपच्चियों से कस कर बाँध दिया। किन्तु चावल अधिक अनुपात मे होने से फूल गये, और हँडिया सचमुच ही फट पड़ी। ग्वालों ने ठीकरों मे अवशिष्ट खीर खा कर संतोष किया। पर गोशालक के पल्ले कुछ नही पड़ा।

मन-ही-मन वह बुदबुदाया : 'हाय री नियति ! प्रभु सच ही कण-कण की जानते हैं। नियतिवाद परम सत्य है।' और अपने खोजे सत्य की प्रतीति पा कर ही वह मानो सन्तुष्ट हो गया।

आगे विहार करते-करते हम ब्राह्मण ग्राम आ पहुँचे। गाँव के दो पाड़े है : नन्द और उपनन्द नामक दो भाई क्रमश. उनके स्वामी हैं। नन्द का घर छोटा है, उसकी समृद्धि कम है। मैं उसी के द्वार पर भिक्षार्थ चला आया। बहुत प्रेम से उसने भिक्षुक को दही और कूरान्न का आहार दिया। उपनन्द का घर बड़ा देख कर गोशालक उसके यहाँ भिक्षार्थ जा पहुँचा। गृह-स्वामी की आज्ञा से एक दासी ने उसे बासी चावल भिक्षा मे दिये। गोशालक ने रुष्ट हो कर उपनन्द को धिक्कारा। सुन कर उपनन्द ने दासी से क्रोधावेश मे कहा :

'जो वह भिक्षान्न न ले, तो उसे उसके माथे पर ही डाल दे।'

बासी चावलों से नहा कर गोशालक गरज उठा

'श्रमण का ऐसा घोर अपमान ? यदि मेरे गुरु का तपतेज सच्चा हो, तो रे मदान्ध, तेरा घर जल कर भस्म हो जाये !'

तपतेज तो किसी का सगा नहीं। मेरा भी नहीं।. . . देखते-देखते उपनन्द का घर घासफूस के पुंज की तरह जलकर भस्म हो गया। मेरा किसी से क्या लेना-देना। जीव परस्पर अपना दीना-पावना चुका रहे हैं। प्राणियों के राग-द्वेषों के इन दुश्चक्रों में से अनुभव-यात्रा किये बिना छुटकारा नहीं। जिसे पार करना है, उसे भेदना तो होगा ही। उसे जाने बिना निस्तार नहीं।

चम्पा नगरी की ओर आ निकला हूँ। सुना है, पूर्व के समुद्रपाल राजा दधिवाहन मगध के आक्रमण से अपने राज्य की रक्षा के लिये लड़ते हुए चम्पा के दुर्ग-द्वार पर काम आ गये। अजातशत्रु और वर्षाकार यहाँ आधिपत्य जमाये, वैशाली पर आक्रमण करने का कूटचक्र रच रहे हैं।. . महारानी पद्मावती और शील-चन्दना महावीर की शरण खोजने श्रावस्ती की ओर चली गई है। नियति के चक्रव्यूह पर खड़े हो कर, चम्पा को एक निगाह देखा। फिर, महावीर ने श्रावस्ती की ओर उद्‌बोधन का हाथ उठा दिया।

आकाश में बादल गरजने लगे हैं। धरती ने दरक कर प्यासे ओंठ ऊपर उठा दिये हैं। अन्नमय कोश को कंचुक की तरह उतार फेंका। और चन्दना तट के एक दुर्गम कान्तार में वर्षायोग सम्पन्न करने को, समाधिस्थ हो गया हूँ। आरात्रि-दिवस बरसती वृष्टिधाराओं, और समुद्री तूफानों तले निश्चल खड़ा हूँ। और यावन्मात्र जीव-सृष्टि की नूतन सर्जन-प्रजनन प्रक्रिया के इस पर्व में तल्लीन हो गया हूँ। पृथ्वी, जल, वनस्पति के इन निविड़ राज्यों के गहन अँधियारों से पार हो रहा हूँ। जीवों की आबद्ध आत्माओं के भीतर छाये, कर्मों के जटा-जूट शाखा-जालों का अन्त नहीं है। आग्नेय चक्र की तरह अपनी चेतना को, इस आलजाल में धँसती ही चली जाती देख रहा हूँ।. . पर यह कौन है, जो दुर्गम और भयानक अरण्य की त्रिशूलाकार शिला पर अविचल बैठा है।

. . वर्षायोग की समाप्ति पर, चम्पा के बाहर, पुंडरीक चैत्य में प्रतिमायोग से अवस्थित हूँ। चम्पा-दुर्ग की सब से ऊँची बुर्ज पर, एक सुवर्ण के मारीच दानव को अट्टहास करते सुन रहा हूँ।. . अरिहन्तों की आदिकालीन विहार नगरी चम्पा, जाग . . जाग . . जाग . . !

चम्पा से प्रस्थान कर रहा था कि गोशालक को फिर छाया की तरह अनुगामी पाया। साँझ होते, कोल्लाग ग्राम पहुँचकर बाहर के एक शून्य गृह मे वास किया। रात्रि घिर आई। चिर परित्यक्त शून्य गृह के एक कोने में प्रतिमायोग से ध्यानस्थ हूँ। द्वार पर गोशालक चपल वानर की तरह चंक्रमण कर रहा है। तभी ग्राम के स्वामी का सिंहनामा एक पुत्र अपनी अभिनव यौवना दासी विद्युन्मति के साथ एकान्त मे केलि-क्रीड़ा करने को शून्यगृह में प्रविष्ट हुआ। उच्च स्वर में उसने पुकारा :

'यहाँ कोई साधु, ब्राह्मण या यात्रालु हो तो बोले। ताकि हम अन्यत्र चले जायें।'

अँधेरे में छुपे-छुपे गोशालक विद्युन्मति को देखकर गलदश्रु हो आया। उसके जी में मीठी-मीठी धुकधुकी होने लगी। एक मधुर जिज्ञासा से उसका सारा प्राण कातर हो आया। सो वह कुतूहली अपनी जगह गुपचुप हो रहा।

. . और मै ? मैं तो उत्सर्गित हूँ, उत्क्रान्त हूँ। यहाँ हूँ ही नहीं। जाने कहाँ हूँ। मैं तो कुछ देखता नही : सब कुछ देखता हूँ। यहाँ भी हूँ, अन्यत्र भी हूँ। मुझसे क्या छुपा है ? उत्तर कौन दे ? . .

सिह ने आश्वस्त होकर, शून्य गृह के निर्जन अन्धकार में, विद्युन्मति के साथ निर्द्वन्द्व और तल्लीन होकर रति-क्रीड़ा की ? . . जब वहाँ से वे दोनों निकले, तो द्वार के पास अँधेरे में खड़े गोशालक ने विवश होकर दासी का कर-स्पर्श कर लिया। वह चिल्ला उठी : 'स्वामी, किसी पुरुष ने मुझे स्पर्श किया है . . ! '

तत्काल सिंह ने लौट कर गोशालक को धर पकड़ा। बोला :

'अरे कपटी, निर्लज्ज, तेने चुप रहकर हमारी मदन-क्रीड़ा देखी है। बुलाया था, तो उत्तर भी नहीं दिया रे नीच !'

कह कर उसने गोशालक को दोनों हाथों से उठा कर, पत्थर की दीवार से कई बार पछाड़ दिया। और अपनी दासी को लेकर छूमंतर हो गया।

गोशालक घायल बिल्ली-सा आ कर मेरे पैरों मे दुबक गया। बोला . 'स्वामी, आप के देखते इस दुष्ट ने मुझे मारा। और आपने मेरी रक्षा भी नही की। मेरे सरक्षक हो कर भी, मेरी दुर्गति को चुपचाप देखते रहे। कैसे स्वामी हो तुम ?'

मै कुछ नहीं बोला। निष्कंप और निश्चल उसकी दुर्गति और दुर्दशा को सहता रहा। . . मुझे अक्रिय देख, वह हार कर किसी कोने में जा पड़ा। बड़ी देर सुबकता रहा। फिर अपनी ही छाती मे मुँह डालकर, पशु की तरह सुखपूर्वक गाढ़ निद्रा मे मग्न हो गया।

कौन कपटी है, कौन कामी है, कौन अकामी है, कौन सच्चा है, कौन झूठा है, सो केवली के सिवाय कौन ठीक-ठीक जान सकता है ? दूसरे चरित्र के निर्णायक हम कौन होते है ?

• • •

कोल्लाग से चल कर पत्रकाल ग्राम आया हूँ। यहाँ भी गॉव बाहर के एक शून्यगृह का अन्धकार आवाहन देता दीखा। सो उसके एक कोने मे जाकर सचेतन भाव से ध्यान मे लीन हो रहा। देखूँ, इस अन्धकार मे क्या चल रहा है ? कुछ रात बीते अचानक उच्च स्वर सुनाई पड़ा :

'अरे कोई है यहाँ ?'

शून्य मे से कोई उत्तर नही लौटा। झिल्ली की झंकार और भी गहरी और तीव्र हो गई। एक नर-नारी युगल की पद-चाप से सन्नाटा भग हुआ।

'प्रियतम स्कन्द !'

'प्रिये, दतिला . ?'

'तुम ग्रामपति के पुत्र, मै एक तुच्छ दासी !'

'आह, तुम्हारा रूप-यौवन ! दासी नही, रानी हो मेरी। . . आओ !'

झिल्लियाँ तक चुप हो गईं। शून्य गहराता चला गया। एक मात्र उपस्थिति मे, अन्य सब अनुपस्थित हो गया। . एक द्रष्टा के भीतर द्रव्य का शुद्ध परिणमन चल रहा है। कुछ ध्रुव है : उसी मे कुछ उदीयमान है, कुछ व्यतीतमान है। नाम, रूप, सम्बन्ध से अतीत, केवल पर्यायों का सक्रमण।

हठात् द्वार-पक्ष मे गोशालक का अट्टहास सुनाई पड़ा। ग्रामपति का पुत्र स्कन्द क्रोध से गरज उठा : 'अरे यह कौन पिशाच है, जिसने हमे छला है ?'

तड़ातड़ लात-घूँसों की मार से गोशालक को गठरी होते देख रहा हूँ। . . फिर सन्नाटा छा गया। सहसा ही अपने पैरों मे आ पड़े गोशालक का आर्त्त स्वर सुनाई पड़ा :

'भगवन्, ये नर पिशाच शून्यगृहों मे आ कर दुराचार करते है, तो मैं इनके पापों को खुली आँखों देखता हूँ। आपका शिष्य हूँ, और द्रष्टा हूँ, सो सब कुछ देखूँगा ही। आप से तो कुछ कहने

की सामर्थ्य इनमें नहीं। किन्तु मुझ निर्दोष को निर्बल जान कर, ये मुझ पर अत्याचार करते हैं। यह कहाँ का न्याय है ? . . और आप इनका वर्जन भी नहीं करते और मेरा रक्षण भी नहीं करते। फिर मैं किसकी शरण लूँ, भन्ते ?'

'किसी की नहीं।'

'तो फिर मुझे कौन बचाये ?'

'कोई नहीं।'

'तो फिर मैं क्या करूँ ?'

'अपने को देख। . . तू ही अपना संरक्षक, तू ही अपनी शरण।'

'समझा नहीं, भगवन्।'

'वाचाल तीतर ! . . मौन हो जा, वत्स।'

अनबूझ, निराश गोशालक रात भर शहर की पतझारों में स्वयं अपने ही द्वारा आखेटित व्याध-सा, अपने हत्यारे की खोज में विक्षिप्त भटकता रहा।

मुक्ति -मार्ग : सबका अपना-अपना

कुमार सन्निवेश के चम्पक-रमणीय उद्यान मे एक शिलातल पर उपविष्ट हूँ। शरद ऋतु के सुनील आकाश तले, शेफाली के झरते फूलों ने सौरभ से नहला दिया है। दोपहरी हो आई है: सुन्दर भूख, मेरी उँगली के इशारे पर चुपकी लड़की-सी, सामने बैठी मुझे टुकर-टुकर ताक रही है।

'भन्ते, मध्याह्न हो गया। बहुत भूख लगी है। चलिए, नगर में गोचरी पर चलें।'

मुझसे कोई उत्तर न पाकर क्षुधातुर गोशालक भिक्षाटन के लिए गाँव में चला गया। वह कहीं भी जाये, उसकी चर्या पर मेरी आँखे लगी रहती है। समूचे संसार का नाटक, उसके व्यक्तित्व में एक बारगी देखता रहता हूँ। मानव अस्तित्व के वैषम्य की वह एक खुली किताब है। अवचेतना की सारी सम्भव ग्रंथियाँ, उसके वर्तनों मे प्रतिपल नग्न और निर्ग्रंथ होती रहती हैं।

. . कुमार ग्राम के चौक में गोशालक ने देखा कि कई श्रमण वस्त्र, कमली, पात्रा, दण्ड धारण किये भिक्षाटन कर रहे हैं। उसकी जिज्ञासा वाचाल हो उठी :

'अरे तुम कौन हो, भिक्खुओ ?'

'हम भगवान पार्श्वनाथ के निर्ग्रंथ शिष्य है।'

'ओ रे मिथ्यावादियो, धिक्कार है तुम्हें। तुम कैसे निर्ग्रंथ ? दुनिया भर का ग्रंथ-परिग्रह तो अपने ऊपर लादे घूम रहे हो। महाश्रमण पार्श्व तो दिगम्बर अवधूत विख्यात हैं। तुम उनके शिष्य कैसे ?'

'हम स्थविर कल्पी हैं। अपने संहनन के अनुसार विचरते हैं।

'स्थविर तो स्थावर होते हैं, और कल्पी कल्पक होते हैं। पर तुम तो पूरे जंगम हो, जंगी। तुम तो ठोस भोजन की खोज में, उलंग घूम रहे हो। संहनन तो मैं करता हूँ, रात-दिन अपनी

हानि करता हूँ. . तप ? समझे कुछ ?'

पार्श्वापत्य श्रमणों को उसकी मूढता और वाचालता पर किंचित् हँसी आ गई . . ।

'अरे पाखंडियो, मेरा उपहास करते हो ? तुम कैसे निग्रंथ, सच्चा निग्रंथ तो मैं हूँ । कोई गाँठ मेरे मन में नहीं, जैसा हूँ, तुम्हारे सामने हूँ । नंगा, भूखा, कामी, लोलुप, जो हूँ, उसे छुपाता नही । पर तुम निग्रंथ बने घूमते हो, और वस्त्र-पात्रों मे अपनी वासनाओं को छुपाये विचरते हो ।'

श्रमण उसे उन्मादी समझकर, चुपचाप अपनी राह चल पडे ।

'बस कलई खुल गई न, तो भाग निकले । अरे सुनो, महाश्रमण पार्श्व का निगंठ रूप देखना चाहोगे ? तो चलो मेरे साथ, और मेरे गुरु को देखो । वे भीतर-बाहर एक-से दिगम्बर है, असग है, अपेक्षा रहित है । मौन है । जितेन्द्रिय और मनोजित है । महीनों मे एकाध बार किसी भव्यात्मा को कृतार्थ करने के लिये, उसका आहारदान ग्रहण करते है।'

'जैसा तू, वैसे तेरे गुरु । कोई गुरु विहीन, स्वच्छन्दी, मनमाना लिग धारण करने वाले दीखते है तेरे गुरु !'

'हाँ, गुरु उनका कोई नही । वे स्वय ही अपने गुरु है । अनुयायी जो होते है, वे पाखडी हो ही जाते है । जैसे तुम । मेरे गुरु ने इसीलिए मुझे अपना शिष्य नही अगीकारा। कहते है – अपने को देख, अपने को जान, तेरा गुरु तेरे भीतर बैठा है । तेरे सिवाय कोई नही । समझे कुछ, मूर्खो ?'

श्रमणों ने सहज हँस कर उसकी उपेक्षा कर दी और चल दिये । अपमान से जल कर क्रुद्ध कार्पटिक की तरह गोशालक ने शाप दिया

'मेरे गुरु का तप तेज सत्य हो, तो जाओ दम्भियो, तुम्हारा उपाश्रय जलकर भस्म हो जाये ।'

उसका यह वातुल रूप देख ग्रामवासियों ने उसे धक्के मार कर बाहर कर दिया । भिक्षा से वचित, भूखा प्यासा, रोता कलपता वह द्रुत पगों से उद्यान की ओर दौड़ा आया । अपनी व्यथा मुझ तक पहुँचाने को वह बहुत व्यग्र था । पर मुझे वहाँ न पा कर, वह बहुत व्याकुल हो गया । क्रोध से उत्तेजित होकर चक्रमण करता, उपाश्रय के जलने की प्रतीक्षा करने लगा । पर न तो मैं ही उसे मिला, न उपाश्रय ही जला । अगले दिन जब मै चम्पक-रमणीय उद्यान मे लौटा, तो देखा कि निराहार, लुजपुज वह शिला तल पर माथा ढाल पड़ा था । सहसा ही आसन पर मुझे उपस्थित पाकर वह जैसे जी उठा ।

'स्वामी, बार-बार मुझे छोडकर चले जाते हो । तुम्हारे दिल मे कोई दया-माया भी नही ?'

मै चुप, मातृक दृष्टि से उसे ताकता रह गया ।

'भन्ते, कल ग्राम मे मैने पार्श्वनाथ के कुछ पाखडी शिष्यों को देखा । आचूड़ परिग्रह से लदे है, और अपने को निगठ श्रमण कहते है । मैने उनके पाखडों का पर्दाफाश कर दिया । ठीक किया न भन्ते ?'

मैने कुछ नही कहा । मेरी ऑखे क्षुरधार देख उठी ।

'भन्ते, वे क्या निगठी है ?'

'निश्चय, निर्ग्रंथ वह, जो सवस्त्र और अवस्त्र से परे है । नग्न होकर भी कोई निर्ग्रंथ नही

भी हो सकता है। और सवस्त्र होकर भी कोई निर्ग्रंथ हो सकता है।'

मेरे चेहरे पर उसने जैसे अग्नि के अक्षरों में लिखा, यह पढ़ लिया।

'भन्ते, वे आपकी निन्दा कर रहे थे। कह रहे थे, होगा कोई कुलिंगी, स्वेच्छाचारी तेरा वह गुरु . . । पार्श्व के शिष्य ऐसे प्रमादी, कि अर्हत् महावीर को नही जानते !'

मैं चुप रहा। अपने ऊपर झरते शेफाली फूलों को हाथों में झेलता रहा।

'भगवन्, मैंने उन अर्हत्-निन्दकों को शाप दिया कि मेरे गुरु के सत्य-तेज से तुम्हारा उपाश्रय जल जाय . . । पर अब तक तो जला नहीं, प्रभु ? क्या आपका तप-तेज असत्य सिद्ध होगा लोक में ?'

'उपाश्रय नहीं जला, पर तू रात और दिन जल रहा है, सौम्य। क्यों आत्मदाह करता है, वत्स ? अर्हत् उपाश्रय में भी हैं, तेरे पास भी हैं। अपने को देख . . देख . . देख, सौम्य।'

गोशालक शान्त होकर अर्हत् के आसन-प्रान्त में ही शिशुवत् सो गया।

मध्य रात्रि झाँय-झाँय कर रही है। कायोत्सर्ग में एकाएक मैं उन्मुख हुआ।

. . उधर देख रहा हूँ, मुनिचन्द्र सूरि को। उपाश्रय से दूर अटवी में वे जिनकल्प की महातपश्चर्या में लीन, आत्मजय की उच्चाति-उच्च श्रेणियों पर आरोहण कर रहे हैं। इस ग्राम में उन्हीं के सचेलक शिष्य भिक्षाटन करते हैं। समाधिस्थ मुनिचन्द्र के वस्त्र सर्प-कंचुक, वृक्ष-छाल, अथवा जीर्ण पत्रों की तरह आपोआप ही झर पड़े हैं। उपाश्रय का स्वामी कुपनय कुम्भार मदिरापान में उन्मत्त हो, मध्यरात्रि में, पड़ोस के जंगल में भटक रहा है। उसने वहाँ शिलीभूत श्रमण को धूर्त चोर समझ कर, उनका गला घोंट दिया। श्रमण प्रतिक्रियाहीन, निर्वैर भाव मे अपनी वेदना को सहते रहे। अकस्मात अवधिज्ञान से उनकी आत्मा ज्योतित हो उठी . . । और उन्होंने सहर्ष प्राण त्याग दिये।

. . दूर पर उल्का की तरह प्रकाशमान देवश्रेणि आकाश मे वाहित दीखी। गोशालक चकित रोमांचित हो कर बोल पड़ा।

'भन्ते, आप के सत्य-तेज से उपाश्रय में आग लग गई। ज्वालाएँ आकाश चूम रही है।'

'निर्भ्रांत हो, वत्स। उपाश्रय नहीं जला। श्रमण मुनिचन्द्र सूरि की तो तपःपूत आत्मा देवलोक में गमन कर रही है !'

'तो अर्हत् महावीर का तपतेज मिथ्या सिद्ध हो गया, भन्ते ?'

'वह सत्य सिद्ध हो गया। यह विद्यल्लेखा उसकी साक्षी है . . ?'

गोशालक ने अन्तरिक्ष में वाहित उस ज्योति-शिखा को प्रणाम किया।

गोशालक के चापल्य और कौतूहल को चैन नहीं। वह दौड़ा-दौड़ा गया और उपाश्रय टोहने लगा। पास जा कर देखा, सुगन्धित जलों की दिव्य वृष्टि में नहाया उपाश्रय सुनसान पड़ा है। एक परिन्दा भी वहाँ नहीं फड़का। भीतर जा कर उसने देखा, सूरि के शिष्यागण गहरी निद्रा में खर्राटे खींच रहे थे। उसने कोहराम मचा दिया :

'ओ रे मुंडो, ओ रे प्रमादी शिष्यो, तुम कैसे श्रमण हो ? तुम्हारे गुरु स्वर्ग सिधार गये, और तुम पर जूँ भी नहीं रेंगी ? दिन में गोचरी करना, और रात में अजगर की तरह सो रहना। क्या यही तुम्हारी श्रमणचर्या है, षण्डो . . ?'

खलभला कर सारे श्रमण जागे, और अपने प्रमाद पर उन्हें घोर पश्चात्ताप होने लगा। वानरवंशी गोशालक अपनी सफलता पर हर्ष मनाता, मेरे पैरों में आ दुबका। अस्तित्व की एक मौन, विस्फोटक चीत्कार।

• •

चोराक ग्राम की एक सीमावर्ती पहाड़ी पर आकर पैर रुक गये। उसी स्थल पर अनायास ध्यानस्थ हो गया। मेरे समकक्ष ही गोशालक भी ध्यानलीन हो रहा। अब वह अनुसारिणी छाया की तरह ही मेरी हर चर्या का अनुकरण करने लगा है। उसका मन तो खाली है। उसमें कुछ ठहरता नहीं। सो सहज ही मेरा प्रतिबिम्ब हो रहता है।

देखता हूँ, सीमान्तक प्रदेश होने से आजकल यहाँ परचक्र का भय व्याप्त है। कोट्टपाल अपने आरक्षकों को साथ लिये गश्त लगाते रहते हैं।

अचानक कुछ पदचापे, कुछ फुसफुसाहटें सुनाई पड़ीं।

'अरे षण्डो, तुम कौन हो ?'

उन्हें हमसे कोई उत्तर नहीं मिला। बार-बार पूछने पर भी उत्तर नहीं मिला। उन्हें शंका हुई : निश्चय ही ये परचक्र के गुप्तचर है। कोट्टपाल कड़क उठा :

'अरे बहरे हो क्या ? जान पड़ता है गूँगे भी हो ?'

उत्तर कौन दे . . ?

'ठहरो, अभी तुम्हारी बहर और गूँग दोनों निकाले देता हूँ। . .

'. . आरक्षको, बाँधो इनकी मुश्कें, और इस अन्धे कुएँ मे डाल कर इनकी मरम्मत करो ?'

आश्चर्य कि गोशालक भी मेरे साथ अकम्प और मौन ही रहा। आरक्षकों ने हम दोनों को आमने-सामने जुड़ा कर रस्सियों से बाँधा और उछाल कर कुएँ में डाल दिया।

. . फिर जैसे पानी भरने को घड़ा जल में पछाड़ा जाता है, उसी प्रकार वे हम दोनों को उस अन्धे कुएँ में पछाड़ने लगे।

'बोलो दुष्टो, बोलो, अब तो अपना भेद खोलो !'

फिर भी कोई उत्तर नही मिला। गोशालक मारे भय के मूक, मेरे वक्ष में गँठरी हुआ जा रहा है। वे और भी प्रबलता से हमें पूरे कुएँ में घुमा-घुमा कर पछाड़ने लगे। कुएँ की दीवारों के तीखे पत्थरों से टकरा कर, मेरी वज्रवृषभ हड्डियाँ तड़कती-सी अनुभव हुईं। उनके पोलानों के अंधकार विदीर्ण होने लगे। उनमे से अन्तहीन तिमिरान्ध गुफाओं की साँकले टूटने लगीं। उनमें जमे जन्म-जन्मों के जाले कटने लगे। उन जालों के टूटते ही एक कराल मकड़ी निःसहाय हो कर छिन्न-भिन्न होती दीखी। पुंजीभूत हिंस्रता के भयावह जंतु, त्रस्त रक्ताणुओं के अण्डों में से निकलकर कुएँ की अन्धता में रेंगने लगे। रस्सियों के झकझोरते आघात, वेधक पत्थरों की टक्करें, जितनी ही अधिक घातक होती गईं, तन-मन में एक रेशमीन राहत और शान्ति का अनुभव होने लगा।

तभी गोशालक की ग्रंथीभूत चुप्पी का मौन आक्रन्दन मन-ही-मन सुना :

'अरे प्रभु, मेरा अंग-अंग, अणु-अणु तुम्हारे अंगांगों से बिंधा है। तुम्हारे गाढ़ आलिंगन में डूबा हूँ, तब भी तुम मेरी रक्षा नहीं करते ? देखो न, मेरा पोर-पोर छिल गया है। हड्डियाँ टूट गई हैं। लहूलुहान हो गया हूँ। फिर भी तुम्हें मेरी कोई परवाह नहीं . . ?'

क्षण भर वह चुप रहा, फिर रुआँसा होकर बोला :

'हाय, पर तुम तो अपनी भी रक्षा नहीं करते। खुद मार खा रहे हो, मुझे भी मरवा रहे हो। कैसे स्वामी हो तुम ? ऐसे असमर्थ ?'

एकाएक रस्सियाँ थम गईं : पछाड़ रुक गई। कुएँ के धारे पर सहसा ही किसी नारी का कण्ठ-स्वर सुनायी पड़ा :

'कोट्टपाल, जो स्वरूप तुमने बताया है, वह तो वैशाली के देवर्षि राजपुत्र का ही है। क्या तुम नहीं जानते, वे चरम तीर्थंकर महावीर हैं। अभी छद्मस्थ अवस्था में हैं, सो मौन ही रहते हैं। दारुण तप से, दुर्दान्त कर्मचक्रों का भेदन करते विचर रहे हैं।'

. . आरक्षकों ने हमें बाहर निकाल कर, मुश्कें खोल खड़ा कर दिया। दो श्वेत वसना साध्वियाँ हमारी प्रदक्षिणा कर, चरणानत हुईं :

'हम सोमा और जयन्ती, भगवन्। पार्श्व प्रभु की परिव्राजिकाएँ। उत्पल देवज्ञ की बहनें हैं हम।'

'धर्म लाभ करो, देवियो !'

ठीक मेरे ही अनुसरण में गोशालक ने भी उद्बोधन में दोनों हाथ उठा दिये। कोट्टपाल और आरक्षक उसके तले भूसात् हो रहे।

'क्षमा करें, भगवन्, हम अज्ञानी हैं।'

'ज्ञान ही तुम्हारा एक मात्र स्वरूप है। अपने को पहचानो, सौम्य !'

. . हम अपनी राह पर आगे बढ़ गये।

'आश्चर्य वत्स, तू भी आज अखण्ड मौन रहा ?'

'श्री गुरु की कृपा से कुछ बोध पाया है। कुछ पात्र हुआ हूँ। फिर आप जहाँ हो भन्ते, वहाँ मेरा कोई अनिष्ट हो ही नहीं सकता।'

मैं कुछ नहीं बोला।

• • •

पृष्ठचंपा में वर्षायोग समापित कर, कृतमंगल नगर की ओर आया हूँ। उसकी एक वसतिका में, स्त्री-सन्तान वाले परिग्रही स्थविर रहते हैं। वे पितर-पूजक हैं, और लौकिक पारिवारिक सुख में ही मोक्ष का अन्वेषण करते हैं। उनके पाड़े के बीच एक बड़ा देवालय है। उसमें उनके परम्परागत कुल-देवता की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। उस मंदिर में कई खम्भों की सरणियाँ हैं। उसी के एक कोने में, कोण-स्तम्भ की तरह निष्कम्प, कायोत्सर्ग में लीन हो गया हूँ।

बाहर माघ-पूस की तीखी शीत हवाएँ चल रही हैं। मन्दिर में आरती का शंखघंटा रव थम

गया। उसके उपरान्त उस रात स्थविरों का कोई पर्वोत्सव आरम्भ हो गया। नाना ग्राम-वाद्यों की तुमुल समवेत ध्वनियों के बीच, सुरापान और नृत्य-गान करते हुए, वे स्थविर नर-नारी जागरण-भजन करने लगे।

पर पुरुष और परनारी का भाव इनके मनों में नहीं है। मनमाने युगल जोड़ कर, हाथों में सुरापात्र लिये, अंगांग जुड़ाये आत्मभान भूल कर वे नाच रहे हैं। उनकी काम- चेष्टाएँ पराकाष्ठा पर पहुँच कर, नृत्य-संगीत के सुर-तालों में मूर्च्छित हो जाती हैं। चाहे जब वे एक-दूसरे से छूट कर, नये युगल जोड़ कर, फिर क्रीड़ालीन हो जाते है। इस तल्लीन मदन लीला मे मदन-पराजय का एक विचित्र दृश्य देख रहा हूँ। पुष्प धन्वा के बाण इनकी आत्म-विस्मृत देहों पर पराहत हो गये हैं। लोक में मनुष्य नाना भावों के माध्यम से अपने भीतर बैठे भगवान आत्मा को खोज रहे हैं।

एकाएक कामाकुल गोशालक चिल्ला पड़ा :

'अरे ओ पाखंडियो, देवता के मंदिर मे यह कैसा उच्छृखल अनाचार कर रहे हो ? अपने को स्थविर कहते हो, और धर्म की आड़ मे उलंग कामाचरण करते हो। अरे पापात्माओ, धिक्का र है तुम्हें, सौ बार धिक्कार है। . . '

उत्सव मे भंग पड़ते देख कर कुछ युवकों ने गोशालक को धक्के देकर, मंदिर से बाहर कर दिया . . । देख रहा हूँ, वह मूढ़ वहीं खड़ा, शीत पवन के झकोरों में, दन्त-वीणा बजाता हुआ, आरत ऑखों से नृत्योत्सव का सुख भोग रहा है। सो कुछ वृद्धों ने उस पर दया कर, फिर उसे अन्दर ले लिया। ठिठुरा शरीर गर्म होते ही फिर गोशालक चीखा :

'अरे उद्दण्डो, तुम्हे तो लज्जा नही। पर मै लज्जा से मरा जा रहा हूँ। मैं ठहरा निर्ग्रंथ श्रमण। पर तुम्हारे स्वच्छन्दाचार से मेरा रक्त भी कामाकुल हो उठा है। अपनी इस नग्न काया को कहाँ छुपाऊँ . . ? कैसे निर्गति पाऊँ इस नरक से ? हाय, हाय, छि.-छिः, असह्य है यह पापाचार। फट पड़ो पृथ्वी माता, और मुझे अपने गर्भ मे समा लो . . मेरी रक्षा करो, माँ ! '

स्थविरों ने फिर उसे घूंसे मार-मार कर बाहर ढकेल दिया। वह पहले की तरह ही फिर मन्दिर की सीढ़ियों पर खड़ा लुब्ध, लालायित ऑखों से नृत्योत्सव का आनन्द लूटने लगा। उसकी दन्त-वीणा का आलाप प्रखरतर होता हुआ, भीतर की संगीतधारा मे व्याघात पहुँचाने लगा। तब कुछ युवती स्त्रियों ने उसके आर्त प्राणों पर दया कर, उसे भीतर ला कर, एक कोने में बिठा दिया . . । कुछ देर चुप रह कर वह फिर नाना अनर्गल प्रलाप करने लगा। फिर बाहर धकेल दिया गया। तीन बार क्रमशः कोप और कृपा का भाजन होकर भी, उसे चैन नहीं आया।

'अरे व्यभिचारियो, सत्य कहता हूँ, तो तुम मुझ पर कोप करते हो ? पर कहे बिना रहा नही जाता। अपने पापों पर कोप करो तो तुम्हारा उद्धार हो जाये। मै तो स्पष्ट भाषी हूँ। और देखो, मेरी आत्मा अपने ही काम पर भीषण कोप कर रही है।'

कुछ युवकों ने क्रुद्ध हो कर उसे घेर लिया। मुट्ठियाँ तान कर वे उसका कुट्टन करने को तत्पर हुए . . । तभी सहसा उन्हें दिखाई पड़ा, कि अरे यह तो कोई नग्न भिक्षुक है। इतना सुन्दर, कोमल, छौना-सा, फिर भी ऐसा ढीठ, उत्पाती ! और आश्चर्य है कि कुटाई-पिटाई झेलने को भी निरीह भाव से प्रस्तुत हो गया है। कोई विक्षिप्त अवधूत जान पड़ता है।

कि तभी एक सुन्दरी युवती चिल्ला पड़ी :

'अरे इधर देखो, हाय-हाय, कोने में देवता प्रकट हो गये हैं . . ? हमारा पूजोत्सव सार्थक हो गया।'

एक और आवाज :

'देवता ने हमारी पूजा से प्रसन्न होकर दर्शन दे दिये।'

सबकी निगाहें आनन्दाश्चर्य से स्तब्ध, कोने में देख उठीं। एक वृद्ध घूर कर बोला :

'अरे ये तो वैशाली के देवांशी श्रमण वर्द्धमान कुमार हैं। और यह आयुष्यमान इनका कोई सेवक शिष्य जान पड़ता है . .। इसे क्षमा कर दो।'

गोशालक त्राण पाकर मेरी एक जंघा के सहारे आ ढुलक रहा। सारे नर-नारी जन भूमिसात् प्रणत हुए।

'भन्ते, हमारी आराधना की यही रीति है। कुल-परम्परा से चली आई है। भगवान का कोई अपराध हुआ हो, तो क्षमा करें।'

'अनेकान्त है मुक्ति मार्ग . . !'

मन्दिर के देवासन पर से उत्तर ध्वनित हुआ। गुम्बद में से प्रतिध्वनि हुई 'सोऽहम् . . सोऽहम् . . सोऽहम् !'

स्थविर नर-नारी असमंजस में स्तब्ध हो रहे : अरे ये देवार्य बोले, कि हमारे देवता बोले ?

मुझे निश्चल, मौन देख उनके आश्चर्य का पार न था। और उनके देवता तो आज तक बोले नहीं कभी। अपूर्व घटा है कुछ . . ।'निश्चय ही हमारे पितर देवता हमारे पूजा-नृत्य से प्रीत होकर आज शब्दायमान हुए हैं। हमारी पीढ़ियों की साधना-आराधना सार्थक हो गई !' मन-ही-मन वे मुदित-मगन हो रहे।

उपरान्त अबूझ भाव से हम दोनों की वन्दना कर, स्थविर जन चुपचाप आविष्ट से अपने घर को लौट गये।

'भन्ते, इन पाखंडी पापियों की आपने भर्त्सना भी नहीं की। मेरा उन्होंने घोर अपमान किया, फिर भी आपने उन्हें क्षमा कर दिया। अखण्ड ब्रह्मचारी होकर, आपने इन व्यभिचारियों की कामुक पूजा का समर्थन किया ?'

'इनके मन में व्यभिचार का विकल्प नहीं। व्यभिचार शब्द ही इन्हें अनजाना है। इनका काम आत्म-काम है। इनका लक्ष्य आत्म-रमण है। . .'

'आप तो विचित्र हैं, स्वामी !'

'सत्य विचित्र ही है, वत्स। पाप न देख, आत्मा देख। अपमान में नहीं, स्वमान में रह। एकमात्र पाप है, अज्ञान। आलोचना औरों की नहीं, अपनी ही कर आयुष्यमान् !'

. . मन्दिर की दीवारें बोल रही हैं। देवार्य तो वैसे ही चुप खड़े हैं। गोशालक सुन कर दिङ्मूढ़ है।

. . वह अनुताप-विह्वल हो आया है। आँसू झरती आँखों से वह श्रीगुरु-चरणों में ध्यानस्थ हो गया।

केवल आकाश, मेरा चेहरा

अपने मस्तक पर उदय होते सूर्य के साथ श्रावस्ती आया हूँ। सुदूर गंगा के तट पर खड़े हो कर, कोसलेन्द्र प्रसेनजित के आकाशचुंबी राजभवनों को देख रहा हूँ। उनके शिखर और बुर्ज काँप रहे हैं। उनके तले एक सड़ा हुआ राजा, केशर-कस्तूरी से अपने गलितांगों को सँवार रहा है।

नहीं, श्रावस्ती में नहीं जाऊँगा। अभी मेरी यात्रा सतह पर नहीं, तहों में चल रही है। गंगा के पानियों में धँस कर, श्रावस्ती की नीवों को झकझोरूँगा। कोसलेन्द्र की प्रासाद-मालाओं के पाये डोलेंगे।

. . चन्द्रभद्रा शीलचन्दन, हताश न होओ, मैं आ गया हूँ। देख रहा हूँ, श्रावस्ती के अन्तःपुरों में, भयानक चक्रव्यूहों के बीच फँसी तुम छटपटा रही हो। पर तुम्हारे आसपास उज्ज्वल आत्माएँ भी हैं। जो तुम्हारी ही तरह, यहाँ के कुटिल अंधकार की कुंडलियों में जकड़ी हैं। मालाकार-पुत्री महारानी मल्लिका। शाक्यों की दासी-पुत्री महारानी रेणुका। प्रसेनजित के विलास-पर्यंक में वे शूलियों-सी खटक रही हैं। उनके बीच तुम खड़ी हो, अकेली। . . मैं आश्वस्त हूँ। ये शूलियाँ एक दिन तुम्हारा सिंहासन बनेंगी। वह दिन दूर नहीं, जब पितृघाती दासी-पुत्र विडुढब की वरिता हो कर, तुम कोशल की पट्टमहिषी के आसन पर उन्नीत होओगी। तब कोशल के लोक-हृदय पर तुम्हारा राज्य स्थापित होगा। वही होगा मेरा साम्राज्य। जिनेश्वरों की शासन-देवी हो कर तुम पृथ्वी पर चलोगी। .

. . लुब्धकों की मर्त्य और पौद्गलिक चम्पा मर गई। अच्छा ही हुआ। वह उसकी अनिवार्य नियति थी। लेकिन अर्हतों की अमरा चम्पानगरी का तुम्हारे भीतर फिर उत्थान होगा। तुम्हारे सौन्दर्य की स्वयं-प्रभा में उद्दीप्त हो कर, वह शाश्वती में सर्वकाल वर्द्धमान रहेगी। तथास्तु, शीलचन्दन . . !

• • •

'चलिए भन्ते, भिक्षाटन को चलें, असार संसार में सारभूत वस्तु एक भोजन ही तो है।'

मुझे निरुत्तर देख कर, गोशालक फिर बोला

'मुझे तो भयानक भूख लगी है, भन्ते। बतायें स्वामिन्, आज मुझे कैसा आहार मिलेगा?'

'नरमांस . . !'

मुझे मौन देखकर वह बड़बड़ाया : 'प्रभु तो बोलते नहीं, यह कौन पिशाच बोला? प्रभु ऐसा कैसे कह सकते हैं?'

'जहाँ मांस की गन्ध तक नहीं हो, ऐसी ही बस्ती में गोचरी करूँगा। और मिथ्या कर दूँगा यह वचन'।'

. . देख रहा हूँ : श्रावस्ती के पितृदत्त गृहपति की भार्या श्रीभद्रा के सदा मृतक पुत्र ही आते हैं। शिवदत्त नैमित्तिक ने उसे परामर्श दिया है कि : 'इस बार मृतक पुत्र आने पर, श्रीभद्रा उसके रुधिर-मांस से दूध, घी, मधु के साथ खीर बनाये। फिर कोई धूलि-धूसरित पगों वाला, सुभग भिक्षुक द्वार पर आये, तो उसे उसका आहार कराये। ऐसा करने से आगे वह जीवित सन्तान ही जनेगी। भिक्षुक के आहार कर जाने पर गृह का मुख-द्वार चुनवा कर, दूसरी दिशा में खुलवा देना। ताकि पता लगने पर वह भिक्षुक, लौट कर तेरे गृह को अपने कोपाग्नि से भस्म न कर दे।'

देख रहा हूँ : आज श्रीभद्रा की प्रसूति हुई है। निर्देशानुसार वह यथाविधि मृतक शिशु के रुधिर-मांस की खीर बनाकर द्वारापेक्षण कर रही है। . . गोशालक को द्वार पर पा कर उसके हर्ष का पार नहीं। उसने उमग कर उसे पायसान्न का आहार कराया। परम तृप्ति अनुभव करता गोशालक लौट आया।

'भन्ते, आपकी कृपा से उत्तम पायसान्न का आहार पाया। पिशाच की वाणी मिथ्या हो गई। भन्ते जयवन्त हों !'

उसे सुनाई पड़ा :

'अरे ओ लुब्धक, तेरे पेट में नर-शिशु के अवयवों का पायसान्न पड़ा है !

और जो घटित हुआ है, उसका सारा वृत्तांत उसे सुनाई पड़ा। हाय-हाय, यह कैसा अनर्थ। उसकी अँतड़ियाँ विद्रोह कर उठीं। उद्विग्न हो कर उसने वमन कर दिया। उसमें उसे मृत शिशु की उँगलियाँ, केश, नख आदि दिखाई पड़े। क्रोध से फुँफकारता वह उस गृहिणी के घर की ओर झपटा। उस स्थान पर कोई द्वार न देख, वह बहुत निराश हो गया। आत्मग्लानि से आक्रन्द करते हुए उसने शाप उच्चारित किया :

'वह घर जहाँ भी हो, मेरे प्रभु के तप-तेज से जल कर राख हो जाये !'

. . घर जलने की प्रतीक्षा में वह उसी बस्ती में व्याकुल हो कर चक्कर काटता रहा। घर तो कोई जला नहीं, उसके शरीर में ही तीव्र दाह जाग उठी। छटपटाता हुआ वह आकर मुझ से बोला :

'क्या मेरे प्रभु का तप-तेज मिथ्या है, जो मेरा वचन मिथ्या हो गया ? जान पड़ता है नियति ही एकमात्र सत्य है। और सारे तप-तेज भ्रांति हैं।'

'नियति से भी अधिक शक्तिमान है यति, संयति। वह नियति को भी जय कर सकता है, उसे मन चाही मोड़ सकता है। अपने को देख, सौम्य, अपने को देख ! . . '

. . मैं चल पड़ा। अन्यमनस्क गोशालक भी मेरे पीछे-पीछे चलने लगा। हरिद्रु ग्राम के परिसर में आकर हरिद्रु वृक्ष के नीचे प्रतिमा-योग से ध्यानस्थ हो गया हूँ। उसी छतनार वृक्ष की छाया में एक ओर श्रावस्ती की तरफ जा रहा कोई बड़ा सार्थ उतारा किये है। रात में शीत के आघातों से बचने के लिये उन्होंने वन-काष्ठों की भारी अग्नि प्रज्वलित की थीं। सबेरे उठ कर प्रस्थान की उतावली में सार्थवाह उस अग्नि को बुझाये बिना ही चल दिये। तभी हेमन्ती हवा की एक तेज आँधी उठ आई। समुद्र-गर्भ में प्रसुप्त बड़वानल की तरह वह अग्नि भभक उठी, और

बाढ़ की तरह फैल कर उसकी लपटें मेरे पैरों को चूमने लगीं। उस दाह के समक्ष मैंने अपनी देह में एक अद्‌भुत स्थिरता अनुभव की। गोशालक कोलाहल कर उठा ·

'अरे प्रभु, भागो, भागो यहाँ से, भयंकर अग्निकांड ने हमें घेर लिया है . . !'

कह कर वह काक पक्षी की तरह वहाँ से पलायन कर गया। पर मेरे भीतर उठ रही ध्यानाग्नि ने सामने उठ रहे हुताशन का आलिंगन किया। भीतर के कितने ही कृतान्त कर्मचक्रों को मैंने उसमें भस्मसात् होते देखा।

आँखें खुलीं तो देखा, कि मेरे दोनों पैर झुलस कर कलौंछे हो गये हैं। मैं क्षणैक उनकी उस पर्याय को व्यतीत होते देखता रहा। . . सहसा ही पाया कि वहाँ श्रमण के पैर नहीं रहे। वे आगे जा चुके हैं। दो कमल-कोश तुषारपात से कुम्हलाये हुए वहाँ पड़े हैं।



आवर्त्तग्राम के बलदेव मन्दिर में चला आया हूँ। पूर्वाह्निक पूजा-भोग समापित करके पुजारी और दर्शनार्थी जा चुके हैं। जन-शून्य मन्दिर के देव-कक्ष में प्रवेश कर, एक अन्तरित कोने में खड़ा हो गया हूँ। मन्द दीपालोक में देव-प्रतिमा सजीवन हो आई। सौम्य मुस्कान के साथ हलधारी ने मानो मुझे टोका।

'सुनता हूँ, युगन्धर हो ! पर तुम तो कायोत्सर्ग की निष्क्रिय मुद्रा मे स्थिरीभूत हो। बाहर से मुँह फेर कर अपने में लवलीन हो। जिन हो कर सिद्धालय में ही जा बैठना चाहते हो ? जन नायक हो कर जनालय के दु:खान्धकार मे नहीं उतरोगे ? तुम्हारा उन्नत मंदराचल-सा कंधा देख कर मेरा युगों से निष्कर्म हो पड़ा हल चलने को उद्यत हो उठा है। मनुष्यों के तन की माटी जड़ित हो गई है। लो, उनके शतियों से जड़ीभूत हो गये रक्त में हल चलाओ . . !'

मैं अपलक, चुपचाप मुस्कराता हुआ उन भद्र पुरुषोत्तम को ताकता रहा। और मेरी चेतना अन्तर्लीन हो कर, दिगन्तों तक फैली वसुन्धरा के बंजरों मे व्यापती हुई, उनके नीरस सूखे गर्भदेशों में धँसती चली गई। . .

उधर गोशालक कहीं से प्रेत का बीभत्स रूप धारण कर, गाँव के आँगन मे खेल रहे बालकों के बीच आ कूदा है। विपुल लोमष काले भालू की तरह हुँकारता और छलाँगे मारता वह बालकों को डरा रहा है। मारे भय के निर्दोष बच्चे चीखते हुए बेदम भागने लगे। बदहवास हो कर ठोकरें खा-खा कर गिरने लगे। किसी का सर फूट गया, किसी की नाक कुचल कर नथुनों से रक्त बहने लगा, तो किसी के होंठ कट गये।

भयार्त बालकों की चीखें सुन कर, गाँव में से उनके माँ-बाप दौड़ आये। हूल्कार कर गोशालक उन पर भी लपका। उन्हें पहचानने में देर न लगी कि यह कोई दुष्ट बहुरूपिया है। आतंक जमाकर आनन्द लूटने का कौतुक कर रहा है।

सो कुछ बलिष्ठ पुरुष उस पर टूट पड़े। और जम कर उसकी कुटमपंचमी करने लगे। घायल कुत्ते की तरह गालियाँ भूँकता, गोशालक पिटाई का आनन्द भी उसी समभाव से लूटने लगा।

तभी मन्दिर की ओर से दौड़ता हुआ, एक वृद्ध पुजारी हाँक मारता आ पहुँचा।

'अरे इसे मार कर क्या मिलेगा ? इसका नग्न गुरु मन्दिर के देवकक्ष में घुसा बैठा है और उसी के,आदेश से तो यह उपद्रव मचा रहा है । चल कर उसी की खबर लो ।'.

'चोर . . . चोर . . चोर' : पुकारते कई लठैत, मन्दिर में घुस आये । एक साथ कई लाठियों के वार मेरे मस्तक पर सन्नाने लगे । मैं शिल्पीभूत-सा उत्सर्गित हो रहा ।

ठीक लाठियाँ मेरे तन पर गिरने की अनी पर, देव-प्रतिमा में से ध्वनित हुआ : 'सावधान ! ' और देवासन से उतर कर बलदेव ने, अपना हल उठा कर उन लठैतों पर प्रहार किया । अनायास प्रहारकों पर छा कर मेरी दक्षिण भुजा उनके माथों पर फैल गई । त्राण पा कर कई कण्ठ एक साथ पुकार उठे :

'त्राहिमाम् देवता ! . . '

और प्रहार की मुद्रा में स्तंभित रह गये हल को खींचकर मैंने अपने दायें कन्धे पर धारण कर लिया ।

'हलधारी का आदेश लोक में सम्पन्न हो ! '

देवता फिर आसन पर स्थिर हो मुस्कुरा दिये ।

लोकरव सुनाई पड़ा : ' . . हमारे आराध्य देवता आज मानव-तन में प्रकट हो गये । पूर्व ऐसा तो कभी हुआ नहीं । शताब्दियों में कभी सुना नहीं था कि यहाँ हलधारी बलराम स्वयं बिराजमान हैं । धन्य भाग . . धन्य भाग । '

'जय बलदेवा, जय हलधारी ! . . '

. . हर्षावेग में बेभान गाते-नाचते हुए वे सारे लोकजन श्रमण की आरती उतारने लगे । मुझे किंचित् कौतूहल की हँसी आ गई : 'अरे मनुष्यो, कब तक यों देवताओं का सहारा लेते फिरोगे ? अपने भीतर बैठे देवता को नहीं पहचानोगे ? मैं वही तो हूँ . . ! '

लेकिन पूजा-प्रवाह का अन्त नहीं है । अपने बालकों के हत्यारे गोशालक को भी बलदेव का सेवक स्वीकार कर लिया उन्होंने । . . 'अरे हमारे पापों से हमें डराने को भगवान ने अपना भेड़िया हमारे बालकों पर छोड़ दिया था ! '

सो देवता के साथ उनका दण्डधारी भेड़िया भी पुजने लगा । लगा की अविकल्प श्रद्धा की इस माटी में तो मेरा हल गहरी से गहरी भूमि काट सकेगा ! . .

• • •

चोराक ग्राम के जम्बूवन तले अकारण ही चंक्रमण कर रहा हूँ । देखना चाहता हूँ, चलते समय मेरे पैर कहाँ पड़ते हैं । भूतल पर रेंगते अनेक सूक्ष्म जीवों के आवागमन में दृष्टि रम्माण हो गई । लगा कि विदेह हुआ जा रहा हूँ । पैर मेरे धरती पर पड़ ही नहीं रहे । नितान्त चेतना-प्रवाह हो कर, उन असंख्यात् जीवों की किंचित् देहों में संचरित हूँ । . . इस सुख का पार नहीं ।

गोशालक को सदा भूख लगी रहती है । और वह प्रायः गोचरी पर ही होता है । यहाँ भी वह अन्न की खोज में गया है । देख रहा हूँ : एक अमराई तले कुछ ग्राम-युवकों ने गोठ का आयोजन किया है । दाल, बाटी, चूरमे के वनभोजन का पाक हो रहा है । पाँतरे के ताजा घी की सुगन्ध से

वनभूमि महक उठी है। भोजन-रस-लुब्ध गोशालक किसी आम्र वृक्ष के तने की ओट छुप कर गहरे भोजन-ध्यान में लवलीन है। टुकुर-टुकुर ताक रहा है कि कब भोजन तैयार हो, और कब वह जा कर भिक्षा के लिये कर-पात्र पसार दे।

इस गाँव में आजकल चोरों का भय व्याप्त है। सो एक चौकसी पर बैठे युवक ने गोशालक को छुपे हुए देख लिया। 'चोर . . चोर' चिल्लाता हुआ वह उस पर झपटा। साथ ही और लोग भी झपट पड़े।

'अरे ये तो निरा भोला-भाला नंगा छोकड़ा है। इसकी क्या बिसात कि चोरी करे। किसी चोर का चर जान पड़ता है।'

सो किसी ने उसे धमका कर पूछा :

'सच-सच बताना रे, कहाँ है तेरा स्वामी, वह चोरों का श्री पूज्य ?'

गोशालक की जान में जान आयी। उसने सोचा : 'मेरे स्वामी का प्रताप देख कर, ये शरणागत हो जायेंगे। और मुझे मधु-गोलक की भिक्षा सहज ही सुलभ हो जायेगी।'

सो वह उन गोंठियों को जम्बूवन में ले आया। दूर से मुझे टहलते देख कर, वे हर्ष मनाने लगे। . . पकड़ाई में आ गया आज चोरों का सरदार। और वे एक साथ चीत्कार कर, मुझे मारने दौड़े।

उनके तड़ातड़ पड़ते लात-घूँसों के नीचे मैं वसुन्धरा-योग में गहरे से गहरे उतरता चला गया। इतना स्तब्ध और वज्रीभूत हो गया मेरा शरीर कि उनके चोटें करते हाथों को चोट लगने लगीं। वे अपने घायल हाथों को सहलाते, मेरी ओर एकटक देखते रह गये। . . सहसा ही उन्हें अनुभव हुआ कि उनके अंगांगों में चंदन का लेप हो गया है।

'अरे ये तो कोई अर्हत् जान पड़ते हैं ! . . '

और वे सब भूमिष्ठ प्रणाम कर, मन-ही-मन अनुताप-विगलित हो क्षमा याचना करने लगे।

'अपने ही को क्षमा करो, भव्यो, अपना अपराधी अपने सिवाय और कोई नहीं।'

और मैं अपनी राह बढ़ गया। गोशालक को पीछे पेट भर चूरमे का मधुरान्न प्राप्त हुआ . . ।

तृप्ति के आनन्द से किलकारी करता, वह मेरे पीछे दौड़ा आ रहा है।

• • •

कलंबुक ग्राम की ओर विहार कर रहा हूँ। सामने से वहाँ का शैलपालक कालहस्ति एक सैन्य की टुकड़ी लेकर चोरों के पीछे भाग रहा है। हम पर शंकित हो कर उसने पूछा :

'तुम कौन हो ?'

मैंने उत्तर नहीं दिया। गोशालक भी कौतुक वश सयाने वानर की तरह मौन रहा। आवाज फिर कड़की :

'सच बताओ, तुम कौन हो ?'

वनभूमि में उत्तर गूंजा : 'कोई नहीं . . !'

कालहस्ति चकित हो गया। ये तस्कर तो गूँगे-से खड़े हैं, और जंगल जवाब दे रहा है। जान पड़ता है, कोई जादूगर चोर हैं। खुद चुप रहते हैं और पेड़ों से उत्तर दिलवाते हैं। ये तो और भी खतरनाक हैं।

'सैनिको, बाँधो इनकी मुश्कें, और ले चलो गाँव में। मार खा कर ही ये भूत बोलेंगे।

सैनिक हम दोनों को एक ही मूँज की रस्सी से कस कर बाँधने लगे। मैं अप्रतिरुद्ध भाव से लहरा कर चुपचाप बँधता चला गया। गोशालक मुझसे चिपट कर कराहने लगा। मैंने उसे ताक कर चुप कर दिया। . . सैनिक हमारे रज्जु-बद्ध शरीरों को कन्धों पर लाद कर, ग्राम में लाये। कालहस्ति ने लकड़ी के भारे की तरह, हमें ला कर अपने भाई मेघ के समक्ष पटकवा दिया।

'अरे मेघ, ये इन्द्रजाली चोर हैं। अपनी माया से जंगल जगाते हैं। ओंखले के मूसल से कुट कर ही ये अपना भेद बतायेंगे। ये बड़े ढीठ जान पड़ते है। कछुवों की मोटी खाल कूटने पर ही बोलेगी।'

आँगन में एक बड़ा सारा पत्थर का ओंखला गड़ा हुआ है। हमें मुश्कें खोल कर खड़ा कर दिया गया। फिर मेघ गरजा :

'अरे दुष्टो, ताकते क्या हो, ओंखल तुम्हारे सिर की प्रतीक्षा में है। डालो इसमें अपने-अपने माथे !'

और मैंने ओंखल में सिर गड़ा कर अपने शरीर को उत्तान अधर मे ठहरा दिया। गोशालक थरथराते अंगों, धमनी का मृदंग बजाता हुआ, भाग छूटने का उपक्रम करने लगा। कालहस्ति ने उसे ढकेल कर, उसका भी सिर मेरे साथ ओंखल में दे दिया।

'चलाओ मूसल !' मेघ ने कड़क कर सैनिकों को आदेश दिया। गोशालक बिलख कर चिल्लाया :

'स्वामी . . ई ई ई ई !'

'अरे मूर्ख, ओंखले में सर दे दिया। अब मूसल से क्या डरना ?'

दो लोखण्डी मूसल हवा में तुलने लगे। . . अगले ही क्षण एक हुंकार के साथ हम पर मूसलों के प्रहार होने लगे।. . अरे यह क्या, मूसलों के आघात मानो हवा को खाँड़ रहे हैं। ओंखल में पड़े ठोस मस्तकों पर वे नहीं टकरा रहे। हवा को खाँड़ते-खाँड़ते सैनिकों को पसीने आ गये। मूसल धरती पर टेक कर वे हाँफते खड़े रह गये। कालहस्ति ने ललकारा :

'अरे इनके माथों को खाँड़ो सैनिको, हवा को क्यों कष्ट दे रहे हो ?'

'स्वामी, इन जादूगरों ने हवा को बाँध दिया है। मूसल इन पर चोट नहीं करते। हम क्या करे ?'

सुनकर सब चकित-स्तम्भित हो रहे। कालहस्ती ने फिर गर्जना की :

'उठो मरदूदों, तुम्हारा भूत उतारना होगा।. . सैनिको, बुलाओ खेचर तांत्रिक को !'

सहसा ही मैंने अपने को दण्डायमान देखा।

'तांत्रिक अनावश्यक है . . !' मेरे ओठों से फूटा।

और मैंने सैनिक के हाथ से मूसल लेकर अपने ही मस्तक पर वार किया। . . बीच में

मेघ ने हाथ फैला कर उसे झाल लिया।

'क्षमा करें, देवार्य वर्द्धमान कुमार ! आपके सिवाय यह किसकी सामर्थ्य हो सकती है ? . . वैशाली के देवर्षि राजपुत्र के प्रताप को पहचानने में देर हो गई। . . मैं मेघ, आपके पिता सिद्धार्थराज का चिर किंकर। आर्यावर्त के सूर्य को प्रणाम करता हूँ . . !' और कई मस्तक सामने झुके दीखे।

'कल्याणमस्तु ! . .'

कहकर यांत्रिक अपने पंथ पर आरूढ़ हो गया।

• • •

'वैशाली का देवर्षि राजपुत्र ?' . . इस टीके को अपने भाल पर धारण कर कब तक चलूँगा? निश्चिह्न आकाश के सिवाय और कोई शरीर मुझे स्वीकार्य नहीं। एक मात्र वह अन्तिम शरीर, जिसमें से सारे शरीर प्रकट होते हैं। जो अखिल का शरीर है।

यहाँ तो सभी मुझे पहचान लेते हैं। वैशाली का राजपुत्र मेरे असली और आखिरी चेहरे का अवगुण्ठन बना हुआ है। इस आवरण को छिन्न करना होगा। इस आर्यों की भूमि में श्रमण के तप-तेज से भी लोग प्रभावित और नमित होते हैं। यह तपोलक्ष्मी भी माया की एक सात्विक चादर ही लगती है। तमोगुण और रजोगुण से भी यह सतोगुण का आवरण अधिक भ्रामक और खतरनाक है। पुण्यप्रभा का छल तोड़ना ही तो सबसे अधिक दुष्कर है। अहंकार और ममकार का वही सबसे अधिक दुर्भेद और मायावी दुर्ग है। त्रिविध कर्म-मल को काटने के लिये सत, रज, तम के इस त्रिकोण को भी भेदना ही होगा।

सही पहचान एक ही हो सकती है : अन्तर्तम स्वरूप की पहचान। मेरा यह चेहरा उस स्व-रूप की आरसी जब तक न बन जाये, तब तक इसकी हर अन्य पहचान को अस्वीकार करता हूँ। अपने तप-तेज के सात्विक प्रभा-मंडल का यह प्रजा-वन्दन स्वीकारना, पुण्य की सुवर्ण साँकलों को समर्पित होना है। . .

अपने ही भीतर, अपनी सम्पूर्ण पहचान से अभी मैं बहुत दूर हूँ। आज ध्यान में अन्तश्चेतना के और भी गहिरतर पटलों का सहसा ही अनावरण हुआ। एक मूलगामी धक्के के साथ, जैसे कोई महा पुरातन आदिम चट्टान टूटी। कोई विराट् खन्दक खुल पड़ी। उसके अतल में अन्धकार का एक सीमाहीन रेगिस्तान फैला है। अँधियारे की राशिकृत बालुका-रज के प्रान्तर पर्त-पर-पर्त की तरह, दृष्टि के पार तक फैले हैं। कर्म-वर्गणाओं के दुर्विन्ध्य पहाड़ चारों ओर घटाटोप घिरे हैं। अनादिकालीन कषायों के तमसारण्य उनके ढालों को पाटे हुए हैं। उनकी अगम्य गोपनताओं में अहं-वासना के जाने कौन दुर्मत्त व्याघ्र हुंकार रहे हैं। वृक्ष के भीतर बेशुमार वृक्ष हैं, एक शाखा में अनन्त शाखाएँ फूट रही हैं। इन झाड़ी-झंखाड़ों और शाखा-जालों में बार-बार अपना अन्तर-सूर्य झाँक कर खो जाता है। कर्म के इन अपार पर्वतारण्यों को भेदे बिना विराम नहीं। मेरी इस देह में ही इसके मूल पड़े हैं। मेरी हड्डियों, और मेरे स्नायु-जालों में ही इनके शाखाजाल विस्तृत हैं। अब तक जो आघात इस शरीर पर हुए हैं, वे काफी नहीं। . . प्रचण्ड से

प्रचण्डतर होते आघातों के बिना, आदिम तमस का यह लोक ध्वस्त नहीं हो सकेगा। संसार में भ्रमण करते जीवों की तमाम एकत्रित हिंसा की एकाग्र चोट के बिना, पूर्ण चिन्मति का अखण्ड दीपक नहीं उजल सकेगा।

. . ऊपरी पहचान के इस सात्विक आर्यावर्त में वह चोट सम्भव नहीं। उसे पाने के लिये अनार्यों और म्लेच्छों के पहचानहीन देश में जाना होगा। वहाँ, जहाँ मुझे कोई पहचान न सके। जहाँ मनुष्य और मनुष्य के बीच की पहचान खो गई है। अपरिचय की घनघोर तमिस्रा में जहाँ आत्माएँ निरन्तर अपना ही पीड़न और घात करती विचर रही हैं। जहाँ चेहरे चीन्हे नहीं जा सकते। मुखमण्डलहीन, बेचेहरा, छिन्नमस्तों के झुंड जहाँ चारों ओर घूर्णिचक्र की तरह भटक रहे हैं।

अरे कौन प्रवेश करेगा उनकी आर्त्त-रौद्र चेतना के हिंसक अंधकारों में ? कौन उनकी अवचेतना में चिंघाड़ते भेड़िये के कराल जबड़े में कूदेगा ? . . उन्हें तुम्हारी प्रतीक्षा है वर्द्धमान ! . .

नरभक्षियों के देश में

अनार्यों के लाटदेश की देहरी पर पैर रखते ही पीछे से किसी ने टोका :

'इस प्रदेश में न जाएँ, आर्य। यह नरभक्षियों की भूमि है। भूले-भटके कोई आर्य कभी इस देश में चला गया, तो वह लौट कर नहीं आया ?'

'इसी से तो वहाँ जाना है . . ?'

'अनुरोध सुनें, भन्ते, आप उन लोगों को नहीं जानते।'

'जानता हूँ। इसी से तो जाना अनिवार्य हो गया है !'

मुड़ कर नहीं देखा, और लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ उस पथ-रेखाहीन जंगल में राह काटने लगा। . . छाया की तरह अनुसरण करता गोशालक चिहुका :

'आह, काँटे हैं कि तीर हैं ? और ये नुकीले पत्थर . . पैरों में भाले गड़ रहे हैं भन्ते . . !'

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। गति क्षिप्रतर होती जा रही है। अपने ही रक्त से जो पथ-रेखा बनती जा रही है, वह अचूक है। गन्तव्य को वही ठीक-ठीक पहचानती है। ग्रीष्म की प्रखर दोपहरी में लू के झकोरे प्रखरतर होते जा रहे हैं। अड़ाबीड़ जंगल पार कर खुले मैदान में पहुँचते ही भूँकते हुए कुत्तों के कई झुंडों ने अगवानी की। दोनों हाथों से उनका स्वागत करते हुए, निश्चिन्त पगों से उनके भूँकते मंडलों के बीच सहज ही यात्रा हो रही है। यात्री के इस अपनापे से वे अनभ्यस्त थे। उनकी भूँकें कौतूहली और मित्र होती आईं। मानो कि वे बोले : 'अच्छे पथिक, कहाँ से आये हो, कहाँ जाओगे ? . . और यहाँ आने की भूल तुमने क्यों की है ? . . ' उनकी भूँकने में कातरता आ गई है। मैंने उनके बड़े-बड़े डील-डौलों के झबरे बालों को सहला दिया।

मेरी पिंडलियों से रभस करते वे चलने लगे। गोशालक भी उन्हें सहलाता हुआ, आश्वस्त भाव से अनुसरण करने लगा।

कड़े बालों का एक वस्त्र कमर पर पहने कोई काकभुशुंडी श्रमण दण्ड धारण किये सामने आये :

'हे सुकुमार योगी, क्या मरने आये हो यहाँ ? लौट जाओ तुरंत। आततायियों के डेरे में क्या लेने आये हो ?'

'कुछ नहीं . . सब कुछ।'

'मौत भी ?'

'केवल जीवन।'

'मौत के जबड़े में . . ?'

'हाँ . . वही तो जीवन है।'

'मर कर . . ?'

'जीते जी।'

मै बेरोक चुप-चाप बढ़ा जा रहा हूँ। उत्तर मेरी आगे जाती पीठ से लौट रहे हैं। श्रमण ताकता ही रह गया।

. . लाढ़, वज्रभूमि, शुभ्र भूमि में, क्रमशः विहार कर रहा हूँ। काले, जामुनी या तांबिया वर्ण के अर्ध-नग्न नर-नारी वन-मानुषों की तरह भयंकर और खूंख्वार आँखों वाले है। जंगली जानवरों की तरह मॉदों में रहते हैं। या फिर चट्टानों में गुफाएँ तराश कर, या झाँखरों के झोंपड़ों में। इनके बीच मानो भक्षण और यौनाचार के सिवाय और कोई सम्बन्ध नही। चाहे जब कोई बलवान किसी निर्बल को आहार बना सकता है। अन्न-वनस्पति सुलभ होने पर भी जिघांसा वश एक दूसरे को मार कर मानुष-मांस के भोजन और रक्तपान का उत्सव करते हैं। अकारण ही एक-दूसरे को त्रास देना इनका प्रिय मनोरंजन है। एक-दूसरे को फाड़ खाना ही इनके मन का सबसे बड़ा पराक्रम है।

जहाँ भी जाता हूँ, मेरे शरीर को वे बनी चकित, मुग्ध, लोलुप आँखों से घूरते हैं। फिर रीछों जैसे बड़े-बड़े कुत्ते वे हम पर छोड़ देते हैं। उनकी तीखी भूंकों से माथा तड़कता है। अचानक कहीं से आकर वे पिडलियाँ नोच लेते हैं। जाँघों और नितम्बों में अपने हड़के दाँत गड़ा देते हैं। खून के फव्वारों के साथ मांसखण्ड गिर पड़ते हैं। किलकारियाँ करते कई स्त्री-पुरुष और बच्चे उस मांस पर झपटते हैं। आर्य के मांस-भोजन की स्पर्धा में उनके बीच मारा-मारी भी हो जाती है।. . उनकी लालसाकुलता को देख चलते-चलते अटक जाता हूँ। मेरी आँखें उनसे अनुरोध करती हैं :

'क्यों लड़ते हो, क्यों अकुलाते हो, आत्मन् ? यह शरीर तुम्हारे ही लिए है। कम नहीं पड़ेगा कभी इसका मांस। लो, खड़ा हूँ . . जी चाहा मुझे समूचा लो . .।'

वे चकराये, चुप ताकते रह जाते है। उनकी रक्ताक्त फाड़ खाती ऑखों में कैसा भोलापन झाँकता है। वे मुझसे पूछते है : 'ओ अजनबी, तुम कौन हो ? ऐसा आर्य पुरुष तो पहले हमने देखा नहीं !' . . मेरी नग्नता उन्हें बहुत प्रिय लगती है। उसके कारण वे मुझे अपने बहुत

निकट अनुभव करते हैं। . . कौतूहलवश मेरा शरीर छू कर देखते हैं। उँगलियों से मेरी चुम्मी ले कर किलकारी करते भाग जाते हैं। नंगे पहाड़ों-से पुरुष। नंगी धरती-सी नारियाँ। पेड़-पौधों जैसे बच्चे। विशुद्ध इच्छाजीवी हैं। उमंगों और आवेगों पर ही जीते हैं। हिंसा उनका हर क्षण का खेल है। वे नहीं जानते, कि वे क्या कर रहे हैं।

गोशालक को वे उठा कर चकरी या लट्टू की तरह घुमा देते हैं। खेल-कौतूहल में उसकी खूब मरम्मत करते हैं। वह इस समर्पण से शाकात्र पा जाता है। उनकी मांस-भक्षिता पर वह धिक्कार वाणी बोलता है। वे उसके उच्च उद्घोषों को अपना अभिनंदन मान कर, उसे मनचाहे अन्नपान से तृप्त रखते है। मुझे भी फलमूल ला कर भेट करते है। मै मुस्कुरा देता हूँ। वे समझते है, मैंने आहार कर लिया।

लाढ़ प्रदेश से विहार करने के दिन, एक छतनार बबूल वृक्ष तले पूजित पड़ी शिला पर ध्यानारूढ़ हो गया। . . सहसा ही दल बाँध कर नर-नारी चारों ओर घूमर नाचते दिखाई पड़े। झाँझरों की झमक, खंजड़ी की खनक, तुरही की तान, ढोलों की धमक। सारा जंगल गूँज रहा है। नदी, पर्वत, जलाशय उनके साथ एकतान नाच और गा रहे है। उनके भोले भाविक आदिम हृदयों को भरोसा हो गया है, कि सदियों से पूजित इस पत्थर का देवता आज प्रकट हो गया है।

. . वज्रभूमि मे प्रवेश करते ही जंगली साँढ़ हम पर छोड़े गये। डकारते हुए चढ़ आते है वे प्राणि, सींगों से भिट्टी मार कर हमें उछाल देते है। और कई एकत्रित सींगों की शैया पर हम झेल लिये जाते हैं। बीच-बीच मे गोशालक की चीख सुनाई पड जाती है। फिर वह मेरे अनुकरण मे चुप हो रहता है, और धीर भाव से इन आघातों को सहता है। तीखे सींगों के वेध से शरीर में जगह-जगह गड्ढे पड़ जाते है। रक्त-मांस निकल आते है। . उत्सर्गित हो कर सहते ही बनता है। लगता है, जैसे सारे शरीर मे से कई राहे खुल रही हैं। कितना सारा आकाश भीतर आ गया है। हाँफते हुए साँढ़ हारे-थके खड़े, चुपचाप ताक रहे है। उनकी आँखों के कोयों मे जल-बिन्दु चमक रहे है।

. . सुडौल, जामुनी पट्ठों वाले नर-नारी काना-फूसी कर रहे हैं 'कैसा उजला और मुलायम मक्खन-सा है इस आर्य का मास . . ! अरे, इसके घावों मे से रक्त नहीं, दूध झर रहा है।' वे बहुत उत्कंठित हो गये है। वे प्यार भी चोट दे कर ही करते है। उनके स्वभाव की विवशता को समझ रहा हूँ। इतनी चोटे एक साथ हुईं, कि सारा शरीर ही चूरचूर हो गया। पीड़ा हो तो किसे हो?

'अरे कितनी मधुर है, इस आर्य की बोटियाँ?'

'खाओ प्रिय, तुम्हारे ही लिए है, मेरी सारी बोटियाँ।'

'अरे कितना अच्छा है यह आर्य ! यह तो मीठे फलों से लदा वृक्ष है। आओ इसकी छाया मे विरमे और फल तोड़ कर खाये।'

उन सुन्दर काली माँओं ने अपने उन्नत नग्न स्तनों से श्रमण के घावों को चाँप लिया। ऐसा भरपूर उमड़ आया उनका मातृत्व कि वे रो आईं। रोना तो उन्हें अनजाना था। अपने आँसुओं को देख कर वे चकित और आह्लादित हैं। उनमें अपने पुरुषों और बच्चों के प्रति ऐसा प्यार उमग आया, जैसा पहले कभी उन्होंने अनुभव नहीं किया था। मेरे घावों में एक साथ कितने-कितने हृदय

कसक उठे हैं। शांति और सुख का यह आस्वाद अपूर्व है।

. . शुभ्र भूमि में न्यग्रोध के किसी छतनार वन तले एक विशाल चबूतरा देखा। वह इन आदिम जंगलियों का बलि-चौरा है। कोई आर्य भूला-भटका आ जाये, उनके देश में, तो उसकी सुन्दर काया को वे यहाँ अपने परोक्ष देवता की बलि चढ़ाते हैं।

चबूतरे की शांति में एक अद्भुत आवाहन है : '. . आओ आर्य, मैं कब से तुम्हारी प्रतीक्षा में हूँ।' न्यग्रोध के शाखा-पल्लवों ने मरमरा कर हामी भरी। . मैं चबूतरे के ठीक केन्द्र में जा कर प्रतिमा-योग से ध्यानस्थ हो गया। गोशालक भी मेरी पीठ पीछे सट कर, सुरक्षा की खोल में ध्यानलीन होने की चेष्टा करने लगा !

. . सारे गाँव में नक्काड़ा पीट कर घोषणा हुई :

'बलि चौरे पर बलि-पुरुष स्वयं ही आ बैठा है। हमारी भूमि का भाग खुल गया ! बलि-यज्ञ की तैयारी करो . ?'

साँझ डूबते-न-डूबते सैकड़ों मशालों के साथ दल के दल बाँध कर नर-नारी, आबालवृद्ध-वनिता, घोर कोलाहल के साथ चबूतरे के चारों ओर घूमर देते दिखाई पड़े। बलि-पुरुष के चारों ओर आग जला दी गई है। लपटों के मण्डल में वह निश्चल अवस्थित है। नाचते हुए सिंदूर-चर्चित कृष्ण बदन कराल भैरव-भैरवियों जैसे वे स्त्री-पुरुष, उन लपटों में अपने भाले और बल्लम तपाते जाते है, और ज्वाला केन्द्र मे बैठे हुए आर्य की देह मे चुभोते जाते हैं। बलि-पुरुष तो चूँ भी नहीं करता। लो, उसकी ओर से वे स्वयं ही उसके दाहक वेधन की वेदना को अपनी ही चीखों और कराहों से व्यक्त करते जाते हैं। इस आर्य की चुप्पी जितनी ही गहरा रही है, इसकी अक्रियता जितनी ही प्रखर हो रही है, उन बलि-कर्मियों के हजारों बरसों से रुद्ध हृदय अधिकाधिक सम्वेदित होते जा रहे हैं।

. . एकाएक उन्होंने देखा, आसपास का वह लपटों का घेरा जाने कहाँ अन्तर्धान हो गया। स्वयं बलि-पुरुष के शरीर से ही एक वह्नि-मण्डल फूट आया है। उसका शरीर ही मानो नील-लोहित ज्वालाओं का हो गया है। पर कैसे कोमल, मधुर, शीतल है उसकी देह के ये अग्नि-स्फुलिंग।

फूलों की तरह वे उन्हे मानो तोड़ कर उनसे अपने अंगों का शृंगार कर रहे है। फलों की तरह उन्हें हाथों मे झेल कर वे बड़े चाव से खा रहे हैं।

सोमल वृक्ष की पत्तियों की ताजी हरी सुरा पीते और नाच-गान करते वे यज्ञ-पुरुष की ओर तेजी से झपट रहे है। वे व्यक्ति न रह कर एक पुंजीभूत प्राणशक्ति बन कर मण्डला रहे हैं। और दल के दल वे उन अग्नि-शिखाओं पर टूट रहे हैं। और उनके पाद-प्रान्त में ढेर हो रहे हैं। . .

जाने कब . . . मशालें हठात् गुल हो गयी। एक स्तब्ध, अफाट सन्नाटे में अनगिन साँसें आपस में गुत्थम-गुत्था हो रही हैं। . . और फिर एक गहन सुषुप्ति का समाधीत प्रसार, और उसमें जंगल यकसा बोल रहा है।

सबेरे जब वह आदिम लोक-समूह जागा, तो देखा कि बलि-पुरुष वहाँ कहीं नहीं था। उन्होंने अनुभव किया कि वह उनके भीतर उदरस्थ हो कर उनकी रक्त-शिराओं में आत्मसात् हो

गया है। बलि-यज्ञ का ऐसा मधुपर्क तो उन्होंने पहले कभी चखा नहीं था। अपूर्व है यह स्वाद, और यह तृप्ति। इस भोजन का अन्त नहीं ! . .

. . आर्य देश की ओर लौटते हुए, पूर्णकलश ग्राम की तटिनी से विहार कर रहा हूँ।

• • •

देख रहा हूँ, सामने से ये जो दो जन आ रहे हैं, चोर हैं। लाढ़ देश की अनार्य भूमि की ओर तेजी से बढ़ रहे हैं। ठीक पूर्णकलश की भागल पर मैं उन्हें सामने से आता दिखाई पड़ा। गोशालक भाँप कर मेरे पिछवाड़े गुप-चुप मुझ से एकमेक हो रहा। मैं अकेला हूँ।

'ओह अपशकुन . . नंगा ! '

'जहाँ जा रहे हो, वह भी नंगों का ही देश है। उनका क्या लूटोगे ! '

'चुप . . लुच्चा कहीं का।'

'उनके पास जो था, वह तो मैं लूट लाया।'

'अरे यह भी कोई तस्कर जान पड़ता है। . . '

'लुटेरा हूँ, लेकिन पहले स्वयं लुटता हूँ, फिर औरों को लूटता हूँ। ऐसा कि कुछ छोड़ता नही।'

'अरे यह तो कुछ बोलता नहीं ? फिर जवाब कौन दे रहा है ? जान पड़ता है, मंत्रवादी चोर है।'

'जरूर कहीं गहरा खजाना गड़ा है इसके पास।'

'हूँ . . ! '

'ओ मायावी, बता कहाँ गड़ा है तेरा खजाना ? '

'मेरी नाभि मे ! . . '

'यों नहीं बतायेगा यह। इसकी नाभि फटेगी, तभी यह बोलेगा।'

और चीत्कार कर, वे अपनी कर्तिका उठाये मेरी नाभि में भोंकने को बढ़े। . . कि तभी हवा में एक बिजली कड़की। उसमें से वज्रास्त्र निकल कर उन दो मानुषों के मस्तक पर तड़का।

'नहीं इन्द्र, ये इस योग्य नहीं। अज्ञानी पर प्रहार कैसा ! '

चोरों के मस्तक पर फैली मेरी उत्तान बाँहों पर गिर कर, शक्रेन्द्र का वह वज्रास्त्र व्यर्थ हो गया।

'क्षमा करें अर्हत्, पहचानने में भूल हो गई।'

'ठीक हुई। घर लौट आये तुम, आयुष्यमान्।'

'प्रतिबोध दें, भगवन्।'

'अपने ही को लुटा दो। सारे जगत की सम्पदा, बिना लूटे ही तुम्हारे पैरों में आ पड़ेगी।'

'आँखें खुल गईं, भन्ते ! '

'देखो अपने ही भीतर। सारे खजाने वहीं गड़े हैं, अन्यत्र कहीं नहीं।'

लंगूर की तरह उछल कर गोशालक बीच मे टपक पड़ा और किलकारियाँ करने लगा। मैं

आगे बढ़ चला हूँ।

भद्दिला में वर्षायोग सम्पन्न किया है। गोशालक आसपास के ग्रामों में भिक्षाटन कर काल यापन करता रहा। चंपक-गन्धा नदी के एक निर्जन द्वीप में उत्कृष्ट कायोत्सर्ग हुआ। नदी की लहरीली बाँहों में आलिंग-सुख अनन्त हो गया। अचानक ही घनघोर वर्षा आरम्भ हो गई। नदी में दुर्दाम बाढ़ आई है। ग्राम-जनों ने बाढ़ में द्वीप को डूब जाते देखा। तट पर से अनेक कारुणिक पुकारें सुनायीं पड़ीं। हाय, श्रमण डूब गये। नदी ने बत्तीस लक्षणे पुरुष का भोग ले लिया। . .

. . कदली-समागम नामक ग्राम के आँगन में आ पहुँचा हूँ।

'प्रभु, यहाँ लोग याचकों को मुँह माँगा भोजन-दान कर रहे हैं। आइए भन्ते, रसवती का आनन्द लूटें।'

मैंने उत्तर नहीं दिया।

'भयानक हैं, आप, भन्ते। आपको भूख ही नहीं लगती क्या ?'

'तू है मेरी भूख, वत्स !'

'समझ नहीं पड़ता, भगवन्। आप तो चुप हैं। यह अर्थहीन उत्तर कौन देता है ? . .

'तो मैं अकेला ही भोजन पाऊँ, भन्ते ?'

. . गोशालक ने दानियों के द्वार पर जा कर भर पेट भोजन किया। फिर भी वह अतृप्त ही रहा। हाथ फैलाता ही चला गया। ग्रामजन बोले : 'जान पड़ता है, कोई पिशाच है !' उन्होंने विपुल अन्न से भरा-पूरा थाल ही उसे अर्पित कर दिया। वह सारा अन्न खा न सका। आकण्ठ खा कर वह उदर के अफारे से आक्रन्द करने लगा। पानी का घूँट तक उतारना अशक्य हो गया। लोग बोले :

'अरे तू अपनी आहार करने की क्षमता भी नहीं जानता रे ? भोजन पराया हो, पेट तो पराया नहीं ? जान पड़ता है, मूर्तिमन्त दुष्काल है !'

'अरे लोगो, मेरा तो पेट भी पराया है। जान पड़ता है, मेरा अपना तो कुछ है ही नहीं। इस नीच पेट तक ने धोखा दे दिया। अब तक यह साथ दे रहा था, आज इस पापी ने भी साथ छोड़ दिया !'

बड़बड़ाता हुआ और पेट पर हाथ फेरता वह मेरी ओर आया।

'भन्ते, पेट तक अपना नहीं रहा। क्या करूँ ? आप तो कुछ बोलते नहीं।'

'पेट में समा जा और देख, तू पेट है कि और कोई !'

'सच ही मैं पेट नहीं, भगवन्, कोई और हूँ। पर पता नहीं चलता, कौन हूँ। यह पेट बड़ा शत्रु है मेरा। आड़े आता है, और मुझे अपना पता नहीं लगने देता। . .

'भन्ते, आप कहें तो फाड़ फेंकूँ इस पेट को ?'

'पेट को अपने में समा ले। फिर तू ही रह जायेगा, वत्स।'

. . और वह चुपचाप मेरे समकक्ष ही ध्यानस्थ हो गया। •

अणु-अणु मेरा आगार हो जाये

जम्बूखण्ड और कूपिका से विहार करता हुआ, वैशाली की ओर अग्रसर हूँ। एक स्थल पर पहुँच कर, एक दोराहा सामने आया। एक मार्ग राजगृही को जाता है, दूसरा वैशाली को। चलते-चलते अचानक ही गोशालक बोला :

'नहीं भन्ते, अब मैं आपके साथ नहीं चल सकता। आपका मार्ग दुर्गम है। उसमे पद-पद पर आपद-विपद का अन्त नहीं। उस पर चलना मेरे वश का नहीं।

'हूँ. . !'

'फिर यह भी है कि जब कोई मुझे मारता है, तो आप मुझे बचाते नहीं। तटस्थ ही रहते है। उत्तर तक नही देते। आप कैसे तारक है, कैसे स्वामी हैं, समझ मे नहीं आता। आप तो अपनी ही रक्षा नहीं करते। आये दिन आप पर विकट उपसर्ग होते है, मुझे भी उनका भोग बनना पड़ता है। आग ही तो ठहरी, सूखे के साथ मुझ हरे को भी जला देती है। और लोग भी पक्षपाती हैं, पहले मेरा निकन्दन निकालते है, तब आपको पीटते है। आप तो पिटकर भी पटिये की तरह अप्रभावित रहते हैं, मेरा तो चूरा हो जाता है। सुस्वादु भोजन को मन तड़पता है, पर आप तो सदा उपासी, सो मुझे कई बार भूखों मरना पड़ता है। . . फिर आप तो पाषाण और रत्न मे, अरण्य और आलय मे, धूप और छाँव में, अग्नि और जल में, संहारक और सेवक मे कोई भेद ही नही करते। निर्विशेष समदृष्टि से विचरते हैं। ऐसे में मूढ़ पुत्र की तरह आपकी सेवा कब तक करूँ। निष्फल ताल-वृक्ष की फलाशाहीन सेवा मे इतने वर्ष बिता दिये। इस भ्रांति मे कब तक रहूँ। हो सके तो मेरी सेवा याद रखना। कभी तालवृक्ष फले तो मुझ अकिंचन को याद करे . . प्रभु ! विदा लेता हूँ भन्ते, आज्ञा दें . . !'

तालवृक्ष के निष्फल ठूँठ ने कोई उत्तर नही दिया। मखलिपुत्र गोशालक अकेला राजगृही के मार्ग पर चल दिया।

. . अविश्रान्त वैशाली के मार्ग पर विहार कर रहा हूँ। एक निगाह मेरी गोशालक का अनुसरण कर रही है। . . वह राह से भटक कर एक घनघोर अरण्य मे प्रवेश कर गया है। उसका चित्त जाने कहाँ पीछे छूट गया है। वह उन्मन भाव से, वृक्ष से टूटी डाल की तरह, चलते रास्तों पर टक्करे खा रहा है। किसी विशाल सर्प की बाँबी में जैसे चूहा भूल से घुस जाये, वैसे ही वह उस अरण्य भूमि में घुस गया। वहाँ विकट पाँच सौ चोरों का अड्डा था। गृद्ध-दृष्टि से एक चोर ने वृक्ष की डाली पर से गोशालक को आते देखा। उसने दूसरे चोरों से कहा :

'मित्रो, कोई द्रव्यहीन नग्न पुरुष आ रहा है।'

साथी चोरों ने कहा :

'नग्न भले ही हो, हम इसे छोड़ेगे नही। शायद किसी राज्य का चर हो, या चोर का चर

हो। और मित्र, राज्य भी तो चोरों का अड्डा ही है। चोरी करने का अपना-अपना ढंग ही तो है। आओ मित्रो, राज्य मे ही सुरग लगा दे, तो चोरी की झझट ही समाप्त हो जाये। न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी। . .'

और वे सारे चोर ठहाका मार कर हँसे।

'आओ मामा, आओ मामा, स्वागत है। खीर-पूड़ी तैयार है। भोजन करो। . .'

गोशालक प्रसन्न हो गया। श्रमण को छोड़ना तुरंत फलीभूत हो गया। तत्काल खीर-पूड़ी का आमन्त्रण मिल गया, वह भी इस घोर जंगल में, जहाँ न मानवी, न मानवी का जाया। खिली बाँछों से वह अपने हँसते यजमानों को हेरने लगा। चोरों ने उसे घेर लिया, और बारी-बारी से उसके कन्धों पर चढ़ कर, उसे साँढ़ की तरह हाँकने लगे। झापड़ मार-मार कर उसे दौड़ाने लगे। . . थोड़ी ही देर मे उसका दम अखीर होने लगा। उसे अन्तिम साँस लेता छोड़ कर, वे जगल के अपने अज्ञात डेरे मे जा छुपे।

गोशालक बिलख-बिलख कर रोने लगा · 'हाय, स्वामी से दूर होते ही श्वान की तरह इस दु सह विपत्ति मे पड गया हूँ। मै कृतघ्नी यह भूल गया, कि सकट आने पर मै तो सदा उनके अंगों मे दुबक जाता था, और मेरी ओर से भी वे ही सारी मार खाते थे। समर्थ हो कर भी वे अपनी रक्षा से उदासीन रहते थे, तो कोई गभीर कारण होगा। चुप रह कर भी वे अपनी आँखों से मुझे कितना प्यार करते थे। ऐसे स्वामी अब कहाँ पाऊँगा? हाय रे हाय, मै जनम-जनम का अभागा, अनाथ, अब उन नाथ को कहाँ खोजूँगा?'

और वह सिसकता, हथेलियों की पीठ से आँसू पोंछता, उस वनखण्ड का अतिक्रमण कर, स्वामी की खोज मे उद्भ्रान्त भटकने लगा।



नही वैशाली, आज मै तेरे द्वार पर नहीं आया, तेरे लोहकार के द्वार पर आया हूँ। जहाँ तेरे दुर्ग, तोरण-कपाट और कोषागारों की अर्गलाएँ ढाली और गढी जाती है, उस लोहशाला मे आया हूँ। तेरे लोहकार का घन मेरी प्रतीक्षा मे है, क्योंकि उसकी प्रकाण्ड निहाई भग्न हो गई है। उसका लोह गल गया है, और किसी भी तरह ढलने मे नहीं आ रहा है। वह चोट करे तो किस पर करे? तेरी जीर्ण और क्षीण हो गई अर्गलाओं को वह फिर से गढ़े, तो कैसे गढ़े?

वैशाली की सीमावर्ती महा लोहशाला के एक कोने मे बड़ी भोर ही आकर वज्र-योगासन में ध्यानस्थ हो गया हूँ। . . लोहकार चण्डवेग कई दिनों से रुग्ण था। हाल ही मे वह नीरोग हुआ है। आज के शुभ मुहूर्त मे, आरोग्य लाभ करने पर प्रथम बार उसने स्वजनों के साथ लोहशाला मे प्रवेश किया। कोने मे निगाह पड़ते ही वह चौंका, क्षुब्ध हो उठा :

'अरे इस मगल-मुहूर्त मे, कम्मशाला मे प्रवेश करते ही, यह कौन नंग-धड़ंग दिखाई पड़ा है? जान पड़ता है कोई दस्यु, श्रमण का रूप धर कर चुपके से यहाँ घुस बैठा है। लाओ, इसी पर अपने घन की पहली चोट करूँ और इसके रक्त से शुभारंभ का स्वस्तिक करूँ। . .

'मेरी कई दिनों से भग्न पड़ी निहाई, जुड़ने मे नही आ रही। इसके मस्तक की बलि उस

पर चढ़ाऊँ, तो शायद जुड़ जाये। . . '

और वह क्रोध से हुँकारता हुआ अपना घन लेने को दौड़ा। . .

'मैं तेरे घन की नयी निहाई होने आया हूँ, वैशाली के महालोहकार ! . . ' अपने भीतर मुझे सुनाई पड़ा।

. . और भग्न निहाई पर मस्तक ढाल कर श्रमण निश्चिन्त सो गया। लोहकार के परिजन भयानक दुर्घट की आशंका से डर कर भाग खड़े हुए।

लोहकार ने घन उठाकर फिर गर्जना की :

'ले पाखण्डी, तैयार हो जा। तेरे बलि-रक्त से आज मैं अपनी निहाई को साबुत करूँगा !'

'तथास्तु . . !'

और ज़ोर से घन को हवा में तीन बार घुमा कर वह श्रमण के मस्तक पर चोट करने को हुआ, कि घन उछल कर उसी के मस्तक पर आ टूटा। इससे पहले कि उस पर चोट हो, अन्तर-मुहूर्त मात्र में श्रमण के माथे ने लोहकार के मस्तक को छत्र की तरह छा लिया। . . घन भन्ना कर निहाई पर जा गिरा। खंडित निहाई चूर-चूर हो कर पारे की तरह बिखर गई।

'ओह, महाश्रमण वर्द्धमान कुमार ! वैशाली के मेरुदण्ड . . ! हाय, मेरी आँखों पर यह कैसा मायावी पर्दा पड़ गया था। क्षमा करें, भगवन्। आर्यावर्त के श्रमिकों के एकमात्र तारनहार मेरे सामने खड़े हैं। . . अपनी आँखों पर विश्वास नही होता। . .

' . . ओह प्रभु, आपके माथे पर यह रक्तधारा, यह फटान कैसी ? . . मेरे घन की चोट तो लौट कर मुझी पर आई थी न ? . .

'समझ गया, अपने हत्यारे के शिरस्त्राण हो कर, मुझ पर लौटे हुए मेरे ही वार को, तुमने अपने मस्तक पर झेल लिया . . !

'भन्ते, मुझे सौ बार धिक्कार है। उबार लें इस पापी को। मेरे लिए प्रायश्चित्त का विधान करें।'

'मैं वैशाली नहीं आया, केवल तेरे पास आया हूँ, आयुष्मान्। सावधान, मेरा नाम भी कहीं तेरे मुँह से न निकले। मैं उपस्थित हो कर भी, यहाँ अनुपस्थित हूँ।'

'एवमस्तु, भन्ते।'

एक दीर्घ सन्नाटा . .

'मेरे पाप का कोई प्रायश्चित्त नहीं, भन्ते ?'

'महावीर पाप नहीं देखता, वह केवल चिद्‌घन आत्मा देखता है। वही तू है, मै तुझे देखता हूँ।'

'कृतार्थ हुआ, कृपानाथ ! . . पर मेरी निहाई तो सदा को समाप्त हो गई, भन्ते ? अब क्या होगा, सदियों पुरानी ऐसी विशाल निहाई अब कहाँ मिलेगी ?'

'महावीर का मस्तक आज के बाद तेरी निहाई होगा, लोहकार ?'

'खम्मा, खम्मा स्वामी, मेरे पाप का अन्त नहीं।'

'पाप का सदा को अन्त हो गया। अपनी चिद्‌घन आत्मा के घन से अब तू मेरे मस्तक की

निहाई पर वैशाली के लिये नया शस्त्र गढ़ेगा। साँकलें और आगलें नहीं !'

'समझा नहीं, . . भगवन् ?'

'समय आने पर समझेगा, सौम्य।'

'प्रतिबुद्ध हुआ, देवार्य।'

'. . लौट पड़ा हूँ वैशाली से। राजमार्ग छोड़कर अड़ाबीड़ अटवी में राह काट रहा हूँ . . .। मेरे लहूलुहान पैरों को ये कौन दो मृणाल पीछे खींच रहे हैं . . ? नहीं आम्रपाली, आज नहीं . .। जानता हूँ, कल आधी रात तुम किसी विस्फोटक आवाज से अचानक जाग उठी थीं। तुम्हारे कक्ष के बन्द रत्न-कपाट अचानक टूट कर गिर पड़े थे . . .। नहीं, भ्रांति नहीं थी वह तुम्हारी। तुम्हारे द्वार मे महावीर खड़ा हुआ था। . . राख में ढँकी आग-सी तुम्हारी सुप्त वेदना जाग उठी। ठीक ही हुआ। पूत-पावनकारी है यह पावक। इसे दबाओ नहीं। निरन्तर प्रज्वलित रक्खो। इसी की राह एक दिन आऊँगा तुम्हारे पास। इसी भट्ठी में तुम्हे अपने हाथों नूतन वैशाली का भाग्य ढालना होगा . .। आज के बाद तुम्हारे द्वार पर कपाट बन्द नहीं होंगे। सुवर्ण-मुद्राओं की अर्गलाओं से वे जड़े नहीं रहेंगे। सब के लिये सब समय वे खुले रहेंगे। फिर सम्राट आये कि भिखारी आये। तुम समान रूप से सब की चाह पूरी करोगी। सब की हो कर रहोगी . .।'

'मै, जनपद-कल्याणी ?'

'जगदम्बा ही जनपद-कल्याणी हो सकती है।'

'. . नाथ, निगाह पड़ते ही तुम कहाँ चले गये ? दर्शन दे कर भी प्यासी ही छोड़ गये . . ?'

'मै ही तुम्हारी प्यास हूँ, अबे। मुझे सहना होगा।'

. . पैरों को बाँध कर पीछे खीचते बाहु-बन्धों के पुण्डरीक विवश ढलक कर खिल पड़े। श्रमण निष्ठुर पदाघात के साथ, अ॰॰ द कान्तार मे राह भेदने लगा।

• • •

. . शालिशीर्ष के उद्यान मे एक सघन शिरीष वृक्ष तले ध्यानस्थ हूँ। माघ-पूस की शिशिर रात्रि में हिमानी हवाएँ बह रही हैं। वृक्ष की घटा में से कैसी बर्फ पिघल कर शरीर पर टपक रही है। हिमवायु के झोंके उनमे बाण चला रहे है। शरीर के पोर-पोर मे बर्छियाँ बिध रही है।

. . किसने ऐसी कृपा की है, कि मेरे रे॰ ॰शे मे जमे हुए अनादिकाल के कर्म-मल कट रहे है। ओ . . तुम हो, बाण-व्यन्तरी कटपूतना। तापसी का रूप धर कर मुझे तारने आई हो। तन पर वल्कल, माथे पर जटा, और अपरूप सुन्दर मुखड़ा लेकर आई हो। मेरी खातिर कितना कष्ट किया तुमने ? इस शीत-पाले की रात मे हिम-सरोवर मे अपने को डुबो कर आई हो, ताकि अपने लावण्य के जल से मुझे सारी रात नहलाती रहो . .।

. . जानता हूँ, त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में तुम मेरी विजया नामा रानी थीं। मैं सहस्रों रानियों के बीच मदमत्त लीला-विहार करता था। तुम्हारे निवेदन-कातर, नारीत्व की मुझसे

बार-बार अवज्ञा हुई। ईर्ष्या, द्वेष, कुण्ठित वासना की तीव्रानुबन्धी कषायों को अपने अतल में दफनाये, तुम जन्मान्तर करती रहीं। एक साथ प्रीति और प्रतिशोध की आग में जलती हुई, अपने हर अगले जन्म में मुझे बावली-सी खोजती फिरी। बदला भुनाने को, या मेरा प्यार पाने को ? सो तो तुम्हीं जानो।

. . जानता हूँ, प्रतिशोध की हिंसा से पागल हो कर ही, आज तुम मुझे यह हिमदाह दे रही हो। पर प्रतिशोध भी तो उसी से लिया जाता है, जो नितान्त अपना हो। जिसके बिना रहा न जा सके। बदला लेने के बहाने जी भर मुझ से प्यार ही तो वसूल कर रही हो। तुमने इतनी अवहेलना सह कर भी मुझे इस योग्य समझा ! मैं तुम्हारे अस्तित्व की शर्त हो रहा। . . तो सुनो, अपराधी प्रस्तुत है : प्रतिशोध लो या प्यार करो, उसे कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। क्योंकि तुम्हारी आत्मा की लौ को उसने देख लिया है। जानो कि अब वह एकान्त रूप से तुम्हारा है। . .

'नाथ . . , मेरे तीनों लोकों और तीनों कालों के स्वामी ! आ गये तुम ? एक ही झटके में मेरी संसार-रात्रि को काट दिया तुमने। ठोड़ी पकड़ कर मेरा घूँघट उठा दिया तुमने। प्रीतम ने अपराधी की मुद्रा में आ कर आत्मार्पण कर दिया है। क्षमा किससे, कैसे माँगूं ? तुम्हें तो झेलते ही बनता है . .।'

श्रमण ने झुक कर अपने चरणों में पड़े उस तापसी के माथे को छू दिया। वे बँधी हुई ग्रंथिल जटाएँ खुल कर मुक्त कुन्तलों में महक उठीं।

. . देख रहा हूँ, किसी अनुत्तर दिव्य लोक के विमान पर खड़ा, निखिल लोक का अवलोकन कर रहा हूँ। . . लोकावधि-ज्ञान की सर्व-दर्शी श्रेणि पर आरूढ़ हो गया हूँ। आत्मा की शक्तियों और रहस्यों का पार नहीं।



भद्रिकापुरी आया हूँ। चन्द्रभद्रा नदी के तट पर, एक सप्तच्छद वृक्ष के नीचे, शिला तल पर बैठा हूँ। नदी की धारा पर निगाह स्थिर हो गयी है। ग्रीष्म की यह पाण्डुर तन्वंगी नदी विरहिणी-सी लगती है। सोच में पड़ कर, मेरे सामने मानो रुक-सी गई है। पूछ रही हो जैसे :

'कहाँ से आयी हूँ मैं, और कहाँ जाना है। बहते हुए जनम-जनम बीत गये, पर आज अपना पता पाने को जी बहुत अकुला गया है।'

'. . ओ नदी, बहती रहो अपने में अविकल। रुको नहीं, सोचो नहीं, पूछो नहीं : एक दिन आप ही जान लोगी कि कौन हो, कहाँ है तुम्हारा उद्गम, क्यों है तुम्हारा अभिगम, कहाँ है तुम्हारा निर्गम। . . '

. . आषाढ़ के पहले बादल गरजने लगे। वनभूमि नाचते मयूरों की पुकारों से पागल हो गई है। बिजलियाँ कड़कने लगी हैं। नदी और उसके तटवर्ती ग्राम अंजनी छाया में विश्रब्ध हो गये हैं। धरती के गर्भ में व्याकुलता है, विस्फार है, कि वह मेघ के उल्कावेध से बिद्ध हो, नवजीवन को झेले, धारण करे, असंख्य अंकुरों और जीवाणुओं में प्रस्फुटित हो।

. . पता नहीं कब, मूलाधार में अन्तर्लीन हो गया हूँ। मेरी पृथुल जंघाओं में पृथिवी

सिमट आयी है। पुनरावृत्ति से अब वह ऊब गई है। चाहती है, उसके शरीर में कोई अपूर्व नाविन्य लहक उठे। उसके अणु-अणु में कोई असम्भव नयी रूपश्री झलमला उठे।

दिशाएँ किसी वज्रभेदी शंखनाद से थर्रा उठीं। घनघोर गरजते मेघों का ब्रह्मांडी डमरू बजने लगा। कड़कती बिजलियों के त्रिशूल पर्वत-शिखरों में भिदने लगे। . . मूसलाधार वर्षा आरंभ हो गई। मेरी बाह्य चेतना जाने कब तिरोहित हो गई। दृष्टि मात्र रह गया हूँ : और देख रहा हूँ :

. . एक वातरशना पुरुष अधर में दण्डायमान है। उद्भिन्न गर्भा धरती, उसके आश्लेष के लिये आकुल, उसके चरणों में लिपटी है। उस पुरुष में कोई स्पन्दन नहीं, प्रतिक्रिया नहीं। वह स्वयं ही एक विशुद्ध क्रिया का प्रवाह है। क्रिया जो अगोचर है, पर स्वान्तःसंचारिणी है। धारासार वृष्टि-धाराएँ मानो उसी में से उठ कर, मेघनाद करती हुईं, उसी पर बरस कर उसका अभिषेक कर रही हैं। उसकी अस्थियाँ ही विस्फोटित हो कर बिजलियों मे कड़क उठती हैं : और फिर उसी पर टूट कर उसकी पसलियों में समा जाती हैं। उसी का स्नायुजाल, इन आसपास की अरण्यानियों में फैल कर, अपार शाखा-जालों में व्याप गया है। उसी के नाभि-कमल से उद्गीर्ण हो कर यह नदी उद्दाम वेग से अलक्ष्य में बह रही है। और जाने कब उसकी धमनियों में धँस आई है। . .

नदी में अनिर्वार बाढ़ आई है। आधी रात वह सारे तटवर्ती ग्रामों के उष्म आलोकित हजारों घरों को आप्लावित करती हुई, अपने में डुबा ले गई है। और मानो कि पृथ्वी के तटान्तों तक पहुँच कर, बेबस अपने ही में लौटती हुई, इस दिग्जयी पुरुष की जंघाओं में पछाड़े खा रही है। उसके पोर-पोर असंख्य गोपुरों से खुल पड़े हैं। और मानो शत-सहस्र नर-नारी, बाल-वृद्धों से भरे लोकालय के सारे बाढ़ में डूबे घर, उसकी मांस-पेशियों के, नयी धूप से जगमगाते, प्रान्तरों में आ कर सुरक्षित बस गये हैं। उनकी पुरातन इयत्ता खो गई है : अपनी नयी अस्मिता में अपने को पहचान कर वे आह्लाद से स्तब्ध हैं। इतना अधिक तो अपने आपको उन्होंने कभी नहीं पहचाना था . . !

. . वर्षा के बाद पहली बार आज नयी धूप खिली है। चारों ओर प्रसन्न हरियाली का प्रसार है। दूरवर्ती एक टीले पर बैठा देख रहा हूँ : सारे सन्निवेश के ग्रामजन रंग बिरंगे वस्त्रों में सजे, गाजे-बाजे के साथ जुलूस निकाल कर उस सप्तच्छद वृक्ष के तले आये हैं। उसके तलदेश में पड़े शिलातल की वे पूजा-आरती कर रहे है। यहाँ योगिराट् वर्षा-तप में ध्यानस्थ दिखाई पड़े थे, उन्हीं की कृपा से तो उनकी सारी बस्तियाँ, बाढ़ में डूब कर भी बाल-बाल बच गई थीं ! . . हाय, वे महापुरुष कुपित नदी-देवता को अपनी बलि चढ़ा कर, हमारा उद्धार कर गये ! . .

'. . अरे ओ भव्यो, कब तक अपने को भूल कर, भय के वशीभूत हो, सहस्त्र कोटि मिथ्या देवों को पूजते रहोगे ? तुम सब का त्राता तुम्हारे ही भीतर बैठा है। उसी को पाओ, उसी को ध्याओ, उसी को पूजो, उसी को प्यार करो। वही तुम्हारा एकमात्र तारनहार है। अन्यत्र और अन्य, और कोई नहीं, कोई नहीं, कोई नहीं . . !'

सप्तच्छद वृक्ष के नव-पल्लवों में से यह प्रबोधन वाणी सुनाई पड़ी। अपने अनजाने ही, आत्म-प्रतीति से आश्वस्त हो कर, आनन्द के गीत गाते ग्रामजनों की शोभा-यात्रा लौट गई।

तभी अचानक सुनाई पड़ा :

'स्वामी . . स्वामी . . मेरे स्वामी ! पा गया अपने नाथ को ! मैं मंखलिपुत्र गोशालक लौट आया, भन्ते। आप से बिछुड़ कर इन छह महीनों में मैंने अपार विपदाएँ सहीं। मृत्यु के मुख में से

लौट कर आया हूँ, प्रभु। आप ही के अनुगृह से नया जनम पाया है। अब इन श्रीचरणों को छोड़ कर जाने की भूल कभी नहीं करूँगा। भव-भव का भटका शरणागत है, भगवन्!'

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। कीचड़, शैवाल, पत्तों-काँटों से आकीर्ण गोशालक की घायल नग्न मूर्ति प्रणिपात में भूमिष्ठ देखी।

'बुज्झह . . बुज्झह, . . आत्मन्!'

'समझ रहा हूँ, भन्ते, सब समझ रहा हूँ। फिर भी बार-बार मूढ़ हो जाता हूँ। आपके पास कोई ऐसा कीला नहीं भन्ते, जिससे मेरे इस मन मर्कट को आप कीलित कर के रक्खें?'

मयूर-पींछी से उसके जटाजूट मस्तक पर तीन बार आघात कर, मैं प्रयाण कर गया। वह फिर पहले की तरह मेरा छायानुसरण करने लगा।



. . परिव्राट हूँ। परिव्राजन ही मेरा स्वभाव है। वही वस्तु और व्यक्ति मात्र की स्वाभाविक स्थिति है। द्रव्य के शुद्ध परिणमन का यात्री, परिव्राजक ही हो सकता है।

केवलज्ञान के सिद्धाचल पर आरूढ़ होना चाहता हूँ। तो त्रिलोक और त्रिकाल के अतलान्तों में अवरूढ़ होना पड़ेगा। परम उत्कर्ष पर पहुँचने के लिये, चरम अपकर्ष की इस प्रक्रिया से गुजरे बिना चैन नहीं। . .

. . कौन है यह गोशालक, जो एक अनिवार्य, आसुरी उत्तरीय की तरह मेरे कन्धे पर टँग गया है। अणु-अणु के बीज जो अज्ञान की अँधियारी खंदकें हैं, उन्हीं का यह विग्रह है। यह शुद्ध और नग्न अन्धकार की मूर्तिमान चुनौती है, जो निरन्तर मेरे ओरे-दोरे चक्कर काट रही है। महातमस के लोक में उतरने को यह मुझे प्रतिपल ललकार रहा है। यह वज्रीभूत जड़त्व का अनावरण स्वरूप है। इसके भीतर चैतन्य की जोत उजाले बिना निस्तार नहीं। अज्ञान के ध्वान्त-वलयों में उतरने के लिये, यह सीढ़ी बन कर सदा मेरे सामने चल रहा है। अज्ञान अभाव है। अन्धकार विभाव है। पाप, अन्धकार, अभाव की कोई सत्ता नहीं। वह नास्ति है। उस नास्ति के भ्रान्त भय को भेदे और छेदे बिना, अस्तित्व अपने स्वभाव से आलोकित नहीं हो सकता।

द्रव्य स्वभाव से ही सत् है, पवित्र है, प्रकाशमान है। परमाणु अपने निसर्ग रूप में ही दीप्त है। द्रव्य का वह अव्यक्त स्वभाव, अपने व्यक्त अस्तित्व में प्रकट न हो, ऐसा कैसे हो सकता है? अन्ततः सभी कुछ ज्योतिर्मय है। कण-कण अपने अन्तर्तम में एक अखण्ड ज्योति से भास्वर है। कई बार ध्यान में, प्रकाश के एक अफाट-विराट् प्रान्तर में अपने को विचरते देखा है। ग्रह-नक्षत्रों में वही आलोक जल रहा है। भूगर्भ के अँधेरों में वही रत्नों के रूप में दीपित है। प्राणि मात्र की आँखें उसी रोशनी से देखती हैं। जलचर, थलचर, नभचरों के शरीरों में, वनौषधियों में, वह जाने कहाँ कहाँ उद्भासित है। सारे चराचर पदार्थ उसी प्रभा के सहारे जीवन-चर्या कर रहे हैं। अन्ततः ज्योति के सिवाय कहीं कुछ नहीं है। उसे न जानना ही, एकमात्र पाप है, पतन है, अन्धकार है, मृत्यु में जीना है। उसे जानना और उसमें जीना ही, स्वभाव है, एकमात्र उत्कर्ष है, आनन्द है, मोक्ष है।

छह वर्ष बीत गये, अनागार भ्रमण कर रहा हूँ। ताकि अणु-अणु मेरा आगार-हो जाये। अपने उस आणविक घर में आदिकाल से जो जाले, धूल, अँधेरा डेरा जमाये हैं, उन्हें साफ करना होगा। उसी को जिनेश्वरों ने कर्मनाश कहा है। अनेक मोहजन्य अभिनिवेश, आसक्तियाँ, संस्कार-जाल अपने घर को मलिन और आवृत किये हुए हैं। मन और इन्द्रियों की जीवनवाही खिड़कियाँ, उनसे आच्छादित हो गई हैं। उस कल्मष को ध्वस्त किये बिना, जीवन निर्बाध, स्वस्थ, सम्वादी, सुखद नहीं हो सकता।

गोशालक के रूप में कर्मों का वही विषम चक्रव्यूह रात-दिन मुझे घेर कर चल रहा है। पर इस तमिस्रा के छोर पर जो दीपक अखण्ड जल रहा है, उसे मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। इसी से जीवन के इस विडम्बना-चित्र को मैं माया के भ्रामक पर्दों से अधिक कुछ नहीं मानता। गोशालक उसी का समग्र और जीता-जागता स्वरूप है। वह अस्तित्व के वैषम्यों का चलता-फिरता दर्पण है। वह पूरे जगत-नाटक का एक केन्द्रीय नट है। वह अज्ञानी संसार की सारी मूढ़ताओं का एक सचोट व्यंग्यकार और विदूषक है। अपना और सबका समान रूप से मजाक उड़ा कर, हास्य-विद्रूप करके, वह संसार की यथार्थ स्थिति को उजागर कर रहा है। वह अपनी बलि दे कर, औरों का पथ उजाल रहा है। उसे मैं नहीं अपनाऊँगा, तो कौन अपनायेगा ? मेरे सिवाय इस स्वार्थ-प्रमत्त जगत में उसकी तमोग्रस्त आत्मा को कौन प्यार करेगा ? उसकी भोली, मूढ़, विभोर आँखों में अनेक बार, उसकी मुमुक्षु आत्मा के उद्ग्रीव दीये को मैंने देखा है। . .

कौन उत्तर देता है

फिर मगध में विहार कर रहा हूँ। इसकी सतह पर नहीं चल रहा, इसकी तहों में विचर रहा हूँ। कितना प्रशस्त, गहन और लचीला है इसका गर्भकोश। उसके गहराव में गोपित है एक श्रीकमल। उसकी सहस्रों पाँखुरियों में निर्बाध संचरित हो रहा हूँ। किसी परम गर्भाधान को आकुल माँ की कोख की तरह यह भूमि मुझे अपने में आत्मसात् कर रही है।

पर इसकी सतह पर चल रहे कूट-चक्रों का अन्त नहीं। मगधेश्वर श्रेणिक लुब्धक पुरोहितों, कुटिल ब्राह्मणों, तांत्रिक रासायनिकों से घिरा रात-दिन साम्राज्य-विस्तार के षड्यंत्र रच रहा है। आये दिन नित्य हो रहे पशु-यज्ञों से मगध का आकाश मलिन और संत्रस्त है। श्रेणिक के तांत्रिकों ने विष-कन्या के प्रयोग से अजेय योद्धा अंगराज दधिवाहन की हत्या करवा दी है। और पूर्व के समुद्र-दुर्ग चम्पा पर अधिकार कर लिया है। पर उसकी मदिरा के नीलमी प्याले मे जो परछाँही पड़ रही है, वह साम्राज्य की नहीं सुन्दरी की है। अनुपम सौन्दर्य का खोजी अन्ततः आत्मकामी होता ही है। काम अपनी उद्दामता के छोर पर पहुँच कर आत्मकाम ही हो सकता है। . .

श्रेणिक, तेरा तन-मन चाहे जहाँ भटके : और उसे अभी बहुत भटकना है। पर तेरी चाहत की सुन्दरी मेरे अन्तःपुर में बैठी है। उसके पास पहुँचे बिना तुझे चैन नहीं मिल सकता। सो

तेरी सारी प्रवृत्तियों और षड्यंत्रों की धुरी पर वही कमला आसीन है . . । जिस दिन वह चाहेगी, अपनी बाहु के एक ही आलोड़न से वह तुझे अपनी छाती पर खींच लेगी । तेरे सारे रास्ते अन्ततः उसी कमला के महल की ओर जा रहे हैं ।

श्रेणिक, पिछली बार तू अपने ऐश्वर्य के बीच मुझे आमंत्रित करने आया था । मैं चुप रहा । आँख उठा कर भी मैंने तेरी ओर नहीं देखा । क्योंकि मेरी दृष्टि एकाग्र तेरी आत्मा पर लगी है । उसकी मुझे जरूरत है । तरल, निर्मल, और निष्कपट है तेरी चेतना । ठीक मुहूर्त आ जाने पर वह मेरे प्याले में सहज ही ढल जायेगी । पर आज मेरी चुप्पी और अवहेलना से तू नाराज है । अपने चाटुकारों के बीच तू श्रमण वर्द्धमान की निन्दा में रत रहता है । साम्राज्य को भूल तेरा समूचा जी इस नग्न भिक्षुक में आ अटका है । इसकी महिमा को ढाँके बिना तू अपना प्रताप महसूस करने में असमर्थ है । साम्राज्य और सुन्दरी से भी अधिक तू इस महिमा की अभीप्सा से पागल हो उठा है । इस भिक्षुक के अहंकार को तोड़े बिना, तेरे सम्राट का अहंकार खड़ा नहीं रह पा रहा । तेरे पराजित और घायल अहम् की इस वेदना को अनुभव कर रहा हूँ । लेकिन तू भ्रांति में पड़ा है, श्रेणिक ! अकिंचन वर्द्धमान के पास तो वह अहकार भी नहीं बचा । उसने तो सभी कुछ हार दिया । और यदि तेरी दृष्टि में अभी भी उसका कोई स्वत्व बचा है, तो उसे भी वह तेरे निकट हार देने आया है । ऐसे सर्वहारा और अकिंचन की प्रतिस्पर्द्धा में तू पड़ा है, तो इष्ट ही हुआ है । अपने को समूचा हारे बिना तेरा निस्तार नहीं । उस भिक्षुक जैसा हुए बिना, तेरा जीना असम्भव हो जायेगा । जानता हूँ, मद्रूप हो कर ही तुझे चैन मिलेगा । तुझ जैसा अपना प्रेमी और कहाँ पाऊँगा . . ?

कई बार पंचशैल की तलहटी में कायोत्सर्ग से निर्गत होने पर देखा है, मगध की सम्राज्ञी चेलना जाने कब से सामने बैठी है । मुक्तकेशी, उज्ज्वल वसना, घुटने पर चिबुक टिकाये वह एकटक भिक्षुक के धूलि-धूसरित चरणों में तन्मय है । मुझे उन्मुख देख, उसकी वे बड़ी-बड़ी चिन्तामणि आँखे मेरे चेहरे पर व्याप जाती हैं । उस चितवन का अथाह दरद, और उसकी आरती मुझे विवश कर देती है । उसके विदग्ध विलासी लोचनों में, सम्यक्त्व की अनाविल आभा झाँकती है । उन पलकों के किनारों मे छलकते गोपन सरोवर में योगी चाहे जब स्नान-केलि करने चला जाता है । . और कभी-कभी उसमे गहरी डुबकी लगा कर, मगध की धरती के लचीले और उदात्त गर्भ मे उतर जाता है ।



आठ महीने मगध में विहार करता रहा । कोई विघ्न या उपसर्ग राह में नहीं आया । मेरे भीतर के मार्दव को, इसी मार्दवी भूमि ने पहली बार ऐसा अचूक उत्तर दिया है । . . अच्छा मागधी, अब हम चलेंगे । अटकना हमारा स्वभाव नहीं, अटन ही हमारी एकमात्र चर्या है ।

. . आलंभिका में वर्षायोग सम्पन्न कर कुंडक ग्राम आया हूँ । यहाँ के वासुदेव मन्दिर के एक कोने में ध्यानस्थ हो गया हूँ । एकाएक दिखाई पड़ा : गोशालक वासुदेव की प्रतिमा के सम्मुख अपना पुरुष-चिह्न रख कर उद्दण्ड भाव से खड़ा है । पुजारी उसे देखते ही भय से काँप उठा । उसे लगा कि किसी मनुष्य की सामर्थ्य नहीं, जो ऐसा कर सके । निश्चय ही गाँव के भैरव यहाँ

प्रकट हो कर, यह रुद्र-क्रीड़ा कर रहे हैं। वह बेदम वहाँ से भागा और ग्रामजनों को बुला लाया। क्षण भर वे भी भैरव के भय से आतंकित हो रहे। तभी गाँव के लड़के किलकारियाँ करते हुए गोशालक पर टूट पड़े। देखते-देखते उन्होंने लात-घूँसे मार कर उसकी हड्डी-पसली एक कर दी। फिर उसे ले जाकर बाहर कहीं कटीली झाड़ियों में डाल दिया।

दोपहरी के निर्जन सन्नाटे में छिले बदन, दीन मुख, हत प्राण गोशालक मेरे सामने आ खड़ा हुआ।

'स्वामी, आपका हृदय पत्थर का है कि फौलाद का ? मुझ निरपराध को दुष्टों ने मरणान्तक मार मारी, और आप चुपचाप खड़े, तमाशा देखते रहे ?'

'हूँ . . !'

'मेरा क्या अपराध है, भन्ते ? आप तो जानते हैं, मैं चिर दिन का अस्खलित ब्रह्मचारी हूँ। आप ही का नग्न निर्ग्रंथ शिष्य हूँ। पर यह कामदेव बड़ा नीच और निर्लज्ज है, प्रभु ! पिशाच की तरह वह मुझ पर चढ़ बैठा है, और अपने दारुण ज्वर से उसने मुझे हताहत कर दिया है। आप तो मेरी गुहार सुनते नहीं, सो मैं दीन-दयालु वासुदेव की शरण चला गया : अपना उद्विग्न कामदण्ड मैंने उनके सामने नैवेद्य कर दिया, ताकि वे कामदेव के इस क्रूर वाहन को ही लील जायें, और मुझे सदा के लिये इस दुष्ट की उपाधि से मुक्त कर दे। अब आप ही न्याय करें, भन्ते, इसमें मेरा क्या दोष था . . ?'

'कापालिक . . !'

मन्दिर की दीवारों ने प्रतिध्वनित किया . 'कापालिक . . कापालिक . . कापालिक . . !'

'मैं कापालिक ? आपका परम प्रियपात्र शिष्य मैं . . . और कापालिक ?'

'वह तू नहीं। वह तेरे मन की एक पर्याय। अवश्यम्भावी। तू लिंगकाम नहीं। तू है लिंगातीत महाकाम।'

'तो फिर इस दुष्ट काम को कैसे जीतूँ, भन्ते !'

'क्रोध से कामजय करेगा रे ? कषाय के कषाय जय कैसे होगा ? सदा स्वयंकाम रहा। जो स्वयं ही अपना काम हो रहे, वह सहज ही पूर्णकाम होता है। अकाम नहीं, पूर्णकाम ही हुआ जा सकता है, वत्स।'

'मैं मूढ़ मन्द मति आपकी गूढ़ बातें समझ नहीं पाता, भन्ते !'

'समझ नहीं, केवल सुन, देख, सह, तप। अनुभव आप ही प्रकाश है।'

'प्रबुद्ध हुआ, भन्ते !'

• • •

पुरिमताल के शकटमुख में उद्यान चंक्रमण कर रहा हूँ। सामने दिखाई पड़ रहा है कचनार-वन। तलदेश कचनार के कासनी फूल-गुच्छों से छाया है। . . ध्यान आ रहा है, यहाँ एक दिन इस नगर के वागुर श्रेष्ठि ने अपनी वन्ध्या सेठानी के साथ कुसुम-क्रीड़ा की थी। क्रीड़ा में तल्लीन

विचरते हुए, ये युगल एक विशाल जीर्ण मन्दिर की ओर जा निकले। कौतुक वश देवालय में प्रवेश कर गये। शून्य चैत्य के देवासन पर मल्लिनाथ प्रभु के अत्यन्त मनोहारी जीवन्त बिम्ब के दर्शन हुए। उन अर्द्धनारीश्वर प्रभु के रूप में एकबारगी ही उन्हें नर-नारी के दर्शन हुए। देख कर श्रेष्ठी-युगल की मर्म-वेदना उमड़ आई। वन्दना में विनत हो कर उन्होंने प्रार्थना की : 'हे देव, आपके अनुग्रह से यदि हमें सन्तान लाभ हो, तो हम आपके जिनालय का जीर्णोद्धार करायेंगे। चिरकाल आपके भक्त हो कर रहेंगे ! . . '

मल्लिनाथ तो कुछ करते नहीं। वे न तो नर हैं, न नारी हैं : बस केवल आप हैं। पर उनकी भावमूर्ति से अभिभूत हो कर उस युगल के हृदय में अन्तर्निहित भगवत्ता जागृत हो उठी। भाव ही तो भगवान है। . . वह पूर्ण प्रकट हो जाये, तो असम्भव सम्भव हो जाये।

. . वन्ध्या भद्रा सेठानी गर्भवती हो गई। यथा समय एक सुन्दर पुत्र से उसकी गोद भर गई। .

. कचनार वन की शीतल सौरभ-छाया में मुझे गभीर निजानन्द की रस-समाधि हो गई। . .

• • •

मन्दिर का जीर्णोद्धार हो गया है। वाजिंत्रों और मंगल-ध्वनियों के हर्ष-कोलाहल के साथ भारी शोभा-यात्रा इस ओर आ रही है। मंदिर में सिद्धचक्र पूजा का भव्य अनुष्ठान चल रहा है। सबसे आगे दुइज की चन्द्रकला-सा शिशु गोदी में उठाये भद्रा सेठानी भक्ति-विनम्र भाव से चली आ रही हैं। उनकी दायीं ओर पुलक-रोमांचित वागुर श्रेष्ठि चल रहे हैं। . .

कचनार वन की कुसुम-क्रीड़ा का स्मरण होते ही, दम्पति ने सहज ही उधर दृष्टि उठायी। युगल के पाँव वहीं ठिठक गये। सारा हर्ष-कोलाहल आश्चर्य-विमुग्ध, स्तंभित हो रहा। दम्पति आनन्द-विभोर हो पुकार उठे :

'हम धन्य हुए, हमारा मानव-जन्म कृतार्थ हो गया ! मल्लिनाथ प्रभु ने साक्षात् प्रकट हो कर, हमें दर्शन दिये . . । भगवान मल्लिनाथ जयवन्त हों, जयवन्त हों, जयवन्त हों !'

सारी लोक-मेदनी अन्तहीन जयध्वनि करने लगी। भद्रा ने अपनी उपलब्धि को प्रभु के चरणों में अर्पित कर दिया। मन्दिर की सारी पूजा-अर्चा कुसुम-वन में आ गई। कचनार ने ढेर-ढेर फूलों की वृष्टि की। . .

मैं मुस्कुरा आया। . . शून्य मंदिर में फिर एकाकी हो गये मल्लिनाथ क्या सोच रहे होंगे ! . . . मुझे क्या पता, कि वही देवासन त्याग कर यहाँ बाहर आ गये हैं। भगवान से भी अधिक समर्थ है शायद भक्त। जो अपने भाव के बल उनसे मनचाहा करवा लेता है। भाव ही तो वस्तु-स्वभाव है।

• • •

उष्णाक नगर की ओर अग्रसर हूँ। हठात् गोशाला चिल्ला उठा :

'अनर्थ . . अनर्थ . . अनर्थ हो गया, भगवन् ! हाय-हाय, कैसा अपशकुन हो गया . . अमंगल . . अमंगल . . !'

मुझे अप्रभावित, अक्षुण्ण चलते देख कर वह फिर चीखा :

'अरे प्रभु, आप तो चलते भी ध्यान में ही हैं। अच्छा-बुरा, कुरूप-सुरूप कुछ भी नहीं देखते। बचाइये प्रभु, इस दुर्दैव से बचाइये !'

मैं चुप, अकम्प वैसा ही चल रहा हूँ।

'अरे स्वामी, ऐसा बीभत्स दृश्य तो मैंने कभी देखा नहीं। मन खराब हो गया। असह्य है . . असह्य . . असह्य है यह विद्रूप। . . अरे एक निगाह देखें स्वामी, ये तुरत के ब्याहे वर-वधु आ रहे हैं। कितने बड़े-बड़े हैं इनके पेट, साक्षात् वृकोदर हैं। और ये इनके बड़े-बड़े भयंकर दाँत ! अरे, ये दाँत हैं कि दराँते हैं। बत्तख-सी लम्बी हैं इनकी गर्दनें। और ये ठोड़ियाँ हैं कि घोड़ियाँ, चाहो तो इन पर सवारी कर लो। कन्धों में कूबड़ें निकल आयी हैं, कि पहाड़ियाँ हैं? और ये इनके चपटे नाक हैं, कि सपाट मैदान ! अहो, धन्य है विधाता की लीला ! कैसी अनुपम जोड़ी मिलायी है, खोजे न मिले। जान पड़ता है, ये विधाता भी बड़ा कौतुकी है, भन्ते !'

गोशालक ठीक उनके सम्मुख जा कर ही, उच्च स्वर से यह काव्य-गान कर रहा है, और उन्मादी की तरह अट्टहास कर रहा है। साथ के बारातियों ने सहसा ही इस तल्लीन कवि को धर पकड़ा और चोर की तरह मयूर-बन्ध से बाँध कर बाँस की झाड़ी में फेंक दिया। वंशजाल में उलझा, छटपटाता वह गुहार रहा है :

'हे स्वामी, इन दुष्टों ने मुझे जानवर की तरह बाँध कर, दुर्निवार कंटक जाली में घुसेड़ दिया है। फिर भी आप मेरी उपेक्षा कर रहे हैं? आँख उठा कर देखते तक नहीं? औरों पर तो आप अढलक कृपा करते हैं। क्या अपने इस दीन सेवक पर ही कृपा नहीं करेंगे?'

मैं निरुत्तर ही आगे बढ़ गया। कुछ दूर जा कर खड़ा रह गया, उसकी प्रतीक्षा में। . . मुझे यों अटका देख, बारातियों ने सोचा, जान पड़ता है यह कोई दुर्विपाक का मारा दुर्मति इन महातपस्वी देवार्य का सेवक है, पीठधारी और छत्रधारी है। . . सो उन्होंने उसे उठा कर, उसके पाश खोल, मेरे सामने पुटरिया की तरह ला पटका, और वन्दन-नमन कर क्षमा-याचना करते अपनी राह चल पड़े। गोशालक अभी भी पुटरिया बना ही पड़ा है, बन्धन खुलने का उसे भान नहीं।

'स्वामी, क्या अपराध है मेरा, जो इन दुष्टों ने मुझे ऐसा दारुण दण्ड दिया है? अरे मैं तो जो यथार्थ देखता हूँ, वही कहता हूँ। कुरूप को कुरूप कहना भी क्या गुनाह है, भन्ते? ऐसा बीभत्स रूप, कि अभी तक मुझे मतली हो रही है। . .'

'क्या आकार को ही देखेगा, आत्मा को नहीं देखेगा रे?'

'असुन्दर आकार की आत्मा कैसे सुन्दर हो सकती है, प्रभु? सुरूप और कुरूप जुड़ ही कैसे सकते हैं?'

'स्वरूप देख वत्स, जो सदा सुन्दर ही होता है। स्वरूप देखने की दृष्टि नहीं खुली है, इसी से तो विरूप देख रहा है?'

'ऐसा कोई अंजन नहीं है, भगवन्, आपके पास, जो आप मेरी आँखों में आँज दें, तो सर्वत्र सुन्दर ही दिखाई पड़े, असुन्दर देखने की पीड़ा से ही सदा को मुक्ति पा जाऊँ ?'

'वह अंजन तेरे ही पास है, आयुष्यमान्, तेरी आत्मा की शीशी में।'

'आत्मा तो अरूपी है, भन्ते, उस में सुन्दर रूप दिखाने वाला अंजन कहाँ से मिलेगा ?'

'सारे रूप उसी अरूप में से आते हैं। उस अरूप का स्वरूप प्रकट हो जाये, तो सभी कुछ सुन्दर हो जाये। द्रष्टा भी, दृश्य भी।'

'ऐसा रसायन, भन्ते, आपके सिवाय और कहाँ पाऊँगा ? बूँद-दो-बूँद अपने इस दासानुदास को भी पिला दें, तो देह और देही की झंझट ही खत्म हो जाये। जैसा भीतर, वैसा बाहर। . . अरे, पा गया . . पा गया . . पा गया, भगवन् ! यही गुर तो मैं खोज रहा हूँ। भीतर-बाहर का यह भेद जगत में देख कर ही तो मेरी आत्मा पीड़ित होती है, और आये दिन रोज मुझे मार पड़ती है . . !'

'मद्रूप हो जा, वत्स, तो तद्रूप हो ही जायेगा . !'

और मै आगे बढ़ गया। गोशालक भी सीधा सड़क हो, पीछे-पीछे चलने लगा।

• • •

गोभूमि सन्निवेश के चरागाह में आ कर खड़ा हो गया हूँ। गोचारण करते ग्वालों को देख, गोचरी का स्वरूप साक्षात् कर रहा हूँ।

सहसा ही गोशालक का तीव्र आवेश भरा स्वर सुनाई पड़ा है :

'अरे ओ बीभत्स मूर्ति वालो, अरे ओ विकट कर्कटो, अरे ओ म्लेच्छो, अपने ही गोचर में शूरवीर बन विचरते गोपालो, कहो तो यह मार्ग कहाँ जाता है ?'

गोपाल बोले :

'अरे ओ पंथी, तू बिना कारण हमें क्यों गाली देता है ? हमने तो तेरा कुछ बिगाड़ा नहीं। जा साले, तेरा नाश हो जाये ?'

गोशालक और भी उत्कट हो बोला :

'अरे ओ दासी-पुत्रो, जो तुम मेरा यह आक्रोश सहन नहीं करोगे, तो मैं और भी आक्रोश करूँगा। मैंने तो तुमको कोई गाली दी नहीं। सच पूछो तो मैं सब को गाली दे रहा हूँ। मैं इस सारी दुनिया से नाराज हूँ। यहाँ का सब मुझे कुरूप और कदर्थी लगता है।'

'लगता होगा तुझे। उसके लिए हमे क्यों गालियाँ दे रहा है ? हमने तेरा क्या बिगाड़ा है, षण्ड ?'

'अच्छा, यह बताओ, क्या तुम म्लेच्छ नहीं हो, बीभत्स नहीं हो, दासी-पुत्र नहीं हो ? तुम्हारी अहीरनी माँएँ क्या इन धूर्त ग्रामपतियों की भोग-दासियाँ नहीं हैं ? हिम्मत हो तो, सच-सच बतलाना . . !' •

ग्वालों ने क्रुद्ध हो कर, अपने चौपायों को हाँक दी, और उन्हें गोशालक पर दौड़ा दिया। निरीह गो-बैलों के सींगों और खुरों की मार से कुचल कर वह अधमरा हो रहा।

. . मैं अपनी राह पर दूर निकल गया हूँ। हाँफता-हाँफता गोशालक पीछे दौड़ा आया।

'आप के मौन का रहस्य समझ रहा हूँ, भन्ते। चुप रह कर आप मेरे चैतन्य की शीशी खोल रहे हैं। आज तो जान पड़ता है, सींगों और खुरों की मार से वह फूट पड़ी है। एक साथ उसका सारा अंजन मेरी आँखों में लग गया है। गोरज ने भीतर तक घुस कर मेरी आँखों के सारे जाले काट दिये हैं। पर ठीक पता नही चल रहा है, कि इस दुनिया की कुरूपता नंगी हुई है, या मेरी ही कुरूपता उघड़ कर सामने आ गई है। आपके साथ घिसते-घिसते कभी तो शालिग्राम हो ही जाऊँगा, प्रभु ?'

मैने कोई उत्तर नही दिया, और चुपचाप अपने यात्रा-पथ पर आरूढ़ हूँ।

. . राजगृही की सुरम्य शाद्वल हरियालियों में जो चौमासा बीता है, उसकी कोमलता तले, भीतर की तहों में छुपे कर्म-कंटक-कान्तार और भी प्रबल हो कर उभरे है। सो फिर म्लेच्छ खंडों की यात्रा की है। वहाँ के छेदन-भेदनकारी उपसर्गों से, इस देह के कोशों और नाड़ियों के कई सर्प-गुंजल्की ग्रंथिजाल छिन्न-भिन्न हुए हैं। . . नहीं इन्द्र, मुझे तुम्हारी सहायता की जरूरत नही। श्रमण अपनी ही आत्म-शक्ति को शाण-पट्ट पर चढ़ा कर अरिहन्त होते हैं . . !

कूर्मग्राम में प्रतीक्षा करता गोशालक फिर मेरे साथ हो लिया। सिद्धार्थपुर के मार्ग में सात फूलों वाला तिल का एक क्षुप देख कर उसने पृच्छा की :

'स्वामी, यह तिल का क्षुप फलेगा कि नही ?'

'यह फलेगा भद्र ! इन सातों ही फूलों के जीव एक फली मे सात तिल होंगे।'

यह सुन कर गोशालक ने उस तिल स्तम्भ को वहाँ से उखाड़ कर फेक दिया। . . आगे जा रहा हूँ, और पीछे का दृश्य दिखाई पड़ रहा है। . . अकाल मेघवृष्टि हुई है। उच्छिन्न तिल-क्षुप को आर्द्र कर, मेघधारा ने धरती को भी भिजो दिया है। तभी एक गाय ने आकर भीने तिल-क्षुप को अपने खुर से माटी में गहरा जड़ित कर दिया है। भूमिसात् हो कर वह मूलबद्ध और अंकुरित हो आया है। . . जो कहता हूँ, वही हो जाता है। पर मैं तो कुछ चाहता नहीं, करता नहीं। बोलता तक नहीं। चुप ही रहता हूँ। फिर यह कौन है, जो हर प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर देता है ? . मौनम् गिराम् !

यह सुन कर गोशालक ने उस तिल स्तम्भ को वहाँ से उखाड़ कर फेक दिया। . . आगे जा रहा हूँ, और पीछे का दृश्य दिखाई पड़ रहा है। . . अकाल मेघवृष्टि हुई है। उच्छिन्न तिल-क्षुप को आर्द्र कर, मेघधारा ने धरती को भी भिजो दिया है। तभी एक गाय ने आकर भीने तिल-क्षुप को अपने खुर से माटी मे गहरा जड़ित कर दिया है। भूमिसात् हो कर वह मूलबद्ध और अंकुरित हो आया है। . . जो कहता हूँ, वही हो जाता है। पर मैं तो कुछ चाहता नहीं, करता नही। बोलता तक नहीं। चुप ही रहता हूँ। फिर यह कौन है, जो हर प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर देता है ? . . मौनम् गिराम् !

सर्वतोभद्र पुरुष : सर्वतोभद्रा का आलिंगन

. . यह क्या हुआ कि चलते-चलते औचक ही लौट कर उलटे पैरों फिर कूर्मग्राम की ओर चल पड़ा हूँ। यह परिक्रमा किस लिए ? यह प्रतिक्रमण क्यों ?

ओ, . . वेशिका-पुत्र वैशिकायन। तेरी विषम तापाग्नि का आवाहन सुन रहा हूँ। तेरे जीवन का चित्रपट आँखों के सामने से गुजर रहा है। . . देख रहा हूँ, तेरे जन्म की वह अँधियारी संकट-रात्रि। तेरे खेटक ग्राम को चोरों ने लूट लिया। तेरा पिता उस आक्रमण में मारा गया। प्राण-रक्षा के लिए भागती तेरी गर्भवती माँ वेशिका ने तुझे एक पेड़ के नीचे जन्म दिया। सद्य प्रसूता वेशिका को चोरों ने पकड़ लिया। उसके रूप-लावण्य के लोभी तस्करों ने बालक को बलात् वहीं पेड़ तले उससे छुड़वा दिया। प्रातःकाल गोबर ग्राम का धनी आहीर-पति गौशंखी अपनी वन्ध्या स्त्री बन्धुमती के साथ उधर से निकला। ईश्वरीय वरदान समझ उस सुन्दर बालक को उन्होंने अपने पुत्र रूप में अंगीकार कर लिया। उनके लाड़-कोड़ में पल कर, एक दिन तू सुन्दर तेजस्वी युवान हो गया। . .

. . उधर तेरी सुन्दरी माँ वेशिका को चोरों ने चम्पा नगरी के चौराहे पर एक वेश्या के हाथों बेच दिया। कालान्तर में वह अप्सराओं को भी लजाने वाली रूपसी, चम्पा की प्रख्यात गणिका हो गई। . . और वैशायन, योगायोग कि, तू व्यापार निमित्त चम्पा आया। एक रात गणिका-चत्वर के किसी भवन की खिड़की पर खड़ी, एक परमा सुन्दरी गणिका पर तेरी दृष्टि पड़ गई। अनिर्वार थी वह रूप की कजरारी मोहरात्रि . . ।

. . फूलों की शैया पर तारांगना को सम्मुख पा कर, तू उस चेहरे को ताकता ही रह गया। तेरे प्राण जाने कैसी जन्मान्तरीण विरह-वेदना से कातर हो आये। तेरे चित्त में हिल्लोलित काम सहसा ही अवरुद्ध हो गया। . . वह गणिका तेरे निहोरे कर के हार गयी। पर तू अविचल, मूक पत्थर का देवता हो रहा। . . तूने उस रूपसी को अपनी वेदना से विवश कर दिया, कि वह अपनी पूर्व-कथा सुनाये। . . सुन कर एक गहरी आशंका से तू सन्न हो गया। उलटे पैरों गोबर ग्राम लौट कर, तूने अपने माता-पिता से अपना जन्म-वृत्तान्त किसी तरह निकलवा लिया।

'. . ओ वेशिका, वेश्या, तू मेरी माँ है ? मैं तेरे साथ रमण करने आया था . . !' उसी आवेग में भाग कर तू फिर चम्पा नगरी पहुँचा। अपनी वेश्या माँ के चरणों में लोट कर तूने अपना आत्म-निवेदन कर दिया। . .

. . प्रत्यक्ष अभी इस क्षण अनुभव कर रहा हूँ, बिछड़े माँ-बेटे का वह गाढ़ आलिंगन और मर्मवेधी रुदन। कुट्टिनी को विपुल द्रव्य दे कर तू अपनी माँ को छुड़ा लाया। और उसे धर्म-मार्ग में स्थापित कर, कुछ दिनों बाद, एक रात अचानक माँ से कहे बिना ही तू निकल पड़ा। तेरा चित्त संसार की भूमि से ही उच्चाटित हो चुका था। तापसी प्रव्रज्या ले कर तू आत्म-प्राप्ति की

खोज में व्याकुल, उन्मन् भटकने लगा।

. . देख रहा हूँ आज, ग्रीष्म की इस लू भरी दोपहरी मे, तू कूर्मग्राम आया है। वट-वृक्ष के मूलों-सी जटाएँ धारण किये, आकाश में हाथ पसारे, ठीक सूर्य के सन्मुख अपलक दृष्टि स्थिर किये, आतापना ले रहा है। अबूझ है तेरी आत्मा की यातना। निर्धूम अग्नि-सा जाज्वल्यमान तू, अपनी ही अन्तर-वह्नि में निरन्तर अपनी आहुति दे रहा है। अति विनम्र-विनीत है तेरा भाव। तेरा रोम-रोम दया-दाक्षिण्य से आप्लावित है। समत्व के योगासन पर आरूढ़ होने के लिए विकल तू, अपनी अवचेतना में बद्धमूल जनम-जनम व्यापी मोहनी कर्म के नागचूड़ों से दारुण युद्ध कर रहा है। तेरे दयार्द्र चित्त की करुणा का पार नहीं। सूर्य-किरणों के ताप से उद्विग्न हो, तेरी जटाओं से जो जूँएँ नीचे गिर रही हैं, उन्हें तू फिर से उठा-उठा कर अपनी जटाओं में लौटा रहा है, कि वे सूक्ष्म जीव आश्रय च्युत न हों। इस क्रूर संसार क प्रमत्त पदाघात तले वे कुचल न जाये। . . 'हाय, ये बेचारे नन्हे जीवाणु, कहाँ जायेंगे ? . . मेरी जटाओं से बिछुड़ कर ये कहाँ आसरा पायेंगे?'

तेरी अन्तर-आत्मा की होमाग्नि से मेरा गहरा सरोकार है, वैशायन ! क्योंकि वह चिरकाल के संतप्त संसार की पुंजीभूत दुःख-ज्वाला है। कुटिल चक्रपथ से चल कर एक दिन वह मेरे ही द्वारा नियोजित राह से, मेरे कैवल्य शरीर पर आक्रमण करेगी। उस चुनौती का उत्तर दे कर, तीर्थंकर महावीर को अपनी अर्हत्ता प्रमाणित करना होगा। मेरे अभिन्न आत्म-सहचर वैशायन, हमारे प्रथम मिलन की यह घड़ी अनिवार्य और निर्णायक है।

. . तेरे समक्ष उपस्थित हूँ, मित्र वैशायन ! एक बार भी आँख उठा कर मेरी ओर नहीं देखेगा, बन्धु ? अपनी जूँओं से अधिक, क्या संसार में तुझे कुछ भी प्रिय नहीं ? क्या मैं तेरे मैल की अण्डज इन जुँओं से भी गया-बीता हूँ ? मनुष्य के कपट-कूट और क्रूरता से तू ऐसा नाराज हो गया है, मित्र ? तेरी आत्मा की करुणा ने मेरी वीतरागता को द्रवित कर दिया है। एक बार इधर देख, देवानुप्रिय ! . . विचित्र है तेरी यह आत्म-दहन की समाधि, जिसमें से करुणा के अश्रुजल झर रहे है। . .

. . वैशायन की अग्नि-समाधि को भंग किये बिना गोशालक को चैन नहीं। उसके ठीक सामने खड़ा हो वह उद्दण्ड स्वर मे पूछने लगा :

'अरे ओ तापस, क्या तू तत्वज्ञानी है ? या तू कोई पुरातन शैया-कामी है ? धन्य है तेरा तप, बलिहारी है तेरे तत्वज्ञान की। . जूँएँ बीनने मे कौन-सा तत्वज्ञान है, ओ मूढ़ मति ? अपने ही मैल की दया पालने मे कौन-सा धर्म है, हे परम मूर्ख ?'

वैशायन बहुत देर तक गोशालक की बकवास को अविचल तितिक्षा से सहता रहा। प्रतिकारहीन मौन से वह उसकी अवगणना करता रहा। तापस को निरुत्तर पा कर गोशालक झुँझला गया। वह मेरे पास आ कर कहने लगा :

'भन्ते. तापस के वेश में यह कोई पिशाच है क्या ? औंधा लटक कर अपनी ही देह का छूटा मैल चाटने में यह मगन है। और अपने को कोई महातपस्वी समझ रहा है। उत्तर तक नहीं देता यह पाखण्डी। और ऐसा घमंडी, कि देवार्य की ओर आँख उठा कर तक नहीं देखता। इस पिशाच की लीला से नरलोक को बचाओ, भगवन् !'

तापस के धैर्य का सुमेरु विस्फोटित हो उठा :

'नरलोक . . . ? ओ नरपिशाचों की संतान, महा नरपिशाच, ले जान कि मैं कौन हूँ . . !'

और वैशायन का नाभि-कमल हठात् फट पड़ा। एक विकराल सत्यानाशी ज्वाला की लपट, उसमें से तीर की तरह छूट कर गोशालक के कपाल पर जा टकराई। गोशालक भीषण दावाग्नि की असह्य लपटों में घिरा आक्रन्द करता हुआ ताण्डव करने लगा। मानो मानवता का जंगल अपनी ही आग में जल रहा है।

'. . ओ वैशायन, अपनी तेजो-लेश्या का आघात किया है तूने, मनुष्य की सारी जाति पर ! तेरा कोई दोष नहीं, वत्स, अपराधी मैं हूँ। मैं मनुष्य का प्रथम और अन्तिम बेटा। शान्त हो मित्र, शान्त हो। अपने भाई को नहीं पहचानेगा रे . . ?'

. . और हठात् मेरे हृदय के श्रीवत्स चिह्न में से सहस्रों जलधाराएँ फूट कर, गोशालक का दाह शमन करती हुई, वैशायन का आचूड़ अभिषेक करने लगीं।'

'क्षमा करें भगवन् ! अनाथों के एकमेव नाथ ! मेरी चिर काल की सन्तप्त आत्मा के पहले आत्मीय ! अचूक बान्धव ! . . अक्षम्य अपराध हो गया मुझ से। तीर मेरे हाथ से निकल चुका है। . . हाय मैं तुम्हारा हत्यारा हो गया, महावीर ! हो सके तो उस तीर को लौटाओ, भगवन् !'

'तीर ठीक छूटा है, और वह अपना लक्ष्यवेध करके ही लौटेगा, वत्स। हत्यारा तुम्हारे ही सन्मुख खड़ा है, देवानुप्रिय, फिर चिन्ता किस बात की ?'

'खम्मा, खम्मा, देवार्य ! हत्यारा तो मैं हूँ, स्वामी !'

'इसलिए, कि इससे पूर्व कभी मैं तेरा हत्यारा था। . . परस्पर देवोभव, आत्मन्। केवल यही मंत्र हत्या की इस चिर पुरातन शृंखला को तोड़ सकता है।'

'एवमस्तु, महाश्रमण। अर्हत् शाश्वतों में लोकालोक पर शासन करें !'

और वैशायन भूमिष्ठ प्रणिपात कर, निःसंग भाव से अपने एकाकी यात्रा पंथ पर निकल पड़ा। . .



'भन्ते, बड़ा विकट है यह तापस। इसकी नाभि क्या है, मानो अग्निबाणों का तूणीर है। इस चमत्कार का रहस्य बतायें, प्रभु !'

'तेजो लेश्या . . !'

'यह क्या कोई सिद्धि है, भगवन् ? इस लब्धि को प्राप्त करने का उपाय बतायें, भगवन् !'

'सम्पूर्ण आत्मदमन। दारुण तपस्या द्वारा देह, प्राण, इन्द्रिय, मन का आत्मगोपन। तप की भस्म से ढँकी, चिरकाल के संचित कषायों की एकाग्र अग्नि। जो अन्तिम आघात पा कर, अन्तिम प्रत्याघात करती है।'

'इस सिद्धि की कोई विधि, भन्ते ?'

जिस अस्त्र के आघात पर, एक दिन मेरी अर्हता को कसौटी पर सिद्ध होना है, उसके सन्धान की विधि को यथा समय प्रहारक के हाथों सौंपे बिना निस्तार कहाँ ? सो श्रमण के मुख से सहज ही वह विधि उच्चरित हो गई। गोशालक विद्या-तंत्र पा कर हर्ष-विभोर हो रहा।

'और आपके हृदय से प्रवाहित ये जलधाराएँ, भन्ते ? जान पड़ता है, आपके हृदय में न जाने कितने झरने छुपे पड़े हैं। अपने चिर किंकर को इसका भी रहस्य समझायें, भन्ते !'

'शीत लेश्या . . !'

'यह कहाँ से आती है, भगवन् ? इसकी सिद्धि का कोई उपाय, भन्ते ?'

'यह सोद्देश्य सिद्धि नहीं। यह निरुद्देश्य, निर्विकल्प आत्मसिद्धि का स्वाभाविक परिणाम। योगी जब समत्व के सिंहासन पर आरूढ़ हो जाता है, तो कषाय-सन्तप्त जीवों के कल्याणार्थ यह स्वतः प्रकट होती है।'

'तो यह शीतलेश्या, तेजोलेश्या का प्रतिकार है, भन्ते ?'

'योगी कषाय का प्रतिकार नही करता, समूल संहार करता है, समाहार करता है। प्रतिकार अहंकार में से आता है। योगी निरहंकार होता है।'

'इसकी कोई विधि, भन्ते ?'

'सम्पूर्ण निर्विधि हो जाना।'

'अब, भन्ते, ऐसा है कि निर्विधि को लेकर क्या करूँगा ? वह तो जब होना होगा, आपोआप हो ही जाऊँगा, आपकी कृपा से। उसकी चिन्ता अभी से, और मै क्यों करूँ ?'

'तो फिर तू श्रमण कैसा ?'

'महाश्रमण का शिष्य हूँ, तो श्रमण तो हूँ ही, भन्ते ! सो आपके महाश्रम का प्रसाद तो मुझे आपोआप ही मिल जायेगा। फिर मुझे क्या चिन्ता !'

'एवमस्तु।'

'धन्य है, भन्ते। दीनानाथ !'

'बुज्झह, बुज्झह, गोशालक। प्रतिक्रमण . . प्रतिक्रमण . . प्रतिक्रमण . .'

गोशालक एक विद्युत-धारा से झनझनाया-सा श्रमण की ओर ताकता गया।

• • •

सिद्धार्थपुर के मार्ग पर विहार करते हुए, एक स्थल को चीन्ह कर, हठात् गोशालक बोलाः

'हे स्वामी, आपके कहे अनुसार वह तिल का क्षुप तो उगा नहीं।'

'उगा है, वह यही पर है।'

गोशालक की दृष्टि तत्काल उस उगे हुए तिल-क्षुप पर पड़ गई। उसने उसकी फली को तोड़ कर उसे चीरा। उसमे ठीक तिल के सात दाने अंकुरित थे। वह आश्चर्य से स्तब्ध। क्षण भर सोच-मग्न रह कर वह बुदबुदाया :

'शरीर का परावर्तन करके जीव फिर जहाँ के तहाँ उत्पन्न होते हैं ?'

'जीव का कार्मिक परावर्तन, केवली-गम्य है, मानुष बुद्धि से उसका अन्तिम विधान सम्भव नहीं ! '

'पर आपने तो किया, भन्ते ?'

'वह विधान नहीं। जो देखा, वही कहा। जहाँ तक देखा, वहाँ तक कहा।'

गोशालक चुपचाप बहुत दूर तक अनुसरण करता रहा। एक तिराहे पर, श्रावस्ती का मार्ग मुड़ता था। वहीं अटक कर बोला :

'भन्ते, आज्ञा दें, श्रावस्ती जाऊँगा। तेजोलेश्या सिद्ध किये बिना चैन नहीं।'

श्रमण ने कोई उत्तर नहीं दिया। अटल भवितव्य-रेखा को देखते, वह अपने पथ पर एकाग्र आरूढ़ रहा। गोशालक श्रावस्ती की राह पर मुड़ गया।

. . काल-प्रवाह में दूर पर देख रहा हूँ। . . तेजोलेश्या सिद्ध गोशालक, अनेक-ऋद्धि-सिद्धि से सम्पन्न हो कर, मूढ़ लोक-जनों को आतंकित करता हुआ, प्रभुता-प्रमत्त भाव से पृथ्वी पर विचरण कर रहा है। तीर्थंकर पार्श्व के छह शिष्य-शोण, कलिद, कार्णिकार, अच्छिद्र, अग्निवेशान तथा अर्जुन उसे श्रावस्ती में दैवात् मिल गये। उनसे अष्टांग निमित्तज्ञान सीख कर, संसारी मनुष्यों के भाग्य और भविष्य का निर्णय करता हुआ, वह सर्वत्र अपने को 'जिनेश्वर' उद्घोषित करता घूम रहा है। वह अपने को आजीविक परम्परा का चम तीर्थंकर कहता है, और अज्ञानी लोकजन उसके चरणों में प्रणत हो, उसका अनुसरण करते हैं।

. . प्रभुता के प्यासे मंखलि गोशालक, पश्चात्ताप की ज्वालाओं के बीच एक दिन तेरा यह अहंकार भस्म हो कर सोहंकार हो जायेगा। आज तू प्रभुता के पीछे भाग रहा है। उस दिन प्रभुता स्वयं तेरा वरण करेगी। एवमस्तु। . .



जगत के सारे रास्ते क्या वैशाली ही जाते है ? . . फिर वैशाली के विश्व-विख्यात प्रमद-कानन 'महावन' के सुगन्ध-निविड़ अँधियारों में विचर रहा हूँ। वैशाली, तेरी उरुवेला के गोपन गुहादेश को भेद कर ही मेरा मार्ग जाता है। तेरे केलि-मग्न युवा-युवतियों के प्यालों की मदिरा सहसा ही आग हो उठी है। मूर्च्छित युगलों के आलिगन एकाएक टूट गये हैं : उनके सुरा-चषक हाथों से छूट कर फूट गये हैं। . . चिन्ता न करो, तुम्हारे द्राक्षावनों के अंगूरों में मैं ही आलोड़ित हूँ। मैं ही तुम्हारी सुराओं मे विस्फोटित हो कर जल रहा हूँ। मैं ही तुम्हारा आलिंगन हूँ, युवाजनो, उससे छूट कर ही मुझे पहचानोगे !

ओ, . . अपने भूशायी केशों को सँवारते हुए, आम्रपाली, तुम हठात् चौंक उठी हो। तुम्हारे कुन्तलों का तमालवन यह किसकी सत्यानाशी पगचाप से हहरा उठा है ? वैशाली का दुर्भेद, इन्हीं सुरंगों से सम्भव है। अन्य उपाय नहीं।

. . विशाला के शंख गणराज, अपना समस्त परिवार और परिकर ले कर तुम किसकी वन्दना को आये हो ? यह निर्नाम नग्न ज्वाला, अब पूजा-वन्दना से ऊब चुकी है। वह तुम्हारे समस्त की आहुति चाहती है। भिक्षुक की अंजुली समस्त वैशाली के वैभव का आहारदान चाहती

है। लौट कर जब तक, संथागार में खबर दोगे, तुम्हारे अश्वारोही व्यर्थ ही दिशाओं को ढूँढेंगे। पकड़ में न आने वाली दिशाओं से अलग, वे दिगम्बर को अन्यत्र कहाँ खोजेंगे ?

. . आगे बढ़ कर वाणिज्य ग्राम की मंडिकीका नदी के तट पर आ खड़ा हुआ हूँ। नदी चाहती है कि मैं उसे पार करूँ। कि मैं उसकी लहरों पर चलूँ। चलने को उद्यत हुआ कि तभी देखता हूँ कि एक नाविक तट पर नाव लगा कर, प्रार्थी है कि उसकी नाव पर चढ़ कर नदी पार करूँ। तथास्तु।

नाव पर पार के तट पर आ लगी है। मध्याह्न के सूर्य से तपी रेत पर उतरा, कि नाविक ने हाथ फैला कर उतराई का मूल्य माँगा। भिक्षुक के पास मूल्य कहाँ ? जलती बालू पर, वह अकिंचित्कर, निस्पन्द खड़ा रह गया है। केवट ने दोनों हाथ रेत में पसार कर उसके पैरों को घेर लिया है। मूल्य चुकाये बिना भिक्षुक की निर्गति नहीं।

भिक्षुक ने मयूर-पींछी से नाविक के तप्त बालू में गड़े माथे को थपथपा दिया। उसके कमंडलु से कुछ जल बिन्दु केवट के उघाड़े काले तन पर चू पड़े।

'नाथ, तर गया। तारनहार को पार उतारने वाला मैं कौन ? भूल हो गयी, भन्ते, अज्ञानी को क्षमा करें।'

'कृतार्थ हुआ मै, नाविक। भिक्षुक को तुमने अपनी भुजाओं पर अपने ही पार उतार कर उऋण किया है। तुम्हारा मूल्य कौन चुका सकता है ?'

'पार तो मैं हुआ, नाथ, स्वयं तारनहार की बाँहों में।'

'तथास्तु . . !'

• • •

सानुयष्टिक ग्राम के पद्मश्री-उपवन में प्रवेश करते ही एक प्रबल विद्युत धारा से शिरा-शिरा ऊर्जायित हो उठी है। ध्यानस्थ होते ही देखा कि चेतना के नये ही पटलों में उत्क्रान्त हो रहा हूँ। देह, प्राण, इंद्रिय, मन पर अपना काई अधिकार नहीं रह गया है। अन्तश्चेतना के केन्द्र में आसीन एक ज्योतिर्देही सुन्दरी की गोद मे उत्संसगित हो गया हूँ। योग की एक अपूर्वज्ञात मुद्रा में उसने मुझे उन्नीत किया है। . .

स्फुरित हुई भीतर एक भास्वर ध्वनि : भद्रा प्रतिमा। . . अपने को पूर्वाभिमुख, भद्रासन में उपस्थापित देख रहा हूँ। एक ही पुद्गल-परमाणु पर दृष्टि स्थर हो गयी है। अपार पुद्गल द्रव्य की राशियाँ समुद्र की लहरों की तरह ज्वारित होती हुई, इस एकमेव लक्ष्यबिंदु में निर्वापित होती चली जा रही हैं। अन्नमय कोश सर्प के त्यक्त निर्मोक के समान, सामने झड़कर इसी एकमेव पुद्गलाणु में संविलीन हो गया है। एक पूरा दिन पूर्व दिशा में ही यह योग-यात्रा चलती रही। फिर उसी रात्रि को दक्षिणाभिमुख होने पर, दक्षिण दिशा का समस्त पुद्गल-विश्व धारासार इस एक मात्र पुद्गल-परमाणु की रक्तेश्वरी ज्योति में विलीयमान होता रहा। दूसरे दिन पश्चिमाभिमुख, और दूसरी रात्रि को उत्तराभिमुख भद्रासन में यही योग-क्रिया अविराम चलती रही।

भद्रा के समापन पर, भीतर के नाभि-कमल में एक विचित्र केशरिया ज्वाला अमृत-प्राशन

के लिए उद्दीप्त दिखाई पड़ी। और उसके उत्तर में श्री योगिनी महाभद्रा ने मुझे अपने स्तन-मण्डल पर खींच लिया। यहाँ मेरी शिरा-शिरा मे एक अद्भुत सौन्दर्य और यौवन रस का आप्लावन होने लगा। रह-रह कर श्वेतेश्वरी और कृष्णेश्वरी ज्योतियाँ अपने आँचल मे क्रमशः मुझे तपाती और नहलाती रहीं। चारों दिशाओं में क्रमशः चार अहोरात्र यह प्रक्रिया चलती रही। इक्षु, गेहूँ, तीसी, सरसों के हरियाले, उजले, नीले, पीले खेत रोमाल्यिों में लहराते दीखे : सारी देह नानारंगी फूल वनों, कमल वनों और फल वनों से नम्रीभूत हो आई : और मै उससे अतिक्रान्त होता हुआ किसी अपूर्वजात कामलोक में प्रस्तारित होता चला गया। . .

. . सहसा ही अपने को एक कल्प कानन के नील सरोवर के तटान्त पर उपस्थित देखा। महाभद्रा पीछे छूटे कल्पवृक्षों की बहुरंगी ज्योतिर्-छायाओं में ओझल होती दीखी। . . कि हठात् एक निलांगिनी नीलिमा ने मुझे आचूड़ आश्लेषित कर लिया। 'तच्चिन्मयो नीलिमा' की मंत्रध्वनि से समस्त चेतना ऊर्जस्वल हो उठी। . . महायोगिनी सर्वतो भद्रा का यह आश्लेष मेरी और विश्व की समग्र विविधरूपिणी सत्ता को, एक महीनातिमहीन सुनील प्रभा के अथाह मे केलि-तरंगित करने लगा। एक देश-कालोत्तीर्ण नील ज्योतिर्बिन्दु मे सारे लोकालोक एक बारगी ही अपसारित और प्रस्तारित होते दिखाई पड़े। उस बिन्दुवासिनी चिन्मणि बाला का सौन्दर्य रूपातीत, शब्दातीत होते हुए भी, सारी ही इन्द्रियों के सुखों की एकाग्र और अपरम्पार परितृप्ति मे मुझे पर्यवसित किये दे रहा है। स्पर्शेन्द्रिय से परे का यह स्पर्शन, अपने ही भीतर ऊर्मिल ऐसा गहन मार्दव और आलोड़न है कि ऐन्द्रिक भाषा में वह कथ्य नहीं। . .

दसों दिशाओं मे क्रमशः एक-एक अहोरात्र अवस्थान और अतिक्रमण करते हुए, परायोगिनी सर्वतोभद्रा के सर्वालिंगन मे काल को महाकाल में निर्वाण पाते देखा। ऊर्ध्व और अधो दिशाओं के पुद्गल-परमाणुओं मे जब युगपत् आरोहण और अवरोहण का सयुक्त अभिसार हुआ, उस समय संसार और निर्वाण की भेद-रेखा अनायास तिरोहित होती दीखी। रूप और रूपातीत में एक अद्भुत सामरस्य की अनुभूति से चेतना विश्रब्ध हो गई। . .

. . ऐसा लगा कि सर्वतोभद्रा ने लोक के सर्वतोमुखी मंगल-कल्याण की मांत्रिक-विद्युत से मेरे समस्त रुधिर-प्रवाह को ऊर्जायित कर दिया है। सो इस रत्नत्रयी प्रतिमायोग से अवरूढ़ होते ही, मैंने लोकालय का अत्यन्त ऊष्म आमंत्रण अनुभव किया।

सानुयष्टिक ग्राम में प्रवेश करते ही आनन्द श्रावक के द्वार पर अपने को उपस्थित पाया। देखा, वहाँ उसकी दासी बहुला पात्र धो रही है। मुझे सम्मुख पा वह बहुत असमंजस में पड़ गई। वस्तु-अवस्तु का भान ही उसे न रहा। भाव-विभोर हो कर उसने अपने लिये निकाला हुआ ठंडा अन्न अंजुलि में ले कर मुझे अर्पित किया। भिक्षुक ने पाणि-पात्र में उसे सहज झेल लिया।

. . दासी भिक्षुक की वह समरस मुद्रा देख कर, अपनी विवशता पर आक्रन्दन कर उठी :

'हाय नाथ, त्रिभुवनपति, मैं अभागिन दासी . . क्या दूँ तुम्हें। अपने भाग का यह छूटा हुआ जूठा, ठण्डा अन्न ही तो मेरे पास है . ।'

'भिक्षुक तेरे भोजन का सहभागी है, कल्याणी !'

'ना . . ना . . ना स्वामी, मैं दीना, मलिना, रंकिनी दासी। और तुम . . '

'सर्वतोभद्र पुरुष। दासों का दास, स्वामियों का स्वामी।'

'हाय, . . यह क्या ? ठंडे, जूठे तंदुल क्या हुए मेरे ? स्वामी के पाणि-पात्र में यह कैसा देवभोग !'

'एक ही द्रव्य। क्षण-क्षण नव-नूतन पर्याय। दिव्य भोजन भी वही, जूठन भी वही। दासी भी वही, देवी भी वही। . . '

'भगवन्, मानुष के दासत्व से मुक्त करो। इन चरणों की दासी बना लो . . !'

'एवमस्तु, देवी बहुला . . !'

. . अपने पीछे दिव्य वीणा वादन करती देवांगनाओं के बीच, बहुला दासी का रानी-पद पर अभिषेक होते देख रहा हूँ। आनन्द गृहपति बहुला का चरणोदक ले, दूर जा रहे भिक्षुक के पीछे भागा। उसने श्रमण की पीछे छूटी पगधूलि मे लोट कर श्रमण का कमण्डलु उठाना चाहा।

'अभी समय नहीं आया, श्रेष्ठि ! बहुला का सेवक हो कर रह। कल्याणमस्तु . . !'

श्रमण ने मयूर-पींछी से आनन्द गृहपति का वक्ष-देश बुहार दिया, और अपनी राह प्रस्थान कर गया।

मारजयी मदन-मोहन

[illegible]र म्लेच्छों की दृढ़-भूमि ने पुकारा है। सो आर्य भूमि की सीमा का अतिक्रमण कर म्लेच्छ देश में [illegible]र रहा हूँ। रोते हुए कुत्तों के एक पूरे क्षितिज ने यहाँ मेरा स्वागत किया है। आदि पुरातन वट [illegible]ों के जटाजाल से छाये एक भूतिहा वन की कोटरों में से एक साथ कई उलूकों की हुलु-ध्वनि [illegible]-रह कर सुनाई पड़ती है। किसी चरम मंगल का सन्देश इसमे बूझ रहा हूँ।

म्लेच्छों के पेढ़ाल ग्राम के निकट, पोलास नामा चैत्य-उपवन मे प्रवेश कर, झिल्लियों की [illegible]नकार-ध्वनि के बीच एक भीमकाय शिला पर आरूढ़ हो गया। झिल्ली-रव, उलूक-ध्वनि और [illegible]ान-रुदन के समवेत संगीत की धारा मे ध्यानस्थ चेतना ऊर्ध्व से ऊर्ध्वतर अन्तरिक्षों में उड्डीयमान होती चली गई।

. . हठात् आकाश का कोई सुनील तटान्त विस्फोटित हो कर, एक विशाल नीलमी तोरण [illegible] खुल गया। . सामने दिखाई पड़ रही है श[illegible] की सुधर्मा-सभा। जीवन्त रत्नों की नानारंगी प्रभाओं से दीपित विराट ऐश्वर्यलोक। चौरासी हजार सामानिक देवता, तैंतीस त्रायत्रिंश देवता, तीन प्रकार की मंडलाकार देव-सभाएँ, चार लोकपाल, असंख्य प्रकीर्णक देवता। चारों दिशाओं में दृढ़ परिकर बाँधे चौरासी हजार अंगरक्षक। विपुल देव-सैन्य से आवृत सात सेनापति देवेन्द्र। सेवक वर्गीय आभियोगिक देव-देवियों का गणसमूह। किल्विष्यादिक देवताओं का विशाल परिवार। इस सब देव-परिकर के केन्द्र में दक्षिण लोकार्द्ध के रक्षक सौधर्म इन्द्रेश्वर अपने उत्तुंग शंखाकार सिंहासन पर नागमणियों के विपुलाकृति छत्र तले आसीन हैं। किन्नरियाँ और अप्सराएँ नृत्य-संगीत

से उनका मनोरंजन कर रही है।

हठात् शक्रेन्द्र सिंहासन त्याग कर उठ खड़े हुए। पादुकाएँ उतार आगे बढ़ आये। उत्तरासंग से भूमि-शोधन कर अपना दायाँ जानु पृथ्वी पर स्थापित किया तथा बाये जानु को किंचित् झुका कर शक्र-स्तवन से वे प्रभु की वन्दना करने लगे। फिर वही भूमि पर जानुओं के बल बैठ कर, रोमाचित और गलदश्रु हो कर अपनी देव-सभा को यों सम्बोधन करने लगे :

'ओ रे सौधर्म कल्प-स्वर्ग के देवताओ, इस क्षण प्रत्यक्ष ऑखों के सामने मै म्लेच्छ भूमि मे ध्यानस्थ महातपस्वी महावीर प्रभु का दर्शन कर रहा हूँ। पच समितियों के धारक, तीन गुप्तियों से पवित्र, क्रोध, मान, माया और लोभ से अजेय, कर्माश्रव रहित और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सम्बन्धी सारे ही प्रतिबंधों से अप्रतिबद्ध वे योगीश्वर भगवन्त इस समय एक रूक्ष पुद्गल पर दृष्टि स्थिर करके महाध्यान मे लीन है। देवता, असुर, यक्ष, राक्षस, उरग, मनुष्य, अरे त्रैलोक्य की कोई भी शक्ति उन्हें इस समाधि से विचलित करने मे समर्थ नही।. .'

देव-सभा के एक कोने मे बैठा सामानिक सगम देव, शक्रेन्द्र की यह स्तुति सुन कर विक्षुब्ध हो उठा। भृकुटि कुचित कर, कोपाग्नि से दहकते नेत्रों के साथ, कॉपते ओठों से वह बोला :

'हे शक्रेन्द्र, एक श्रमण रूपधारी बौने मनुष्य की ऐसी प्रशसा कर रहे हो? एक मर्त्य मनुज के सम्मुख स्वर्गों के अधीश्वर ने पराजय स्वीकार ली? यह तुम्हारा स्वच्छदाचार है, सुरेन्द्र! देवों की समस्त जाति को आज तुमने लाछित और अपमानित किया है। जिसके शिखर आकाश को अवरुद्ध किये है, जिसके मूल रसातल का भेदन करते है, ऐसे सुमेरु गिरि को भी अपने भुजबल से उच्छिन्न कर एक ढेले की तरह उठा फेकने मे समर्थ है हम देवतागण। कुलाचलों सहित पृथ्वी को अपने में डुबा लेने की क्षमता रखने वाले स्वयम्भुरमण समुद्र का मात्र गडूष (कुल्ला) करके हम उसे हवा मे उछाल सकते है। अनेक पर्वतों से मडित इस प्रचण्ड पृथ्वी को हम अपने बाहुदण्ड पर उठा कर छत्र की तरह धारण कर सकते हैं। ऐसे अतुल समृद्धिशाली, अमित पराक्रमी और इच्छानुसार सिद्धि प्राप्त करने वाले हम कल्पवासी देवों के समक्ष, इस मानुष तनधारी तुच्छ तापस की क्या हस्ती है? शक्रेन्द्र सुने, सारे स्वर्ग सुने, समस्त देवगण सुने, मै एक निमिष मात्र मे उस नग्न वामन को ध्यान से चलायमान कर धराशायी कर दूँगा। '

इतना कह कर सगम देव ने प्रचड वेग मे भूमि पर हाथ-पैर पछाड़े और वह सुधर्मा सभा से पलायन कर गया। सौधर्मेन्द्र एक मच्छर की तरह उस कषाय प्रमत्त देव की अवज्ञा कर, फिर से नृत्य-सगीत के आनन्द मे लीन हो गये।



ध्यान भी उच्च से उच्चतर सरणियों मे आरूढ़ हो रहा हूँ। मेरी देह की पृथ्वी चूर्णित पर्वत की तरह नीचे की ओर झड़ रही है। जल, वायु, अनल, आकाश को अपने चारों ओर भॉवरे देते अनुभव कर रहा हूँ। एक भारविहीन अधर मे चेतना अन्मुक्त पछी सी तैर रही है।

तभी प्रलयकाल की जाज्वल्यमान अग्नि के समान, घनघोर मेघनाद करती हुई, एक रौद्र आकृति सामने धॅस आती दिखाई पड़ी। अपनी बाहुओं और जॉघों पर आघात करते उसके उद्दण्ड

पंजों पर जैसे ग्रह-मंडल थरथरा रहे हैं।

सहसा ही उन पंजों ने अन्तरिक्ष को विदीर्ण कर दिया। एकबारगी ही असंख्यों रात्रियों के पुंजीभूत अन्धकार जैसी रज धारासार मुझ पर बरसने लगी है।. . फिर पंच-तत्वों के स्कन्धों से आबद्ध हो गया है मेरा शरीर। मेरी निपट मानुष देह के सारे द्वार इस अन्तहीन रज-वर्षा से अवरुद्ध हो गये हैं। श्वासों में ऐसी घुटन है कि प्राण छूटने की अनी पर पहुँच गये हैं। रोम-रोम पिसे हुए काले काँचों की इस धूलि से विदीर्ण हो रहे हैं। ओ मेरे शरीर, तू व्याकुल न हो : तेरी वेदना मेरे ही कारण तो है। मैं जो प्राण हूँ, आघात और संवेदन की अनुभूति करने की क्षमता रखता हूँ। . . मैं सह रहा हूँ तेरे सारे संत्रासों को : कि पराकाष्ठा तक इन्हें सहकर, हो सके तो तुझे भी सदा को आघात्य कर दूँ. . । क्योंकि अन्ततः मैं अवध्य हूँ, और कष्टग्राही प्राणचेतना से उत्तीर्ण हो कर अपने स्वभावगत अमृत में आत्मस्थ हो सकता-हूँ। सारे आघातों को सह कर, हो सके तो अपने चिदामृत से तुझे भी अभिसिंचित कर देना चाहता हूँ।

. . उस समस्त रज को निःशेष अपने में धारण कर मैंने श्वास रोध कर दिया। मेरे निस्पन्द, अनाहत शरीर पर हो रही रजोवर्षा सहसा ही स्तंभित हो गयी। भीतर जाने कितने ही अनादिकालीन कर्मों के भूभृत चूर-चूर हो कर, मेरे आज्ञाचक्र में उठ रही ज्ञानाग्नि में भस्मीभूत हो गये। मेरे भीतर की शिलीभूत रज ने ही तो बिखर कर, चारों ओर से फिर मुझ पर अन्तिम आक्रमण किया था। इसलिए कि वह रह ही न जाये, समाप्त हो जाये।. . और औचक ही देख रहा हूँ, अस्ताचल के सारे माया-पटलों को छिन्न-भिन्न कर, नवीन चन्द्रमा की तरह अपने ही भीतर के शाश्वत उदयाचल पर शीर्षारूढ़ हो गया हूँ।. .

. . ओह, यह क्या हुआ कि मेरा आचूड़ शरीर असंख्य लाल चीटियों से आच्छादित हो गया है। मेरे पोर-पोर को ये अपने मुखाग्र के अनीले दंशों से इस तरह बींध रही हैं, जैसे बेशुमार सुइयाँ किसी वस्त्र को सीती हुई आरपार हो रही हैं। क्या मेरी नग्न काया पर इन नन्ही प्राण-बालिकाओं को दया आ गई है, कि अपनी मुख-सूचियों से ये मेरे तन पर सदा के लिए कोई वस्त्र बुन कर सी देना चाहती हैं। जो साधन इनके पास है, उसी से तो ये मेरी तन-रक्षा का जतन कर रही हैं। पीड़ा चाहे जितनी ही क्यों न हो, इन अज्ञानिनी बालिकाओं के इस घनीभूत प्यार को सहे बिना निस्तार कहाँ है ? कृतज्ञ ही तो हो सकता हूँ इनका। क्योंकि चलनी हो गये शरीर में इन्होंने नई हवा के झरोखे खोल दिये हैं। और इस संजीवनी प्राणवायु के संचार से मेरी चेतना सुषुम्ना की गहरी सुखद शैया में तन्द्रालीन-सी हो गई है।. .

खुले वातायनों की सुगन्धित वायु से आकृष्ट हो कर, चारों ओर की गन्दी हवा से निपजे डांस भी मेरे भीतर मुक्त साँस लेने को चले आये। अपने प्राण में व्याप्त कलुष को बाहर उड़ेल देने को वे अकुला उठे हैं। हर जीव की क्षुधा, तृषा, वासना आखिर तो मुक्ति पाने की एक छटपटाहट ही है न ? सो वे डाँस अपनी रक्त-पिपासा से व्याकुल हो कर मेरी रक्त-शिराओं को कस कर चूसने-चूमने लगे। उनके दाहक चुम्बनों से मेरी योग-तंद्रा भंग हो गई। मैंने अपने टीसते शरीर की ओर दृष्टिपात किया : उसकी वेदना को संवेदित किया। . . लगा कि निपट गाय हो गया हूँ। और अपने धावन के लिए विकल बच्चों को तृप्त करने के लिए मेरे रोंये-रोंये में स्तन फूट आये हैं, और वे दूध से उमड़ते हुए उन नन्हे डाँसों के मुख में अनवरत बह रहे हैं। . . अपनी इस

रक्तस्नात 'देह को देखकर, इन्द्रों के द्वारा क्षीर-समुद्र के जल से अभिषिक्त, सुमेरु-गिरि की पांडुक-शिला पर विराजमान तीर्थंकर-शिशु की दुग्ध-स्नात छवि आँखों में झलक उठी है। उस शिशु के लिए आज प्राणिमात्र की कामधेनु बनने के सिवाय और चारा ही क्या है ? कैसा ही कष्ट-संत्रास क्यों न हो, वह मेरी नियति को सिद्ध करने के लिए ही तो है।

स्वजन, शैया और घर का त्याग किये दस बरस हो गये हैं। इन बरसों में धरती और आकाश तक के अवलम्ब को अस्वीकारते ही बना है। अपनी धरती और अपना आकाश स्वयम् ही हो जाने को विवश हुआ हूँ। इसी कारण, सहना ही मेरा स्वभाव हो गया है। वेदना भी वल्लभा-सी ही प्रिय लगती है। एक मात्र कष्ट ही तो प्रतिपल का संगी हो गया है। शत्रु बन कर वह आया था और मित्र बन कर रह गया है। किन्तु पीड़ा देना उसका स्वभाव है, सो उसे स्वीकारे बिना निस्तार नहीं। मानुष तनधारी हो कर, पीड़ा से परे होने का दम्भ कैसे कर सकता हूँ ! लेकिन निरन्तर आक्रान्तियों और विपत्तियों में जीने के कारण पीड़ा को अणु-प्रतिअणु देखना सीख गया हूँ। सम्पूर्ण संचेतना के साथ उसे सहता हूँ, देखता हूँ, तो पराकाष्ठा पर पहुँच कर उसका प्रभाव समाप्त हो जाता है। हुआ यह है कि चीज़ों को देखने की दृष्टि ही इस बीच बदल गई है। खण्ड पर रुक नहीं पाता हूँ, तो अखण्ड का सामना हुए बिना नहीं रहता . . ।

. . स्थिरता भीतर अधिकाधिक घनीभूत हो रही है। . . अरे यह क्या हुआ कि इस घनत्व में जाने कैसे कसीले चिपकाव का अहसास हो रहा है ! किसी पकड़ का एक बहुमुखी पंजा सारे शरीर को जकड़े ले रहा है। ओह, हज़ारों कनखजूरे और केंकड़े जाने कहाँ से आकर मेरे शरीर के चप्पे-चप्पे से चिपट गये हैं। अपने बेशुमार हाथ-पैरों से इन्होंने मेरे देह-पिण्ड के हर प्रदेश को जैसे कई-कई सँडासियों से जकड़ कर असह्य वेदना उत्पन्न की है। ऐसे कस कर ये जड़ित हो गये हैं मेरे अंग-प्रत्यंगों से, कि जान पड़ता है, मेरे शरीर से अलग इनका और कोई अस्तित्व ही नहीं है। जैसे ये मेरी काया में से ही फूटी, उसकी स्वाभाविक रोमालियाँ हैं। लोमहर्षण हो रहा है, बेशक इस संत्रास से, पर अपने ही लोमज इन जन्तुओं को क्या अपने तन से उखाड़ा जा सकता है, अलग किया जा सकता है ? यदि इस तन को स्वीकारा है, तो इसके इन जायों को कैसे नकारूँ ! . . बल्कि देख रहा हूँ, कि मेरे हर अवयव में इन जीवधारियों ने परस्पर गुँथ कर कोई अद्भुत शिल्प रचना कर दी है। जैसे युग-युगान्तरों के आरपार चल रही काल की तमाम लीलाएँ किसी आदिम चट्टान पर एक बारगी ही उत्कीर्णित हो गई हैं। सत्ता के इस समग्र सौन्दर्य को अपने ही भीतर से प्रकट होते देख रहा हूँ, तो इसे अस्वीकारने की धृष्टता कैसे कर सकता हूँ . . ?

. . और अनायास पाया कि ध्यान में एक और भी उच्चतर चेतना- श्रेणी पर आरूढ़ हो कर स्तब्ध हो गया हूँ। . . किन्तु अगले ही क्षण, यह कैसी नीली-हरी लहरें मेरे रक्त को विक्षुब्ध कर उठी हैं। कोई अन्तहीन कटीला तार मानों मेरी पगतलियों की शिराओं में बिद्ध हो कर, मेरे समूचे स्नायु-मंडल में व्यापता हुआ, मेरी सहस्रों नाड़ियों के शाखा-जालों को आर-पार भेदता हुआ, मेरे हृदय की केन्द्रीय धमनी में कुण्डलीकृत हो रहा है। दैहिक वेदना इतनी कुंचित और विषम भी हो सकती है, इसकी तो कभी कल्पना भी न की थी। उसके हर सम्भव प्रकार को भोगे और जाने बिना महावीर की आत्मा को चैन नहीं है। सम्पूर्ण उसे जाने बिना, सम्पूर्ण कैसे जीता जा सकता है !

. . देख रहा हूँ मेरे तन-पुद्गलों के स्कन्ध इन डंखों से छिन्न हुए जा रहे हैं और शरीर और अधिक साथ देने को तैयार नहीं। किस पुद्गल शक्ति ने प्राणवेध की यह गुँथीली वेदना उत्पन्न की है ? ध्यान की ऊर्ध्वगामी श्रेणि से नीचे अवरूढ़ होने को विवश हुआ। . . ओह, बिच्छुओं का एक अपरम्पार जंगल ! बिच्छुओं की नदियाँ, बिच्छुओं के ऐसे विपुल पेड़, जिनकी हर डाल-डाल, पत्ती-पत्ती बिच्छू है। मूल से चूल तक और सारी परिधि में केवल दंशाकुल बिच्छुओं की एक अन्तहीन पृथ्वी। वे मंडलाकार चकराते हुए, डंक मारते हुए मेरे शरीर के समस्त परमाणु-मंडल में व्याप्त हो गये हैं। अपने ही रक्त की बूँद-बूँद बिच्छू होकर अपनी कँटीली पूँछ से अपने ही को दंश कर रही है।

. . सहसा ही साँस बन्द हो कर, हृदय-देश के अनाहत चक्र में लय पा गई। एक आदिम साँकल जैसे अचानक एक ही झटके में टूट गई। उसकी कड़ियाँ मोम-सी गल-गल कर बिखर गईं। कहाँ गई वह बिच्छुओं की अनन्त मण्डलाकार पृथ्वी ? कहीं कोई चिह्न उसका शेष नहीं है पदार्थ के जगत में। क्या वह मेरे भीतर से उठकर, मेरे ही भीतर विसर्जित हो गई . . ? प्रश्न के उत्तर में, किसी अतल मे निर्वापित हो रहा, कि जहाँ एक अकथ स्वयंबोध के अतिरिक्त और कुछ भी शेष नहीं है।

. . इस अतल में से एकाएक यह कैसे एक तल का आविर्भाव हुआ है। अपने ही शरीर को एक सपाटी की तरह व्यापते देख रहा हूँ। और उस पर अनगिनती नकुल चारों ओर दौड़ते हुए कोलाहल कर रहे हैं। अपनी उग्र डाढ़ों से वे मेरी देह की धरती में कुदालियाँ-सी मार कर उसे फोड़ रहे हैं, तोड़ रहे हैं। मांस के टुकड़े कई आकारों में टूट-टूट कर, एक पत्थरों के मैदान की तरह छा गये हैं। उफ् कितने गहरे अँधेरे, काला खून बन कर मेरी मांसपेशियों में दबे हुए थे ! कितने कल्मष मेरे पुद्गल-परमाणुओं मे घातक चोरों की तरह छुपे हुए थे ! कर्मों का आश्रव-राज्य कितना जटिल है, जान कर और अधिक सावधान और अप्रमत्त हो गया हूँ। अपनी निर्मांस सत्ता की स्वाधीनता के निकटतर पहुँच कर मेरे आनन्द और आश्वासन की सीमा नहीं है। . .

. . लेकिन नहीं, अभी विराम नहीं है। जान पड़ता है मंजिल अभी बहुत दूर है। क्योंकि मेरे भूशायी मांस-खंडों की शिलाओं को फोड़ कर शत-सहस्र सर्प अपने फणों को क्षितिज तक विस्तारित करते हुए, एक पर एक यमराज के कई भयंकर भुज-दण्डों की तरह मुझ पर चारों ओर से टूट पड़े हैं। सर से पैर तक वे मेरे प्रत्येक अंग और अवयव से, इस तरह कुंडलियों पर कुंडलियाँ मार कर लिपट गये हैं, जैसे किसी विशाल वृक्ष पर अमर बेलियों के आलजाल छा गये हों। अपने प्राण की समूची हिंसक वासना को चुका देने को बेचैन हो कर वे ऐसी उग्रता से अपने फन फटकार कर मुझ पर आघात कर रहे है, कि उनके फण-मंडल छिन्न-छिन्न हुए जा रहे हैं। ऐसी तीखी जिघांसा से वे अपनी कराल डाढ़ों द्वारा मेरी हड्डियों तक में दंश कर रहे हैं, कि उनके दाँतों का विष चुक गया है, और निःसत्व हो कर वे दाँत उखड़ कर उन्हीं के पेटालों की विषाग्नि में हवन हो रहे हैं। जब वे नितान्त निर्विष हो कर मेरे शरीर पर छूँछी डोरियों जैसे लटके रह गये, तो नकुल उन्हें खींच-खींच कर खाने लगे। जाने कहाँ से निकल आये चूहों के दल के दल अपनी तीखी चोंचों से उन्हें कुतर-कुतर कर चींचारियाँ करने लगे। . .

. . हिंसा-प्रतिहिंसा का एक अन्तहीन दुश्चक्र मेरे अस्तित्व की परिक्रमा करता दीखा। इस चक्र-व्यूह में घिर कर क्या प्राण-रक्षा का उपक्रम सम्भव है ? यों भी कभी वह तो किया नहीं। पर इस क्षण स्पष्ट प्रतीति हो रही है, कि मेरे प्राण बचाने के लिए नहीं, दे देने के लिए ही रचे गये हैं। लोक के प्राणि चिर काल से इस हिंसा-प्रतिहिंसा की साँकल में जुड़े अपना ही घात करने में लगे हैं। . . मेरे प्राण अनन्त हो जाने को व्याकुल हैं, ताकि हर घात-प्रतिघात के बीच अपने को बहा कर, हो सके तो विश्व-प्राण की इस धारा को अविच्छिन्न देखने, पाने, जीने को मेरा सारा अस्तित्व छटपटा रहा है।

. . महावीर, असम्भव को सम्भव किया चाहता है ? . . किसी ज्ञानी और तत्वज्ञ ने आज तक ऐसी किसी सम्भावना का पता नहीं दिया। . . हो सकता है, मैं भ्रांति में हूँ। लेकिन भीतर से जो अपने विलक्षण स्वभाव की अपूर्व पुकार चैन नहीं लेने दे रही, तो मेरा क्या वश है ? 'जीवों जीवस्य जीवनम्' मुझे सत्य नहीं लगता, तो क्या कर सकता हूँ? उसे कैसे स्वीकार कर सकता हूँ ? . .



. . नहीं, नहीं त्याग सकूँगा यह ध्यानासन, नहीं टल सकूँगा इस स्थल से, जब तक अपनी इस अभीप्सा की पूर्ति का कोई इंगित न पा जाऊँ। . . देख रहा हूँ, धरती की धृति अब मेरे पैरों को धारण करने से इन्कार कर रही है। ठीक है, माँ वसुन्धरा, समेट लो अपने को, छोड़ दो अपने इस बेटे को अधर मे। ओ पृथा, मेरी सत्ता तुझ पर समाप्त नहीं। तुझ पर निर्भर नहीं। अच्छा ही है, सारे बाहरी आयतन-आधार चुक जायें, ताकि अपने उस सर्वथा स्वतंत्र आधार में सदा को अवस्थित हो सकूँ, जिसका अन्त नहीं, और जो कभी मुझे धोखा नहीं दे सकता। जो मेरा अपरिछिन्न, अभिन्न स्वरूप है। . .

धरती से अपने पैरों को उठा कर शून्य में फेंकने को मैंने छलाँग भरी। लेकिन अपनी सारी असह्यता के बावजूद पृथ्वी ने अपने वक्ष से मेरे पैरों को न उखड़ने दिया। और भी कसकर अपनी भुजाओं में जकड़ लिया, और वह मुझसे लिपट-लिपट कर आक्रन्द करने लगी। 'अच्छा माँ . . न छोड़ो मुझे, धारण करो मुझे। मैं तो तुम्हें छोड़ना की कब चाहता हूँ। लेकिन तुम्हारी धृति को चुकते देख कर, विवश हुआ महावीर, कि वह तुम्हें और पीड़ा न पहुँचाये। हो सके तो अपने खड़े रहने को कोई अपनी स्वाधीन धरती खोज निकाले। तुम चाहोगी माँ, तो चिरकाल मैं तुम्हारा रहूँगा। तुम्हारी गोद मे जीवन की नव्य-नूतन लीला-क्रीड़ा करता चला आऊँगा। . .

और अपने चरणों से लिपटी वसुन्धरा के दुग्धाविल वक्षोजों में मैं गहरी समाधि में निमग्न होता चला गया। . . कि सहसा ही, अपने दन्त-मूसलों से दिग्गजों को ललकारता और उखाड़ता एक महा भयंकर गजेन्द्र सामने से झपटता दिखाई पड़ा। अपने पदाघातों से वह मानो पृथ्वी को दबा कर रसातल पहुँचाने लगा और अपनी सूँड़ को उछाल कर वह आकाश को तोड़ता हुआ, ग्रह-नक्षत्र-मंडलों को छिन्न-भिन्न करता दीखा। उसने प्रलय के दुर्वार समुद्र की तरह अपनी सूँड़ से मुझ पर आक्रमण किया। उसमें मेरे शरीर को कस कर लपट लिया। और फिर अपनी सम्पूर्ण

शक्ति के साथ उसने मुझे आकाश में इतनी ऊँचाई पर उछाल दिया कि अपने भार का भान ही चला गया। तार-तार विच्छिन्न हो कर जब मेरा शरीर फिर नीचे को लौटने लगा, तो उस महाबली गजेन्द्र ने फिर सूँड ऊपर फेंक कर मुझे झेल लिया। फिर वह, मेरी ममता से विकल हो आक्रन्द करती वसुधा की छाती को जैसे चट्टान समझ कर उस पर मुझे बारम्बार पछाडने लगा। उन निरन्तर आघातों से, मेरी वज्र-वृषभ-नाराच सहनन की धारक हड्डियों तक से तडक कर अग्नि की चिनगारियाँ फूटने लगी। महानुभाव गजेन्द्र अपने ही आघातों से उत्पन्न इस अग्नि की लपटों को सहन न कर पाये, और विपल मात्र मे जाने कहाँ अन्तर्धान हो गये।

नही, अब किसी झूठी राहत की माया मुझे नही छल सकती। सुस्थिर, अविकल सन्नद्ध हूँ और निवेदित हूँ, अब जो भी सन्मुख आये। जान पड रहा है, मृत्यु तो बहुत पीछे छूट गई है। मैने तो उसकी गोद मे भी बहुत प्यार से उमड कर सर ढाल दिया था। पर यह क्या हुआ कि अपने आँचल से मुझे झटक कर वह भी भाग खडी हुई। मृत्यु तक अपनी ममता मुझे देने से कतरा गई। तब नही जानता, ये सब मुझसे क्या चाहते है ?

अपने समत्व और सवर मे और अधिक निश्चल हो गया हूँ। झेलने और न झेलने से परे, सहने और न सहने से परे, केवल बस हूँ। मानो हो कर भी नही हूँ नही हो कर भी हूँ। लेकिन नही, मेरी इस स्थिति को भी यहाँ स्वीकृति नही। क्योकि एक दुर्मत्त युवा हथिनी जाने कहाँ से अचानक आ कर, अपने मद झरते कपोलों को मेरी जघाओं पर पछाड़ रही है। फिर भी हिल नही सका हूँ, तो हॉफती-हॉफती क्षोभ से फुँफकारने लगी है। उसके जी में कचोट है कि कैसे पाषाण से पाला पड गया है। सो अपने कुम्भ के आघातों से मेरी छाती का भजन करती हुई, अपने दाँतों से मेरे फेफडों और पसलियों को भेद रही है। रक्त-मास तो मन चाहा उसने पाया, पर उसे किसी तरह भी कल नही आ रही। प्यार तो अनायास मेरे घायल अगों तक से सदा बहता ही रहता है। उसके सिवाय तो मुझ अकिचन का कोई धन नही। वह मेरी अन्तिम विवशता है। पर उसे भी ये लेना नही चाहते। जान पडता है, वह कम पड रहा है इनके लिए। लगता है, अभी मेरा अस्तित्व सीमाओं से उबर नही पाया है, इसी कारण मेरी प्रीति अनन्त नही हो पा रही। हो सकी होती, तो उसके लिए चिरकाल से तरसते प्राणि, उसमे अवगाहन कर निश्चय ही शान्त हो जाते।

क्या इस सीमित देह के रहते, उस अनन्त को जीना सम्भव नही ? लेकिन अनन्त जो है, उसके लिए कुछ भी असम्भव कैसे हो सकता है ? असख्यात प्रदेशी है प्रत्येक परमाणु, उसमे सीमा को अवकाश कहाँ ? पर उस विशुद्ध परमाणु को उपलब्ध होना जो शेष है।

श्वास को सहस्रार मे खीच कर, एकमेव परमाणु मे केन्द्रित कर दिया है अपने को। एक दारुण विस्फोट से स्नायु और मासपेशियाँ तनी जा रही है। अपना ही शरीर कई गुना विशाल हो कर सारे आकाश मे आस्फालित होना दीखा। नही, यह नही होने दिया जायेगा कि पूरे अवकाश को मै अपना आयतन बना लूँ।

हठात् प्रकृति की एक और विनाशक सत्ता मुझ पर आक्रमण कर उठी। मगर-सी डाढों वाला एक विशाल पिशाच भयकर भट्टी से दहकते उसके जबडे। प्रलम्बायमान काली चट्टानों सी अपनी जघाओं तथा उरुस्थलों के बीच मुझे भीचने मे उसने अपनी सारी ताकत निचोड

दी। पर यह क्या हुआ कि क्षण भर पहले विराट् में बेतहाशा फैल रही मेरी देह पलक मारते में वामन हो फिर, उसकी जाँघों की सँड़सी से छिटक गई। अपनी दोनों बाँहों को कैंची की तरह विस्तारित करता हुआ, वह तेजी से कतरनी चलाने लगा। मैंने अपने आपको उस कर्त्तिका के बीच डाल दिया। कि उससे कट कर भी, हो सके तो, इन सब का ममत्व पा सकूँ, इनके बीच रहने लायक हो सकूँ। मगर मेरे वश का क्या है? एकाएक अनुभव हुआ कि वह कैंची पानी में चल रही है, हवा को कतर रही है। उसकी धारों पर बार-बार अपने को फेंका, लेकिन हाय, यह पैशाचिक कैंची भी मुझे धोखा दे गई।

सहसा ही, चुके तेल वाले दीपक-सा वह पिशाच जैसे घुप से बुझ गया। एक शून्य अँधियारे अथाह में सब कुछ असूझ हो गया। बस, एक पीले कनेर फूल की तरह हलकी, महीन मेरी एकाकी काया उसमें जैसे तैर रही है। . . एक गुफा तट के सरोवर में निकल आया हूँ, और चाँदनी रात में, सम्पूर्ण चन्द्रमण्डल की तरह, उस झील की शीतल ऊर्मिलता पर अपने को निर्बाध विचरते अनुभव किया।

. . अचानक उस तरंगिम पानिलता में कहीं एक खन्दक-सी खुल पड़ी। और दहाड़ता हुआ, एक दुर्द्धर्ष सिंह उसमें से उछल कर बाहर आया। और अपने दोनों अगले पंजे उठा कर, उसने मेरी कटि में दोनों ओर से नख गड़ा कर मुझे उरु-संधि में से विदीर्ण कर देना चाहा। मैंने अपनी जाँघों को पूरा पसार कर उसे सुविधा कर दी, कि हो सके तो अपनी डाढ़ों से मेरी त्रिवली को भेद कर, मेरे भीतर आरपार चला आये। ताकि मेरी इस निरी वायवीयता को उस विशाल भयावह प्राणि-पिंड में सहारा मिल जाये। . . सहारा तो मिला, मगर यों कि व्याघ्र मेरे भीतर आने के बजाय मैं ही उसके भीतर खींच लिया गया। . . उसके भीतरी देह-विश्व की संरचना में रममाण हो कर, कुछ ऐसा सुख अनुभव हुआ जैसे सृष्टि के किसी गहनतम राजकक्ष में, जाने कितने ही रहस्यों की सुगन्धित मंजूषाएँ मेरे सामने खुल रही हों। एक अगोचर परमाणु के स्कन्ध होने से लगा कर, प्रकृति और प्राणि-जगत् के पिण्ड-धारण और परिचालना तक की सारी ही प्रक्रियाओं में से जैसे स्वयं ही यान्त्रित होता चला जा रहा हूँ। . . अपने ध्रौव्य की धुरी पर अविचल आरूढ़, उत्पाद और व्यय की परिशुद्ध प्रक्रिया को अखण्ड काल-परमाणु में जी रहा हूँ . . .।



. . एक विशाल सार्थ की छावनी मेरे चारों ओर फैली दिखाई पड़ रही है। कर्म-कोलाहल का अन्त नहीं। . . कोई थका-हारा भूखा पथिक धर्म-संकट में पड़ा है। उसे भात पकाने हैं, पर चूल्हा बनाने के लिए उसे पत्थर कहीं नहीं मिल रहे हैं। चारों ओर पत्थर खोजते वह थक गया, लेकिन एक पत्थर भी कहीं दिखाई नहीं पड़ रहा। . . उसके क्षोभ और क्रोध का पार नहीं। क्या प्रकृति में से पत्थर ही लुप्त हो गये?

बड़ी देर से वह मेरे आसपास चक्कर काट रहा है। . . आखिर उसकी दुविधा समाप्त हो गई। इस नग्न साधु के पर्वत-से स्थिर चरणों से अधिक उत्तम चूल्हा और कहाँ मिलेगा! बना-बनाया चूल्हा ही तो अग्नि-देवता ने स्वयं उसके आगे प्रस्तुत कर दिया है। सो ध्यानस्थ

श्रमण के जुड़े चरणों के बीच अग्नि प्रज्वलित कर के उसने अपने भात की पतीली उस पर चढ़ा दी। उन पैरों के जीवन्त पत्थरों पर पका भात खा कर, जाने कितने दिनों का भूखा पथिक मानो किसी दिव्य भोजन का आस्वाद पा कर हर्ष विभोर हो गया।

'ऐसे स्वादिष्ट, सुगन्धित भात तो इससे पूर्व जीवन मे मैने कभी चखे नही।'—मन-ही-मन वह सोचता रहा। दाह मुझे जो भी अनुभव हुआ हो, लेकिन एक नयी उपलब्धि हो गई है। हाड़-मांस के चरण भस्म हो गये, पर उनमे से यह कैसे तप्त हिरण्य से नये चरण प्रकट हो गये है। . . पथिक, तुम्हारे प्रति मेरी कृतज्ञता की सीमा नही !

. . सामने से आ रहे व्याध ने देखा कि इस जगल मे यह पुरुषाकार वृक्ष का ठूँठ कहाँ से आ गया है। बहुतेरी रग-बिरगी जगली चिड़ियाएँ उसने नगर मे बेचने के लिए पकड़ी थी, और उनके कई पिजड़े ढोते वह थक गया था। उसे डर था कि पिजड़े नीचे रखने पर, आकाश न दिखाई देने से, नयी पकड़ी चिड़ियाएँ व्याकुलता से तीलियों पर पख मार कर प्राण दे देगी। क्यों न इस ठूँठ पर सारे पिंजड़े लटका दूँ। इसके आसपास तो आकाश ही आकाश है। और गद्‌गद हो कर व्याध ने वे सारे पिजडे मेरे दोनों कानों पर, गले मे, कधों पर, भुजाओं पर बाँध कर लटका दिये। . पंछियों को कोई नया आकाश चहुँ ओर फैला दिखाई पड़ा। उसमे उड़ने की छटपटाहट उन्हे इतनी असह्य हो गइ, कि अपनी चोंचों के आघातों से पिजडे तोड़ कर, वे इस नूतन आकाश मे इतने ऊँचे उड़ते चले गये कि व्याध की ऑखे भी रुक नही सकी, और वे स्वयं भी चिड़िया बन कर उन पछियों की टोह मे जाने कहॉ खो गईं। बड़ी कठिनाई मे पड़ गया व्याध ! यह उसकी आँखे है, कि आकाश है, कि चिडियाएँ है ? अपने सिवाय और कुछ भी तो दिखाई नहीं पड़ रहा है उसे।

. . हठात् व्याध को लगा, अरे, यह कैसा खून बह आया है, इस वृक्ष-ठूँठ की छालों मे से ? इतना कि मेरा अपना ही पूरा शरीर इससे नहा उठा है। मै व्याध स्वयं ही आखेट हो गया? ओह . . यह तो ठूँठ नही, कोई साधु है . . ! नाथ नाथ . . नाथ, क्षमा करे भन्ते, अज्ञानी से भूल हो गई। .

• • •

. . और देख रहा हूँ, अपने चारों ओर परिक्रमा करते एक जाज्वल्यमान काल-चक्र को। और दसों दिशाओं से उठी आ रही काल-झंझाएँ बड़े प्रचण्ड वेग से उसे चक्रायित कर रही हैं। एक माटी के पिण्ड की तरह मुझे उसके ऊपर रख कर, कोई अदृश्यमान काला भुज-दण्ड मनचाहा स्वछन्द गति की पराकाष्ठा तक घुमा रहा है, उठा-उठा कर मुझे मेरु शिखरों पर पटक रहा है। पर यह क्या है, कि मैं तो अपने ध्यानासन पर ज्यों-का-त्यों निश्चल उपस्थित हूँ, और अपनी उस मृत्तिका-पिण्ड काया को, काल-चक्र मे पटखनियॉ खाते, उठते-गिरते देख रहा हूँ। और इस प्रक्रिया में जाने कब उसे, भीषण विस्फोट के धड़ाके के साथ फट कर, उन काल झझाओं में तार-तार बिखर जाते देखा। पंचत्व को प्राप्त हो गया वर्द्धमान ? अपनी मृत्यु को, अपने विनाश को मैंने प्रत्यक्ष अपनी ऑखों आगे देखा। लेकिन यह जो देख रहा है, यह फिर कौन

है ? . . कौन है यह, जो पीछे शेष रह गया है ?

. . ओह, बड़ा धूर्त है यह अवधूत । इसके शरीरों का अन्त नहीं, इसके रूपों और शक्तियों का अन्त नहीं । लेकिन इस समय यह अपनी मौलिक सत्ता में नग्न, निष्क्रिय और एकाकी खड़ा है । अन्तिम प्रहार का ठीक मुहूर्त आ पहुँचा है । इस समय यह अपनी चरम देह में, नितान्त अरक्षित, अप्रतिरुद्ध खड़ा है . . ।

'सावधान वातरशना, पाखंडी, काल के इस अन्तिम वात्याचक्र से बचकर कहाँ जायेगा ?' . . और दो विकराल वह्निमान बल्लमों जैसे प्रकाण्ड भुजादण्डों ने उस कालचक्र को अन्तरिक्ष में ऊँचा से ऊँचा उठा कर, मेरे मस्तक पर प्रहार किया । कुलाचलों को भी चूर-चूर कर देने में समर्थ उस चक्र के आघात से त्रिवली पर्यन्त मेरा शरीर पृथ्वी में मग्न हो गया । . . प्रकृति और पुरुष के नित्य अव्याबाध महामैथुन में लीन होने की-सी अनुभूति हुई । . . एक सर्वांगीण समावेश का महासुख-कमल मेरे हृदय-देश के श्रीवत्स चिह्न पर खुल आया । वर्द्धमान कृतज्ञता के आँसुओं में विगलित हो कर, अपनी अन्तरवर्तिनी महाशक्ति के उस रूप-विग्रह के चरणों में भूसात् हो रहा । प्रशममूर्ति महावीर, बस केवल देख रहा है . . देख रहा है । पर क्या है, जो वह नहीं कर रहा ? क्योंकि वह कुछ नहीं कर रहा . . । बस, है । अस्ति ।

. . ओ, यह अन्तिम पुरुष, इस कदर हर चोट और पकड़ से बाहर है, ऊपर है ? ठीक है, अघात्य है इसका तन । लेकिन इसका मन, इसका प्राण, इसकी चेतना ? जो कमल-पाँखुरी की नसों की तरह कोमल, लचीले, महीन हैं । इसके तन को नहीं तोड़ा जा सका, तो इसके मन को तोड़ूँगा । इसकी अति कोमलांगी सुन्दरी-सी आत्मा को एक ही वार में चूर-चूर कर दूँगा । फिर किसके सहारे टिकेगा इसका अघात्य शरीर ? इसकी ये वज्रीली हड्डियाँ . . ?

. . और अचानक दिखायी पड़ा, पिता सामने खड़े हैं । सुनायी पड़ी उनकी स्पष्ट आवाज :

'वर्द्धमान, बेटा वर्द्धमान ! मुझे पहचान तक नहीं सकते ? मैं तुम्हारा प्यारा पिता सिद्धार्थ । तुम मेरे ही आत्मज हो । . . एक बार आँख खोल कर सामने भी नहीं देखोगे ? . . मान, मेरे लाल, मेरे रक्त, मेरी आत्मा, तुम ? यह तुमने क्या किया ? क्यों तुम हमें छोड़ गए ? हमारी प्यार भरी छातियों पर लात मार कर चले गए ! इसी दुर्दिन के लिए ? इस अन्तहीन राक्षस-लीला के दुश्चक्र में फँसकर निरन्तर अपनी मिट्टी पलीद करवाने के लिए . . ?

'किस अपराध के लिए तुमने हमें ऐसा दारुण दण्ड दिया है ? तुम्हे सहन नहीं हुआ हमारा सुख ? अपना सुख तक तुम्हें असह्य हो गया ? कैसी भयंकर प्रहारवाणी तुम वैशाली पर बोलते थे । तुम्हारे मन का हो गया, वर्द्धमान ! तुम्हें खबर देने आया हूँ । आततायी अजातशत्रु ने भारत के पाँचों महाराज्यों को अपनी मुट्ठी में कर, असंख्य वाहिनियों के साथ एक आधी रात वैशाली पर आक्रमण कर दिया । अगले सूर्योदय तले वैशाली महाश्मशान हो कर सुलग रही थी, और उसकी लपटों पर तुम्हारी प्रिय अम्बपाली हमारे विनाश का ताण्डव-नृत्य कर रही थी । . .

'हमारे सारे राजमहल आक्रान्ताओं ने हमसे छीन लिए । हमें निकाल बाहर कर, बियाबानों में ला पटका । हम बेघर-बार, निर्जल-निराहार दर-दर की खाक छान रहे हैं । हम सब एक-दूसरे से बिछुड़ कर प्रेतों की तरह अपनी लाशें ढो रहे हैं । और जानते हो, तुम्हारी प्रिय चन्दन कहाँ

हैं ? . . अरे तुम तो पहाड़ की तरह खामोश हो ! तुम्हें हमसे कोई सरोकार नहीं ? चन्दन तक को तुम भूल गये ? . . कहाँ है तुम्हारा वह तीर्थंकर, काल की अवसर्पिणी का अन्तिम परित्राता ? जिसकी घोषणाएँ करते तुम थकते नहीं थे । . . मान, बोलो मान, बेटा, एक बार तो आँखें उठाओ, ओठ खोलो . . । तुम्हारा जनक तुम्हारे चरणों में शरण खोजने आया है, त्राण की भीख माँगने आया है । . . अरे तुम्हे अपनी माँ तक पर दया नही आ रही । . . देखो वह पागल स्त्री, वह धाड़े मार-मार कर उन पेड़ों से सर पछाड़ती तुम्हे गुहार रही है . . ।'

और सामने माँ की अति करुण क्षीण मूर्ति आक्रन्द करती, छाती पीटती दिखाई पड़ी । असूर्यपश्या त्रिशला की काया पर लाज ढाँकने तक को वसन शेष नही है ? . .

. . सब सुना, देखा । चुप ही रह सका । अनाहत, अविकम्पमान मात्र एक लौ । उसके उजाले में सब स्पष्ट और यथास्थान है । उसमे कोई मीन-मेख सम्भव नही । मै रंच भी न हिला । मैं कुछ न बोला । बोलने को था ही क्या ?

पर मस्तक-पीठिका मे से उठती एक आवाज ने उत्तर दिया : 'कहीं कुछ नहीं है, सिद्धार्थराज, किस माया के चक्र मे फँस गये तुम ? देखो अपने को । अपने नन्द्यावर्त के शयन कक्ष में सुगन्धित शैया पर बहुत सुख से लेटे हो, राजन् !'

'अम्बपाली इस क्षण तक तो लास्य नृत्य ही कर रही है । पर कब महाकाल का डमरू बजने पर, महाकाली ताण्डव नृत्य कर उठेगी, कहा नही जा सकता । और विप्लवी रुद्राणी का वह ताण्डव धरती पर नहीं, महावीर की छाती पर होगा । महावीर के वक्ष-देश पर ही आम्रपाली अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा के साथ नाच सकेगी । वह, जिसके दाये हाथ मे अमृत-कुंभ होगा, और बाये हाथ में नागिन का विष-प्याला । . . लेकिन उसमें अभी बहुत देर है, राजन् ! महावीर की वैशाली, पृथ्वी पर चिरकाल अजेय है, सिद्धार्थराज ! कांचनकामिनी वैशाली का विनाश कभी भी सम्भव है । पर वह और किसी पार्थिव सत्ता के हाथों सम्भव नही । वैशाली का विक्रान्त राजपुत्र महावीर ही वह कर सकता है । उसकी बायीं भौंह पर वैशाली का विनाश ठहरा है : उसकी दायीं भौंह पर वैशाली का अपूर्व निर्माण । पर इस क्षण तो अपनी भृकुटी की गन्धकुटी में वह निश्चल बैठा है । निर्णायक मुहूर्त की प्रतीक्षा करो, सिद्धार्थराज ! . . डरो नही, अपनी सुरक्षित सुख-शैया में अपने को महसूस करो । . . और चन्दनबाला ? . जानता हूँ, वह कहाँ है ! . . कोई उपाय नहीं । स्वयं अपनी नियति होने को जन्मी है चन्दन । तो राह के चक्र-व्यूहों को तो भेदना और जीतना ही होगा उसे । . . मै हूँ, चन्दन, मै हूँ, ध्रुव मै ।'

. . मेरे सामने खड़ी पर्वताकारा तमसमूर्ति काठमारी-सी खड़ी रह गई है । सोचा उसने : 'नहीं . . मोह-माया के ममता-पाश से निष्क्रान्त है इसका प्राण, मन, आत्मा । नहीं, लोकालोक की कोई चोट, इसके तन और मन की लौ को नही छेड़ सकती । कराल से नहीं, कोमल और मधुर से ही यह भुवन-मोहन जीता जा सकता है । स्वयं कामदेव है यह । रति के सिवाय इसके चैतन्य को कौन मूर्च्छित कर सकता है, इसकी आत्मा को कौन जीत सकता है ! विश्व-रमणी के सिवाय कौन इसके ऊर्ध्वरेतस् आत्मतेज को स्खलित कर सकता है ! यह, जो निरन्तर सहस्रार के सूर्यचक्र में खेल रहा है । . .'

. . रत्नों से झलहलन्त एक विमान आकर सामने उतरा है । उसमें से उतर कर एक तुंग

काय ललितांग देव सम्मुख प्रस्तुत हुआ। मणिप्रभ मुकुट से मंडित अपना माथा भूमि पर डाल कर उसने प्रणाम किया और बोला :

'दर्शन पा कर कृतकृत्य हुआ, महर्षि वर्द्धमान। ऐसा उग्र तप, तेज, सत्व ऐसा सम्यक्त्व, ऐसी सहिष्णुता, ऐसी तितिक्षा, ऐसी मुमुक्षा अन्यत्र नहीं देखी। अस्तित्व की भी अवहेलना करके सिद्धत्व-लाभ के लिए ऐसा अनाहत पराक्रम आज तक किसी पुरुष-पुंगव ने नहीं किया। मैं तुम पर प्रीत हुआ, देवर्षि ! इसी से लोकालोक की समस्त ऋद्धि-सिद्धि तुम्हें समर्पित करने आया हूँ। जो चाहो माँग लो, दूँगा। . . जहाँ इच्छा करने मात्र से सारे मनोकाम तुष्ट होते हैं, चाहो तो उन स्वर्गों में तुम्हें इसी देह से ले जाऊँ। चाहो तो अनादि भव से संरूढ़ हुए सर्व कर्म से तुम्हें विपल मात्र में मुक्त करके, एकान्त परमानन्द स्वरूप मोक्ष में इसी क्षण तुम्हें उत्क्रान्त कर दूँ। ताकि असंख्य विदेह सिद्धों के बीच तुम सदेह मुक्ति-लक्ष्मी के साथ रमण करो। चाहो तो, ज्ञात और अज्ञात पृथिवी के तमाम मंडलाधीश राजेश्वर अपने मुकुट झुका कर जिसके शासन को शिरोधार्य करें, ऐसा त्रिलोक चक्रवती साम्राज्य तुम्हें अर्पित करूँ। जो चाहो माँग लो, राजर्षि, यह मुहूर्त दुर्लभ और अनिवार्य है। . .'

सुन कर मुस्कुरा आया हूँ, और चुप हूँ। चुप, अनुत्तर, निश्चल हूँ। किन्तु देवता को जाने किस अन्यत्रता से उत्तर सुनाई पड़ा :

'वह सब पा कर पीछे छोड़ आया हूँ, आयुष्यमान ललितांग देव !'

'ओह, कांचन और साम्राज्य से भी परे जाकर अजेय हो चुका है यह देवार्य ?' . . हार कर झल्लाया-सा लौट पड़ा है वह देवता अपने विमान में। उसकी वह इच्छा पूरी हो, जिसे वह स्वयं नहीं जानता है। . .

' . . किन्तु कौन है, जो कामिनी के बाहुपाश से बच निकले ? सृष्टि की उस जनेता को जीत कर भी, अन्यत्र गति कहाँ है ? सृष्टि के बाहर तो सिद्धालय भी अस्तित्व में नहीं रह सकता। . . आओ मादिनी, तुम्हारा विदेह मदन पहली बार देह धर कर तुमसे मिलने आया है। . .'



. . देख रहा हूँ, छहों ऋतुएँ गलबाँही डाल कर सहेलियों की तरह सामने आयी हैं। उन सब ने मिल कर एक साथ अपने विविध सौन्दर्यों का उत्सव रचाया है। घनी श्यामल अमराइयाँ मंजरियों से लद आई हैं। उनके गोपन अन्तराल में कुहुकती कोयल की 'पिहू . . पिहू . .' पुकार अन्तहीन हो गई है। उसमें जन्मान्तरों की जाने कितनी प्रियाओं की विदग्ध स्मृतियाँ कसक रही हैं। दिशाओं की बाँहें किंशुक फूलों से व्याकुल हो कर दहक उठी हैं।

आग्नेय कोण में ग्रीष्म का सवेरा अलसाया है। कृष्णचूड़ा के वन तले किसने केशरिया शैया बिछा दी है ? अमलतास की डालें जाने कैसे तन्द्रिल, स्वप्निल पीले फूलों से नमित हो आयी हैं। विकसित कदम्ब पुष्पों की रज से सैरन्ध्री जाने किस पद्मांगिनी के स्तन-मंडल पर पत्रलेखा रच रही है। . . और सहसा ही ईशान दिशा में, घिर आये बादलों की निर्जन छाया में नाचते मयूरों के

केका-रव से विरहिणी के प्राण पागल हो उठे हैं। कृष्ण कमलों से लदी कादम्बिनी शैया पर अविराम वृष्टि धाराओं में नहाती नग्न बिजलियाँ छटपटा रही हैं। उन पर किसने यह इन्द्रधनुष की महीन ओढ़नी डाल दी है ?

सहस्रों नील कमलों की आँखें किसके लिए टकटकी लगाये हैं ? पारदर्शी नीलिमा के तटान्त पर, काश फूलों के वनान्तराल में छुपी कौन श्वेतांगिनी रह-रह कर झाँक उठती है ? वन-मल्लिका और कामिनी फूलों से महकती इस शरद संध्या में किस मिलन-रात्रि का आमन्त्रण है ? . . औचक ही हेमन्त की तुहिन-तरल रात सिंधुवार पुष्पों की महक से मातुल हो कर, अपने भीतर की अग्नि को खोज रही है। . .

और कहीं हिम-शिलाओं से जटिल सरोवर के एकाकी स्फटिक तट पर सारे ही वन-काननों के पियराए पत्ते एक साथ आ कर झड़ रहे हैं। बर्फानी आँधी के विनाश-पर्यंक पर कोई अनादिकाल की विरहिणी अपने अज्ञात योगी प्रियतम के लिए अग्नि-कंकणों भरी बाँहें फैलाये है।

. . ऋतु-रानियों के इस संयुक्त उत्सव का आँगन, पलक मारते में सहस्रों सुन्दरियों से भर उठा। मर्त्य पृथ्वी का सारभूत लावण्य जिनमें मूर्त हुआ है, ऐसी ज्ञात-अज्ञात तमाम द्वीप-देशान्तरों की रूपसी बालाएँ। सोलहों स्वर्गों की इन्द्राणियाँ, देवांगनाएँ, अप्सराएँ। उर्वशियाँ, तिलोत्तमाएं। किन्नरियाँ और गन्धर्व-कन्याएँ। रूप और यौवन का उत्ताल तरंगित सागर। हर तरंग मे जाने कितनी लहरियाँ। हर लहर में अनगिनत रूपसियाँ। हर रूपसि में से आविर्भूत होती, नित-नव्य यौवना सुन्दरियाँ। और हर सुन्दरी एकाकी, अत्यन्त वैयक्तिक प्रिया की तरह मेरे सम्मुख आ रही है। सर्वस्व समर्पण की चेतना और वासना से उसका अंग-अंग व्याकुल और चंचल है। निवेदन के आरत अच्छवास से वह विह्वल है। कातर आहों में फूटता उसका कंठ-स्वर अति मृदु, मधुर और महीन है। ऐसा स्वराघात, कि श्रवण मात्र से कोई मोह की मूर्च्छा-रात्रि में सदा को सो जाये।

सुरम्य अगों वाली उन रम्भाओं ने, रति के अचूक विजयी मंत्रास्त्र समान संगीत आरम्भ किया। चौमासे की वेगीली नदियों की अन्तःसलिला प्रकृत लयों के साथ, वे गान्धार ग्राम से अनेक रागिनियाँ गाने लगीं। देवांगनाएँ क्रम और उत्क्रम से, अपनी वीणा की लहरीली सुरावलियों में स्वर, व्यंजन और धातुओं के मांत्रिक स्वरूप को मूर्त करने लगीं। गंधर्व-बालाएँ कूट, नकार और धोंकार से मेघ-रव उत्पन्न करती हुई त्रिविध मृदंग बजाने लगीं। बहुत ही महीन, कोमल मींड़-मूर्च्छनाओं में आरोहित और अवरोहित है यह संगीत की धारा। इसमें असीम दूरियों के आमंत्रण हैं। विरहिणी आत्मा का जन्मान्तर गामी संवेदन है। अज्ञात मिलन-कक्षों की कचनार-शैयाएँ हैं। सर्वस्वदान के लिये व्याकुल-विभोर देह, प्राण मन की आत्महारी विदग्धता है। सुरति संघर्ष में देह को चूर-चूर कर निःशेष हो जाने की एक कचोट है। आत्ममिलन की तड़प से अनात्म के जड़ तमस-तटों में टकराने की घायल वेदना है, आह-कराह है। इसमें बेकाबू वासना की आकाश-दाहक ज्वालाएँ हैं। इसमें अज्ञात अन्तर्वेदना से घुमड़ते समुद्रों की गहराइयाँ हैं। .

. . तट पर खड़े रह कर देखने और अनुभव करने का आनन्द इतना बड़ा है, कि मोह के इस अथाह तिमिर-सागर में डूब नहीं पाता हूँ, खो नहीं पाता हूँ। . . देख रहा हूँ इस सामने

नृत्य करती अप्सरा को। अंग-भंग और मुद्राओं के नृत्याभिनय से यह अपने कंचुकी-बन्ध तोड़ती हुई, शिथिल केशपाश को बाँधने के बहाने अपने बाहुमूलों को दिखा रही है। यह तिलोत्तमा, दिशावेधी कटाक्षों के साथ, प्रबल अग-संचालन द्वारा अपनी देह मे न समाते लावण्य को बेबस बहा रही है। निवेदन की वेदना के छोर पर. अनेक अंग- मरोड़ों से अवयवों को अधिकतम उभार कर हवा में आलेखित किये दे रही है। उत्सर्ग की चूड़ान्त छटपटाहट मे पहुँच कर, इस उर्वशी ने अपने उरोजों को कुलाचलों की तरह उद्भिन्न कर, अन्तरिक्ष मे उत्तीर्ण कर दिया है।

. . ऐरावत क्षेत्र की यह बाला शर-सन्धान के लिये खिचे धनुष की तरह दोहरी हो गई है। इसके पीछे ढलके माथे के विपुल चिकुर पाश ने उसकी नूपुर-शोभित एड़ियों को बॉध लिया है। इसके आलोड़ित वक्षोजकुम्भों से उमड़ता क्षीर-समुद्र इसके उत्तोलित नाभि-कमल मे सरोवर बन कर थमा रह गया है। और अद्भुत है यह विदेह क्षेत्र की पद्मिनी। इराकी आत्मा की पारदर्शी उज्ज्वलता, इसके अभिन्न भाव से जुड़े उरु-द्वय के सन्धि-मूल मे, अनिर्वार सवेग के निझर-सी उफन रही है। . . देख रहा हूँ, कामार्त रमणी देह के सारे ही अंगों और भगों मे, उत्तोलन और आलोड़न मे, अपने को पाने के लिए बेचैन आत्मा की चैतन्य वासना ही तो हिल्लोलित है।

. . ओ प्रभास द्वीप की सुन्दरी, समझ रहा हूँ, अपने शिथिल हो गये अधोवस्त्रों की ग्रंथि को दृढ़ करने के लीला-न्याज से, तुम अपनी नाभि की गहन रत्न-वापि ही तो मुझे दिखाना चाहती हो। खुल पड़े नीवि-बध को फिर से कस कर बॉध देने के छल से तुमने अपने अन्तर-वासक को, इभ दन्त नृत्य-मुद्रा के साथ कई बार आरोहित-अवरोहित किया है। ग्रथि मे बॅध नहीं पा रहे है छोर, और तुम्हारी झुझलाहट की दिदग्ध मोहिनी अन्तहीन हो गई है। सोचो तो, आवरण क्या केवल वसन का ही है ? कृष्ण का चीरहरण क्या केवल देह की नग्नता पर अटक सका था ? उसने तो अन्तरवासिनी चिदम्बरा के कचुकि-बन्धों और नीवि-ग्रथियों को सदा के लिए तोड़ दिया था। तब जो अनावरण हुआ था, वह निरे मासल स्तन और योनियॉ नही थी · वे योगनियॉ थी। वे अन्तराग्नि से जाज्वल्यमान आत्मा की नग्न सुन्दरियॉ थी। . .

देख रहा हूँ, तुम्हारे जन्म-जन्मान्तरों के विरहाकुल प्राणों की इस ग्रथिल पीड़ा को। . . नही, तुम निरी देह नही हो। निपट देहिनी नही हो। विदेहिनी है तुम्हारी वासना। फिर क्यों देह के इन चरम उभारों पर आ कर अटक गई हो ? क्यो है यह शंका, यह भय, यह हिचक ? . . इसलिए कि तुम अपने आप को केवल देह समझ रही हो। तोड़ दो मिथ्या-दर्शन की इस अन्तिम मोह-ग्रथि को। उसके बाद जो आलिगन है, उसमे तू और मै नही है। केवल तू है या केवल मै हूँ। स्पर्श का वह सुख, देह के तट पर हो कर भी, स्पर्शातीत है। वह बाहुबंधन बॉधता नहीं, अन्तिम रूप से मुक्त कर देता है। .

. . समझ रहा हूँ, तुम्हारी इन प्रगाढ़ आलिगन की चेष्टाओं को। अपना ही तो परिरम्भण कर रही हो। अपने ही से डरोगी ? तो जल-जल कर मरोगी ही। आवरण की ओंट, अपनी रूपश्री को कभी छुपा कर और कभी दिखा कर, तुम अपने को देना चाहती हो। फिर भी अपने तन के एक-एक सौन्दर्याणु को कस कर पकड़े रहना चाहती हो। ऐसे परिग्रह के परकोटों में स्खलन ही सम्भव है, पूर्णालिगन और परम मिलन कैसे सम्भव है ! इन सारे आवरणों, कंचुकियों, नीवि-बन्धों, केश-ग्रंथियों, अवयवों के उभारों को भेद कर, देह के पार क्या तुम अपने

को मुझे नही दे सकती, मुझे ले नही सकती . . ?

. . और सहसा ही एक उल्का आकाश मे आरपार लहरा गई। पृथ्वी के गर्भ में, कोई गहनतम ग्रथिभेद का आघात हुआ। एक ऐसा भूकम्प, जिसमे वसुधा ने फट कर, अपने को अपने ही मे समा लिया। सारे आकाश की नीलिमा द्रवित हो कर, तमाम दिगन्तिनी दूरियाँ पिघल चली। क्षितिज की भ्रान्ति-रेखा जाने कहाँ विसर्जित हो गई। ओर मै अपने कायोत्सर्ग में अविकम्प खड़ा हूँ।

हठात् निवेदन से कातर नारी-कण्ठ की विदग्ध वाणी सुनाई पडी ·

'अनुकम्पा के अवतार सुने जाते हो, महावीर, ओर तुम ऐसे निष्कम्प, ऐसे निर्मम, पर्वत। हमने तुम्हारे कन्धों पर मुखडे ढाल तुम्हे चूम-चूम लिया। हमने आहे भर-भर कर अपनी गोपन मर्म-व्यथा तुम्हारे कानों मे कही। हमने अपने अनावरण उरोजों से तुम्हारे उन्नत सुमेरु जैसे वक्ष का रभस-आलिगन किया। उस मे अपनी समस्त दाहक कामाग्नि को उँड़ेल दिया। तुम्हारी कटि और जघाओं से लिपट कर हम रोई, बिसूरी। पर तुम निस्पन्द, निश्चल पाषाण !

'तुम कैसे अनुकम्पा के अवतार ! तुम कैसे वीतराग, महाकारुणिक, त्रिलोक-पति भगवान ?' कि तुम्हे इतनी भी दया न आई, कि तुम हम अज्ञानिनियों की यह असह्य काम पीड़ा हर लेते। तुम तो अजित-वीर्य सुने जाते हो, तुम हमे तृप्त कर देते, तो तुम्हारा क्या बिगड़ जाने वाला था ? तुम्हारी वीतरागता मे कौन-सा बट्टा लग जाता ? जान पडता है, तुम्हे अपनी वीतरागता मे सन्देह है। तुम अभी भी भय से मुक्त नही हो सके हो, इसी से तो हमे छूने-सहलाने की हिम्मत तुम न कर सके। भय से पथरा कर पाषाण हो रहे।

'यदि तुम सचमुच वीतराग हो, तो तुम्हारे सिवाय कौन हमारी इस पीर को हर सकता है। तुम चाहो तो लीला मात्र मे हमारी हर कामना को तृप्त कर सकते हो। हे परम दयालु, तुम इतनी भी दया हम पर नही कर सकते ? पूछती हूँ, फिर तुम कैसे दयालु ?'

और अभी, यहाँ, इसी क्षण मेरे ओठ राशिकृत चुम्बनों के माधुर्य मे निमज्जित और तल्लीन हो गये है। मेरे कन्धों पर जाने कितने कस्तूरी गध से ऊर्मिल कुन्तल-छाये मुखड़े ढलके है। मेरे कण्ठ पर जाने कितने ही मृणालों के ग्रीवालिगन झूल गये है। मेरी भुजाओं मे जाने कितने अपरम्पार वक्षोजों की अगाधिनी विपुलता और गहराइयाँ आलिगित है। सहस्रों कटियों से कटिस्नात् मेरे उरुस्थलो मे मासलता नि शेष हो गई है। मेरे इस स्पर्शसुख मे स्पर्श समाप्त हो गया है। अपूर्व है आज की यह निस्पन्दता, निष्कामता। समाहिति का सुख आज पहली बार ऐसा अव्याबाध हुआ है। सबको अपने मे समा लेने की आकुलता, सब मे एक साथ समा कर आज विश्रब्ध हो गई है। चरम रति ही तो परम समाधि हो गई है।

. सामने की हवा मे एक देवाकृति तैर रही है। उसमे अन्तिम पराजय का क्षोभ है। पर वह एक बोध से स्तब्ध है। उसके भीतर गूँज रहा है .

'कहाँ गईं वे सारी कामिनियाँ ? कहाँ अवसान पा गयी वह कामलीला ? कहाँ खो गईं वे तीनों लोकों की साराशिनी सुन्दरियाँ ? ओह, योगीश्वरों के योगीश्वर हो तुम, महावीर ? तुम से बाहर तो कुछ भी नही। काम भी तुम से बाहर नही। वह भी मात्र तुम्हारी एक तरग है। तरग कैसे

समुद्र को जीत सकती है। सो वह उसी में से उठ कर, उसी में निमज्जित हो गई, विसर्जित हो गई, निर्वाण पा गई। . . '

• • •

'मैं सौधर्म स्वर्ग का संगम देव, शरणागत हुआ, त्रिलोकीनाथ ! मैंने प्रत्यक्ष देखा, मारजयी है महाश्रमण वर्द्धमान। मृत्युंजय है महावीर। देवजाति की समस्त श्री, शक्ति, सम्पत्ति, मर्त्य मानव-पुत्र के आत्मजयी पुरुषार्थ के सम्मुख अन्तिम रूप से पराजित हो गई। . . अब कौन-सा मुँह लेकर शक्रेन्द्र के सामने जाऊँ . . ? देवार्य से महत्तर सत्ता इस समय लोक मे विद्यमान नहीं। ऐसे दारुण अपराधी को अरिहंत के सिवाय कौन क्षमा कर सकता है . . ? मुझ अज्ञानी पापात्मा को क्षमा करे, स्वामी ! .

'खम्मा, खम्मा, खम्मा। अरिहन्त शरणं गच्छामी, सिद्ध शरणं गच्छामी, साहु शरणं गच्छामी। केवली पणत्तो, धम्मं शरणं गच्छामी।

'शरणागत हूँ, भन्ते ! . . पर चरम क्षमा पा कर भी अपराध से मुक्त नही हो पा रहा मन !'

'वह तू नहीं, संगम। तू आत्मा है, और आत्मा अपराध से ऊपर है। इष्ट ही किया तूने : अपनी शक्ति की सीमा जान गया। अब अपनी भूमा को जान सकेगा। अहम् टूटा है, तो वह सोहम् होगा ही !'

'अब मेरे लौटने को कोई स्थान नहीं। कहाँ जाना होगा, भगवन् ?'

'सौधर्म स्वर्ग की इन्द्र-सभा मे देवों की समस्त जाति तेरा तिरस्कार करेगी, परिहास करेगी, अपमान करेगी। उससे तेरा कल्याण ही होगा क्योंकि अहंकार का अन्तिम पाश उससे टूटेगा। स्वर्ग से निर्वासन पा कर, मेरुगिरि की चूलिका पर तू अपनी शेष एक सागरोपम आयु बितायेगा।'

'भगवन् . . !'

'धन्य हुआ तू, संगम। अमरों की भोग-मूर्च्छा से जाग कर, मर्त्यों की मरण-जयी पृथ्वी पर अब तू मोक्षलाभ का परम पुरुषार्थ कर सकेगा !'

'इन श्रीचरणों को छोड़ कर, अब कही जाना नहीं चाहता, देवार्य !'

'अर्हत् नियति से पलायन नहीं करते। उसे झेल कर ही जीतते है। वे सदा सर्वत्र तेरे साथ हैं। वे अन्यत्र कही नहीं। शरण मात्र माया है। तू जो आप है, वही रह, संगम ! इत्यलम्।'

निराले हैं तेरे खेल, ओ अन्तर्ज्ञानी

दृढ़भूमि, बिदा लेता हूँ तुम्हारे आँगन से। किसने कह दिया, तुम म्लेच्छ भूमि हो ? तुम तो परम आर्या हो माँ, तुम्हें प्रणाम करता हूँ। आर्यों के देश में मैं अनार्य-पुत्र हूँ, अनार्यों के बीच मैं

आर्य-पुत्र हूँ। ठीक ही तो है, तुमने मेरी नियति को अन्तिम रूप से परिभाषित कर दिया। वर्णसंकर। मैं किसी भी देश, जाति और कुल का हो कर नहीं रह सकता। अदेशीय, अजातीय और अकुलीन हूँ, या फिर सर्वदेश, जाति और कुल का हूँ। यही एकमात्र मेरी स्वाभाविक स्थिति है।

ओ अनार्या कहलाती माँ, तुमने पिछली रात अपनी धृति के गर्भ में से मुझे एक और भी पूर्णतर जन्म दिया है। तुम्हारी मरणाक्रान्त गोद में से मरणजयी होकर उठा हूँ। अमरों का ऐश्वर्य और पराक्रम तुम्हारे पैर के अंगूठे पर ठिठका खड़ा रह गया, क्योंकि तुम्हारे वक्ष पर चढ़कर मैं मृत्यु के आलिगन में उत्संगित हो सका। तुम-सी माँ और प्रिया और कौन हो सकती है? . .

लगता है, आज सूर्य स्वयं द्विजन्मा होकर उदय हुआ है। बहुत भिन्न, नया और उत्तीर्ण है आज का सूर्योदय। इसके प्रकाश मे अखिल वस्तु-जगत का एक नया ही चेहरा देख रहा हूँ। दृढ़ भूमि से निकल कर फिर आर्य भूमि के उपान्त मे विहार कर रहा हूँ। बहुत दिनों बाद फिर ऐसी भूख लगी है, जैसी कि मानो पहले कभी न लगी थी। बरसों से देख रहा हूँ, मेरी हर भूख पिछली से आगे की और नवीनतर होती है। वह कोई ऐसा आहार माँगती है, जो पहले कभी न मिला।

गोकुल ग्राम का वह नदी तट बुला रहा है। अमराई तले के कुटीर द्वार पर वह कौन खड़ी है? गोपी वत्सपालिका। पच्चीस शताब्दियों से वहाँ खड़ी तुम किसका प्रतीक्षण कर रही हो? कितनी-कितनी बार तुम्हारी देह वृद्धा हुई, मरी, किन्तु तुम तो अचल कुँवारी ही रही। मुहूर्त आ पहुँचा है, और लो, मै आ गया हूँ। तुम्हारा वह मनचीता कुमार, जो द्वापर में तुमसे बिछुड़ गया था, और ढाई हजार वर्ष हो गये, तुम्हे कही नही दिखाई पड़ रहा था।

'तिष्ठ. तिष्ठ' स्वामी, आहार ग्रहण करो, आहार ग्रहण करो। यह तुम्हारा कल्प है, केवल तुम्हारा। . .'

भिक्षुक ने पाणिपात्र पसार कर वत्सपालिका के मृत्तिका पात्र से ढलती खीर ग्रहण की। एक अंजुली पयस पीकर, हाथ खीच लिए।

'नाथ . . ! आ गये तुम, मेरे सर्वस्व, मेरे स्वरूप . .।'

'बहुत मधुर है तुम्हारा पयस, वत्सा। अपू..।'

'दासी तर गयी, देवता।

'दासी मर गयी, देवी।'

. दूर-दूर जाता भिक्षुक गोरम्भा नदी के तटान्त मे ऑख से ओझल हो गया। वत्सपालिका कुटिया मे फिर न लौट सकी। वह ऑख से आगे के वृन्दावन में विहार कर गई।

• • •

श्रावस्ती आया हूँ। नगर के प्रांगण मे कार्तिक स्वामी की रथयात्रा का महोत्सव भारी समारोह के साथ मनाया जा रहा है। नगरजन मयूरपंखी वस्त्रों में सज कर, विपुल पूजा-सामग्री के थाल उठाये, गाजे-बाजे के साथ देवता के पूजन को निकल पड़े हैं।

गंगा पुलिन की एक शिला पर अवस्थित हूँ। शंख, घंटा और तुरहियों के समवेत नाद और

जयध्वनियों के साथ देव-प्रतिमा का अभिषेक किया गया है। पूजा-अर्चा समर्पित कर, महामूल्य किरीट-कुंडल, अंशुक, पुष्पहारों से उनका शृंगार सम्पन्न हुआ है। अनन्तर भक्तगण सहस्रों कण्ठों के स्तुति-गानों के साथ, विधिपूर्वक देव-विग्रह को रथ में बिराजमान करने को तत्पर हुए। तिमा को उठाने के लिए बढ़े हुए कई हाथ सहसा ही ठिठके रह गये। .

अरे, यह क्या हुआ ? कार्तिक स्वामी स्वयं ही देवासन से उठ कर चल पड़े हैं। लोगों के आश्चर्य और आनन्द का पार नहीं। रोमांचक हर्ष के आँसुओं में उनकी अन्तहीन जयकारें डूब चलीं। हजारों वर्षों के इतिहास में ऐसा पहले कभी हुआ, किसी ने सुना नहीं था। धातु प्रतिमा में विग्रहीत देवता जीवन्त हो कर, स्वयं ही पृथ्वी पर चल रहे है। अपने चिर जन्मों के दुःख-द्वंद्वों से व्याकुल विराट् मानव-मेदनी के बीच आ कर, उसके कन्धों से कन्धे रगड़ते हुए वे चल रहे हैं। आप ही स्वयं चल कर, आज भगवान रथ पर आरूढ़ होंगे। मानव-बुद्धि से इतनी परे घटी है यह घटना, कि दृश्य और दर्शनार्थी, पूज्य और पूजार्थी का भेद इस भीड़ की बहिया मे लुप्तप्राय हो गया है।

सारा जनप्रवाह देवता के ओरे-दोरे कीर्तनगान करता हुआ, कुछ दूर पर खड़े रथ की ओर धँसा जा रहा है। . . अरे यह क्या हो रहा है ? कार्तिक स्वामी ने सहसा ही भीड़ की धारा को तोड़ कर, उसके रुख को दूसरी ओर मोड़ दिया है। सुवर्ण-रत्नों का भव्य रथ मुँह ताकता एक ओर खड़ा रह गया है। . . और ठाकुर गंगा के दूरवर्ती पुलिन की ओर द्रुत गति से बढ़े जा रहे हैं। क्या स्वामी गंगा-स्नान किया चाहते हैं ? क्या वे अनादिकाल से बहती गंगा के तरंग-रथ पर आरूढ़ होकर यात्रा करेंगे आज ? विस्मय से विश्रब्ध जन-मेदिनी मात्र मुग्ध प्रश्नाकुलता के साथ, देवता का अनुसरण कर रही है। . .

गंगा पुलिन की लहरों से विचुम्बित एक शिला पर यह कौन कुमार योगी पर्यंकासन में ध्यानस्थ है ? कार्तिक स्वामी अविकल्प चरणों से उसी ओर गतिमान है। . . सहस्रों भक्तों की एकाग्र-दृष्टि, ध्यानलीन योगी के भ्रूमध्य में उद्भासित एक जाज्वल्य चक्र मे केन्द्रित हो रही। अन्तर-मुहूर्त मात्र में जाने कब कार्तिक स्वामी उस चक्र की अग्निल धुरी में अन्तर्धान हो गये।

शताब्दियों से चली आ रही पूजा की धारा को देवता ने स्वयं एक नयी दिशा मे प्रवाहित कर दिया है। जान पड़ता है, ठाकुर ने आज के पूजा-मुहूर्त में कोई नया ही रूप-परिग्रह किया है। शत-सहस्र मेदिनी असमंजस में पड़ी है, कि देवता के इस नये स्वरूप का किस नाम से जयजयकार करें ? सो जयध्वनि स्तब्ध हो रही। मात्र मौन पूजार्पण की राशिकृत पुष्प-मालाओं से, वह तरंगवाही देवासन ढँक गया है।

• • •

. . वैशाली, तेरे सुरम्य प्रांगण से बिदा हुए ग्यारह वर्ष हो गये। इस बीच कई बार आ कर तेरे भीतर से गुजर गया। तेरे भूतल पर नहीं आया, तेरे भूगर्भ मे ही सचरित हुआ हूँ। मेरा सरोकार तेरे कांचन, कामिनी और आकाशगामी भवन-शिखरों से नहीं, तेरी कोख से है। वह कोख, जिससे मेरा यह शरीर अवतीर्ण हुआ है। तेरे उस हृत्कमल को आज सत्ता और सम्पदा के कर्दम की

मोटी-मोटी तहों ने आच्छादित कर दिया है। इस बीच बार-बार लौट कर उसी दल-दल की पाताली तहों में यात्रा की है। ताकि हो सके तो सदियों से जमे इस कादव को उलीच कर, तेरी कोख के हताहत कोकनद को, फिर से उज्ज्वल और ऊर्ध्व-मुख कर सकूँ। इसी से फिर एक बार आया हूँ, तेरी मर्कलत फर्शों पर नहीं, तेरे भूगर्भ के आदिम अन्धकार के तलातल में।

अपने अनगार जीवन का यह ग्यारहवाँ चौमासा तेरे ही निपीड़ित अन्तःपुर में बिताना चाहता हूँ। समर-वन नामा उजड़े उद्यान के ध्वस्त और परित्यक्त बलदेव मन्दिर में चार मास-क्षपण अंगीकार, कायोत्सर्ग की महासमाधि में उतर गया हूँ। स्वयं ही हलधारी बलराम का हल बन कर तेरे मनोदेश की पथरा गई माटियों की पर्तों को भेद रहा हूँ।

. . विशाला पुरी का जिनदत्त श्रेष्ठी एकदा सामायिक में अपनी अपार वैभव-सम्पदा के मूल तक जा पहुँचा। उस उद्गम को देखते ही उसकी तहें काँप उठीं। सम्पत्ति मात्र से उसे असह्य ग्लानि हो गयी। . . ओह, अनवरत मानुष हिंसा के बिना सम्पत्ति का संचय सम्भव नहीं। उसी के आधार पर वह टिकी है। . . परम श्रावक जिनदत्त की चेतना में प्रबल संवेग का संचार हुआ। उसने अपना समस्त धन-वैभव निमिष मात्र नें दीन निर्धनों को लुटा दिया। . . अब वह एकाकी निर्जनों, खण्डहरों, श्मशानों में सामायिक लीन भाव से अकारण ही विचरता रहता है। कई-कई दिनों में एकाध बार अपनी गिरस्ती में लौटता है, जिसका चरितार्थ वह एक कम्मशाला में कठोर श्रम करके चलाता है। अपनी इस सर्वहारा स्थिति के कारण वह लोक मे जीर्ण श्रेष्ठि के नाम से विख्यात हो गया है।

. . इस बीच जिनदत्त को कई बार अकेला बलदेव मंदिर के निभृत एकान्त में, अपने समीप सामायिक में उपनिविष्ट देखा है। मेरी ध्यानस्थ मुद्रा को निहार उसकी आँखों में उजलते आँसुओं पर निमिष भर दृष्टि ठहरी है। उसके मुख से उच्छ्वसित होते सुना है : 'अवसर्पिणी के चरम तीर्थंकर ? . . प्रभु के दुर्लभ दर्शन पा कर यह अकिंचन कृतकृत्य हुआ। कब तक नाथ, कब तक चलेगा तुम्हारी दुर्द्धर्ष तपस्या का यह अनाहत पराक्रम ! मुझ से अब नहीं सहा जाता, नहीं देखा जाता। . . '

प्रतिदिन आ कर जाने कितनी देर वह श्रमण के कर्दमचारी चरणों को अपनी आँखों के जल से धोता रहता है। . . चार मास क्षपण की समाप्ति का दिन आ पहुँचा। कार्तिक पूर्णिमा की सन्ध्या में आकर उसने श्रमण से निवेदन किया : 'भगवन्, कल प्रातः मुझ अकिंचन के द्वार पर पारण को पधारें।'

मेरे पास तो सभी बातों का एक ही उत्तर शेष रह गया है : मौन। और पाया है कि हर प्रसंग पर उठने वाले प्रश्न के उत्तर में यह मौन, जन के मन में यथेष्ट मुखरित हुआ है। जिनदत्त को भी उसका उत्तर मिला ही होगा।

. . अगहन की प्रतिपदा के पूर्वाह्न में, ठीक मुहूर्त क्षण आते ही भिक्षुक गोचरी पर निकल पड़ा। उसके चाहे बिना, उसे कोई पहचान सके यह सम्भव नही। श्रमण तो वैशाली में कई आते रहते हैं, एक यह भी सही। वैशाली के उपान्त मार्ग पर वह भूमि के कण-कण पर दृष्टिपात करता भिक्षाटन कर रहा है। . . जिनदत्त श्रेष्ठि ने प्रासुक और एषणीय भोजन का पाक किया है। वह अपने गृह द्वार में आवाहन कलश उठाये, अपने प्रभु के पंथ में अपलक आँखें बिछाये है।

मन-ही-मन वह सोच रहा है :

'जिनके दर्शन मात्र से चेतना मोक्ष पा जाती है, वे अर्हत जब मेरी अंजुलि का आहारदान ग्रहण करेंगे, वह घड़ी कैसी धन्य होगी। कैसी अनुपम ! मेरे हाथों वे चार मास क्षपण का पारण करेंगे ?' . . ऐसी ही तरह-तरह की कल्पनाओं में वह मुदित और मगन है : प्रभु को अपने आँगन में सम्मुख पाकर कैसा लगेगा ? कैसे बार-बार शीश नवॉ कर वह उनकी परिक्रमा करेगा। . . और उनका वह एकमेव दृष्टिपात ! प्रीति का यह आवेश वह अपने में समा नहीं पा रहा है।

. . किन्तु जो घटित हुआ, उसे देख कर, जिनदत्त वज्राहत-सा रह गया। वह पुकारता ही रह गया :

'भो स्वामिन् तिष्टः तिष्ठः . . ' और नग्न बल्लम की तरह निर्बाध गतिमान प्रभु सामने से निकल गये। एक निगाह उठा कर भी उन्होंने उसकी ओर नही देखा। 'हाय, ऐसा क्या अपराध हो गया मेरा ? जीर्ण श्रेष्ठी की तपस्या से जर्जर काया पत्ते-सी कॉपने लगी। उसकी ऑखों से आँसू ढरकने लगे। . . प्रभु की पीठ का अनुसरण करती उसकी सजल दृष्टि सहसा ही, कुछ दूर पर गर्वोद्धत खड़ी नवीन श्रेष्ठि की हवेली पर ठिठक गई। . .

उस हवेली के द्वार पर कोई द्वारापेक्षण करता नहीं खड़ा है। आतिथ्य भाव से शून्य है वह भवन। ठीक उसी के सम्मुख खड़े हो कर श्रमण ने पाणि-पात्र पसार दिया। गवाक्ष पर बैठे नवीन श्रेष्ठि ने लक्ष्मी के मद से उद्दण्ड ग्रीवा उठा कर अपनी दासी को आदेश दिया :

'किंचना, इस भिक्षुक को भिक्षा देकर तुरन्त बिदा कर दें।'

दासी भीतर जाकर काष्ठ के भाजन मे कुलमाप धान्य ले आयी, और श्रमण के फैले करपात्र में उसे अवज्ञा के भाव से डाल दिया। . .

. . तत्काल आकाश में देव-दुंदुभियों का नाद गूँजने लगा। चेलोत्क्षेप हुआ। वसुधारा की वृष्टि होने लगी। नानारंगी दिव्य पुष्प और सुगन्धित जल बरसने लगे। लोग एकत्रित हो अभिनव श्रेष्ठि के पास आ पूछने लगे :

'यह क्या चमत्कार हुआ, श्रेष्ठि ?'

श्रेष्ठि गद्गद होकर बोला : 'मैने स्वयं पायसान्न द्वारा, प्रभु को पारण कराया है।'

आकाशवाणी ने समर्थन किया :

'अहो दानम्, अहो दानम् !'

सुन कर प्रजाजनों और गणराजन्यों का भारी समुदाय वहॉ आ उपस्थित हुआ, और नवीन श्रेष्ठि की वाहवाही होने लगी।

उधर धरती में निगड़ित-सा जीर्ण श्रेष्ठि यह दृश्य देख कर स्तंभित है। पर उसके भीतर भूचाल है। देव-दुंदुभियों का नाद सुन कर और वसुधारा की वृष्टि देख कर वह गहरे विषाद और विचार में डूब गया है :

'क्या सत्य जैसी कोई वस्तु इस सृष्टि में है ? या यह सब मात्र इन्द्रजाल है ? . . धिक्कार है मुझ मंदभागी को। त्रिलोकीनाथ प्रभु तक ने मेरी अवहेलना कर दी और माया पर कृपावन्त हुए।'

राजा, श्रेष्ठि, लोकजन वसुधारा से बरसे द्रव्य को जोहने-बटोरने में तन्मय हो गये। श्रमण जाने कब चुपचाप वहाँ से जा चुका था। कुछ विरल जिज्ञासु और मुमुक्षु लोकजन दूर से उसका अनुसरण कर रहे थे।

. . समरोद्यान के बलदेव मंदिर में पहुँच कर, अपने आसन पर अवस्थित हो गया हूँ। तभी कुछ आत्मार्थी आकर प्रणत हुए, और पूछा :

'भन्ते श्रमण, इस क्षण इस नगर में कौन आत्मा उज्ज्वल सम्यक् दर्शन से मंडित है?'

'जीर्ण श्रेष्ठि जिनदत्त !'

'सो कैसे भन्ते ? उस हतगामी के द्वार पर तो प्रभु का पारण न हो सका। वह तो नवीन श्रेष्ठि के हाथों हुआ। उसके आँगन में दिव्य अतिशय हुए।'

'नवीन श्रेष्ठि के हाथों नहीं, किंचना दासी के हाथों . . !'

'आश्चर्य प्रभु, नवीन श्रेष्ठि तो कहता है . .

'ठीक कहता है वह, उसे दान करने को विवश होना पड़ा, पर किंचना के हाथों . . !'

'निगूढ़ है स्वामी की रीत। हम समझे नहीं, भन्ते !'

'श्रमण का भाव-पारण तो जीर्ण श्रेष्ठि के हाथों ही हो चुका था। वह आप्त जन है, सो उसे बाहर से अपनाने का उपचार अनावश्यक ठहरा। मिथ्या दृष्टि नवीन श्रेष्ठि का अहंकार पराकाष्ठा पर था। उसकी भिक्षा ले कर ही, उससे निस्तार सम्भव था। दिव्य अतिशय माया में भूले बालक का मन बहलाव है। सम्यक् दृष्टि जीर्ण श्रेष्ठि उससे ऊपर है।'

'भन्ते श्रमण, जीर्ण श्रेष्ठि की मनःस्थिति इस समय कैसी होगी?'

'आर्य श्रावक जिनदत्त अभी-अभी देह-त्याग कर गये। अच्युत देवलोक में संक्रमण कर वे संसार की एक वृहद् साँकल तोड़ गये हैं। अपने को अवहेलित अनुभव कर, पड़ोसी के घर दिव्य अतिशय देख, यदि वे खिन्न न हुए होते, तो अन्तर-मुहूर्त मात्र में उनकी आत्मा परमोज्ज्वल केवलज्ञान से आलोकित हो उठती। धन्य है श्रावक श्रेष्ठ जिनदत्त ! . . '

मौन, अविकल्प, अपने में समाहित, ये सारे प्रश्नोत्तर सुने हैं। साक्षी हूँ, श्रोता हूँ केवल इन सबका। और भीतर अनायास प्रबोध की कई नयी पँखुरियाँ खुल आयी हैं।

तद्रूप भव, मद्रूप भव, आत्मन्

सुंसुमारपुर आया हूँ। यहाँ के अशोकखंड उद्यान में अशोक वृक्ष तले एक शिला-तल्प पर बैठा हूँ। जो प्रस्तुत है, उसे बस देख रहा हूँ। वस्तु अपनी जगह पर है, होती रहती है : मैं अपनी जगह पर हूँ, होता रहता हूँ। उसके और मेरे बीच है केवल दर्शन। शुद्ध, अविकल्प, अकम्प दर्शन। यह दर्शन अब ऐसा अस्खलित और धारावाहिक हो गया है, कि चिन्तन अनावश्यक हो गया है। . . पहले भी सोचना मेरे स्वभाव में नहीं रहा : बचपन से ही अपने को केवल देखते पाया है। लगा है कि सोचना, सम्पूर्ण देखने के आनंद में बाधक होता है। सोच हमारे और वस्तु के बीच

आवरण पैदा करता है। उसमें अहम् और राग अनिवार्य है। इसी से सोचना मिथ्या दर्शन है : केवल देखना सम्यक् दर्शन है। अखण्ड भाव से देखना ही एक मात्र शुद्ध वस्तुस्थिति है।

. . सो सतत देखता रहता हूँ। और यह एकाग्र दर्शन की तन्मयता ही, अनायास जाने कब ध्यान हो जाती है। आँखें मैं मींचता नहीं, जाने कब वे आप ही मिच जाती हैं : अर्धोन्मीलित हो जाती हैं।

. . अशोक का एक रातुल फूल माथे पर टपका। फिर सामने आ गिरा। भ्रूमध्य में विद्युत का तीव्र प्रकर्षण अनुभव हुआ। अशोक फूल की ललित लाली में, आरक्त ज्वालाएँ उठने लगीं। भीतर एक दूरातिदूर छोर पर कोई आकाशी खिड़की-सी खुल पड़ी। दृश्यों और ध्वनियों का एक प्रवाह उसमें उफन रहा है। उसमें एक तरंग उठी और व्याप कर कई पटलों वाले असुर लोक में रूपान्तरित हो गई।

. . देख रहा हूँ, असुर-राज्य की अमरवंचा नगरी। असुरेश्वर चमरेन्द्र इसी क्षण अपनी उपपाद शैया में जन्म ले कर, अपनी देवसभा के सिंहासन पर आरूढ़ हो गया है। शक्ति के मद में चूर, उसने भ्रू उचका कर अपने अवधिज्ञान के वातायन से ऊपर-नीचे चारों ओर निहारा। ऊर्ध्व दृष्टिपात करने पर उसे दिखाई पड़ा सौधर्मेन्द्र। अपने सोधर्मावतंस विमान की सुधर्मा सभा मे सहस्रों देव-परिकर से घिरे, महर्द्धिक वज्रधारी शक्रेन्द्र का वैभव और प्रताप देख कर वह गर्जना कर उठा :

'अरे यह कौन इन्द्रजाली है, जिसने मुझ से ऊपर अपनी सत्ता का सिंहासन बिछाया है। अप्रार्थित की प्रार्थना करने वाला यह कोन दुरात्मा देव मेरे मस्तक पर बैठ कर निर्लज्जता से विलास कर रहा है !'

असुरेन्द्र के सामानिक देवों ने मस्तक पर अंजुलि धारण कर नम्र निवेदन किया :

'हे स्वामी, ये महापराक्रमी और प्रचण्ड सत्ताधारी सौधर्म कल्प के शक्रेन्द्र हैं।'

चमरेन्द्र भभक उठा। भृकुटियाँ तान कर नथुनों से फुँफकारते हुए वह बोला :

'ओ अज्ञानी असुर देवो, मेरे प्रताप को तुम नहीं जानते, इसी से अपने स्वामी के सम्मुख तुम मेरी चरण-धूलि के एक कण जैसे तुच्छ इस शक्रेन्द्र की प्रशसा कर रहे हो। तुम देखोगे कि मैं इसे अपनी एक साँस से पिस्सू की तरह नष्ट कर दूँगा। मेरे होते, ऐसे कीट-पनिगे देवों की जगती पर शासन करेंगे?'

चमरेन्द्र के सेवक सामानिक देवों ने बहुत अनुनयपूर्वक फिर चमर को समझाया :

'स्वामिन्, पूर्वोपार्जित पुण्य से ये शक्रेन्द्र सौधर्म पति हुए हैं। महासत्ता की व्यवस्था मे उनकी समृद्धि और पराक्रम, असुरेश्वर चमरेन्द्र से कई गुना अधिक है। पर अपनी जगह आप भी तो कम नहीं, हमारे जैसे सहस्रों असुरों के राज-राजेश्वर हैं। पूर्व कर्मोपार्जित पराये वैभव की ईर्ष्या करने से क्या लाभ ? हमारी सेवाओं से सन्तुष्ट रह कर अपने स्वार्जित ऐश्वर्य और सत्ता का आप निश्चिन्त उपभोग करें, इसी में आपका कुशल-मंगल है।'

अपने ही अधीनों के इस प्रतिबोध ने चमरेन्द्र की ईर्ष्या को ज्वाला-गिरि की तरह वह्निमान कर दिया। वह चीत्कार उठा :

'ओ हततेज नपुंसको, हट जाओ मेरी आँखों के सामने से। मुझे तुम्हारी सहाय की जरूरत

नहीं। अपने इस प्रतीन्द्र का ध्वंस करने को मैं एकला ही काफी हूँ। आज के बाद सुर और असुर राज्य का भेद समाप्त हो जायेगा। इन दो लोकों के अब दो इन्द्र नही, एक ही इन्द्र होगा। वह एकमेव इन्द्रेश्वर मै हूँगा, और प्रतिस्पर्द्धाहीन मै अखण्ड देव-साम्राज्य पर शासन करूँगा।'

तत्काल आकाश-मार्ग से उड़ कर कल्प स्वर्गों पर आक्रमण करने को उद्यत चमरेन्द्र, हवा पर तमाचे मारता हुआ, अपनी आयुधशाला की ओर धावमान हुआ। उसके मस्तिष्क की फटती नसों मे विवेक की एक चिनगारी फूटी

'मेरे मातहत ये सहस्रों असुर देव, मेरे शत्रु नही, सेवक ही तो है। मेरी हितेच्छा से प्रेरित जान पड़ता है इनका भाव।. . शायद . . शायद . देवयोग से कभी . . मेरी . . पराजय हो जाये, तो इस शक्रेन्द्र से अधिक पराक्रमी ऐसी कौन सत्ता हो सकती है, जिसकी शरण मै जा सकूँ . . ?'

. . चमरेन्द्र के अवधिज्ञान की एक और उच्चतर प्रकाश-श्रेणि उसके भीतर झलक उठी। और अनति दूर, अनति पास, उसे एक भव्य दृश्य दिखाई पड़ गया है। . . संसुमारपुर के अशोक वन मे चरम तीर्थंकर महावीर अपनी छद्मस्थ अवस्था मे महातप के हिमाचल की तरह, अपनी कायोत्सर्ग मुद्रा मे अटल है। वह, जिसके अंगुष्ठ पर, जगत के सारे सत्ताधीशों का मान मर्दन हो जाता है ! जिसके चरण त्रिलोक के सारे अधीश्वरों की चूड़ामणि से चुम्बित है।. . जिनके चरणों मे स्वर्ग शरण खोजते है !

आश्वस्त हुआ चमरेन्द्र। और अपनी आयुधशाला मे से अपना वज्रपाणि नामा मुद्गर उठा कर, आकाश के मण्डलों को उसके अघातों से कम्पित करता हुआ, वह चमरेन्द्र, विपल मात्र मे मेरे सम्मुख आ उपस्थित हुआ है। परिघ आयुध को दूर रख, तीन प्रदक्षिणा दे, नमन कर वह बोला :

'भगवन्, अचूक है मेरी यह प्रतीति, कि मै इन श्रीचरणों की कृपा से उस दुर्जय, दुर्मत्त शक्रेन्द्र को लीला मात्र मे जीत लूँगा। जब तक वह मेरे मस्तक पर बैठा है, तब तक मेरे चित्त को चैन नहीं, नाथ ! मेरा यह मनोकाम्य पूरा करो, और मेरी इस असह्य पीड़ा को हरो, स्वामी। तुम्हारे सिवाय ऐसे कपटी को और कहाँ शरण है . ।'

. . अवलोक रहा हूँ, अवबोध रहा हूँ, इसकी वेदना के बीहड़ों को। इसके कष्टों के सर्पिल आलजालों को। इससे पूर्वभव मे इस आत्मा ने, अगले भव मे अप्रतिम सत्ता, महत्ता पीने की लालसा से घोर अज्ञानी तप किया था। बलात्कारी देह-दमन और अन्तहीन भुखमरी के साथ सन्थारा करके इसने स्वेच्छतया मृत्यु का वरण किया था। ज्ञानी का भोग भी मोक्षदायक होता है, किन्तु अज्ञानी का अहकार से आर्त्त, रौद्र तप मन चाहा फल प्रदान करके भी, चेतना में नित नये पापों, सन्तापों, कषायों के अन्तहीन नरक खोल देता है। ' . चमरेन्द्र, तेरे इन सारे नरकों की ज्वालाओं को सहूँगा मै, यदि तू जाग सके . . । बुज्झह . . बुज्झह . . बुज्झह, आत्मन।'

. . कितना ही बड़ा पापी क्यो न हो, आत्म-समर्पण के साथ प्रार्थी होने पर वह माहेश्वरी सत्ता का अनुगृह प्राप्त कर लेता है।. . जानता हूँ, तू नही सुन रहा है इस क्षण प्रतिबोध की वाणी। तेरी मान कषाय इस समय घटस्फोट की अनी पर पहुँच चुकी है। अक्षम पात्र आप ही फूट पड़ेगा, उसके बाद तू, चमरेन्द्र, तू अपने आमने-सामने होगा। स्वयं अपनी शरणागत। अन्य कोई किसी को शरण नही दे सकता, असुर। . जा, अपनी सामर्थ्य की सीमा

देख ले। कल्याणमस्तु। . .

. . और देख रहा हूँ, अपना परिघ आयुध ले कर चमरेन्द्र ईशान दिशा में गतिमान है। एक अरोक प्रभंजन। उसके अपनी आसुरी विभूति के बल, वैक्रिय समुद्घात से, अपने रूप को योजनों के विस्तार में विकुर्वित कर दिया है। श्याम कान्ति से उद्भासित एक महा शरीर। जैसे मूर्तिमान आकाश हो। नन्दीश्वर महाद्वीप का अंजनगिरि जैसे जंगम हो कर धावित है। फैली डाढ़ों की करवतों से भयंकर हो उठा है इसका चेहरा। इसके मुखाग्र के अग्निकुंड से उठ रही ज्वालाओं से सारा अन्तरिक्ष पल्लवित हो रहा है। कज्जल-गिरि जैसे इसके वक्षस्थल से सूर्य-मंडल आच्छादित हो रहा है। इसके भुजा-दण्डों के संचालन से ग्रह, नक्षत्र और तारे झड़ रहे हैं। इसके नाभि पद्म पर एक कुण्डी मार कर बैठा महासर्प फुँफकार रहा है। इसके लम्बे-लम्बे जानु डग भरते हुए, पर्वत-चूलिकाओं से टकरा कर, विस्फोटक ध्वनि उत्पन्न कर रहे हैं। अपने पग के अवष्टंभ से यह भूमंडल को व्याकुल किये दे रहा है।

भैरव गर्जना करता हुआ वह ब्रह्माण्ड को फोड़ रहा है। प्रति-यमराज की तरह व्यंतरों को भयार्त करता हुआ, अपनी सिंह-छलाँगों से ज्योतिष्क देवों के विमानों को सन्त्रस्त करता हुआ, ना कुछ समय में ही, सूर्य-चन्द्र के मण्डलों का उल्लंघन करता हुआ, वह शक्रेन्द्र के मण्डल में जा पहुँचा है। उस भयंकर कालमूर्ति को यों अकस्मात् बिजली के वेग से सम्मुख आते देख कर, किल्विष देवता छुप गये। आभियोगिक देवता भय-त्रस्त हो, गठरियाँ बन लुढ़क पड़े। अपने सैन्यों सहित सारे देव-सेनापति पलायन कर गये। सोम तथा कुबेर प्रमुख सारे दिक्‌पाल उसकी हुंकारों से पसीज कर भूसात् हो गये। सारे परिकर और आगरक्षकों से परित्यक्त एकाकी सौधर्मेन्द्र, इस अकल्प आक्रामक को सामने पाकर स्तंभित है। अटल गभीर मुद्रा के साथ वह सन्नद्ध भाव से अपने सिंहासन से उठ खड़ा हुआ है। . .

चमरेन्द्र ने दानवी हुंकार के साथ अपने एक पग से पद्म-वेदिका को चाँपा, और दूसरा पग सुधर्मा सभा में पटका। फिर परिघ आयुध द्वारा इन्द्र-कील पर तीन बार ताड़न कर, उत्कट भृकुटि-भंग के साथ दुर्मद चमरेन्द्र ने शक्रेन्द्र को ललकारा :

'सावधान, शक्र। चाटुकारों के बल तू कापुरुष कब तक देवलोकों पर राज्य कर सकता है ? देख, तेरा प्रतियोद्धा और विजेता जन्म ले चुका। अब तू और तेरे सारे सुरलोक, असुरेश्वर चमरेन्द्र के चरणों तले रहेंगे। . सावधान, मैं इस ब्रह्मांड को शीर्षासन करा दूँगा, अन्तरिक्ष गुलाट खायेंगे। मै और मेरा असुर साम्राज्य ऊपर हो रहेगा। तू और तेरा अमर लोक, हमारा पादपीठ हो कर रहेगा . .।'

. . शक्रेन्द्र ने अपने अवधिज्ञान से अन्धकार राज्य के अधीश्वर चमरेन्द्र को पहचाना। विस्मय के साथ सहज मुस्कुरा कर वे सौम्य स्वर में बोले :

'अमर, अपना अस्तित्व चाहे, तो यहाँ से भाग जा। यथास्थान रह, आयुष्यमान् !'

चमरेन्द्र इस सौम्यता मे अवमानित हो, सौगुना अधिक कोपायमान हो, धपपछाड़ करने लगा। . . शक्रेन्द्र की कमनीय भौंहें प्रत्यंचा-सी तन उठीं। अविकल्प, निरुद्वेग भाव से उन्होंने चमरेन्द्र पर अपना वज्र फेका। जैसे प्रलयकाल की अग्नि सहसा ही प्रकट हो उठी है। तमाम सागरों के गर्भ में संचित विद्युतराशि और बड़वानल एक बारगी ही फूट पड़े

हैं।. . तड़ . . तड़ . . तड़ . . तड़ित् टकार करता हुआ वह वज्र चमरेन्द्र के मस्तक पर भन्नाता आ रहा है। सूर्य को सहने में असमर्थ उलूक की तरह आँखें मींच, पत्ते की तरह थरथराता चमरेन्द्र, वट-बँदरिया की तरह शीर्षासन करने लग गया है।. . और अब वह, चित्रा को देख जैसे चमरी मृग भाग जाता है, वैसे ही महावीर के चरण ऑखों में उजाले वहाँ से सुंसुमारपुर की ओर पलायमान है।.

. . और अपने पीछे उसे सौधर्म विमान के हजारों सामानिक देवों की धिक्कार वाणी सुनाई पड़ रही है।

'अरे ओ सुराधम, अपनी दुर्गति को तू स्वय देख। मेढक हो कर सर्प के साथ मुठभेड़ की तूने। भेड़ का बच्चा, तू हाथी के साथ भिड़ गया। हाथी का यह दु साहस, कि अष्टापद पर आक्रमण करे ? सर्प की ऐसी दुर्मति की गरुड़ को लील जाना चाहे ? ओ अनात्मज्ञ, अपनी स्थिति को जाने बिना तूने प्रकृति के परम नियम-विधान को तोडना चाहा, इसी मे तेरी ऐसी दुर्दशा हुई है। अहकारवश ब्रह्माडी देह धर कर आया था तू, पर क्षुद्र रजकण की लघु देह मे रहना भी तुझे मुहाल हो गया। . देवेन्द्र होने की स्पर्धा की तूने, परम सत्ता ने तेरी आसुरी महाशक्ति भी तुझ से छीन ली। धिक्कार है, सो बार धिक्कार है, तेरे इस दुर्घृण अहकार को! सत्यानाश की खदक के सिवाय, अब तुझे कही शरण नही, ओ जघन्य पापात्मा!'

देख रहा हूँ, शक्रेन्द्र का वज्र दिगन्त व्यापी ज्वालाएँ विस्तार करता हुआ चमरेन्द्र का पीछा कर रहा है, और चमर लघुतम देह हो जाने को छटपटाता अपनी अन्तिम नियति की ओर, गति से परे भाग जा रहा है।

शक्रेन्द्र के विस्मय का पार नहीं। सोच मे पडा है वह, किसी भी असुर की यह सामर्थ्य नही कि वह प्रकृति की मर्यादा को तोड सके, देवेन्द्र की पद्मवेदी को पदाक्रान्त कर सुधर्मा सभा मे पैर धर सके, शक्रेन्द्र की इन्द्रासन का ताड़न कर सके। इस विभूति का स्वामी हूँ, फिर भी यह अपनी नही लगती। यह व्यवस्था मेरा नही, स्वय सत्ता की है। मै यहाँ कोई नही होता। फिर वह कौन ताकत है, जिसके बल यह असुर सत्ता की मर्यादा तक को तोड गया ?

. शक्रेन्द्र न अपने अवधिज्ञान का सन्धान किया। . 'ओह, योगीश्वर वर्द्धमान का शरणागत है यह असुर! हाय, मुझ से भारी अपराध हो गया। मैने इस पर वज्र प्रहार किया। मेरा वज्र तो क्या, लोक की कोई दैवी, दानवी, मानवी शक्ति इसका सहार नही कर सकती। श्री भगवान के शरणागत को मार सके, ऐसी ताकत लोक मे विद्यमान नहीं।. तपोबल से बड़ा और कोई बल नही!'

. बेदम, बेतहाशा, आत्मभान भूल कर इन्द्र अपने वज्र को लौटा लाने को भाग रहा है। सब से आगे चमरेन्द्र, उसके पीछे आक्रान्ता वज्र का ज्वालामुखी, और उसके पीछे शक्रेन्द्र मर्त्यलोक की ओर विद्युत वेग से धावमान है।. .

वज्र चमरेन्द्र के मस्तक पर मँडलाता, ब्रह्माडीय विस्फोट के साथ अभी-अभी उस पर फट पड़ने को है। . कि लो विपल मात्र मे झींगुर से भी क्षुद्रतर हो कर चमर, 'त्राहिमाम् नाथ, त्राहिमाम्!' शब्द करता हुआ तपो-हिमाचल महावीर के चरण-युगल के बीच अन्तर्धान हो गया। और वज्र तत्काल एक क्षुद्र चिनगारी की तरह बुझ कर, शक्रेन्द्र की मुट्ठी में समा गया।

. . सौधर्मपति पश्चात्ताप से विह्वल हो कर, त्रिलोकीनाथ के श्रीचरणों में भूमिसात् हो रहा। फिर कातर स्वर में प्रार्थी हुआ :

'अज्ञानवश मुझ से परम भट्टारक प्रभु का अपराध हो गया। समस्त चराचर के माता-पिता, परित्राता के शरणागत पर मैंने वज्र प्रहार किया। क्षमा करें, भगवन् !'

'सृष्टि में सब कुछ, यथास्थान, यथोचित घटित हो रहा है, शक्रेन्द्र। महासत्ता की इस द्वंद्वात्मिका लीला से पार हो कर ही आत्माएँ, अपने स्वरूप में प्रतिक्रमण कर सकती हैं। यहाँ कौन किसी का न्याय कर सकता है ? आत्मनिर्णय कर, आत्मन्, सर्व-निर्णय आप ही हो रहेगा !'

समाधीत हो कर शक्रेन्द्र लौट गया। तब श्रीचरण गुहा से निकल कर, वह क्षुद्र कुंथु हो रहा चमरेन्द्र सम्मुख हुआ। अनेक विध पश्चात्ताप-विलाप करता वह लघु से लघुतर हुआ जा रहा है।

'नाथ . . नाथ . . मुझ पापी से अधिक क्षुद्र लोक में कोई नहीं। निगोदिया जीव भी नहीं। इस ग्लानि और पीड़ा में अब नहीं जिया जाता, स्वामी !'

'क्षुद्र भी नहीं, महत् भी नहीं। परिमाण और तुलना से परे, अपने निज रूप में, तू अतुल्य है आत्मन्, अनुपम ! केवल तू, केवल मैं। अनन्त, अमाप केवल आप जो न पुण्य है, न पाप। . . . विंध्याचल के विभेल ग्रामवासी गृहस्थ पूरण, पहचान रहा हूँ तुझे। घोर अज्ञानी तप करके, तूने विश्व पर प्रभुता पाना चाही। तप कभी निष्फल नही होता। सकल्पित फल देता ही है। तेरा अहंकृत मनोकाम सिद्ध हुआ। विश्व-पीड़क असुरेन्द्र की सर्वसंहारक सत्ता तुझे प्राप्त हुई। उस सत्ता की सीमा भी देखी तूने। अब देख, इससे परे की अनन्त सता को। आत्म-सत्ता, स्वयं अपनी सत्ता !'

'उसे तो समक्ष भगवान मे मूर्तिमान देख रहा हूँ, हे परमेष्ठिन् ।'

'तद्रूप भव, आत्मन् ! मद्रूप भव, आत्मन् !'

'प्रबुद्ध हुआ, भगवन् . . ।'

. . पदनख पर एक और अशोक फूल आ कर टपका। नीलेश्वरी ध्यान-ज्योति के आलिंगन से मुक्त हो कर, बहिर्मुख हुआ। ध्यान मे अभी देखी अनन्त संसार समुद्र की एक तरंग-लीला का स्मरण हो रहा है। इसमें कौन किसका अपराधी है, कौन निर्णय करे ? अपने सिवाय, कौन यहाँ किसी का कर्त्ता, धरता, हर्ता हो सकता है ? केवल एक ज्ञान, एक क्रिया अन्तिम निर्णायक है, निर्मायक है। आत्मज्ञान, आत्मक्रिया। . .

प्रश्न अनिवार्य हो कर सामने आ खड़े होते हैं। उत्तर जहाँ है, वहाँ से अचूक प्रतिध्वनित होता ही है। मै तो कुछ सोचता नहीं, बोलता नहीं, करता नहीं। केवल चुप रहता हूँ। स्वयं होता रहता हूँ, और सब देखता रहता हूँ। यह महावीर कौन है ? . . नहीं मालूम। . .

जो यहाँ है, वही वहाँ है

विचित्र है यह स्थिति। समय जैसे सिमट गया है। सारा अवकाश भीतर समा गया है। गति एक मात्र, अपनी रह गई है। अन्य सारी गतियाँ मानो उसी का अंश हो गयी हैं। सारे पदार्थ, भूगोल, इतिहास मेरी रक्तशिराओं में तरंगित हैं। चल नहीं रहा, अपने को चलते हुए देख रहा हूँ। अनेक पर्वत, नदी, ग्राम, नगर मेरे चलते पैरों के गोपुरों में से यों गुजर रहे हैं, जैसे बहते पानियों की तहों में जलचर रिलमिलाते दिखाई पड़ते हैं।

और देखा, कि विन्ध्याचल पार कर रहा हूँ। शाश्वत पर्वत विन्ध्याचल। जिसकी चट्टानों, कान्तारों और जंगलों में लाखों वर्षों की स्थावर, जंगम और मानव पीढ़ियों के उल्लास, संघर्ष, पराक्रम और जयलेखाएँ अंकित है। चढ़ते हुए सूर्य के साथ, शीतल सघन वनस्पतियों के लोक वाष्पित हो रहे हैं। उनकी पानीली गन्धों में भवान्तरों की जीवन-लीलाएँ संसरित हो रही हैं। इस हरियाली तरलता में कालातीत हो कर सृष्टि का सारा इतिहास तैरता दिखाई पड़ रहा है। शाश्वती ने जिये हुए अपने जाने कितने ही पूर्व जन्मों को इस क्षण जैसे एक साथ सम्पूर्ण जी रहा हूँ। . .

अब से सत्ताइस भवान्तरों पहले, अपने पुरूरवा के साथ उसकी भीलनी काली को, अपनी डग भरती टाँगों में अटूट युगल की तरह इस क्षण भी चलते देख रहा हूँ। . . और जी रहा हूँ, अभी और यहाँ, अपनी कुमारावस्था की वह सन्ध्या, जब इसी विन्ध्याचल की चट्टान पर वह कोई एक अनामा काली फिर मिल गई थी। इस आदिम पर्वत की आत्मा उस दिन देह धारण कर मुझ से मिलने आयी थी। और इस क्षण भी वह मेरी नाड़ियों मे स्पन्दित है। अनादिकाल से अब तक का देखा, जिया, भोगा, सहा— सब कुछ मानो मेरे रक्ताणुओं की दीवारों पर चंचल चित्रपट-सा उभर आया है। कही कुछ टूटा या छूटा नही है। एक अटूट जीवन-मेखला को अपने आस-पास परिक्रमायित अनुभव कर रहा हूँ।

विन्ध्याचल की सर्वोच्च चूड़ा पर खड़ा हूँ। और अपार दूरियों मे फैले मालव के सुरम्य हरियाले पठारों को देख रहा हूँ। और कही अलक्ष्य में अंकित आद्या नगरी उज्जयिनी मेरे पैरों को खींच रही है। उसके महाकाली मन्दिर के प्रांगण में नर-बलि का वार्षिक उत्सव बड़े समारोह से मनाया जा रहा है। आर्यावर्त के श्रावक श्रेष्ठ वैशालीपति चेटकराज की पुत्री महारानी शिवादेवी की राजनगरी उज्जयिनी मे नर-बलि का महोत्सव हो रहा है। वर्द्धमान की मौसी शिवादेवी। . . बलि के लिए उपयुक्त सर्वलक्षण-सम्पन्न पुरुष अभी उपलब्ध नहीं हो सका है। महाप्रतापी अवन्तीनाथ चण्डप्रद्योत के अश्वारोही उसकी खोज मे दिशाएँ खूँद रहे है।

. . आश्वस्त होओ शिवा, चण्डप्रद्योत, वह बलि पुरुष स्वयं ही तुम्हारे महाराज्य की देहरी पर आ उपस्थित हुआ है। देखो, वह तुम्हारे विन्ध्याचल की इस चूड़ा पर खड़ा है।



. . दिन डूबने की बेला में क्षिप्रा के एक सुनसान तट पर आ कर मेरे पैर आपोआप रुक गये। चारों ओर निगाह उठा कर देखा : यह श्मशान भूमि है, उज्जयिनी का अतिमुक्तक नामा श्मशान-घाट। . . घिरते प्रदोष की बेला में कोई एकाकी चिता चल रही है। मृतक के परिजन उसके चितालीन शव का परित्याग करके अभी-अभी जा चुके हैं। केवल नीली-सिन्दूरी ज्वालाएँ उसकी एकमात्र साथी हैं। कहीं बहुत दूर अलक्ष्य में एक कुत्ते ने भूँक कर मेरा स्वागत किया है। . . उस परित्यक्त उदास सन्नाटे के मर्म का वही एकमात्र संगीत है। चिता में चिटखती हड्डियाँ और चर्बी उसके अन्तरे हैं : आन्तरिक स्वरग्राम। . . और यह संगीत भी जिस तट में अवसान पा गया है, नीरवता के उस छोर पर मैं अनायास ही ध्यानस्थ हो गया हूँ।

. . क्षिप्रा की चिरकाल से अविराम प्रवाहित धारा एकाएक रुक गई। उसने मुड़ कर देखा। उसकी विकल रागिनी मेरे भीतर आ कर स्तब्ध हो गई है। नदी ने मुझे पहचाना। उसकी और मेरी निगाहें मिलीं। और उसी क्षण एक तीसरी निगाह हमारे बीच खुल उठी। '. . त्रिलोचन महाकाल, और कोई नहीं, मैं ही आया हूँ : तुम्हारा तृतीय नयन !' महेश्वर प्रीत हो कर मुस्कुरा आये। उनके लीला-नाट्य की इस अन्तिम भूमिका का अतिथि और कौन हो सकता है ? . .

रात गहराती जा रही है। शेष चिता की भस्म में ढँका एकाकी अंगारा रह-रह कर दहक उठता है। वह एकमात्र आँख, जो चिर जागृत है, जो यहाँ की एकमात्र उपस्थिति है। जो मेरी अकेली संगी और साक्षी है। पीपल अन्तिम बार मर्मरा कर अभी अभी खामोश हो गया है। अब हवा तक स्तब्ध हो गई है। और इस अफाट सन्नाटे में केवल भय-भैरव की नग्न पदचाप स्पष्ट सुनी और देखी जा सकती है। . .

. . क्षिप्रा के पर पार बहुत दूर, अवन्तीनाथ चण्डप्रद्योत के विपुल ऐश्वर्य से जगमगाते हुए राजमहालय जाने क्या देख कर स्तंभित हैं। उनकी आकाशगामी चूड़ाओं के रत्नदीप चौकन्ने हो उठे हैं। . . कल प्रातःकाल ही, नरबलि का मुहूर्त है, पर अभीष्ट बलि-पुरुष का दिशान्तों तक पता नहीं है। सारे अश्वारोही पृथ्वी के छोरों तक जा कर निराश लोट आये हैं। और अब अवन्ती के महासेनापति, महामात्य और कोटिभट योद्धा स्वयं चंडीयज्ञ के आखेट नरोत्तम की खोज में, अँधियारों की तहें उलट रहे हैं। इससे पूर्व बलि-पुरुष कभी इतना दुर्लभ न हुआ। इस बार शून्य की चट्टान सामने आ खड़ी हुई है।

. . उज्जयिनी के महायाजक कहते हैं, कि यदि मुहूर्त टल गया तो अवन्ती का सिंहासन भूसात् हो जायेगा। उसकी रक्षा का अन्तिम उपाय होगा केवल यह, कि स्वयं अवन्तीनाथ . . बलिवेदी पर . . ? कल्पना मात्र से चण्डप्रद्योत एक साँस में सौ बार मरण की काली बहिया में गोते खा रहा है। रत्नों और फूलों से लदी राजशैया शृंगारित अर्थी-सी थरथरा रही है। महारानी शिवादेवी शव के पैरों जैसे ठंडे अपने पतिदेव के चरणतलों में माथा ढाल कर, अनवरत बहते आँसुओं से उन्हें गरमा रही हैं, और सिसकियाँ भर रही हैं। . .

'शान्तम्, शान्तम् शिवा, चण्डप्रद्योत ! बलि-पुरुष स्वयं ही आ गया है। मुहूर्त से पहले ही तुम्हारा नरमेध संपन्न हो चुकेगा। जिस मृत्यु और श्मशान से तुम इतने भयभीत हो, तुम्हारी वर्तमान सुख-शैया और सिंहासन उसी में बिछे हैं : वहीं पडे हैं उनके पाये। तुम्हारे उस श्मशान

को अपनी छाती पर धारण किये खड़ा हूँ। मुझे पहचान सको, तो कल के यज्ञ-मुहूर्त में, तुम्हारी शैया और तुम्हारा सिंहासन, शाश्वत जीवन की भूमि पर आरूढ़ हो सकते हैं।'

• • •

. . देख रहा हूँ, उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर का गर्भगृह। काल की चचल धारा पर, अनादिकाल से अविचल अधिष्ठित है यह स्वयम्भू ज्योतिर्लिंग। यह किसी मर्त्य मानव-शिल्पी की कृति नही : स्वयं सृष्टि के महाशिल्पी ने इसके भीतर अपने आपको पिण्डीकृत किया है, रूपायित होना स्वीकारा है। लिग, जो सृष्टि के जीवन का स्रोतोमूल और मृत्यु एक साथ है, उसी के रूप में प्रकट होना, यहाँ स्वयं अमृतेश्वर ने अंगीकार किया है। मर्त्य पृथ्वी की कामेश्वरी योनि को भेद कर, वे यहाँ उत्तिष्ठित हैं। जीवन के सवाहक मरण-धर्मा काल को उन्होने अपने मस्तक पर महासर्प के फणा-मण्डल के रूप मे धारण किया है। चिर प्रवाही विशुद्ध काल-तत्व यहाँ महाकालेश्वर के अँगूठे तले स्तभित है। देवाधिदेव योगीश्वर शंकर आज अपने ही इस पिंडीकृत लिग पर आरूढ़ हो कर, अपूर्व प्रसन्न मुद्रा से मुस्कुरा रहे है। . .

क्षिप्रा तट के केतकी और मालती कुंजों के सारे ही फूल पूजा बन कर धूर्जटी को चारों ओर से आवरित किये है। मध्य रात्रि के गभीर सन्नाटे मे, छत मे टँगे रत्न-कुम्भ मे से रह-रह कर लिग पर टपकते जल बिन्दु का 'टप-टप' शब्द स्पष्ट सुनाई पडता है। धूपायनों से उठ रही दशाग धूप की अगरु-कपूरी गध। उससे सुवासित गर्भालय की दीवारे गलगल कर, धूम्र-लहरों मे असप्रज्ञात गहरावों के अलिन्द खोल रही हे। एकाकी सुवर्ण दीप की अखण्ड जोत उस स्तब्धता मे अनहद नाद को साकार कर रही है। कोने के सहस्र-जोत दीपाधार मे नानारगी मणियों की आभाएँ प्रतिपल नव्य-नूतन आकृतियाँ रच रही है। सृष्टि सारे लीला-खेल उनमे एकबारगी ही तरगित हैं।

. . स्थाणु रुद्र अभी-अभी अतिमुक्तक श्मशान से लौट कर मन्दिर मे आया है। वह ज्योतिर्लिंग के योनि-मुख पर मस्तक ढाल साष्टांग प्रणिपात मे जाने कितनी देर से निश्चल लेटा है। मन-ही-मन उसके ओठों से प्रार्थना फूट रही है :

'हे त्रिलोक और त्रिकाल के अधीश्वर, देवों के देव, ईश्वरों के ईश्वर, परम परमेश्वर, महेश्वर, पृथ्वियों की पृथ्वी, आकाशों के आकाश, महामण्डलाकार शून्यों के एकमात्र कैवल्य-विहारी, एकलचारी विराट पुरुष, भगवान महाकालेश्वर, सुने। यह कौन दिगम्बर पुरुष तुम्हारा प्रतिस्पर्द्धी हो कर आज तुम्हारी लीला भूमि अतिमुक्तक श्मशान मे आ खड़ा हुआ है? मर्त्य मानव-पुत्र का ऐसा दु:साहस, कि वह स्वय मृत्युंजय महाकालेश्वर की सत्ता को चुनौती दे रहा है !

'. . मै और कोई नही भगवन्, आपका परम कृपापात्र और प्रियपात्र सेवक स्थाणु रुद्र हूँ। मै स्वयं उसके सम्मुख गया। मैने उसे ललकारा। अरे आप के ही अगीभूत मैने, स्वयं शंकर ने, उसे सम्बोधन किया। पर वह उद्धत आपकी प्रलयंकरी दहाड़ सुन कर भी टस-से-मस न हुआ। अविकम्प, सुधीर, धृतिमान साक्षात् मन्दराचल की तरह निर्भय और निश्चल रहा। मेरी ओर आँख उठा कर भी उसने नहीं देखा। पृथ्वी में ऐसा कोई पौरुष आज तक नहीं जन्मा, जो उस भयंकर

भैरव श्मशान में यों आधी रात विचरण कर सके, और स्वयं महाकाल की गर्जना सुन कर भी जो अविचल रह सके ।

'. . आज्ञा दें भूतनाथ, शक्ति दें सकल ब्रह्माण्डपति, कि मैं देवाधिदेव शंकर की सत्ता को चुनौती देने वाले इस मानव-पुत्र तापस के दुर्जय-तपो-गर्व को छिन्न-भिन्न कर सकूँ । उसकी समाधि को पैरों तले रौंद कर, उसे जीवित जला कर, उसकी भस्म से महाकालेश्वर के श्रीचरणों को चर्चित कर सकूँ ।'

स्थाणु रुद्र को अनुभव हुआ कि ज्योतिर्लिंग कम्पायमान हुए हैं । और गुम्बद में से गंभीर प्रतिध्वनि हुई :

'यथा अत्र तथा अन्यत्र : जो यहाँ है, वही वहाँ है । आदिनाथ . . आदिनाथ ! . . यहाँ भी वही, वहाँ भी वही । अन्य कोई नहीं । . . '

'. . वाणी चुप हो गई । सन्नाटा और भी गहरा हो गया । शब्दातीत परम शान्ति में जगत का अणु-अणु विश्रब्ध हो गया है । . . अशान्ति शेष रह गई है केवल स्थाणु रुद्र की कषाय से पंकिल आत्मा में । अपने अहंकार के सिवाय वह और कुछ भी देख पाने में असमर्थ है । सो यह वाणी उसके जड़ित हृदय को जाग्रत न कर सकी । किंकर्तव्यविमूढ़ पहेली बूझता-सा, वह चहुँ ओर ताकता रह गया है । उसके अहम् ने जो समझाया : वही उसने समझा : 'जो यहाँ है, वही वहाँ है । जो आदिनाथ यहाँ है, वही उस श्मशान में भी मेरी सहाय को उपस्थित हैं, उस नंगे शिवद्रोही के मानभंजन में वे अचूक सहाय करेंगे ही ! . . ओ रे उलंग उत्पाती, छद्म दिगम्बर, ले मैं आता हूँ, और तेरे दिगम्बरत्व के मद को चूर-चूर करके ही चैन लूँगा । . . '

. . और स्थाणु रुद्र दुर्मत्त अहम् से गरजता हुआ, विद्युत वेग से अतिमुक्तम श्मशान की ओर धावमान है ।



. . ध्यान में चेतना का अभिसरण देह के सीमान्तों को पार कर गया है । एक आयामविहीन गहन में प्राण रक्षातीत हो कर, ऊपर, नीचे चहुँ ओर अपरिछिन्न भाव से व्यापते जा रहे हैं । एक अनाहत प्रसारण, प्रवाहन और उड्डयन के अतिरिक्त और कोई बोध शेष नहीं रह गया है ।

. . हठात् ब्रह्माण्डीय विस्फोट के साथ, सारी श्मशान भूमि तुमुल कोलाहल से भर उठी । देख रहा हूँ, मेरे आसपास सैकड़ों चिताएँ जल रही हैं . . 'रामनाम सत्य है !' की गूँजों के साथ, एक पर एक कई श्मशान-यात्राएँ चली आ रही हैं । मेरे पादप्रान्त में अर्थियों और नग्न भयावने शवों के ढेर लगते जा रहे हैं । काले घूँघट काढ़े स्त्रियों के विशाल समुदाय छाती-फाट विलाप करते आ रहे हैं । गिद्ध, कौवे, उल्लू और कुत्ते शवों के अस्थि-मांस नोचते हुए परस्पर संघर्ष कर रहे हैं । और नाना प्रकार से, शोक विषाद के उद्बोधक समवेत रुदनगान, तार स्वर में गा रहे हैं । . . औचक ही जाने कहाँ से धमाके पर धमाके हुए : पृथ्वी फट कर कई पाताल लोक खुल पड़े । अन्तरिक्ष विदीर्ण होते दीखे । . . उनकी विकराल जबड़ों-सी दरारों में से निकल कर भूतों, प्रेतों, व्यंतरों, वैतालों, चुड़ैलों, डायनों के अन्तहीन समूह मंडलाकार अपने चारों ओर

नाचगान करते देख रहा हूँ। बीभत्स, भीषण, भयंकर है उनके शरीर, जो कभी ऊँचे और विस्तृत हो कर आकाश को छा लेते हैं, कभी सिकुड़ कर टिड्डी-दल-से मुझ पर टूट पड़ते हैं। उनकी गानतानों, नक्काड़ों, ढोलों, मृदंगों, शृंगों और तुरहियों के संगीत मे यह कैसा गहरा विषाद है। उसमें सृष्टि के प्राणिमात्र के संघर्ष, मार-फाड़, दुःख, आक्रन्द, शोक, विलाप एकबारगी ही आलापित हो कर दिगन्तों को थर्रा रहे हैं।

सहसा ही क्या हुआ कि, उन नाचते-कूदते प्रेत-मण्डलों पर छलॉग मार कर, एक तुंगकाय तमसाकार दनुज मूर्ति प्रचंड हुंकार और धमाके के साथ, ठीक मेरे सामने आ धमकी। कोयले के पहाड़-से उसके विद्रूप बीहड़ शरीर पर सिदूर की प्रवाहित-सी धारियॅा है। उसकी क्रोध से विस्फारित रतनारी ऑखों मे ज्वालामुखी थमे है। उसके हॉफते जबड़ों मे हिस्र पशुओं से भरी ॲधियारी खन्दके है। . . उसने अपने दोनों हाथों के प्रकांड त्रिशूल बिजलियों की कड़कड़ाहट के साथ अंतरिक्ष मे उछाल कर, हड़कर्म्प अट्टहास किया। फिर अपने त्रिशूलों को झेल कर उन्हें मेरी ओर संचालित करने लगा।

. . और हठात् क्या देखता हूॅ, कि वे सारे नाचते-गाते दनुज-मण्डल तितर-बितर हो कर गुत्थम-गुत्था हो रहे है। . . और चारों ओर से मुझ पर जलती चिताएॅ बरस रही है। नोचे-खसोटे, लहूलुहान, दुर्गन्धित शव मेरे अग-अंग पर आ कर पड़ रहे है। मेरे मस्तक और कन्धों पर जलती मशाले फेकी जा रही है। प्रहार, पीड़न, ताड़न दहन की ये सारी आक्रान्तियाँ गुणानुगुणित हो रही है . . पर देख रहा हूँ, विन्ध्याचल हो कर रह गया हूॅ। और इस असह्य सत्रास से घायल मेरा चारों ओर फैला प्राण उद्वेलित हो उठा है। वह मेरे हृदय-गह्वर से वेदना और करुणा के निर्झर की तरह फूट पडा है। विन्ध्याचल के अन्तस्तल से, चर्मणवती भूतल पर बह आयी है। श्रमण के पास तो इसके अतिरिक्त और कुछ देने को है नहीं। . . पर, कौन है यह महावीर, जो विन्ध्याचल की चूड़ा पर अचल खड़ा, अर्ध्वबाहु आवाहन दे रहा है 'देखो, मै आ गया हूॅ, तुम्हारा बलि-पुरुष . . !'

. . चिताओ, शवों, त्रिशूलों मशालों की अन्तहीन बौछारों के बीच भी वह ऊपर, और ऊपर ही उठता जा रहा है। हार कर रुद्र देवता का क्रोध पराकाष्ठा पर पहुॅच गया। दानवीय दहाड़ के साथ उसने अपने समस्त रुद्रलोक को इस नंग धड़ंग ढीठ पर टूट पड़ने का इंगित किया। हुंकारों और हूलकारों के साथ हज़ारों भयानक आकृतियाँ आकाशिनी हो कर एक साथ मुझ पर टूट रही हैं। .

. . कि हठात् एक मशालधारी सैन्य के बेदम दोड़ते घोड़ों ने उन्हे रौंद डाला। विपल मात्र मे ही भय और मृत्यु का वह अपार्थिव दृश्य जाने कहॉ लुप्त हो गया।

अवन्ती के महासेनापति, महामात्य और सैनिक स्तंभित, इस सर्वलक्षण सर्वांग सुन्दर नग्न पुरुष को देखते रह गये !

आनन्द से उन्होंने जयनाद किया :

'जय महाकाली, जय जगदम्बे, जय महाकाल, जय महाकाल, जय महाकाल . . !'

मान-संभ्रमपूर्वक उस नग्न बलि-पुरुष को एक भव्य-दिव्य रत्नों के रथ में बैठाया गया। पुरुष ने उन्नत वदन, निष्कम्प, मुस्कुराते हुए इस बलि-सम्मान का वरण कर लिया।

. . ब्राह्ममुहूर्त की संजीवनी हवा में बलिपुरुष के रथ को घेरे दौड़ते अश्वारोही, हर्षाकुल जयकारें करते हुए, महाकाली मंदिर के चण्डी-मण्डप की ओर उड़े जा रहे हैं।



. . महाकाली मंदिर के तहखाने में ध्यानस्थ हूँ। देख रहा हूँ, मेरी मूर्द्धा पर, अपने गर्भगृह की चट्टानी वेदी के मध्य, विराजमान हैं महिषासुर मर्दिनी महाचण्डिका। उनकी विप्लवी तांडव मुद्रा अनायास कोमल लास्य की भंगिमा में परिणत होती जा रही है। उनकी विकराल लपलपाती जिह्वा उनके मुख में अपसारित हो गई है। उनकी नथड़ी तले, उनके अधर-सम्पुट में, चुम्बन के मकरन्द से भरा ललित लोहित कमल मुस्करा उठा है। उनके सर्व-संहारक तांडवी चरणों में मृदु-मन्द नूपुर-रव रुनझुना रहा है। उनकी सुनग्ना मोहिनी जंघाओं ने फैल कर मानो मुझे समूचा अपने उरुमूल में समाहित कर लिया है। . . और ध्यान मे ऐसी सर्वाश्लेषी समाहिति अनुभव कर रहा हूँ, कि मानो अखिल विश्व-ब्रह्माण्ड माँ के स्तन-मण्डल में विसर्जित हो कर मेरे मस्तक का सिरहाना बन गया है। . .

बाहर से सुनाई पड़ रहा है दुंदुभियों का आकाश-विदारक महाघोष। कई-कई डमरुओं और मृदंगों का लोमहर्षी अविराज वज्र-निनाद। युगान्त के समुद्र गर्जन को प्रतिध्वनित करने वाले शंखों की समवेत ध्वनियाँ। रण-भेरियों का तुमुल नाद। और अनुभव कर रहा हूँ, मेरे कुंभकलीन श्वास में किसी अपूर्व सृष्टि-संगीत के स्वर-ग्रामों की रचना हो रही है।

देख रहा हूँ, बलि-पुरुष का विविध प्रकार के गंधजलों और पंचामृत से अभिषेक किया गया है। महार्घ फूलेलों से उसकी अनंग-मोहन काया के प्रत्येक सुकोमल अवयव को बसाया गया है। फिर उसके सारे ही अंगांगों पर सुकोमल दिव्य अंगरागों का आलेपन किया गया है। . . महाभाग है यह बलि-पुरुष, जिसकी वधस्थल पर चढ़ने वाली देह का, मृत्यु के तट पर, ऐसा दुलार-शृंगार हो रहा है। मुझे उससे ईर्ष्या हो आई !

. . वाजित्रों, शंखों, नक्काड़ों का घोष चण्ड से चण्डतर होता दिग्गजों को दहला रहा है। हीरों से जगमगाती हंस-धवल पालकी में, नग्न खड्ग के समान दण्डायमान बलि-पुरुष को चण्डी-मण्डप में लाया गया है। उज्जयिनी के दुर्दण्ड मल्ल भी उसकी निश्चल काया को मोड़ कर उसे बैठाने में समर्थ नहीं हो सके हैं। बलिदान के मुहूर्त में कायोत्सर्ग मुद्रा ही तो बलि-पुरुष का एकमात्र आसन हो सकता है। इसी से महाश्रमण का कायोत्सर्ग आज हिमवान की तरह अनम्य हो उठा है।

देख रहा हूँ : चण्डी-मण्डप के विशाल वितान तले, मालव-जनपद की सहस्रों मानव-मेदिनी भय-विह्वल कण्ठ से अविराम जयजयकार कर रही है :

महिषासुर मर्दिनी, शुंभ-निशुंभ संहारिणी, भगवती महाकाली जयवन्त हों। महामहेश्वर, रुद्र-प्रलयंकर भगवान महाकाल जयवन्त हों . . जयवन्त हों . . जयवन्त हों।'

ठीक मन्दिर द्वार के सम्मुख लाल-माटी से आलेपित प्रशस्त मंडलाकार बलि वेदी बनी है। उसके चारों ओर कई पंक्तिबद्ध हवन-कुण्ड धधक रहे हैं। ऋत्विकों के मंत्रोच्चारों के साथ सहस्रों

याजनिक उनमें नाना सुगन्धित हव्यों की आहुतियाँ दे रहे हैं। बलि-वेदी के ठीक केन्द्रस्थल में विशेष रूप से काट कर लायी गई विन्ध्याचल की एक ऊँची चट्टान आरोपित है। उसके शीर्ष को फूलों से आच्छादित किया गया है। चट्टान को वर्तुलाकार घेर कर कई भयंकर आकृति वाले भैरव और कापालिक खड़े हैं। उनके प्रचण्ड कज्जल-लेपित शरीर सिन्दूरी त्रिशूलों से चित्रित हैं। वे परिघ, मुशल, पाश, परशु, त्रिशूल आदि विविध शस्त्र धारण किये हैं। ठीक चट्टान के अगल-बगल दो प्रमुख वधिक बिजलियों से चमचमाते नग्न खड्ग ताने खड़े हैं। गले में वे मुण्ड-मालाएँ धारण किये हैं।

ठीक बलि-वेदी के सम्मुख, विशाल मानव-समुद्र के बीच एक सब से ऊँचे तख्ते पर बिछा है अवन्तीनाथ का सुवर्ण-रत्निम सिंहासन। उसमें चण्डप्रद्योत अपनी महारानी शिवादेवी के साथ, मर्कत-मुक्ता की झालरों से सुशोभित सफेद चंदोवें तले ईशत् मन्द मुस्कान के साथ आरूढ़ हैं। प्रतिहारियाँ उन पर चँवर ढोल रही हैं। . . पर यह क्या हो गया है महारानी शिवा को, कि उनकी देह शव की तरह श्वेत और जड़ित हो गई है। उनकी आँखें पथरा गई हैं।

. . सहसा ही 'जय महाचण्डिके, जय महाकाली, कराली, करवाली, मुण्डमालिनी . . की तुमुल चीत्कारें और हुंकारें गूँज उठीं। उसके साथ ही कई कापालिकों के हाथ [illegible]ासन बलि-पुरुष को पालकी में से उठाने के लिए बढ़े। किन्तु उस नरोत्तम ने दोनों हाथ उठा कर उन्हें रोक दिया। . . और पलक मारते में वह एक ही छलाँग में स्वयं ही, यथावत खड्गासन मुद्रा में, मारण-शिला पर आ खड़ा हुआ। विस्मय की एक विराट निस्तब्धता व्याप गई। ऐसा तो पहले कभी हुआ नहीं। यूप सूना ही मुँह ताकता रह गया। उससे बँधने की विवशता इस नरपुंगव ने स्वीकार नहीं की। स्वयं ही इसने बलि-वेदी का वरण कर लिया। हजारों कण्ठों से 'जय भोलानाथ . . जय शिवशंकर ! ' की जयध्वनि बरबस फूट पड़ी।

उस दिगम्बर कामदेव के वधस्थल पर आसीन होते ही, उपस्थित मानव-मेदिनी में मूर्च्छा के हिलोरे दौड़ गये। सहस्रों नारी-कण्ठों से कातर सिसकारियाँ फूट पड़ीं। 'हाय, यह किस माई का लाल होगा ? धन्य है वह कोख, जि.ने इसे जना है ! ' और सहस्र-सहस्र कोमल कोखें, और गोदियाँ उसे झेलने को आकुल-व्याकुल हो उठीं। सहस्र-सहस्र रमणी-स्तन उमड़ आये और उनके आँचल भीज गये। मालव-वसुन्धरा के वक्ष की क.नी, लचीली, मृदुला माटी धसकने लगी। उसके अतलों के भीतर दूध के समुद्र हिल्लोलित होने लगे।

. . बलि-पुरुष पर कमलों और नाना सुगन्धित पुष्पों की मालाएँ बरसने लगीं। मल्लिका, पारिजात और बेला फूलों की वृष्टि ने उसे ढाँक दिया। मेघ-मन्द्र ध्वनि में, महाऋत्विक मंत्रोच्चार और स्तोत्र पाठ करने लगे :

' . . ॐ नमश्चण्डिकायै, ॐ नमश्चण्डिकायै, ॐ नमश्चण्डिकायै . .।

ॐ ऐं ह्रीं चामुण्डायै विच्चे। ॐ ग्लौं हुं क्लीं जूं स : ज्वालय ज्वालय ज्वल ज्वल प्रज्वल प्रज्वल ऐं, ह्री क्लीं चामुण्डायै विच्चे ज्वल हं सं लं क्षं फट् स्वाहा।

. . धां धीं धूं धूर्जटे : पत्नी वां वीं वूं वागधीश्वरी।
क्रां क्रीं क्रं कालिका देवि शां शीं शूं मे शुभं कुरु।
हुं हुं हुंकार रूपिण्यै जं जं जं जम्भनादिनी। भ्रां भ्रीं भ्रीं भैरवी

भद्रे भवान्यैते नमो नमः। अं कं चं टं तं पं यं शं वीं दुं ऐं वीं हं
क्षं धिजाग्रं धिजाग्रं त्रोटय त्रोटय दीप्तं कुरु-कुरु स्वाहा। . .
शं शं शं माँ, दं दं दं माँ, महाचामुण्डे, महाकाली, करवाली, विकराली, सर्व-असुर-संहारिणी, दिगम्बरी ताण्डवकरी, इदं बलि ग्रहं ग्रहं ग्रहं माँ . . !'



नक्काड़ों और डमरुओं के वज्रघोष पराकाष्ठा पर पहुँचे। धरती विदीर्ण होने लगी। आकाश फटने लगा। महाऋत्विक के संकेत पर अगल-बगल खड़े वधिकों की नग्न तलवारें बिजलियों की तरह कौंध कर बलि-पुरुष के मस्तक पर सन-सनाने लगीं।

. . हठात् ब्रह्माण्डों को हिल्लोलित करता हुआ एक घनघोर विप्लवकारी विस्फोट हुआ। वधस्थल के ठीक पीछे बलि-वेदी फट पड़ी। . . रुद्र हुंकार करती भगवती महाकाली साक्षात् प्रकट हो कर, बलिदान-शिला पर आरूढ़ हो गई। कई मुण्डमालाओं से शोभित, सहस्राक्ष, सहस्रपाद, सहस्रभुजा, नाना शस्त्रास्त्रों से सज्जित वे भयंकारी, दिगम्बरी, प्रलयंकरी महाताण्डव करने लगीं। लोक-हृदय में शवीभूत हो गये शिव की छाती पर पैर धर कर, वे अपनी तमाम शोषित, पीड़ित, आर्त, त्रस्त, आक्रन्द करती कोटि-कोटि भूखी-नंगी, मानव-सन्तानों के परित्राण के लिए, दिगन्तव्यापी असुरों, पीड़कों, शोषकों, आततायियों पर भयंकर विस्फोटकारी आग्नेय अस्त्रों की वर्षा करने लगीं।

'त्राहिमाम् माँ, त्राहिमाम् माँ' पुकारते, भयार्त क्रन्दन करते ऋत्विकों, याजनिकों और शत-सहस्र प्रजाजनों को दिखायी पड़ा :

. . चण्डप्रद्योत का रत्निम राज-सिंहासन सत्यानाश की ज्वालाओं से घिर कर नीचे धसक रहा है। और उसके साथ ही, उसके आसपास जाने कितने ही सत्ता-सिंहासन आग के समुद्र में ऊभ-चूभ होते दिखाई पड़ रहे हैं। चण्डप्रद्योत और महारानी शिवादेवी सिहासन से लुढ़क कर, बलि-चट्टान के पादप्रान्त मे आ पड़े हैं। वे आर्तस्वर में अविराम पुकार रहे हैं : . . 'त्राहिमाम् माँ, त्राहिमाम् माँ ! . . '

हठात् प्रलय, विनाश और वह्नि-मंडलों की वह रुद्रलीला जाने कहाँ विलीन हो गई। चरम-परम नग्ना सर्वसंहारिणी महाकाली, सर्व मनमोहिनी ललिता भुवनेश्वरी के कोमल रूप में मुस्कुराती दिखाई पड़ीं। उन परात्परा दिगम्बरी के लावण्य सिंधु से ज्वारित नीलोत्पल वक्षदेश पर वह दिगम्बर बलि-पुरुष निर्दोष शिशु की तरह उत्संगित है। अपनी सर्वकामिनी बाहुओं से माँ ने अपने उस आत्मजात बेटे को अभिन्न भाव से आलिंगन में बाँध लिया है। . . प्रकृति ने अपनी कोख से इस बलि-मुहूर्त में, अपने अपूर्व नूतन विश्व-सृजन के लिए, एक ऐसे पुरुष को जन्म दिया है, जो अद्यावधि पुराण, इतिहास और कालचक्र में अतुल्य है, अप्रतिम है। . .

अनिमेष नयन सबको दिखाई पड़ा : पूर्णिमा के पूर्ण चन्द्रोदय की तरह माँ के उस हेमाभ मुखमण्डल से अमृत-कलाएँ बरसने लगीं। विराट में खिले एकाकी कुमुद की पँखुरियों जैसे उनके मुस्कुराते ओठ स्पन्दित हुए। गगनमण्डल के गहन अथाह में से अतिशय मार्दवी वाणी सुनायी

पड़ी :

'मैं प्रीत हुई, मै परितृप्त हुई। मेरा चिर प्रतीक्षित पुरुषोत्तम आ गया, मेरा परित्राता आ गया।. . अब तक जो भी बलिपुरुष मेरी बलिवेदी पर आये, वे स्वार्थियों के बलात्कार के आखेट हो कर आये। वह आत्मलिप्सु शोषकों का यज्ञ था, मेरा नहीं। उससे सर्वभक्षी बलात्कार की पाशवी शक्तियाँ जन्मीं और आज आर्यावर्त सर्वनाश के आसुरी जबड़े मे आ पड़ा है।. .

'. . अरे सुनो, प्रथम बार आज आये है पुरुषोत्तम पशुपतिनाथ।. . प्रथम बार आत्माहुति देने आये है, स्वयं यज्ञपुरुष। आत्महोता वेपुरुष, पूषन्।. .

'मैं प्रीत हुई, मैं परितुष्ट हुई। असुर-निर्दलित मेरी कोटि-कोटि सन्तानों के परित्राता, मुक्तिदाता आ गये।. . आ गये मेरे महाकाल पुरुष, मानव-तनधारी हो कर आ गये।. .

'ओ रे अज्ञानी ऋत्विको, परबलि नहीं, निर्दोष पशुबलि नही, आत्मबलि, आत्माहुति, आत्महवन करो। अपने ही भीतर छुपे स्वार्थलिप्सु पशु की बलि दो। स्वयं अंगिरा, अग्निहोत्री हो कर जन्मे है आज मेरी कोख से। वे स्वयं ही आत्माहुति देते आये है। हे ऋत्विको, हे आर्यजनो, इन परम यज्ञेश्वर के चरणों म अपने जन्म जन्मान्तरों के सचित पशुत्व का बलिदान करो। आ गये मेरे महाकाल पुरुष, आ गये मेरे परम परमेश्वर, आ गये मेरे दिगम्बर, शिवशकर, भोलानाथ आ गये . . !'

इस अनाहत वाणी मे, समस्त लोक का प्राण एकीभूत, विश्रब्ध हो गया। सहस्रों आँखों से झरते आँसू एकमेव क्षिप्रा की धारा हो गये। .

. . और तभी महाकाल मन्दिर के सुवर्ण-शिखर से प्रतिध्वनि सुनायी पड़ी :

'यथा अत्र तथा अन्यत्र · जो यहाँ है, वही वहाँ है जो यहाँ है, वही वहाँ है।. . आदिनाथ . आदिनाथ . आदिनाथ। विश्वनाथ वर्द्धमान . विश्वनाथ वर्द्धमान . . विश्वनाथ वर्द्धमान!'

'इत्थं प्रभव ऋषभोऽवतारी हि शिवस्य मे।
सता गतिर्दीन बन्धुर्नवम कथित स्तव॥'

. और विन्ध्याचल के शिखरों से गुंजायमान हुआ . 'महाकाल महावीर जयवन्त हों, महाकाल महावीर जयवन्त हों, महाकाल महावीर जयवन्त हों!'

शृंग से शृग पर डग भरता एकाकी आर्यावर्त के आरपार चल रहा हूँ। मेरी धमनियों में महाकाल का डमरू बज रहा है। मेरे रक्त की बूँद-बूँद मे महाकाली ताण्डव नृत्य कर रही है।. .

मैं चन्दन बाला बोल रही हूँ

'वर्द्धमान, आखिर तुम चले ही गये ?' तुम्हारे महाभिनिष्क्रमण की खबर पा कर, इतना ही तो मेरे मुँह से निकला था।. . उदास हो कर वातायन की मेहराब थामे, उसके खम्भे पर माथा ढाल कर खड़ी रह गयी थी और सूर्यास्त तक भी मुझे होश नही आया था। मूर्तिवत स्तंभित थी, और

दिशाओं के पार दूर-दूर जाती तुम्हारी पीठ देखती रह गई थी।. . जानती थी तुम्हारी नियति। फिर भी इसके लिए मन को तैयार न कर सकी थी।

. . कि औचक ही तुम झटका दे कर जा चुके थे।. . और मेरी नियति ? नन्द्यावर्त महल में, प्रथम बार तुमसे मिलने के बाद उस ओर से ध्यान ही हट गया था। केवल तुम्हारी ओर निगाह लगी रहती थी। अपनी ओर देखने की सुध ही कहाँ रही थी ! जैसे मैं रह ही नहीं गयी थी। फिर किसकी नियति ? कौन सोचे ?

लेकिन जब तुम चले गये, तो अपने में लौट आने को तुम मुझे विवश कर गये। अपनी ओर देखने के सिवाय, और तुमने कुछ भी मेरे लिए सम्भव न रहने दिया। और तब मेरी अपनी नियति सामने आ कर खड़ी हो गई। कितनी प्रश्नाकुल और अँधियारी ! अन्धकार की पर्वत-श्रेणियाँ, जो आवाहन दे रही थीं : 'आरोहण करो हम पर !' इतने अचूक, सुन्दर, उजियाले, पारदर्शी तुम ! केवल यही वरदान मेरे लिए पीछे छोड़ गये ?

पहचानते हो वर्द्धमान, मैं चन्दना बोल रही हूँ ? तुम्हारी चन्दन मौसी। मौसी तो दूर, अपनी चन्दन की भी अब तुम्हें कहाँ याद होगी।. . दिगन्तों पर विहार कर रहे हो। अन्तरिक्षों में विचर रहे हो। देह और पदार्थ से ले कर प्राणिमात्र के मन-मनान्तरों में समान रूप से गतिमान हो। जड़ और जंगम का भेद भूल कर यकसा सब के आरपार यात्रित हो। ऐसे में मुझे अलग से पहचानने की जरूरत तुम्हे कहाँ रही ? उससे तुम आगे जा चुके। तुम्हारे दर्शन के अनन्त विराट् में एक लड़की का क्या मूल्य ? सारे ही पुरुषोत्तम हमारी ही गोद से उठ कर भी, अंतत हमें बिसार गये। हमें आधी रात शैया में सोती छोड़ जाने में भी वे कभी नहीं हिचके। और फिर लौट कर भी नहीं देखा। तिस पर तुम तो तीर्थंकर हो कर जन्मे हो। लोक के आज तक के सारे सूर्यों के अनन्य प्रतिसूर्य। सूर्य को क्या गरज कि वह किसी विशेष को पहचाने। वह तो सब पर समान रूप से चमकता है।

तुम्हारे महाप्रस्थान की सूचना, पूर्व सन्ध्या मे ही वैशाली पहुँच गयी थी। सुन कर नसों में बिजलियाँ कड़क उठी थी। तनी प्रत्यंचा की तरह प्रतीति हुई थी : 'तुम्हारी हर यात्रा के छोर पर मैं खड़ी हूँ।. ओ दिगम्बर, मैं हूँ तुम्हारी दिगम्बरी, तुम्हारा दिगम्बरत्व। तुम्हारी दिग्विजय के दिगन्तों को मैंने अपनी कलाइयों पर चूड़ियों की तरह धारण कर रक्खा है।'. . अभिमान आ गया था मन मे। नही, मैं नहीं आऊँगी तुम्हें बिदा देने। मेरी सत्ता के हर पणिमन में जो खेल रहा है, उसकी बिदाई कैसी ? सारे लोक-लोकान्तरों को जय कर के एक दिन तुम्ही को लौट आना होगा मेरे पास।

. . बड़ी भोर ही कई रथ माँ, पिता, भाइयों-भाभियों, अनेक परिजनों को ले कर कुण्डपुर को प्रस्थान कर गये। मुझे साथ ले चलने को सारे महलों और उद्यानों के कोने-अंतरे छान डाले गये। पर मेरा पता कोई न पा सका। इन्द्रों और माहेन्द्रों के सारे स्वर्ग तीर्थंकर के दीक्षा-कल्याणक का उत्सव रचने को, कुण्डपुर के प्रांगण में उतरे थे। पर चन्दना उस में कहीं नहीं थी। अपने अन्तर-कक्ष की वैभव-शैया को भेद कर, नग्न पृथ्वी से आलिंगित थी वह। अपनी छाती की व्यथा में, गमनागमन की सारी माया को उसने व्यर्थ कर दिया था।. . मुझ से जा कर मुझी तक पहुँचने की इस महायात्रा के यांत्रिक का स्वागत करूँ या उसे बिदा दूँ, इसी असमंजस में

पड़ी थी । . . अन्तर्तम में यह प्रतीति चाहे जितनी ही अटल रही हो, पर देह, प्राण, मन, चेतन, इन्द्रियाँ चूर-चूर होती चली गयी थीं । अपने अस्तित्व की अस्मिता और इयत्ता को पार्थिव में बाँधे रखना मेरे वश का नहीं रह गया था ।

. . मेरे बार-बार बुलाने पर भी तुम कभी वैशाली नहीं आये । आखिर हार कर मैं ही आयी थी तुम्हारे पास । उस दिन काया भले ही वहाँ से लौटी हो, पर मैं फिर उस कक्ष से लौट कर आ नहीं सकी । प्रथम दृष्टिपात मे ही जो तुम्हारा स्वरूप देखा, तो विस्मय से अवाक् रह गई । लगा था कि . . रंच भी नया, अपरिचित, अन्य कोई नहीं है यह ! स्मृति जागने के दिन से ही मेरे स्वप्न के क्षितिज पर जो अज्ञात अनंग युवा खेल रहा था, वही ऑखों आगे साकार हो गया । चक्षुओं का देखना जहाँ समाप्त हो जाता है, वह अवाङ्-मनस-गोचर रूप देखा । मेरी हर उमंग और चाह का अचूक उत्तर ! . . बहुत तर्क और कसौटी करके भी, अपने से अन्य, भिन्न, प्रतिकूल तुम्हें अणु मात्र भी कही से न देख सकी, ना पा सकी ।

चलती बेर पूछे बिना न रह सकी थी : 'फिर कब मिलोगे ?' उत्तर में तुम समर्पित हो कर स्वामी हो उठे थे : 'जब चाहोगी ! . . जब पुकारोगी, आऊँगा !' . . एकदम निष्ठुर हो कर लौटी थी : नहीं . . नहीं चाहूँगी, कभी नहीं पुकारूँगी । मौत सामने आ खड़ी हो, तब भी नहीं । . . आज इस क्षण जहाँ हूँ, वहाँ से भी नही । यमराज को पुकार सकती हूँ यहाँ से, पर तुम्हें नही . . तुम्हें हर्गिज नहीं । मेरे पैरों की यह बेड़ी और इस तल घर का यह अँधेरा, मुझे तुम से अधिक प्रिय है । क्योंकि यह मेरा अर्जन है, यह मेरा स्वयंवरण है । तुम कौन होते हो मेरे ? तुम्हें मेरी आवश्यकता नहीं : तो मुझे भी तुम्हारी आवश्यकता नहीं । मिलन की चाह और पुकार मेरी ही हो, तुम्हारी नहीं ? यही तो कहा था, तुमने उस दिन बिदा के क्षण में । . . नही, तुम्हारी कृपा की मुझे जरूरत नहीं है । . . नही, तुम्हारी चाहत की भिखारिणी नही हो सकूँगी । तुम्हारी वीतरागता तुम्हें धन्य और मुबारक रहे । ऑसू, दूध, खून, व्यथा से भीगी धरती हूँ मै . अनुरागिनी धरित्री, तुम्हारी जनेत्री । जिसकी कोख से तुम जन्मे, जिसकी गोद से तुम उठे, जिसकी छाती खूँद कर तुम वीतरागता के शिखर पर आरूढ़ हुए हो । . . तुम अपने में रहो । मुझे अपने में रहने दो । नहीं, मुझे तुम्हारी कतई जरूरत नहीं है । . .

. . ठीक लग्न-मुहूर्त आने पर एकाएक तुम वैशाली आये । आर्यावर्त का भावी तीर्थंकर, लिच्छवियों का कुल-सूर्य, अपनी प्रजाओं से मिलने आया था उस दिन ! मेरी पुकार पर, मुझ से मिलने तुम नही आये । . . नहीं, मैने तुम्हे पुकारा भी नहीं था । जो अनवरत पुकार भीतर मची थी, उसे यों चुप कर दिया था, जैसे दीये की लौ पर तर्जनी रख कर उसे मसल दिया हो । . . पर यह कैसे छुपाऊँ कि वह कुचली हुई लौ, जंगल-जंगल दावाग्नि की तरह फैल गयी थी । एक पागल पुकार के सिवाय, और कोई अस्तित्व ही मेरा नहीं रह गया था ।

वैशाली के जन-समुद्र पर आरोहण करते, तुम्हारे 'त्रिभुवन-तिलक' रथ मे, तुम्हें सिंह मुद्रा में आरूढ़ देखा । कितने अपरिचित, कितने सुपरिचित, कितने अपने, कितने पराये, कितने पास, कितने दूर तुम एक साथ लगे ! . . रोंया-रोंया रोमांच से रो आया । सारी देह कपूर की तरह प्रज्वलित हो कर गलती ही चली गई । तुम्हारे युगतीर्थ की महाधारा को प्रत्यक्ष सामने से बहते देखा : उसकी एक अज्ञात तरंग हो कर, उसमें चुपचाप विसर्जित हो रही ।

. . फिर भी रह-रह कर, रथ में तुम्हारे बायें कक्ष में बैठी दिखाई पड़ रही थी पगली चन्दना !

सोचा था, नहीं जाऊँगी संथागार में। नहीं सुनना मुझे तुम्हारा अभिभाषण। क्या नया सुनना है उसमें चन्दना को ? उसके अणु-अणु में निरन्तर ही तो बोल रहे हो। प्रतिपल तुम्हारी अजस्त्र सरस्वती की निपट-निरीह श्रोता ही तो हो कर रह गई हूँ। तुम्हें सुनते ही चले जाने की तरस और प्यास का अन्त नहीं रहा। . . तो तुम चुप कैसे रह सकते थे। मेरे एकान्त का आकाश तुम्हारे सदेह शब्दों से आकुल होकर मुझे छाये रहता। और एक बार देख लेने पर जो रूप मेरी पुतली बन कर रह गया, उसे अलग से और क्या देखना था। बरौनियों के गवाक्ष-रेलिंग पर खड़ा, वह कौन सदा झाँक रहा है ? . . पलकों के कपाट मूँदते ही, अन्तर-कक्ष की कमल-सेज पर अकेली तो कभी न रही। . .

. . फिर भी कुछ ऐसा लगा, कि छाती का एक टुकड़ा कट कर सामने आ खड़ा हुआ है। उसकी ऊष्मा को सहे बिना, और उसकी धमनी को सुने बिना चैन नहीं। . . संथागार में तुम बोले। श्रवण और दर्शन से परे, मेरी देह मात्र किसी की आग्नेय वाणी हो कर रह गयी। . . अन्तिमेतम् दिया तुमने, कि तुम वैशाली छोड़ कर चले जाओगे : तुम हमारे ऊष्मा भरे रस-रंग भरे, संसार की सीमाओं से निष्क्रान्त हो जाओगे। तुम इन अप्सराकूजित रंगमहलों से मुँह मोड़ जाओगे। अनागार हो कर वीरानों में विचरोगे।

तुम्हारे षड्यंत्र और चक्रव्यूह को खूब समझ रही थी। सो उसकी धुरी बन कर प्रस्तुत हो गयी थी। . . लेकिन तुम सचमुच ही चले जाओगे, यह तो कल्पना भी न कर सकी थी। . . पर, एक दिन अचानक सुनाई पड़ा : 'वर्द्धमान गृह-त्याग कर गये।' . . एक ठोकर सीधी आ कर मेरी छाती पर लगी थी। मानो वह चुनौती वैशाली और लोक के प्रति न हो कर, सीधी मेरे ललाट के तिलक पर आ कर टकराई थी। बेशक . . . क्यों अनिवार्य हो कि मुझे पूछ कर जाओ तुम ? मैं होती ही कौन हूँ ? अनन्तों का सम्राट किसी की अनुमति लेकर नहीं चलता !

संथागार से महालय लौटने को मन मुकर गया। वैशाली के सूर्य ने जिन महलों के ऐश्वर्य में आग लगा दी, उनमें लौट कर क्या करूँगी। और फिर यह भी जानती थी, कि तुम घर आओगे, सब आत्मीय परिजनों से मिलने। तब सामने न आऊँ, यह कैसे हो सकता है। . . मेरे बुलाये तो तुम आये नहीं, फिर सामने आने की विवशता मेरी क्यों रहे? . . नहीं, मुझे नहीं मिलना है तुमसे। मेरी गरज की पुकार जब होगी तब देखा जायेगा। तुम्हारे भीतर तो ऐसी कोई पुकार नहीं, कि तुम्हें केवल मेरे पास आना पड़े, या मैं तुम्हारे पास आने को फिर विवश हो जाऊँ। तुम्हें मुझ से कुछ पूछना नहीं है, कहना-सुनना नहीं है, तो मुझे भी तुम से क्या पूछना है ? तुम अपनी मर्जी के मालिक हो। और मैं हूँ केवल तुम्हारी मर्जी। फिर देखने सुनने, मिलने-मिलाने की बात ही कहाँ उठती है ?

महालय को न लौट कर, सीधी आयुधशाला को चली गई थी। अश्वपाल को आदेश दिया था, कि मेरा घोड़ा सज्ज करके प्रस्तुत करे। फिर शस्त्रागार में जा कर योद्धा का वेश धारण किया था। ठोकरें मार-मारकर, दीवारों और आलयों में टँगे, वैशाली के आदि पुरातन महामूल्य शस्त्रास्त्रों का ढेर लगा दिया था। अनन्तर कवच और शिरस्त्राण पर, मनमाने कई शस्त्रास्त्र धारण कर लिये थे। और फिर मुक्त केशों को हवा में लहराती, उन्मादिनी की तरह वैशाली के राजमार्गों पर अपना

घोड़ा फेंकती चली गई थी। हाथ मे सनसनाती नगी तलवार को सामने के अन्तरिक्ष में फेंक कर, अपने घोड़े को उछाल कर, उसकी टापों से उसे निर्दलित करती निकल गयी थी। एक-एक कर अपने ऊपर धारण किये सारे शस्त्रास्त्रों को राह पर लुटाती चली गयी थी।

मेरी नसों मे तुम्हारे शब्दों की मान्त्रिक बिजलियाँ लहरा रही थी। सो शस्त्र मात्र की शक्ति को निरस्त कर देने के उद्वेलन से मै पागल हो गयी थी। और देखना चाहती थी तुम्हारी उस अस्मिता और प्रभुता को, जो उस सबेरे वैशाली के जन-जन और आकाश-वातास पर छा गयी थी। केशरिया धारण किये, लिच्छवि युवा युवतियों के दल के दल, नगर के हर राजमार्ग, हट्ट, पण्य, अन्तरायण, और वीथियों मे तुम्हारा प्रशस्तिगान करते, नाचते-कूदते दिखाई पड़ रहे थे। मेरे फेके शस्त्रास्त्रों को उद्दाम उल्लास के साथ अपने पदाघातों से कुचलते हुए, वे तुम्हारी जयकारों से आकाश थर्राने लगते थे।

फिर वैशाली के सिंहतोरण पर पहुँचते पहुँचते मैने कवच और शिरस्त्राण भी उतार फेके थे। मेरा केशरिया उत्तरीय भी, थरथराते कुलाचलों जैसे मेरे कन्धों पर ठहर नही सका था। उन्मुक्त केशावलियों को भेद कर उछलती सुनग्ना छाती को दिशाओं पर फेंकती हुई, मै सिंहतोरण के पार हो गई थी। तुम्हारे जय निनादों से आक्रांत उस आकाश और पृथ्वी मे क्या असम्भव था? तमाम जडीभूत मर्यादाएँ ध्वस्त हो कर, उस अन्तरिक्ष-मंडल मे धूल के बगूलों और घास फूस की तरह उड रही थी। उड्डीयमान प्रभंजन जैसे अपने घोडे की पीठ पर, कितने भूवलयों और द्युवलयों का पार करती चली गई, पता ही न चल सका। अगले दिन सबेरे ही लौटना हो सका था।

सामने पडते ही माँ मुझे भुजाओं मे भींच कर रो पडी थी। इस अनहोनी बेटी से कैफियत माँगने का साहस तो वे कभी कर नही सकी थी, सो आज भी पूछ न सकी कि कहाँ चली गयी थी मै? पर बडी कसक और सिसकियों के साथ बताया था उन्होंने कि तुम आये थे और मुझ को पूछ रहे थे। कतई तुम्हे कोई अचम्भा या विस्मयन नही थी, कि मै क्यो नही हूँ वहाँ तुम्हारी प्रतीक्षा मे। उलटे समर्थन और साक्षी दी थी तुमने माँ के समक्ष, कि मै जैसी हू और जो करती हूँ वह सब अचूक और ठीक है चन्दनबाला गलत हो नही सकती।

भाग कर अपने कक्ष मे चली गई थी। द्वार बन्द कर, धडाम से फर्श पर जा गिरी थी। फूट-फूट कर रोती ही चली गई थी। धरती मुझ से अलग तो कही रह नही गई थी, जो फट कर मुझे समा लेती। फटी केवल अपनी ही छाती, और उसमे समा कर जहाँ पहुँची, वहाँ तुम खड़े थे अविचल और एकाकी, मुस्कुराते हुए। लोकाकाश का वह तनुवातवलय जिसके आगे सिद्धात्माओं और परमात्माओं का भी गति नही। मै हार गई। मेरी सारी मतियाँ और गतियाँ खामोश हो गयी।

• • •

महाप्रस्थान के बाद के इन दस ग्यारह बरसों मे, कई बार तुम वैशाली आये। आकर जब चले जाते थे, तभी हवा मे उदन्त सुनायी पड़ता था, महाश्रमण वर्द्धमान यहाँ आ कर चले गये। तुम्हारे

बिन चाहे तुम्हें कोई पहचान सके, यह तुमने किसी के हाथ नहीं रक्खा था। अपनी सत्ता का स्वामी जो हो गया था, वह एक ही रूप की इयत्ता का बन्दी हो कर कैसे रह सकता था। जिसे कुछ भी छुपाना नहीं था, वह हमारे चर्म-चक्षुओं के देखने-दिखाने में कैसे सिमट सकता था ? . .

. . और फिर तुम्हारे लिए मेरी प्रतीक्षा, वैशाली की सरहदों और राजमार्गों पर कैसे अटक सकती थी ? क्योंकि मेरी आँखें तो सदा से तुम्हें क्षितिज के मण्डलों पर चलते देखने की अभ्यस्त हो गई थीं। तारों भरी रातों में तुम्हें अक्सर एक ग्रह से दूसरे ग्रह तक डग भर चलते देखा था। तब मैं स्वयं भी कहाँ इस शरीर की सीमा में रह पाती थी ? . .

फिर यह भी तो मुझ से छुपा नहीं था, कि अपने काल और लोक की विकृतियों के विरुद्ध, एक अप्रतिरुद्ध षड्यंत्री की तरह तुम उठे थे। तुम निरे पृथ्वी-पट के परिव्राजक नहीं, समस्त विश्वप्राण के परिव्राट हो कर विचर रहे थे। तुम वैशाली के राजमार्गों पर नहीं आते थे, अपने सिर के बल उसकी कोख के तलातल में धँसते चले जाते थे। तब अपनी कुँवारी कोख में जो फटान की असह्य मधुर पीर अनुभव होती थी, उसी से जान जाती थी कि तुम आये हो। . . तब तन-बदन की सारी सुध-बुध ही चली जाती थी। मूर्च्छा के उस माधुर्य में कब कहाँ होती थी और क्या करती थी, पता ही नहीं चलता था।

फिर यह भी था, कि तुम्हारे जाने के बाद उन ऐश्वर्य-महलों की छतें, दीवारें और सुख-शैयाएँ ही मुझे बैरन हो गयी थीं। कहाँ रहती थी, और क्या करती थी, पूछ कर क्या करोगे ? और वह जानने का होश ही कहाँ रह गया था। बलात् जो पहले ही मिलन में, मेरी सारी गतिविधियों का स्वामी हो गया था, उससे अलग मेरी और क्या गति-विधि हो सकती थी ? . .



. . बरबस ही आज बालापन की याद आ रही है। देख रही हूँ, सोलह बरस की चन्दन को। अपने ही मृणाल से उच्छिन्न हो कर, दिशाओं के छोरों पर खेलने चली गयी वह कमलिनी। अपनी ही पँखुरियों के आलिंगन में न समा सकने वाली वह चंचल लड़की। याद आता है, वैशालीपति की सबसे सुन्दर, छोटी और लाड़िली बेटी होने से, सारे आर्यावर्त के आत्मीय राजकुलों का मुझ पर बेहद प्यार था। मुझे लिवा ले जाने को, प्राय: ही मेरी सब दीदियों, मौसियों, बुआओं के राज्यों के रथ आते थे। कई-कई दिन वे महालय के राजद्वारों पर मेरे लिए प्रतीक्षमान रहते थे। माँ-पिता, भाई, परिजन सब समझा कर थक जाते थे। पर अपने एकान्त कक्ष से हिलने का नाम तक नहीं लेती थी।

फिर, कक्ष में ही कहाँ टिक पाती थी। कभी रथ ले कर, और कभी घोड़े की पीठ पर चढ़ कर जाने कहाँ-कहाँ उड़ी फिरती थी। विपुलाचल, वैभार और गृद्धकूट के शिखरों पर खड़ी हो कर, राजगृही के रत्न-कुट्टिम प्रासाद-वातायनों को एकटक निहारा करती थी। कल्पना करती थी, चेलना दीदी इन्हीं महालयों के जाने किस अन्तर-कक्ष में, जाने क्या कर रही होंगी, जाने किस सोच मे डूबी होंगी। खड़े जानू पर चिबुक टिकाये, उदासी में डूबी उनकी मुख-मुद्रा की छाप ही मेरे मन पर सबसे गहरी अंकित थी। उनके कौमार्य के एकान्तों में उन्हें प्रायः इसी भंगिमा में देखा था।

उस समय उनके पास जाने की हिम्मत नही होती थी। कभी जी न माना, तो जा कर पीछे से गलबॉही डाल कर, उनकी पीठ पर झूल जाती थी। तब मुझे खीच कर वे गोद मे ले लेती थीं, और छाती से चाँप कर कितना प्यार करती थी। मेरे बालों को सहलाती हुई, मुझे चुम्बनों से ढाँक देती थी। उनकी भीनी ऑखों मे बँधे समन्दरों के लौटते ज्वारों को मै देख लेती थी। उनकी आँखों में आँखें डाल कर पूछ लेती थी :

'दीदी, ऐसे उदास क्यों हो जाती हो ? सच बताना, मेरी शपथ है ! '

रुऑसी हॅसी के साथ वे खिलखिलाकर कहती थी

'पागल कही की, मै क्यों उदास होने लगी । देखती तो है, कितनी हॅसी आ रही है मुझे ! '

और उनके मुख से हॅसियों के फव्वारे फूट पडते थे।

सच ही तो कहती थी दीदी, उन जैसी हॅसोड ओर विनोदी प्रकृति तो हमारे घर मे किसी की नही थी। कारण-अकारण दुरन्त, अल्हड़ बालिका की तरह वे शरारत, विनोद और हॅसियों में कल्लोल करती रहती थी। उनकी इन कौतुक-क्रीड़ाओं से सभी तग आ जाते थे। . . पर उनकी अकारण उदासी के एकान्तों का रहस्य मेरे सिवाय कोई नही जानता था। इसी से अपने सब परिजनों और दीदियों मे, केवल उन्हे ही मैने अपने अन्तरग के निकटतम पाया था। इसी कारण जिस दिन अभय राजकुमार उनका हरण कर ले गया था, उस दिन मै अपने कक्ष को बन्द करके, कितनी रोई थी, कोई नही जान सका था। लगता था, वही तो मेरी अकथ अन्तर्वेदना की एकमात्र सगिनी थी। अद्भुत साम्य था, हम दोनों की अन्त प्रकृति मे। फरक इतना ही कर सकती हूँ, कि वे प्रकट मे सबके बीच रस-बस कर चुलबुलापन करती रहती थी, जबकि मै अपने एकान्तों से ही बाहर नही आ पाती थी। हमारे बीच इतना आन्तरिक एकत्व होने पर भी, यह कभी सम्भव न हो सका, कि हम अपने हिये की पीडा को होंठों पर लाये। जिस पीडा का कोई प्रकट कारण ही न हो, उसके विषय मे क्या बात हो सकती थी। अपनी अपनी गहराइयों मे डूबते उतरते, उस अबूझता को चुपचाप सहना ही तो होता था।

. . उस दिन तो अभय राजकुमार उन्हे हर ले गये, उसके बाद वे फिर कभी प्रकटत अपने पीहर न लौट सकी। साम्राज्य-लोलुप मगधपति ने चेतना को अकस्थ करके, मानो वैशाली को अपने पैरों तले रौंदने की आत्मतृष्टि महसूस की थी। उनकी साम्राज्य-स्थापना की राह मे, अजेय वैशाली ही तो सबसे बड़ा रोड़ा थी। उस वैशाली की सूर्यांशी बेटी को अपनी शैयाङ्गना के रूप मे पा कर उनका अहकार असीम हो उठा था। जब मगध और वैशाली का सघर्ष पराकाष्ठा पर पहुँच रहा था, और विदेहों की मुक्तिवाहिनी भूमि को बलात्कारी मागध अपनी फौलादी पदचापों से थर्रा रहे थे, तब बरसों बाद विवश हो कर, पतिदेव की आज्ञा का उल्लघन कर, गुप्त रूप से दीदी वैशाली आयी थी। उसमे भी केवल वैशाली की रक्षा का स्वार्थी भाव ही नही था, शायद मगधनाथ की कल्याण कामना ही सर्वोपरि रही हो।

तभी वे सहायता की प्रार्थिनी हो कर, तुम्हारे पास भी आयी थी, मान । पर तुम तो किसी के सगे नही थे, अपने तक नही ! तुमने चेलना मौसी को चोट देने मे कोई कसर नही रक्खी थी। पर विचित्र हुआ था, कि वे तुम्हारे निकट अपना हृदय हार आयी थी। उनके होंठों पर एक ही बात

थी :

'वर्द्धमान है, तो फिर चिन्ता किस बात की ? वैशाली और मगध की तो बात क्या, सारा जम्बूद्वीप उसकी तर्जनी के इशारों पर टँगा हुआ है !'

. . सो तो स्वयं ही अपनी आँखों देख आयी थी। तुम्हें देख लेने के बाद, कोई सोच शक्य ही नहीं रह गया था।

दीदी के चले जाने के बाद अन्तिम रूप से एकाकिनी हो गयी थी। तब अपने एकाकीपन को आँखों के सामने सदेह खड़ा देखती थी। लेकिन विचित्र लगता था, कि वह तुम्हीं तो हो। मानो कि, उतनी अकेली हुए बिना, तुम्हें संगी के रूप में नहीं पाया जा सकता ! . .

अन्तर-द्वीप की एकाकिनी राजकन्या

तब अपने पीछे छूटी किशोरी की याद बड़ी मधुर कसक के साथ आती थी। स्मृति जागने पर, पहले-पहल जब अपने मन से परिचय हुआ, तभी जान गयी थी, कि सबसे अलग और अनोखा मन पाया है मैने। सबसे बिरानी होती-सी ही मैं बड़ी हो रही थी। मानो कि सबसे हटकर, और अलग ही जन्मी हूँ। बचपन में माँ की गोद में, निर्जन द्वीप में निर्वासित जिस एकाकिनी राज-कन्या की कहानी सुन कर मै रो पड़ती थी, होश में आने पर पाया कि वही तो मै हूँ। उसे खोज कर, उसको अपनी छाती से लगा आश्वस्त करने की जो व्याकुल पीड़ा मेरे बाल्य हृदय मे टीसती थी, सो कुछ बड़े हो कर, उस तक पहुँच कर ही चैन मिला। यानी वही मैं स्वयं हो रही।

उस निःसंग मन-प्राण को ले कर, फिर बाहर के लोक में कोई सखी-सहेली पाना मेरे वश का न रहा। हमारे गण-राज-कुलों की कई समवयस्का कन्याएँ मुझे आकर घेर लेती थीं। अपने महलों, उद्यानों और वन-क्रीड़ाओं मे वे मुझे बरबस खींच ले जाती थीं। पर उनके बीच मैं अपने को बहुत ही अजनबी पाती थी। मेरा तो बोल ही नहीं खुलता था। उनके खेलों और क्रीड़ा-कल्लोलों में मेरा जी रंच भी नहीं जुड़ पाता था। वे खींच-खींच कर मुझे अपने बीच लेती थीं, पर मैं गिलहरी की तरह छटक कर डाल-डाल, पात-पात, फुदकती फिरती थी। ऐसा लगता था, कोई बनैली हिरनी किसी सुन्दर उपवन में कैद कर दी गयी हो। उनके बीच महर्द्धिक वेश-भूषा और अलंकारों की होड़ लगी रहती थी। उनके अपने-अपने अनोखे प्रसाधन, केशराग और इत्र-फुलैल होते थे। एक से एक बढ़ कर द्वीप-समुद्रों के रत्नों और मुक्ताफलों की उनकी अपनी-अपनी रोमांचक कथाएँ थीं। सुख-वैभव की प्रतिस्पर्द्धाओं के इस जटिल जाल में मेरा दम घुटता था। सो तंग आ कर मैं अपने ही एकान्तों में छुपी फिरती थी।

मेरे वातायन पर से, दूर दिगन्त में कोई एकाकी वृक्ष दिखायी पड़ता था। उसकी फुनगी पर ठहरी सन्ध्या की अन्तिम किरण को विलीयमान होते एकटक देखती रहती। उसके लुप्त होते ही, मैं बहुत उदास हो जाती थी। उस फुनगी पर उड़ रहे, पक्षी के पंख पकड़ कर, मैं उस पार जाने कहाँ उतर गयी उस पीली किरण-बाला की खोज में जाने को अकुला उठती थी।

वसन्त ऋतु की निस्तब्ध दुपहरियों मे, और सध्याओं मे, अज्ञात आम्रडाली में कुहुकती कोयल की टेर मेरे प्राण को जाने किन वनान्तों मे उड़ा ले जाती थी। लगता था, जाने कौन अन्तहीन पुकार के साथ मुझे ही टेरता चला आ रहा है। मंजरियॉं अंबियाँ हो जाती थीं, अंबियाँ आम हो कर खा ली जाती थी। और कोयल की टेर न जाने किस तट मे डूब जाती थी। मेरा जी चाहता कि मॅजरियॉं कभी न अबियाएँ, वे आम हो कर कभी न खायी जाएँ। बस, अपने ही रक्त की-सी उनकी खट-मीठी गन्ध सदा वातास मे बहती रहे और कोयल सदा बोलती रहे। कोई मुझे सदा टेरता ही रहे। . . पर आम खाने वाले, मेरा शाश्वत वसन्त मुझ से छीन कर मुझे बहुत हताहत कर देते थे। उन पर मेरे रोष का अन्त नही था। स्वय ही अपनी मजरी बन कर, स्वय ही उसकी गन्ध हो कर, अपने प्राण की कोयल का उन्मन गान उसमे सुनती रहती। खाने-पीने वाले जगत के लोगों से मेरा मन दूर ही दूर भागा फिरता। मानो उनसे मेरा कोई नाता ही न हो।

ग्रीष्म मे पके और पियराते आमों की गन्ध से आकुल, श्यामल अमराइयॉं मुझे पुकारती थी। मै उनके तले खेलने चली जाती थी। जाने कौन एक श्यामल नील मोहन तनों की ओट मुझसे ऑख मिचौनी खेलता था। उसके पीताम्बर की कोर मात्र ऑख मे झलक जाती थी। और एक मुस्कान अपने चारों ओर भॉवरे देती-सी लगती थी। दूर कही जगल मे अमलतास की झीमती फूल-डालों में मेरी पलके तन्द्रालस हो कर स्वप्नलीन हो रहती। पास ही कृष्ण-चूडा की केसरिया फूलों से लदी वनाली मे किसने मेरा चीर-हरण कर लिया है? सारा जगल एक टक मेरी ओर देख रहा है। . .

. . लाज से मर रहती थी। अपने ही भीतर की सरसी मे डुबकी लगा कर छुप रहने के सिवाय और चारा ही क्या था? पर जलों की उस गोपन गहराई मे भी, एक लचीले शरीर का जो गहन मार्दव चारों ओर से मुझे आवरित कर लेता था, उससे बचन कहॉं थी।

पाशुल दुपहरियों मे, उडते पत्तों के धूसर प्रान्तरों मे भटक जाती थी। दूर-दूर तक छितरी किशुक-झाडियों मे झरते पलाश-फूल मेरे सीमन्त मे सिन्दूर भर देते थे।

कोयल की डाक दूर दूर तक सुनाई पडती है। हाय, किस तट से वह आयी थी, और कहॉं लौट रही है, उसका पता किससे पूछूँ? बिछुड़न की इस पीर का साथी, इस जगत मे कहॉं मिलेगा?

आषाढ़ के पहले ही दिन वनान्त मे नील-मेदुर मेघ उमड़ आये है। बादलों की नीरव प्रशान्त छाया मे मयूर पख खोल कर नाच उठे है। उनके केकारव से सारी अरण्यानी पागल हो उठी है। नदी पार के अजन-छाया छाये नील प्रान्तर मे किसकी डफ सुनायी पडती है? लौट कर जाने को कोई महल-वातायन अब पीछे नही छूटा है। बादलों के इन गन्ध-मादन हस्ति-कानन मे जिसकी मातग-मोहिनी वीणा बज रही है, उसका पता पाये बिना प्राण को विराम नही है। .

सिन्धुवार और सप्तपर्ण की वनालियों में कृष्णसार और कस्तूरी-मृग मन्त्र-मोहित से खड़े दिखायी पड़ रहे है। इनकी नाभि की कस्तूरी ने मेरी सॉसों को छा लिया है। बेतहाशा रथ दौड़ाती हुई वाग्मती के तीर पर आ पहुँची हूँ। कहॉं से आयी है यह उज्ज्वल वसना नदी, और कहॉं जा रही है? क्या इसका कोई घर कही नही है? इसकी नीलमी जलिमाओं मे रिलमिलाती

मछलियाँ मेरी आँखें हो कर रह गयी हैं। फिर भी इनके जलों के उद्गम मेरी दृष्टि की पकड़ में नहीं आ रहे हैं ! . .

. . क्यों है यह जगत् ? कहाँ है इसका उद्गम, कहाँ है इसका अन्त ? कौन जान सका है आज तक ? अनेक ज्ञानियों ने, अनेक तरह से इस जगत को कहा है। उनके कथनों में अन्तर है। यदि वे सब सत्य-ज्ञानी थे, तो सभी के कथनों में एकता क्यों नहीं है? जान पड़ता है, विश्व-तत्व को कहा नहीं जा सकता, केवल अनुभव में साक्षात् किया जा सकता है। लगता है कि अनन्त और अनेकान्त है यह सब, जो दिखाई पड़ता है। और अनन्त सब एक साथ दिखाई कैसे पड़ सकता है ? तो फिर कहा भी कैसे जा सकता है ? काल में इसके परिणमन का अन्त नहीं। . .

काल से परे खड़े हुए बिना, काल में चल रही इस जगत की तमाम तरंग-लीला को एक साथ उपलब्ध नहीं किया जा सकता। आँख एक बात कहती है, स्पर्श में कोई और ही बोध होता है, गन्ध और ध्वनि में कुछ दूसरा ही प्रतिभासित होता है। क्या कुछ ऐसा नहीं, जिसमें सब इन्द्रियाँ और इनका राजा मन एक हो जायें, और एक ही अनुभूति पा कर, एक ही बात कहें ? क्या कुछ ऐसा नहीं, जिसमें घटन और विघटन एक बिन्दु पर मिल जायें ? क्या कुछ ऐसा नहीं, जो उत्पत्ति और विनाश के इस खेल में शरीक हो कर भी, सदा एक वही और अक्षुण्ण बना रहे, और उससे अप्रभावित रह कर उसका सम्पूर्ण बोध पाता रहे ? जो इस खेल को खुल कर खेले, फिर भी इसकी उठान, मिटान और हार-जीत का आखेट न हो, उस सब में एक-सा बना रहे ?

. . कुछ भी तो यहाँ ठहर नहीं पाता है। जो इस क्षण है, अगले ही क्षण नहीं भी हो सकता है। फिर अपने होने पर कैसे विश्वास करूँ ? और अपने होने पर ही जब भरोसा नहीं किया जा सकता, तो किस सहारे पर जिया जाये, और कौन जिये ? शीत ऋतु की हिम-पाले की रातों में अंगीठी के पास माँ की गोद में दुबक कर कहानियाँ सुनने वाली वह बालिका कहाँ गयी ? अब माँ की गोद में दुबक कर आश्वस्त और निश्चिन्त नहीं हुआ जा सकता। वह सहारा और विश्वास जाने कब का टूट गया। अब वहाँ दुबक कर निश्चिन्त होना भी चाहूँ, तो हो नहीं सकती।

. . सब कुछ को खुली आँखों देखने और समझने लग गयी हूँ। अपने ही इस शरीर में होने वाले सारे परिवर्तनों से परिचित हो गयी हूँ। देख रही हूँ, कि परिवर्तन की इस लीला मे सभी विवश हैं, निराधार, अनाथ और कातर हैं। अपनी आँखों के सामने, अपने ही परिवेश में, लोगों को क्षय होते, बूढ़ा होते, मर जाते देखा है। हर चीज मे क्षण-क्षण क्षय का घुन लगा देख रही हूँ। क्षय, विनाश, रोग, बुढ़ापे और मृत्यु के भीतर ही यह सारा खेल चल रहा है। यहाँ का सारा सौन्दर्य, प्रेम और आनन्द क्षय और मृत्यु के अधीन है। मृत्यु है, तो फिर जीने का क्या अर्थ रह जाता है ? . .

उत्पत्ति और विनाश के दो छोरों के बीच बह रही इस जग-जीवन की धारा मे क्या कुछ भी ऐसा नहीं, जो सत् हो, जो नित हो, जो सत्य हो, जो नित्य हो, जिस पर भरोसा किया जा सके, और जिसमें सुरक्षित और निश्चिन्त जिया जा सके ? क्या है इस सबका आधारभूत सत्य, क्या है इसका सत्व और प्रयोजन ? यदि जगत और जीवन का कोई प्रयोजन और अर्थ नहीं, तो इसमें कैसे जीऊँ ? किसलिए जीऊँ ? . . सभी कुछ तो यहाँ अर्थहीन, प्रयोजनहीन, अनाथ, अरक्षित

दिखायी पड़ता है। हम एक-दूसरे के भीतर सहारा खोजते हैं, लेकिन मजा यह है कि हम सभी बेसहारा हैं। एक-दूसरे को हम ज्ञान सिखाते हैं, लेकिन स्वयं ही अज्ञानी हैं। जो स्वयं ही अनाश्वस्त है, उसमें आश्वासन कैसे खोजूँ? जीवन को, जगत को, चीजों को पूरी तरह जाने बिना, इन्हें कैसे जीऊँ, कैसे भोगूँ? किस आधार पर इन्हें अपनाऊँ? इस बेसहारगी में जीवन-धारण असह्य हो गया है। इस अनाथत्व और शरणहीनता में साँस तक लेना दूभर लगता है। पूछती हूँ, जगत और जीवन की यह सारी लीला यदि केवल मिथ्या-माया ही है, तो फिर यह है ही क्यों? जो है, वह निरर्थक और निष्प्रयोजन कैसे हो सकता है? वह असत्य और निराधार कैसे हो सकता है?

परिजनों, गुरुजनों और श्रमणों से आत्मा, कैवल्य, मोक्ष और निर्वाण की बात सुनी है। वे यही तो कहते सुनायी पड़ते हैं : 'इस विनाशीक, भंगुर और मायावी जगत के मोहपाश काट कर, मुक्त हो जाओ, नित्य, बुद्ध, सिद्ध हो जाओ। वह हो भी जाऊँ, तब भी यह प्रश्न तो अनुत्तरित ही रह जाता है, कि 'अभी और यहाँ' जो यह जीवन और जगत की उष्मा भरी, आनन्दभरी, मोहक लीला है, वह क्या निरर्थक ही है? अपने आप मे इसकी कोई सार्थकता और परिपूर्ति नहीं? तो फिर क्यों यह अनादि-अनन्त काल में चल रही है? जो है, और मरण, क्षय और विनाश में भी बराबर जारी है, वह मिथ्या, निरर्थक और प्रयोजनहीन कैसे हो सकता है? केवल सिद्धात्मा सत्य-नित्य हैं, और जगत-जीवन अन्ततः मिथ्या ही है, यह अपने आप में ही एक अन्तर्विरोधी बात है। अजीब है वह सर्वज्ञ, जिसका पूर्ण ज्ञान केवल मिथ्या-माया के खेल को देखने में ही अनन्तकाल लगा हुआ है?

. . वय के बढ़ते हुए वर्षों के साथ ये प्रश्न ऐसे तीव्र होते गये, कि सत्ता में रहना ही कठिन हो गया। घर में तो ठीक, धरती और आकाश तक में पैर टिक नहीं पाते थे। निराधार, निरुत्तर के शून्य में कैसे खड़ी रहूँ, कैसे ठहरूँ, कैसे उसे जीऊँ और भोगूँ? सो जंगलों और पहाड़ों की वीरानियों में भटकने लगी। अभेद्य और वर्जित में धँसती चली गई हूँ। दुर्गमों में चढ़ी और उतरी हूँ। भयावह अरण्यों की कँटीली पथरीली दुर्भेद्यता का भेदन किया है। पर्वतों की चोटियों से मानो सीधी छलाँग भर कर, नदियों के दुर्दान्त प्रवाहों पर आ पड़ी हूँ। जहाँ मनुष्य कभी न गया होगा, ऐसी आदिम गुफाओं के मरणान्धकारों मे भटकती चली गई हूँ। हिंस्र पशुओं और सरिसृपों की कराल डाढ़ों के भीतर भी यात्रा की है। . . जानना होगा, सब कुछ को अणु-अणु में जानना होगा! जाने बिना, जिया नहीं जा सकता, ठहरा नहीं जा सकता, भोगा नहीं जा सकता। किन्तु जीते जी मृत्यु के भीतर से गुजर कर भी तो कल नही पड़ी, चैन नहीं आया। . .

मेरी उस अन्तिम विकलता के छोर पर, जाने क्यों, वर्द्धमान, केवल तुम्हीं खड़े दिखायी पड़ते थे। उसी चरम अनाथत्व और शरणहीनता की प्रतिकारहीन वेदना को लेकर, उस दिन आखिर तुम्हारे पास दौड़ आयी थी। नन्द्यावर्त में पहुँच कर तुम्हारे कक्ष के उस एकान्त साम्राज्य को भंग करने को विवश हो गयी थी। अन्तहीन प्रश्नों की जलती शूलियाँ मेरी कुँवारी छाती में कसक रही थीं!

. . पर यह क्या हुआ कि तुम्हारे सामने आते ही, तीखे प्रश्नों का वह असिधार जंगल, सुरम्य बादलों के खेल सा बिखर गया। दृष्टि से परे कपूर की डली जाने कहाँ उड़ गयी; साँसों में

केवल उसकी शीतल, शामक सुगन्ध भर रह गई। बरसों बाद उस दिन जैसे मेरी साँसें एक अनादिकालीन फाँसी के फन्दे से मुक्त हो गईं। क्या उत्तर मिला, पता नहीं। पर देखा, कि सामने बैठा, यह जो लीला-चंचल लड़का अपने हँसी-विनोद से मेरी सारी पृच्छाओं को फूँक मार कर उड़ाये दे रहा है, यही अपने आप में काफी है मेरे लिए। यही वह आधार है, आश्वासन है, अन्तिम उत्तर है, जो उत्तर नहीं देता, व्याख्या नहीं करता, बस, मुझे अनायास जीवन और जगत में निश्चिन्त भाव से बसाये दे रहा है, रम्माण किये दे रहा है।

. . यह है तो फिर, यहाँ का कुछ भी क्षण-भंगुर और नाशवान नहीं है। यह है तो क्षय, रोग, शोक, विछोह, जरा-मरण कुछ भी नहीं है। वह सब केवल माया है, भ्रान्ति है। यह है तो जगत के सारे ही सौन्दर्य, प्यार, आनन्द नित्य-सत्य, और अविनाशी हैं। इसके होते निश्चिन्त और सुरक्षित भाव से सत्ता में ठहरा जा सकता है, जीवन-प्रवाह में मछलियों की तरह खुल कर तैरा जा सकता है, खेला जा सकता है। मुक्त पंछियों की तरह स्थिर पंखों से जीवन के इस अनन्त विराट् लीलाकाश में उड़ा और विहरा जा सकता है। . . यह है तो प्रश्न और पूछना समाप्त हो जाता है। एक अन्तहीन आश्वासन और अमरता में घनसार की तरह घुलती ही चली गयी थी। . . मानो जन्मान्तरों के बाद उसी रात बेखटक, और पूर्ण निश्चिन्त हो कर सो सकी थी। . .

लेकिन मानो मेरा वह सुख, तुम से सहा न गया। तुमसे अधिक मेरा ईर्ष्यालु और कौन हो सकता था : और मुझसे अधिक तुमसे ईर्ष्या और किसे हो सकती थी ? . . यहीं अटक कर, बेखटक हो जाऊँ, यह तुम कैसे सह सकते थे ? मानो कि मेरे उस सहारे को तोड़ने के लिए ही तुम वैशाली आये। हजार बहानों से तुमने यह घोषित कर दिया, कि तुम इस सुरम्य संसार को त्याग कर चले जाओगे। एक ही झटके में तुमने अपना ही दिया चैन मुझसे छीन लिया। एक ही भ्रू-भंग में मानो, महावीर ने मेरा वह वर्द्धमान मुझसे झपट कर छीन लिया, जिसे एक दिन इतने प्यार से उसने मुझे खेल-खेल में ही दे दिया था। मानो कि कह गये तुम : 'वर्द्धमान-निरपेक्ष होकर जीना होगा तुम्हें, चन्दन ! ' उल्का के अक्षरों में बीज-मंत्र की तरह तुमने यह बात मेरे चित्त-पटल पर उकेर दी। विपल मात्र में ही तुमने अपने ही दिये धरती और आकाश मुझसे छीन लिये। एक ही ठोकर में तुमने मेरे संसार-पाश को छिन्न-भिन्न कर दिया। 'ससार सारम्' हो कर जो एक दिन मेरे जीवन में आया था, वही उस दिन संथागार से मेरा 'संसारहारी' हो कर प्रकट हुआ।

सोच में पड़ गई, इस मित्रहीन जगत मे जिसे एक मात्र मित्र के रूप मे पाया था, वही सब से बड़ा शत्रु हो कर सामने आ गया है। तुम्हे प्यार कर सकूँ, यही तुमने मेरे लिए सम्भव न रहने दिया : और तब केवल तुम्हें ही प्यार करने की मेरी विवशता को तुमने अन्तहीन कर दिया। अन्तिम अवलम्ब जो बन गया था मेरा, उसने स्वयं ही, अपनी उस अवलम्बिता को चूर-चूर कर दिया। फिर जो नहीं रह गयी थी, उस लड़की की अवशेष नियति का खेल आरम्भ हुआ। तुम्हीं बताओ मान, वह कैसे फिर वैशाली के ऐश्वर्य-महलों की फूल-शैयाओं में लौट सकती थी ? अपनी अन्तिम नियति से टकराये बिना, उसके लिए और चारा ही क्या रह गया था . . ? नियति-पुरुष इसी को तो कहते हैं ! . .

पहली बार तुमसे मिल कर जब लौटी थी, तो बाहर कुछ भी पाने और खोजने को शेष नहीं रह गया था। सारे ही प्रश्नों और जिज्ञासाओं का एकमेव उत्तर अन्तर के देवालय में मूर्त पा लिया

था। विराट् प्रकृति के बीहड़ों में जिसे खोजती फिर रही थी, सहसा ही पाया कि वह जाने कब चुपचाप भीतर आ बैठा है। मेरी भटकनों की उस निखिल चराचर प्रकृति को वह अपने उत्तरीय की तरह धारण किये था। बाहर की यात्राओं के अगम विस्तार, उत्तुंग ऊँचाइयाँ और भयावने गहराव भीतर ही खुल पड़े थे। सो अपने कक्ष में बन्द होकर अपनी सुख-शैया में आँखें मूँदे कई-कई पहर लेटी रहती थी, और अकारण ही सारे अगम्यों मे यात्रा एक सुगम खेल की तरह चलती रहती थी। . .

लेकिन जब तुम महाभिनिष्क्रमण कर आरण्यक हो गये, तो अपने अनन्त अभियान के पहले ही पद-संचार से, तुम मेरे बाहर-भीतर के बीच की ओट को छिन्न-भिन्न कर गये। शैया में ही नहीं, इस तन में भी काँटे उग आये। . . अंग-अंग मे नुकीली चट्टानें और तुम्हारे आरोहण के पर्वत-शिखर फूट निकले। बाहुमूल और उरुमूल के गहराव तुम्हारी दुर्दान्त छलाँगों के बीच की खन्दकें, घाटियाँ, समुद्र और नदियों हो कर फैल गये। तन का अणु-अणु तुम्हारी राह की धूल हो कर रह गया।

तब बोलो, वैशाली के परकोटों और महालयों की दीवार-छतों में ठहर पाना कैसे सम्भव होता। . . पहले की तरह जब निकल पड़ने को हुई, तो पाया कि मेरे स्वैराचार पर पहरे बैठ चुके हैं। पाया कि स्वातंत्र्यय की सिरमौर नगरी वैशाली मे नजर-कैद हूँ। महल, उद्यान, रथागार, अश्वागार, नगर-द्वार, सर्वत्र ही मुझे गमनोद्यत देख कर प्रतिहारी, रथी, अश्वपाल और प्रहरी, मेरी राह में झुके मस्तक बिछा कर राजाज्ञा के पालन को विवश और मूक दिखायी पड़े। समझ गयी, कि यह सब क्यों हुआ है।

तुम्हारे दीक्षा-कल्याणक से लौट कर, माँ और परिजनों ने मेरी जो बेकली और बेहाली देखी थी, उससे वे समझ गये थे, कि अब इस ऐश्वर्य राज्य में मैं ठहर नही सकूँगी। मानो कि उन्होंने चीन्ह लिया था कि मेरी आँखें उन दिगन्तों पर बिछी थीं, जिनका तुम निरन्तर अतिक्रमण कर रहे थे। . . उन्हें स्पष्ट दीखा कि, मूर्तिवत् ठगी-सी, घायल पंखिनी-सी मै उन दूर-दूर जा रहे चरणों में लोटती चली जा रही हूँ। . . तब उन सबको प्रतीति हो गई, कि अब मेरा स्वैर-विहार खतरनाक ही हो सकता है। सो चिर दिन की मुक्त आकाशिनी को पिंजड़े में पूर दिया गया।

. . नही, तुम्हारी निष्ठुर पीठ का पीछा नही किया चाहती थी। जाने से पहले तुम एक बार मुझे सन्देशा तो भेज ही सकते थे। मैने तुम्हे पुकारा या नही, सो तो तुम जानो, पर तुम मुझे पुकारो, यह तुम्हारे पौरुष को कैसे गवारा हो सकता था ? नहीं, तुम्हारी खोज मे भटकूँ, यह मुझे अब सह्य नहीं था। जिस खोज की मधुर कसक मेरा एक मात्र जीवन था, उसे तो सामने पड़ते ही, तुमने समयातीत भाव से समाप्त कर दिया था। . . अब तो केवल इतना ही शेष रह गया था, कि अपने को खोजूँ। . . मैं हूँ कि नहीं हूँ ? मेरी कोई सत्ता भी है या नहीं ? यदि हूँ, तो कौन हूँ मैं ? इसका उत्तर पाये बिना छिन भर भी सृष्टि में कहीं ठहराव सम्भव न रह गया था।

तुम्हारी विरागी मुद्रा देख आयी थी, पर अपने प्रति जो अनुराग तुम्हारा इतना ज्वलन्त देखा था, उसके बावजूद तुम मेरे प्रति इतने निर्मम भी हो सकोगे, यह तो कल्पना में भी नहीं आ सकता था। मूलाधार को बींध कर जब प्रश्न मेरी शिराओं और अस्थियों के पोलानों में गूँजता था कि 'कौन

हूँ मैं ?' तो केवल उस दिन की तुम्हारी लीला-चंचल छवि मेरे दृष्टि-पथ और सारे आकाश-पथ पर छा जाती थी। तुम्हारे प्रति रोष और क्षोभ से मेरी नस-नस में गाँठें पड़ जाती थीं। अपनी ठोकर के योग्य भी जिसे नहीं समझा, उसकी राह रोक कर, हर परमाणु पर क्यों आ खड़े हुए हो ? मेरी छाती पर, मेरे निकलने के एक मात्र द्वार बन कर क्यों जड़ गये हो ?

. . पर कृपा हुई तुम्हारी, अभागिनी चन्दना पर, कि उस पर किवाड़ बन कर बन्द नहीं हुए, द्वार ही बने कि जहाँ चाहूँ, जा सकती हूँ। और किस मोह-ममता या राजसत्ता का पहरा, उस द्वार की राह को रूँध सकता था, जो कि महावीर स्वयं था। कृतज्ञ हूँ तुम्हारी, कि भले ही परित्याग कर गये, पर भीतर-बाहर के सारे कारागारों से निकल पड़ने का निर्बाध द्वार मेरे लिए मुक्त कर ही गये। . .



. . सो उस आधी रात, जब विकलता से तन का तार-तार टूट गया, और बेसुध बेबस पागल-सी चल पड़ी थी, आत्महारा, सर्वहारा, दिशाहारा, तब कोई दीवार, छत, परकोट, प्रहरी कहीं दिखायी नहीं पड़ा। विक्षिप्त नागिन-सी धरती की तहों को तराशती हुई निकलती ही चली गयी।

. . सूर्योदय की बेला मे, नूतन वसन्त की हरियाली आभा में मंडित, जिस कानन-भूमि में अपने को विचरते पाया, उसके भूगोल का कोई अनुमान पाना शक्य नहीं लगा। . . नाना रंगी फूलों की छाया से चित्रित इस सारे आकाश-वातास में एक विचित्र दूर-देशीय गन्ध व्याप्त है। वहाँ दूर पर जो हरियाले टीले दिखायी पड़ रहे है, उनकी तृणाली में कहीं गायें चर रही हैं, तो कहीं भेड़-बकरियाँ। लाल-पीली ओढ़नी ओढ़े कोई एकाकिनी लड़की चौपायों को हाँक दे रही है। कौन विदेशिनी है यह कन्या ? क्या कहीं इसका कोई घर होगा ? लग रहा है, टीले में से ही जन्म लेकर वह वहाँ खड़ी हो गयी है। उस तृणाली के अन्तराल में जो आकाश झाँक रहा है, वही उसका घर है। हाय, वह कितनी अकेली है ! क्या वह भी मेरी तरह अपने ही को खोज रही है ? . . टीले के पर पार से बाँसुरी का गान सुनायी पड़ रहा है। लड़की चौंक उठी है। . . अरे इस निर्जन में उसे किसने पहचान लिया है ? . .

. . नहीं, इस पहचान के देश में नहीं ठहरना चाहूँगी। . . और मैं तेजी से भागती हुई, अपने ही से भागती हुई, जाने कितने वन-प्रदेशों के सुरम्य छाया-प्रान्तर पार कर गई। . . दिन चढ़ आया है। सामने दिखायी पड़ी है, एक वन-पुष्करिणी। प्राकृतिक श्वेत पत्थरों के घाटों से वह घिरी है। पीले कमलों की सोनल केसर उस पर नीहार-सी टँगी है। सरसी के जल में पैर डाल कर, उसके घाट पर बैठ गयी हूँ। एकाएक अपने ही मुखड़े की परछाँही देख कर काँप उठी हूँ। . . यह कौन मायाविनी है ? नहीं, नहीं पड़ूँगी इसके सम्मोहन-जाल में। यह पुष्करिणी की सौन्दर्य-देवता मुझे आत्म-विमोहित किये दे रही है। पर हाय, इससे बच कर निकलना कठिन हो गया है ! किसे पुकारूँ इस निर्जन में, कौन मेरा त्राण करेगा इस मोहिनी से ? . . और आँख मींच कर मैं अपने बावजूद चीख उठी . . !

. . आँख जब खुली तो देखा, कि एक अति रमणीय विमान की छत पर एकाकी खड़ी उड़ी जा रही हूँ। नीचे पड़ी धरती का सारा भूपट ऐसा लगा, जैसे एक विशाल चित्र कुछ सूक्ष्म रेखाओं में सिमटता जा रहा है।

औचक ही किसी पदचाप से चौंक कर पीछे देखा। . . एक रत्न-किरीट धारी सुन्दर युवा सामने खड़ा है। . . सहसा ही उसने सम्बोधन किया :

'सुन्दरी, वैताढ्यगिरि का विद्याधर वसन्त-मित्र, तुम्हारी एक चितवन का प्रार्थी है ! '

मेरी सारी नाड़ियाँ झनझना उठीं। सूखे पत्ते-सा थरथराता मेरा शरीर, मानो अभी-अभी झर पड़ेगा। उस सुन्दर युवा की रातुल कमल-सी सुन्दर आँखों में जो आर्त तृषा देखी, वह मेरे लिए सर्वथा नयी थी। सुन्दर रूप की आरसी में, ऐसा असुन्दर और कुरूप भाव मैंने कभी नहीं देखा था। पद्मराग मणि के प्याले में जैसे कोई पिघली हुई विषाक्त ज्वाला लपलपा रही थी।

. . हठात् दो सशक्त पुरुष-भुजाएँ फुँफकारते पीले नागों-सी मुझे घेर लेने को बढ़ीं। और मैं बिजली की तरह कड़क कर, उड़ते विमान तले गुजर रही, एक खन्दक में कूद पड़ने को हुई।

. . तभी एक कोमल नारी-कण्ठ की आह, अचानक सुनायी पड़ी। . . विद्याधरी मदनवेगा ने आ कर अपनी बाँहों में मेरी कूदने को उद्यत काया को जकड़ लिया था। क्रुद्ध भृकुटियों से उसने अपने विद्याधरराज की भर्त्सना की, पर बोली कुछ नहीं। विद्याधर धरती में गड़ रहा। विद्याधर मेरी काया की अग्निलेखा को देख कर भयभीत, स्तंभित हो रही। उसके संकेत पर विद्याधर ने विमान धरती पर उतारा। . . मैं तत्काल छलाँग मार कर एक चट्टान पर कूद पड़ी। . . पलक मारते में विद्याधर का विमान अदृश्य हो गया।

. . एक भयावह निर्जन अरण्य मे, अकेली इस चट्टान पर खड़ी हूँ। सल्लकी और बाँसों की घनी अरण्यानी में, वनस्पतियों की आदिम सुगन्ध से भरी ईषत् गर्म हवा सीटियाँ बजा रही है। . . मनुष्य का यहाँ कोई चिह्न नहीं दिखायी पड़ता। वनौषधियों की झाड़ियों में, सुगन्ध से मूर्च्छित भयंकर नागों के युगल रतिक्रीड़ा में लीन है।

' . . ओ आरण्यक, समझ रही हूँ, इसी सर्प-सकुल कुटिल अटवी में से तुम्हारा मार्ग गया है। भय की इसी भुजंगम घाटी में, आज ग्यारह बरस हो गये, तुम दुर्दान्त वेग से भ्रमण कर रहे हो। . . पर मानवीय रूप मे यहाँ कोई तुम्हारा आकार-प्रकार शेष नहीं है। निरी नग्न मृत्यु के इस भयारण्य में, भालुओं, रीछों, सरिसृपों के बीच तुमने मुझे ला पटका है। और स्वयं आप जाने कहाँ चम्पत हो ?

' . . नहीं, मुझे तुम्हारी रक्षा और शरण की जरूरत नहीं। मै तुम्हारी खोज में नहीं, अपनी खोज में आयी हूँ। और इस संकट की घाटी मे, मुझे तुम्हारा नहीं, अपनी मौत का इन्तजार है। मेरे रक्त के प्रत्येक स्पन्दन में इस क्षण केवल विनाश की वीणा बज रही है।' . . नहीं, अब धीरज नहीं है। देह का रोंया-रोंया नरक के सेम्र वृक्षों के तीर-फल जैसे पत्तों की तरह धारदार हो कर, अपनी ही मांस-पेशियों को तराश रहा है। . . . पीड़ा की सर्प-कुण्डली में गुंजल्कित होती हुई, अपने एक-एक साँधे को जैसे ऐंठ कर तोड़े दे रही हूँ। . . मूर्च्छा के ये नीले-हरे-हिलोरे, जाने किस काले पानी की ओर मुझे ढकेल रहे हैं। लगा कि अभी थोड़ी ही देर में इस अस्थि-पंजर

से मुक्त हो जाऊँगी।

. . अचानक एक तीर सन्नाता हुआ मेरा आँख के कोने के पास से गुजर गया। पलक मारते में मेरा होश जाता रहा। . . होश में आने पर देखा, वह काला भयंकर अरण्य, स्वयं देह धारण कर मानो सामने खड़ा है।

'. . भीलराज, क्या चाहते हो ?'

'अपनी वनदेवी की आराधना करते उमर बीत गयी। . . आज साध पूरी हुई। मेरी नागकन्या मेरे लिए प्रकट हो गई !'

भील की आँखों में इस सारे हिंस्र जंगल की भूख दहाड़ती दिखायी पड़ी। सारी चराचर सृष्टि की चिर अतृप्त वासना। काश, इसे तृप्त कर सकती ! पर अपनी इस एक स्वल्प, लचीली, नाजुक काया को ले कर, क्या इस विराट बुभुक्षा को शान्त कर सकूँगी . . ? नहीं, इस काया की सीमा में वह सम्भव नहीं। क्या मेरे इस शरीर के भीतर, कोई ऐसा दूसरा शरीर नहीं, जिसका पार न हो, अन्त न हो ? अपने को जानती ही कितना हूँ ? शायद किसी दिन . .।

किरातराज चण्डकाल ने कई दिन अनेक तरह से मेरी सेवा-परिचर्या की। मुझे बहलाया-भुलाया। वन-फूलों के बिछौने बिछाये, वनौषधियों की दिव्य मदिराएँ सामने धरीं। . . रक्षा और चिर सुख का आश्वासन दिया। . . पर क्या करूँ, मैं उसका मनचीता न कर सकी। रात-दिन उसी तप्त चुभीली चट्टान पर पड़ी उस भील की कातर आर्त विकलता को देखती रहती थी। वनचारी जंगली हो कर भी, वह बलात्कारी नहीं था। पर सर्प जिस वासना से दंश करता है, बिच्छू जिस पीड़ा से उमड़ कर काट लेने को विवश होता है, भालू के पंजे जिस हिंसा से विवश हो कर फाड़ खाने को लाचार हो जाते हैं, वही बेबस और रक्तात्त हिंस्रता उस भील की आँखों में सुलगती रहती थी। काश, प्राणिमात्र के रक्त में चिरकाल से जल रही इस पिपासा की दावाग्नि को सदा-सदा के लिए शान्त कर सकती। . . मेरे कुँवारे स्तनों में यह कैसा दूध का पारावार-सा उमड़ता है ! हाय, यह अज्ञानी भील क्या मेरी इस पीर को समझ सकेगा ? . .

. . कई दिनों बाद भील हार कर मुझसे बोला : 'चलो सुन्दरी, तुम्हें तुम्हारे देश पहुँचा आऊँ !' . . सोचा : क्या सचमुच यह जंगली बर्बर पुरुष मेरे उस देश का पता जानता है, जहाँ जाने को जगत की सारी माया-ममता त्याग कर निकल पड़ी हूँ ? . .

दासियों की दासी चंदना

एक विशाल सुन्दर नगरी के चौराहे पर पहुँच कर, भील ने मुझे बैल से उतरने को कहा। उतर कर पाया कि अपने जैसी ही कई अनाथ, सर्वहारा, देश-देश की सुन्दर स्त्रियों के बीच घिरी खड़ी हूँ। भील ने उस नारी-समूह के सरदार से कुछ बातचीत की : फिर कुछ सुवर्ण मुद्राएँ पा कर मेरी ओर तरसभरी आँखों से देखता, वह नगर की भीड़ में खो गया। . . थोड़ी ही देर में पता चल गया कि यह जगत-विख्यात विलास-नगरी कौशाम्बी का दासी-पण्य है। और मैं दासियों के सौदागर के

हाथ बेच दी गयी हूँ।

. . जो हुआ है, ठीक ही तो हुआ है। बचपन से ही आर्यावर्त के दासी-पण्यों के बारे में सुनती रही हूँ। मनुष्य की निराधार, अनाथ, नाम कुल-गोत्रहीन, सुन्दरी बेटियाँ इन पण्यों में बेची जाती हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्णों के उच्च कुलीन, अभिजात वर्गीय लोग अपने सुवर्ण के मोल इन रूपसियों को खरीद कर अपने अन्तःपुरों में सेवा-दासियों के रूप में रखते हैं। क्षत्रिय राजन्यों, और धनकुबेर श्रेष्ठियों की सर्व मनोकामना पूर्ति के हेतु यज्ञ-यागादि करने पर, ब्राह्मण पुरोहित विपुल द्रव्य और भोग-सामग्रियों के साथ ही, कई-कई सुन्दरी दासियाँ भी दक्षिणा में पाते हैं। हमारी वैशाली में भी अभिजातों के घर क्रीत दासियाँ तो होती हैं, पर वहाँ उनका शोषण-पीड़न उतना नहीं होता। कोई अत्याचार बलात्कार भी नही। यथा-सम्मान सेविका के रूप में वे रहती हैं। . . पर सुनती रही हूँ, अन्य महाराज्यों में मनुष्य की इन लावारिस बेटियों पर अमानुषिक जुलम-जोर- अत्याचार होते हैं। सत्ता-प्रमत्त राजन्यों और श्रेष्ठियों के महालयों में, तथा दक्षिणा जीवी मालदार याजनिक श्रोत्रियों के घरों में, वे उनकी दुर्मत्त भोग-लालसाओं की आखेट हो कर रहती हैं।

ठीक ही तो आयी हूँ, अपनी इन चिर काल की बिछुड़ी बहनों के बीच। इनकी जीवन-कथाएँ प्रायः अपनी दीदी-महारानियों से सुन कर मेरे प्राण हाहाकार कर उठते थे। अपने कमरे में जा कर पड़ जाती, और आँचल मुँह मे दे कर फफक-फफक कर रोती थी। इनके दुर्भाग्यों और विपत्तियों की करुण गाथाएँ मेरी समूची चेतना को हताहत कर देती थीं।

मेरी धमनियाँ प्रचण्ड प्रतिकारी रोष और विद्रोह के लावा से उबलने लगती थीं। . . आज अपने को अपनी इन बहनों के साथ दासी-पण्य मे बिकने को खड़ी पा कर, मेरी छाती में ऐंठती चिर दिन की एक मर्म-पीड़ा को जैसे गहरी शान्ति मिली। . . उनके सुन्दर निर्दोष मुखड़ों, उनकी भोली-भाली निरीह ऑखों, उनके अनिश्चित, अरक्षित भाग्य-भविष्य को खुली आँखों सामने देख कर, अपने कुलीन रक्त के प्रति मेरे धिक्कार का अन्त नहीं था।

ठीक ही तो हुआ। . . अपने ही राजवंशी रक्त के शताब्दियों-व्यापी, पीढ़ियों-व्यापी अनाचार का बदला, अपने ही हृदय के खून से चुकाये बिना आज क्षण भर भी चैन नहीं है। उनमें से हर लड़की अपने आप में एक मूक वेदना का द्वीप बनी खड़ी थी। आर्यावर्त के समर्थों के पशुत्व ने, उनको निरी लाचार आखेट-पशु बना छोड़ा था।

टुकुर-टुकुर एक दूसरी को ताकती, वे अपने अन्धे भविष्य की अँधेरी खन्दक में ढकेल दिये जाने की प्रतीक्षा में थी। एक नरक से निकल कर, दूसरे नरक में फेंक दिया जाना ही, उनके जीवन का एकमात्र अभिक्रम था। उन सब की ओर देखती. मै अकुला कर मन-ही-मन बोली ·

'मेरी प्यारी बहनो, सदियों से जो निर्घृण अत्याचार तुम पर अभिजात कुलीनों ने किये हैं, उन सब का बदला तुम मुझ से जी भर चुकाओ। मैं आर्यावर्त के चूड़ामणि राजवंश इक्ष्वाकुओं की एक बेटी हूँ। मेरी नसों में ऋषभदेव, भरत, रघु और राम का रक्त बहता है। और मैं तुम्हारी एकमात्र अभियुक्त हो कर तुम्हारे सामने खड़ी हूँ। जो चाहो दण्ड मुझे दो, सहर्ष झेलूँगी। भारतों के समस्त इतिहास में व्याप्त, तुम्हारे शोषण-पीड़न का प्रतिशोध लेने को, सूर्यवंश की इस जाया का रक्त कम नहीं पड़ेगा। जो तुमने और तुम्हारी पीढ़ियों ने आदिकाल से भोगा है, उस नरक का

सहर्ष वरण करने आयी हूँ। ताकि उसे तलछट तक जानूँ, जीऊँ, भोगूँ, और उसके मूलों को अपनी नसों में धारण कर, अपनी आत्माहुति से ही उन्हें निर्मूल जला कर भस्म कर दूँ। . .

'वर्द्धमान, आर्यावर्त के चौराहों पर मूक रुदन से बिलखती, इन सहस्रों अनाथिनियों को त्राणहीन दशा में छटपटाती रहने को छोड़ कर, तुम किस मुक्ति की खोज में, निर्जनों में भटक रहे हो ? लोक में जीवित मानवता को, मनुष्य द्वारा ही रचे गये फाँसी के फंदों से जो मुक्तात्मा नहीं छुड़ा सकता, उसकी लोकोत्तर मुक्ति का मेरे मन कौड़ी भर मूल्य नहीं। उसका अनन्त ज्ञान और अनन्त वीर्य मुझे आज पुंसत्वहीनता का एक पर्याय ही लग रहा है। क्या कोई पुरुषोत्तम हो कर, आदिकाल के पीड़ित लोक से यों पलायन कर सकता है ? . .

'नहीं मान, मुझे तुम्हारी जरूरत नहीं। अपने लिए, और अपनी इन सहोदराओं के लिए मैं ही काफी हूँ। कहा न, अपनी खोज में निकली हूँ, तुम्हारी नहीं। और इन खाँचियों निर्दोष सुन्दर आत्माओं के जख्मों में, अपना पता कुछ-कुछ पा गयी हूँ। इनकी भय, आरति, और आसन्न पीड़न-बलात्कार से काँपती-थरथराती नसों मे मैने अपनी जाग्रत जीवनी-शक्ति का परिचय पाया है। इनकी आशाहीन अँधियारी आँखों की आरसी मे मैने अपना एकमेव चेहरा स्पष्ट देख लिया है। इनके साथ मैं भी बिकूँगी, और इनकी ही तरह अपने अन्धे भाग्य को, किसी धन-सत्ता के अँगूठे तले दब कर एक बार भरपूर भोगूँगी। देखूँगी, कि उस अँगूठे मे कितना बल है, उसके बलात्कार की सामर्थ्य कितनी दूर तक जा सकती है।

'मेरी महारानी-दीदी मृगावती, तुम्हारी ऐश्वर्य-नगरी कौशाम्बी के चौराहे पर, तुम्हारी लाड़िली बहन चन्दनबाला दासी-पण्य में बिकने को खड़ी है। . . वत्सराज उदयन, तुम्हारी मातंग-विमोहिनी वीणा का संगीत-सौन्दर्य नारी-निर्यात के रक्त मे नहाया हुआ है। तुम्हारी चन्दन मौसी, तुम्हारे अजेय विक्रम-प्रताप, कला, और प्रणय-लीलाओं की छाँव मे नीलाम पर चढ़ी है . . !

'उदयन के मौसेरे भाई वर्द्धमान, सुनो,' मै तुम्हें नही पुकारूँगी ! . .



वृषभसेन श्रेष्ठि की इस हवेली मे रहते, कितने दिन, मास, वर्ष बीत गये है, उसकी गिनती मेरे पास नहीं है। जिस क्षण तुम्हें पहली बार देखा था, मान, उसी मुहूर्त मे बाहर के समय का भान मानो चला गया था। भीतर के समय में ही तब से जीवन की यह विचित्र यात्रा आरम्भ हो गयी थी। . . कष्ट की काली रात के सिवाय और कोई पथ तुमने मेरे लिए नहीं छोड़ा था, महावीर ! तब बाहर के विषम चक्रावर्तों के समक्ष, भीतर के स्वसमय की शुद्ध क्रिया में जीने को मै विवश हो गयी थी। वह विवशता ही मेरे लिए वरदान बन गयी, यह तुम्हारे सिवाय कौन जान सकता है। भाषा-परिभाषा से परे के उस भवितव्य को केवल भोगते ही तो बना है। कष्ट की तो अवधि न रही, पर उसकी अवमानना मुझसे न हो सकी। तुम्हारी दी हुई दुःख की हर थाती को, छाती से चाँप कर, अपने भीने आँचल में उसे सहलाती रही। इतना सुख था उसमें कि कभी अणु मात्र भी कोई अनुयोग-अभियोग मन में नहीं आया। . .

बरसों पहले, उस दिन कौशाम्बी के दासी-चौहट्टे पर, श्रेष्ठि वृषभसेन का रथ एकाएक अटक गया था। निकट आकर एकटक वे मेरी ओर देखते रह गये थे। उस भव्य गौर वर्ण भद्र मुख पर एक विचित्र अनतिशय विषाद था। और उन आँखों में बिछल रहा था करुणा का समुद्र। अकारण वात्सल्य से आविल थी वह दृष्टि। नीलम के कण्ठहार से विभूषित अपने उस समर्थ क्रेता पर मुझे जाने कैसी दया-सी आ गयी थी ! श्रेष्ठि मौन ही रहे। कोई मोल-भाव उनके वश का नहीं था। आँख के एक इंगित पर, सौदागर का मुँह माँगा मोल उन्होंने उसकी हथेली पर रख दिया। . . मैं सहज ही अनुगामिनी हुई, और रथ में जा बैठी। दासी भाव से सिर झुका कर ही अपने भाग्य को समर्पित हुई थी : लेकिन सहसा ही बोध हुआ था, कि स्वामिनी हो कर ही रथ पर चढ़ी हूँ।

श्रेष्ठि वृषभसेन की सेठानी, सुन्दरी दासी को सामने पा कर चौकन्नी हो गयी। उन काली-पीली आँखों की वह कराल दृष्टि आज भी भूली नहीं है। भाग खड़े होने को जी अकुला उठा था। पर क्रीता दासी के जी जैसी कोई चीज कैसे हो सकती है ! अपनी नियति को शिरोधार्य कर, आज्ञा पालन को प्रस्तुत हो गयी।

श्रेष्ठि निःसन्तान थे। देखती थी, मुझे पुत्री के रूप में पा कर वे भर आये थे। घर की दासी होने के कारण, गृह-स्वामिनी मूला सेठानी के शासन में ही मुझे रहना होता था। एक तो दासी होने के कारण ही, स्वभावतः मालकिन के अपमान, उपेक्षा और दण्ड-ताड़न की पात्र ही हो सकती थी। तिस पर दासी अनन्य रूपसी थी, सो सेठानी के तिरस्कार और डाह का अन्त नहीं था। सेठानी के घायल गर्व की तुष्टि के लिए, मुझसे अच्छा आखेट और कहाँ मिल सकता था। सो मुझे निकाल बाहर करना भी उन्हें सह्य नहीं था। मेरा प्रतिपल अपमान, तिरस्कार, शोषण, पीड़न करके, जो तृप्ति वे अनुभव करती थीं, वह अन्यथा कैसे सम्भव थी।

फिर मुँह माँगे मोल पर खरीद कर लायी गयी थी, सो मेरी हर बोटी से, हर पल दाम तो वसूल करना ही रहा। मुझे निकालना हर तरह से सेठानी के लिए बहुत घाटे का सौदा था। पर श्रेष्ठि की सहज स्नेह-भाजन पुत्री के रूप मे ही क्यों न हो, एक सुन्दरी कन्या को यों विनत-नयन, स्वामी की तनिक-सी सेवा करते देख कर भी, सेठानी के तन-बदन में आग लग जाती थी। हाय रे मानव मन, विचित्र कुटिल है तेरी गति ! कषायों द्वारा प्रति पल अपने पीड़न में भी तू कितना गहरा रस लेता है ! मानो कि कषायों और परितापों के सहारे जीना ही तेरा एक मात्र सुख हो गया है। . .

इस हवेली मे आ कर, कुछ समय मे ही समझ गयी थी, कि वयोवृद्ध श्रेष्ठि के हृत्तल में कहीं बहुत गहरे एक रिक्त निरन्तर टीस रहा है। उनकी आँखों में एक विचित्र शून्यमनस्कता और उदासी सदा बनी रहती थी। मानो एक अन्तहीन वीरान में उनका जी सदा खोया-भटका रहता था। कई बार एकान्त में उनकी शून्य मुद्रा देख कर मेरा मन हाहाकार कर उठता था। बचपन से ही ऐसी प्रकृति पायी थी, कि किसी का भी कष्ट मुझ से देखा नहीं जाता था। जी चाहता था कि हर पीड़ित जन की पीड़ा मे भाग ले सकूँ। उसकी वेदना मेरी हो जाती थी, और उसे दूर न कर सकूँ, तो मुझे चैन नहीं आता था।

इस हवेली में आकर थोड़े ही दिनों में समझ गयी थी, कि श्रेष्ठि सारे सुख-सद्भाव और

वैभव के होते भी, यों उचाट क्यों रहते थे। सन्तान के अभाव से अधिक, उनके कष्ट का कारण यह था कि वे अपने को नितान्त अकेला पाते थे। मूला सेठानी स्वभाव से ही शुष्क, भावहीन और कर्कशा थी। नारी-सुलभ स्नेह, सहानुभूति और ऊष्मा का उनमें सर्वथा अभाव था। कारण-अकारण वे अपने स्वामी पर सदा बिगड़ती रहती थी। छोटी सीधी-सी बात का भी वे बहुत कर्कश स्वर में वक्र उत्तर ही देती थीं। दम्पति के बीच आत्मीय आदान-प्रदान का कोई सेतुबन्ध था ही नहीं। पारस्परिक प्रीति, सहानुभूति और समझ जैसी कोई चीज वहाँ थी ही नहीं। युगल दाम्पत्य वहाँ घटित ही नहीं हो सका था।

स्वभाव से ही अति मृदु, वत्सल और धार्मिक प्रकृति के श्रेष्ठि चुप रह कर सब कुछ सहते रहते थे। इतने मर्यादावान और विवेकी थे वे, कि अपने अधिकार-क्षेत्र से बाहर कहीं अपने अभाव की पूर्ति खोजना उनके वश का ही नही था। जब मैं इस घर में आ गयी, तो पाया कि उनके चित्त का सारा चिर उपेक्षित स्नेह-सद्भाव मुझ मे केन्द्रित हो गया है। वे मुझे बेटी की तरह मानते थे, और चुपचाप एकान्त भाव से मेरी सम्मान-रक्षा , मेरे हित-साधन और आश्वासन की मूक चेष्टा वे करते रहते थे। उनके वात्सल्य की इस अन्त सलिला को अपने भीतर प्रवाहित होते मैंने स्पष्ट अनुभव किया था।

एक बार अवसर पा कर उन्होंने मेरे देश-गॉव, कुल-नाम-गोत्र, माता-पिता और कष्ट की कथा को जानने के भाव से सांकेतिक पृच्छा की थी। सायंकाल के अधोमुख कमल की तरह नतशिर, मूक, उदासीन मैं चुप खड़ी रह गयी थी। मेरा सारा हृदय उमड़ कर मेरे ओठों पर जैसे एक चिरकाल की बन्द मंजूषा पर लगी निषेध-मुद्रा सा अंकित हो रहा था। मेरा निरुत्तर कठोर खामोशी से उनके हृदय पर जो आघात हुआ, उसे मैने मन-ही-मन बूझ लिया। मेरे मुँह से इतना ही अस्फुट स्वर निकला :

'बापू, मुझे कोई दु ख नही, अभाव नही। आप है, फिर चिन्ता किस बात की ! मै बहुत भाग्यशाली हूँ।. . '

इसके उपरान्त मैने देखा था, कि वे बहुत प्रसन्न परितुष्ट और सक्रिय रहने लगे थे। उनके चेहरे की उदासी और वीरानी गायब हो गयी थी। एक निरुद्वेग, प्रसन्न शान्ति उनके मुख पर विराजित दीखती थी।

एक दासी अपनी सीमा-मर्यादा मे रह कर उनकी जो भी सेवा-संभाल कर सकती थी, वह मुझसे सहज ही होती थी। वस्तुतः गृह-दासी होने के कारण, मैं गृह-स्वामिनी के अधिकार-क्षेत्र की बन्दिनी थी। उनका आतंक इतना भयावह था कि उस घर के साये मे प्रवेश करते हुए आकाश की मुक्त पंखिनी भी डरती थी। भूल से आ जाये तो उसकी बोली बन्द हो जाती, उसके पंख मानो कट से जाते। एक दासी के नाते उच्छिष्ट या बासे अन्न पर ही मेरा निर्वाह था। पर अन्न जीविता मुझ में आरंभ से हो नहीं थी, सो बचे-खुचे फल-मूल से ही मै सन्तुष्ट हो रहती थी।

श्रेष्ठि चुपचाप मेरी अचूक परिचर्या, अखूट धैर्य और सहिष्णुता को देख कर बहुत कातर विगलित दिखायी पड़ते। कई बार एकान्त का अवसर पा कर वे कपिशा के अंगूर या सुदूर गान्धार के दुर्लभ फलों की छोटी-सी टोकनी दुबका कर मुझे दे जाते। मुझे लगता था कि कभी भी लंका-काण्ड हो सकता है। और बापू के चिर मर्माहत हृदय को मरणांतक आघात लग सकता है।

सो एक दिन मैंने धीरे से कह दिया :

'बापू, इस तरह क्या इस घर में मुझे कोई रहने देगा ? यह क्या कम है, कि आपके वात्सल्य की छाँव में, व्याध के तीर से त्राण पा कर, एक नीड़हारा पंखिनी सुरक्षित है। आपकी सेवा करने का भाग्य मेरा नहीं, पर आपकी आँखों आगे हूँ, यही मुझ अभागिनी के लिए क्या कम सन्तोष की बात है ? . . और किसी दिन निकाल बाहर कर दी गयी तो, . . तो . . तो . . तुम्हारा क्या होगा . . बापू . . ?'

इसके बाद मेरे लिए चीज-वस्तु लाना उन्होंने बन्द कर दिया था। पर देखती थी, मेरे तिरस्कार, अपमान और उपेक्षा को देख कर उनका हृदय सदा टीसता रहता था। मैं उनके पूजा-गृह की परिचर्या करती, अपने हाथों सब झाड़-पोंछ कर, उपकरणों को धो-माँज कर रखती। बाग की कुइया में से प्रासुक जल का भृंगार भर ला कर रख देती। पूजा के फूल-फल, दीप, धूप, नैवेद्य सब सजा कर रख देती। ब्राह्म-मुहूर्त में किसी के उठने से पहले ही यह सारी व्यवस्था मैं चुपचाप कर देती थी। किसी को पता ही नहीं चल पाता था। उसके उपरान्त अपने सामायिक ध्यान मे बैठ जाती। गृहचर्या आरम्भ होते ही, दासी ठीक समय पर सेठानी की चाकरी में हाजिर हो जाती। मैने देखा कि मेरी इस अदृश्य सेवा से बापू गहरी तृप्ति आर शान्ति अनुभव करने लगे थे।

किन्तु कुटिल नियति, सारी सावधानियों को विफल कर, किस समय घट-स्फोट कर देगी. कौन जान सकता है। कैसी षड्यंत्री हो कर आयी थी, ग्रीष्म की वह भयावह दोपहरी ! . . बापू को उस दिन अपने गाँव-खेतों से लौटने मे बहुत अबेर हो गयी थी। भोजन के उपरान्त घर में सब विश्राम करने जा चुके थे। बापू का निजी भृत्य भी योगात् सो गया था। उस सन्नाटे मे ओसारे के एक खम्भे के सहारे बैठी मै सचिन्त भाव से बापू की प्रतीक्षा कर रही थी। उनके मरने-जीने की चिन्ता करने वाला इस संसार मे कोई नहीं था, यह मै अच्छी तरह जानती थी।



. . मध्याकाश में जेठ का सूरज तप रहा था। प्रचण्ड लू भरी उस दुपहरी मे एकाएक बापू सहन में दिखायी पड़े। उनके पैर धुलाने को वहाँ कोई नहीं था। वे पसीने से तर-बतर, धूल-धूसर देह और चेहरे के साथ, बहुत मलिन, विषण्ण और क्लान्त दिखायी पड़े। उनकी वह निरीह, कातर मुद्रा मुझे असह्य हो गयी। क्या उनके लिए संसार में किसी को प्रतीक्षा नहीं . . ?

मुझ से रहा न गया। उठ कर आँगन के कदली-क्यारे के पास चौकी बिछा दी, और कुम्भ मे जल तथा तौलिया लेकर खड़ी हो गयी। माँ के आँचल की झलक पाते ही, जंगल मे भूला-भटका बालक आश्वस्त हो जैसे पास ढलक आये, वैसे ही बापू चौकी पर आ खड़े हुए। मैं कुम्भ से जल धारा उनके पैरों पर डालने लगी। . . क्षण भर मन-मन ही सोचा—इन चरणों को अपने हाथों धो सकूँ, ऐसा भाग्य मेरा कहाँ ? मेरी आँखे उमड़ आयी। मुझ से रहा न गया, मै चुपचाप उन चिर श्रान्त गौर चरणों को अपने हाथों से धोने लगी। आँखें उमड़ती ही चली आयी। आँसू छुपाने को ग्रीवा एक ओर मोड़ ली कि तभी मेरे ढेर सारे काले-काले, भँवराले लम्बे केशों का जूड़ा खुल कर,

सारी केशराशि बापू के पैरों पर आ गिरी और क्यारे की कीचड़ में उन केशों के छोर सन गये। बापू से रहा न गया, उन्होंने तुरन्त ही मेरे केशों को दोनों हाथों से सादर उठा कर, मेरे कन्धे पर डाल दिया। . . इसके पहले कि मेरी सिसकी फूट पड़े, मैं द्रुत पग वहाँ से भाग खड़ी हुई।

. . पता नहीं कब कैसे मूला सेठानी जाग उठी थीं, और अपने कक्ष के अलिन्द पर से उन्होंने यह दृश्य देख लिया था। . . साश्चर्य उसी साँझ अचानक देखा कि बापू को जाने किस अज्ञात बाध्यता के कारण कुछ दिनों को कौशाम्बी से बाहर चले जाना पड़ा है। . . अगले दिन बड़ी भोर ही अनभ्र वज्रपात-सा स्वामिनी का आदेश सुनायी पड़ा :

'आओ महारानी, तुम्हारे काले-कुटिल केशों के इन नागों को नागलोक पहुँचा दूँ, नहीं तो मेरे घर का सर्वनाश हो कर रहेगा।'

मैं समझ गयी, किस मूल मे से यह विष उमड़ आया है। संज्ञाहत, शून्य, स्तंभित हो रही। . . अगले ही क्षण मेरी गर्दन ढकेल कर नापित की कैंची के नीचे ठेल दी गयी। चन्दना के जिस केशपाश से देवी आम्रपाली तक ईर्ष्या करती थी, वह विपल मात्र मे कट कर उसकी आँखों आगे ढेर हो गया। पिटारी मे बन्द करके नागों को रसातल पहुँचा दिया गया। . .

अत्यन्त मोटा खुर्दरा वसन मुझे पहना दिया गया। आँखों पर पट्टी बाँध कर स्वामिनी के आदेश पर, हवेली के तहखाने की एक अंधी कोठरी मे मुझे ढकेल दिया गया। तब आँखों की पट्टी उतार दी गयी. और मेरे पैरों मे लोहे की बेड़ियाँ डाल दी गयी। मुडित केशी, बन्दिनी दासी चन्दना के इस स्वरूप को देख कर मुझे एक विचित्र मुक्ति अनुभव हुई। . समस्त आर्यावर्त की हजारों दीन-दलिला अपनी दासी-बहनों के शतियो व्यापी आमरण कष्ट निर्दलन के एकीभूत प्रतिशोध की पात्र आज मै यथेष्ट रूप मे हो गयी हूँ।

'. . ओ परम सत्य, ओ परम न्याय, तुम कहीं हो अस्तित्व मे तो देखना, यह प्रतिशोध मेरा तिल-तिल दहन कर अचूक सम्पन्न हो। दासियों की दासी चन्दना का यह यज्ञ अमोघ हो, कोई कसर न रह जाय।

निर्जन निराहार उन्निद्र दिन रात बीतने लगे। डाँस-मच्छर, कीडे-मकोड़े, बर्र-ततैये तथा विचित्र सरीसृपों की इस तमसाच्छन्न सृष्टि मे पाया, कि मेरा एकाकी जीव जाने कितने भव-भव के बिछुड़े जीवों का संग साथ सहसा हो गया है। जीवों के परस्पर उपग्रह की निर्बाध और नग्न अनुभूति सतत भीतर संचरित रहने लगी। भूखा-प्यासा तन बदन निढाल समर्पित, अवश भाव मे धूल भरे फर्श की शिलाओं पर पड़ा है। और उस अक्रिय निश्चेष्टता मे, नाना जीव जन्तुओ के तरह-तरह के दंश, चुभन, पीडन, सरसराहटों को अवारित भाव से सहना ही मेरा एकमात्र सुख हो गया है। देह के अणु अणु मे अपने को निःशेष दे देने की, चुका देने की ऐसी विकल वेदना उमड़ती रहती है, कि कहने मे नहीं आती। किसी चुम्बन, आलिंगन, अथवा शिशु के ओठों मे उमड़ते माँ के स्तन की आनन्द-वेदना क्या ऐसी ही नहीं होती होगी ? . .

एक तन्द्राच्छन्न झिल्ली-रव मे स्तब्ध मेरी चेतना मे, विगत जीवन की सारी चित्रमाला, छाया-खेला की तरह खुलती रहती है। उस दिन तुमने कहा था, मान .

'तुम कितनी सुन्दर हो, मौसी ! ऐसा सौन्दर्य यदि कहीं भी है, तो मेरे लिए विवाह अनावश्यक है !'

. . और उसके बाद कहने में तुमने कुछ भी तो शेष नहीं रहने दिया था। निःशब्द, निर्विचार हो गयी थी सुन कर। केवल इतना ही बोध शेष रह गया था : मेरा नियति-पुरुष बोला है ! अचूक और अविकल्प है यह वाणी। . मेरा कर्तृत्व समाप्त हो गया है।

जाने कैसे समझ गयी थी, कि इस सौन्दर्य को पार्थिव मे सहेजा और सहा नहीं जा सकता। माटी के तन मे यह ज्वाला सिमटी नही रह सकती। उसे जला कर भस्म कर देगी, या उसे भी आग मे रूपान्तरित करके ही चैन लेगी। . खतरनाक हो तुम, ओ अनहोने युवान् ! निरन्तर ख़तरे मे जीने वाले तुम, मुझे अपने पीछे सुरक्षित जगत मे जीने को कैसे छोड़ जा सकते थे !

. . मेरा क्या वश था ! अपने बावजूद तुम्हारी सहचारिणी, अनुगामिनी हो कर रह गयी। हिंस्र वासना के खूँखार जंगलों और अन्धी खदकों मे अपने को विचरते देखा। जिस सौन्दर्य पर तुमने अपनी मुद्रा आँक दी थी, उसे अपनी ही आग मे तप कर, अपनी अस्मिता सिद्ध करनी ही थी। अन्तिम अन्धकार के लोक मे प्रवेश कर के ही जान सकी थी, कि एकमात्र इसी सौन्दर्य की रोशनी के सहारे तो मृत्यु मे भी चला जा सकता है ।

. हिंस्र जन्तुओं से भरे इस अँधियारे तलघर की तमसाकार दीवारे उग्र रूप का आईना बन गयी है। बेड़ियों मे बँधी पड़ी मुडिता दासी ने अपनी वासुकी अलकों के समुद्रिक वैभव को आज पहली बार पहचाना। तुम्हारे शब्द मिथ्या कैसे हो सकते थे, ओ काल पुरुष ! दासी भिक्षुणी हो कर मेरे सामने खड़ी है। इसे भिक्षा देने योग्य मेरे पास अब क्या बचा है ? सर्वस्व छीन कर भी तुम्हे चैन नही ? अब भी यदि मुझ मे कुछ अवशिष्ट बचा हो, तो ले लो। प्रस्तुत हूँ। निर्जन, निराहार, शिथिल हो रहे इस गात के तट पर यह कौन गरुड पंख मार रहा है ? कौन आया है इस वैनतेय पर चढ कर ?

शैशव मे इस क्षण तक की चन्दना एक समग्र जीवन्त चित्रपट की तरह सामने खुलती रहती है। खण्ड खण्ड स्मृतिया अब मुझे नही सता पाती। कभी कहाँ और थी, और तरह थी, और अब यहाँ इस अवस्था मे हूँ, ऐसी कोई टीस भी नहीं सताती। जो वहाँ थी, वही तो यहाँ भी हूँ। मेरे एक रक्ताणु मे वह सब जैसे एकत्र सिमट आया है। माँ, पिता, भाइ, भाभियाँ, परिजन, वैशाली के महल और वैभव, [illegible] कुछ तो जहाँ का तहाँ है। चाह कर भी चिन्ता नही कर पाती, कि मेरे उस आकस्मिक निष्क्रमण मे मेरे आत्मीयों पर क्या बीती होगी, बीत रही होगी ? मेरे विछोह का कितना गहरा आघात मेरी वृद्धा माँ को लगा होगा ? क्या करूँ, कोई शोक सन्ताप और विरह वेदन मेरे जी को विकल नही कर पाते। क्या जड़ हो गयी हूँ ?

ऐसा तो नहीं लगता। महलों का वह ऐश्वर्य प्रताप और यह कारावास, बहुत ही सचेतन और एकाग्र चेतना से एक साथ भोग रही हूँ। अपने वातायन की मेहराब पकड कर, सामने के नील अन्तरिक्ष मे तैरती, उस मलय कपूरी तरंगी बातास को, इस क्षण भी अपनी शिराओं मे ज्यों की-त्यों महसूस कर रही हूँ। सोचती हूँ, इन्द्रनील मणि के वातायन-रेलिंग पर जो ठहर नहीं पाती थी, उसे एक दिन चरम अन्धकार की खन्दक मे कूदना ही था। वहाँ से यहाँ तक, एक ही छलाँग मे तो चली आयी हूँ



वृद्धा दासी मनसा दूर से ही मुझ पर बहुत ममता रखती है। वह एक दिन आ कर तलघर के बंद द्वार की शलाखों पर बुदबुदा गई थी :

'हाय रे दैया, ऐसी सुन्दर कोमल लड़की कैसी विपद में आ पड़ी है ! सेठानी तो इसे बन्द कर उसी दिन पीहर चली गयी थी। सो अब तक लौटने के लक्षण नहीं। श्रेष्ठि को उस कर्कशा ने जाने कहाँ पठा दिया है, कौन जाने ? कितने दिनों से उपासी पड़ी है बिटिया इस काल-कोठरी में।' . . चोरी से भोजन ला कर, पुकारती हूँ, तो उत्तर तक नहीं देती। उस अँधेरे कोने में लाश बनी पड़ी है।'

उत्तर तो नहीं दिया, पर मेरी निर्जीव-सी हो पड़ी सारी देह मनसा मौसी के लिए व्याकुल-विह्वल हो उठी थी। आँसू उमड़ आये थे। मन-ही-मन फूटा था :

'. . और मौसी, तुम स्वयं ? तुम्हारा अपना भाग्य ? तुम भी तो चिर जन्म की दासी हो ? अपने दुःख-दुर्भाग्य को भूल कर मेरे कष्टों पर आँसू बहा रही हो ? कितनी बड़ी हो तुम मौसी ? आर्यावर्त की कोन महारानी तुमसे बड़ी हो सकती है ?'

एक सवेरे अचानक तन्द्रालोक की परतों को भेद कर सुनायी पड़ा :

'बेटी चन्दन, मैं आ गया, तुम्हारा बापू ! . . तुम्हारी यह दशा . . ?'

सींखचों पर सिर ढाल कर, बापू फफक-फफक कर रो रहे थे। . . सहा न गया। उठ कर आयी। आँख उठा कर मेरे उस रूप को देखना उनके वश का न था।

'नहीं बापू, ऐसे नही करते। . . देखो . . मेरी ओर . . मै हूँ न ! कही चली थोड़े ही गयी हूँ ?' . . बापू ठहर न सके। 'रुको बेटा, अभी ''ाया . .।' कह कर वे उलटे पैरों लौट पड़े।

जाने कब पाया कि द्वार खुल गया है। घर की भेदिया मनसा दासी ने कही से चाभी टोह निकाली होगी। . . रसोईघर में कहीं कुछ न मिला शायद। भंडार पर मजबूत ताले पड़े थे। बापू एक क्षण भी अब मुझे निरन्न छोड़ कर वहॉ से हटना नहीं चाहते थे। बहुत टटोल कर जो मिला वही तत्काल ले आये। एक सूप में कुलमाष धान्य के कुछ दाने। एक मिट्टी के कुल्हड़ में जल। . . मेरे सामने वह देहरी में रख कर वे भागे, बेड़ी काटने के लिए लोहार को बुलाने, बाजार से फलाहार लाने। मनसा मौसी भी किसी अन्य प्रबन्ध में व्यस्त हो गयी है कहीं।

पूर्वाह्न की धूप का एक टुकड़ा कोठरी की देहरी पर आ कर पड़ रहा है। . . कितने दिनों बाद आज मेरे लिए सूरज उगा है ? मेरा सूरज . . !

यह अन्न-जल तत्काल ग्रहण न करूँगी, तो लौट कर बापू दुखी होंगे। . . तुम्हारे दिये इस अमृत का प्राशन करती हूँ, बापू। बस इतनी ही देर है कि द्वार पर कोई अतिथि आ जाये। अतिथि-देवता मेरे इस भोजन को प्रसाद कर दें। . . क्या दासियों की दासी चन्दना के द्वार का अभ्यागत हो सके, ऐसा कोई जन मनुष्य के इस लोक में होगा ?'

'. . मेरे नाथ . . मेरे भगवान . . तुम कहाँ हो . . ?'

. . कहीं दूरी पर, कौशाम्बी के राजपथ से ये कैसी ध्वनियॉ सुनायी पड़ रही हैं। ध्वनियाँ पास से पासतर चली आ रही है :

'महाश्रमण वर्द्धमान की जय हो ! देवर्षि ज्ञातपुत्र की जय हो ! . . भगवान महावीर

की जय हो . . !'

'. . ओह, तुम आ गये, मेरे अतिथि ?'

किसी तरह सीखचे पकड़ कर खड़ी हो गयी। एक कदम से आगे तो बढ़ नहीं सकती। बेड़ी जो पडी है पैरों मे। एक पैर कोठरी मे, और एक पैर देहरी के पार धर कर ठिठकी रह गयी हूँ। सूप मे ये तुच्छ कुलमाष के दाने भर है। और यह माटी का कुल्हड भर पानी। मलिना, मुडिता, दीन दुखियारी दासी का यह दान ग्रहण कर सकोगे ? महालयों की नीव के इस अदृश्य, ऑधियारे कोने मे, तुम झॉक सकोगे, ओ त्रिभुवन के राजाधिराज ?

कहाँ है वह अश्रुमुखी राजबाला

उज्जायेनी की महाकाली की गोद से उतर कर जो चला, तो गगा-यमुना के सगम पर आ खड़ा हुआ हूँ। गन्धर्व नगरी कौशाबी की अभ्रकष प्रासाद मालाएँ। उनके नाना रगी रत्नदीपों की प्रभा यमुना के जामली जल मे झलमला रही है।

' वत्स देश की परम श्राविका महारानी मृगावती, तुम चौंक उठी हो ? नहीं, यह भिक्षुक तुम्हारे सिंहतोरण का अतिथि होने नही आया। उदयन, तुम्हारी मातग विमोहिनी वीणा शून्य ओर स्वरहारा हुई पडी है। वासवदत्ता के सिन्धु भैरवी रूप यौवन और मद-मातुल हस्तिवनों को पीछे छाड, तुम किन पथरीले बियाबानों म भटक रहे हो ? पर तुम्हारे द्वार-कक्षों और उद्यानों की शाल भजिकाएँ अकुला कर चलायमान हो उठी है। कोशाबी के महालयों के स्वर्ण शिखर नही, उनकी मानुष भर्री नीवो के टडे ऑधियारों का आवाहन मेरे पैरों को यहॉ खीच लाया है।

'महारानी मृगावती, तुम्हारे रत्न प्रतिमाओं वाले जिन मदिरों के शिलीभूत देवता मुझे आकृष्ट न कर सके तुम्हारे जीवन्त दासी पण्यों की जर्जार मेरी रक्तवाहिनियों मे झनझना उठी है। '

उसने कितने दिनों का उपासी है भिक्षुक। मायापुरी कौशाबी म कोन उसे आहारदान करेगा ? अरे यह किसने पुकारा

'मेरे नाथ मेरे भगवान तुम कहॉ हो ?'

अविज्ञात दूरी मे देख रहा हूँ एक महालय का तलधर। मुडित शीश, धूलि धूसरित, दीन-मलिन वसना कोई राजपुत्री। बेडियों मे पडी बन्दिनी। निष्कम्प दीपशिखा-सी प्राज्ज्वल्यमान सुन्दरी सती। बेडीबद्ध एक पेर काल कोठरी की देहरी के भीतर, दूसरा पैर बाहर। दोनों हाथों पर उठे सूप मे कुलमाष धान्य के दाने। माटी के कुल्हड मे निर्मल जल। जाने कब की उपासी, भूखी प्यासी। उसकी आखों से बह रहे है अविरल ऑसू।

'कौन हो तुम ? कहॉ हो तुम, ओ कल्याणी ? कामिनी और काचन के सौ-सौ परकोट पड़े है हमारे बीच। रोते-बिलखते, मूक पशु की तरह जूआ ढोते दासत्व की जाने कितनी पीढियॉ

राशिबद्ध हो कर पड़ी हैं हमारे बीच। आदिकाल की सन्तप्त, चिर शोषित मानव-सन्तानों के दुःख-परितापों और घटे आँसुओं के घुँघुवाते समुद्र पड़े हैं सामने। इन सब में से संक्रान्त होकर ही तो पहुँच सकूँगा, तेरे द्वार पर, ओ कारावासिनी आत्मा!'

कौशांबी के द्वार-द्वार पर भिक्षुक, उस करुण-मुखी अश्रुलता को खोजेगा. . !

• • •

देख रहा हूँ, भिक्षुक हर दिन गोचरी पर निकल कर, अनाहार ही लौट जाता है। कौशांबी के जिनोपासक श्रावकों में इससे भारी विक्षोभ छा गया है। भव्य महालयों के द्वारों पर द्वारापेक्षण करती सुन्दरियों के हाथों के रत्न-कलश और आवाहन मुँह ताकते रह जाते हैं। दिव्य अन्न-पक्वान्नों की रसवती के थाल प्रति दिन पराजित, उपेक्षित, ठुकराये पड़े रह जाते हैं। भिक्षुक एकाकी अग्निबाण-सा सिंहावलोकन करता, नगर की सारी वीथियों, अन्तरायणों, चक्रपथों, राजपथों को बेरोक पार करता निकल जाता है। सर्वसाधारण प्रजा से लगा कर, श्रेष्ठि-श्रावकों की हवेलियों और राजमहालयों तक में इससे भारी चिन्ता व्याप गयी है। खलबली मच गयी है।

. . निष्फल भिक्षाटन के ये चार मास, चार युग की तरह बीते हैं। बड़ी दुःसाध्य परीक्षा ली है, मेरी उस कारावासिनी अन्नपूर्णा ने। शताब्दियों के दौरान, महाजनों के भंडार धन-धान्य से भरे होने पर भी, उन माँ की कोटि-कोटि सन्तानें जो भूखी-नंगी रहती आयी हैं, उसी का दण्ड शायद वे जगदम्बा मुझे दे रही हैं। उनका जो स्वरूप मेरे अभिग्रह में झलक रहा है, उसे देखकर सिद्धालयों के ज्योतिर्मय शिखरों की ओर से महावीर ने आँख फेर ली है। भीतर झाँकते, पुकारते मोक्ष मन्दिर के कपाट उसने झुँझला कर बन्द कर दिये हैं। . . और वह कौशांबी की अंधी गलियों में सर्वहारा, मलिन-वदना, अश्रुमुखी माँ के उस संत्रस्त मुखड़े को खोजता फिर रहा है। . .

सुगुप्त मंत्री के द्वार-पौर से एक दिन गुजर रहा था। दूर से मुझे देख उसकी स्त्री नन्दा हर्षाकुल होकर बोल पड़ी :

'लो, महावीर अर्हन्त, सौभाग्य से मेरे द्वार पर ही आ रहे हैं!'

विविध-व्यंजनी रसवती के सुवर्ण थालों से सज्जित दालान में नन्दा आवाहन करती रह गई। पर भिक्षुक उस ओर आँख उठाये बिना ही निकल गया। पीछे सुनायी पड़ा नन्दा के कातर कण्ठ का उदास स्वर :

'हाय, कैसी हतभागिनी हूँ मैं। आज एक-सौ बीसवीं बार मेरी रसवती प्रभु का कल्प न हो सकी। मेरा नैवेद्य हर बार प्रसाद होने से वंचित ही रह गया। . . ओ री भद्रा दासी, यह कैसा पापोदय हुआ है, मेरे और सारी कौशाम्बी के, कि भगवान आज चार महीने से, गोचरी पर निकल कर भी, हमारे अन्न को कृतार्थ नहीं करते। हमारी सारी पूजांजलियों को पीठ देकर वे चले जाते हैं। . .'

सुगुप्त मंत्री जब साँझ को घर लौटे, तो देखा कि नन्दा रानी उदास मुख लिये आँसू सार रही हैं। मंत्री ने उनकी मनुहार कर कारण जानना चाहा, पर नन्दा के मुख में बोल रुँध गया है। उत्तर नहीं मिलता। मंत्री हारे-से उसके पैरों के पास निरुपाय बैठ रहे। तब बहुत देर बाद आँचल

से आँसू पोंछती नन्दा उपालम्भ के स्वर में बोली :

'ओजी मन्त्रीश्वर, वत्स देश का महाराज्य किस बुद्धि से चलाते हो ? तुम यह भी पता नहीं लगा सके, कि किस कारण महाश्रमण महावीर भगवन्त, तुम्हारी विपुला नगरी में चार महीने से हर दिन भिक्षाटन करके भी, भूखे-प्यासे ही लौट जाते हैं ? धिक्कार है तुम्हारी विलास-नगरी कौशाम्बी का देवोपम वैभव। निःसत्व हैं, तुम्हारे अपार धान्यों से लहलहाते खेत। रसहीन हैं तुम्हारे रसमाते फलोद्यान। दुग्धहीन हैं तुम्हारे दूध-दही की नदियाँ बहाते गोधन। तुम्हारे इस विशाल अन्नकूट में कुछ भी देवार्य वर्द्धमान के लिए कल्प न हो सका ?

'कैसा दुर्द्धर्ष अभिग्रह धारण कर भूख-प्यास की ज्वालाओं में तप रहे हैं वे महातपस्वी ! कौशाम्बी के वैभव से चौंधियाते, धन-धान्यों से भरपूर राजमार्गों की अवगणना कर, वे नगर की भूखी-प्यासी, त्रस्त, अनाथ अन्धी गलियों में चले जाते हैं। और फिर लौट कर आते नहीं दिखायी पड़ते। . .

'हमारी लज्जा और अनुशोचना का पार नही। हमारे आँचलों के दूध सूख गये हैं, इस दारुण हताश से। और तुम राजपुरुषों के कानों पर जूँ भी नहीं रेंगती। धिक्कार हैं तुम्हारे ये राज्य और पौरुष। धिक्कार हैं तुम्हारे और तुम्हारे राजेश्वरों के ये मुकुट-कुण्डल के अभिमान। गंधशालियों से लहलहाते तुम्हारे गंगा यमुना के ये दोआब मुझे बंजर लगते हैं। प्रभु ने तुम्हारे एक तंदुल के दाने को भी अपने आहार के योग्य नहीं समझा !'

मंत्रीश्वर निरुत्तर, लज्जित, नतमाथ धरती में गड़े रह गये हैं। फिर बहुत मनुहार कर रूठी रानी को मनाया है। वचन दिया है कि शीघ्र ही प्रभु के दारुण अभिग्रह का पता चलायेंगे।

महारानी मृगावती के सिंहद्वार पर भी हर दिन आहारदान का भव्य राजसी आयोजन होता है। पर भिक्षुक उस राह तो आया ही नहीं। मौसी महारानी का मातृ-हृदय उससे मसोस उठा है, और उनके ऐश्वर्य-गर्वी अहंकार को भी इससे कम ठेस नहीं पहुँची है। इस कोमल हृदया, धर्मात्मा श्राविका ने अपने रत्निम देवालयों में शान्ति के अनुष्ठान आयोजित किये हैं। हर दिन वे कोई रस त्याग करके ही भोजन करती हैं। महाराज शतानीक को हर दिन कोसने में वे कोई कसर नहीं रखती हैं :

'ओ राजेश्वर, धूल-माटी से भी निकृष्ट हैं, तुम्हारे ये सत्ता सम्पदा के ढूह, तुम्हारी ये माणिक-मुक्ता की राशियाँ। काक-बीटों के ढेर हैं तुम्हारे खजानों की ये पुश्तैनी, चिर पुरातीन, महामूल्य निधियाँ। मेरा त्रिभुवनपति बेटा वर्द्धमान, पहली बार मेरे आँगन में आया, और तुम्हारी इस उर्वरा धरती का एक अन्न-कण भी उसे रास न आया, उसे न भाया !

'कैसे मानूँ कि गंगा-यमुना के कछार जीवन्त और उर्वर है। मुझे तुम्हारे गन्ध-शालियों में सड़ते धान्य की गंध आ रही है। तुम्हारे महालय शवालयों से लगते हैं। इस लज्जा और लांछना से कहाँ निस्तार है ?

'हमारी वैभव-लालित सुकुमार काया तो एक दिन के लिए भी प्रभु के साथ उपासी नहीं रह पाती। पर सुन रही हूँ कि उन अन्धी-गन्दी गलियों के कई नर-नारी, आबाल-वृद्ध-वनिता, अर्हत् प्रभु की इस दारुण परिषह-तपस्या को असह्य पा कर, स्वयं भी कई दिनों से निर्जल निराहार हो कर पड़ गये है। वे अन्धी गलियाँ। वे दैन्य, दारिद्र्य दुराचार और पाप के अड्डे। नीच वर्गों के वेश्यालय, मदिरालय, जिनमे कभी हम झाँकना भी पसन्द नहीं करते। उन्हीं में जा कर वे निगंठ

ज्ञातृपुत्र जाने कहाँ खो जाते हैं। लौट कर आने का नाम नहीं लेते।

'हाय रे भगवान, यह कैसा लज्जास्पद व्यंग्य जन्मा है कौशाम्बी में ! और ऐसे में उदयन, तू जाने किन वीरानों की खाक छान रहा है ? तेरे प्रताप, कला, सौन्दर्य, प्रणय और विजय की, हवाओं में गूँजती गाथाएँ, मुझे आज मिट्टी में लोटती दीख रही हैं। अपने ही रक्तजात भाई के इस तपोहिमाचल वैभव को एक बार, काश, तू देखता उदयन ! तेरे सारे पराक्रम उसके चरणों में पानी भरते रहते जाते . . !'

महारानी मृगावती, मंत्रीश्वरी नन्दा और सम्भ्रान्त कुलों की अनेक अंगनाओं के आँसू-भीने आँचलों ने मानो तूफ़ान बरपा कर दिया है। उससे ताड़ना पा कर समूचा राजपरिकर देवार्य वर्द्धमान के दुरन्त अभिग्रह का पता पाने की कोशिश में प्राणपण से जुट गया है। महाराज शतानीक रात-दिन मंत्रणागृह में मंत्रियों, आमात्यों, सेनापतियों के साथ मंत्रणा-परामर्श में व्यस्त रहते हैं। कौशाम्बी के सारे ही निमित्त ज्ञानी, तांत्रिक, मांत्रिक, दैवज्ञ, ज्योतिर्विद एक-एक कर आये हैं, और महावीर के मनोमंत्र की थाह न पा कर, म्लान मुख लौट गये हैं। विपुल दान-दक्षिणा दे कर राज्य के महायाजनिकों से हवन-अनुष्ठान करवाये जा रहे हैं। सारे ही जिनालयों में सिद्धचक्र-पूजा के मण्डल-विधान चल रहे हैं। . .

पर हुतात्मा वर्द्धमान के क्षुधा-तृषा-यज्ञ की पूर्णाहुति सम्भव न हो सकी है। हर दिन भिक्षा की अंजुलि फैलाये सुकुमार राज-संन्यासी कौशाम्बी की परिक्रमा कर भूखा ही लौट जाता है। कौन घाव उसके मर्म में टीस रहा है ? अन्तरयामी के अन्तर की थाह लेने में कौन समर्थ हो सकता है। कौशाम्बी में हाहाकार मच गया है। दासी-पण्यों में आक्रन्द करती दासियाँ, चंडिकाएँ हो उठी हैं। अपने सौदागरों के सारे नागपाशों को तोड़ कर, वे पागल की तरह विलाप करती, इस सुन्दर सुकुमार नग्न अवधूत के पीछे भागी फिरती हैं। जहाँ उसके पैर पड़ते हैं, 'वहाँ की धूलि में वे लोटने लग जाती हैं। उसकी चरण-रज को आँचलों में भरने की उनमें होड़ लगी रहती है। दासी-पण्य उजड़ गये हैं। सौदागर हार मान कर हाथों पर हाथ धरे बैठे रह गये हैं। अनेक तो अपनी हट्टी उठा कर, व्यापार की टोह में परदेस चले गये हैं।

कौशाम्बी के वेश्यालयों के कपाट बन्द हो गये हैं। वे रूप-जीवियाँ रूप-योवन तथा शिश्नोदर कर भूख-प्यासें बिसर गयी हैं। साँझों मे शृंगार-प्रसाधन और अतिथि-आवाहन की सुध-बुध उन्हें नहीं रह गयी है। दीप-बेला में, अपने इष्टदेव को धूप-दीप फूल-गन्ध चढ़ा कर, आँचल माथे पर ओढ़ कर, वे साश्रु-नयन प्रार्थना मे लीन हो रहती हैं :

• • •

'हे मुझ पापिन के देवता, कब तक कुमार-भागवत ऐसे ही भूखे-भरखे हमारे द्वारों से लौटते रहेंगे, और हम पेट भर शालि-खीर खा कर, सुख की नींद सोयेंगी ? जान पड़ता है, हमारे ही जनम-जनम के पापों का प्रायश्चित्त कर रहे हैं हमारे ये परम प्रीतम, परम पिता। धिक्कार हैं हमारे ये सारे सिंगार और प्रणय-व्यापार, यदि हमारी एकाकिनी आत्मा के ये एकाकी वल्लभ प्रभु उनसे प्रसन्न और परितुष्ट नहीं होते . . !' और वे आँसू सारती हुई जहाँ की तहाँ शव की तरह लुढ़क

पड़ती हैं।

चार महीने हो गये। हर अन्धी गली के अन्तिम अँधेरे में धँसता ही चला गया हूँ। पाया है कि तमसलोक की उस कुहा का अन्त ही नहीं है। हर पर्दे के बाद एक और मोटा पर्दा है : उसमें भी तह के भीतर कई तहें हैं, पर्त के भीतर कई पर्तें हैं। जाले के भीतर कई जाले हैं। गह्वर में गह्वर है, और उसके चहुँ ओर गह्वर पर गह्वर खुलते चले जा रहे हैं। और फिर आयी है वह गुफ़ा, जिसमें जा कर आज तक कोई नहीं लौटा है। ऐसी होड़ लगी है, कि या तो वह गुफ़ा रहे, या फिर मैं रहूँगा। . . सुनायी पड़ती है उसके छोरान्त में से एक कातर, कठोर, बहुत महीन, मृदु आवाज़ :

'नहीं . . तुम्हें कभी नहीं पुकारूँगी, मृत्यु के जबड़े मे पड़ जाऊँ, तब भी नहीं। तुम्हारी खोज में नही, अपनी ही खोज में भटक रही हूँ। तुम मेरे होते ही कौन हो . . ?'

और उस आवाज़ के उद्गम पर पहुँचने की अनिवार्यता बढ़ती ही गयी है। अधिक-अधिक अपना आपा हारता चला गया हूँ। पाया है कि अपना 'मान' मै नहीं, कोई और ही है। वर्द्धमान का कोई एक मान कैसे हो सकता है ? . .

जीवन में ऐसी क्षुधा तो कभी नही लगी। ऐसी कि शस्य-श्यामला धरती के समूचे रस का एकबारगी ही प्राशन किये बिना, मानो वह शमित न हो सकेगी। कहाँ है वह अन्तिम स्तन, जिसमें कालातीत रूप से दूध स्तन में, और स्तन दूध में परिणत होता रहता है। उस तक पहुँचे बिना प्राण को विराम नही है।

'. . मेरे नाथ, मेरे भगवान, तुम कहाँ हो ? . . तुम कहाँ हो ?'

अविज्ञात दूरी की वह पुकार अपने ही अन्तरतम मे से सुनायी पड़ रही है। अँधेरे की अन्तहीन कुहा यों तिरोहित हो गयी, जैसे एक गहरा रेशमी जामनी आँचल सहसा ही किसी ने खसका दिया हो। उज्ज्वल दूध का पारावार, एक अति गौर वक्षदेश के तटों मे थमा हुआ है। . . माँ . . आत्मा !

. . भिक्षुक एक महालय के तलघर की अँधेरी कोठरी के द्वार पर आ कर अटक गया।

'. . ओह, वही तो स्वरूप सामने प्रस्तुत है, जो उस दिन संगम के पुलिन पर, मेरे भीतर अभिग्रहीत हुआ था। पर, . . आँसू नहीं है इसकी आँखों मे। नही, यहाँ नहीं अटक सकूँगा। . . और आगे जाना होगा। कहीं और . ! अरे कहाँ है वह करुणमुखी अश्रुलता। कहाँ है वह अश्रुमुखी राजबाला ?'

तपाक से भिक्षुक लौट गया। . . आगे बढ़ गया। पीछे सुनायी पड़ा :

'नाथ, मुझे नहीं पहचाना ? देख कर भी अनदेखी कर गये ? मुझी से भूल हो गयी। . . तुम्हारी चन्दन तुम्हें पुकार रही है . . !'

बन्दिनी की आँखों के बाँध टूट गये। भिक्षुक तत्काल लौट आया।

'भिक्षांदेही . . !' अनुगुंजित हुआ हवाओं मे।

भिक्षुक ने सहज नम्रीभूत हो कर, दासियों की दासी चन्दना के आगे अपनी भिक्षा का पाणि-पात्र पसार दिया।

चन्दना ने झुक कर अपने अविरल बहते आँसुओं से भिक्षुक के चरण पखार दिये।

चरणोदक आँखों और माथे पर चढ़ा लिया। . . आँसू की बूँदें टप-टप भिक्षुक की करांजुलि में टपकीं। और उसके साथ ही उस कल्याणी ने सूप के एक कोने से, उसमें पड़े वे कुलमाष के दाने अतिथि के पाणि-पात्र में उँडेल दिये।

. . कोई वज्र-साँकल बिजली के झटके से झनझना उठी। हठात् दासी की बेड़ियाँ टूट गयीं। भिक्षुक की अंजुलि में सुगन्धित पयस छलछला उठा। चिर दिन के क्षुधित बालक की तरह भिक्षुक एक ही घूँट में उसका प्राशन कर गया।

'अनाथिनी के नाथ, मेरे पतित-पावन प्रभु !'

कह कर चन्दना भिक्षुक के चरणों में लोट गयी। आँसुओं से उन धूलि-धूसरित, अविश्रान्त यात्रिक पैरों को पखारती हुई, उन्हें अपने गीले गालों से पोंछने लगी।

'परम परित्राता, पतित-पावन भगवान महावीर जयवन्त हों !' . .

अन्तहीन जय-जयकार करती जन मेदिनी ने देखा : दिव्य वसुधारा बरसाती, नाना वादित्रों से अन्तरिक्ष को गुँजाती, देव-पंक्तियाँ उस अँधियारी कोठरी के आँगन में उतर रही हैं।

. . विपुल उत्सव-कोलाहल में लोकजन खो गये। भिक्षुक जाने कब कौशाम्बी के सीमान्त से पार हो गया।

पीछे उसे एक विधुर विह्वल पुकार सुनायी पड़ी :

'अब मुझे छोड़ कर न जाओ, मेरे नाथ। . . मैं आ रही हूँ . . मैं आ रही हूँ तुम्हारे साथ . . !'

हवा ने उत्तर दिया . 'एवमस्तु .

भिक्षुक ने लौट कर नहीं देखा। वह चलता ही चला गया . चलता ही चला गया।

सृष्टि का एकमेव अभियुक्त मैं

चम्पा में वर्षावास व्यतीत कर, जृम्भक ग्राम, मेंढक ग्राम से विहार करता हुआ, षड्गमानि ग्राम आया हूँ। यहाँ के उपान्त भाग में, सुरम्य शाल्मलि-वन के तलदेश में एक शिलातल पर आ बैठा हूँ। चारों ओर दूर-दूर तक फैले चरागाहों में ग्वाले गायें चरा रहे हैं। दूरान्त में एक टीले पर चरती एकाकी गाय के चतुष्पद में दीखा : आकाश के तट पर झूलता किसी महल का अलिन्द। . . उसे एकटक निहारता जाने कब अन्तरगामी देश-काल के जाने कितने ही पटलों में यात्रा करने लगा। . . ध्यान गंभीर से गंभीरतर होता गया। ऐसा कि जहाँ विस्तार और गहराव एकाकार हो गये हैं। अतीत जीवन-जन्मों की जाने कितनी ही सरणियाँ पार होती चली गयीं।

. . हठात् देखा, कि मैं हूँ त्रिपृष्ठ वासुदेव, तीन खण्ड पृथ्वी का अधीश्वर, परम प्रतापी अर्धचक्री। अपने विपुल वैभव मंडित कक्ष में, एक वसन्त रात्रि की शयन-बेला में, कुन्द-पारिजात फूलों की सुख-शैया में अध-लेटा हूँ। फर्श पर दूर द्वीपान्तर से आयी एक किन्नर-मण्डली, अपने अपार्थिव संगीत से चक्री का मनोरंजन कर रही है। उसके स्वरालाप से सम्मोहित मैं स्तब्ध,

चित्र-लिखित-सा रह गया हूँ। ऐसा संगीत कि जिसकी मींड़ मूर्च्छना मे लवलीन हो कर तिर्यंच पशु-प्राणि तक भूख-प्यास भूल कर आत्म-विस्मृत हो जाये। . पहर रात गये मुझ पर गहरी तन्द्रा छाने लगी है। मेने अपने शैयापाल को आदेश दिया

'जब मुझे नीद आ जाये, तो तू इस सगीत-सभा को विसर्जित करवा देना।'

मैं गहरी निद्रा मे मग्न हो गया, फिर भी संगीन-सभा जारी रही। पिछली रात अचानक मैं जागा, तो पाया कि संगीत की धारा वैसी ही अविराम बह रही है। मेरी भृकुटियाँ टेढ़ी हो गयीं। मैंने शैयापाल को तलब किया :

'मैं सो गया, फिर भी संगीत चल ही रहा है। मेरी आज्ञा का पालन क्यो नहीं हुआ ?'

सुधबुध भूला शैयापाल होश में आकर बोला :

'स्वामी, संगीत इतना मोहक था, कि मेरा तो आपा ही खो गया। आज्ञा-पालन कौन करे ? दास का अपराध क्षमा करे।'

. . उस समय तो निद्रावश होने से मै अपना क्रोध पी कर सो गया। पर सबेरे राजसभा मे आते ही मेने शैयापाल को तलब किया और ललकार उठा

'ओ नीच, पामर, तेरा इतना साहस कि चक्रवर्ती की आज्ञा को भंग किया तूने ? त्रिखण्ड पृथ्वी की सत्ता और सम्पदा का स्वामी जिस सगीत सुख का उपभोग करता है, उसी का आनन्द तू भी लेगा रे, पांसुकुलिक एक दासानुदास की ऐसी स्पर्द्धा ? एक बर्बर पशुतुल्य क्षुद्र सेवक को क्या अधिकार कि वह मेरे योग्य मनमोहक सगीत को सुन कर मुग्ध हो ? आपा तक बिसार दे, मुझे भुला दे, मेरी आज्ञा तक की अवहेलना कर दे ?'

शैयापाल कॉपता-धरथराता बोला :

'स्वामी, क्या करूँ, . र कानों पर मेरा क्या वश है ? पशु तक भान भूल जायें, ऐसा था वह संगीत। लाचारी को क्षमा करे महाराज मेरे कानों से भारी अपराध हो गया . !'

'ओह, एक दास के कान मेरे सगीत का आस्वाद करेगे ? त्रिखण्डाधीश का ऐसा अपमान ? अरे सेवको, हटाओ इस जानवर को मेरे सामने से। ले जा कर इसके दोनों कानों में तप्त सीसे और ताबे का रस उँडेल दो। मेरा वश चले तो, मेरे श्रवण-सुख की स्पर्द्धा करने वाले हर कान का मै मूलोच्छेद करवा दूँ . !'

• • •

. . कही नैपथ्य मे शैयापाल के कानों में उबलते लावा-सा पिघला हुआ सीसा और तांबा उँडेला जा रहा है। . . और जाने कितने जन्मान्तरों को पार कर, उसकी वे आर्त क्रन्दन करती चीखें आज मेरे तन के पोर पोर को बीध रही हैं। . . ओ बन्धु शैयापाल, कहाँ हो तुम इस घड़ी ? आज असह्य है मुझे तुम्हारी उस क्षण की वेदना। मेरी अन्तश्चेतना के अतल भेद कर वह मुझे तिलमिला गयी है।

. . आओ मेरे प्रिय शैयापाल, सुनो मेरी बात, किन्नरों के संगीत अब मै नहीं सुनता। सकल चराचर की नाड़ियों का संगीत अब मेरे अन्तर-श्रवण मे प्रवाहित है। जानो बन्धु, प्राणिमात्र

के सर्वकाल के सारे पाप-अपराधों का उत्तरदायी मैं हूँ। तमाम इतिहास के आरपार, प्रमत्त सत्ता-सम्पदा-स्वामियों ने जो दीन-दलित, अबल-असहायों पर बलात्कार किये हैं, उनका एकाग्र आरोपी मैं हूँ। तुम्हारा और सर्व का चिर जन्मों का अपराधी मैं हूँ। मुझे पहचानो मेरे बान्धव, सृष्टि का एकमेव अभियुक्त मैं, वर्द्धमान महावीर, यहाँ तुम्हारी प्रतीक्षा में हूँ। तुम्हारा जी चाहा दण्ड झेलने को उद्यत, प्रस्तुत। . .



केवल निष्कम्प भाव से समर्पित, कायोत्सर्ग में विजर्सित खड़ा हूँ। जो सम्मुख आये, उसके प्रति उत्सर्गित और कोई विकल्प या क्रिया सम्भव नहीं रही है इस क्षण। हर परिणमन को केवल देख रहा हूँ, सुन रहा हूँ। केवल मात्र अपनी चिदक्रिया में लवलीन, अन्य सारी क्रियाओं का निपट साक्षी, द्रष्टा।

सहसा ही सुनायी पड़ी एक ग्वाले की आवाज़ :

'देवार्य, मेरे ये बैल आपके निकट ही चर रहे हैं। इन पर निगाह रक्खें। गाँव में अपनी गायें दुहने जा रहा हूँ। थोड़ी देर में लौट आऊँगा।'

सुना भी नहीं, अनसुना भी नहीं किया। मैं अपनी जगह पर हूँ : बैल अपनी जगह पर हैं। निरंकुश बैल जाने कब चरते-चरते, बहुत दूर निकल गये, और कहीं झाड़ियों की ओट हो गये। ग्वाले ने जब लौट कर बैलों को यहाँ नहीं देखा, तो बोला :

'देवार्य, मेरे बैल कहाँ चले गये ? आपको सौंप गया था न ?'

कई बार पूछने पर भी ग्वाले को कोई उत्तर नहीं मिला। वह भभक उठा :

'अरे ओ अधम साधु, उत्तर तक नहीं देता ! मानुष है कि पत्थर ?'

फिर भी कोई उत्तर नहीं लौटा। अनुत्तर है यह साधु, पत्थर से भी अधिक अविचल।

'अरे ओ जोगड़े, तेरे ये कान हैं, कि कीड़ों के बिल है ? सुनता तक नहीं रे नराधम ! बोल, मेरे बैलों को कहाँ छुपा दिया है तेने ?'

साधु पर्वत से भी अधिक निश्चल, हवा से भी अधिक लापरवाह दीखा। केवल कान से तो वह सुनता नहीं। तन के तार-तार से सुनता है। सारे प्रश्नों का एक ही उत्तर है, मानो उसकी वह अनुत्तरता।

'अच्छा, ठहर दुष्ट, तेरे कान के कीड़े अभी निकाल बाहर करता हूँ ! . . '

नाकुछ समय में ही ग्वाला कहीं से कास की एक सलाई तोड़ लाया। उसके दो टुकड़े किये। फिर निपट निर्दय भाव से उसने श्रमण के दोनों कानों में वे सलाइयाँ बेहिचक खोंस दीं। तदुपरान्त पत्थर उठा कर उन्हें दोनों ओर से ठोंकने लगा। जब दोनों सलाइयों के छोर भीतर एक दूसरे से भिड़ गये, तो जो सलाइयों के सिरे बाहर रह गये थे, उन्हें दराँते से काट दिया, ताकि उन्हें कोई निकाल न पाये। तब उसने राहत की साँस ली।

फिर वह चुपचाप सन्तुष्ट भाव से खड़ा रह कर श्रमण की वेदना का आनन्द लेने को उद्यत हुआ। '. . अरे, इसके तो कान पर जूँ तक नहीं रेंगी ! . . आदमी है कि जानवर ? ऐसी

पीड़ा से तो जानवर भी चीख उठे। पत्थर कहीं का। पत्थर से भी बदतर!' ग्वाला मतिमूढ़, स्तब्ध हो रहा। कैसे इस दुष्ट को दण्डित करे। मार डालता तो तत्काल छुटकारा पा जाता यह दुष्ट। 'पर नहीं . . चाहता हूँ, यह अन्तहीन पीड़ा भोगता रहे। तिल-तिल जल कर मरे। लेकिन जलन और मरण की कौन कहे, ऐसे दारुण शल्यवेध से भी, इसका एक रोंया तक नहीं काँपा ? आश्चर्य !'

. . ग्वाले की सनझ-बुद्धि गुम हो गयी। उसका क्रोध पराकाष्ठा पर पहुँच कर आपोआप खामोश हो गया। उसे अपनी स्थिति पर अचम्भा हुआ : 'अरे यह हो क्या गया है मुझे? इस पत्थर से टकरा कर मैं भी पत्थर हो गया क्या ?' गुमसुम, निर्विचार, चुपचाप वह अपने बैलों की खोज में जंगल की ओर चल पड़ा। पर उसके जी मे यह कैसी खटक है ? चैन नहीं . . !

. . आरपार बिंधे इन शल्यों की पीड़ा सही नही जाती। कही नहीं जाती। देख रहा हूँ, तन की सहनशक्ति का अतिक्रमण कर वह अपार हो गयी है। जान पड़ता है, तन की सीमा को लाँघ कर वह जाने कहाँ विलय पा गयी है। तप्त सीसे और ताँबे के रस की अपेक्षा शायद वह कम पड़ गयी है। इसी से, लगता है, मेरे श्रवणों को वह पर्याप्त कष्ट न दे पाने के कारण व्यर्थ हो गयी है।

भाई ग्वाले की आत्मा के अतल मे बिधा बैर का वह शूल मैंने देख लिया था। सो अन्त तक चुप रहा, निरुत्तर रहा, इसीलिए कि उसके कषाय का वह काँटा आमूल उचट कर बाहर आ जाये, मनचाहा कष्ट मुझे देकर, उसका हृदय किसी तरह निष्कंटक हो जाये। चाहा कि वह शूल मेरे कानों के आरपार बिध कर, उस बन्धु की आत्मा मे से सदा को निर्गत हो जाये।

पर, क्या उसे चैन पड़ा ? वह तो और भी बेचैन, परेशान, खोया-भटका दीख रहा है। . . बैल तो मिल गये उसे, जाने कब के। पर उसके जी मे जो खटक है, उसे कैसे दूर करूँ ? . . यह शल्यवेध जो अनुक्षण मेरे मस्तक के आरपार जारी है, शायद एक हद के बाद मेरे प्राण हर कर, उसकी पीड़ा हर ले। . .

. . लेकिन प्राण दे देने की छुट्टी मुझे कहाँ है ? कोई किसी के प्राण ले नहीं सकता, अपने प्राण दे नही सकता। यह ख्याल मात्र ही मिथ्या-दर्शन है, भ्रान्त चिन्तन है। मारने और मरने के निमित्त मात्र बनते है हम। इस व्यापार को अपने 'मै' से जोड़ कर, हम इस मिथ्या अहंकार से दु:ख ही बटोर पाते है, निष्क्रान्त नही हो सकते। महासत्ता मे मृत्यु का अस्तित्व ही नही। यह जीवन का स्वभाव नही, कि हम या और कोई उसका घात कर सके। पानी की धारा को अपनी तलवार से काटने का अहकार हम भले ही कर ले। पर हकीकत कुछ और ही है। अपने ही प्राण से पलायन कर, हम जायेगे कहाँ ? .

लेकिन इस शल्यवेध की वेदना से सम्पूर्ण गुजरे बिना तो निस्तार नही। इसे अन्त तक सह कर ही तो इसको जीता जा सकता है। इससे निष्क्रान्त हुआ जा सकता है। वेदना और मृत्यु को सम्पूर्ण संचेता से जी कर ही तो उसे जाना जा सकता है। उसे नकार कर नही, स्वीकार करके ही उसे जय किया जा सकता है। इसी तरह उसके मूल स्रोत तक पहुँच कर, उसके और उसके परे के सत्य को साक्षात् किया जा सकता है।

सो समर्पित भाव से इस पीड़ा को सहन कर रहा हूँ। इस वेदना की प्रत्येक कसक, ऐंठन, मरोड़ और मारकता को अपने अणु-अणु मे काम करते एकाग्र भाव से देख रहा हूँ। यातना और

मृत्यु का निश्चल भाव से निरन्तर साक्षात्कार ही इस घड़ी मेरे ध्यान का एक मात्र विषय रह गया है। पर जो ध्याता इसे ध्या रहा है, देख रहा है, इसका सामना कर रहा है, वह कौन है ? . .

. . घर छोड़े आज बारह वर्ष हो गये। कभी घर के साये, सुरक्षा या माँ का ख्याल तक नहीं आया। . . पर महावेदना के इस चरम एकाकीपन मे, हर कसक के साथ माँ का वह वत्सल मुखड़ा, आँखों में झूल जाता है। ओठों तक से फूट पड़ा है : 'माँ . . माँ . . माँ . . माँ . . माँ, तुम कहाँ हो . . तुम कौन हो ? . . लेकिन तुम भी तो अपनी देह की स्वामिनी नहीं। तुम भी तो पीड़ा और मृत्यु के सम्मुख अवश हो . .।'

तब अपने आप को छोड़ कर और शरण कहाँ है . . ? माँ है केवल वही . . आत् . . मा ! आत्मा जो निरन्तर अपने साथ, अभी और यहाँ है . .।



. . चरैवेति, चरैवेति, चरैवेति। यही तो एक मात्र स्व-भाव है मेरा। सो चलाचल रहा हूँ। वेदना अपनी जगह पर चल रही है, मैं अपनी जगह पर चल रहा हूँ।

मध्य अपापा नगरी आया हूँ। सिद्धार्थ वणिक के द्वार पर आ कर भिक्षा के लिए अंजुलि पसार दी है। उसके हर्ष का पार नहीं। विपुल केशर, मेवा, द्राक्ष से मधुर और सुगन्धित पयस उसने मेरे करपात्र मे ढाल दिया है। उसके घूँट कण्ठ से नीचे उतारने मे जो कष्ट हो रहा है, वह पास ही खड़े श्रेष्ठि के परम मित्र खरक वैद्य ने लक्ष्य कर लिया। विचक्षण प्राणाचार्य ने अपने मित्र सिद्धार्थ के कान में कहा :

'मित्र, ये सर्वांग सुन्दर भगवन्त वेदना से व्याकुल और म्लान दीख रहे हैं। यह शल्य-पीड़ा का लक्षण है। . शल्य से बिद्ध है सौन्दर्य की यह मूर्ति।'

सिद्धार्थ श्रेष्ठि ने त्रस्त होकर खरक वैद्य से अनुरोध किया कि वह श्रमण के शरीर की परीक्षा कर निदान करे कि उनके शरीर में किस जगह यह शल्य भिदा हुआ है। . श्रमण हाथ खींच कर कायोत्सर्गित हो गया है। उसका देह-भान चला गया है। अविचल सुमेरु की तरह, आजानु भुजाएँ लम्बायमान कर वह स्तम्भित खड़ा रह गया है। खरक वेद्य ने बड़ी निपुणता से सूक्ष्मतापूर्वक उसके शरीर के प्रत्येक अंग और अवयव की परीक्षा की। तब श्रमण के दोनों कानों मे ठुके शूलों पर उसकी दृष्टि अटक गयी। खरक ने सिद्धार्थ को वे शूलबिद्ध श्रवण दिखाये। हाहाकार कर उठा सिद्धार्थ।

'मित्र खरक, तुरन्त तू ऐसा उपाय कर, कि ये सुकुमार प्रभु, किसी महा पापात्मा दुष्ट द्वारा दिये गये इस दारुण दुःख से मुक्त हो सकें। शल्य तो इन भगवन्त के श्रवणों में भिदा है, पर इनकी पीड़ा से मेरा सारा शरीर ऐंठा जा रहा है। शीघ्र इन जगत्पति भगवान को, तू इस असह्य कष्ट से मुक्त कर, आयुष्यमान् !'

'मित्र सिद्धार्थ, ये प्रभु तो एक बारगी ही इस समस्त विश्व का क्षरण और रक्षण करने में समर्थ हैं। पर अपने ही बाँधे कर्मों का क्षरण करने के लिए, इन अर्हत् ने अपने अपकारी पुरुष को भी क्षमा कर दिया है। अपने कर्मक्षय के लिए, स्वेच्छतया इन्होंने इस प्राणहारी वेदना का भी वरण

कर लिया है। अपनी ही देह की जिसने उपेक्षा कर दी है, उसकी चिकित्सा करने में मैं कैसे समर्थ हो सकता हूँ ? वह तो निरा दम्भ और अहंकार होगा, मित्र ! '

'तर्क-युक्ति करने का समय नहीं है, आयुष्यमान् ! मुझे प्राणान्त वेदना हो रही है। तू तत्काल इन भगवन्त को शल्य-मुक्त कर, ताकि मैं जीवित रह सकूँ।'

झलक रहा है मेरे भीतर : यह शल्य-पीड़ा केवल मेरी ही नहीं रह सकी है। सिद्धार्थ में संक्रमित हो कर, वह जैसे प्राणिमात्र मे व्यापती जा रही है। इसके सर्जक ग्वाले को भी चैन नहीं। . . वही हो, जिससे सबकी शल्य-पीड़ा दूर हो, सब को साता मिले। . .

मै चुपचाप चल पड़ा। शाल्मली-उद्यान मे अपने स्थान पर पहुँच कर पद्मासन में ध्यानस्थ हो रहा। . . . कुछ ही देर बाद दिखायी पड़ा : सिद्धार्थ और खरक वैद्य आवश्यक औषधि-उपचार के साधन ले कर उद्यान में दौड़े आये है। मेरे शरीर को पद्मासन में ही ज्यो का त्यों उठा कर एक तेल की कुण्डी मे बैठा दिया गया है। प्रत्येक अंगांग में तेल का अभ्यंगन किया गया है। बलवान मर्दन करने वाले मर्दकों ने मेरी देह के चप्पे-चप्पे का बड़ी मृदुता से मर्दन किया है। इस प्रकार मेरे शरीर के प्रत्येक सांधे को शिथिल कर दिया गया है।

फिर दो व्यक्तियों ने शल्य-उच्छेदक संडासियाँ ले कर, दोनों कानों के शूलों पर पकड़ बैठा कर, एक साथ उन्हें पूरी शक्ति से खींचा। . उस क्षण बरबस ही मेरे मुख से एक भयंकर चीख निकल पड़ी। ऐसी वेदना की अनुभूति हुई, जैसे कोई वज्रबाण ब्रह्माण्ड के हृदय को भेद कर मेरे आरपार निकल गया हो। .

अपनी चीख को दबाने की कम चेष्टा नहीं की मैंने। लग रहा था, कि यह चीख यदि पराकाष्ठा पर फूटेगी, तो त्रिलोक के सकल चराचर प्राणी इससे घायल हो पड़ेंगे। पर एक हद के बाद मेरे वश का क्या था। मेरी यह वेदना सृष्टि के असंख्य जीवात्माओ में व्यापे बिना न रह सकी। . .

शूल निकल कर सामने आ पड़े। दोनों श्रवणों से खून के फव्वारे फूट निकले। . . जन्मान्तरों के बाद एक अपूर्व राहत अनुभव हुई। मेरे श्रवणों से फूटते रक्त की धारा मे, कई भवान्तरों पूर्व शैयापाल के कानों मे मेरे द्वारा ढलवाया गया तप्त सीसे और तांबे का रस, समूचा बाहर बह आया।

. नि शल्य हो गये. मित्र. शैयापाल और अनाद्यन्त इतिहास के ओ जाने कितने शैयापालो, क्या तुम सभी नि शल्य हो सके ? महावीर को क्षमा कर सके तुम ? नहीं जानता। . . पर लगता है, मेरी चेतना जाने कितनी जानी-अनजानी जंजीरों और शूलियों से मुक्त हो कर, किसी चरम-परम समाधि मे डूबी जा रही है। .

. . देख रहा हूँ, अपने बान्धव उस ग्वाले को। कुछ देर पहले तक वह एक अबूझ बेचैनी से छटपटा रहा था। अब वह अपने आँगन मे नीम-छाँव मे, बेखटक हो कर गहरी निद्रा में निमज्जित हो गया है। उसे लग रहा है, कि सुख की ऐसी नीद का ज्वार और खुमार तो उसकी आँखों में पहले कभी नहीं आया था। नींद में ही वह स्वप्नस्थ शिशु की तरह मुस्कुरा आया है।

अनागार होकर विहार करते ही, पहले दिन जगत के एक गोपाल का ही तो अपराधी हुआ था। संसार के अनेक विध दुःख संत्रासों की परिक्रमा करके, बारह वर्ष बाद फिर शायद उसी बिन्दु

पर लौटा हूँ, जहाँ से विश्व-यात्रा पर महाप्रस्थान किया था। और फिर से जगत के एक और, शायद अन्तिम गोपाल का अपराध मुझसे हुआ। ऐसे अन्तहीन मौलिक अपराधी को जगत में कौन क्षमा कर सकता है?

पर इतना इस क्षण जरूर लग रहा है, कि मेरे और सब के उस मौलिक अपराध का उन्मोचन, इस मुहूर्त में हुआ है और हम सब ने एक दूसरे को और अपने आप को क्षमा कर दिया है।

प्रतीति हो रही है, अन्ततः यहाँ कोई किसी का अपराधी नहीं, और कोई किसी को क्षमा करने में समर्थ नहीं। हम स्वयं ही अपने-अपने अपराधी हैं, और केवल हम स्वयं ही अपने को क्षमा कर सकते है।

. . वैशाख की प्रखर मध्याह्न बेला में, वायुवेग से विहार करता हुआ, अपनी ही सन्मुख छाया का, आप ही अतिक्रमण करता हुआ, मगध के सीमान्त में प्रवेश कर गया हूँ।

भगवान नहीं, मनुष्य चाहिए

'माँ . . !'

'आत् . . मा !'

आह, यह कैसा शूल मेरी छाती के आरपार हो गया, हठात् इस आधी रात मे ! देश और काल को भेदकर किसने मुझे पुकारा है, मध्य-रात्रि के इस शून्यांशी मुहूर्त मे :

'माँ . . !'

'आत् . . मा !'

समय की धारा थम गई है। केवल त्रास की एक चीख अन्तहीन हो गई है। लोक के सारे अस्तित्व इस पुकार में खो कर तदाकार हो गये हैं।

. . यह तो तुम्हारी आवाज है, वर्द्धमान ! मेरे मान, मेरे कलेजे के टुकड़े। इसे पहचानने में कैसे भूल हो सकती है। सब कुछ को भूल कर, केवल तुम्हें ही तो याद रख सकी हूँ, केवल तुम्हें। बेटा, यह क्या हो गया है तुम्हें? तुम्हारे वज्र को भेद कर कोई तुम्हें पीड़ित कर सके, ऐसी सत्ता तो, सत्ता मे तुमने किसी की रहने नहीं दी। सारे प्रहार, अत्याचार, संत्रास, वध तुम्हारी स्वीकृति के भिखारी और शरणार्थी हो कर रह गये। फिर तुम्हे, तुम्हें, तुम्हें कोई ऐसा प्रहार दे, कि तुम चीख उठो, पुकार उठो, कैसे विश्वास करूँ?

पर आवाज स्पष्ट ही तुम्हारी है, मान, और मेरा सुप्त गर्भ एकाएक फटा है, भर नींद में, इस निस्तब्ध रात्रि के सन्नाटे में। इसे झुठलाना मेरे वश का नहीं। इसे व्यन्तर-माया कह कर टाल नहीं सकूँगी। क्योंकि कोई माया, कोई छल तुम्हारे और मेरे बीच नहीं खेल सकता। अपने साथ मुझे इतनी तदाकार करके छोड़ गये हो कि, कि तुम्हारे उस सत्य में मिथ्या की ऐसी कोई दरार पैदा हो सके, यह सम्भव ही नहीं है। तुम्हें लेकर जो विछोह की व्यथा भीतर आज भी सुबक रही है, वह

भी तुम्हारे प्यार और करुणा के अतिरिक्त और कुछ कभी लग नही सकी। ऐसी सघन एकात्मा को जगत का कोई भी तीर कैसे चीर सकता है ?

पर छाती मेरी चिर गई है, गर्भ मेरा दरक गया है। और कोई चरम तीक्ष्णता मेरे पोर-पोर के पार हो गई है, इसे कैसे झुठलाऊँ ? मेरी अतिम गोपनता छिन्न भिन्न हो कर मेरे सामने नग्न आ पडी है। यह कैसा खून का फव्वारा मेरे अतल मे से फूट पडा है। ये कैसे आँसू मेरी गोदी में उफन रहे है। इतने अन्तिम और अनिवार है ये, कि इन्हे रोकना और सहलाना मेरे वश का नही।

वर्द्धमान, यह खून, ये आँसू तुम्हारे सिवाय और किसी के नही हो सकते। क्योंकि ये अन्तिम है, अन्तहीन है। ये निराधार और निरालम्ब है। अपने ही आप म सार्थक और समाप्त है।

पर ये इतने मेरे अपने और अत्यन्त निजी लग रहे है, कि इन्ह तुम्हारे कह कर अपने से अलग कैसे करूँ ? इतनी विराट् और चरम है यह रक्तधारा और अश्रुधारा कि मानो हर काल और देश के हर जीव की आत्मा म से यह बही चली आ रही ह।

'प्रियकारिणी त्रिशला, इसी क्षण के लिए तुम्ह यह नाम प्राप्त हुआ था। इसी क्षण के लिए तुम जन्मी और माँ हुई थी, कि तुम्हारा गर्भ अन्तिम रूप से विदीर्ण हो कर एक दिन किसी अयोनिज सृष्टि का द्वार हो जाये । सो जाओ, प्रियकारिणी, तुम्हारे सिवाय कोई और कुछ नही है। तुम्ही ने अपने आपे को अपने आत्मज को कत्ल किया है, आज की रात। ऐसा हत्यारा महावीर के सिवाय और कौन हो सकता है ? वह, जो आप ही मारता है, आप ही मरता है। और सब माया है मा !

'आत् मा !'

मा को पुकार कर भी तुमने उसे परे ढकेल दिया क्या ? सोच म पडी थी कि यह दूसरी आवाज किसे पुकार रही है। यह मेरे सिवाय दूसरी कौन मा है आत् मा। तुम्हारी पीडा से बडी हो कर उठ रही थी, यह ईर्ष्या अब समझी मुझे नकार कर तुमने अपनी ही आत्मा को पुकारा अन्तत। ईर्ष्या का आधार पा कर तेरी यह मा अपने प्यार को व्यक्त करने का माध्यम पा गई थी। वह भी देकर तुमने छीन लिया। तुम्हारी निर्ममता का अन्त नही। तुम्हारी ममता का अन्त नही। तुमने अन्तिम रूप से मुझे अपने से अलग कर दिया। तुमने अन्तिम रूप से मुझे अपने मे मिटा दिया। फिर भी एक दूसरे शरीर मे जिये चले जाने को तुमने मुझे लाचार क्यों छोडा ?

गोपन और ग्रथि का मोचन होने पर कैसे जिया जाये ? जीवन का रहस्य ही नग्न निरावरण हो गया। इस नग्नता को कैसे सहूँ। मृत्यु मे भी अन्त नही मेरे लिए ? उसे आलिगन मे लेकर जीना होगा !

और यह शूल ? किसने इससे तुम्हे बींध कर मेरा मर्मवेध किया है ? ओह कैसे भयानक, क्रूर हो तुम ? अपने और मेरे हत्यारे के रूप मे तुम्ही खिलखिलाते हुए सामने आ खडे हुए हो ! अब भी तुम्हारा बचपन गया नही मान ? वही खिलाडी रूप, वही लीला खेल। सोचा था, अब तो तुम गहन गम्भीर हो गये होगे। पर



'कौन ? वर्द्धमान ? तुम यहाँ कैसे ?'

'मैं सिद्धार्थ ' त्रिशला ! . . यह तुम्हे क्या हो गया है ?'

'तुम क्यों आये ? किसने बुलाया तुम्हें ?'

'तुम्हारी चीख सुन कर आया, त्रिशा ? ऐसी चीख तो तुम्हारी कभी सुनी नहीं।'

'मैं चीखूँ या मरूँ, मुझे तुम्हारी जरूरत नहीं।'

'शान्त, प्रियकारिणी, शान्त !'

'तुम्हें मेरी चीख और पीड़ा अधिक प्रिय है। मै नही। वर्द्धमान गया, उस दिन के बाद से, तुम्हें मेरी कोई चाह नहीं रही। फिर तुम केवल मेरी खातिर मेरे पास कभी नहीं आये। मेरी सिसकियाँ सुन कर, मेरी पीड़ा और घाव को सहलाने जरूर आये। नही, मुझे तुम्हारे झूठे दिलासे नहीं चाहिए। मै अपने लिए काफी हूँ। . . जाओ वही, जहाँ तुम्हारा बेटा गया है !'

'रानी माँ, तुम्ही नही, तो और कौन समझेगा मुझे ? वर्द्धमान से बढ़ कर और कौन सा प्रेम हमारे बीच हो सकता है ?'

'प्राणाधिक हो कर भी, कोई बेटा, मेरी अपनी आत्मा से बड़ा नही हो सकता। क्या वर्द्धमान मेरे कहने से रुका ? मुझे रोती-कलपती छोड़ कर अपनी आत्मा की खोज में वह चला गया। मेरी भी अपनी आत्मा है, और वह हर किसी से स्वतंत्र है।'

'वही तो महावीर है। तुम्हारी परम स्वतंत्रता। हर आत्मा की अपनी स्वाधीन सत्ता।'

'मुझे उपदेश नही सुनना। अपनी पीड़ा मुझे उससे अधिक प्रिय है।'

'प्राण, मेरी आत्मा !

'मै किसी की प्राण और आत्मा नही। केवल अपना प्राण, अपनी आत्मा हूँ।'

'इतनी निर्मम तो तुम कभी न हुई, प्रियकारिणी !'

मेरी छाती पर से हाथ हटा लो। मेरा ज़ख्म तुम्हारे सहलावो और पुचकारों का कायल नही !'

'तुम कुछ बुदबदाई थी, चीखने के बाद · 'आह, यह कैसा शूल मेरी छाती के पार हो गया . . !' - -कहाँ है वह शूल, कौन सा शूल ?' - बोलो तृशा, मुझे दूर न ठेलो। अब अधिक जीने वाला नहीं हूँ .

मैने उनके काँपते ओठों को उंगलियों से दाब दिया।

'नाथ, ऐसा न कहो ! मन से तो बेटे के महाभिनिष्क्रमण की रात ही तुम मुझे त्याग चुके थे। पर आँखों के सामने रहो मेरी। बहुत अकिंचन हो गयी हूँ

'तुम्हे त्याग कर कहाँ जाऊँगा ? पर तुम्हे जे रोकने की मेरी सामर्थ्य ही उस साँझ समाप्त हो गयी। बहुत, बहुत बड़ी लगी तुम उस रात। तुम्हारी सुबकती छाती पर रक्खा मेरा हाथ थरथरा रहा था। तुम्हारे उस रुदन को रोक न सका, खुद ही उसमे गल कर बह गया।'

'नही, तुम्हे बहने नही दूँगी। पर मेरे रुदन का अन्त नही। लगता है, कि इस छाती मे सारी सृष्टि का आर्त प्राण सिसक रहा है। पर . पर . मेरे किनारे बन कर रहो, ताकि जगत कायम रह सके, ताकि अस्तित्व जारी रह सके। मै पहले जगत की हूँ, अस्तित्व की हूँ, मोक्ष की नहीं। तुम्हारे बेटे का मोक्ष, मुझे समा नही सकेगा। समुद्र की सार्थकता इसी मे है कि वह बादलों में

घिरे, फिर बरस कर नदी बने। और जब पागल-विकल नदी दौड़ती हुई उसके आलिंगन में आ पड़े, तो वह धन्य हो जाये !'

'ओ मेरी नदी, तुम्ही मुझे समुद्रत्व देती हो। फिर मेरे खारेपन को तुम्ही मधुर बनाती हो। तुम न आओ मेरी बाँहों मे, तो मेरी उत्ताल तरंगों का क्या अर्थ ? मेरी विराटता केवल तुम्हें समेट कर सार्थक हो सकती है।'

एक गहरे आदिम मौन मे, समुद्र नदी को बाँधने का विफल प्रयत्न करता रहा।

'रानी, बड़ा भयानक सपना देखा मैने !'

'मेरा लालू तो सुरक्षित है न ? बोलो, जल्दी बोलो !'

'एक शूल मेरे दोनों कानों के आरपार भिद कर, मेरी रीढ़ को वेधता चला गया। मेरी मूत्र-नलिका मे तीर की तरह सनसनाता हुआ, मेरे मूलाधार के पार हो गया।'

' और फिर मेरी छाती को आरपार वेध गया !'

'ओर तभी तुम चीख उठी ?'

'मै नहीं चीखी, मेरा गर्भ विदीर्ण हो कर चीख उठा। मेरा लाल, मेरा बेटा, मेरी छाती का टुकड़ा। उसे कुछ हो गया है जरूर !'

और मै उठकर अपने स्वामी के वक्ष पर ढलक कर बिलबिला उठी। मुझे सहलाते हुए वे धीरे से बोले

'लगा तो मुझे भी ऐसा ही, रानी। पर अब तक जो उदन्त उसके उपसर्गों के हमने सुने है, उसके बाद अब जगत का कौन सा शूल महावीर की प्राणहानि कर सकता है ?'

'जानती हूँ, उसे मारने वाली सत्ता पृथ्वी पर नहीं जन्मी। पर जो पीड़न उसने अब तक झेले है, उसके आगे का कोई और पीड़न भी तो हो सकता है ?'

'चण्डकौशिक के दश क्या कम थे ? शूलपाणि यक्ष के दानवीय पजो से कौन जीता निकल सकता था ? और संगम देव ने कौन सा त्रास उसे नही दिया ? उसकी शिराओं मे खून नही, बिच्छू बहे। उसकी अतडियो मे प्रलय के समुद्र धँसे। व्याघ्रों और मदोन्मत्त हाथियों ने उसे रौंदा, उसके एक-एक अवयव को फाड़ खाया। फिर भी उसकी सुकुमार काया के ज़ख्म ही नये कमलों की तरह खिल कर, उसके शरीर को और भी तरुण और तरोताजा बना गये। हर पीड़न और प्रहार उसके शरीर को अधिक अखण्ड, अधिक अघात्य बनाता चला गया। '

'सो तो अपनी गोदी के गहरावों मे ज्यों का-त्यों सहा, और प्रत्यक्ष अनुभव किया है। उसके साथ ही जैसे मृत्यु के जबडों म गई हूँ, और उसकी अमृत लेकर लाटी अजुलि ने हर बार मुझे मानो नया अमृत-सा पिलाया है। पर यह घटना उसके आगे की लगती है। कारण '

'क्या कारण ?'

'वे सारे उपसर्ग दैवी माया थे। उसे आक्रान्त और भयभीत करके भी उसकी देह के ठोस पुद्गल को नही भेद सके थे। पर आज पहली बार लगा कि, ठोस पुद्गल मनुष्य के, ठोस पुद्गल शूल ने, मेरे बेटे के मानवीय रक्त-मास को विदार दिया है।' और . और वह चीख उठा है !'

'लेकिन, त्रिशला, क्या लाढ और वज्रभूमि के मानुष-भक्षी म्लेच्छों ने उस पर खूंखार कुत्ते

नहीं छोड़े ? क्या उन कुत्तों ने उसकी पिंडलियों और जाँघों के ठोस मांस नहीं काट गिराये ? क्या आर्यों के मधुर रक्त-मांस के भूखे-प्यासे उन बर्बरों ने उसकी ठोस बोटियाँ चबा-चबा कर अपनी चिर काल की आर्त्त ईर्ष्या और तृष्णा को नहीं भुनाया ? . . क्या कुएँ में डाल कर उसकी ठोस हड्डियों को पत्थरों पर नहीं पछाड़ा गया ? कितने ही राज्यों के चरों और सिपाहियों ने उसे चोर और मुजरिम समझ कर अपने चाबुकों से उसके चमड़े नहीं उतारे ? ठोस मानुषी पंजों ने ठोस मनुष्य महावीर को फाड़ खाने में क्या कमी रक्खी ! पर तब तो उसकी चीख तुम्हें कभी न सुनाई पड़ी, देवी ! मुझे तो लगता है कि, महावीर ज़ख्म और चीख से आगे जा चुका, तृशा।'

'नहीं, मैं किसी धोखे में नहीं हूँ, देवता ! यह उसका अन्तिम जख्म और अन्तिम चीख है। उसके प्राण . . '

'अशुभ न बोलो, देवी ! हम दोनों ही किसी माया के कुचक्र मे पड़ गये हैं। हम भ्रम में हैं। महावीर नहीं, तुम चीखीं रानी ! तुम्हारी आवाज मैने साफ सुनी है।'

'नहीं . . नहीं . . नहीं। तुम नहीं समझोगे। सुनो, फिर सुनो वह चीख़ ! . . देखो, वह हवा में गूँज रही है। मेरा गर्भ चीखा, मेरी छाती विस्फोटित हुई, मेरा विश्व-सम्राट, अखिलेश्वर बेटा चीख उठा। मनुष्य की हिंसा, पशु, राक्षस, देव सबसे अधिक भयंकर होती है। आज मनुष्य के अन्तिम हिंसक बेटे ने, मनुष्य के चरम शरीरी बेटे पर आखिरी प्रहार किया है . . '

'तुम तो किसी अवधिज्ञानी और मनःपर्ययज्ञानी की तरह बोल रही हो, देवी ! '

'केवलज्ञानी की तरह क्यों नहीं ? मेरी योनि बोल रही है। मैं नहीं। क्योंकि वह बिद्ध हो चुकी। वह जान ली गई। उसका भेद खुल गया। वह जीत ली गई अन्तिम रूप से। किस केवलज्ञान से कम है, उसकी यह चीख़, उसकी यह परम वेदना . . ! '

एक गंभीर सन्नाटा हमारे बीच अभेद्य हो रहा।

'मुझे कुछ नहीं समझ आ रहा, तृशा ! मुझे आश्वस्त करो, रानी-माँ ! '

'तुम्हारा बेटा, अब मौत से आगे जा चुका। जाओ, निश्चिंत हो कर सोओ, मेरे नाथ ! '

'लेकिन उसका शरीर ? '

'उसका शरीर सिद्ध और अमर्त्य हो गया।'

'समझा नहीं मैं ? ' शरीर का स्वभाव नहीं अमरता।

'महावीर के लिए कुछ अशक्य नहीं ! '

'मतलब ? '

'यही कि एक शरीर से उसे ममत्व नहीं। क्योंकि वह अनन्त शरीरों में अपने को रच और मिटा सकता है। वह एक साथ असंख्य पिण्डों मे क्रीड़ा करेगा . . ! '

'सुना नहीं ऐसा कभी। किसी केवली ने ऐसा कभी नहीं कहा। कोई त्रिकालज्ञानी, त्रिलोक-पति भी ऐसा दावा नहीं कर सका।'

'काल और लोक तीन पर खत्म नहीं। अनन्त हैं वे। और महावीर की भृकुटि में वे अपने नित नये आयाम खोल रहे हैं, राजन ! '

'कहाँ है वह इस क्षण ? '

'जहाँ उसके सिवाय और कोई नहीं ! '

'त्रिलोक और त्रिकाल से बाहर कहीं ?'

'अपने आप में। अपने स्व-समय में, अपने स्व-देश में। जहाँ सारे देशकाल मात्र उसके आत्म-परिणमन की तरंगें हो कर रह गये हैं।'

'केवलज्ञानी महावीर हुआ हो या नहीं आज की रात, तुम जरूर वह हो गई हो, रानी !'

'ज्ञान से मेरा क्या लेना-देना ? मैं हूँ निरी सम्वेदना, शुद्ध अनुभूति। निपट नारी।'

'माँ . . !'

'आत् . . मा !'

• • •

कब कितनी दूर तक वे मेरे भीनर आये, और जाने कब कहाँ, किस पर पार मे उतर गये, पता ही न चल सका। बस, एक समुद्र को अपने भीतर घहराता अनुभव करती रही। और सहसा ही वह स्तब्ध हो गया। अब मेरी शैया फूल-सी हलकी होकर, अन्तरिक्ष मे तैर रही है। इतनी सार्थक तो वह पहले कभी न हुई। उस रात भी नहीं, जब तुम गर्भ में आये थे, मान !

सुना है, तीर्थंकर की माँ दुबारा गर्भ धारण नही करती। पर कितना ज्वलन्त है यह अहसास, कि आज मैने दुबारा गर्भ धारण किया है। तीनों लोक और तीनों काल मेरी कोख की सीपी मे तरल मुक्ताफल की तरह नैर रहे है। एक मोती के भीतर, असंख्य मोती हैं। और हर मोती के भीतर अनन्त का समुद्र हिलोरे मार रहा है। कितनी विचित्र है यह अनुभूति ! एक नये ही लोक का जन्म होने को है। उसकी प्रसव-पीडा को सहने के लिए यह एक शरीर कम पड़ रहा है। मेरे हर रोंये मे से एक नये शरीर का अंकुर फूट रहा है। कोई ऐसा शरीर, जिसमें शुद्ध चैतन्य की तरग ही मानो आकृत और पिण्डीभूत हो रही हो।

. . हटात् 'गह कैसा बिजली का-सा खटका मेरे मस्तिष्क में हुआ। किसी बहुत ऊपरी प्लैन से, बहुत नीचे के प्लैन पर आ पडी हूँ। मेरी अन्तरिक्ष मे तैर रही फूल-शैया, फिर इस कमरे की ठोस फर्श, छत और दीवारों के बीच आ पड़ी है। क्षण भर पहले भारहीन हो गया मेरा शरीर फिर भारी और सीमित हो गया है। . .

मान, उस दिन तुम मुझे आखिरी वियोग दे कर, बड़ी निर्ममता से मेरा आँचल झटक गये थे। क्या उससे भी तुम्हारे पुरुष का मोक्षार्थी अहंकार तृप्त न हो सका ? जो आज फिर बरसों के बाद, मेरे सोये हुए जख्म को छेड़ कर तुमने उसे नये सिरे से रौंदा और मथ डाला है। तुम्हारे लिए यह निरा खेल हो सकता है, पर मेरे लिए यह हर पल मृत्यु से लड़ कर जीने का संघर्ष है।

. अरे, कौन थी वह, जो क्षण भर पहले मुझ मे विद्युल्लेखा-सी खेल रही थी, गहन मेघमाला-सी बोल रही थी। अब रह गई हूँ फिर े ाक निपट अकिंचन मर्त्य मानवी नारी, एक आदि काल की विरहिणी रमणी और माँ। एक चिर प्यासी, खण्ड-खण्ड दरकती धरती। और उसकी हर दरार मे अबूझ अन्धकार के सिवाय और कुछ भी नहीं है। इस रात जैसे पहली बार, तुम से अन्तिम रूप से बिछड़ गई हूँ, मान ! इन सारे बरसों मे तुम्हारे मरणान्तक उपसर्गों के उदन्त आये दिन सुनती रही हूँ। चाहे जितनी ही वेदना और चिन्ता उनसे हुई हो, पर कहीं भीतर

के भीतर में यह प्रतीति अटल रही कि, नहीं, मेरे मान का घात कर सके, ऐसी ताकत कभी नहीं जन्मी, नहीं जन्मेगी।

पर, आज ? इस मध्य रात्रि के शून्य पल में, वह धरती ही मेरे पैरों से किसी ने छीन ली है। तुम्हारे सिवाय ऐसी सामर्थ्य किसकी हो सकती है, जो तुम्हारी माँ को बेधरती कर दे ।

. . बारह बरस हो गये, तुम्हारा कोई सपना या परछाँहीं तक देख सकूँ, यह तुमने सम्भव न होने दिया। इतने असम्पृक्त, इतने निरासक्त हो कर गये तुम, कि प्रकृति का कोई पुद्‌गल-परमाणु तुम्हारे तन या मन की छाप ग्रहण कर सके, या तुम्हारी चेतना को बिन चाहे रंच भी संक्रमित कर सके, यह शक्य न हो सका। ऐसी वीतरागता, जो सारे लोकाकाश में छा कर रह गई। वह इस अन्तरिक्ष की एक और ही तह, सतह और स्वभाव बन गई। मानो कि सब कुछ को इस कदर तुम अपने भीतर अन्तर्लीन कर गये, कि बाहर से उसके साथ कोई अलग से सम्बन्ध या योग ही अनावश्यक हो गया। तब तुम्हारी माँ तुमसे बाहर कैसे रह सकती थी ? तुम्हारा सपना देखने या झलक पाने को वह अलग कैसे छूट सकती थी ?

तुम्हारे महाभिनिष्क्रमण की सन्ध्या में, जब लौटकर नन्द्यावर्त आई, तो ऐसा लगा कि घर नहीं लौट सकी हूँ, किसी अजान विदेशी समुद्र-तट के अजनबी वीराने में आ उतरी हूँ। . . एक भेंकार सूनेपन में सब कुछ जैसे पर्यवसान पा गया था। नन्द्यावर्त का भव्य सिंहतोरण विजयार्द्ध पर्वत के किसी ऐसे प्रकृत चट्टानी महाद्वार-सा लगा था, जिसमें धँस कर कोई अज्ञात-नाम प्रचण्ड नदी, जाने किस विजन कान्तार में खो गई है। महल की सीढ़ियाँ मानो मैं नहीं चढ़ी, कोई रहसीली प्रेत-छाया उन पर अपनी विचित्र चरण-छापें छोड़ती, किसी अन्तहीन ऊँचाई के नैर्जन्य में चढ़ती चली गई थी। मेरे कक्ष के कोने में खड़ा रत्निम दीपाधार किसी पारलौकिक आत्मा के आकस्मिक आविर्भाव-सा भयावना लगा। आतंकित, रोमांचित हो कर बेतहाशा भागती हुई जब अपनी शैया में जा कर लुढ़क पड़ी, तो अगले ही क्षण जैसे काला बुर्का ओढ़े कोई डायन मुझ पर आ टूटी और उसने मुझे समूचा दबोच लिया। चीखने को हुई, पर मारे भय के चीख तक न निकल सकी। जैसे दो फौलादी पंजों ने मेरे कण्ठ को जकड़ लिया हो।

भय और मृत्यु के उस शरणहीन छोरान्त पर मेरी चेतना सहसा ही स्तब्ध हो गई। एक जामली रेशमीन पर्दा-सा सिमट गया। और देखा कि ज्ञातृ-खण्ड उद्यान के उस अशोक वृक्ष तले, सूर्यकान्त शिला पर निस्पंद खड़ा दूध-सा उजला शिशु, एकाएक मुस्कुरा दिया। उसके प्रभामण्डल में डूबती सूर्य की अन्तिम किरण तले मेरी कोख का कमल पूरा खिल आया, और उसमें तुम चलते ही चले आये। भीतर से भी भीतर, तुम अविराम यात्रित थे, और मेरा भीतर अधिक से अधिकतर खुल कर तुम्हारी पगचापों को झेलता चला जा रहा था। तुम्हारे हर उठते कदम के साथ, अन्तर्देश के भूगोल में खड़े दुर्लंघ्य पर्वतों की साँकलें झन्न-झन्न कर टूटती जा रही थीं। इतनी मुक्त, विदेह और प्रांजल हो गई मेरी चेतना, कि जाने कब मैं गहरी निद्रा की समाधि में सुगन्ध-निद्रित हो गई।

. . किन्तु फिर मुझे रात के पहर में, स्वप्न में ऐसा अनुभव हुआ कि जैसे लोक-शीर्ष पर से औचक ही गिर कर, किसी घोर अँधियारी खन्दक में लुढ़कती चली जा रही हूँ। मेरे मुँह से चीख फूट पड़ी।

. . तब होश में आ कर पाया था, मान, तुम्हारे बापू मेरे बहुत पास लेटे हैं, और अपनी

दोनों प्रेमाकुल भुजाओं में मुझे समूची समेट कर पुचकार रहे हैं, आश्वस्त कर रहे हैं। उनके बारम्बार दुलारने और पूछने पर भी मेरा बोल फूट नहीं सका था। एक विदग्ध गर्वीले मान से मन इतना मूक हो गया था, कि अपनी उस परम एकाकी वेदना को मैं किसी के भी साथ बँटाने को तैयार न हो सकी। तुम्हारे बापू बहुत कातर, विह्वल हुए। फूट कर मेरी छाती पर लुढ़क पड़े। उन्हें ढाँपना तो दूर, उन्हें छूने तक को मेरी बाँह न उठ सकी। उन्हें आश्वासन देने का उपचार भी मुझे निरा मायाचार लगा। अन्तिम एकलता के इस किनारे पर कौन किसी को आश्वासन दे सकता है! . .

. . ज्ञातृखण्ड उद्यान से लौटने के बाद की उस सन्ध्या के उपरान्त, इन बारह वर्षों में फिर कभी तुम्हारे बापू केवल मुझी से मिलने मेरे पास न आये। उस रात भी मेरी चीख पर ही आये थे। और बाद में भी तुम्हारे उपसर्गों के लोमहर्षी समाचार मिलने पर, जब मै बहुत हताहत हो कर आक्रन्द करती थी, तो विवश हो कर दौड़े आते और अनेक तरह से मुझ सहला-दुलरा कर ढारस बँधाते रहते। वर्ना तो इस नन्द्यावर्त मे हम किसी विजन महासमुद्र के बीच दो अपने आप में बन्द रहसीले द्वीपों की तरह ही रहते है। अनिवार्य काम-काजी बातचीत जैसे हम दो यंत्रों की तरह कर लेते हैं। पर फिर भी कैसा अलौकिक है यह अहसास, कि जैसे तेरे बापू चुपचाप मेरी शिरा-शिरा में बहते रहते है, और जैसे मै उनकी धमनियों में ज्वारों-सी उमड़ती रहती हूँ। नितान्त असम्पृक्त एकाकी हो कर भी, हम निरन्तर इस तरह साथ है, जैसे धरती पर छाया आकाश। और उस आकाश के किसी नीलमी टीले पर तुम एक निर्द्वंद्व शिशु की तरह मुक्त क्रीड़ा कर रहे हो। . . पर हाय, मेरा आँचल तरस कर रह जाता है, मेरे स्तन उमड़ कर झर पड़ते हैं, पर . . पर तुम्हें गोद नहीं लिया जा सकता। बस, विवश हूँ कि वह टीला हो रहूँ, जिस पर तुम खेल रहे हो।

. . वैशाली से खबरे आती रहती हैं, कि तुम्हारे जाने के बाद से विदेहों की यह वैभव-भूमि एक अधिक-अधिक खौलती कड़ाही हो कर रह गई है। आये दिन मगध और वैशाली के बीच छुटपुट युद्ध-विग्रह होते ही रहते है। कौन जाने, तुम्हे पता हो या नहीं, शील-चन्दना के स्वप्न की जिनेश्वरी देवनगरी चम्पा का मागधों के हाथों पतन हो गया। विष-कन्या के सर्प-दंश से श्रावक श्रेष्ठ महाराज दधिवाहन की हत्या करवा दी गई। तेरी मौसी पद्मावती शील-चन्दन को लेकर श्रावस्ती चली गयी। वहाँ से तुम्हारी खोज में वे राह-राह भटकती फिरीं। जिस भी ग्राम-नगर पहुँचतीं, पता चलता कि तुम उसी प्रात. काल अन्यत्र विहार कर गये हो। तुम्हारा पीछा करके, कौन तुम्हें पा सकता है? हवा और आकाश को कोई कैसे पकड़ सकता है, जबकि हम ही उनकी पकड़ में जीवन धारण किये है। अपनी ही आती-जाती साँसों का पीछा कर, हम कहाँ पहुँच सकेगे? अपने ही मे लौट कर विरम जाने को विवश हो जायेगे। सुनती हूँ, चन्द्रभद्रा शीला को कोई ऐसा आन्तर-आदेश प्राप्त हुआ है, कि वह कोसल के दासी रानी पुत्र विडूढब से विवाह कर, श्रावस्ती के राजसिहासन की जिनेश्वरी अधिष्ठा-[illegible] जाये। प्रभुताप्रमत्त शाक्य क्षत्रियों से अवमानित दास-रक्त का वरण करके, वह अरिहन्तों के शाश्वत मुक्ति-यज्ञ को आगे बढ़ाये।

• • •

. . कुछ बरस तुम्हारे नवम खण्ड के कक्ष में जाने का साहस न कर सकी। अब कभी-कभी चली जाती हूँ, तो देखती हूँ, कि वह रिक्त नहीं है, शून्य नहीं है : एक अद्भुत सुखद उपस्थिति से वह पूरम्पूर भरा हुआ है। एक-एक वस्तु यथास्थान, कुछ इस तरह अक्षुण्ण और अटल है, मानो कि वे शाश्वती (इटर्निटी) में नित-नवीन होती हुई विद्यमान हैं। हर चीज में जैसे आँखें खुल उठी हैं, और वे इतनी पूर्णता से मुक्त, आश्वस्त और परिपूरित हैं, मानो उनका भोक्ता उनके रेशे-रेशे में नित्य क्रीड़ाशील है। जब भी कभी एकाएक मन उचाट या उदास हो जाता है, तो तुम्हारे उस कक्ष में चली जाती हूँ। तुम्हारे स्फटिक सिंहासन के पायताने लेट जाती हूँ, और लगता है कि यह कौन लपक कर मेरी छाती के पास आ बैठा है, मानो कि मेरी छाती ही कट कर उसका एक टुकड़ा फिर उस पर आ लेटा है।

. . फिर भी नवम-खण्ड से नीचे उतरते-उतरते जाने क्यों मन में गहरे विषाद की कुँवारी जामुनी बदली छा जाती है। इतनी बेकल हो जाती हूँ अचानक, कि हाय इसी क्षण जन्मान्तर या लोकान्तर कर जाऊँ। जैसे यहाँ के इस परिचय और परिवेश में जी नहीं सकूँगी। हर चीज में से तुम्हारी याद उद्ग्रीव हो कर बोल उठती है, और मैं रो पड़ती हूँ। घंटों रोती रहती हूँ। और वह रुलाई ही जाने कब तुम्हें मेरी बाँहों में खींच लाती है। . .

कोई शिकायत या अभियोग मन में नहीं है, फिर भी रह-रह कर एक प्रश्न जी में हूक उठता है कि राह-राह, नगर-नगर, ग्राम-ग्राम, घाट-घाट, जंगल-जंगल, नदी-नदी, कण-कण और दिग्दिगन्त में परिव्राजन कर रहे हो, कि बारह वर्ष से अविराम, अविश्रान्त चल रहे हो, कि वैशाली की धूलि को भी कई बार अपने श्रीचरणों से धन्य कर गये। पर क्षत्रिय-कुण्डपुर की हिरण्यवती का तट कभी तुम्हारी अतिथि पगचाप से चौकन्ना न हुआ ? तुम्हारी परछाँहीं तक योजनों की दूरी से ही नन्द्यावर्त को टाल कर निकल गई। तुमने मध्याह्न सूर्य-बेला की जलती पर्वत-चट्टानों पर चढ़ना कुबूल किया, पर मेरी तरसती-दरकती छाती के व्याकुल निवेदन को एक बार भी खूँद जाना, तुम्हें मंजूर न हो सका ? शायद इसलिए नहीं आये कि, जो द्वार तुम पार कर चुके थे, जो सीढ़ियाँ तुम उतर चुके थे, उनकी ओर लौट कर आना तुम्हारी निरन्तर पुरोगामी यात्रा के नक्शे में सम्भव नहीं था। शायद इसलिए नहीं आये, कि नन्द्यावर्त के सिंहपौर पर भिक्षार्थी हो कर आओगे, और पाणि-पात्र पसार दोगे, तो तुम्हारी माँ को वह सहन नहीं होगा। शायद यह भी सोचा हो, कि जिन माता-पिता और परिजनों का सर्वस्व ही छीन ले गये हो, उनसे और माँगने को कौन-सी भिक्षा शेष रह गयी है ?

कारण जो भी रहा हो, मान, पर यह बात काँटे की तरह मेरे जी में खटकती है, कि सारी दुनिया को अपनाने के लिए क्या यह अनिवार्य था कि हम तुम्हारे नितान्त पराये हो जायें ? सुनती रही हूँ, सहस्रों आत्माएँ तुम्हारी इस महायात्रा में तुम्हारा प्यार पा कर उत्तीर्ण हो गईं। असुरराज चमरेन्द्र के दुर्मद अहंकार को भी तुम्हारे चरणों में शरण प्राप्त हो सकी। पापियों, वेश्याओं और चाण्डालों तक को तुमने गले लगाया। चण्डकौशिक से अपने हृदय-देश तक को दंश करवाया। खोज-खोज कर अपने जनम-जनम के शत्रुओं की प्रतिहिंसा के हाथों तुमने अपने पोर-पोर को नुचवा डाला। अगम्य जल-लोकों में उतर कर सुदंष्ट्र नागकुमार के उबलते वैर के प्रति आत्मार्पित हो गये।

. . पर हमारी भूमि, नगर, आँगन और द्वार से तुमने इतना परहेज किया, कि फिर लौट कर उस ओर मुँह तक न फेरा। अपने जनक-जनेता की अनन्त प्रतीक्षावती आँखों के उत्तर में, एक झलक दिखाना या आँख उठा कर देखना भी तुम्हें गवारा न हो सका ? सारे कारण बूझ कर भी, यह बात कारणातीत लगती है। क्योंकि इतना ममत्व तुम में कहाँ रह गया है, कि तुम जानबूझ कर हमसे बच कर निकलो। सोचती हूँ, चरम अवहेलना शायद उसी की की जाती है, जिसे प्यार करने की विवशता छोरहीन हो गई हो। सो तुम्हारी इस अवज्ञा में भी तुम्हारा अनन्त प्यार देखने को लाचार है, तुम्हारी माँ।

पूछ सकते हो, कि 'तृशला, (माँ तो अब तुम मुझे कहोगे नहीं !), तुम्हीं क्यों न मुझे खोज कर मेरे पास आने को विवश हुईं ?' . . यह तो तुम से छुपा नहीं, मान, कि तुम्हारी माँ का जी कितना-कितना उचाट रहा है। कई आधी रातों में इस कदर बेचैन हुई हूँ, कि इस महल से भाग छूटूँ, और बावली हो कर तुम्हारे पीछे दौड़ी फिरूँ।

. . और देखो न, मेरी चेतना क्या तुम्हारे विहार के दिगन्तों पर ही हर पल नहीं भटक रही है ? . .

. . पर बार-बार यही लगा है, कि तुम्हारे सामने पड़ कर, तुम्हारी मुक्तियात्रा की बाधा ही बनूँगी। वह उपसर्ग अन्य सारे उपसर्गों से अधिक क्रूर होगा तुम्हारे लिए। तुम्हारी माँ तुम्हारी ऐसी हत्यारी कैसे हो सकती थी ? और फिर तुम्हारी उस अवधूत काया, और जंगल-जंगल की धूल से सने और काँटों से फटे तुम्हारे सुकुमार चरणों को देखने का साहस भी मन में जुटा न सकी। सो अपने एकान्त की इस शैया पर, अपनी छाती बिछा कर, अनुपल तुम्हारे उन विश्व-लालित चरणों की चापें झेलने का सुख अनुभव करती, अपने स्तनों की उमड़न में विसर्जित होती रही।

पर मेरा यह इतना-सा सुख भी क्या तुम्हें सहन न हो सका ? जो इस आधी रात, भर नींद में, महाकाल का शूल बन कर तुम मेरी इस चिर प्रतीक्षाकुल छाती को हूल गये। ऐसा लग रहा है, कि इस चरम विदारण के साथ, तुम मानुषिक भूमिका का अतिक्रमण कर, मानुषोत्तर शिखर पर आरोहण कर रहे हो। हमारी इस ऊष्माविल धरती के कण-कण और जीव-जीव की पीर तुम्हारे हृदय को सदा मर्माहत कर देती रही है। प्राणिमात्र की आत्मा में आत्मा उँडेल कर ही तुम अब तक जिये हो। पर इस क्षण ऐसा लग रहा है, कि अपने आत्मोत्थान की यात्रा में, तुम प्राण-जगत की सीमा को भी पार कर गये हो। तन और मन के सारे नाते झंझोड़ कर तोड़ गये हो।

तो क्या, मान, तुम अब मनुष्य नहीं रहे, भगवान हो गये ? हो नहीं गये, तो हो जाने की अनी पर खड़े हो। भगवानों की तो कमी नहीं इतिहास में। हर पत्थर को मनुष्य की भयभीत आस्था ने आदिकाल से भगवान बना कर पूजा है। उस पत्थर की निर्ममता सदा अनुत्तर रही, फिर भी मनुष्य उसी से चिपट कर त्राण पाने के भ्रम मे सदियों से जी रहा है।

उस दूरवासी, सर्व सत्ताधारी पाषाण-भगवान का मैं क्या करूँगी ? सिद्धालय के सिद्धात्मा से मेरा क्या प्रयोजन ? वे अपने त्रिकालाबाधित ज्ञान में हमारे संसार की चिर कष्ट-लीला के निरे अक्रिय साक्षी हो कर ही, अपने आनन्द में मगन रहते हैं। उनका वह आत्मलीन चिद्विलास, मुझे हमारे दु:खाक्रान्त हृदयों के साथ ऐय्याशी लगता है। हम पृथ्वी के वासी, सिद्धालयों में आत्म-रति-मग्न भगवानों के स्वार्थ से अब ऊब गये हैं !

मुझे भगवान नहीं, मनुष्य चाहिए, मान। नितान्त रक्त-मांस में प्रकट हम जैसा ही, हमारा हमराही मनुष्य, जिसके भीतर भगवत्ता स्वयं उतर आने को विवश हो जाये। और वह पार्थिव की आँसू-रक्त-भीनी माटी में अपने अनन्त और अमृत को उँडेल कर पहली बार धन्यता अनुभव करे। मेरे मान, सारे जगत के मान, क्या प्रतीक्षा करूँ, कि किसी दिन तुम्हारे उस भव्य मानव रूप में, भगवान आर्यावर्त की धरती पर चलेंगे ? हमारे घर-घर, आँगन-आँगन, द्वार-द्वार, घाट-बाट, तुम्हारी भगवत्ता से भास्वर हो उठेंगे ?

ऐसा भगवान, जो हर माँ का आँचल हो जाये, हर प्रिया का प्रीतम हो जाये, हर कष्टी की साँसों में बस जाये, जो हमारी इस धरती की धूल में से ही एक नया आकार ले उठे।

. . पर कैसे ? इस क्षण तो तुम मेरी मानुषी योनि का भेदन कर, मानुषोत्तर के शून्य-राज्य में उतर गये हो।

क्या विश्वात्मा होने के लिए, एक बार विश्वोत्तीर्ण हो ही जाना पड़ता है ? पर मेरी योनि को धोखा दे जाओ, यह इस बार सम्भव न होने दूँगी। उसी के द्वार से पुनरागमन किये बिना, तुम्हारी भगवत्ता को यहाँ कौन पहचानेगा ?

मुक्ति-रमणी इस बार, सिद्धालय की चन्द्रिम शैया त्याग कर, तुम्हारे साथ रमण करने को इस पृथ्वी पर ही उतर आई है। वह यहाँ, मेरी इस शैया में, तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है।

शिव और शक्ति

शैशव के बाद, तुम्हारे वयस्क होने पर, बरसों पहले केवल एक बार उस दिन तुम से मिलना हो सका था, वर्द्धमान। तुम्हारे बिन चाहे कोई तुम से मिल सके, यह तुम्हारी सत्ता को क़ुबूल नहीं। सो वही एक मिलन मानो प्रथम और अन्तिम हो रहा। उस दिन की तुम्हारी सूरत-सीरत और भावभंगिमा मेरी आत्मा की शाश्वती में चिर काल के लिए शिल्पित होकर रह गयी है। ऐसी है उसकी मोहिनी, कि मोक्ष का सुख भी उसके आगे फीका लगता है। उस दिन मेरी साँसों से अधिक तुम मेरे समीप आये, फिर भी आकाश से भी अधिक अछूते ही बने रहे। ठीक सामने बैठे थे, लेकिन लगता था कि कहीं और हो, और तुम्हारी याद से प्राण पागल हो रहे थे। तुम्हारे विरह की व्याकुलता से मैं दग्ध हुई जा रही थी। बिदा होते समय तुम्हें अपने आलिंगन में सदा के लिए कैद कर लेना चाहा था, लेकिन तब तक तुम जा चुके थे, और मेरी बाँहों में छूट गया था केवल अपना ही आँसुओं से भीगा आँचल। और वह भी इस क़दर अग्निल, जीवन्त और तुम में लीन हो गया था, कि उसे छूने का साहस न कर सकी थी।

चलती बेर तुमने कहा था : 'एक दिन मुझे राजगृही के चैत्य-काननों में विचरता पाओगी।' सो तो इन बारह बरसों में कई बार देखा ही। लेकिन इससे भी अधिक तुम्हारी अन्तिम बात याद रह गई थी। तुमने कहा था : 'एक दिन तुम्हें लिवा ले जाने को राजगृही आऊँगा, मौसी !'

सो जब मगध में पहली बार, नालन्दपाड़ा की तन्तुवायशाला के श्रमणागार में तुम्हारे

आगमन का उदन्त सुना, तो मैं हर्ष से रो आई थी। स्पष्ट अनुभूति हुई थी कि—मेरा मान मुझे लिवा ले जाने को आ गया है।

सोचा कि जब लिवा ले जाने आये हो, तो तुम स्वयं ही मेरे द्वार पर आओगे, मैं खुद चल कर क्यों तुम्हारे पास आऊँ ? कैसा विदग्ध मान जाग उठा था मन में ! उसी मान की मधुर तपन में सुध-बुध खो कर, जाने कितने दिन अबोला ले कर, अपने महल के कक्ष में बन्द हो रही थी। सम्राट कितनी ही बार द्वार खटखटा कर चले गये, पर मेरा द्वार नही खुल सका था। आकाश, हवा और सूरज भी मेरे उस एकान्त को भंग न कर सकें, इस खयाल से सारे ही द्वार-वातायन बन्द कर दिये थे।

एक लौ-सी भीतर अकम्प जल रही थी, और यही लगता था, कि जब तुम मेरे द्वार पर आकर भिक्षा का पाणिपात्र पसार दोगे, तो मुझे अचूक पता चल जायेगा। और मैं क्षण मात्र में दौड़ी आकर तुम्हारे समक्ष समर्पित हो रहूँगी। वह प्रतीक्षा अन्तहीन ज्वाला हो कर रह गई। पर तुम नहीं आये। जान पड़ता है, मन की चाह के चरम सपने को तोड़ देना ही तुम्हारा एकमात्र दस्तूर है।

. . फिर भी एक दुर्निवार चुटीले मान की कुण्डलिनी मे अपने को कसती ही चली गई थी। यही लगता था, लिवाने आये हो तो राजद्वार पर भी द्वारापेक्षण क्यों करूँ ? मेरे सतखण्डे महल की सीढ़ियों चढ़ कर तुम्हे ही मेरे कक्ष के द्वार पर आना होगा। तुम आकर दस्तक दोगे, तभी सम्राज्ञी चेलना के किवाड़ खुल सकेंगे। . . तुम्हारी वह अनठोंकी दस्तक हृदय की धड़कनें भले ही हो रही, पर मेरे रत्नों के किवाड़ों पर वह कभी न सुनाई पड़ी। यह मानभंग रह-रह कर अपनी छाती पर एक घूँसे-सा अनुभव होता था। हर क्षण उसके स्मरण से मेरे हृदय की ऐंठन बढ़ती ही जाती थी, और कोई जैसे उसे ठोकर मार कर, एक बिजली की-सी छुरी से पर्त-दर-पर्त काटता चला जा रहा था।

एक दिन सोचा कि किस बिरते पर ऐसा अभिमान किये बैठी हूँ ? शायद यह भूल नहीं सकी हूँ कि सम्राज्ञी हूँ, और आर्यावर्त की आसमुद्र पृथ्वी जिस विजेता की तलवार के तेज से थरथरा रही है, उसकी पट्टमहिषी हूँ। . . पर अपने जाने किसी सम्राटत्व से तुम्हें मापने की भूल मुझ से कैसे हो सकती थी। पर अपने भीतर की बद्धमूल हो गयी सम्राज्ञी की सत्ता के आधार को जरूर ही कहीं अवचेतन में कस कर पकड़े हुए थी। किन्तु मगधेश्वर की दस्तक पर भी न खुलने वाले किवाड़ों के कक्ष मे क्या केवल मगधेश्वरी ही बन्दिनी हुई पड़ी थी ? अपने ही आपे के सिवाय, कौन-सा सम्राट् और साम्राज्य मुझे इस कदर विवश कर सकता था ?

छीलती ही चली गई थी अपने को, और अन्ततः पाया था, कि साम्राज्य, सत्ता, महल, कक्ष, किवाड़, रत्न-शैया और सारे ऐश्वर्य पीछे छूट गये है। केवल अधर के पलंग पर एक निराधार नंगी लपट छटपटा रही है ! कितना निष्ठुर है उसका स्वामी, जो एक दिन उसे आ कर उजाल गया था, पर उसके बाद उसने स्वप्न में भी मुड़ कर फिर उसकी सुध नही ली। उसी के बल पर तो अपने अन्तर-राज्य की एकाकिनी सम्राज्ञी बनी बैठी हूँ। . . पर नहीं, मेरा वह मान भी तुम्हे कुबूल न हो सका। मेरा वह स्वप्न भी तुम्हें झटक कर तोड़ देने लायक ही लगा। नारी के उस आखिरी अरमान का भी तुमने मजाक ही उड़ा दिया। मेरे नारीत्व तक से मुझे वंचित किये बिना

जैसे तुम्हें चैन नहीं, ओ अर्द्धनारीश्वर ! मानो कि तुम्हारी नग्नअग्नि शलाका से योनिभेद झेले बिना, कोई नारी तुम्हारी अर्द्धांगिनी नहीं हो सकती।

आखिर हार गई अपना समूचा आपा। इस बीच टपकाये अपने सारे आँसुओं की पोटली अपनी शैया पर फेंक कर, मानो अन्तिम रूप से सम्राज्ञी अपनी रमण-शैया से नीच उतर आयी। उस सेज पर चेलना की भुवन-मोहिनी काया का ताबूत भले ही छूटा हो।

. . अपने टूटे स्वप्न के लहूलुहान टुकड़े और उमड़ती आँखें ले कर, 'इनके' साथ नालन्द के चैत्य-उपवन में तुम्हारे निकट आने को निकल पड़ी। 'इनके' बहुत नाराज होने पर भी रथ पर चढ़कर आना स्वीकार न कर सकी थी। पैर-पैदल चल कर ही आयी थी, और उस राह की धूल के कण-कण से ईर्ष्या करती आई थी, जिस पर तुम उन दिनों विचर रहे थे। मन-ही-मन उस धूल में मिल कर, तिल-तिल मिटती चली गई थी, फिर भी यह अभागी काया निःशेष न हो सकी थी। तुम्हारे श्रीचरणों तक जो उसे पहुँचना था। उनकी रज हुए बिना इससे छूट पाना कैसे सम्भव था।

दूर से ही तुम कायोत्सर्ग मुद्रा में, नग्न तेज की तलवार-से खड़े दिखायी पड़े। उस तेज को सहन न कर सकी। आँखें नीची हो गईं। धरती में धसकती-सी किसी तरह लड़खड़ाते पैरों तुम्हारी ओर बढ़ती चली आई। अर्धोन्मीलित आँखों में केवल तुम्हारे चरणों की ज्योतिर्मय उँगलियाँ श्रेणिबद्ध झलक रही थीं। उन्हीं के सहारे तुम तक पहुँच कर, पाद-प्रान्त की धूलि में लोट गई। अग्नि के उन कमलों को छूने का साहस न कर सकी। फिर भी उन्हें आँचल में बटोर लेने को जी चाहा। पर देखा, कि आँचल ही खिंचकर उन ज्वाला की पँखुरियों में लीन हो गया है। . . इस तरह अनावरण होती चली गई, कि अपने नारीत्व और उसकी लज्जा का बोध ही समाप्त हो गया।

मगधेश्वर तुम्हारे सम्मुख आ कर नमित हुए या नहीं, यह देखने का भान ही कहाँ रह गया था। किसी तरह सम्हल कर जानुओं के बल जब तुम्हारे चरण-प्रान्तर में उपविष्ट हुई, तो देखा कि ये भी मेरे साथ अटूट यंत्रवत्, उसी तरह बैठे हैं। देखा कि बालक की तरह निपट अज्ञानी और किकर्तव्यविमूढ़ हो गये हैं। भृकुटियों का मान अपनी जगह अविचल था, पर आँखें उनकी विस्मय से अवाक् और स्तब्ध हो कर रह गई थीं। एक टक तुम्हें निहार रहे थे, और मानो प्रश्नायित थे कि क्या षट्खण्ड पृथ्वी के चक्रवर्तित्व से भी बड़ी कोई सत्ता हो सकती है ?

भ्रूमध्य में केन्द्रित, नासाग्र पर स्थिर तुम्हारी वह दृष्टि तनिक भी विचलित न हुई। तब हमारी ओर आँख उठा कर देख लो, यह प्रत्याशा कैसे कर सकती थी। आकाश, घास के तिनके और चींटी को देख रहे हो, तो हमें भी देख ही रहे हो। उनमे और आर्यावर्त के सर्वोपरि सत्ता-स्वामी और उसकी सम्राज्ञी में तुम्हारे लिए कोई अन्तर नहीं था। रो आई मैं। मन-ही-मन कितना निहोरा किया, कि मुझे चाहे मत देखो, एक बार निगाह उठाकर इन्हें जरूर देख लो। कितनी मुश्किल और मनुहार से इन्हें लायी हूँ। जिस मगधनाथ की एक नजर पाने को आर्यावर्त के बड़े-बड़े छत्रधारी तरसते हैं, वर्तमान इतिहास का जो प्रथम चक्रवर्ती सम्राट है, राजगृही के पंचशैल जिसके आगे शीश झुकाये खड़े हैं, पूर्वी और पश्चिमी समुद्र की मर्यादाएँ जिसके प्रताप से डगमगा रही हैं, वह श्रेणिक चेलना के आँचल की गाँठ-बँधा तुम्हारे चरणों में उपविष्ट है।

. . पर तुम्हारी सम्यक् और सम-दृष्टि में एक तृण, कण या कीट से अधिक और अलग

क्या कोई हस्ती नहीं ? इन्हें आदत नहीं यह देखने की, कि जीवित लोक की कोई सत्ता इनके समक्ष हो कर इन्हें झुके नहीं। इन्हें कैसा लगेगा, कैसे इन्हें सम्हालूँगी ? होड़ लग जायेगी, और चुनौती होगी मेरे सामने, कि तुम दोनों में से किसी एक को मुझे चुन लेना होगा। नहीं तो शायद चेलना को अपने प्राणों का फैसला कर लेना होगा . . । विदेहों की वैशाली को जो अपने पैर के अँगूठे से कुचल देने को उद्यत और उद्धत हो उठा है, उस वैशाली की एक बेटी को अपनी छाती की फूलमाला की तरह तोड़ कर, मसल कर फेंक देना, उसकी एक चुटकी का खेल ही तो हो सकता है।

मेरी सारी मौन विनतियाँ और आँसू तुम्हें रंच भी विचलित न कर सके, ओ मेरी आत्मा के एकमेव स्वामी ! हार कर गर्दन अपने खड़े जानू पर ढाल दी, और एक निगाह इनकी ओर देखा। हैरत भरी आँखों से एक टक, ये तुम्हारी आजानबाहु जंघाओं के विराट स्तंभों को यों देख रहे थे, जैसे मानुषोत्तर पर्वत के महागोपुरम् को सामने पा कर किसी मानव चक्रवर्ती का चक्र-रत्न चूर-चूर हो गया हो।

. . कितनी मर्माहत हो कर उलटे पैरों लौट पड़ी थी। हमारे पीछे आ रहा हमारा रथ कुछ दूर पर हमारी प्रतीक्षा मे था। इनके साथ चलते हुए रथ तक पहुँचने में भी कितनी कठिनाई हुई थी। मस्तिष्क के केन्द्र से जैसे स्नायु विच्छिन्न हो गये थे। मेरुदण्ड मानो भग्न हो गया था। शिराओं में रक्त का प्रवाह जैसे थम गया था। घुटने टूट गये थे। . . ऐसा लगा, जैसे मर्मर की एक निर्जीव पुतली ही रथ तक पहुँची है। हीरे-पन्नों के स्तूप-सा खड़ा रथ, रंग-बिरंगे पत्थरों के ढेर से अधिक न लगा।

भयभीत और काठ-मारी-सी थी, कि पता नही अब ये क्या कहेगे ?. पर ये भी मूर्तिवत् खामोश और स्तंभित थे। लेकिन इतना स्पष्ट अपने हृदय मे अनुभव कर सकी कि इनके भीतर भूचाल थमा हुआ है। अपनी हार को न स्वीकारने की हठ से इनकी मुख-मुद्रा इतनी अभेद्य और पथराई लगी, कि मेरी पुतलियाँ भी इनकी ओर देखते-देखते मानो पथरा कर रह गई। मेरी चितवन को देख कर ये विगलित न हो जायें, ऐसा पहली बार हुआ था। मोन-मौन ही हम महल लौट आये।

• • •

उस दिन नालन्द से लौट कर फिर ये मेरे कक्ष मे नही आये। इनकी अन्यमनस्कता को मैं एक क्षण भी नहीं सह सकती। पर इनके पास स्वयं जाने की हिम्मत भी नहीं हुई। मुझसे अधिक इनको कौन समझेगा, सिवाय तुम्हारे, मान ! इनकी रग-रग को अपने रेशे-रेशे में महसूस करती हूँ। जो काँटा इनके जी में गहरा गड़ गया था, उसकी चुभन को अपने हृदय में अचूक अनुभव कर रही थी। अपराजेय मगधेश्वर को, इतना परिजात, म्लान और सर्वहारा तो कभी नहीं देखा था। लगता था कि अपने पलंग पर एक परवश नन्हे शिशु की तरह सोये पड़े हैं। . . उसे जगाना, तो प्रलय को जगाना है। और उस प्रलय की निष्फलता पर मेरा मन अपार करुणा से भर आया।

. . सोचो, ऐसी स्थिति में, कितनी मुश्किल से इन्हें उठा कर फिर दुबारा तुम्हारे पास ले

आयी थी। रास्ते में मेरे कहे को इन्होंने चुपचाप सुना और गुना था।

जब हम आये, तुम तन्तुवायशाला के एक कोने में ध्यानस्थ खड़े थे। समझ नहीं सकी, कि सैकड़ों कर्घों की उस खटखटाहट में, तुम कौन-सा ध्यान कर रहे थे? ध्यान तो एकान्त नीरव में होता है, ऐसा ही सुनती आई हूँ। . . पर वहाँ उपस्थित तुम्हारी मुद्रा देख कर, स्पष्ट अवबोधन हुआ कि तुम्हारे लिए ध्यान निरा अन्तर्मुख एकान्त-सेवन नहीं, वह प्रतिपल का सम्पूर्ण जीवन है। तुम्हारी दृष्टि में लगा, कि वह सारी तन्तुवायशाला तुम्हारे भीतर चल रही है, और तुम अपने में अविचल स्तब्ध हो। गति और स्थिति के सन्तुलन का ऐसा सचोट दर्शन पहली बार हुआ।

पास पहुँचते ही इन्होंने विनम्र निवेदन किया :

'मगधनाथ श्रेणिक प्रणाम करता है, भगवन् !'

और ठीक इनके अनुसरण में मेरे मुँह से उच्चरित हुआ :

'वैदेही चेलना प्रणाम करती है, भन्ते !'

और फिर एक स्वर में ही मानो हम दोनों ने अनुरोध किया :

'मगध के साम्राजी श्रमणागार का आतिथ्य स्वीकारें, भगवन् !'

. . पर न तुम हमारी ओर उन्मुख हुए, न तुमने कोई उत्तर दिया। उत्तर मिला केवल इस रूप में—कि तुमने अपना दायाँ हाथ उठा कर, कर्घों पर तेजी से घूम रहे हजारों पंक्तिबद्ध हाथों पर उँगली उठा दी।

मानो कि तुमने कहा हो : 'देख श्रेणिक, पृथ्वी का आगामी साम्राज्य बुना जा रहा है !'

मैंने फिर कातर कंठ से अनुनय की :

'देवानुप्रिय, हमारी सेवा स्वीकारें। मगध के महालय को अपनी पदरज से पावन करें।'

लेकिन तुम चुप रह कर फिर प्रतिमा-योग में निश्चल हो गये।



मैं तो और भी गल कर ही लौट सकी। व्यथा का पार नहीं था, फिर भी तुम्हारे प्रति कोई अनुयोग-अभियोग मन में नहीं जागा। तुम्हें केवल समझते और सहते चले जाना है। और कोई गति मेरी नहीं है।

पर अब रूटने और बन्द होने की इनकी बारी थी। इनके कक्ष के नीलमी कपाट सारी दुनिया के लिए बन्द हो गये। चेलना के हलके-से दूरागत नूपुर-रव से भी विदग्ध हो जाने वाले प्रीतम के बन्द कपाट पर चेलना के माथे की पछाड़ और चीत्कार भी व्यर्थ हो गई।

तब एक ही मार्ग मेरे लिए शेष रह गया। . . तुम्हारी प्रतीक्षा की राह में बिछती ही चली जाऊँ। देखूँ, कैसे नहीं आओगे मेरे पास ! प्रतिदिन बड़ी भोर से ही राजद्वार पर श्रीफल-कलश ले कर तुम्हारा द्वारापेक्षण करने लगी। हर दिन गोचरी की बेला सूनी ही टल जाती। मगध की असूर्यंपश्या अपरूप सुन्दरी राजराजेश्वरी को, यों घंटों द्वार पर अडिग खड़े रह धूप में तपते देख कर, सारी राजगृही और उसका वैभव सनाका खा गया। मगध में अपवाद फैल गया कि महारानी चेलना देवी, निगंठ नाथपुत्त की तापसी हो गई है।

समुद्र-कम्पी मगधेश्वर का सिंहासन और देवोपम ऐश्वर्य तुम्हारी प्रतीक्षा में पथरा गया। मगध का साम्राजी सिंहतोरण तुम्हारी पदरज का भिखारी हो कर रह गया। पर भिक्षुक हमारी राह नहीं आया। हमारा महाद्वार ठोकर खाया-सा मानो धूलिसात हो रहा।

पंचशैल के अरण्यों में तुम तमाम जंगम के पास स्वयं ही गये। कंकड़-पत्थर, कीट-पतंग, कास-कुस, जाला-मकड़ी, मच्छर-पिस्सू तक तुम्हारे पूर्ण स्पर्श का सुख पा सके। गृध्रकूट की गुफाओं के सदियों पुराने अगम अँधेरे भी तुम्हारे आलिंगन में भास्वर उठे। राह के हर दीन-अकिंचन ग्रामीण, खेतिहर, कम्मकर, डोम, चाण्डाल तक के लिए तुम चलते-चलते रुक जाते। मुस्कुरा कर उद्बोधन का हाथ उठा देते। तंतुवायशाला के कर्घों तक से तुम एकतान हुए। मतिमन्द मंखलि गोशाल की मूढ़ वाचालता को भी तुम हर समय सहते रहते थे। वैभार की उपत्यका के दुर्दान्त हिंस्र कान्तार में अकारण ही घुसते चले जाना, तुम्हारा मामूली क्रीड़ा-कौतूहल था।

पर चेलना की राजगृही की ओर देखना, तुम्हें किसी भी तरह गवारा न हो सका। संकल्प तो तुम में था ही नहीं, फिर कैसे कहूँ कि तुम हठपूर्वक हमारी अवज्ञा कर रहे थे। विकल्प और विद्वेष के राज्य से उत्तीर्ण हो कर ही मानो तुम जन्मे थे। सोचती थी, जो अपने प्राणहारी शत्रु की भी अवहेलना नहीं करता, खुद होकर उसके पास जाता है और उसे गले से लगा लेता है, वह हमारी अवज्ञा करे, इतना छोटा वह कैसे हो सकता है।

तुम्हें समझने मे चेलना भूल नहीं कर सकती, महावीर ! फिर भी अबूझ है यह रहस्य कि सारे लोक को अपनी बाँहों मे समेट कर भी, तुम मुझे पीठ दे कर क्यों निकल गये हो ? . . पर चोट जिस मर्म पर तुमने दी है, उस ने समझा दिया है, कि मै तुम्हारी कौन होती हूँ। मौसी नही, मगध की राजेश्वरी नही, सौन्दय की मानकेश्वरी नहीं। . . केवल एकमेव चेलना, सब से अलग, केवल तुम्हारी। इतनी तुम्हारी, कि अलग से उसे लक्ष्य करना सम्भव ही नहीं, अतः आवश्यक भी नहीं। सो जितनी ही अधिक दूर ठेल रहे हो, उतनी ही अधिक तुम्हारे निकट आ रही हूँ।

पर सम्राट का समाधान कैसे हो ? तुम तो उन्हें सदा से बेहद प्यार करते रहे हो। दूर से ही तुम उनके दिल की हर हरकत का पढ़ते रहे हो। कपट की कुंचना तो उनमें कहीं है ही नहीं। फिर यह क्या हो गया है तुम्हे, कि तुमने प्रथम मिलन मे ही उन्हें उठा कर दूर फेंक दिया ? उन्हें स्वीकारने से तुमने इनकार कर दिया। उनके मान को तुम ठुकरा सकते थे, पर उनके प्रणाम को भी तुमने ठुकरा दिया। कहीं ऐसा तो नही है, कि वैशाली का राजपुत्र श्रमण, वैशाली के आक्रमणकारी और शत्रु को भूल नहीं सका है ?

. . तो जानो लिच्छवि-पुत्र वर्द्धमान, मैं केवल वैशाली की बेटी नही, मगध की सम्राज्ञी भी हूँ। मेरे हृदय-सम्राट् का अपमान मेरा अपमान है। यह नहीं हो सकता कि तुम चेलना को उनसे छीन लो। यह नही हो सकता, कि तुम चेलना को ले लो, और उन्हें टाल कर अकेला कर दो। यह नहीं हो सकता, कि वैशाली की विजय के लिए वैशाली का तीर्थंकर राजपुत्र अपने अजितवीर्य के प्रताप से मगध को रौंद जाये।

. . हाय, बलिहारी है मेरी दुर्बुद्धि की। चण्डकौशिक महासर्प की डाढ़ में अपना हृदय दे देने वाले महावीर पर ऐसी शंका करना क्या असत्य, अज्ञान और अन्याय की पराकाष्ठा ही नहीं

है ? यह भी कैसे कहूँ कि तुम्हारे प्यार में इनके और मेरे बीच अन्तर हो सकता है।

तुम एक बार इनके साम्राजी महाद्वार पर अपने श्रीचरणों के कमल आँक देते, तो इनकी आत्मा की जनम-जनम की फाँसियाँ, एक ही झटके में कट जातीं। तुम्हारे एक दृष्टिपात मात्र से इनकी सारी ग्रंथियाँ सुलझ जातीं। तुम्हारे प्यार की एक चितवन मात्र से ये चिन्मय हो जाते।

. . फिर यह क्या हुआ, वर्द्धमान, कि इनको इतनी निर्ममता से नज़रन्दाज़ करके तुमने इनके हृदय को अन्तिम ग्रंथि से कस दिया ? इनकी पीड़ा की कल्पना मात्र से मैं सहम उठती हूँ, और रो-रो पड़ती हूँ। पर तुम हो कि मेरी छाती-तोड़ रुलाइयों के प्रति भी निरे पाषाण हो कर रह गये हो।

जब नहीं रहा गया है, तो भरी दोपहरियों मे, पंच-शैल के अरण्यों में तुम्हारी खोज में बावली-सी भटकती फिरी हूँ। और आखिर तुम्हें अचानक सामने पा कर, तुम्हारे चरणों में पछाड़ खा कर पड़ गई हूँ। तुम्हारे पदनख पर अपनी लिलार का तिलक और माँग का सिंदूर रगड़-रगड़ कर बिलखती रही हूँ। और इस तरह अपने सौभाग्य की भीख तुमसे माँगी है। पर हार कर पाया है, कि उस अँगूठे की अविचल कठोरता के आगे मन्दराचल भी पानी भर गया है।

घंटों, पहरों, तुम्हारे चरणों के निकट बैठी·बिसूरती रही हूँ, आँसू सारती रही हूँ। तब मुझे देख कर विपुलाचल का शिखर काँप उठा, तमाम जड़ जंगम कातर हो आये, पर तुम्हारी समाधि नहीं टूट सकी। पीड़ा का पार नहीं है, पर ऐसा लगता है, कि जिसे अपना कर तुम अपने समान बनाना चाहते हो, उसी की ऐसी दारुण परीक्षा तुम लेते हो। तुम्हारी अविचलता की कसौटी पर जो ठहर सके, वही तो निश्चल होने की सामर्थ्य प्राप्त कर सकता है। जान पड़ता है, भगवान अपने प्रियतम जन को इसी तरह प्यार करते हैं।

• • •

एक आधी रात अचानक मेरे कक्ष के किवाड़ पर दस्तक हुई। पल मात्र में पहचान गई, कौन आया है। किवाड़ खोल कर उलटे पैरों लौट आई। अचानक जैसे बिजली कड़की :

'वर्द्धमान क्या चाहता है ?'

'जो तुम चाहते हो, देवता !'

'साम्राज्य ?'

'धरती का नहीं, धर्म का।'

'मेरे ऊपर हो कर ?'

'धर्म तो सबसे ऊपर है ही, स्वामी !'

'मेरी धरती पर ?'

'धरती किसी की नहीं। न कभी हुई है। पूरा इतिहास भ्रम में है।'

'श्रेणिक बिम्बिसार किसी भ्रम में नहीं।'

'हो भी, तो इसके बाद नहीं रह सकोगे ?'

'चेलना . . !'

'स्वामी . . !'

'मैं या वह ?'

'मेरे मन में तुम्हारे और उनके बीच की दीवार टूट गई !'

'इसी लिए तो गंगा-शोण के संगम-जल पर मागधों और वैशालकों की तलवारें टकरा रही हैं।'

'पर क्या वे गंगा की अखण्ड धारा को काट सकीं ?'

'मैं अपनी भुजाओं से गंगा की धारा मोड़ दूँगा। उसके गलत प्रवाह को तोड़ दूँगा।'

'वह तलवार से सम्भव नहीं। वह महावीर मे सम्भव है।'

'मतलब ?'

'यही कि तुम्हें कष्ट नहीं करना होगा। बाहुबल और तलवारे आपोआप गिर जायेगी। महावीर अपनी मुस्कान मात्र से वह कर देगा।'

'उसकी सामर्थ्य ? उसकी हैसियत ?'

'यही कि उसके तन पर तुम्हारी धरती का एक तार भी नही। उसकी ताकत तलवार और प्रहार की कायल नही। सम्राटों की धरती उसकी एक पदचाप को तरसती है। पर तुम्हारी जमीनों पर उसका पैर टिकता नहीं। बहते हुए आकाश की अपनी कोई सत्ता नही, इयत्ता नहीं। फिर भी सारी सत्ताएँ उसके भीतर कायम हैं। उसके साम्राज्य से बाहर कुछ भी नहीं। तुम भी नहीं, मैं भी नहीं, नाथ !'

'तुम्हें निर्णय कर लेना होगा, चेला। मगध या वैशाली ?'

'ऋजुबालिका नदी के तट पर वह सीमा अन्तिम रूप से टूट गई। मेरी रक्तधारा में वैशाली और मगध एक हो गये।'

'काश, मै तुम्हे इतना प्यार न करता होता, चेला ! मेरे हृदय मे आखिरी चाकू उतार दिया तुमने। फिर भी . .।'

'फिर भी क्या ?'

'तुम अधिक प्यारी लग रही हो !'

'चेलना की शैया, अपने स्वामी की प्रतीक्षा में है।'

'अंगारों पर कौन लेट सकता है ?'

'मेरी आग से बच कर कहाँ जाओगे ?'

'आसमुद्र पृथ्वी का साम्राज्य मेरी प्रतीक्षा मे है।'

'चेलना की शैया से बाहर वह कही नही है !'

'तुम्हारे इस मान को तोड़े बिना, श्रेणिक को चैन नही।'

'मान तो अपना कोई नही रक्खा, सिवाय न ्गन के। ओर वह तुम्हारे प्रहार के इन्तजार मे है।'

'उसे टूट जाना होगा।'

'हर टूटन पर जो अधिक अखण्ड होता गया उसे तोड़ कर क्या पाओगे ?'

'तुम्हें। इतिहास का एक अश्रुतपूर्व साम्राज्य।'

'तो तुम अब तक मुझे पा नहीं सके ? . . सुनो, चेलना और वह साम्राज्य तुम्हें अन्तिम रूप से दे देने को ही तो महावीर आया है ! '

'यह मेरे वीर्य का अपमान है।'

'मेरे होते वह कौन कर सकता है ! पर . . पर मुझे पहचानने को तुम्हें अजितवीर्य हो जाना पड़ेगा।'

'इसका निर्णायक कौन ?'

'मेरी शैया ! '

एक गहरा, अटूट सन्नाटा।

'बैठोगे नहीं ? आओ मेरे पास।'

'मेरी धरती ही तुमने छीन ली, चेला ! बैठने को अब क्या बचा है ! '

'इस ओर देखो। पहचानो अपनी धरती को। अब भी जमीन पर ही रहोगे ?'

मैं धप से फर्श पर बैठ गई। और वे मेरी गोद में ढलक आये।

• • •

. . लेकिन फिर उस रात जो मेरी गोद से उठकर वे गये, तो जैसे खो ही गये। महल तो क्या, मगध के सीमान्तों तक भी उनका पता न चल सका। ऐसा पहली बार नहीं हुआ था। पर इस बार उनका यह गुम हो जाना, बाहरी से अधिक भीतरी लगा। यों उनके भीतर के भूगोल को भी मैंने हदों तक जाना है। लेकिन ऐसा प्रतीत हुआ, कि इस बार वे उन हदों तक को तोड़ कर, उस आखिरी अन्धकार रात्रि मे खो गये हैं, जिसका अन्त उजाले के सिवाय और हो नहीं सकता। . .

चिन्तित कम नहीं हूँ, पर निश्चिन्त भी कम नहीं हूँ। फिर भी अनिवार्य हो गया है, कि अपने को और अधिक तलाशूँ, अपनी स्थिति को और अधिक स्पष्ट रूप से समझूँ। कहीं ऐसा तो नहीं है, कि मेरा पातिव्रत्य खतरे में पड़ गया है ? क्या पति और त्रिलोकपति के बीच कोई खाई सम्भव है ?

आर्यावर्त की सतियों की तो यही परमोज्ज्वल परम्परा रही है, कि अपने पति के प्रति पूर्ण आत्मार्पण के द्वारा ही उन्होंने स्वयं परमात्मा को प्राप्त कर लिया। और फिर अपनी आत्मा को भी प्राप्त कर लिया। इसी समर्पण की राह वे स्वयं भगवती-स्वरूप हो रहीं। सावित्री ने सत्यवान से बढ़ कर किसी और भगवान को नहीं जाना, नहीं माना, और अपने इस सम्पूर्ण प्यार के बल वह स्वयं यमराज से अपने पति का प्राण जीत लाई। मृत्युंजयिनी तक हो गई। राधा अपने आराध्य परम प्रीतम कृष्ण से सदा बिछुड़ी ही रही। पर अपने देवता की आजन्म कुँवारी रानी रह कर, अनन्त काल में भगवान के साथ अभिन्न भगवती हो कर खड़ी हो गई। उसने ब्रह्म-पुरुष के लिंगातीत एकाकीपन के मान को सदा के लिए भंग करके, इतिहास में युगल भगवत्ता का अपूर्व नया मान स्थापित कर दिया।

. . दक्ष-कन्या सती ने अपने पति शंकर की सम्मान रक्षा की खातिर जीते जी हवन-कुण्ड में कूद कर अपने प्राण दे दिये। और अपनी इस आत्माहुति के बल स्वयं देवात्मा

हिमालय की बेटी हो कर वह फिर जन्मी । और तब अपनी अटल तपस्या से, दुर्द्धर्ष एकाकी अवधूत महाशिव की समाधि के कैलासशिखर को उसने कँपा दिया । और तब स्वयं कामदेव की सहायता से उसने कामातीत शंकर को सदा के लिए जीत लिया । फलतः आर्यावर्त के लोक-हृदय पर, वे अखण्ड एकल विहारी ब्रह्मचारी शंकर, पार्वती के साथ ही सदा के लिए खड़े हो रहने को बाध्य हो गये !

. . बोलो महावीर, तुम क्या कहना चाहते हो ? मेरी यह प्रतीति गलत तो नहीं ? हज़ारों वर्ष का इतिहास और पुराण इसकी साक्षी दे रहा है । फिर भी तुम चुप क्यों हो, महावीर ? भले ही चुप रहो । मेरा यह संकल्प अचूक और अटल है, कि नारी अपने स्वधर्म मे रह कर ही तुम्हें प्राप्त करेगी । और इसी के बल वह तुम्हारे मोक्ष -मन्दिर के कपाट बलजबरी तोड़ कर, तुम्हारे बराबर में आ खड़ी होगी । मुझे अपने साथ लेकर चलोगे, तभी मेरी देह-रूप पृथ्वी पर, तुम अपना धर्म-साम्राज्य स्थापित कर सकोगे । मेरी कोमला माटियों में अपने कैवल्य के बीज बो कर ही, वसुन्धरा पर तुम्हारा तीर्थंकरत्व सिद्ध और सफल हो सकेगा ।

. . वे तो मेरी नजरों से ओझल हो ही गये हैं । और यह जानते हुए भी कि तुम इस समय कहाँ खड़े हो, तुम्हारे पास आने की हिम्मत नहीं हो रही है, वर्द्धमान । अपने पराजित और म्लान नारीत्व को ले कर, किस मुँह से तुम्हारे निकट आऊँ ? जब आऊँगी, इन्हें अपने साथ अटूट युगलित लेकर ही भरीपूरी और प्रफुल्लित आऊँगी । और तब देखूँगी, कि शक्ति को इनकार करके तुम्हारे शिवत्व की सत्ता कैसे खड़ी रह पाती है ! . .

कामधेनु पृथ्वी का चरम दोहन

इस उदास सन्ध्या में अकेली विपुलाचल के पादप्रान्त में आ बैठी हूँ । भीतर मानो जनम-जनम की यादों के जंगल हहरा उठे है । याद आ रहा है, अपनी विलक्षण नियति का वह षड्यंत्र, जिसने मुझे मगध की सम्राज्ञी बनाया । आज बरसों बाद पहली बार, अपने अतीत की उस मर्म-कथा को अपने अणु-अणु में फिर से जी रही हूँ ।

याद आ रहा है, अयोध्या का वह अनोखा चित्रकार भरत । उस अकिंचन कलाधर ने अयोध्या की राजकुमारी वासवी को प्यार करने का अपराध किया था । एक बार पावस की एक बादल-छायी बेला में वन क्रीड़ा करती वासवी की एक चितवन मात्र उसने देख ली थी । उसके मनोवन में एक कुरंगी और मयूरी नाच उठी थी . उसके बाद उसके प्रेम की तन्निष्ठ आग और एकाग्रता ने उसकी कल्पना को इतना पारदर्शी, अचूक और ज्वलन्त कर दिया, कि उसने अपने सैकड़ों चित्रपटों में, वासवी की पल-पल की हर भंगिमा के साथ उसे सर्वांग साकार कर दिया । स्वाभाविक था कि वासवी के आत्म-राज्य को उसने अपनी विदग्ध कचौट से आरपार भेद दिया था । उसके मन की हर तरंग को उसने अपनी तूलिका से गिरफ्तार कर लिया था ।

भरत के वे अग्निम चित्र वासवी तक पहुँचे बिना न रह सके। उसे लगा कि यह कौन तेज-पुरुष है, जिसने उसकी रग-रग और रोंये-रोंये को अपने फलकों पर अनावरण कर दिया है ? वह उसे देखने और पाने को बावली हो गई। वह प्रायः मूर्च्छित और विक्षिप्त-सी रहने लगी। अयोध्यापति को इस रहस्य का पता लगाने में देर न लगी। . . बात की बात में भरत को मुश्कियों से बँधवा कर, अयोध्या की सीमा से निर्वासित करवा दिया गया।

इस निर्वासन और विरह-व्यथा से, भरत की कल्पना और उसका विज़न अधिकाधिक सतेज और वेधक होता चला गया। आर्यावर्त के जनपदों में भटकता हुआ वह अपने नित-नव्य चित्रों की मोहिनी के बल जाने कितनी ही असूर्यंपश्याओं का मनमोहन हो गया।

अपने इसी अलक्ष्य भ्रमण के दौरान वह एक बार महानगरी वैशाली आया। उसने एक दिन वैशालीपति की परमा सुन्दरी बेटियों—ज्येष्ठा, सुज्येष्ठा, चन्दना और चेलना को, 'महावन उद्यान' में वसन्त-क्रीड़ा करते देख लिया। कुछ समय में ही उसने चारों राजकुमारियों का एक भव्य चित्र आँका, और अपना चित्रपट ले कर वह वैशालीपति महाराज चेटक के राजद्वार पर आ उपस्थित हुआ।

. . हमारे उदात्तमना, निर्मल हृदय, सम्यक्-दृष्टि बापू ने उस रूपदक्ष का स्वागत किया। हृदय से उसका सम्मान किया। उसके चित्रपट देख कर वे उसके कला-कौशल पर मुग्ध विभोर हो गये। हम लोगों को बुलवा कर चित्रकार से हमारा परिचय कराया गया। याद आता है, जब हम चारों सम्मुख हुईं, तो केवल एक बार आँखें उठा कर भरत ने सहज शीलपूर्वक हमारा अभिवादन किया था। उसके बाद वह मौन-मुग्ध मात्र नमित नयनों से ही जैसे हमारे पदनखों को देखता रहा। आँख उठा कर दुबारा उसने हमारी ओर नहीं देखा। पर प्रथम साक्षात्कार की उसकी वह उज्ज्वल दृष्टि आज तक मैं भूल नहीं सकी हूँ। अलख सौन्दर्य का वह चितेरा, अपनी भाव-भंगिमा से कुछ ऐसा लगा, मानो कि स्वर्ग से च्युत हो कर कोई देवकुमार पृथ्वी पर भटक रहा है।

उस दिन के बाद फिर भरत से मेरा कभी आमना-सामना नहीं हुआ। बस, एक झलक भर ही तो उसने मुझे देखा था, पर ऐसा लगा था, जैसे कोई बिजली की-सी तूली मेरे रेशे-रेशे में जाने कितने रंग बहा गई हो।

बापू ने बड़े गौरव के साथ हम चारों बहनों का वह चित्रफलक राज-द्वार के कक्ष-गवाक्ष पर टँगवा दिया था। सारी वैशाली उसे देखने को उमड़ी थी। और भरत के चित्र-कौशल की कीर्ति सौरभ बन कर लक्ष-लक्ष हृदयों में व्याप गई थी।

यह भी सुनने में आया था कि भरत ने देवी आम्रपाली को केवल एक सन्ध्या में, उनके गवाक्ष पर पूनम के चन्द्रमण्डल-सी उदीयमान देखा था। और उसी एक दर्शन के आधार पर उसने, उनके एकान्त बन्द कक्ष की, ऐसी गोपन शैयागत मुद्रा में उन्हें अंकित किया था, जो किसी महायोगिनी की तल्लीन समाधि से कम नहीं लगती थी। देवी के पास जब वह चित्रपट पहुँचा, तो वे स्तम्भित रह गईं। अपना सब से प्रिय हीरक-हार उन्होंने पुरस्कार-स्वरूप भरत को भेजा। भरत ने यह कहकर वह लौटा दिया कि : 'देवी की दृष्टि ने मुझे पहचाना, तो मेरा चित्रांकन कृतकाम हो गया। हीरक-हार से उस दृष्टि को बाधित करूँ, ऐसा आभागा मैं नहीं। . . और प्रवासी के पास उसे रखने की जगह भी कहाँ है ?'

कहते हैं कि देवी आम्रपाली यह उत्तर सुन कर बहुत कातर हो आइ थीं। स्वयं अपने रथ पर आरूढ़ हो कर वे 'महावन उद्यान' में भरत के कुटीर-द्वार पर उसे लिवा लाने गईं थीं। उनके जी में आया था, कि उसे वे 'सप्त-भूमिक प्रासाद' मे राजसी वैभव के साथ रक्खेंगी। उसे 'वह घर' देगी, जिसकी खोज में कलाकार चिर काल से भटक रहा है, ताकि अपना वह अभीप्सित 'घर' पा कर, वह अभिशप्त कामकुमार चेतना और सौन्दर्य के नित-नये स्वर्ग अपने फलकों पर खोलता चला जाये।

भरत के कुटीर-द्वार पर पहुँच कर देवी ने उसे शून्य पाया। पंछी अपनी उड़ान पर कहीं और निकल चुका था। बहुत खोज-तलाश करने पर भी फिर देवी भरत को न पा सकीं।

योगायोग कि चैत्र के एक अपराह्न में मेरी तीनों छोटी बहनें ज्येष्ठा, सुज्येष्ठा और चंदना—मँजरियों से महकते और कोयल से कुहकते एक आम्रकानन में विचर रही थीं। तभी एकाएक भरत कहीं से उनके सामने आ खड़ा हुआ। पता-ठिकाना पूछने पर उसने कोई उत्तर न दिया। बहुत मनुहारें करके वे हार गईं; पर भरत को वे बहला और बुलवा न सकीं। मुस्कुरा कर वह चुप हो रहता, और अन्यत्र देखने लगता।

तब मेरी चतुर-चालाक बहनों ने उसे मुखर-मुख़ातिब करने की एक युक्ति सोची। उन्होंने भरत से प्रस्ताव किया कि वह चेलना का एक सच्चा, तद्रूप, नग्न चित्र अंकित करे। परीक्षा की चुनौती के साथ उन तीनों ने उस पर कटाक्ष पात किया। भरत तब बोला ·

'भगवती चेलना चाहेंगी, तो अवश्य वे मेरे फलक पर निरावरण हुए बिना रह सकेंगी। मैं कौन होता हूँ उन्हे नग्न करने वाला !'

लौटने पर चन्दना ने जब भरत का यह उत्तर मुझे सुनाया, तो एक ऐसी समर्पिति मेरे हृदय में उमड़ी कि मेरा पोर-पोर खुल कर निवेदित हो आया। मेरे कुमारी जीवन का वह विलक्षण संवेदन मुझे आत्मानुभूति के प्रथम पारस-परस सा लगा था।

. . एक दिन अचानक तड़के ही भरत आया, और द्वार-पौर पर चन्दना को बुलवा कर चित्रपट सौंप दिया। और चुपचाप उलटे पैरों लौट गया।

. . मेरा नग्न चित्र देख कर, मेरी बहनें विस्मय से अवाक् रह गईं। जब मैंने भी एकाग्र उसे देखा, तो लगा कि हाय, विदेह हुई जा रही हूँ। जन्मजात वैदेही को भरत ने आरपार देख लिया। मेरी आँखे नीची हो गईं। मेरा बोल न फूट सका। अपने सारे गुह्यांगों में एक विप्लव का-सा अनुभव हुआ। मेरे गोपन अगों और अवयवों के सूक्ष्म से सूक्ष्म उभारों, भंगों और लयों को भी उसने अपनी रेखाओं मे दाद्रष्ट उजाल दिया था।. . चेलना के गुप्तांगों के तिल, लांछन और अन्य सूक्ष्म रेखा-चिन्ह तक उसने ज्वलन्त आँक दिये थे।

इतने बड़े सत्य और सौन्दर्य पर पर्दा कैसे डाला जा सकता है। बात वैशाली के महलों और अन्त·पुरों में व्यापती हुई, ज्वाला की तरह जन-जन तक पहुँच गई। मुझे और भरत को जोड़ कर अनेक कलंक-कथाएँ तक चल पड़ीं। सरल चित्त महाराज-पिता चेटक और माँ सुभद्रा बड़े असमंजस में पड़ गये। लज्जा से उनके माथे झुक गये।. . यह कैसे सम्भव हो सकता है, कि किसी कुमारी के गोपन देह-प्रदेश को दखे बिना, उसे कोई इतना तादृष्ट आंक सके ? सवाल बहुत तीखा और जायज़ था। पर इसका उत्तर सिवाय मेरे या कलाकार के, जगत में और किसी के पास

नहीं था। पर मैं चुप ही रही। इस रोशनी की कैफ़ियत देना, मुझे अपनी आत्मा का अपमान लगा।

वैशाली के न्यायालय में भरत पर नालिश हुई, कि उस आवारा ने वैशाली की सती राजपुत्री चेलना का नग्न चित्र आँक कर, सारे वैशाली गण को अपमानित और कलंकित किया है। पर उस चित्र को बनवाने वाली मेरी छोटी बहनों के कौतुक-कौतूहल का अन्त नहीं था। किन्तु मेरे इशारे पर वे भी चुप रहीं, और चुहुल-मज़ाक से ही सबको बहलाती रहीं।

परमोच्च न्यायालय के ऐलान पर, वैशाली के चौक-चौराहों, राहों और उपवनों तक में घंटे-दमामे बजा कर, भरत की सार्वजनिक तलबी घोषित हुई। पर अभियुक्त का दिशान्तों तक पता न चल सका। वैशाली के सैन्य और गुप्तचर पातालों में बल्लियाँ डाल कर भी, उसे खोज लाने में समर्थ न हो सके। उस दिन सबेरे जो हमारे अन्तःपुर की ड्योढ़ी में चन्दना को वह चित्र सौंप कर गया, उसके बाद उसने मुँह नहीं दिखाया। यह जानने की जिज्ञासा भी उसे नहीं रही, कि उसके चित्र का क्या प्रभाव पड़ा होगा।

. . वैशाली के परमोच्च न्यायालय के कठघरे उस अभियुक्त को पाने में समर्थ न हो सके।

समय के साथ बात बिसारे पड़ गई। पुरानी हो गई। रहस्य, शाश्वत रहस्य हो कर ही रह गया। एक दिन वह प्रसंग फिर छिड़ने पर चन्दना ने मुझ से पूछा :

'दीदी, क्या रहस्य था उस बात में ?'

'वही, जो तुम समझ रही हो, चन्दन। यानी उसे खोलना पवित्र नहीं होगा। वह अनन्त ही रहे।'

'ठीक मेरे मन की बात तुमने कैसे कह दी, दीदी !'

'तुमसे अधिक कौन मुझे यहाँ समझता है ?'

'एक बात पूछूँ, दीदी ?'

'पूछो।'

'वह कलंक तुम्हें छू सका ?'

'कलंक तो सदा सती को ही लगता आया है, चन्दन, कुलटा को नहीं !'

'फिर भी पूछती हूँ, तुम्हें कैसा लगा था ?'

'जानते हुए भी क्यों पूछ रही हो ?'

'मन की तहों का पार नहीं, दीदी।'

'अपने तन को अपने मन से अलग तो तुम्हारी दीदी कभी रख न सकी। क्या मेरे चेहरे को तुमने कभी मलिन, पराहत देखा ?'

'उज्ज्वलतर होता देख रही हूँ, तुम्हारा चेहरा !'

'सुनो चन्दन, दूरी में नियति का कोई विषम चक्रव्यूह देख रही हूँ। मेरी चित्रांकित नग्नता की लौ में कोई ज्वालामुखी सिसक रहा है !'

'दीदी, बहुत डर लग रहा है। साफ़-साफ़ कहो न, क्या बात है ?'

'सो तो मुझे भी ठीक पता नहीं, चन्दन ! यह अदृष्ट का खेल है। जान लिया जाये, तो अदृष्ट कैसा ? जो आये उसे झेलने को सन्नद्ध हूँ।'

'कोई संकट है, दीदी ?'

'पता नहीं, पर इतना जान लो कि तुम्हारी दीदी ऊपर ही जा सकती है, नीचे नहीं आयेगी। और निश्चिन्त हो जाओ।'

चन्दना एक भ्रूभंग के साथ उल्कापात की तरह हँस पड़ी। हम दोनों बहनें आनन्द मगन हो कर एक-दूसरी से लिपट गयीं।

• • •

बहते समय के पानी पर बात इतनी दूर जा कर खो गई, कि उसका कहीं कोई ज़िक्र ही नहीं रहा।

अचानक एक दिन हमारे अन्तःपुर में खबर हुई कि हंसद्वीप के कोई रत्न-श्रेष्ठि कई जौहरियों को साथ ले कर वैशाली में आये हुए हैं। उन्होंने कुछ अलभ्य रत्न वैशालीपति महाराज चेटक को भेंट किये हैं। सादर उन्हें हमारी अतिथिशाला में ही ठहराया गया है। और वैशाली के रत्न हाटक में उनकी विलक्षण रत्न-सम्पदा से एक विचित्र रोशनी पैदा हो गई है।

कई मीना-खचित रत्न-मंजूषाओं के साथ, एक दिन हमारे अन्तःपुर में भी उनका आगमन हुआ। श्रेष्ठि के रूप-स्वरूप को देख कर ही मैं इतनी अभिभूत हो गई, कि उनके रत्न-अलंकारों पर मेरा ध्यान ही न जा सका।

. . एक अनिर्वार जिज्ञासा मेरे हृदय को कुरेदने लगी। यह पुरुष महज व्यापारी नहीं। यह केवल समुद्रों की सतह का सार्थवाह नहीं, समुद्र के तलातल का प्रवासी कोई रत्न-अन्वेषी है। एक दिशावेधी धनुष मेरे भीतर टंकार उठा। मैं वहाँ ठहर न सकी। अपने कक्ष में जा द्वार बन्द कर लिया, और आँखें मूँद कर एक स्वप्नमाया में खो रही।

इस बीच प्रायः सबेरे, पार्श्ववर्ती अतिथिशाला की छत पर बने चैत्यालय में से पूजा की बहुत ही ललित-कण्ठी गान-ध्वनि सुनाई पड़ती थी। और मुझे एक अजीब बेचैनी-सी हो आती।

एक सवेरे आखिर मैं अपने को रोक न सकी, और पूजार्घ्य चढ़ाने के बहाने, अतिथिशाला के छतवर्ती जिनालय मे चली गई।. . मुझे यों अचानक वहाँ हाथ जोड़े, वन्दन-मुद्रा में विनत देख कर रत्न-श्रेष्ठि के पूजागान की धारा भंग-सी हुई। हमारी निगाहें मिलीं, और ऐसा लगा कि जैसे उन्होंने मुझे पहचान लिया हो। मानो कि टोका हो, कि अरे, तुम आ गई ? . . तुम्हारी ही तो खोज में हूँ।. .

मैने आँखें उस ओर से फेर लीं, और मैं दीवार ताकने लगी। आश्चर्य ! . . दीवार के ठीक बीचोबीच एक विशाल चित्र-फलक टँगा था। उसमें एक देवोपम सुन्दर, भव्य प्रतापी राजपुरुष का चित्र अंकित था।. . दृष्टि पड़ते ही मेरी चेतना के अतल में जैसे विस्फोट-सा हुआ। कई जन्मों की यादों से मानो मैं व्याकुल हो आई। नख से शिख तक मैं पसीने में नहा आई। . . हाय, यह कैसी अपूर्व ममता मेरे रक्त में उमड़ी आ रही है। इससे पूर्व ऐसी मोहाकुलता मैंने किसी पुरुष के पति अनुभव न की थी। चित्रांकित पुरुष की आँखें, मुझे एक टक घूरतीं हुई, मेरे प्राण को खींचे ले रही थीं। और मैं आँख मूँद कर भी जैसे उस ओर से दृष्टि हटाने में समर्थ नहीं हो पा रही थी।

. . मुझे मूर्च्छा के हिलोरे-से आने लगे। लगा कि अभी गिर पड़ूँगी। तभी रत्न-श्रेष्ठि का मधुर कण्ठ-स्वर सुनायी पड़ा :

'देवी, आपकी जिज्ञासा को समझ रहा हूँ ! . .

मैंने चौंक कर आँखें खोलीं। श्रेष्ठि एकदम ही समीप खड़े थे। एक असह्य पृच्छा का कटाक्ष मेरी आँखों में कौंध गया। और मेरी पलकें लज्जा से ढुलक पड़ीं।

'ये मगध-सम्राट बिम्बिसार श्रेणिक हैं, देवी ! इनकी तलवार के तेज से आर्यावर्त की पृथ्वी और समुद्र के सीमान्त काँप रहे हैं।'

सुन. कर मेरा चेहरा फूटती उषा-सा लाल हो आया। मेरी आँखें फिर उठ न सकीं। मैं मूर्तिवत् स्तम्भित, बेहद नम्रीभूत हो रही।

'आपका क्या प्रिय कर सकता हूँ, देवी चेलना ? आर्यावर्त की सौंदर्यसिखा चेलना की सेवा करके कृतार्थ होना चाहता हूँ।'

अपना नाम एक अपरिचित दूर द्वीपवासी रत्नश्रेष्ठि के मुख से सुन कर मेरी तहें काँप उठीं। वहाँ ठहरना दुष्कर जान पड़ा। पर जैसे किसी अपार्थिव सम्मोहन से कीलित मैं, वहाँ से हिल तक न सकी।

'भन्ते श्रेष्ठी, आपके सम्राट अनन्य हैं, अप्रतिम हैं।'

'सो तो हैं, कल्याणी। वैशाली की राजबाला का यह अभिनन्दन उन तक चौकस पहुँचा दूँगा।'

'महानुभाव श्रेष्ठी, श्रेणिकराज की राजगृही, ऐसी कोई बहुत दूर तो नहीं। आपके दिग्विजेता सम्राट में मुझे कोई दिलचस्पी नहीं। पर क्या . . इस चित्रपट के श्रेणिक कुमार . . '

'निःसंकोच आज्ञा करें, देवी ! '

'क्या वे वैशाली के सीमान्त पर मुझ से मिल सकते हैं ? '

'आज की सूर्यास्त बेला में, श्रेणिक कुमार वैशाली के सीमान्त पर आपकी प्रतीक्षा में होंगे ! '

'तो क्या वे यहीं पर हैं ? '

'दिगन्त-विजेता श्रेणिक बिजली के घोड़े पर सवारी करते हैं, सुन्दरी ! आपका संदेश उन तक पहुँच गया। वे मनोवेध विद्या के पारंगत हैं।'

' . . तो वैदेही चेलना, ठीक सूर्यास्त के मुहूर्त में गंगा-तट के 'चन्द्रोदय उद्यान' में उपस्थित होगी।'

'आज पूर्णिमा है, देवी ! ठीक सूर्यास्त और पूर्ण चन्द्रोदय के लग्न-मुहूर्त में आपके श्रेणिक कुमार, आपके दर्शन की प्रतीक्षा में होंगे।'

. . हाय, निगोड़ी पृथ्वी फट क्यों नहीं पड़ी ! कैसे मै इतनी निर्लज्ज हो गई, क्या-क्या मैं कह गई, कुछ सुध-बुध ही नहीं थी। कोई तीसरी शक्ति जैसे मुझ में से बोल रही थी। इतनी सम्मोहित, परवश, आत्महारा हो गई थी, कि अपने ऊपर मेरा कोई अधिकार ही नहीं रह गया था। कैसे मैं महालय लौटी, और कैसे वह सारा दिन बीता, मुझे मानो पता ही नहीं चल सका।

ठीक नियत समय पर, गुप्तवेश में, अपना रथ स्वयं ही हाँकती हुई 'चन्द्रोदय उद्यान' में, मानो ठीक नियत स्थल पर यंत्रवत् आपोआप ही जा पहुँची।

एक भव्य रत्न-जटित रथ, चारों ओर रंगीन रेशमी यवनिकाओं से आवेष्टित, वहाँ खड़ा था। और उसकी वल्गा थामे एक राजपुरुष पास ही खड़ा था। चित्रपट का श्रेणिक न हो कर, वह ठीक उसकी प्रतिच्छवि लगा।

रथ से उतर कर दिग्भ्रमित-सी उसके सम्मुख जा खड़ी हुई। शब्द शक्य न हो सका। किसी षड्यंत्र के आतंक से मै काँप-काँप उठी।

'आश्वस्त हों देवी, मै श्रेणिक नही, उनका ज्येष्ठ राजपुत्र अभय राजकुमार आपका अभिवादन करता हूँ।'

'और वे रत्न-श्रेष्ठि कहाँ है ?'

'अभय राजकुमार अनेक रूपों में एक साथ खेलता है, कल्याणी ! उसकी इस बदनामी से आर्यावर्त का कौन-सा अन्तःपुर अपरिचित है !'

मेरे पैरों के नीचे की धरती धँसकती लगी।

'आप यहाँ कैसे, भन्ते युवराज ? आपकी साहस-कथाओं से मै अपरिचित नही। . . पर यह रहस्य मै बूझ नहीं पा रही।'

'मै आपको लिवाने आया हूँ, भारतेश्वरी !'

'भारतेश्वरी ? पहेलियाँ न बुझाएँ, भन्ते युवराज। . . मै. . मै अकेली हूँ। आप मुझ से क्या चाहते है ?'

'अब आप अकेली नही, राजेश्वरी ! आर्यावर्त का एकमेव चक्रेश्वर आपके दाये कक्ष मे खड़ा है !'

'हाय, यह क्या सुन रही हूँ मै ? हे भगवान, मै कहॉ आ गई ?'

'आप ठीक अपनी नियत जगह पर आई है, देवी ! मगधेश्वर का आधा चक्रवर्ती सिंहासन, सम्राज्ञी चेलना की प्रतीक्षा मे है।'

'नही . नही . . यह सब सुनने को मै नही आई। . मै चली, मुझे क्षमा करे, भन्ते राजपुत्र !'

'वैशाली लौटने का रास्ता अब बन्द हो चुका, मगधेश्वरी ! यह नियति है, देवी ! यह टल नही सकती। आओ माँ . !'

. . मेरी आँखों में एक बिजली-सी कौंधी। विपल मात्र मे ही एक बलशाली, किन्तु अति कोमल भुजा ने जैसे मुझे अधर, अनछुए ही उठा कर रथ की यवनिका मे बन्द कर दिया। मानो कुछ हुआ ही नहीं। और सब-कुछ समाप्त हो गया।

. . तूफ़ान पर आरोहण करता रथ गंगा के तटान्त को पार कर गया। बन्द रथ के उस विचित्र सुगन्ध-निविड़ अन्धकार मे मुझे एक जन्मान्तर की-सी अनुभूति हुई। चेतना के एक नये ही तट पर उतर कर मैने अपने को नये सिरे से पहचानना चाहा। सहज स्वस्थ हो कर, मैंने रथ के अगले भाग की यवनिका को सरका दिया। पूर्णिमा का पूर्णाकार केशरिया चन्द्रमण्डल उत्तरोत्तर पीताभ होता हुआ, दूरान्त की वनलेखा पर किसी सम्राट की गरिमा से उद्योतमान दिखायी पड़ा।

'भन्ते आयुष्यमान, अब तो मेरी नियति की वल्गा तुम्हारे हाथ है। बताओ, यह सब क्या खेल चल रहा है ?'

खोजती भटक रही थी। तुम्हें न पा कर ही मैं व्यभिचारिणी हो गयी। स्वामी, मुझे अंगीकार करो। मेरे पापों को क्षमा कर दो !'

सहसा ही प्रतिसाद मिला :

'स्वैराचारी हुई तुम, कि अपने अन्तर्वासी प्रभु की सती हो सको। हर वासना के छोर पर, तुम्हारा प्रभु ही तो खड़ा है। तुम देख न सकीं ?'

'देख लिया आज, इसी से तो दौड़ी आयी !'

'फिर पाप कैसा ? क्षमा कैसी ?'

'जहाँ आप हैं नाथ, वहाँ पाप कहाँ ?'

तभी वहाँ उपस्थित चार सौ निन्यानबे चोरों ने एक स्वर में कहा :

'प्रभु, इस संसार में अब हमारे लौटने को भी ठौर न रहा। हमारा किला टूट गया। हम अरक्षित हैं। राज्य की फाँसी हम पर झूल रही है। श्रीचरणों के सिवाय अन्यत्र त्राण नहीं !'

'फाँसी पर चढ़ जाओ तुम ! मृत्यु के पंजे को देखो। उसे सहो। उससे छूट कर तुम यहीं गिरोगे। चार सौ निन्यानबे कोमल अंगनाओं ने दर्पण-चक्र चला कर, अपने सत् के लुटेरे का मस्तक उतार लिया। अपने सत्य की आग में जल कर वे आत्माएँ अपनी ही सती हो गईं। अपने उस पुरुषार्थ को भूल गये तुम ? . .'

'सब याद आ रहा है, भगवन् ! इसी से तो हम आज यहाँ हैं।'

'तो फाँसी स्वीकार लो। राजदण्ड की सीमा भी देख लो !'

चोरों ने जा कर राजा को आत्म-समर्पण कर दिया। चार सौ निन्यानबे फाँसियों पर झूलते गले, अचानक कहाँ ग़ायब हो गये ? . .

मनुष्य का हलकार

याद आ रही है, बहुत पहले की बात। प्रभु तब छद्मस्थ अवस्था में तप के अग्नि-वनों से गुज़र रहे थे। और उस दिन वे गंगा पार करने के लिए भला नाव पर क्यों चढ़े होंगे ? वे चाहते तो उस जल-राशि पर चल भी सकते थे। लेकिन नहीं, उनकी राह अतल जल-लोकों के भीतर से ही गयी थी। अहैतुक हो कर भी, कितनी सहैतुक थी प्रभु की वह नौका-यात्रा ! जल लोक के राजा सुदंष्ट्र नागकुमार की प्रतिशोध के कषाय से पीड़ित आत्मा ने उन्हें पुकारा था। तो सुदंष्ट्र की उस वासना को तृप्त किये बिना, प्रभु कैसे आगे बढ़ सकते थे ? . .

. . सो वह सुदंष्ट्र जल की उस अन्ध कारा से छूट कर, एक गाँव में हालिक कृषिवल होकर जन्मा था। उसे जोतने को मानव-क्षेत्र मिला था, जहाँ से मुक्ति का चरम पुरुषार्थ सम्भव होता है। एक दिन वह हालिक अपने खेत में हल जोत रहा था, तभी श्रीभगवान् उस क्षेत्र में विहार कर रहे थे। उन्होंने आदेश दिया आर्य गौतम को :

'जाओ, देखो तो गौतम, पास ही एक ग्राम के खेत में कोई कृषक हल चला कर पृथ्वी को

. . कितनी दूर चली आई हूँ, अपने अतीत जीवन में। इससे एक अमोल प्रतीति हो गई। पूनम की उस पूर्णचन्द्रा रात में, महारानी होने से पहले ही माँ हो गई थी। प्रभंजन पर आरोहण करते उस रथ में स्पष्ट अनुभूति हुई थी, कि अभय जैसे बेटे को पा कर, पृथ्वी पर कुछ भी पाना शेष नहीं रह गया है। प्रसव-पीड़ा के बिना ही पाया यह पुत्र, सूर्यांशी कर्ण से कम नहीं लगा था। प्रतीत हुआ था कि यह साथ खड़ा है, तो मौत भी मुझे सामने पा कर मेरी गोद का छौना हो रहने को विवश हो जायेगी।

तब राजगृही के राजमहालय में आ कर, नया तो कुछ भी पाने को शेष नहीं रह गया था। राजेश्वरी की सोहाग-शैया और सम्राज्ञी का सिंहासन भी, मानो संसार के अन्तहीन संघर्ष और संत्रास से पीड़ित और भयभीत, मेरे वक्ष मे आ दुबके थे।

उस पहली ही रात जो 'इनका' पागलपन देखा, तो नितान्त आत्महारा हो गई। क्या कोई सम्राट् भी इतना अकिंचन, निरीह और नादान हो सकता है ? मगध और वैशाली के संघर्ष से अपरिचित तो नहीं थी। . . चाहती तो उस रात अपनी छाती मे, वैशाली पर तनी इनकी तलवार को सदा के लिए गला दे सकती थी। पर इनकी अभीप्सा और इनके साम्राज्य-स्वप्न को तोड़ने में मुझे अपनी हार, और अपनी ही आसामर्थ्य अनुभव हुई। बिना किसी माँग और शर्त के अपने को निःशेष दे देने पर जो साम्राज्य प्राप्त हो सकता है, उससे कम पर, तुम्हारी मौसी कैसे अटक सकती थी, महावीर ? अपने को अचूक और सम्पूर्ण दे कर पल भर के स्पष्ट साक्षात्कार हुआ था, कि सम्राज्ञी केवल मगध की नहीं, सत्ता मात्र की हो गई हूँ। सकल चराचर की माँ होने का गंभीर गौरव और मान मेरे अंग-अंग में उमड़ आया था।

पर उस परम अनुभूति को जीवन के पल-पल के यथार्थ मे जीना क्या इतना सरल हो सकता है ? किन्तु प्यार, सोन्दर्य, वैभव, ऐश्वर्य, भोग, सत्ता, सिहासन—सभी का अपार सुख दिन-दिन कम पड़ता गया था। ना कुछ समय मे ही उस सब की सीमा नग्न सामने आ कर खड़ी हो गई थी , भीतर के मर्म मे एक ऐसा रिक्त और अभाव अनुपल टीसता रहता था, कि जिसकी पूर्ति बाहर के देश और काल मे कही सम्भव नहीं लगती थी।

बचपन से ही जिस चरम अभाव की वेदना मेरे भीतर निगूढ़ रूप से कसक रही थी, और मेरे कौमार्य की रातों में जिसकी बेचैनी ने जीना दूभर कर दिया था, वह जगत के सारे सम्भाव्य सुखों से गुजर कर, अब नितान्त अनाथ हो उठी थी। इन्हें कभी नहीं लग सका, कि कहीं से कम पड़ी हूँ, या मेरा जी कहीं अन्यत्र भटका हुआ है। पर तुम्हारे समक्ष तो यह स्वीकार कर ही सकती हूँ, महावीर, कि सम्राट के आलिगन में हो कर भी चेलना उससे बाहर थी, रमण की शैया में हो कर भी वह रमणी वहाँ नहीं थी। हॉ, वह शैया भले ही उसके भीतर की एक तरग मात्र हो रही हो। राजगृह के साम्राजी राजमहालय में चेलना सर्वत्र हो कर भी, कहीं नहीं थी, यह तुम्हारे सिवाय कौन जान सकता है ?

. . उस दिन जो बहुत बेचैन हो कर, आखिर तुम्हारे पास नन्द्यावर्त में चली आई थी, उसके पीछे अपनी यह अन्तिम अभाव की वेदना ही प्रधान थी। मगध और वैशाली के संघर्ष की पीड़ा भी कम नहीं थी। पर वह भी मानो लोक के प्राणिमात्र के बीच चिर काल से चल रहे राग-द्वेष, मोह-मात्सर्य, युद्ध-संघर्ष से संत्रस्त एक माँ की महावेदना का अंश मात्र थी। सो वह

समस्या तो एक निमित्त और माध्यम भर थी, तुम तक आने के लिए। अपने अन्तरतम के चिरन्तन् सन्ताप को सीधे आ कर तुम्हारे सामने खोल देना, रमणी-माँ के स्वभाव में सम्भव नहीं था।

पर तुम हो, मान, कि सृष्टि का कौन रहस्य तुम्हारी आँख से बचाया जा सकता था। और उस सृष्टि की उत्स और चरम ग्रंथि नारी तुम्हारे सम्मुख आ कर अपना परम गोपन अवगुण्ठन या आँचल हटाने को विवश न हो जाये, यह कैसे सम्भव था?

एक 'नेति-नेति' की मर्मभेदी शलाका से, क्रीड़ा-कौतुक और खेल-खेल में ही तुम मेरी चेतना के अन्तरतम कुंचुकि-बन्ध और नीवि-बन्ध खोलते चले गये थे। मगध और वैशाली का द्वंद्व तो क्या, लोक के तमाम संघर्षों के ध्रुवों को तुमने शतरंज की समाप्त बाजी की गोटों की तरह व्यर्थ करके लुढ़का दिया, और शतरंजी उलट कर चुपचाप मुस्कुरा दिये। संसार के सारे खेल को चुटकी मात्र में खत्म कर के, तुमने आँखों में आँखें डाल कर मुझे अंतिम रूप से उच्चाटित कर दिया।

अपने नारीत्व और मातृत्व की भूमि को फिर भी मैं कस कर पकड़े रही। और सम्राट से मिलने आने के बहाने, तुम्हें राजगृही आने का आमन्त्रण दिया। मानो कि अपने अनजाने ही मेरे भीतर की प्रकृति ने उस व्याज से अपनी अचूक मोहिनी सत्ता के परिचक्र में तुम्हें आमंत्रित कर, अपने साम्राज्य में तुम्हें कैद करना चाहा था। समाप्त चौसर के फिर लुढ़क कर सामने आ पड़े ढीठ पासे को एक चुटकी से दूर फेंक देने की तरह, तुमने सम्राट को हमारे बीच से हटा दिया। उनसे मिलने आने की बात पर तुम बोले कि : 'नहीं, ठीक समय पर वे ही मेरे पास आयेंगे।'

. . अब मानो मगध में कोई सम्राट् नहीं रह गया था, केवल साम्राज्ञी अपने महल में अकेली छूट गई थी। और ठीक अपनी उस स्वायत्त भूमिका पर तुमने हँस कर सीधे अपनी अन्तिम चाल चल दी थी :

'मेरे साथ चलोगी, मौसी?'

'कहाँ . . ?'

'जहाँ मैं ले जाना चाहूँ।'

'तब क्या न आना मेरे वश का होगा, मान!'

'तो जानो मौसी, एक दिन मैं तुम्हें लिवा ले जाने को राजगृही आऊँगा।'

और उसके बाद का तुम्हारा अति सूक्ष्म, अदृष्ट, भ्रूभंग कितना प्राणहारी था, कैसे बताऊँ। अस्तित्व में रह पाने की विवशता से विकल हो कर, तुम्हें अपनी छाती मे सदा को बाँध लेने के लिए उमड़ पड़ी थी। पर हाय, अपनी बाँहों में तुम्हें घेर सकूँ, उसके पहले ही, तुम जाने कहाँ चम्पत हो गये थे।

उसके बाद, सब-कुछ के बीच रहते हुए भी, इन बारह-पन्द्रह वर्षों में, अस्तित्व में रह पाना कितनी पीड़क कसौटी रहा है मेरे लिए, सो तुम्हारे सिवाय और कौन जान सकता है। रात-दिन का भेद भूल कर, सारी मर्यादाएँ तोड़ कर चाहे जब राजगृही के चैत्य-काननों में, तुम्हें टेरती फिरी हूँ।

. . हठात् एक दिन लगा, कि सच ही मगध की हवाओं का रुख बदल गया है। पंचशैल के आकाशवेधी शिखर झुक गये हैं। जान गयी, कि तुम आ गये हो। . . इन्हें ले कर, तुम्हारे

निकट आ उपस्थित हुई । . . तुम्हारा वह निरंजन अवधूत रूप देख कर एक अकथ आनन्द-वेदना से प्राण हाहाकार कर उठे । पर हाय, तुम्हारी एक चितवन के योग्य भी न हो सकी । मानो कि बोले : 'नितान्त अकेली हो कर आओ, चेलना !'

. . उस तरह भी आ कर, पंचशैल की तलहटियों मे कितनी न बार तुम्हारे पद-नख के सुमेरु पर अपना माथा पछाड़ा । पर तुम एक के दो न हो सके । सर्वस्व छीन कर भी तुम्हें चैन न आया । सारे महलों और कक्षों के, सारे कपाट तुमने तोड़ दिये । तुम्हारी चरण-धूलि पाने को मगध का साम्राजी सिंहतोरण धूल में लोट गया । . . चेलना और श्रेणिक के बीच तुम नंगी तलवार की तरह अटल खड़े हो गये ।

बोलो, अब और क्या चाहते हो ? . .

वैशाली को पीठ दे कर पीछे छोड़ आये हो । मगध की भूमि पर अन्तिम रूप से आ खड़े हुए हो ।

जृम्भक ग्राम के निकट, ऋजु-बालिका नदी के तटवर्ती जीर्ण उद्यान के पास, श्यामाक गाथापति के शालि-क्षेत्र मे, सघन शाल-वृक्ष के तलदेश में, गोदोहन मुद्रा में, जानू पर जानू मोड़, ऊपर नीचे-बँधी मुट्ठियों से यह कौन महाकाल-पुरुष कामधेनु पृथ्वी के स्तनों को अविचल अंगुष्ठों से दबाकर, अन्तिम रूप से उसका दोहन कर रहा है ?

. ऋजु-बालिका नदी की लहरों पर लहराती तुम्हारी तूफानी आँखें चुपचाप दूर से देख आई हूँ ।

काल-वैशाली की पानी भरी आँधियाँ, पंचशैल के मूलों और वन-कान्तारों के अँधेरों को झंझोड़ रही है ।

. . मगधेश्वर श्रेणिक का दिशान्तों तक कहीं पता नहीं है । और चेलना विपुलाचल के काँपते शिखरों पर, केवल मात्र आँधी का उत्तरीय ओढ़े, और तड़कती दामिनी की कंचुकी धारण किये, किसे रो-रो कर पुकारती हुई फेरी दे रही है ।

तुम रहो या मैं रहूँ

मैं हूँ कि नहीं हूँ ? अपने होने पर ही सन्देह करने लगा हूँ । . क्या वर्द्धमान के होने की यह शर्त है, कि मै न रह जाऊँ ? लेकिन ऐसा तो नही लगता कि वह किसी शर्त या दावे के ज़ोर पर कायम है । इतना बेशर्त आदमी मैंने आज तक नहीं देखा । लेकिन फिर भी अजीब है, कि एक शर्त-सी लग गई है, कि वर्द्धमान को स्वीकार कर के ही मैं अस्तित्व मे रह सकता हूँ ।

विचित्र है यह विदेह-वंशी, कि कहीं कोई कोण या धार इसमे है ही नहीं, कि जिससे टकराया जा सके । लेकिन फिर भी इसमें कोई ऐसी अदृश्य और सूक्ष्म धार है, कि आँख तक उठाये बिना, यह निमिष मात्र में तह-दर-तह मेरे समस्त को काट-छाँट कर रख देता है । कोई ऐसा पानी और हवा से भी अधिक महीन फल है, जो अपने मनचाहे ढंग से मुझे तराश कर, मेरी कोई

नयी ही आकृति उकेर देता है। रह-रह कर अपनी स्थापित पहचान ही हाथ से चली जाती है। श्रेणिक के नाम और रूप के साथ अपनी तदाकारिता को महसूस करने में कठिनाई होती है।

या तो इन नग्न श्रमण को सामने पाकर ऐसी अभेद्य कठोरता से मुकाबिला होता है, कि जिससे टकराने में अपने चूर-चूर हो कर समाप्त हो जाने का अचूक खतरा अनुभव होता है। या फिर ऐसी अव्याबाध कोमलता सम्मुख होती है, कि टकराव या संघर्ष को सम्भव ही नहीं होने देती। एक ऐसा विशाल कमल, जो वृहत से वृहत्तर होता हुआ, मेरे समस्त को बरबस अपने में समाहित कर लेता है, और निखिल के आरपार अपनी पँखुड़ियाँ फैलाता चला जाता है। एक ऐसा कोणाकार तीखा पर्वत-शृंग जो मुझे आपाद मस्तक भेद कर, अपनी ही तरह अभेद्य कठोर और निश्चल बना देना चाहता है।

और तिस पर मुसीबत यह है, कि मैं काल के किसी आखिरी तट पर अकेला स्वयं होने को छूट जाता हूँ। चुनौती होती है सामने, कि अपने को पहचानूँ। अजीब है यह व्यक्ति कि जीने भी नहीं देता, मरने भी नहीं देता। जो हूँ, वह नहीं रहने देता, जो होना चाहता हूँ, वह नहीं होने देता, और समाप्त हो जाने की छुट्टी भी नहीं देता। अपूर्व भयंकर और खतरनाक है यह आदमी। ऐसा बलात्कारी, जिसने मेरी आत्मा पर कब्जा कर लिया है, फिर भी मेरी इच्छा-शक्ति को आज़ाद रक्खा है, कि मैं अपनी नियति का निर्णय करूँ, मैं अपनी हर इच्छा पूर्ण करूँ। मेरा सब कुछ लूट कर, यह सर्वस्वहारी अब मुझसे किस चुनाव की आशा करता है?

बोलो वर्द्धमान, तुम्हारे साथ कैसे सलूक किया जाये?

. . सामने सुमेरु पर्वत भी आ कर मेरी राह रोक ले, तो उससे टक्कर ले सकता हूँ। उसे अपने बाहुबल से झंझोड़ कर उखाड़ फेंकने का दम रखता है श्रेणिक। कहीं कुछ ठोस ग्राह्य हो तो सामने, कि जिस पर अपनी पकड़ बैठा सकूँ, चोट कर सकूँ। लेकिन यह सुकुमार संन्यासी, सुमेरु से अधिक अटल और अभेद्य सघन होने पर भी, पकड़ाई से बाहर लगता है। अन्तरिक्ष से कोई कैसे टकराये, उसे कहाँ से पकड़ा जाये? वज्र से अधिक ठोस है यह वैशालक। लेकिन वज्र से भिड़ कर, मेरा प्राणान्त भले ही हो जाये, वह तो टलने या गलने से रहा। इस असमंजस में पल-पल का जीना दूभर हो गया है। बैठ या लेट भी नहीं सकता। दिन-रात सतत चलता रहता हूँ। अविश्रान्त चंक्रमण के चक्र मे घूम रहा हूँ। इस महल से उस महल, इस उद्यान से उस उद्यान, इस प्रमदवन से उस क्रीड़ा-पर्वत, इस प्रमदा से उस रमणी तक, इस सीमान्त से उस सीमान्त तक भटकता फिर रहा हूँ। ठहराव मेरी साँस को कुबूल नहीं। भीतर कोई मुकाम नहीं। पैर टिकना भूल गये हैं। दिवा-रात्र अविश्रान्त बेचैन चल रहा हूँ, चल रहा हूँ, चल रहा हूँ।

किसी प्रमदा का रूप मुझे नहीं रोक पाता। किसी रानी की समर्पित गोद मुझे समा या सहला नहीं पाती। अभय की माँ महारानी नन्दश्री कई महीनों से तीखे पत्थरों की शैया पर सो कर मुझे विरमाने और पिघलाने को दारुण तप कर रही है। मेरे सर्वस्व की स्वामिनी चेलना, आज कितनी परायी और दूर लगती है। जिस चेलना की एक चितवन पर मेरा जीवन और मरण तुलता रहता था, उसकी छाया तक से आज मैं कतराता हूँ। उसके उस दिव्य उज्ज्वल मुख-मण्डल में मुझे अपना काल दिखाई पड़ता है। उसके उन उशीर शीतल केशों में मुझे कई छुपे षड्यन्त्रों की गन्ध आती है। उसकी उस महीन दर्दीली आवाज की विदग्धता मुझे हर पल प्रवंचित करती-सी लगती है।

उस आधी रात चारों ओर से सर्वथा निराश हो कर, बरबस ही सालवती के नीलकान्ति प्रासाद में चला गया था। हरे पत्रों की आभा से छाये उसके शयन की शीतलता में आदिम अजगरों का आतंक छाया दीखा। . . काँपते-थरथराते, अपने लड़खड़ाते शरीर को जब सालवती की फैली बाँहों में ढल जाने दिया, तो लगा कि असह्य नागपाश में जकड़ आया हूँ। . . ओह, इन केशों की भँवराली मोह-रात्रि में अब प्राण को विश्राम नहीं। इस शालिनी के कुँवारे वक्षोज-गह्वर में जब पहली बार सर डुबोया था, तो लगा था कि यही मोक्ष है, यही मोक्ष है, मोक्ष यहीं है। . . आज उसी वक्षमंडल के अधिक सघन और ओंडे गहराव मे जब खो जाना चाहा, तो वह कितना ठंडा, उथला और नीरस लगा। कहाँ गई वह अगाधता, वह अथाह मार्दव, जिसमें एक दिन अमरत्व और अनन्त का आश्वासन मिला था।

अपने राज्य के हर सीमान्त पर घोड़ा टकरा आया हूँ। एक अन्तहीन वीरानियत में सिर पछाड़ कर लौट आने के सिवाय, उसमें क्या पाया। मेरे राज्य को चारों ओर से घेर कर जैसे अलंघ्य खाई खोद दी गई है। मानो किसी इन्द्रजाली का भेदी षड्यंत्र सर्वत्र चल रहा है। . ओह, वैशाली का यह राजपुत्र श्रमण ऐसा अनिर्वार आक्रमणकारी भी हो सकता है ? शत्रु के ही राज्य में आ कर जो इतना अटल और अभय खड़ा हो गया है, ऐसे योद्धा से कैसे पेश आया जाये ? अकेला, निहत्था, मातृजात नंगा, नितान्त घात्य, हर प्रहार को समर्पित, जो सामने हर कभी प्रस्तुत और सुलभ है, उस पर प्रहार करने मे भी अपने वीरत्व और क्षात्रधर्म का अपमान अनुभव होता है।

एक दम निरीह, अकिंचन, अकिंचित्कर है यह युवान। यह कुछ नहीं कर रहा। केवल अकम्प, निर्द्वन्द्व खड़ा है। . . और मानो मेरा साम्राज्य-स्वप्न बादल के महलों की तरह बिखरता चला जा रहा है। अपनी प्रभुता और महत्ता को रेत-घड़ी में गिरती रज की तरह बेकाबू बह जाती देख रहा हूँ।

. . कुछ थामने को न होगा, तो अभी-अभी गिर पडूँगा। . . और अपने अस्तित्व को महसूस करने की कशमकश मे भागा हुआ अपने गोपन मंत्रणा कक्ष में जा कर, दीवारों पर टँगे विशाल नक्शों पर अपने साम्राज्य की सरहदों को टोहता हूँ। पर लगता है, कि मेरी घूमती उँगली के नीचे सरहदें टूट रही है, नक्शे सिमट रहे है। धरतियाँ काँप रही हैं, मंत्रणा-गृह की दीवारें धड़धड़ा कर टूट रही हैं। अन्तःपुरों में आग लग गई है। शैया मे सोयी सुन्दरी महारानियों के लावण्य मे से ही जैसे लपटें फूट पड़ी हैं। कैसे सर्वनाश की इन लपटों से बचना होगा ? कहाँ जाना होगा ? क्या करना होगा ? अरे नहीं, कहीं भी तो इस विस्फोट से बचने को कोई दिशा नहीं छूटी !

मंत्रीगण, आमात्य, सेनापति, सेनाएँ, अपने खोये हुए सम्राट को जंगलों, पहाड़ों, दर्रों, रुक्ष अरण्यों, कन्दराओं तक में खोज रहे हैं। पर उसका कहीं कोई पता या निशान नहीं मिल रहा। उफ्, कैसा चुप्पा खामोश खड़ा है, यह दुर्दान्त नग्न आक्रान्ता, ऋजुबालिका के इस एकान्त तट पर ! . . और इसका यह बालक-सा मासूम, निर्दोष चेहरा इतना षड्यंत्री है, कि इसने मगध सम्राट् का ही अपहरण कर लिया है। अश्रुतपूर्व है यह घटना, इतिहास के पटल पर।

मैं तुम में अपना प्रतिस्पर्द्धी, प्रतिद्वंद्वी खोज रहा था, महावीर ! मगर तुम कुछ इतने अनिरुद्ध, खुले और उत्सर्गित हो हर शै के प्रति, कि तुमसे कोई आखिर कैसे मुकाबिला करे। जो

आजानु अपनी भुजाएँ निश्चिन्त ढाल कर, निस्तब्ध खड़ा है, उस पर अपने बाहुबल को कहाँ, कैसे आजमाया जाये ? तलवार की धार पर ही जो हर क्षण चल रहा है, उसका वध जगत की कौन-सी तलवार कर सकती है ?

अजीब फितरती है तुम्हारी हस्ती, ज्ञातृपुत्र काश्यप ! तुम बचाव की लड़ाई नहीं लड़ते। तुम शत्रु के आक्रमण की प्रतीक्षा नहीं करते। तुम स्वयं ही प्रलय के पूर की तरह मेरी भूमि में धँसते चले आये हो। बेरोक, दुर्दाम, अनिर्वार। ओ दुर्दण्ड आक्रमणकारी, मेरी धरती के गर्भ में तुम एक ध्रुव-कील की तरह ठुक कर अटल खड़े हो गये हो, और देखता हूँ कि मगध पर सर्वग्रासी आक्रमण हुआ है। तुम्हारे अविचल चरण-युगल की धँसान से मगध का साम्राजी सिंहासन डोल रहा है। राजगृही की देवरम्य प्रासाद-मालाओं के ऐश्वर्य में भीतर-ही-भीतर ज्वालामुखी धधक रहे हैं। चारों ओर अशनिपात, उल्कापात, ध्वंस और विनाश का दृश्य देख रहा हूँ।

अपने इस 'मैं' को ठहराने के लिए कहीं कोई जगह बच नहीं सकी है। अस्तित्व और अस्मिता के सारे अवलम्बन चूर-चूर हो गये हैं। जिसने मेरे 'मैं' को ही मुझसे छीन लिया, उमसे बड़ा मेरा शत्रु और कौन हो सकता है ? कंस के जन्मजात काल कृष्ण का खयाल आ रहा है। लेकिन मेरी कठिनाई उससे आगे की है। यह ऐसा विकट शत्रु है, जो मुझे मार कर सन्तुष्ट नहीं हो सकता, यह मुझे जिन्दा पकड़ कर अपने भव्य सुन्दर सीने पर कुचल देना चाहता है। अपनी एक चुटकी में यह मुझे शून्य कर देना चाहता है। आह, इस दुर्वार पराक्रान्त शत्रु से कैसे जूझा जाये, जो नितान्त अक्रिय, हाथ ढाले, कायोत्सर्ग में खड़ा है। लड़ने के कोई लक्षण नहीं, मगर हर पल मुझे युद्ध के लिए ललकार रहा है। . .

महावीर, क्या इसी को तुम प्यार कहते हो ? तो फिर शत्रुता की शायद कोई नयी परिभाषा खोजनी होगी। . . कैसे कहूँ, कि तुम पाखण्डी हो। आरपार प्रज्वलित नग्न हुताशन को, पाखण्ड, झूठ, धूर्तता कहूँ, तो सत्य किसे कहना होगा ?

. . मेरे सामने से तुम्हें हट जाना होगा, काश्यप, मैं तुम्हें सहन नहीं कर सकता। लेकिन अजीब लाचारी है, कि मैं अब तुम्हे अपनी आँख से एक क्षण भी ओझल नहीं होने दे सकता। ऐसे रहसीले सर्वस्वहारी शत्रु का भरोसा क्या, जो किसी भी क्षण मेरे गाढ़तम प्रणयालिंगन में भी विस्फोटित हो सकता है। जो मेरे प्राणों की परमेश्वरी चेलना के सीने में शेषशायी विष्णु की तरह अपनी शाश्वत नागशैया बिछाये लेटा है, उससे बच कर मैं आखिर कहाँ जा सकता हूँ।

. . लेकिन आज कहीं चले जाना होगा। मगध की सीमा को अतिक्रान्त किये बिना आज चैन नहीं। . . लेकिन मगध की सीमा ही जो हाथ नहीं आ रही। लग रहा है, कि भूगोल और इतिहास से निर्वासित कर दिया गया हूँ। तब पराक्रम, विजय और साम्राज्य का क्या अर्थ रह जाता है ?

. . लेकिन साम्राज्य से बड़ी चीज़ है मेरा स्वप्न। मेरा सौन्दर्य-स्वप्न। . . वैशाली नहीं आम्रपाली ! ओ मेरी स्वप्न, तुम कहाँ हो इस क्षण, क्या कर रही हो ? निश्चय ही, तुम भी भूगोल और इतिहास से बाहर हो आज की रात। ऐसा सौन्दर्य भूगोल, खगोल और इतिहास का बन्दी हो कर कैसे रह सकता है ? और मैं भी उससे निष्क्रान्त हूँ इस क्षण। मैं आता हूँ, मैं आ रहा हूँ, मैं आ रहा हूँ . . ।



इस दौरान कितने न छुपे वेशों मे जाने कहाँ-कहाँ भटकता फिरा हूँ। जिसे अपना ही मुँह देखना अब अच्छा नहीं लगता, ऐसा पराजित सम्राट् औरों को अपना मुँह कैसे दिखाये। अनेक तरह के रूपों और वेशों में अपने को छुपा कर और अदल-बदल कर ही तो इन दिनों जीना सम्भव हो रहा है। इस कदर छिप गया हूँ अपने ही आप से भी. कि मगध का अप्रतिम राजपरिचक्र भी अपने खोये सम्राट को खोजने में हार मान बैठा है। . .

. . वैशाली की एक विलास-सन्ध्या मे, ताम्रलिप्ति के किसी रत्न-श्रेष्ठि का रथ, देवी आम्रपाली के सप्तभूमिक प्रासाद के सामने आ कर रुका। श्रेष्ठि ने पाया कि महल बेशक अब भी असंख्य दीपमालाओं और रत्न-विभाओं से जगमगा रहा है, लेकिन देवी अपने लोहिताक्ष-जटित रत्न-वातायन पर नहीं आयी है। उसके शून्य मेहराब मे केवल एक शतदीप आरती का नीराजन झूल रहा है। मानो किन्हीं अदृश्य कोमल उँगलियों के पोरों पर से इस आरती की जोतें उजल रही हैं। किसकी प्रतीक्षा मे ? . .

. . और ठीक वातायन के नीचे के भव्य रत्न-शिल्पित सुवर्ण द्वार के कपाट मुद्रित हैं। ताम्रलिप्ति के रत्न-श्रेष्ठि सागरदत्त का चित्त यह दृश्य देख कर उदास हो गया। पूछताछ करने पर उन्हें पता चला कि एक अर्से से इधर देवी आम्रपाली अस्वस्थ है। वे किसी से मिलती नहीं, वातायन पर सान्ध्य-दर्शन भी नही देतीं। उनके द्वार अतिथियों के लिये बन्द हो गये हैं !

श्रेष्ठि ने अभिवादनपूर्वक देवी के पास सन्देश भेजा, कि वे एक एसा रत्न देवी को भेंट करने लाये है, जो हजारों वर्षों में एकाध बार ही पृथ्वी पर प्रकट होता है। समय और अवकाश के व्यवधान जिसकी विभा मे व्यर्थ हो जाते है। देवी आज्ञा दे, तो रत्न-श्रेष्ठि वह निधि लेकर सेवा में प्रस्तुत हो।

इस बीच की लम्बी अवधि मे पराक्रम, प्रताप, पुरुषार्थ, रूप, रत्नकांचन, कीर्ति, ऋद्धि-सिद्धि सब देवी के बन्द कपाटों पर टकरा कर पराजित लौट गये थे। किन्तु आम्रपाली का द्वार न खुल सका था। लेकिन आज यह क्या हुआ कि देवी ने श्रेष्ठि सागरदत्त को भेंट की अनुज्ञा दे दी।

. . शीतल किरणों से आविल मर्कत और मुक्ताफल की शैया मे देवी आम्रपाली एक उपधान पर सीना टिकाये अधलेटी है। विपुल आलुलायित कुन्तलों तले, उदास सौन्दर्य की अपूर्व मोहिनी देख, श्रेष्ठि विकल-विह्वल हो आये। बन्धूक फूलों सी रतनारी मदिरा का चषक, उस चेहरे की सान्ध्य विभा तल, पत्रे की चौकी पर अछूता पडा था। उन बड़ी-बड़ी कटावदार ऑखों में बिन पिये ही एक अगाध खुमारी मचल रही थी।

'ताम्रलिप्ति के रत्न-कलाधर का स्वागत है !'

'आभार, कल्याणी'

'आप के अलभ्य रत्न को देख सकती हूँ ?'

'प्रस्तुत है, देवानुप्रिये !'

'ओ . . यह तो मनस्कान्त मणि लगती है। हमारे पास यह है। . .

और देवी ने अपने हृदय पर झूलते एक बहुत महीन पर्तीले दूधिया रत्न की ओर संकेत किया। फिर बोली ·

'लेकिन यह हमारा मन न थाह सका, श्रेष्ठि ! मनोमणि रत्न से परे है।'

'क्षमा करें, भगवती, मेरा यह रत्न मनस्कान्त नहीं, अन्तरिक्ष-वेध चिन्तामणि है।'

'इसकी सामर्थ्य ?'

'इसमें दृष्टि केन्द्रित करने पर आप, जब चाहें देश-काल में कहीं भी अवस्थित अपनी मनोकाम्य वस्तु या व्यक्ति को देख सकती हैं।'

'क्या मैं इसी क्षण इसमें, मगध की भूमि पर निष्कम्प खड़े अर्हत् महावीर को देख सकती हूँ?'

'यदि वे सच ही आपके अनन्य काम्य और दर्शनीय हों !'

'महावीर से अधिक दर्शनीय और काम्य इस समय पृथ्वी पर क्या है, श्रेष्ठि ?'

'सावधान, देवी आम्रपाली . . !'

'मुझे सावधान करने वाले तुम कौन, ओ अजनबी ?'

'पूर्वीय समुद्रेश्वर सम्राट बिंबिसार श्रेणिक . . !'

आम्रपाली अप्रभावित, अचल, एकटक मुझे क्षणैक ताक रही।

'सम्राट का अभिवादन करती हूँ। प्रचंड सूर्यप्रतापी मगधेश्वर को मेरे पास चोरी से आना पड़ा ?'

'अपनी स्वप्न-सुन्दरी के पास देश-काल में कैसे आया जा सकता है ! अन्तरिक्ष-मणि में ही वह मिलन सम्भव है।'

'क्षमा करें सम्राट, यदि आम्रपाली किसी दूसरे ही स्वप्न में जी रही हो, तो आपकी अन्तरिक्ष-मणि में वह अनुपस्थित भी हो सकती है !'

'देवी का वह स्वप्न-पुरुष कौन महाभाग है ?'

'संसार में आज जिससे अधिक कमनीय, कामनीय, दर्शनीय और कुछ नहीं !'

'मगधनाथ श्रेणिक का कोई प्रतिस्पर्द्धी नहीं हो सकता !'

'वह अपनी प्रतिस्पर्द्धा से ऊपर है, राजेश्वर ! वह वर्तमान लोक में एकमेव और अद्वितीय सौन्दर्य-सत्ता है !'

'उसका नाम जानने की धृष्टता कर सकता हूँ ?'

'जो एकमेव नाम आज दिगन्तों पर लिखा हुआ है, उसे आपने नहीं पढ़ा, नहीं सुना? आश्चर्य !'

'शायद नहीं . .।'

'उस अनन्त, अनाम को, रूप और नाम में कौन बाँध सकता है ?'

एक गहरी मर्माहत, घायल खामोशी क्षण भर व्याप रही।

'आह पाली, मेरे चिरकाल के स्वप्न को तुमने बहुत निष्ठुरता से तोड़ दिया। तुमसे अधिक कोमल तो मैंने किसी को नहीं माना। अपनी अभिन्न अंकशायिनी चेलना को भी नहीं। . . लेकिन तुमसे कठोर और कौन हो सकता है ?'

'मेरे मन मेरे इस भाव से अधिक कोमल कुछ नहीं, सम्राट् !'

'अमिया, क्या तुम नहीं जानतीं कि . .'

'. . कि श्रेणिक बिंबिसार मुझे अपनी आँखों में अंजन की तरह आँजे हुए हैं, कि मैं उनकी हर अगली साँस का कारण हूँ। . .

'सब कुछ जान कर भी, मेरी आत्मेश्वरी, तुमने मुझे अविकल्प पाताल में फेक दिया ?'

'ताकि आप वहाँ आ सकें, जहाँ मुझसे अचूक मिलन सम्भव है। केवल मात्र जहाँ आपका स्वप्न सिद्ध हो सकता है।'

'वह तुम्हारे और मेरे बीच न होकर अन्यत्र कहाँ सम्भव है ?'

'आपके और मेरे बीच पूरे संसार-चक्र का पर्दा पडा है, महाराज ! हमारे सीने सट कर आरपार गुँथ जाये, तब भी उनके बीच जरा, मृत्यु, रोग, विछोह, देश-काल की अलंघ्य खाइयाँ फैली पड़ी है।'

'. . मै खड़ा नही रह पा रहा, अम्बे ! तुम्हारे अतिरिक्त अब लौटने को कोई स्थान नहीं छूटा। तुम बहुत निर्मम हो रही हो।'

'इससे अधिक ममता क्या दूँ आपको, सम्राट्, कि आपको अन्तिम विछोह की वेदना से बचा लेना चाहती हूँ।'

'अर्थात् . . ?'

'यही कि आप मुझे वहाँ मिले, जहाँ फिर बिछुडन नही, जहाँ सौन्दर्य का क्षय नही। जहाँ स्वप्न टूटता नही, अन्तिम रूप से साकार होता है।'

'कहाँ है वह स्वप्न-भूमि, भगवती ?'

'ऋजुबालिका नदी के तट पर !'

हठात् एक अफाट यवनिका हमारे बीच पड गई। मै उलटे पैरों लौट कर अन्धकार के जाने किन अतल पातालों मे उतराता चला गया। . महावीर, तुमने मेरा अन्तिम आश्रय भी तोड़ दिया ! मेरी मनोमणि को भी तुमने सदा के लिए चूर-चूर कर दिया। मेरे अन्तरतम स्वप्नद्वीप की शैया के चरम विराम . भी तुमने मुझे वचित कर दिया। तुम रहो, या मै रहूँ, ऐसी शर्त लग गई है। हम दोनों एक साथ अस्तित्व मे दो हो कर नही रह सक्ते, नही रह सकते। . .



तुम सच ही कहते हो, महावीर, श्रेणिक सौन्दर्य और प्यार का प्यासा है। अपनी उस चिरन्तन प्यास की अतृप्ति से तडप कर ही, वह दिग्विजय और साम्राज्य-स्वप्न मे पलायन करता रहा है। बेशक, अपने बाहुबल और पराक्रम से मैने कुशाग्रपुरी के छोटे से पैतृक राज्य को, वर्तमान आर्यावर्त के सर्वप्रथम साम्राज्य मे परिणत कर दिया। उज्जयिनी के दुर्जय चडप्रद्योत को भी अपने शूरातन से आतकित कर दिया। तब पारसिक देश का दुर्दान्त शासानुशासन भी मेरी मैत्री के लिए लालायित हो गया। फलतः वीतिभय का अधीश्वर उदायन मुझे प्रणामांजलि अर्पित करने लगा। नतीजा यह हुआ कि हिन्दूकुश के दुर्गम्य दर्रे और पश्चिम समुद्र के पानी मेरी रणहुंकार से थरथराने लगे।

. मेरी दिग्विजय के लक्ष्यीभूत भूगोल के नक्शे तो अब बनने लगे है। वह भी मैने नहीं,

महामात्य वर्षकार और महत्वाकांक्षी कुणीक ने बनवाये हैं। मैंने तो होश में आने के दिन से ही, अपने भीतर केवल एक नामहीन निराकार अनिर्वार आवेग को अनुभव किया था। वह एक संयुक्त महावासना थी, किसी ऐसे अप्राप्य को पाने की, जिसे पाये बिना जिया नहीं जा सकता, जीवन और जगत की सार्थकता को अनुभव नहीं किया जा सकता। मेरे भीतर की वह अविराम आर्त्त पुकार और पीड़ा प्यार के लिए थी, सौन्दर्य के लिए थी, या साम्राज्य के लिए, मुझे कुछ भी पता नहीं था। मुझे नहीं पता था, मैं क्या खोज रहा हूँ, लेकिन मेरा अबूझ अबोध हृदय जाने किस शै को ढूँढे चला जा रहा था।

उसी एकाग्र महावासना का चिर बेचैन सामुद्रिक हिल्लोलन कभी मेरी बलशाली भुजाओं में सर्वजयी शूरातन बन कर प्रकट हुआ तो कभी अछूते रूप-सौन्दर्यों का दुर्दाम आलिंगन। एक ओर अपनी दायीं भुजा से मैं आसमुद्र पृथ्वी पर अपनी तलवार की बिजलियाँ कड़काता रहा, भूगोल और खगोल की हदों पर अपनी विजय पताकाएँ फरकाता रहा। तो उसी एक संयुक्त क्षण में मैं अपनी बायीं भुजा में पृथ्वी की श्रेष्ठ सुन्दरियों को अपने परिरम्भण-पाश में बाँधता चला गया।

हर देश, द्वीप और समुद्र-मेखला की निर-निराली कुमारिका के लावण्य में डुबकी लगाने को मेरा वक्ष हर पल विकल रहता। हर नयी बार, किसी और ही प्रिया के, गाढ़तर गहनतर सौन्दर्य और प्यार को पाने के लिए मेरी आत्मा सदा तरसती रहती। कुमार काल में पिता द्वारा निर्वासित किये जाने पर द्रविड़ देश की अनुपम सुन्दरी ब्राह्मण-कन्या नन्दश्री को अपनी बाहुलता बना लाया। कोसलेन्द्र की इकलौती बहन कोसलवती को ब्याह कर मैंने गंगा-यमुना के दोआब की सौंधी हरियाली माटी को आलिंगनबद्ध करने का सुख पाया। ऊपर से दहेज में पाये काशी-कोसल के एक विशाल भूखण्ड पर मेरा विजय ध्वज भी गड़ गया। हर भूमि और उसकी सारांशिनी सुन्दरी को अंकस्थ करने का सुख मै एक साथ पाता चला गया।

उज्जयिनी की जनपद-कल्याणी पद्मावती का हृदय अपने रूप और प्रताप से जीत कर, उसे मैंने राजगृही में ला बसाया। मालवे की उस परम मृदुला काली लचीली माटी में अपने तेज को सींच कर, उसकी कोख में एक अनन्य प्रतिभाशाली पुत्र उत्पन्न किया। इस प्रकार पुराण-प्रसिद्धि मालव की भूमिका को बाहुबद्ध करके मैंने उसे मगध की माटी में समो देने का अकथ्य विजयोल्लास अनुभव किया।

और अन्ततः समकालीन विश्व की शिरोमणि महानगरी वैशाली की अनंग-जयिनी बेटी चेलना को अपनी अंकशायिनी बना लाया। और यों मैंने पृथ्वी के सर्वोपरि गणतंत्र की स्वातंत्र्यवाहिनी हवा को अपने सीने में गिरफ्तार कर लिया। और आज दुर्जय स्वातंत्र्य-गर्वी वैशाली की स्वतंत्रता पल-पल मगधेश्वर श्रेणिक की तलवार तले थरथरा रही है।

फिर भी क्या मुझे चैन आया ? भीतर के भीतर में बराबर ही ऐसा अहसास होता रहा, कि चेलना समूची मेरे बाहुबंध में बँध कर भी, उससे बाहर ही रह गई है। पृथ्वी और समुद्र के जाने किन अपरिक्रमायित कटिबन्धों में जाने कहाँ-कहाँ खेलने चली गयी है। उसकी आँखों की काजली गहराइयों में, पूर्व जन्मों की जाने कितनी ही दर्दीली रातों के द्वार खुलते चले जाते हैं। उनमें इस तरह बेतहाशा खोता चला जाता हूँ, कि देहगुंफन के सारे किनारे हाथ से छूटते चले जाते हैं। एक अन्तहीन आत्मविस्मृति में डूबता चला जाता हूँ। पर पार में उतर कर याद के जिस तट पर अपने

को खड़ा पाता हूँ, वहाँ चेलना कहीं नहीं होती है। एक अजीब असमंजस में होता हूँ, कि यहाँ जो एकाकी उपस्थित है, वह मैं हूँ, या चेलना है, या कोई और ही है ? कोई हो, क्या फर्क पड़ता है !

तब मेरी खोज वहाँ कैसे रुक सकती थी ! . . उन अचीन्हे विदेशी तटों की जल-वेलाएँ हृदय में टीस उठतीं, जिनके सुदूर छोरों में चेलना को खो जाते देखता था। . . लगता था कि यह चेलना एक नहीं, देश-देशान्तरों की अनगिनत सुन्दरियाँ एक साथ है। . . और उनमें से हरेक को अपने स्पर्श की ठोस पकड़ में लिये बिना कैसे चैन आ सकता है . . !

और तब नाना देश और नाना वेश में, मेरी छुपी जल-यात्राएँ और अन्तरिक्ष यात्राएँ होती थीं। मगध, अंग, वत्स और अवन्ती के सार्थवाहों के जहाजों पर चढ़ कर, जानी हुई पृथ्वी के हर कटिबन्ध की परिक्रमा कर आया। . . हर तट की अनुपम लावण्या कुमारिका को हर लाया। मगध के उपान्त भागों मे ताम्रलिप्ति, सुवर्ण-द्वीप, हंसद्वीप, मिस्र, महाचीन, यूनान और पारस्य की सुन्दरियों के अपने-अपने हर्म्य और उद्यान बन गये। . . जाने कितनी ही माधवी सन्ध्याओं मे, उन उद्यानों की स्फटिक-छतों पर अपने सपनों के साथ मनमाना खेला हूँ।

लेकिन क्या फिर भी जी की कसक को विराम मिल सका है . . ?

याद आता है वसन्त का वह कोकिल-कूजित अपराह्न। जब नील नदी के देश की वासिनी एक बाला के हर्म्य-उपवन में उसके साथ, पारिजात वन में विहार कर रहा था। तभी वैशाली का एक अज्ञात नाम कवि-चित्रकार, अचानक किसी गन्धर्व की तरह सामने आ खड़ा हुआ। उसके अनधिकारप्रवेश को टोक सकूँ, उससे पहले ही उसने एक चित्रपट चुपचाप मेरे सम्मुख अनावरित कर दिया। जाने किस छठवीं इंद्रिय से तुरन्त पहचान गया, अरे, यह तो आम्रपाली है ! वही आम्रपाली, जिसकी लावण्य-प्रभा से जम्बूद्वीप के दिगन्त झलमला रहे हैं और जो मेरा प्रतिपल का दिवा-स्वप्न हो उठी है इन दिनों।

और तब कवि ने आम्रपाली के सौन्दर्य का जयगान, जिस रसविदग्ध वाणी मे किया, उसके दरद ने मेरे अस्तित्व के मूलों को हिला दिया। . . विपुल महामूल्य पुरस्कार पा कर कवि रूपदक्ष चला गया। नील नदी की नीलांगिनी बाला मेरी अन्तर-पीर को थाहने में विफल, उदास हो रही। . .

मैं चुपचाप अत्यन्त उन्मन हो कर अपने महालय लौट आया। . . हाय, हाय री, मेरी नियति-नटी वैशाली ! चेलना की चोट क्या मुझे तड़पाने को कम थी, कि तूने एक और चित्रपट खोल कर, मेरे चिर विकल चित्त को यह आखिरी चोट दे दी · आम्रपाली? इस उच्चाटन के बाद पृथ्वी पर मेरे पैरों का टिकाव जैसे अन्तिम रूप से समाप्त हो गया। .

अभय ने फिर मेरी उन्मन उदास भटकनों के [illegible] नों को ताड़ लिया। बार-बार उसकी सहानुभूति से कातर बिनती भरी आँखे मेरे चहुँ ओर फेरी देती दिखाई पड़ी। . . आखिर उसने मेरे मरम की इस पीर का भेद भी तो जान ही लिया।

'चिन्ता न करें बापू, राजगृही की विलास-सन्ध्याएँ अब और सूनी नहीं रहेंगी। उनके चमेली-वातायन पर ऐसी एक लोक-कल्याणी खड़ी दिखायी पड़ेगी, कि सौ आम्रपालियाँ पानी भर जायें . . ?'

और तब ऐंद्रजालिक अभय राजकुमार मगध की लावण्य-खानि में से, एक अपूर्व सौन्दर्य-रत्न खोज लाया। सालवती। . . नीलकान्ति प्रासाद के माणिक्य-वातायन पर जिस साँझ पहली बार सालवती फूलों भरी आरूढ़ हुई, उस क्षण मानो लोकाकाश में एक दूसरे ही चन्द्रमा का उदय हुआ। फाल्गुनी पूर्णिमा की उस पूर्ण चन्द्रिला उत्सव-सन्ध्या में सारे मगध का प्राण पागल हो गया। पल भर को वैशाली की आम्रपाली भी मेरी आँखों में फीकी पड़ गयी। . .

. . उस सालवती को अपने अंगों की अत्यन्त विश्वसनीय पकड़ में समूचा गह कर भी क्या मुझे चैन आया? तन और मन की यात्रा, किसी दूसरे तन और मन में जितनी दूर हो सकती थी, होने में कोई कसर न रही। उसकी चरम फल-श्रुति के रूप में सालवती की कोख से आर्यावर्त को भगवान धन्वतरी का एक और अवतार भले ही प्राप्त हो गया, पर क्या मेरे प्राण की विकलता को विराम मिल सका? . . देखते-देखते में, सारे उत्सव कोलाहल के बीच भी, राजगृही की मधु-मालती विलास-सन्ध्याएँ फिर मेरे लिए कुम्हला गईं। सूनी हो गयी।

. . और मन्त्रणा-गृह की दीवारें मेरी दिग्विजय के नक्शों से अधिकाधिक पटती चली गईं। मगध के साम्राजी नक्काड़ों के युद्ध-घोष से धरती के गर्भ दहलने लगे। वैशाली-विजय के लिए, या आम्रपाली-विजय के लिए? . . नहीं, नहीं, जाने हुए जगत के हर सीमान्त पर अपनी दिग्विजय के स्तम्भ गाड़ देने के लिए। पृथ्वी और समुद्र के छोरान्तों का अतिक्रमण कर जाने के लिए !

. . लेकिन महावीर, ऐसे भयंकर और अनिर्वार हो तुम, कि मेरी दिग्विजय की हर दिगन्त पर तुम्हीं खड़े हो। प्रतिक्षण एक चुनौती मेरे सामने मशाल की तरह जल रही है, कि इस दिगम्बर पुरुष का अतिक्रमण कर जाना होगा ! . . पर कैसे?

मेरे अन्तर्तम चेतना-कक्ष में एक स्वप्न की सीपी तैर रही है। उसमें बन्द मोती की तरल आभा में शायद विश्राम मिले। अम्बपाली के केशों के सघन सुरभित अम्बावन भीतर पुकार उठे। और उस रात ताम्रलिप्ति के रत्न-कलाधर ने, हर शै के लिए बन्द हो गये अम्ब' के किवाड़ खुलवा लिये। . . सामने पड़ते ही उन आलुलायित घनसार केशों की कस्तूरी छाया में सदा के लिए सो जाने को कैसा विह्वल हो उठा था। पर हाय, मेरे प्यार के उस कल्प-वन में भी तुम्हीं अनिर्वार खड़े मिले, महावीर ! मानो तुम्हें पाये बिना यहाँ का कोई सौन्दर्य, प्यार, साम्राज्य नहीं पाया जा सकता। सत्ता के कण-कण पर तुम्हारा चेहरा छपा हुआ है। तुम्हें पाये बिना न चेलना को पाया जा सकता है, न आम्रपाली को, न वैशाली को।

. . प्रायः ही चेलना के मुख से यही सुनता रहा था कि तुम मुझे बेहद प्यार करते हो, वर्द्धमान ! तुम्हारी जिस विश्वमोहिनी भाव-भंगिमा को चेलना देख आयी थी, उसका वर्णन उसके मुँह से सुनते-सुनते मैं आपा हार गया था। भर-भर आया था। बहुत गहरी आर्द्रता के साथ अनुभव किया था, कि सच ही तुम से अधिक प्यार मुझे कोई नही कर सकता। तन्मयता के किसी भी क्षण में श्रेणिक वर्द्धमान हो जाता था, और वर्द्धमान श्रेणिक। और तब घंटों-पहरों तुम्हारे साथ जाने कैसा हृदयहारी सम्वाद चलता रहता था। अपनी इयत्ता को किसी दूसरे जीवित मनुष्य के समक्ष पहली बार विसर्जित हो जाते अनुभव किया था।

इसी से दुर्दान्त तापस के रूप में जब तुम पहली बार नालन्दपाड़ा के उपान्त में

दिखायी पड़े, तो खबर मिलते ही अपनी मनोमणि चेलना के साथ तुम्हारे श्रीचरणों में आ उपस्थित हुआ। पर तुम्हारी निश्चल नासाग्र दृष्टि किंचित् भी विचलित न हुई। तुम हमारी ओर रंच भी उन्मुख न हुए। हमारी उपस्थिति की भी मानो तुमने अवहेलना कर दी। इससे भी अधिक श्रेणिक का अपमान और मर्मछेदन, कोई जीवित सत्ता आज तक न कर सकी थी। . . जितना ही अधिक आहत हुआ, उतना ही अधिक तुम्हारे पास आने को फिर-फिर विवश हुआ।

नालन्द की तन्तुवायशाला में फिर हम तुम्हारे दर्शनार्थ आये। अजीब थी तुम्हारी वह ध्यान-भंगिमा। सैकड़ों करघों की खड़खड़ाहट में मानो तुम संचरित थे। बुनकरों के सहस्रों हाथों में दौड़ती शटलों में तुम खेल रहे थे। निर्जीव यंत्रों के उस कोलाहलपूर्ण कर्म-चक्र में तुम लापरवाह बालक की तरह अकारण ही क्रीड़ा कर रहे थे। और अपने उस निरुद्देश्य लीला-खेल में हमारे प्यार और पीर से उमड़े हृदय को तुमने सहज ही नजरन्दाज कर दिया। उसके बाद भी कितनी न बार वैभार और गृध्रकूट की हिंस्र प्राणिसंकुल भयावह अटवियों में, अकेला भी तुम्हारे कार्योत्सर्गलीन चरणों मे घंटों आकर बैठा रहा। लेकिन तुम्हारी एक नजर तक पाने में वह मगधनाथ मजबूर रहा, जिसका नज़राना हो जाने को दुनिया की हर विभूति तरसती है।

मगधेश्वर के साम्राजी श्रमणागारों के आतिथ्य को तुमने अपनी एक मर्मीली मुस्कान से उड़ा दिया। पर राजगृही के परिसरवर्ती जाने कितने ही ग्रामों की कम्मशालाओं का अनामंत्रित मेहमान होना तुमने अधिक पसन्द किया। लोहकार, वर्द्धिक, शिलाकार, जुलाहे, चर्मकार और चंडकर्मी चाण्डाल तक तुम्हारे मनभावन मेजबान होने का सौभाग्य पा सके, लेकिन मगध के साम्राजी सिंहद्वार पर झाँकना तक तुम्हें मंज़ूर न हो सका। चेलना, नन्दश्री, कोसला, क्षेमा जैसी केसर-कोमला महारानियाँ कई-कई दिन व्रती और उपासी रह कर, अनेक तपस्याएँ धारण कर, हमारे राजद्वारों में महाश्रमण वर्द्धमान का द्वारापेक्षण करती थक गईं। लेकिन निगंठ-नाथपुत्र के हृदय को हमारी कोई आरति, पुकार, पीर, प्रार्थना पिघला न सकी, छू तक न सकी। फिर भी चेलना, तुम्हारी हर अवहेलना से अधिकाधिक मर्माहत होकर, अधिकाधिक तुम्हारे निकट मिटती ही चली गई। अन्य महारानियाँ भी अपने ही अन्तराय-कर्म को कोसती हुई, तुम्हारी अनन्त महिमा से अधिकाधिक अभिभूत होती चली गईं।

. . लेकिन मानो श्रेणिक को तुमने विगलित होने से भी विचलित कर दिया। मेरे विसर्जित अहम् के मूर्च्छित नागचूड़ को तुमने फिर अपनी ठोकर की चोट से जगाया। तुम्हें यह स्वीकार्य नहीं था, कि श्रेणिक का सम्राटत्व तुम्हारे चरणों में समर्पित हो विश्राम पा जाये, चैन पा जाये। मेरे भीतर के, अपने द्वारा पदमर्दित सम्राट् को तुमने हजार गुने अधिक वेग के साथ फिर से जगाया है। मेरी इयत्ता और अस्मिता को, मेरे चक्रवर्तित्व के गर्व को, फिर तुमने पराकाष्ठा तक उभारा है। मुझे तुम्हारे चरणों में मिट जाने तक की छुट्टी नहीं। क्या यही है मेरे लिए तुम्हारा प्यार?

. . एक मौन ललकार है मेरे सामने, कि मुझे तुम्हारे मुक़ाबिल खड़े रहना होगा। मुझे तुमसे टकराना होगा। . . समझ रहा हूँ विदेह-पुत्र वैशालक, तुम मुझे युद्ध देने आये हो। अपनी नग्न काया के कार्योत्सर्ग में तने खड्ग की धार से, तुम मेरी दिगन्त-जयिनी तलवार के पानी उतार

देने आये हो। स्वयम् मेरी तलवार की धार पर चल कर, तुम मुझे हर पल चुनौती दे रहे हो कि, मैं तुम पर प्रहार करूँ? अपनी अरक्षित नग्न देह के पिण्ड रूप में सारी वैशाली को उसकी समस्त शक्ति और ऐश्वर्य के साथ तुमने मेरी भूमि में ला पटका है। और मौन मुस्करा कर मुझे आहूत कर रहे हो कि : 'लो श्रेणिक, यह वैशाली है—तुम्हारे चक्रवर्ती साम्राज्य की अनिवार्य शर्त। सामर्थ्य हो तो इस पर प्रहार करो, क़ब्ज़ा करो। यह खुली है, और प्रस्तुत है, तुम्हारे सामने। इसकी हृदयेश्वरी आम्रपाली तुम्हारे विश्व-विजय के गर्वी वीर्य को परखना चाहती है। प्रहार करो उस पर। भुवनेश्वरी अम्बा तुम्हारे बेशर्त समर्पण से प्रसन्न नहीं हो सकती। वह तुम्हारे पुरुष की आखिरी चोट को ही समर्पित हो सकती है।' . .

तुम मेरे वीर्य की बूँद-बूँद में आग लगा रहे हो, महावीर ! तुमने मेरे मूलाधार में सुप्त कुंडलिनी को भयंकर पदाघात देकर जगा दिया है। मेरे मेरुदण्ड में दिवारात्रि यह महासर्पिणी शक्ति की सहस्रों विद्युतधाराएँ बन कर लहरा रही हैं। बेशक, शर्त लग गई है, कि तुम रहो या मैं रहूँ . . ? साम्राज्य तुम्हारा हो या मेरा हो ? आम्रपाली तुम्हारी हो या मेरी हो ? चेलना तुम्हारी हो या मेरी हो ?

मेरे मेरुदण्ड के म्यान में दो तलवारे एक-दूसरी से गुँथ रही हैं, एक-दूसरी को काट रही हैं। उन्हें परस्पर कट कर एक हो जाना होगा। इस एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं। लेकिन मेरी इयत्ता इतनी अपराजेय और दुर्दान्त हो उठी है, कि अपना मिटना अब मुझे किसी भी तरह मंजूर नहीं। अपने होने, रहने और कर्म करने की अनिवार्यता को आज से अधिक नग्न, निश्चल और अविकल मैंने कभी अनुभव न किया। इतिहास का यह एक अपूर्व भेदी षड्यंत्र है। श्रेणिक को इस चक्रव्यूह का भेदन करना होगा। क्योंकि यह उसके अस्तित्व की शर्त है। यह उसकी आत्मा पर चरम आक्रान्ति है।

अपने से श्रेष्ठ और बलवत्तर तो मैंने आज तक किसी को नहीं जाना। अपने से ऊपर किसी को स्वीकारना मेरी आदत में नहीं। . महावीर, तुम मेरी ही भूमि पर अटल ध्रुव की तरह खड़े होकर, मुझ से वह स्वीकृति चाहते हो ? तुम मेरे अहम् की समर्पिति से सन्तुष्ट नहीं हो सकते। उसे अधिकतम उद्दंडायमान करके, उस पर अपने को छाप देना चाहते हो।

तुमसे बड़ा मेरा शत्रु देश और काल में कभी हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं।

आज कितने ही महीने हो गये, ऋजुबालिका नदी के तटवर्ती इस जीर्ण उद्यान में, श्यामाक गाथ पति के इस शालि-क्षेत्र में, मानो सारी पृथ्वी से निर्वासित होकर, विचर रहा हूँ। उस माटी की अतल अँधियारी गहराइयों में धँसकर अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहा हूँ, जिस पर तुम निश्चल महामेरु की तरह अपराजेय खड़े हो।

इस महामेरु को हिला देना होगा, जीत लेना होगा, उखाड़ कर फेंक देना होगा, वर्ना श्रेणिक से जिया नहीं जा सकेगा।

ओ ध्रुव, तुम्हारे रहते, मैं अपना नया ध्रुव कैसे स्थापित कर सकता हूँ ? अन्तिम दाँव लग चुका है : तुम रहो, या मैं रहूँ, या कोई न रहे। केवल सत्ता रहे।

श्रेणिक पराजित होना नहीं जानता। वह अपने गन्तव्य पर पहुँच कर रहेगा। . .

मैं हूँ, कि नहीं हूँ

बेशक, जाने हुए जगत के छोरों तक भटक आया हूँ। पृथ्वी के हर चप्पे पर अपनी महिमा को अपराजेय पाया है। अपने से बड़ा यहाँ कुछ भी देख नहीं सका, पा नहीं सका। फिर भी अजब है कि दिन-दिन छोटा ही पड़ता जा रहा हूँ।

वसुन्धरा में जो कुछ दर्शनीय है, वह सब मैंने देख लिया। जो कुछ भोग्य है, वह सब मैंने भोग लिया, जो कुछ प्राप्तव्य है, वह सब कुछ मैंने पा लिया, जो कुछ जीतव्य है, वह सब कुछ मैंने जीत लिया।. . लेकिन क्या बात है, कि अपने को एकदम खाली, और खोखला पा रहा हूँ। मेरी अतृप्ति का अन्त नहीं। मेरी दुर्दाम वासना, कुचले हुए शेषनाग के फन की तरह, यहाँ आकर भूलुंठित पड़ी है, इस नग्न निरीह पुरुष के पैरों तले की मिट्टी चाट रही है। इससे बड़ा अपमान मेरा क्या हो सकता है ? इससे बड़ी मान-हानि जगत में किसी की क्या हो सकती है ? एक रजकण, तृण या पतिंगे की भी अपनी यहाँ इयत्ता है। मगर जगज्जयी श्रेणिक अपनी उस अस्मिता तक से वंचित हो गया है। उजागर रहना उसके लिए असाध्य हो गया है, और अपना मुँह छुपाने के लिए ओट पाना भी आज उसके लिए मुहाल है।

अपनी इतनी बड़ी हार को ले कर अस्तित्व में कैसे रहूँ, यही आज प्रश्नों का प्रश्न है मेरे सामने। जल, स्थल, आकाश में कहीं ठहरने को मेरे लिए जगह नहीं। ऋजुबालिका नदी के इस तट पर, श्यामाक गाथापति के इस उजड़े उद्यान में, धरती के साथ एकीभूत हो गये इस अवधूत के अचल पंकिल चरणों में भूसात् हो रहने के सिवा, और कोई गति श्रेणिक की नहीं रही ?

महामंडलेश्वर श्रेणिक की पुण्य-प्रभा कभी कहीं छुपी न रह सकी। लेकिन आज उसकी पहचान खो गई है। दिन के भरपूर उजाले में भी दुनिया की कोई आँख उसे पहचान नहीं सकती। सारे जगत की आँखों से वह ओझल हो गया है, सबकी निगाहों में वह खो गया है। मगध जैसे पराक्रान्त साम्राज्य का परिचक्र भी उसे खोज लाने में हार मान गया है। सारी पृथ्वी से निर्वासित हो कर, वह आज कई-कई महीनों से इस अकिंचन तापस के चट्टानस्थ चरणों में टकटकी लगाये बैठा है।. . कि कैसे इन पैरों को अपनी भूमि पर से उखाड़ कर, अपनी विश्वजयी हस्ती को फिर से कायम कर सकूँ। मगर कोई उपाय नहीं है।

अपनी अन्तिम हार की इस महावेदना में अपने समूचे भूतकाल को दुहरा रहा हूँ। फिर से उसके हर पल को जी रहा हूँ। और अपने विगत जीवन के इस सिंहावलोकन में पाता हूँ, कि अपने को कभी किसी से छोटा तो श्रेणिक ने जाना ही नहीं। स्मृति जागने के पहले दिन से आज तक, श्रेणिक मनुष्यों के बीच सदा सर्वोपरि रहा, सर्वश्रेष्ट रहा, सर्वज्येष्ठ रहा। याद के पहले क्षण से पाता हूँ, सबसे बड़ा, श्रेष्ठ और अपराजेय ही रहा हूँ। सबसे बड़ा ही जन्मा, सबसे ऊपर ही सदा जिया।

जीवन के प्रथम प्रभात से अब तक की एक-एक घटना याद आ रही है। उस पूरे इतिहास

में अपनी महिमा को सर्वत्र अजित, अक्षुण्ण और अपराजेय ही देखता हूँ।

कुशाग्रपुर के राजा उपश्रेणिक प्रसेनजित मेरे पिता थे। ऐसे दुर्दण्ड महाबली कि उनके एक भ्रूनिक्षेप पर ही, अनेक नरपति और राज्य उनके माण्डलिक हो रहे। जिस भूमि को उन्होंने जीता, उनकी श्रेष्ठ सुन्दरियाँ उनकी अन्तःपुरिकाएँ हो रहीं। उनके अनेक राजपुत्रों में एक मैं भी था!

ऐसे अप्रतिहत पृथ्वीपति का आधिपत्य स्वीकारने को, अभिमानी राजा सोमशर्मा ने इनकार कर दिया। प्रसेनजित के अहम् को चोट दे सके, ऐसा तो कोई जगत में जन्मा नहीं। महाराज-पिता स्वयं एक छोटा-सा सैन्य लेकर सोमशर्मा पर चढ़ धाये। चुटकी बजाते में चन्द्रपुराधीश्वर सोमशर्मा को पराजित कर, बन्दी बना लाये। ससम्मान उसे अपने दरबार में माण्डलिक पद पर अभिषिक्त किया। प्रकटतः सोमशर्मा ने आधिपत्य स्वीकारा। लेकिन उस हार के काँटे ने उसे चैन न लेने दिया।

अपने राज्य में लौट कर सोमशर्मा ने उपश्रेणिक को भेंट स्वरूप कई महार्घ वस्तुएँ भेजीं। उनमें एक अश्व-रत्न भी था। लेकिन कुटिल था यह घोड़ा, और सीख के अनुसार शत्रु को मृत्यु-मुख में ढकेल देता था। उपश्रेणिक घोड़े के भव्य वाहन-रूप पर मुग्ध हो, एक दिन उस पर चढ़ कर अकेले ही जंगल में आखेट को निकल पड़े। घोड़ा राजा को अज्ञात दिशा में उड़ा ले गया। महाराज-पिता ने पाया कि वह उनकी वल्गा के काबू से बाहर हो चुका है।. . एक बीहड़ अटवी में पहुँच कर घोड़े ने राजा को किसी गहरे अँधेरे गह्वर में गिरा दिया और चम्पत हो गया। चोट से कराहते राजा की आवाज सुन कर, पास से गुजर रहे एक यमदण्ड नामा किरातपति ने उन्हें बाहर निकाला। राजपुरुष के योग्य सम्मानपूर्वक उन्हें अपने घर लिवा ला कर अपनी विद्युन्मती नामा रानी की सेवा-सुरक्षा में रख दिया। उस अवधि में भीलराज की पुत्री तिलकमती की सुकोमल सेवा-शुश्रूषा और मधुर रसवती के भोजन से राजा ने अपूर्व स्वास्थ्य और नवजीवन का अनुभव किया।. .

ऐसे प्रतापी राजा को अपनी पुत्री के प्रति अनुरक्त जान भीलराज गद्गद हो गया। तिलक के पाणिग्रहण को उद्यत उपश्रेणिक के समक्ष यमदण्ड ने शर्त रक्खी कि यदि तिलकमती का पुत्र कुशाग्रपुर की गद्दी का वारिस हो सके, तो राजा सहर्ष उसे ब्याह ले जायें।. . और यों तिलकमती कुशाग्रपुर की पट्टमहिषी हो गई। यथाकाल उसकी कोख से चिलाति नामा पुत्र जन्मा : विशाल कुशाग्रपुर राज्य का भावी राजा।

अनगिनती राजपुत्रों के बीच मैं किससे बड़ा या छोटा था, याद नहीं। इतना ही याद है कि उन सब के बीच सबसे बड़ा ही दिखाई पड़ता था। डील-डौल कैसा था, कितना बलशाली था, इसकी भी कोई कल्पना नहीं। लेकिन स्पष्ट देखता हूँ आज भी, कि सब से ऊँचा और अनहोना था। कई मुण्डों के बीच ऊपर उठा अपना तरुण भव्य मस्तक और मैदान-सा विस्तृत ललाट आज भी देख पाता हूँ। आसमान को चुनौती देता हहराते जंगल-सा उन्नत माथा। और चौड़े वृषभ-स्कन्धों पर झूलती अलकावलियों मे जैसे हाथी लूमते-झूमते चलते थे। खेलों में हो, कि घुड़दौड़ में हो, कि भेदी भयावने जंगलों में रास्ता खोजने की होड़ मे हो, कि नदी सन्तरण में हो, कि दुर्लभ को पा लेने के दावों मे हों, कि पहाड़ और नदियाँ लाँघने की प्रतिस्पर्धाओं मे हो, कि मल्ल-विद्या में हो, कि भयानक अलंघ्य को लांघने-फॉदने में हो, सारे ही साहसों और पराक्रमों से

सब में आगे अजेय और ऊपर ही दीखता था।

भील-रानी का जाया, बेहद लाड़ों में लालित-पालित चिलाति मेरी इस बलवत्ता और गरिमा को देख कर रो-रो देता था। अन्य राजपुत्र आये दिन की मेरी विजयों पर जब मेरा जयजयकार करते, तो चिलाति ईर्ष्या से जल कर बिलबिलाता हुआ अपनी किरातिनी पटरानी माँ और महाराज उपश्रेणिक की गोदी में जा दुबकता और तरह-तरह से मेरी झूठी चुगलियाँ खाता, शिकायतें करता।

महाराज-पिता भारी चिन्ता में पड़ गये। उजागर रूप से उद्दण्ड प्रतापी युवराज श्रेणिक के सम्मुख होते, दीन-दुर्बल चिलाति को कुशाग्रपुर की गद्दी पर कैसे बैठाया जा सकता है। मन-ही-मन वे छीजने लगे कि साँवली-सलोनी तिलकमती को दिया वचन कैसे पूरा हो। बुद्धिमान मंत्रियों ने उपाय सुझाया कि गद्दीधर की पात्रता का निर्णय करने के लिए राजपुत्रों की परीक्षा ली जाये। और उस दौरान अनेक दाँव-पेंचों से श्रेणिक को अयोग्य ठहरा दिया जाये। अन्य राजपुत्रों को तो सेंतमेत में उड़ा दिया जायेगा। सो कई परीक्षाओं का आयोजन हुआ।

पहली परीक्षा यह हुई कि सारे राजपुत्रों को एक साथ भोजन पर बैठा कर उनके सामने पायसान्न के थाल धर दिये गये। जब कुमार खाने लगे, तो उन पर व्याघ्र की तरह मुँह फाड़ कर आते श्वान छोड़ दिये गये। अन्य राजकुमार तो तत्काल भयार्त्त हो कर भाग खड़े हुए। पर मैं अकेला बहुत ही आराम-इतमीनान से बैठा भोजन करता रहा। मैं अन्य छूटे हुए थालों में से थोड़ा-थोड़ा पायसान्न श्वानों को देता रहा। श्वान उसे चाटने में मशगूल हो रहे, और मैं अपने भोजन में अविचल तल्लीन हो रहा। देखकर महाराज पिता स्वयं मुग्ध-विस्मित हो रहे। प्रकटतः बोले कि निश्चय ही यह श्रेणिक कुमार हर किसी उपाय-चातुरी से शत्रुओं का निरोध कर सकेगा, और निर्भय भाव से पृथ्वी को भोगेगा।

एक और बार अचानक ऐसा हुआ कि महाराज ने सब कुमारों को एकत्रित कर मोदक से भरे करंडक और पानी से भरे घड़े मुद्रित करवा कर, सबके सामने प्रस्तुत कर दिये। फिर राजाज्ञा हुई कि इन करंडकों मे से मुद्रा तोड़े बिना ही मोदक खाओ, और इन घड़ों में से बिना छिद्र किये ही पानी पियो। अन्य सारे राजपुत्र हतबुद्धि, गुमसुम, किंकर्तव्यविमूढ़ हो ताकते रह गये। मुझे जाने क्या सूझा कि मैने मोदकों के करंडकों को खूब जोरों से हिला-हिला कर, मोदकों का चूरा कर डाला। तब करंडों की खिपच्चियों में से खिरा-खिरा कर मोदक-चूर्ण प्रेमपूर्वक खाने लगा। उसके बाद, चांदी के स्तवक जल भरे घड़ों के नीचे रख कर, माटी के छिद्रों में से सहज झर रहे जल को एकत्र कर उसे सुखपूर्वक पीने लगा। महाराज उपश्रेणिक गद्गद स्वर में मुखर हो उठे : 'निश्चय ही श्रेणिक कुमार एक दिन अपनी कुशाग्र सूझबूझ से अभेद्य को भेद कर, कुशाग्रपुर को सर्वोपरि राजसत्ता बना देगा।'

एकदा कुशाग्रपुर मे बारंबार अग्नि का उपद्रव होने लगा। तब महाराज प्रसेनजित ने अघोषणा करवाई कि :

'आगे से इस नगर में, जिसके भी घर में पहले आग लगेगी, उसे रोगी ऊँट की तरह नगर में से निकाल बाहर किया जायेगा।'

योगायोग कि एक दिन रसोइये के प्रमाद से हमारे राजमहालय की पाकशाला में से ही आग

की लपटें फूट पड़ीं। जब अग्नि-ज्वालाएँ नियंत्रण से बाहर हो, चारों ओर फैल चलीं, तब राजा ने अपने कुमारों को आज्ञा दी कि :

'इस घड़ी मेरे महल में से, जो कोई कुमार, जो भी वस्तु निकाल ले जायेगा, वही उसकी अपनी सम्पदा हो जायेगी।'

सभी राजपुत्र अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अनेक महामूल्य वैभव सामग्रियाँ लेकर भाग निकले। लेकिन विचित्र थी मेरी खोपड़ी, कि मैं एक भम्भा-वाद्य ले कर उसे फूँकता हुआ, सरे राह नगर से बाहर हो गया। राजा ने मुझे पकड़ बुलवा कर पूछा :

'श्रेणिक बेटे, दुर्मूल्य रत्न-खजाने छोड़ कर, तू भला यह तुच्छ भम्भा-वाद्य ले कर क्यों निकल पड़ा होगा ?'

मैंने कहा : 'तात, यह भम्भा-वाद्य राजाओं का सर्वप्रथम जय-चिन्ह है। इसको फूँकने पर राजाओं की दिग्विजय में महान् मंगल होता है। इसी से किसी भी राजा को सर्वप्रथम इसी की रक्षा करनी चाहिए। . . '

मेरे मुख से इस महेच्छा का उद्घोष सुन कर महाराज प्रकटतः बड़े प्रसन्न गर्व से बोले : 'जान पड़ता है, उपश्रेणिक के वंश में चक्रवर्ती सम्राट का जन्म हो चुका है। निश्चय ही श्रेणिक कुमार दिग्विजय करेगा। मैं आज से इसका नाम श्रेणिक भम्भासार घोषित करता हूँ।'

कुशाग्रपुर के राजभवन को इस भयानक अग्नि-काण्ड से बचाने के सारे उपाय निष्फल हो रहे थे। पानी की बौछारों द्वारा बाहर से आग अवश्य बुझी लग रही थी, पर भीतर के भागों में वह अनिवार्य रूप से गहरी और अधिकाधिक विनाशक होती चली जा रही थी। मानो कि कोई दैवी प्रकोप हुआ हो, और सारे कुशाग्रपुर के भूगर्भ में जैसे कोई ज्वालामुखी अन्दर-ही-अन्दर धधक रहा हो। दैवज्ञ ब्राह्मणों ने निर्णय प्रस्तुत किया, कि शान्ति के अनुष्ठान में दैवी आदेश प्राप्त हुआ है कि : 'जो कुशाग्रपुर का भावी राजा हो, वह जलते राजभवन में घुस कर यदि राजसिंहासन को सुरक्षित निकाल लाये, तो विपल मात्र में ही अग्नि-देवता शान्त हो जायेंगे।'

तब मैं कतई नहीं जानता था कि यह मेरे विरुद्ध आयोजित षड्यंत्रों की एक सुनियोजित शृंखला थी। और अब जब मैं सारी परीक्षाओं में अपराजेय रूप से सफल सिद्ध हो चुका था, तो यह अन्तिम परीक्षा मुझे जीते जी जला देने का ही एक अचूक षड्यंत्र था। अपने राज्याभिषेक के बाद ही, मैं वरिष्ठ राजमंत्रियों के मुँह से इन गुप्त दुरभिसंधियों की सारी लोमहर्षक वार्ता सुन सका था।

मैं स्वभाव से ही बहुत भोला और सीधा था। तब तो मैं इसकी गन्ध भी नहीं पा सका था, कि कोई व्यवस्थित परीक्षाओं का क्रम चल रहा है। अत्यन्त निरीह, अबोध, अपने में ही खोया-खोया अपने एकान्तों में विचरता रहता था। मेरी माँ भी मेरी ही तरह सरल और लगभग अज्ञानिनी-सी थी। मेरे पराक्रम और विजय की वार्ताएँ सुन कर वह हर्ष से रो आती और मुझे गोदी में चाँप कर मौन-मौन ही चुम्बनों से ढाँक देती। उसे भी कतई नहीं मालूम था कि उसका प्राणाधिक प्रिय पुत्र राजपिता की राह का रोड़ा हो गया था। और उसे उखाड़ फेंकने में सारे राजचक्र की शक्ति संलग्न और केन्द्रित हो गई थी। मैं कुछ इतना निर्मोह और बेपर्वाह भी था, कि माँ की लाड़-प्यार भरी बाँहों और क्रोड़ के सारे बंधन झटक कर, खतरों और संकटों की टोह में ही

मुझे मज़ा आता था।

चहुँ ओर ज्वालाओं से आक्रान्त राजभवन में प्रवेश कर राजसिंहासन को अक्षत बचा लाने की आघोषणा जब हुई, तब भी मेरे हृदय में राज्याधिकार पाने की कोई वासना रही हो, ऐसा तो रंच भी याद नहीं आता। इतना ही याद आता है, कि यह चुनौती मुझे भयानक रूप से आकर्षक और अनिर्वार लगी थी। अन्य सारे ही कुमार इसे सुन कर थर्रा उठे थे, और मुँह बचा कर अपनी-अपनी राह भाग निकले थे। मुझे एक अजीब कौतुक-कौतूहल का बोध हुआ, और मेरे मन में एक मजाक का अट्टहास-सा गूँज उठा।

मैं चुपचाप खिसक कर नगर के एक शस्त्र-शिल्पी लोहकार के यहाँ चला गया। उसे अपना एक महामूल्य मुक्ताहार दे कर, उससे पूरे शरीर का एक फौलादी कवच और शिरस्त्राण प्राप्त कर लाया।. . अगले दिन बड़ी भोर ही, कवच तथा शिरोटोप से सज्जित हो कर, पिछले द्वार से राजभवन में धँस गया, और अनेक प्रकोष्ठों और उपद्वारों को मरणान्तक संघर्ष के साथ पार करता, राजासभा-गृह में पहुँच गया। सुवर्ण का राजसिहासन अब भी लपटों की छाया में अछूता पड़ा था।

मानो कि मुझ में कोई पैशाचिक शक्ति बेफाम उद्वेलित हो रही थी। एक ही छलाँग में सिंहासन पर जा कूदा, और दोनों हाथों से उसे मस्तक पर धारण कर मुख्य राजद्वार से बाहर आता दिखाई पड़ा। पलक मारते मे सारे कुशाग्रपुर नगर की प्रजा वह दृश्य देखने को उपस्थित हो गई। हजारों नरनारी के अश्रु-विगलित कण्ठों की जयकारों ने मुझे ढाँक दिया। सिंहासन मस्तक से उतार कर मैंने महाराज पिता के चरणों में अर्पित कर दिया। महाराज ने अपने गाढ़ आलिंगन में मानो मुझे कुचल-कुचल दिया। उनके उस निगूढ़ वात्सल्य-पीड़न का वह रोमांचन, मेरे रोमों में आज भी एक अद्भुत रहस्य की फुरहरी पैदा कर देता है। वे मुझे आलिंगन में मौत देना चाहते थे, या अमर जीवन का आशीष, यह मै आज भी बूझ नही पाता हूँ।

'जिसके घर में अग्नि प्रकट हो, उसे नगर त्याग कर चले जाना होगा।' स्वयं अपनी ही इस राजाज्ञा के अनुसार महाराज उपश्रेणिक प्रसेनजित ने नगर-त्याग कर दिया। अपने समस्त राजपरिकर सहित, वे नगर से एक योजन दूर, पूर्वारण्य मे छावनी डाल कर बस गये। कुशाग्रपुर के प्रजाजन आये दिन महाराज के दर्शनार्थ छावनी मे जाते रहते। वे किसी संज्ञा के अभाव में राजा के इस नये घर को 'राजगृह' कह कर पुकारने लगे। ना कुछ समय मे ही वहाँ राजगृह नाम का एक सुरम्य नगर बस गया। प्राचीर, परिखा, दुर्ग, अनेक भव्य प्रासादों, उद्यानों, अन्तरायणों, चौक-चौराहों से वह सज्जित हो गया।

सब व्यवस्थित हो जाने पर, एक दिन महामंत्री यशोविजय ने मुझे एकान्त में ले जाकर समझाया कि अपने बल-पराक्रम और बुद्धिमत्ता से मैंने जो अपना राज्याधिकार सिद्ध कर दिखाया है, उससे सारे ही राजपुत्र मेरे शत्रु हो उठे हैं। किरातिनी-पुत्र चिलाति के नेतृत्व में वे सब मिल कर मुझे मारने का षड्यंत्र रच रहे हैं। महाराज उपश्रेणिक चूँकि मुझे ही सिंहासन का योग्य अधिकारी मानते हैं, इस कारण मेरी प्राण-रक्षा के लिए वे अत्यन्त चिन्तित हैं। इसी से महाराज का यह प्रस्ताव है कि मैं कुछ काल के लिए चुपचाप विदेश-गमन कर जाऊँ। राज्यारोहण का ठीक मुहूर्त आने पर मुझे बुला लिया जायेगा। मै यह सब सुनकर हतबुद्धि, ठगा-सा रह गया। मानो

मुझे कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। मंत्रीश्वर प्रवास-खर्च के लिए मुझे देने को विपुल सुवर्ण-रत्न की थाती लाये थे। उसे लेने को मेरी अन्तर-आत्मा ने इनकार दिया। उसकी ओर मैंने आँख उठा कर भी नहीं देखा। बिना एक भी शब्द कहे मैं क्षण मात्र में वहाँ से चम्पत हो गया। मंत्रीशवर का विद्युत वेगी घोड़ा भी फिर मेरी गमन-दिशा का कोई अनुसन्धान न पा सका। . .



. . यात्रा की राह में जिस भी पुर, पत्तन, नगर, ग्राम से गुज़रा, सर्वत्र ही विजय और लक्ष्मी मेरा वरण करने को जयमाला लिये सामने आयी। मेरे बल, बुद्धि, पराक्रम के अनेक प्रासंगिक करिश्मों से नर-नारीजन मुग्ध-चकित रह जाते। मेरी राह में सारी वसुधा की सम्पदा और विभूतियाँ आकर पड़तीं। पर मेरा मन इतना विरक्त, उदास और रुष्ट हो गया था, कि कांचन और कामिनी के सारे प्रलोभनों को अपनी एक खामोश चितवन से ठुकरा कर, अपनी राह पर निरुद्देश्य, निर्द्वंद्व बढ़ता ही चला जाता।

. . एकदा वेणातट नगरी के राजपुरोहित सोमशर्मा के यहाँ मेहमान हुआ। उनके कारण वहाँ के राज-दरबार में भी भारी सम्मान पाया। मेरी सूझ-बूझ से वहाँ की अनेक राजकीय गुत्थियाँ सुलझ गईं। वहाँ के अंजनगिरि पर्वत पर स्थित सहस्रकूट चैत्यालय के वज्र-कपाट आज तक कोई खोलने में समर्थ न हो सका था। मेरे ललाट के स्पर्श मात्र से वे कपाट खुल गये। उस कारण राज्य में अपूर्व पुण्य और ऐश्वर्य प्रकट हुआ। वेणातट की राजपुत्रियाँ मुझ पर निछावर हुईं। पर मेरी हृदय-गुहा का भेदन करने में कोई सौन्दर्य, कोई सम्पदा कारगर न हो सकी। . . इससे पूर्व की यात्रा में भी कितने न मुकुट मुझे झुके, कितनी न रूप-यौवन की राशियाँ मेरे चरणों में बिछीं। पर मेरे हृदयपद्म पर कुण्डली मार कर बैठे अहं-पुरुष के नागचूड़ को कोई टस-से-मस न कर सका।

. . लेकिन वेणातट नगर के राजपुरोहित और मेरे आतिथेय सोमशर्मा की पुत्री नन्दश्री ने हार नहीं मानी। जगत के सारे गर्वी पुरुषार्थों के उन्नत मस्तकों के ऊपर, उसने मेरे मस्तक को मृत्यु की तरह अटल, भयानक और उत्तान देखा। अपने उस स्वप्न-दर्शन को, उसने मुझे एक दिन एकान्त में कह सुनाया। अपनी आत्मा की गुफा में से वह मानो आकाशवाणी की तरह बोल उठी :

'देवानुप्रिय अतिथि, मैंने प्रातः-सायं की अनेक सन्ध्याओं में तुम्हें गिरि-शृंगों पर अष्टापद की गरिमा से छलाँग भरते देखा है। जगत के सारे विजेताओं और योद्धाओं को तुम्हारे पादप्रान्त में पंक्तिबद्ध वामनों की तरह हततेज, पराजित, सिर झुकाए खड़े देखा है। . . ब्राह्मणबाला नन्दश्री तुम्हारे उस आगामी चक्रवर्ती सिंहासन के अर्द्धभाग की अधिकारिणी होना नहीं चाहती। मत करो तुम मेरा वरण, मत ब्याहो मुझे। केवल एक बार भरपूर मेरी ओर देखो। और अपने चरणों की रज मुझे दे जाओ। फिर चाहे कहीं जाओ, चाहे कुछ करो, चाहो तो मुझे भूल जाओ। पर मैं अन्तिम श्वास तक तुम्हारी कुँवारी रानी हो कर रहूँगी। . .'

सुन कर मेरे भीतर का पर्वत-वीर्य पसीज आया। उस सान्ध्य द्वाभा में भरपूर मैं उस पद्माभ बाला की अनन्तभरी चितवन में देख उठा। उसकी दोनों आयत्त कृष्ण-कमल आँखों में उसके अतल के दो आँसू उजल आये। और वह मेरे पैरों में कल्प-लता-सी लिपट कर फूट

पड़ी। . .

. . वेणातट नगरी की राजसभा में श्रेणिक के तेज, गौरव और देदीप्यमान पौरुष को देखने के लिए, सारे दक्षिणावर्त के तेजोधर और वैताढ्य गिरि के विद्याधर चक्कर काटते थे। नन्दश्री की चन्दनी आँचल-छाँव में सपनों की तरह जाने कितना काल बीत गया।

इस बीच मेरे अनजाने ही, मेरे प्रताप और पराक्रम की कीर्तिगाथाएँ हवाओं पर चढ़ कर उत्तरावर्त के सुदूर पूर्वीय छोरों तक भी पहुँच गयी थी। . . एक साँझ गोधूलि बेला में, राजसी दलबल सहित एक भव्य राजरथ हमारे द्वार पर आ खड़ा हुआ। सारथी ने एक सन्देश पत्र मेरे सम्मुख प्रस्तुत किया। उसमें लिखा था कि राजगृही के महाराज उपश्रेणिक प्रसेनजित मृत्यु-शैया पर मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। मै जहाँ भी हूँ, वहाँ से तत्काल इस पवन-वेगी रथ पर चढ़ कर चला आऊँ। राजगृही के पंचशैल श्रेणिक को पुकार रहे है। आदि . .।

मुझे लेने आये राज-सेवकों ने यह भी बताया कि, अब से एक वर्ष पूर्व अस्वस्थ होने पर महाराज उपश्रेणिक ने चिलाति को गद्दी पर बैठाया था। पर उस उद्दण्ड गर्वीले किरातिनी-पुत्र ने ना कुछ समय में ही क़हर बरपा कर दिया। उसके अत्याचारों से प्रजा त्राहिमाम् पुकार रही है। राजगृही की प्रजाएँ श्रेणिक भम्भासार को गुहार रही है।

मैने नियति के इस अटल विधान को पढ़ लिया। तुरन्त नन्दा और राजपुरोहित सोमशर्मा को संक्षेप मे सारी स्थिति का सम्यक् बोध करा दिया। . उस रात नन्दश्री के भीतर की गहन मर्मगुहा मे जहाँ मै समर्पित हुआ, वहाँ एक अलौकिक तेज की शलाका खड़ी देखी। उस क्षण जीवन मे पहली बार एक नारी के पगतल को चूम लेने को मै अकुला उठा। पर मेरे पौरुष-गर्व ने मुझ पर एक अर्गला-सी डाल दी।

प्रातःकाल प्रस्थान की बेला में मानो नन्दश्री नये सिरे से मेरा परिचय पूछ उठी। उन मौन-मुग्ध नयनों मे मैने पढ़ा . पन्थी, फिर कब लौटोगे ? ओ अतिथि, अपना नाम-गाँव, पता तो बता जाओ !'

नन्दा के कुन्तल-छाये कन्धे पर हाथ रख कर मैने इतना ही कहा :

'देवी, जहाँ की उज्ज्वल धर्म अमावस्या की रात मे भी चाँदनी-सी चमकती है, उसी राजगृही नगरी का मै गोपाल हूँ।'

. और पलक झपकाते मे मेरा रथ उत्तरापथ के मार्ग पर आरूढ़ हो गया।

. . मेरे आगमन का संवाद दूर से ही सुनकर, राजगृही नगरी नवेली वधू-सी सज कर जयमाला लिये प्रस्तुत हुई। पर उस सारे गौरव-सम्मान की अवहेला कर, मै चुपचाप पिछले द्वार से राजमहालय मे प्रवेश कर, सीधा रोग-शैयारूढ महाराज-पिता के समक्ष जा उपस्थित हुआ। जीर्ण-शीर्ण राजा पश्चात्ताप की व्यथा मे रात-दिन जल रहे थे। मुझे सामने पाते ही वे चैतन्य से हो आये। एकाएक उठ बैठे और बाँहे फैला कर आक्रन्द करते-से मानो उन्होंने मेरे पैरों पर ढलक आना चाहा। मैने उन्हे उठा कर आलिंगन मे बाँध, बहुत मृदुता से शैया पर लिटा दिया। उनके चरण-स्पर्श को उद्यत-सा हो आया मेरा ललाट, जाने क्यों मृत्यु की उस चरम साक्षी में भी झुक न सका। अनम्य श्रेणिक के इस अहम् पर मेरी अनाविल आत्मा भी दहल कर कातर हो आयी। राजपिता के ललाट पर मैने अन्तिम आश्वासन की हथेली रख दी। और अपलक मेरी ओर देखती

उनकी वे दोनों आँखें, दो आँसू ढुलका कर निस्पन्द हो गईं।

मन-ही-मन मैंने उन्हें क्षमा कर दिया था। और उसका अचूक बोध पा कर वे निश्चिन्त भाव से देह-त्याग कर गये। दैवज्ञों ने बाद में बताया, कि मेरी हथेली के स्पर्श मात्र से राजा की आत्मा उत्तम देवगति में आरूढ़ कर गयी।

. . तत्काल राज्याभिषेक के दुन्दुभि-घोष, तुरहियाँ, घंटारव और शंखनाद गुँजायमान हो उठे। . . सिंहासन पर आरूढ़ होते समय अनुभव हुआ, कि मैं सिंहासन के पास नहीं आया हूँ, स्वयं सिंहासन मेरे पगधारण को प्रस्तुत हुआ है।

उधर मेरे पीछे नन्दश्री ने दुर्वह गर्भ धारण किया। एकदा उसे ऐसा दोहद पड़ा कि : 'मै तुंगकाय हाथी पर चढ़ कर निकलूँ, और लोक-जनों पर विपुल समृद्धि की वर्षा करती हुई, उन्हे सुरक्षा और अभयदान से आश्वस्त करूँ।' वेणातटपुर के राजा ने बड़े उत्सव-समारोह के साथ नन्दा का वह दोहद सम्पन्न किया। यथाकाल उसके गर्भ से उदीयमान सूर्य-सा तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ। नन्दश्री के दोहद-पूर्ति उत्सव के अभयदान की स्मृति में उसके पिता सोमशर्मा ने अपने दौहित्र का नाम अभय कुमार रक्खा।

बरसों के पार नन्दश्री अपनी प्रथम प्रतिज्ञा को हृदय मे निगूढ़ दैवत् की तरह सँजोये रही। वह मानिनी सती रानीपद की भिखारिणी हो कर अपनी ओर से राजगृही नहीं आना चाहती थी। मेरा प्यार भी ऐसा पर्वत की तरह अनम्य और उद्ग्रीव था, कि भीतर नन्दा के विरह मे दिवारात्रि तपता रहा, पर उसे लिवा लाने या बुलाने का कोई बाह्य उपाय मुझे रुचिकर न हुआ। ऐसा लगता था कि समुद्र और पर्वत के बीच गरिमाओं की होड़ लगी थी।

. . किशोर अभय को उसके साथी-सखा उसके पिता का नाम-कुलगोत्र पूछ कर परेशान करते थे। इस रहस्य पर घर मे एक गहरे मौन का आवरण पड़ा था। आखिर एक दिन अभय ने माँ को अपनी आक्रन्दभरी हठ से विवश कर दिया कि अपने पिता का परिचय पाये बिना वह जी नहीं सकता। नन्दश्री ने कहा :

'तुम्हारा पिता उस राजगृही नगरी का गोपाल है, जहाँ की उज्ज्वल भीतें अमावस्या के अन्धकार में भी चाँदनी की तरह चमकती हैं।'

विचक्षण तेजस्वी अभय कुमार की आँखों में एक बिजली-सी कौंध गयी, और एक सम्पूर्ण भव्य नगरी और उसका अधीश्वर साकार हो उठा। माँ को बेटे के आगे हार मान लेनी पड़ी।

और कई महीनों बाद एक प्रात:काल अभयकुमार का रथ राजगृही के तोरण द्वार पर आ खड़ा हुआ। . . डाल-पके आम-सी रसभार-नम्र नन्दश्री मुझे सम्मुख पाते ही, दूर पर ही आँचल पसार कर प्रणिपात मे नत हो गई। यह मेरे लिए शक्य न रहा कि उस आँचल को मैं शिरोधार्य न करूँ। . . और तभी नन्दा ने मासूम सिंह-शावक-से अभय को मेरी फैली बाँहों में अर्पित कर दिया।

• • •

. . और आज अभय राजकुमार की कनिष्ठा उँगली पर मगध का साम्राजी भाग्य झूल रहा है।

और आज श्रेणिक को जगत की सारी महिमाएँ प्रणाम कर रही है।

कुशाग्रपुरी के राजमार्ग पर उस दिन जो अबोध कुमार भम्भा-वाद्य फूँकता हुआ निकल गया था, उसे क्या पता था कि उसके उस जय-निनाद ने अंतरिक्ष की अदृश्य पर्तों में आगामी भूगोल के नये नक्शे छाप दिये हैं।

उस अबोध वय से आज तक की अपनी सारी विजय-लेखाओं पर जो दृष्टिपात करता हूँ, तो आश्चर्य से दिङ्गमूढ हो रहता हूँ। नहीं याद आ रहा, कि उस भोलेभाले अवहेलित राजपुत्र के मन मे कोई कामना, कांक्षा या अभीप्सा रही होगी।

जीवन की राह मे, जो भी सकट, बाधा या चुनौती सामने आई, उस पर निपट निरीह लीला-खेल के भाव से ही तो विजय पाता चला गया हूँ। खेल खेल मे ही मानो धरती और आकाश के नित-नये पटल उलटता चला गया हूँ। मेरी उँगली के बेसाख्ता घुमावों पर जैसे इतिहास मेरी मनचाही करवटे बदलता चला गया है। बृहद्रथ और जरासन्ध की साम्राज्य परम्परा मेरे शिशुनागवशी रक्त मे नये सिरे से आगे प्रवाहित हो गई है। महाचीन, सुवर्णद्वीप और ताम्रलिप्ति से लगा कर, पारस्य, मिस्र और सुदूर यवन-देश यूनान तक के भूगट और सागर तट श्रेणिक भम्भासार के दिग्जयी भम्भानाद से अपने सीमान्त बदल रहे है। आर्यवर्त के सोलहों महाजनपदों की नियति श्रेणिक के खड्ग की नोक पर टँगी हुई है।

सोलोमन की खदानो का शुद्ध सुवर्ण मगध की महारानियों के नूपुरों मे ढल कर अपनी चरम धन्यता प्राप्त करता है। नील नदी के गोपन जल गर्भों के रत्नों ने मगधेश्वरी चेलना के वक्षहार की कौस्तुभ-मणि मे जड़ित होकर, मेरे आलिंगन को ग्रह नक्षत्रों की निगूढ ज्योतियों से भास्वर कर दिया है। ताम्रपर्णिका और हसद्वीप के अलभ्य हीरों ने मगधनाथ के मुकुट मे दीपित होने के लिये भूगोल और खगोल की परिक्रमा की है! राजगृही के रत्न पण्यों मे ही कालोदधि के दुर्लभ मुक्ता-फलों का मूल्याकन सम्भव होता है।

समस्त जम्बूद्वीप के धर्म, ज्ञान, तीर्थक्, ज्ञानी, तत्त्वी रासायनिक, वैज्ञानिक राजगृही के चैत्य-काननों मे आ कर अपने ज्ञान-विज्ञान की चरम उपलब्धियों को प्रकाशित करते है। सुदूर एथेस के पायथगॉरस और हिराक्लिटस जैसे दुर्द्धर्ष तत्वज्ञानी श्रेणिक की गति-विधियों के आधार पर संसार का मर्म-चिन्तन करते है और अपने दर्शनों के अन्तिम निष्कर्ष निकालते हैं। वेदों के यज्ञ-पुरुष और उपनिषदों के ब्रह्मज्ञानी ऋषि वैभार पर्वत की अगम्य गुफाओ मे विश्व-रहस्य के अन्तिम छोर खोज रहे है। हिमवान की अन्तरिक्षवेधी चूडाओं ने विपुलाचल के शिखर पर अपने मस्तक ढाल दिये है।

इस प्रकार पहले दिन से आज तक के अपने जीवन-इतिहास मे जब निगाह दौड़ाता हूँ, तो पाता हूँ कि समकालीन विश्व की बड़ी-से-बड़ी सम्पदा, सत्ता, व्यक्तिमत्ता भी श्रेणिक से बड़ी, ऊँची और ऊपर हो कर नही रह सकी है। मौजूदा जगत की सारी ही श्रेष्ठताएँ और विभूतियाँ उसके व्यक्तित्व के प्रभामण्डल की किरणे हो कर रह गई हैं। आदि से आज तक श्रेणिक ने किसी से छोटा होना नही जाना, नही स्वीकारा।

. . लेकिन आज ? आज तो सृष्टि मे मुझसे छोटा, कही कुछ नहीं दिखायी पड़ता। परमाणु से भी छोटा हो गया श्रेणिक ? इतना, कि दिखाई नहीं पड़ता। हर नजर से वह बाहर हो

गया है। ओह, इस तरह अस्तित्व में कैसे रहा जाये, कैसे जिया जाये ? कब तक, कैसे ?

उत्तर दो महावीर ! तुम कौन हो, कौन हो तुम ? तुम . . तुम हो मेरे इस अवमूल्यन के उत्तरदायी। मेरे इस सत्यानाश के अपराधी। बोलो, चुप क्यों हो ? तुम हो कि नहीं हो, मैं हूँ कि नहीं हूँ, कौन उत्तर दे ? कौन किसी को समझाये ? समझ समाप्त है, और प्रश्न अन्तहीन होता जा रहा है।

. . लेकिन एक अवलम्ब भीतर झाँक रहा है। याद आ रहा है, अभी एक वर्ष पूर्व का वह सवेरा। तुम्हें परिव्राजन करते, कई वर्ष बीत चुके थे, वर्द्धमान ! उससे पूर्व कई-कई बार तुम मगध के वनांगनों और ग्रामांगनों में विहार कर चुके थे। मेरी अपनी ही प्रभुता की भूमि में, कई बार मुझे पीठ दे कर मेरी अवहेलना कर चुके थे।

. . याद आ रहा है, शरद ऋतु का वह सुन्दर सवेरा। मैं अपने राजमहालय के वातायन पर खड़ा, अलक्ष्य भाव से नीचे की ओर ताक रहा था। तभी अचानक राजगृही के भव्य राजमार्ग पर, काषाय चीवर धारण किये एक तुंगकाय युवा संन्यासी आता दिखायी पड़ा। अभिजातपुरुष-सौन्दर्य की पराकाष्ठा। दूध सी उज्ज्वल सुकुमार राजसी काया पर, केवल एक अखंड गैरिक वसन। अन्तर्वासक ही कन्धे पर चढ़कर उत्तरीय हो गया है। मुंडित विशाल मस्तक, क्षितिज-सा ललाट। नंगे पैर। हाथों मे भिक्षा पात्र उठाये, यह कौन राजेश्वर राजगृही में भिक्षाटन कर रहा है ? . .

देखा, सारा नगर उस पुरुषोत्तम के रूप को देखने के लिए संक्षुब्ध हो उमड़ पड़ा है। मानो स्वयं अच्युत स्वर्ग का शक्रेन्द्र राजगृही के राजमार्ग पर चल रहा है। मानो असुरेन्द्र ने मेरी राजनगरी मे प्रवेश किया है।

राजपुरुषों ने आकर मुझसे कहा :

'देव, यह कौन स्वर्ग-निर्वासित देवता राजागृही मे घूम कर मधुकरी माँग रहा है। यह देव है या मनुष्य है, नाग है या गरुड़ है, कौन है --हम नही जानते। स्वयम ईशानेन्द्र आपके नगर मे भिक्षाटन कर रहा है। हमारी बुद्धि गुम है। हम इसके साथ कैसा व्यवहार करे ?'

मैंने आज्ञा दी :

'जाओ, देखो तो, यदि अ-मनुष्य होगा, तो नगर से निकल कर अन्तर्धान हो जायेगा, यदि देवता होगा, तो आकाश-मार्ग से चला जायेगा, यदि नाग होगा तो देखते-देखते पृथ्वी में डुबकी लगा कर लुप्त हो जायेगा, यदि मनुष्य होगा तो कहीं वन के एकान्त में जाकर मिली हुई मधुकरी का भोजन करेगा।'

राज्य के अनुचरों ने दूर-दूर रह कर, छुपे-छुपे चुपचाप भिक्षुक का अनुसरण किया। कुछ समय बाद आ कर उन्होंने नमित हो मुझसे निवेदन किया :

'परम भट्टारक, स्वल्प मधुकरी को इत्यलम् कह कर वह भिक्षुक नगर के प्रवेश-द्वार से ही बाहर निकल गया। पाण्डव-पर्वत की छाया में पूर्वाभिमुख बैठ कर वह भोजन करने लगा। उस समय ऐसा लगा कि उसकी ऑतें उलट कर मानो बाहर आ रही हैं। उस प्रतिकूल भोजन से पीड़ित हुए अपने मन को फिर वह कह कर समझाने लगा- 'सिद्धार्थ, तू अन्न-पान-सुलभ कुल में, विपुल राज्यैश्वर्य के बीच पला है। तीन वर्ष के पुराने, सुगन्धित कुमुदों में बसाये शालि-तन्दुल का तू

भोजन करता रहा है, फिर भी कन्थाधारी भिक्षुक को देख, उससे ईर्ष्या करता रहा। उसके भिक्षान्न को तरसता रहा। तेरी यह सदा अभीप्सा रही, कि कब आयेगा वह मुहूर्त, जब मैं भिक्षान्न का भोजन करूँगा ? यही सोचकर तो तू घर से निकल पड़ा था। पर अब वह मनोवांछित पा कर, तू उसी से ग्लानि कर रहा है ? तो अब तेरी क्या गति हो सकती है, ओ मूढ़, अज्ञानी, कायर ? और देव, यह फुसफुसा कर वह शान्त समाधीत हो गया। फिर अविकार चित्त से उसने भोजन किया। और अब वह प्रसन्न शान्त मुद्रा से तरु-छाया में बैठ अप्रयोजन ही सब-कुछ को निहार रहा है।'

मेरा मन प्रबल जिज्ञासा से उदग्र हो आया। मैं तत्काल अकेला ही पाण्डव-पर्वत की छाया में जा पहुँचा। विनत माथ हो मैंने अपने सारे ऐश्वर्य मन-ही-मन भिक्षुक को अर्पित कर दिये। तब मैंने निवेदन किया कि :

'देवानुप्रिय, अज्ञात-राज-संन्यासी, मेरी भेंट स्वीकारो। मेरे किसी प्रदेश के राज्यपाल हो कर अमित सुख-वैभव का भोग करो। कौन हो तुम हे पुरुष पुंगव ? कृतार्थ करो मुझे।'

संन्यासी अविचल, मौन, अपलक दूरियों मे दृष्टि खोये निरुत्तर बैठा रहा। मेरे बारम्बार अनुनय करने पर वह मुखर हुआ :

'राजन्, कपिलवस्तु का आदित्य गोत्रीय, शाक्य राजपुत्र सिद्धार्थ गौतम, जान-बूझ कर ही अपने प्राप्त राज्यैश्वर्य को काक-बीटवत् त्याग कर निकल पड़ा है। संसार के किसी भी सुख-भोग में उसकी रुचि नहीं रही। . . वस्तु और भोग की कामना से उपराम, उत्तीर्ण हो गया हूँ। नित्य, शाश्वत सुख देने वाले बुद्धत्व की खोज में परिव्राजन कर रहा हूँ। वह पाकर रहूँगा, या देहपात कर दूँगा।'

'धन्य हो, धन्य हो, हे श्रमण गौतम ! वचन दो कि बुद्धत्व लाभ कर सर्वप्रथम राजगृही मे आओगे। सर्वप्रथम मुझे ही उसका उपदेश करोगे।'

'तथास्तु राजन्।'

'मेरा आतिथ्य स्वीकारोगे। मगध के राजकीय श्रमणागार को दान मे ग्रहण कर, उसे चिरकाल सुशोभित करोगे।'

'ऐसा ही होगा, भम्भासार श्रेणिक !'

और एक मधुर कोमल स्मित के सा' शाक्यपुत्र गौतम उद्बोधन का हाथ उठा, मुझ से बिदा हो गया था। कितना गहरा आश्वासन था उसकी उस उद्बोधनी मुद्रा मे, उसकी उस महाकारुणिक दृष्टि और माधुरी मुस्कान में।

और दूसरी ओर तुम हो, श्रमण वर्द्धमान। प्रथम दर्शन से आज तक अविभंग, अचल, वज्र-कठोर मन्दराचल। मेरी और चेलना की सारी प्रार्थनाओं और आँसू भरी विनतियों को निरन्तर ठुकराते ही चले गये। मगध की सारी महारानियों के, अपनी राह मे फैले आँचलों को तुमने रौंदने योग्य तक नही समझा। राजगृही के देव दुर्लभ वैभव को तुमने आँख उठा कर तक नहीं देखा। मेरे हर दान और अर्पण की तुमने अवहेलना कर दी। मेरे सर्वस्व-समर्पण तक को तुमने अस्वीकार कर दिया। मेरे अस्तित्व तक को तुमने नकार दिया।

ऐसे अस्खलित दुर्दान्त तपस्वी होकर भी, भयंकर वीतरागी हो कर भी, शायद तुम यह न भूल सके कि तुम वैशाली के राजपुत्र हो ! कि तुम अजित सूर्योदयी इक्ष्वाकुवंश के आज अप्रतिम

प्रतापी वंशधर हो। तुम यह न भूल सके कि मैं वह मगध-सम्राट भम्भासार श्रेणिक हूँ, जो वैशाली को अपनी एड़ी से रौंद कर, आसमुद्र पृथ्वी का चक्रवर्ती होना चाहता हूँ। तुम्हें मेरे भावी चक्रवर्तित्व में ईर्ष्या है। तुम मुझे अपना अनन्य प्रतिस्पर्द्धी मानते हो। तुम मेरे ऊपर हो कर अपना चक्रवर्तित्व स्थापित किया चाहते हो। तुम मुझे कुचल देना चाहते हो। . .

. . लेकिन, लेकिन, जानो महावीर, शाक्यपुत्र सिद्धार्थ गौतम बुद्ध ने मुझे अपनाया है। आश्वस्त किया है। मेरे भूदान को स्वीकारा है। एक दिन बुद्ध की बोधिसत्व-प्रभा से राजगृही के चैत्य-कानन जगमगा उठेंगे। तुम्हीं तो अन्तिम नहीं, निग्गंठ नातपुत्त, महावीर ! एक से एक बढ़कर ज्ञानी, बुद्ध, तीर्थंकर इस धरातल पर विचर रहे हैं। तुम्हीं अन्तिम क्यों ? शाक्यपुत्र सिद्धार्थ गौतम क्यों नहीं ? . .

. . ओह . . ओह, यह एकाएक क्या हुआ ! मेरे पैरों तले की धरती गायब हो गई। मेरे माथे पर का आकाश हट गया है। अन्तरिक्ष में प्रलयंकर विप्लव की पगचापें धमक रही है। ऋजुबालिका नदी की लहरों में लपटें उठ रही हैं। बिजलियाँ तड़क रही हैं। अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड हिल रहे हैं। . .

महावीर, महावीर, महावीर . . यह तुमने क्या किया ? इन कल्पान्त की बहिया में मुझे अकेला छोड़ तुम कहाँ अन्तर्धान हो गये ? . . जहाँ भी हो, लौट आओ महावीर ! तुम, केवल तुम। और कोई नहीं . . !

केवल तुम रहो महावीर, मैं नहीं, मैं नहीं, मैं नहीं। मैं कहीं नहीं हूँ। . .

ओह, ऐसे निरुत्तर, ऐसे अफाट्र विराट् अनुत्तर मौन तुम। देखते-देखते निरस्तित्व हो गये। आँख से परे चले गये। हाय, कैसे कहूँ, किस आधार पर अपने अस्तित्व को लौटाऊँ। कैसे अपने होने को महसूस करूँ। इतना निरालम्ब निरुपाय कर दिया तुमने मुझे, ओ अकिंचन श्रमण ?

मै हूँ कि नहीं हूँ ? मैं रहूँ कि न रहूँ . . ?

एक दिगन्तवाही प्रलय-गर्जन के सिवाय कहीं से कोई उत्तर नहीं मिल रहा।

चरम एकलता के किनारे

त्रिशला, भर नींद में मध्य रात के सन्नाटे को चीर कर जो शूल तुम्हारे वक्ष को भेद गया, वह झूठ नहीं। मेरे मस्तक के आरपार हो कर, तुम्हारी छाती को बींध कर, सृष्टि के प्रत्येक परमाणु और जीवाणु में होकर वह गुजर गया है। माना कि इस प्रहार से सकल चराचर हताहत हो गये। लेकिन फिर भी वे अनाहत ही रह गये, यह नहीं देखोगी ?

निश्चय, वह भी देखा तुमने। आघात की पराकोटि पर ही, क्या तुमने मुझे अघात्य भी नहीं देखा ? उस क्षण, इस आघात से पूर्व मुझ पर होने वाले सारे प्रहारों और पीड़नों को भी क्या तुमने व्यर्थ और व्यतीतमान नहीं देखा ? वेदना मात्र के उस एकाग्र बिन्दु पर क्या तुम्हारी कोख ही

नही बोल उठी, राज-पिता के समक्ष, किन्तु —

'तुम्हारा बेटा अब मौत से आगे जा चुका   जाओ, निश्चित हो कर सोओ ।'

लेकिन दर्शन-ज्ञान का वह अन्तर्मुहूर्त भी तिरोहित हो गया। अब देख रहा हूँ, कि तुम्हारा मानव चित्त फिर सदिग्ध और शोकाकुल है।   किसने पुकारा 'माँ', पता नही। कौन है वह, 'माँ', नही मालूम। लेकिन ब्रह्माण्ड मे गूँज उठे उस 'माँ' मे से जो अनुगुंजित हुआ 'आत् .   मा' वही आत्मा तुम हो, वही मै हूँ। चरम चोट की अनी पर चिन्मय हुई तुम्हारी चेतना मे भी वह श्रुत और प्रतिश्रुत एक साथ हुआ। तुम सम्बुद्ध हो कर अपनी पीडा के बावजूद सत्य की सादिने को विवश हुई। तुम नही बोली, स्वय सत्य तुम्हारे ओठों बोला, तुम्हारे रक्त की तरग-तरंग में वह अनुध्वनित हुआ।

अभी भी तुम्हारे सारे नाडी-मडल मे वह ध्वनि अनाहत, अव्याहत प्रवाहित है। तुम्हारी धमनियों के मृदग मे अविराम वही अनहद नाद बज रहा है। सत्य के उत्तीर्ण तट पर अविकम्प लौ-सी खडी उस आत्मा की अनक्षत प्रभा मे तुम्हारे मातृत्व और मेरे पुत्रत्व का इनकार नही है। पर्याय की ये दो तरगे ज्योति के समुद्र मे अनगिन बार उठी और विलीन हो गयी। जाने कितने न जन्मान्तरों मे, कितनी न बार तुम मेरी माँ हुई, मै तुम्हारा पुत्र हुआ। नाम-रूप-सम्बन्ध की वह लीला महाकाल के प्रवाह मे जाने कब, जाने कहाँ विलुप्त हो गई। पर तुम जो हो, वह तो अविलुप्त, अविच्छिन्न आज भी ज्यों की त्यों हो ही। मै जो हूँ, वह भी अमिट, अलापनीय, अक्षुण्ण आज भी हूँ ही। सृष्टि मे माँ और पुत्र का सम्बन्ध भी अपनी जगह शाश्वत कायम है ही। वह माँ त्रिशला हो या और कोई, वह पुत्र वर्द्धमान हो या कोई और, क्या अन्तर पडता है।

एकमेव माँ सदा थी, सदा है, सदा रहेगी। एकमेव पुत्र सदा था, सदा है, सदा रहेगा। पर नाम-रूप और तात्कालिक सम्बन्ध की पर्याय, उसके वह रहने की बाध्यता नही, शर्त नही। कोई भी नाम, रूप, सम्बन्ध, पर्याय या प्रीति क्यो न हो, एकमेव आत्मा के अतिरिक्त अन्तत वह कुछ नही। विशुद्ध द्रव्य के अतिरिक्त वह कुछ नही। आदि, मध्य और अन्त मे, नित्य विद्यमान है केवल समुद्र। उसमे जो निरन्तर तरगों का परिणमन है, उसी मे सारे नाम रूप सापेक्ष जीवन की सम्बन्ध-लीला यथा स्थान चल रही है। समग्र समुद्र हो रहो, तो तरगों की क्षण-क्षण उदीयमान विलीयमान लीला का सत्य भी सहज अवबोधित होता रहता है। समुद्र है, तो उसका स्वभाव तरगिमता भी है ही। समुद्र सत्य है, तो तरगमाला भी सत्य है ही। द्रव्य सत्य है, तो उसका स्वभावगत पार्यायिक परिणमन भी सत्य है ही। समुद्र मे तरग का इनकार नही, तरग मे समुद्र का इनकार नही। यह साक्षात् होने पर, सारी वर्जनाएँ समाप्त हो जाती है, विरोध, विपर्यय, विछोह की वेदनाएँ तिरोहित हो जाती है। हम सहज स्वभाव मे रहने लगते है।

इस सहजावस्था मे ससार और निर्वाण का भेद निर्वाण पा जाता है। ससार की लीला मे ही, सर्वत्र सहज निर्वाण का बोध होता है। निर्वाण मे स्थित सिद्धात्मा मे ससार अव्याबाध रूप से रमणशील रहता है। मुक्तिरमणी की गोद म कोई विधि-निषेध, इनकार स्वीकार नही। यथास्थान जीवन की हर लीला को वहाँ सहज स्वीकृति प्राप्त है। मानवों के सारे सम्बन्ध वहाँ सहज सुरक्षित भाव से प्रवर्त्तमान है। जहाँ गन्तव्य स्वय उपस्थित है, वहाँ यात्रा के पडावों का भी मूल्य अपनी जगह यथार्थ है ही।

. . बेशक, देश-काल के संक्षुब्ध समुद्र की मझधारा पर खड़ा हूँ इस क्षण। पर गन्तव्य के उस सहस्रार पद्मवन को अपने स्नान-सरोवर के लीला-कमल की तरह अपनी बाँह की पहोंच में स्पष्ट देख रहा हूँ। इसी से अब पाने या खोने, मिलने या बिछुड़ने, जीने या मरने की भाषा निरी भ्रान्ति लग रही है। निरे खोखले शब्द, जो अपना क्षुद्र अर्थ खो चुके हैं।

तब, ओ त्रिशला, तुम माँ रहो या और कुछ, मैं पुत्र रहूँ या और कुछ, क्या अन्तर पड़ता है। यद्यपि वह रहने के आग्रह और आवश्यकता से परे जा चुका हूँ, पर तुम चाहो तो वह भी यथास्थान रहने से मुझे परहेज नहीं। . . तब सोचो, ओ नारी, क्यों वही और वहीं रहना चाहती हो। जहाँ तुम्हारे और मेरे सम्पूर्ण और अनन्त की अनेक सम्भावनाओं से हमें वंचित रह जाना पड़ता है।

क्यों न अभी और यहाँ, नित्य मेरे साथ रहो, जहाँ हम दोनों ही, निर्नाम अखण्ड एकमेव आत्मा हैं, जहाँ हम माँ और पुत्र भी चाहें तो हैं ही, लेकिन उससे परे हम क्या नहीं हैं एक-दूसरे के लिए ? जहाँ हम प्रति क्षण मनचाहे रूप में एक-दूसरे को नित-नयी बार पाने और अपनाने को स्वतंत्र हैं। जहाँ एक-दूसरे को क्षण-क्षण अधिक-अधिक जानने-पाने और प्यार करने का अन्त ही नहीं है। जहाँ हम एक-दूसरे को असंख्य आयामों में एक साथ उपलब्ध हैं। जहाँ तुम अपने में परम स्वतंत्र हो, मैं अपने में परम स्वतंत्र हूँ। अपनी-अपनी चरम सत्ता में जहाँ हम अक्षुण्ण, अव्याबाध हैं। फिर भी जहाँ स्वभावगत रूप से तुम्हीं मैं हूँ, मैं ही तुम हो। फिर भी सदा शाश्वती में दो या अनेक रह कर, पूर्ण ज्ञान की ज्योतिर्मयी तट-वेला में अनन्त काल रोमांस करते ही रहने को स्वछन्द हैं।

. . सुनो अयि योषिता, मानवता और भगवत्ता में भेद और विरोध की रेखा खींच कर, अन्य और अन्यत्र में तुम्हीं तो भगवत्ता को स्थापित कर रही हो। कहीं और, कोई और है, जो भगवान है, हो सकता है, उसे स्थापित कर उससे विद्रोह करने का यह आग्रह क्यों ? क्या अपने ही भीतर की 'भूमि के ऐश्वर्य को नकारोगी' ? क्या अपने ही महत्तम और वृहत्तम स्वरूप को इनकार करोगी ? अपने भीतर के असीम, अनन्त-सम्भावी आत्मा के अतिरिक्त और कोई भगवान मैं नहीं जानता, नहीं मानता। वृहदारण्यक में ऋषि कहता है :

अथ योऽन्यां देवताम् उपास्ते
अन्योऽसौ अन्योऽहम् अस्मीति
न स वेद, यथा पशुरेवं स देवतानाम्।

'जो व्यक्ति अपने से अन्य और बाहर के किसी देवता की उपासना करता है, जो ऐसा मानता है कि वह अन्य है और मैं अन्य हूँ, वह भगवान को नही जानता। वह देवताओं के पशु के समान है।'

अपने ही ऐश्वर्य से अपरिचित, मैं निरा पशु हूँ, ऐसी कोई भ्राँति तुम्हें कैसे हो गई, त्रिशला ? अपने सम्पूर्ण और सर्व-सम्भव स्वरूप को उपलब्ध होने से पूर्व, कैसे कहीं रुक सकता हूँ ? वहीं यदि भगवान है, तो वह होने को मैं विवश हूँ। क्या मनुष्य को निपट-मनुष्य रह कर कभी चैन आ सका ? मनुष्य, जो मनस् की सन्तान है, क्या मन की सीमा में ही कभी विरम सका ? मन के सुखों, ज्ञानों, वैभवों को हद तक पा कर भी, क्यों इतिहास मे यह मानस्-पुरुष सर्वत्र पराजित,

म्लान, थका, उदास, दुःखाक्रान्त दिखाई पड़ता है ? चंचल मन के क्षण-क्षण के बदलावों का अन्त नहीं ।

इसी से स्थिति, निश्चिति, शांति, तृप्ति मन का स्वभाव नहीं । मन स्वयं ही अपने स्वभाव से हार कर, उद्विग्न होकर, बार-बार अपने ही को अतिक्रमण करने जाने को छटपटाता दिखायी पड़ता है । क्योंकि अपनी अल्पता में उसे चैन नहीं, विराम नहीं । क्योंकि यह चेतस् (मन) स्वयं भी तो चैतन्य का ही एक प्रस्तारण है—सत्ता की बहिर्मुख अभिव्यक्ति में ।

अपनी चरम वेदना में, अपने ही को बिद्ध कर, जब मन सीमाहीन विराट में विस्फोटित हो उठता है, तो जाने कहाँ से अपार ऐश्वर्य के स्त्रोत फूटते दिखाई पड़ते हैं । भगवती आत्मा के भग-मूल में से ही वैभव का यह अजस्त्र प्रवाह, सर्वत्र अव्याहत व्याप्त, प्रवाहित अनुभव होता है । वह भगैश्वर्य 'मैं' ही तो भगवान है ।

. . रक्त-मांस की काया से उन अनन्त-सम्भाव परमेश्वर को क्या विरोध हो सकता है ? जिसमें सारे द्वंद्वों और विरोधों का विसर्जन है, विकल्प से जो परे है, देह जिसके भूमा-समुद्र की एक रूप-तरंग मात्र है, इस महत् विराट् को अपनी ही ऊर्जा के एक सहज रूपायन से कैसे इनकार हो सकता है ? स्थिति है, तो अभिव्यक्ति अनिवार्य है, ध्रुव है, तो उत्पाद-व्ययात्मक परिणमन में ही वह प्रमाणित हो सकता है । जिस आत्मा के अणु-अणु में आलोक, वीर्य और सौंदर्य के शतधा झरने अजस्र फूट रहे हैं, वह अपनी महिमा की प्रकाशक, रक्त-मांस की काया को अधन्य कैसे रहने दे सकता है ?

अनन्त गुण-पर्यायवती, अनन्त शक्तिमती महासत्ता में क्या असम्भव है ? ओ भगवती आत्मा, माँ, त्रिशला, यदि तुम्हारी कामना अविकल्प है, तो वह अस्तित्व मे सृजित साकार होकर रहेगी । सकारने या नकारने वाला मैं कौन होता हूँ । परम-स्वतंत्र सत्ता पुरुष अर्हत् के अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य में जो अपना परम काम्य रूप तुम ध्याओगी, वही तुम्हारे वक्षदेश में से उत्कीर्ण, उद्भिन्न हो कर तुम्हारी वसुन्धरा पर शाश्वत चलेगा ।

तुम्हारी योनि क्या निरी मांस-माटी का एक क्षणिक अनुबन्ध मात्र है ? जो योनि अनन्त के समावेश और प्रजनन को चीत्कार उठी है, वह तो अन्तरिक्षगर्भा अदिति है । वह सृष्टि का चिरन्तन स्रोत है । उसमें संसार और निर्वाण एक बारगी ही संयुक्त भाव से संगोपित हैं, लीलायित है ।

उसमें से उद्विद्ध होकर, अनन्तकाम पुरुष को लोकाकाश के आरपार तुम्हारी इस पृथ्वी पर अविश्रांत, अविराम चलते देख रहा हूँ । तथास्तु त्रिशला ! . .

• • •

चेलना, तुम्हारी मर्म-व्यथा मेरी आत्मा में सतत अनुकम्पित है । बचपन से ही अपने को देखा है, तो पाया है कि कभी कोई संकल्प या इच्छा मुझ में नही रही । कोई निर्णय या चुनाव भी अपना नहीं रहा । जो, जैसा हूँ, बस हूँ । लेकिन अक्रिय हूँ, ऐसा तो कभी नहीं लगा । एक अन्तहीन स्वयम्भू क्रिया को सतत अपने भीतर चलते देख रहा हूँ । अपने आत्म का एक सहज अनवरत परिणमन ।

आज उस परिणमन को उसकी सूक्ष्मतम आकृतियों और लयों में अधिकतम तद्रूप भाव से देख रहा हूँ। कभी-कभी अन्तर-दर्शन का एक अद्भुत वातायन खुल उठता है। उसमें से वर्द्धमान के अस्थि-ढाँचे को, उसके नाड़ी-मंडल को, उसकी रक्तवाहिनियों को, उसके शरीर के एक-एक अवयव और उनके सारे क्रिया-कलापों को, उसकी साँसों के क्रम तक को, एक सामने फैले चित्र या शिल्प की तरह तादृष्ट देख देख लेता हूँ। . .

तब लगता है, करने को कुछ है ही नहीं। यह दर्शन और ज्ञान स्वयं ही अवकाश में सर्वत्र व्याप कर एक निश्चित क्रिया हो जाता है। और तब आपोआप जाने कहाँ-कहाँ, जाने क्या-क्या अपूर्व नया उत्पन्न और घटित होते देखता हूँ। वस्तु-जगत के गुह्य अन्तरिक्षों में भिद कर यह ज्ञानोर्जा रूपान्तर के एक रसायन की तरह प्लवित होती दिखाई पड़ती है।

कुछ करता नहीं, कुछ सोचता नहीं, कुछ चाहता नहीं या अचाहता नहीं। बस एक ध्रुव 'मैं' में अपने को निरन्तर नित-नव्य होते देखता रहता हूँ। . . लक्षित हुआ है बार-बार, कि मेरे पैर मगध की भूमि पर खिंचते चले आये हैं। क्या प्रयोजन है इसमें सत्ता का, मुझे नहीं मालूम। यह न मानने का कोई कारण नहीं, कि चेलना और श्रेणिक ने ही मेरे बावजूद बारम्बार मुझे पंच-शैल की कानन भूमि में खींचा है।

क्या यह अपने आप में पर्याप्त नहीं ?

यों मगध की ऊर्जस्वला भूमि ने, उसके पर्वत-कूटों और कान्तारों ने, उसके सुरम्य प्राकृत उद्यानों और छायावनों ने, उसके कम्मकरों और चांडालों ने, उसके जल-राज्य, वनस्पति-राज्य, उसके कीट-पतंग और हर जीव, और कण-कण, तृण-तृण ने भी मुझे कम नहीं खींचा होगा। क्योंकि सृष्टि के अणु-अणु के आकर्षणों और आमन्त्रणों को सदा मेरी आत्मा का उत्तर मिलता ही रहता है। . .

. . पर मगध की सीमा में पैर रखते ही, चेलना वहाँ के चप्पे-चप्पे और पत्ते-पत्ते पर छायी दिखाई पड़ती है। और उसकी उस छबि में, उसके हृदयेश्वर श्रेणिक को सदा उसके अंक में स्थित देखा है। . . और तब समस्त मागधी भूमि की एक-एक आत्मा के खिचाव को, उसी अभिन्न युगल में से आता अनुभव किया है।

. . अब तुम्हीं बताओ, चेलना, तुम्हें और श्रेणिक को, कहाँ कैसे अलग से देखता ? तन्तुवाय-शाला के कर्घों मे इसलिए अपने को बुने जाने को छोड़ दिया, कि मगधनाथ के साम्राज्य-स्वप्न को उनकी कम्म-शालाओं मे कल्पवृक्ष की तरह आरोपित कर दूँ। बार-बार लगा कि वर्द्धमान, चेलना और श्रेणिक के हर मनोकाम्य को अचूक सम्पूरित करने को ही मानो लौट-लौट कर बारम्बार मगध की भूमि में भटकना पड़ा है।

मगध की महारानियों के आँसू भीने आँचलों में झलकने से अपने को कहाँ बचा पाया हूँ ? पर उससे पहले उनके आँसुओं में ही जो उफना हूँ, सो काश वे और तुम जान सकतीं ! राजद्वारों पर आवाहन के मंगल-कलश अनुत्तरित ही रह गये। तुम्हारी अनवरत प्रतीक्षाओं को पीठ देकर मैं अन्यत्र ही विचरता रहा। तुम और श्रेणिक निर्जन शून्य बेलाओं में मेरे समीप घंटों बैठे रह गये, मेरी एक सन्मुख दृष्टि पाने को विकल। पर मैंने आँख उठा कर भी तुम्हें नहीं देखा, नहीं स्वीकारा।

. . पर मेरी विचित्र विवशता रही, चेलना, कैसे तुम्हें समझाऊँ। जब-जब भी तुम दोनों

मेरे समीप आ कर उपविष्ट हुए, मैं तत्काल अन्तर्मुख हो गहन ध्यान में चला गया। मानो कि तुम्हें बाहर नहीं, अपनी आत्मा में ही अविकल देखा जा सकता था। और तुम्हें समूचा देखे बिना मैं रह नहीं सकता था। मानो कि तुम दोनों को देखना, अपनी ही आत्मा को साक्षात् देखना था। और वह बाहर से आँख मूँद, अन्तर्मुख हुए बिना कैसे सम्भव था। तुम्हे आत्मा के अन्तःपुर में ले कर ही तो तुम्हारे साथ मिलन और सम्वाद सम्भव था। अपनी ओर से वह सुख मैने पाया। पर मेरा वह सम्वाद तुम दोनों तक सम्प्रेषित न हो सका, तो वह मेरी ही कमी रही, मेरी ही अपूर्णता रही। उस पूर्णता-लाभ के लिये ही तो तुम्हारा प्यार, मुझे बारम्बार तुम्हारी लोचभरी माटियों के गहरावों में खींच लाया है, चेलना। ऋजुबालिका की ये लहरें साक्षी है, कि इनके तट पर कूटस्थ हो कर आज मैं क्या पाने को अटल, अनिर्वार, सन्नद्ध खड़ा हूँ।

तुम्हारे साम्राजी राजद्वारों से तुम्हारे भीतर कितनी दूर आ सकता था ? तुम्हारे क्षीरान्न मात्र से वह भिक्षुक कैसे तृप्त हो सकता था, जो तुम्हारे सर्वस्व का याचक और भोजक है। तुम दोनों को सम्पूर्ण पाये और अपनाये बिना, मानो क्षपक श्रेणि पर आरूढ़ नही हुआ जा सकता। अपनी उस सीमा का अतिक्रमण करना होगा, जिसके रहते हमारे बीच असमझ, अज्ञान और गलतफहमी की अँधेरी खन्दक पड़ी है। तुम्हारे साथ सम्पर्क होते ही, तुम्हे सम्पूर्ण देखने और पाने को बरबस ध्यानलीन होते हुए भी, अपनी आत्मलौ मे प्राण की एकाग्र ऊर्जा से तुम्हे खींच कर भी, तुम से एकतान न हो सका।

ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और मोहनीय कर्मों का कैसा अभेद्य वीरान अन्तराल हमारे बीच महाकाल सर्प की तरह अनिर्वार हो कर पड़ा है। ऋजुबालिका के सतत प्रवाही जल-लोकों में धँस कर तुम्हारे सुप्त हृदयों मे सहसा एक जोत की तरह जाग उठना चाहता हूँ। लोक की एक भी आत्मा मेरे सम्वाद और सम्प्रेषण से बाहर रह जाये, तो मेरे प्यार की क्या सार्थकता ? इतनी सारी गलतफहमियाँ हमारे बीच, इतने सारे विकल्प ? इन सारे कर्मारण्यों का भेदन किये बिना, महावीर को विराम नहीं।

अपने जाने तो, इन्द्रियों और मन के सीमित गवाक्षों से परे, अपनी समग्र आत्मा के साथ, आत्मा में, आत्मा द्वारा ही सर्व के संग सम्पृक्त होने की अदम्य महावासना मे ही सतत जीता हूँ। फिर भी देख रहा हूँ, कि मेरा दर्शन ज्ञान, मेरा दृक्-बोध, अभी इन्द्रियों के बाधित द्वारों को नहीं छेक सका है। अभी समग्र-से-समग्र का आलिगन सम्भव नही हो रहा है। अभी गहराव से गहराव का गुम्फन और अविकल आश्लेष शक्य नही हो पा रहा है।

उसी पूर्ण परिरम्भण मे सुखलीन और आलोकित होने के लिए, ऋजुबालिका की लहरों के विपुल जल-पटलों मे दुर्दाम तैरता हुआ, अपनी आत्म-रमणी के नीवि-बन्धन का छोर खोज रहा हूँ। कि जिसे एक झटके के साथ खींचते ही, सारी ग्रन्थियाँ और आवरण खुल पड़ेंगे, और वह श्रीकमल सम्मुख होगा, जिसकी कर्णिका मे तुम बाँहे पसार कर अनावरण खड़ी हो, चेलना। और तुम्हारा सम्राट तुम्हारे उरोज-गह्वर के भीतर कस कर चिपटा बैठा है। कितना भयभीत, विकल, ईर्ष्याकुल, शरणाकुल, आशंकित, पराजित, आत्म हारा है, तुम्हारा यह प्रियतम।

मोहिनी के इस रजस और तमस-राज्य को भेदे बिना, तुम्हारी कर्णिका की उस वेदी पर कैसे पहुँच सकता हूँ, जहाँ तुम समग्र खड़ी हो। मोह के घने भँवराले चिकुरजाल से आवेष्टित,

श्रेणिक से आवेष्टित, साम्राज्य से आवेष्टित, धरती से आवेष्टित—फिर भी जातरूप दिगम्बरी हेमांगिनी चेलना। लो, मैं आया . . मैं आया, निविड़ आन्तरिक अड़ाबीड़, नीरन्ध्र जलान्धकारों का यात्री महावीर।

• • •

. . राजगृही में, चेलना के एकस्तम्भ प्रासाद की छत के केलि-उद्यान में सहसा ही अपने को आविर्भूत देख रहा हूँ। केतकी के एक कटीले दल पर गाल ढाले चेलना मानो मुग्ध-मूर्च्छित सर्पिणी-सी अधलेटी है। मालती का वितान ही जैसे उसके लिए आकाश पर खुली एक शैया हो गया है। . .

'रो रही हो, चेला ?'

'ओह वर्द्धमान, . . तुम यहाँ अचानक ? स्वप्न देख रही हूँ, कि सत्य ?'

'स्वप्न, जो सत्य हुआ चाहता है !'

'लेकिन तुम . . कैसे, कैसे यहाँ हो, अभी ? किस राह, कैसे . . कैसे आये ?'

एक विस्तृत, उत्तान उत्तर देता-सा मौन।

' . . यह माया है कोई ? कोई व्यांतरिक प्रपंच ? इन्द्रजाल ? महावीर ऋजुबालिका तट पर अटल मानुषोत्तर की तरह खड़ा है। वह वहाँ से हट नहीं सकता, विस्फोटित ही हो सकता है। . . फिर तुम कौन, ओ प्रवंचक ? हट जाओ मेरे सामने से !'

'महावीर को क्या उस एक शरीर में ही बन्दी देखती हो, चेलना ? क्या वह केवल मात्र वह एक शरीर है, जो वहाँ, उस जीर्ण उद्यान के वीरान में अकम्प उपविष्ट है?'

एक अधिकाधिक गहराती निस्तब्धता।

' . . मैं निर्भ्रान्त हुई। मैं कृतकृत्य हुई। मेरे स्वप्न, तुम आ गये ?'

'तुम तक पहुँच सका महावीर ?'

'लज्जित न करो, मेरे प्रभु ! तुम तो सदा आरपार आये मुझ में। पर मैं ही बार-बार रुद्ध हो गयी। थम पड़ गई। संकोच और विकल्प में रही। हिचक गई . .।'

'फिर विकल्प ? सम्मुख जो है, उसे नहीं देख रही ?'

'देख रही हूँ, अपना वह स्वप्न जो तथ्य से भी अधिक सत्य, ठोस और विश्वसनीय है।'

'फिर क्या सोच रही हो ? मन से आगे नहीं आओगी ?'

'बार-बार मुझसे भूल हो गई। तुम्हारी एकाग्र ध्यानलीन चितवन का वह समतौल कटाक्ष मैं सह न सकी। उस खिंचाव की चोट से विकल, आहत, बेतहाशा लौट गई। . . तुम्हारे अन्तर्कक्ष के आमन्त्रण से मेरा अणु-अणु पसीज गया। . . मैं भयभीत, लज्जाकुल हो कर अपने ही से पलायन कर गयी। तब मैं आप ही अपने को भरमा कर, तुम्हें बाहर ही कहीं खोजने का अभिनय करती रही। मैं समझ न सकी, उस सर्वस्वहारी सम्मोहन का रहस्य। मैं शिकायत ही करती रही, कि तुमने मुझे आँख उठा कर भी न देखा ? . . और मैं तुम्हारे अयस्कान्त के उस

चुम्बक-चुम्बन में दूर-दूर ही भागी फिरी। . . हाय, मैं अपने ही को छलती चली गई। नाथ, . . ऐसी मूर्च्छा क्यों ?'

'तुम अपने पातिव्रत्य के खो जाने का खतरा देख रही थी। तुम दुविधा में रही, द्वैत में रही। फिर भी अद्वैत का दावा करती रही . . ।'

'मेरे, प्रभु . . !'

'लेकिन जानो सम्राज्ञी, तुम्हारा हृदय-सम्राट तुम्हारी कंचुकी में से कभी का चुराया जा चुका है !'

वज्राहत चेलना धरती में गड़ी जा रही है।

' . . ओ बलात्कारी, अब और न कसो। खोलो, ढीला करो यह कसाव। मुझे साँस लेने दो, अपने हृदय के अन्तारेक्ष में।'

'तुम्हारा सम्राट तुम्हें सुरक्षित लौटा देने आया हूँ, सम्राज्ञी। महावीर आत्माओं को तोड़ता नहीं, जोड़ता है।'

'लेकिन . .'

'लेकिन जोड़ने से पहले, दो के बीच की मोह-ग्रंथि को अन्तिम रूप से तोड़ देता है। ताकि फिर जो जुड़ाव हो, जो गुम्फन हो, वह अन्तिम हो और आत्मस्थ हो।'

' . . तुम से बाहर कोई श्रेणिक मुझे नहीं चाहिए, स्वामी !'

'वह भी मैं ही हूँ। वहाँ भी मैं ही हूँ। जो यहाँ है, वही वहाँ है !'

'मुझे लिवा ले जाने आये हो, मेरे नाथ ?'

'वह अगली बार आऊँगा, अभी लग्न-मुहूर्त नहीं आया !'

'क्या रहस्य है, समझी नही ?'

'तब पूर्ण पुरुष पूर्ण नारी की खोज में आयेगा।'

'और आज ?'

'अपूर्ण पुरुष अपनी पूर्णता की खोज में आया है !'

'मुझ अपूर्ण में ?'

'पूर्णमदः पूर्णमिदम्, पूर्णात् पूर्णमुदच्यते . . !'

—मालती लता मे बहती हवा में और केतकी की सुगन्ध-निविड़ कण्टक चुभनों में गूँज उठा।

' . . हाय, हठात् तुम कहाँ चले गये, मेरे भगवान ? . . आह, यह क्या सुन रही हूँ ?

'ऋजुबालिका के जल-कक्षों में आओ, चेलना ! . .'

• • •

अनम्य श्रेणिक, यह तुम्हे क्या हो गया है ? समुद्र कुन्तला पृथ्वी का पति एक निष्किंचन, निरीह नंगे के आसपास चक्कर काट रहा है ! सुवर्ण-खचित उपानह का धारक, सुकोमल गौर-चरण राज-पुरुष, नंगे पैरों इस नदी तट की पंकिलता में क्या खोज रहा है ? महर्द्धिक राजवेश त्याग

कर, वह एक पांशुकुलिक पथहारा बटोही की तरह, इस परित्यक्त उजड़े उद्यान की भग्न सराय में क्यों आ बसा है ? बादल-बेला की अंजनी छाया में, नदी के इन निचाट निर्जन प्रान्तर-छोरों में वह क्या खोज रहा है ? . . उस बुढ़िया का ध्यान आ रहा है, जो घर में खोई अपनी सूई को, बाहर विजन के आँगनों में, लालटेन ले कर खोज रही है।

राज-काज त्याग कर यहाँ क्या लेने आये हो ? तुम्हारा चक्रवर्ती सिंहासन सूना पड़ा तुम्हारा मुँह ताक रहा है। तुम्हारा छिन-भिन्न साम्राज्य स्वप्न एक सर्वहारा भिक्षुक के पैरों में पड़ा कौन-सी सिद्धि खोज रहा है ? सुकोमल मसृण हंस-पंखी शैया त्याग कर, इस नग्न धरती के कंकड़-कांटों से आलिंगित तुम्हारी राजसी देह पर मुझे तरस आ गया है। . . क्या तुम मुझे अपनी शैया नही बना सकते ? जानता हूँ श्रेणिक, अपना मस्तक उतार कर, तुम्हारे सिरहाने धर दूँ, तब भी तुम यही कहोगे—'नही, यह मुझे चुभता है' . . तो बोलो, मैं तुम्हारे लिए क्या करूँ?

दिगन्तों तक व्याप्त तुम्हारी कीर्ति के कलश मेरे ध्यान से बाहर नहीं। कुशाग्रपुर के राजमार्ग पर भंभावाद्य फूँकता हुआ, जो राजपुत्र अनर्गल दिशाओं मे निकल पड़ा था, उसे पहचानता हूँ। उसकी आज तक की और आगामी जया-यात्रा के दिग्-चिह्न मेरी निगाहों में झूल रहे हैं। जलते राजभवन में से जो सिंहासन निकाल लाया था, उसे सिहासन की कोई कामना नहीं थी, यह मुझसे छुपा नहीं। दक्षिणावर्त की पग-पग पर समर्पिता सुन्दरियाँ, जिस निगाह में न अँट सकीं, उस निगाह का मैं भिक्षुक हूँ। अंजनगिरि के सहस्त्रकूट चैत्यालय के वज्र-कपाट जिस ललाट की छुवन मात्र से खुल गये, उसकी लिपि को मुझसे अधिक कौन पढ़ सकता है ? राज-पुरोहित-कन्या नन्दश्री के सर्वस्व-समर्पण, और भव्य-भविष्य-दर्शन के सम्मुख स्तब्ध होकर भी, जो उसके ऊष्माकुल आलिंग मे भी अनम्य ही रहा, उस श्रेणिक को इतना सर्वहारा देख कर मैं कातर हो आया हूँ।

तुम्हारे प्रताप, पराक्रम और ऐश्वर्य के सीमास्तंभ, मै तुम्हारी निगाह से आगे के अन्तरिक्षों मे उठते देख रहा हूँ। तुम्हारे स्वप्न के चक्रवर्तित्व से परे का एक चक्रवर्ती सिहासन तुम्हारी प्रतीक्षा में है। सहस्राब्दियों के पार, मै तुम्हारे उस दिगन्त-व्यापी राज-छत्र का साक्षी हूँ। मुझे पता है, श्रेणिक, महाचीन का युगान्तर-द्रष्टा कन्फूशियस अपने कागजी फानूस की रंग-बिरंगी रोशनी में, तुम्हारी शासन-नीति के आधार पर, राजनीति के नये सूत्र गढ़ रहा है। तुम्हारी गतिविधियों की शतरंज पर लाओत्स आत्मिक क्रिया-शक्ति के नये मंत्र पढ़ रहा है।

. . फिर भी आज तुम इतने सर्वहारा, आत्महारा, दिग्भ्रमित क्यों ? साधारण काम और ईहा से परे की तुम्हारी दुर्दाम महावासना को अनुक्षण समझता हूँ, अनुभव करता हूँ। वह ऊर्ध्व-रेतस् वार ा, वह बँधे पारद-सा वीर्य, जो चेलना जैसी अनन्तिनी रमणी के परिरम्भण में भी अ-क्षरित रहने की वज्रोली साधे रहा ! उसे बिन्दु-दान करके भी, जो उसे और अपने आपको मुकर गया। उस चित्त का परिचालक आवेग मेरी कनिष्ठा उँगली के पोर मे स्पन्दित है।

आर्यावर्त और जगत की हर नजर पड़ जाने वाली श्रेष्ठ लावण्या को बाहुबद्ध किये बिना तुम्हें कल नहीं पड़ सकी ! हर जनपद के कुन्दोज्ज्वल कौमार्य को अपने चुम्बन से मुद्रांकित किये बिना तुम्हारा अहम् खामोश न हो सका। जम्बूद्वीप की हर जनपद-कल्याणी तुम्हारी गर्भधारिणी होने को तरस गई। तुम्हारे उस अजित-वीर्य अहंकार की मुझे जरूरत है, श्रेणिक !

उठो श्रेणिक, उत्तान मस्तक मेरे सामने खड़े रहो। मैं तुम्हारे अहम् की उस ऊँचाई को अपने आलिंग से माप कर, उसे और भी ऊपर ले जाना चाहता हूँ। मैं तुम्हें उस ऊँचाई पर खड़ा कर देना चाहता हूँ, जहाँ से तुम अपने प्रतिस्पर्द्धी लगते महावीर को ठीक-ठीक देख सको, पहचान सको। तुम इतने विशाल हो जाओ, कि मुझे केवल अपने हृदय-देश का अंगुष्ठ-प्रमाण अन्तरिक्ष भर देखो। यानी तुम केवल अपने को देखो, मुझे न देखो। उस दर्शन का दर्पण भर हो रहे महावीर, तुम्हारे लिए। जब तुम दर्पण में देखते हो, तो दर्पण को नहीं देखते, केवल अपने को एकाग्र देखते हो। और दर्पण की सत्ता अनजाने ही लुप्तप्राय हो रहती है। . . और यह दर्पण ऐसा है, कि ज्यों ही तुम अपने आमने-सामने होंगे, तो वह आप ही वायु में विलीन हो जायेगा। तब ग्रह-तारा मंडित जो विराट् गगन-मंडल खुलेगा, उसके बीच तुम ब्रह्मांड के शीर्ष पर अपने को एकाकी बैठा देखोगे। . .

भयभीत हो उठे, श्रेणिक ? अपने उस विराट रूप से बच कर भाग रहे हो ? इस कदर, कि अपनी ही पहचान को भुलाने के हजार उपक्रम, बेतहाशा हर पल कर रहे हो। तुम्हारी यह यातना, मेरी अपनी हो गई है। यह प्रत्येक जीवात्मा की चरम यातना ग्रंथि है। इसकी गाँठ-गाँठ में से अणु-प्रति-अणु, पर्त-दर-पर्त गुजरे बिना, अपने मुक्ति-मार्ग पर मेरा अगला अभियान सम्भव नहीं।

परमाणु से भी छोटे हो जाने की भ्रान्ति में पड़े हो ? इमसे बड़ा अहंकार और क्या हो सकता है ? पर वह तुम मे जाग कर, तन कर, इतना आस्फालित हुआ है, तो सदा को विच्छिन्न हो जाने के लिए। इस लघुत्तम के शून्यांश पर ही, आत्मिक परमाणु-विस्फोट होता है। और उसमें से वह चिदाकाश खुलता है, जो लघु और महत् के सारे अक्षगत परिमाणों और आयामों से उत्तीर्ण होता है।

तो ठीक है, जितना तान सको अपने को, तानो मुझ पर। इस ध्रुव पर तुम्हारे हर आत्मघात के तनाव को चुक कर निरर्थक हो जाना पड़ेगा। क्योंकि महावीर से बाहर तुम्हारा कोई आत्मघात सम्भव नहीं। महावीर ही तुम्हारा अन्तिम आत्मघात है। जीवन का विकल्प मृत्यु नहीं है, श्रेणिक। निरन्तर का विकल्प अन्तराल नहीं है। अन्तराल में कब तक ठहर सकते हो ? आगे बढ़ो, कि केवल जीवन है। हर देशान्तर, हर कालान्तर, हर जन्मान्तर एक और जीवन ही है। एक और जीवन, एक और जीवन। अनन्त जीवन। वही महावीर है। इससे तुम्हारी बचत नहीं। अव्याबाध जीवन। परिपूर्ण जीवन।

तब क्या मगध और क्या वैशाली ? मेरा पिछला चरण वैशाली में टिका है, तो डग भर कर अगला चरण मैंने मगध में रक्खा है। अपनी यात्रा की इस एक ही छलाँग को काट कर दो कैसे करूँ ! यदि एक ही अखण्ड भूमा, तुम्हारे भूगोल में दो मे विभाजित है, तो रहे। पर उसी कारण क्या मैं चलूँगा नहीं, डग नही भरूँगा ? और यदि मैं चलूँगा, तो सारे खण्ड-खण्ड भूगोल को अखण्ड हो जाना पड़ेगा। मेरे इस चरण पात में यदि वैशाली और मगध के सीमान्त टूट गये हैं, मानचित्र लुप्त हो गये है, तो मैं क्या करूँ ? जो वस्तु का स्व-भाव है वही तो घटित हुआ है।

और अब जब श्यामाक गाथापति के शालि-क्षेत्र के किनारे, इस परित्यक्ता भूमि में ध्रुव निश्चल खड़ा हो गया हूँ, तब देख रहा हूँ कि वसुन्धरा के गर्भ में ही भूचाल आया है। उसकी तहें

उलट कर मेरे पैरों से लिपट गई है। मनुष्य की उद्धत विजयाकांक्षा ने बार-बार उसके अखण्ड गर्भ को क्षत-विक्षत, खंड-खंड किया है। उसके पयोधर वक्ष को अपन बलात्कारी नाखूनों से लहूलुहान कर के उस पर अपने नाम और अधिकार की मुहरें मारी हैं। उसे चराचर मात्र की उस आद्या माँ ने मेरी कायोत्सर्गित दृष्टि के समक्ष निवेदित कर दिया है, कि नहीं, वह मुझे इस नदी-तट से हटने नहीं देगी, जब तक मैं उसे अपने ध्रुव मे एकाग्र, संयुक्त, अखण्ड न कर दूँ। अपनी त्रिवली के त्रिकोण में उसने मेरे चिर चलायमान चरणों को जकड़ कर मानो कूटस्थ कर दिया है। अपने अपरम्पार पयोधरों को इस आद्या माँ ने अन्तरिक्ष में उद्भिन्न कर मेरे ओष्ठाधरों में बरबस विस्फोटित कर दिया है, कि मैं उसके अक्षय्य जीवन-स्रोत को जानूँ। जानूँ, कि वह कौन है, और मैं कौन हूँ। जानूँ, कि वह केवल क्षणिक मृत्तिका-पिंड नही, शाश्वत ब्रह्मांड है। जानूँ, कि चरम परिप्रेक्ष्य मे उसके साथ मेरा क्या सम्बन्ध है !? . .

उस वसुन्धरा की कातर निवेदनाकुल पुकार को सुन रहा हूँ :

'मेरे वत्स, मेरे वल्लभ, कहाँ चले ? मेरा सत्व चूस कर, मुझे निःसत्व, निःसार, निष्फल कह कर, लोकाग्र के किस सिद्धालय मे आरूढ़ होना चाहते हो ? भ्रांति हुई है तुम्हें, कि मैं सीमित हूँ, भंगुर हूँ, और चुक गई हूँ। चुक गये हो तुम, मै नहीं चुकी ! चुक गई है तुम्हारी सामर्थ्य, तुम्हारा ओजस्, मेरे रजस् की रक्तधारा तो अनाद्यन्त काल में अस्खलित प्रवाहित है। महाकाल के प्रवाह में तुम जैसे असंख्य तीर्थंकर मेरे गर्भ से उठे, और मेरा ही योनिवेध कर सिद्धालय के चन्द्रार्ध पर आरूढ़ हो गये। . .

'पर मेरे ही एक अखण्ड वक्षमण्डल के दो चन्द्रार्द्धों को भिन्न, और विरोधी समझने की भ्रान्ति मे वे रहे। मेरे ही एक स्तन पर पिछला पग धर कर. अगला पग मेरे दूसरे वक्षार्ध की चूड़ा पर धरने को ही उन्होंने मोक्षारोहण मान लिया।'

'तुम्हारी इस बाल-लीला पर तुम्हारी माँ को गर्व ही हो सकता है। ओ योगीश्वरो, ओ तीर्थंकरो, तुम्हारा यह लीला-खेल ही तो उसकी कृतार्थता है। पर महावीर, तुम्हे इससे आगे का खेल सिखाना चाहती हूँ। यही कि एकबारगी ही अपने ओष्ठाधरों से मेरे दोनों स्तनों को पियो और जानो कि जीवन और मुक्ति, भोग और योग एक ही अखण्ड सत्ता-माँ की दो करवटें हैं। उनमें प्रवाहित एक ही चैतन्य पयस् के दो स्रोत है।

'. . अहं-स्वार्थ प्रमत्त मनुष्य ने इतिहास के महाप्रवाह में बार-बार अपनी हिंसक वासना से माँ के उस अखण्ड वक्ष-मडल को क्षत-विक्षत और खंडित किया है। उस पर अपना एकान्त अधिकार स्थापित करना चाहा है। हिंसा और परिग्रह की इस मूर्छान्ध रात्रि में, बार-बार तुम्हारी इस एकमेव माँ-वल्लभा पर बलात्कार-अत्याचार, छेदन-भेदन, प्रहार-व्यभिचार हुए हैं। तुम सब भले ही पथ-भ्रष्ट, विभाजित, खंडित, व्यभिचरित, स्खलित हुए होंगे। पर तुम्हारी यह माँ तो तुम्हारे उन सारे आघातों तले भी अव्यभिचरित, अविक्षत तुम्हारी सती ही रही है।'

'महावीर, मुझे पूर्ण लो, मुझे पूर्ण जानो, मुझे अविकल उत्संगित करो, मुझे पियो अपने में समूची और जानो, कि तुम चुक गये हो . . या मैं चुक गयी हूँ . . ? जानो, कि तुम सान्त हो, या मैं सान्त हूँ ? लो . . लो . . लो . . लो महावीर . . !'

और मैंने पाया कि मेरा कायोत्सर्ग भंग हुआ है। मेरा पर्यंकासन डोला है। और गोदोहन

मुद्रा में, जानु पर जानु धरे, और मुट्ठी पर मुट्ठी कसे, मैं एक ही महामण्डलाकार वक्ष मंडल के दो ब्रह्माण्डों को एक साथ, एक ही साँस में दुह रहा हूँ, पी रहा हूँ . . ।

चकित हो न, श्रेणिक ? रोमांचित और प्रहर्षित हो न ? विजयोल्लास से भर उठे हो न ? ' . . यही कि महावीर चरम कायोत्सर्ग के शिखर से पतित हो गया, कि उसने श्रेणिक की धरती पर घुटने टेक दिये. कि वैशालक निगंठ नातपुत्त की अर्हत्ता ऋजुबालिका के जंघातटों में धराशायी हो गयी ?

. . जानो श्रेणिक, तुम्हारी विजय के लिए, ओ मनुष्य के बेटे-बेटियो, तुम्हारे कुण्ठा-छेदन के लिए, तुम्हारे प्रांजल सुगम उद्‌बोधन के लिए ही, महावीर ने भूगर्भ की राह ब्रह्मगर्भ में अतिक्रान्त होना स्वीकार किया है, ताकि भेद और विच्छेद की सारी बाधाएँ और कुण्ठाएँ प्राणिमात्र के बीच से हट जाये । ताकि मुक्ति-रमणी इस धरती और काया के मूर्त कलेवर में ही, तुम्हें सविता और सावित्री का गर्भ पान कराये ।

. . मुझे क्या अन्तर पड़ता है, यदि मेरे इस अवरोहण से, सृष्टि का सारा इतिहास अपने दुश्चक्र का भेदन कर जाये । यदि हर आत्मा एक अनादिकालीन द्वंद्व के नागचूड़ से सदा को मुक्त हो जाये । क्योंकि मेरी ज्ञान-चेतना मे, मेरे अवबोधन के वातायन पर, ऊपर नीचे, आरोहण-अवरोहण, उत्थान-पतन के आयाम ऐकान्तिक नहीं, निरपेक्ष नहीं, अनैकान्तिक और सर्वसापेक्षिक हैं । मेरा यह अवरोहण भी, एक और उच्चतर शिखर पर आरोहण नही है, यह कौन कह सकता है ?

त्रिशला, चेलना, श्रेणिक, और मनुष्य के त्रिकालवर्ती बेटे-बेटियो, तुम्हारा मनचाहा हो सका न ? वही तो करने को यहाँ आया हूँ । वही न कर सकूँ, तो तीर्थंकरत्व और अर्हतत्व फिर किसलिए ?

त्रिशला, अपने रक्त-मास के योनिजात पुत्र को देखो । उसे जी चाहा पाओ, जी चाहा लो । . . क्या तुम्हारी साध पूरी हुई ? . . चेलना, तुम्हारे कंचुकि-बन्ध टूट गये ! . . पर क्या तुम पूर्णकाम हुई ? . . श्रेणिक, लो देखो मैं ऋजुबालिका के जल-गर्भो में शायित होकर, मगध की भूमि मे आत्मसात् हो गया । विसर्जित, विवर्जित, विलोनित हो गया । तुम निःशंक, निर्भय, निर्द्वन्द्व हो सके, सम्राट बिम्बिसार श्रेणिक ?

. . नहीं, नहीं । तुम सबके चेहरों पर वृहत्तर प्रश्न-चिह्न जल उठे हैं । तुम सब कितने-कितने अकेले, द्वीपायित, दीन, म्लान, उदास, आत्महारा हो अब भी । अपने ही अहं में कुण्डीकृत । तुम्हारे मूलाधार की यह सहस्रकुण्डला सर्पिणी कैसे जागे, कैसे उत्थान करे ? कैसे उसकी पूँछ उसके मुख में आ जाये, और आत्मा अखण्ड कैवल्य-ज्योति का प्रभामण्डल हो जाये ?

जगज्जयी श्रेणिक, काचन, कामिनी, कीर्ति के सारे सीमान्त जीत कर भी तुम कितने अकेले छूट गये ? और ऐसा यह एकराट् सम्राट अकेला नही रह सकता । वह भयभीत है । वह अपने ही से भयभीत और भागा हुआ है । अब तक खोजे उसके सारे अवलम्बन टूट गये है । वह एक और. एक और अवलम्ब खोज रहा है ।

और श्रेणिक, अब तुम एक और अवलम्ब शाक्य-पुत्र सिद्धार्थ गोतम में खोज रहे हो । तुम उसके उस अज्ञात आगामी बोधिसत्व में आशान्वित हो । वह बोधिसत्व, जो अभी उपलब्ध नहीं

बाहर कहीं भी, जो अभी आने को है। वह एक ऐसा भविष्य है, जो अभी सिद्धार्थ गौतम की भी पकड़ से बाहर है। जिसे पाने को वह स्वयं मरणान्तक तपस्याओं से गुजर रहा है।

और तुम अपने को आश्वस्त करते हो, कि एक दिन वह उसे लब्ध कर, सर्वप्रथम तुम्हारे पास आयेगा, और तुम सपना देख रहे हो, कि उसकी बोधि प्रभा से उस दिन राजगृही के चैत्य-उपवन झलमला उठेंगे।. . और तुम्हें लगता है, कि वह तुम्हें ज्यों ही हाथ उठा कर उद्बोधित करेगा, तो उसकी दृष्टि से दृष्टि मिलते ही तुम्हारे भ्रूमध्य में कोई सम्यक्तव-नेत्र खुल उठेगा। मानो कि उसके चीवर की गहरी तहों में कोई चिन्तामणि छुपी होगी, जो वह निकाल कर तुम्हारे हाथ में थमा देगा। और तुम, आरपार आत्म-सम्बुद्ध और प्रकाशित हो उठोगे।. . काश, ऐसा हो सकता, श्रेणिक!

नहीं, तुम्हारी इस माँग को मैं 'तथास्तु' नहीं कह सकता। और मै तो जातरूप नग्न हूँ; मेरे तन पर ऐसा कोई चीवर नहीं, मेरे मन में ऐसी कोई गोपन तह नही, जहाँ ऐसी कोई ज्योतिर-मणि संगोपित हो, कि तुम्हारी आर्त्त पुकार पर वह निकाल कर तुम्हें सौंप दूँ। चमत्कार कर दूँ। नहीं, महावीर ऐसा कोई आश्वासन, ऐसी कोई आशा तुम्हे नही दे सकता। वह कुछ कहता ही नहीं, वह कुछ करता ही नहीं। ऐसे किसी वाक् और कर्म से वह प्रतिबद्ध नही। अपने प्रति भी वह प्रतिबद्ध नहीं। अत्यन्त अप्रतिबद्ध, वह केवल सहज स्वयं आप है। जो, जितना, जैसा है, वह तुम्हारे सामने है। उसकी नग्नता केवल तन की नहीं, केवल मन की नही। उस तत्व की है, जो अन्ततः वह स्वयं आप है।

हाँ श्रेणिक, निर्ग्रंथ ज्ञातृपुत्र तुम्हारा भूदान न स्वीकार सका। जो सम्भव नहीं, उसे कैसे स्वीकारूँ। जो स्वभाव नही वस्तु का, उस विभाव मे कैसे प्रवृत्त होऊँ। जिस भूमि पर अन्ततः तुम्हारा अधिकार ही नहीं, उसका दान करने वाले तुम कौन होते हो? उसे लेने वाला मैं कौन होता हूँ। इतिहास में असख्य बार भूपतियों ने इस भूमि पर अपना एकराट् आधिपत्य घोषित किया। पर क्या वे सच ही, उस पर अधिकार कर सके? उसे रख सके केवल अपने लिए, एकान्त अपने द्वारा अधिकृत? अपने तन और मन पर भी जो अधिकार और शासन न कर सके, वे बाहर की भूमि के स्वामी कैसे?

सम्भव है केवल आत्मदान। तुम्हारा अत्यन्त निजी आत्म, तुम्हारा एक मात्र स्वरूप, तुम्हारा स्वयमत्व, तुम्हारा वह चरम अस्तित्व, जो अन्ततः तुम हो, वही तो तुम निवेदित कर सकते हो। उसे ही तो देने का अचूक अधिकार तुम्हारा है। पर वह भी क्या किसी संकल्प या इरादे के साथ, किसी को दे देने की सत्ता तुम्हारी है? ऐसा कोई राग या विकल्प जब तक है, तब तक तुम वह विशुद्ध आत्म हो ही कैसे सकते हो? संकल्प है तो विकल्प है ही, राग है तो द्वेष है ही। मैं किसी के प्रति अपने को देता हूँ, मै इस व्यक्ति या वस्तु का उपकार और त्राण करूँगा, यह अहं जब तक शेष है, तब तक तुम वह शुद्ध आत्म होते ही नहीं, जिसे देने का, या जिसकी सामर्थ्य से पर का उपकार उद्धार करने का दम्भ तुम करते हो।

वह आत्म तभी अपने अविकल रूप में प्रकट होता है, जब लेने-देने, करने-कराने के सारे संकल्प और विकल्प समाप्त हो जाते है। बस, एक सच्चिदानन्द ज्योति का निर्झर जाने किस अचिन्ह, अनाम उत्स में से फूट पड़ता है। वह दान करता नहीं, उसका अपने आप में निरन्तर

प्रवाहन ही एक विराट् आत्मदान है, जो आपोआप अणु-अणु में व्याप्त हो उसे प्रकाशित, आप्लावित और आप्यायित करता रहता है।

नहीं, श्रेणिक इसके अतिरिक्त किसी और आत्मदान, ज्ञानदान, सुखदान, समाधान, उपकार-उद्धार का दावा मेरा नहीं। क्या धरित्री यह कहती है, कि मैं तुम्हें धारण करती हूँ? क्या आकाश यह उद्घोष करता है, कि मैं तुम्हें ठहरने को अवकाश आवास देता हूँ? क्या झरना यह दावा करता है, कि मैं तुम्हें जलदान करता हूँ? क्या नदी यह संकल्प करके बहती है, कि मैं तटवर्ती सारी प्रकृति और जनालयों को जीवनदान करती हूँ? क्या हवा के मन में रंच भी कोई ऐसा इरादा है, कि मैं बहती हूँ, ताकि प्राणिमात्र मेरे भीतर प्राण धारण करें, साँस लेते रहें? क्या वृक्ष यह सोचता है, कि मै पथिक को छायादान करता हूँ? यदि नहीं, तो महावीर भी ऐसा कोई संकल्प नहीं रखता, ऐसा कोई आश्वासन नहीं देता, ऐसा कोई दावा नहीं करता।

वह आश्वासन तुम्हें जहाँ से प्राप्त हुआ है, वहाँ से वह बोधि तुम सानन्द प्राप्त करो, श्रेणिक! मैं निश्चिन्त हूँ, मैं आश्वस्त हूँ, अपने बारे में, तुम्हारे बारे में। जहाँ से भी जो चाहो पाओ, जिस भी राह जाना चाहो जाओ। सारी राहें अन्ततः उसी एक आत्म की ओर जाती हैं। सारे गमनागमन उसी एकमेव गन्तव्य की ओर गतिशील हैं। अपना सुख, अपना प्राप्तव्य जहाँ भी तुम्हें दीखे, उस ओर निर्विकल्प, निर्द्वंद्व बढ़ जाओ। मिल जायेगा। पर यह अनिवार्य है कि विकल्प और द्वंद्व मन में न रहे। तर्क-वितर्क और हिचक जी में न आये। अविचल, एकाग्र अपने लक्ष्य का सन्धान करो, वह जहाँ भी दिखाई पड़े।

पर उन्नति और मुक्ति की यात्रा कुटिल-जटिल अनेक चक्र-पथों को पार करती हुई ही सम्भव होती है। हर आत्मा अपने भीतर की उस परम कुमारिका को पाने के लिए, अपनी ही चाहों के अत्यन्त अपने और निराले कुँवारे जंगलों को पार करके ही, उस तक पहुँच सकती है।. . उस राह में महावीर पड़ता है या सिद्धार्थ गौतम पड़ता है, तो उनसे भी गुजर ही जाना होगा। वहाँ भी मंजिल नहीं। वहाँ भी रुका नहीं जा सकता। ये सब सिद्धाचल के आरोहण-मार्ग के अनेक पड़ाव हैं, चट्टियाँ हैं, धर्मशालाएँ हैं। जो तुम्हारा गन्तव्य है, वह अत्यन्त विलक्षण, अत्यन्त निजी, एकमेव तुम्हारा है। अपनी उस एकमेव अकल कुँवारी प्रिया तक पहुँचे बिना चैन और विराम तुम पा नहीं सकते, जो सर्वदेश और सर्वकाल में नितान्त तुम्हारे लिए है, केवल तुम्हारी है। जो वह अपनी एकान्त सती रानी है, जिस तक पहुँचने के लिए आत्माएँ अविश्रान्त भाव से जाने कितने ही दुर्गम, दुर्भेद्य, सर्प-कुंडलित भयारण्य पार करती ही चली जाती हैं। राग-द्वेष और ईर्ष्या के अनेक ग्रंथिल नागचूड़ों में ग्रस्त होती है। जो प्रिया अत्यन्त और अन्तिम अपनी नहीं है, उसे ही अपनी आत्मा मान कर, उसकी ऊष्म-शीतल कुन्तल-छाँव में परम प्रीति का आश्वासन, एकत्व और विश्राम खोजती है।

. . पर देखते-देखते वह प्रिया पराई हो उठती है। देखते-देखते निगाहें बदली-बदली हो जाती हैं। जो सवेरे मेरे लिए प्राण तक दे देने को उद्यत थी, वह उसी शाम मेरे प्राण लेने तक को भी सन्नद्ध हो सकती है। जो कल तक मेरी सर्वस्व थी, आज वही मेरी सर्वस्वहारिणी हो कर प्रकट हो जाती है। जो कल तक, अपने प्राण और आत्मा से भी अधिक अपनी लगती थी, वह आज इतनी-इतनी परायी हो उठती है, कि पहचानना कठिन हो जाता है।

कितने अजनबी, कितने पराये हैं, हम सब यहाँ एक दूसरे को। और इस अजनबियत और परायेपन के रेगिस्तान में, हर कहीं दूर पर अपनी प्यास का भ्रान्त जल देख दौड़ पड़ते हैं उस ओर बेतहाशा। जाने कितने ही अपनत्व के ओसियस जगह-जगह दिखायी पड़ते हैं। हाँफ जाते हैं, गिर-गिर पड़ते हैं, साँसें चुक-चुक जाती हैं —उन तक पहुँचने में। और वे दूर ही सरकते जाते हैं, अपनी बाँह और आँखों में आ कर भी क्षण मात्र में सिरा जाते हैं।

इस अफाट् मरु-प्रान्तर में अब तक तुमने कितने न सहारे खोजे, श्रेणिक ! वस्तु, सम्पदा, भूमि, साम्राज्य, रत्न-कांचन, रमणी, महावीर, और अब सिद्धार्थ गौतम। क्या तुम्हारी चाह का वह अन्तिम अवलम्ब, तुम्हें मिल सका ? क्या अपने प्राण का वह चिर अभीप्सित शरणांचल, समाधान, उपधान तुम्हें प्राप्त हो सका, जिस पर माथा ढाल कर तुम अन्तिम रूप से निश्चिन्त, बेखटक, विश्रान्त, विश्रब्ध हो सको ?

चेलना ने तुम्हें क्या न देना चाहा ? उस जैसी परमा सुन्दरी सती का सर्वस्व-समर्पण भी क्या तुम्हें परितृप्त, समाधीत कर सका ? उससे पूर्व नन्दश्री का आत्मार्पण भी क्या कम निष्काम था ? चेलना और नन्दा ने क्या कुछ बचा कर रक्खा, कि जो उन्होंने तुम्हें न दिया ? कोसला, क्षेमा और देश-देशान्तरों की अनेक रानियाँ और कुमारिकाएँ तुम्हारी एकान्त समर्पिता अन्तःपुरिकाएँ होकर रह गईं। सालवती का लावण्य और यौवन मानो तुम्हारे ही लिए मगध की भूमि में से रत्न की तरह प्रकट हुआ, और वह तुम्हारा कण्ठहार हो कर रह गया। फिर भी क्या वह तुम्हें मनचाहा आप्लावन और उत्संग दे सकी ?

और तुम्हारी चरम स्वप्न आम्रपाली ! साक्षात् होते ही वह स्वप्न तुम्हारा टूट गया। तुम अहर्निश उसके ध्यान में जी रहे थे, उसी के सौरभ-विधुर कल्पांचल में साँस ले रहे थे। और तुमने पाया, कि वह सदेह सम्मुख उपस्थित हो कर भी अपने उस ऐश्वर्य-कक्ष में नहीं थी। वह अपनी उस मुक्ता-मर्कत शैया में अधलेटी हो कर भी, वहाँ नहीं थी। वह बेताब थी, बेचैन थी, और अपने ही आप को सुलभ नहीं थी। वह अपने ही वश में और अपनी ही नहीं थी। वह अपने ही आपको अजनबी और परायी थी। तब वह तुम्हारी कैसे हो सकती थी ? तुम्हारा समस्त चित्त उसमें लगा था, और उसका चित्त कहीं और ही लगा था। तुम उसके ध्यान में ही एकाग्र जी रहे थे, और वह उस नग्न अकिंचन पुरुष के ध्यान में केन्द्रित जी रही थी, जो किसी एक का होने को जन्मा ही नहीं है। जो हर किसी का है, इसी से किसी का नहीं है।

हमारे गाढ़तम आलिंगन में गुँथ कर जो रमणी हमारी साँसों मे मूर्च्छित, समर्पित और विसर्जित हो रही है, वह कब हमारे आलिंगन से बाहर हो गई है, पता ही नहीं चलता। हर आलिंगन, हर मैथुन में हम उसी एक परम एकत्व और अनन्यत्व को ही तो खोज रहे हैं, जो हर आत्मा की परात्पर वासना है, और जिसे पाये बिना अनादि-अनन्त काल में भी, हमें चैन नहीं। पर क्या गाढ़तम आलिंगन और चरमतम मैथुन में भी वह एकत्व उपलब्ध हो पाता है ? टूटती हुई रक्त की धारा और चुकती हुई साँसों से आगे, उस आलिंगन और मैथुन की गति नहीं।

जानो विश्व-विजेता श्रेणिक बिंबिसार, प्रत्यक्ष देखो आत्मन्, निर्भ्रान्त देखो : जन्मान्तरों की इन सारी मिलनाकुल यात्राओं में, चरम-परम सौन्दर्य और प्यार के परात्पर आलिंगनों और मैथुनों में भी, क्या तुम्हारा वह अनादि अभीप्सित, अचूक मिलन तुम्हें उपलब्ध हो सका ?

जो देख रहा हूँ समक्ष, प्रत्यक्ष, वह यह है कि एक-दूसरे मे एकत्व लाभ करने की सारी कसकों, तड़पनों, कशमशों के बावजूद, तुम सब कितने अकेले, एकाकी हो। कितनी अकेली हो गई है चेलना ! कितनी अकेली है नन्दा ! कितनी अकेली है सालवती ! कितनी अकेली है आम्रपाली ! कितने अकेले हो तुम ! कितना असग एकाकी, मरणातक सघर्ष कर रहा है सिद्धार्थ गौतम, बोधिलाभ की अगम राहों मे, मृत्यु की दुर्भेद्य घाटियों मे ! और तुम, श्रेणिक, उसमे एक और अवलम्ब खोज रहे हो ?

और देखो, कितना अकेला, एकाकी, अकिंचन, अकिंचित्कर है निर्ग्रंथ ज्ञातृपुत्र महावीर ! वह तुम्हारी भूमि के अतलान्त पातालों मे उतर गया है, कि काश, वह सत्ता मे कोई ऐसा द्वार मुक्त कर सके, जिसकी राह वह तुम सबकी आत्माओं मे अचूक प्रवेश पा सके। कोई ऐसा वातायन, कोई ऐसा कक्ष, कोई ऐसी शैया, जहाँ हर रमण और रमणी, उस आलिगन और मैथुन में एकत्व लाभ कर सकें, जिसमे फिर अन्य और अन्यत्र की विरहव्यथा सदा को निर्वाण पा जाये।

यहाँ, इस उजाड उद्यान मे, इस निर्जन नदी के तट पर से वह पुरुष लुप्त हो चुका, श्रेणिक, जिसके रहते तुम इतने पराजित और भयभीत थे। जिसकी उपस्थिति तुम्हारी चरम ईर्ष्या का विषय थी। जिसे तुम सह नही सकते थे, और जिसके बिना तुम रह नही सकते थे।

वह महावीर किसी और ही तट पर उतर गया, आत्मन् ! अब यहाँ अकेले रह कर तुम क्या करोगे ? लौट जाओ श्रेणिक, अपने घर, अपने महालय म, चेलना के पास, आम्रपाली के पास, अपने साम्राज्य मे, यदि वह सम्भव हो !

और चाहो तो प्रतीक्षा करो तथागत गौतम बुद्ध की। शायद वे तुम्हे वह दे सके, जो मै तुम्हे नही दे सका।

अलबिदा, अनन्य, अजेय श्रेणिक भम्भासार।

भीतर खुलते वातायनों पर

बाहरी पृथ्वी से असम्पृक्त हो गया हूँ। अपनी ही शरीर की मूल पृथ्वी मे उतर गया हूँ। रक्त-शिराओं के अन्धकार को पार कर, हड्डियों के पोलानों मे व्याप्त तमस से गुजर गया हूँ। मज्जा के अति महीन घनत्व को विदीर्ण करता हुआ विशुद्ध माटी के लोक मे से सक्रमण कर रहा हूँ। पुद्गल के स्कन्धों मे से राहे खुल रही है। यहाँ उस मौलिक कार्मिक रज के सीधे सस्पर्श मे हूँ, जिसके उत्तरोत्तर परिवर्द्धमान घनत्वों मे से, सृष्टि मे आकृतियाँ प्रकट होती है। यहाँ हमारी चेतना की विभिन्न परिणतियाँ ही कैसे पिण्डीकृत और मूर्तिमान होती है, उस प्रक्रिया का साक्ष्य अनुभव मे आ रहा है।

इस चरम और तात्विक अन्धकार की नीरन्ध्रता मे एक अजीब और बेरोक व्याकुलता है। मानो कि यह अन्धता अब अपने आप मे ठहर नही सकती। जैसे कि अभी औचक ही इसमें आँख खुल उठेगी। रह-रहकर मानो इस तमसा मे प्रकाश के परमाणु तारों की तरह टिमक कर बुझ जाते

हैं। अभी-अभी जैसे कहीं एक निःशब्द विस्फोट होगा, और कोई विभ्राट् ज्योति जल उठेगी। कोई ऐसा उजाला, जो अन्धकार का विरोधी नहीं, अन्धकार भी जिससे बाहर नहीं, मात्र इसकी एक बहिर्मुख परिणति है। तत्व की इस अन्तरिमा में उसके सारे सम्भवित आयामों के बीज, सर्वत्र राशियों में फैले, फूटते और अँखुवाते दीख रहे हैं। . . चारों ओर जैसे असंख्य खुली आँखों से घिर गया हूँ। और तब इस घनीभूत अँधियारे कर्दम से लगा कर, इसमें से फूटने वाले कमल तक की दूरी लुप्त-सी हो गई है। एक माया, एक लीला मात्र।

. . कितना अकेला हो गया हूँ। भयावह है यह एकाकीपन। बाहर के जगत से, जीवन से, इस कदर वियुक्त तो पहले कभी नहीं हुआ था। सब-कुछ से कट कर, बिछुड़ कर, इतना अकेला पड़ गया हूँ, कि इस एकलता में ठहरा नहीं जा रहा है। सब के साथ शाश्वत जुड़ाव में जीने की अनवरत साधना अब तक करता रहा। सब के प्रति अपने को इतना निःशेष दिया, कि अपने आत्म को मैंने जैसे रहने ही नहीं दिया। फिर भी क्या सब के साथ संपूर्ण योग और एकत्व सिद्ध हो सका?

हर सम्मुख आने वाले जीवात्मा के जन्म-जन्मान्तरीण अन्धकारों में संक्रमण और अतिक्रमण किया है। मेरे उस सम्पूर्ण आत्मदान से, पूर्वजन्म की अनेक सम्बन्धित आत्माओं की जनम-जनम की ग्रंथियाँ उन्मोचित हुई हैं, मेरे और उनके बीच के कर्मावरण की अनेक अभेद्य दीवारें टूटी हैं। एक महाभाव प्रेम के भीतर उनके साथ, निरवछिन्न मिलन की अनुभूति हुई है। लेकिन फिर भी क्या उनके और मेरे बीच वह मुक्ति घटित हो सकी, जिसके बाद कोई भी ग्रंथि या आवरण शक्य न रह जाये? क्या अन्तिम ग्रंथि का मोचन हो गया, क्या अन्तिम आवरण हट गया?

पहले ही दिन अपने बैल के गुम हो जाने पर, अपनी रस्सी को तिहरी बँट कर मुझे कोड़े मारने वाला ग्वाला हो, कि शूलपाणि यक्ष हो, कि संगम देव हो, कि सुदंष्ट्र नागकुमार हो, कि कटपूतना बाण-व्यन्तरी हो, कि अन्तिम बार शूलों से आरपार मेरा कर्णवेध और मस्तकभेद करने वाला गोपाल हो, निश्चय ही इन सभी की जनम-जनम की कषाय-ग्रंथियों का मोचन हुआ है। इन सभी के मनों में, मेरे प्रति जो चिरकाल की वैराग्नि जल रही थी, उसका शमन भी निःसन्देह हुआ है। इन सभी की क्षमा और प्रीति भी मुझे सदा को प्राप्त हो गई है। अपने जी की बात, अपना प्यार इनकी आत्माओं तक पहुँचाने मे भी शायद मैं यत्किंचित् सफल हुआ हूँ।

फिर भी क्या त्रिलोक और त्रिकाल मे इनके साथ मैं निरवछिन्न-रूप से घटित हो सका हूँ? क्या इनके साथ मेरा सम्वाद और सम्प्रेषण अव्याहत हो सका है? लगता है कि इनके और मेरे बीच अब भी कोई ऐसा अपरिभाषेय रिक्त बना है, जिसकी सम्पूर्ति अभी नहीं हो सकी है। सर्वकाल और सर्वदेश की असंख्य कोटि आत्माओं के साथ अभी जैसे पूर्ण ज्ञानात्मक सायुज्य उपलब्ध नहीं हो सका है। अपने को अणुमात्र भी तो बचाकर नहीं रक्खा है। अपनी इस देह को तिल-तिल हवन हो जाने दिया है। फिर भी सदेह जैसे मृत्यु का समुद्र तैर गया हूँ। बारम्बार एक अनाहत, अव्याबाध जीवन जीने की अनुभूति भी हुई है।

फिर भी क्या कारण है कि एक अफाट शून्य में आज अकेला छूट गया हूँ? . . मैं . . मैं . . मैं। वह . . वह . . वह। इस चिरन्तन द्वैत से कहाँ निस्तार है? क्या यह

सतर्कता अब भी मुझ में नही है, कि मैं हूँ कोई विशिष्ट पुरुष महावीर ? जिसने अपने जनम-जनम के बैरियों को खोज कर, उन्हे अपने प्रेम और क्षमा से जय किया है, कि मै इन सब का तरणोपाय बना हूँ , कि मै त्राता हूँ, सर्व का परित्राता हूँ। सर्व परित्राण के लिए ही मेरा अवतरण हुआ है। क्या मेरे इस अहं का निर्मूलन हो सका है ? और यह अहं जब तक अणु मात्र भी शेष है, तब तक सर्व के और मेरे बीच की अन्तिम खन्दक कैसे पट सकती है ? वह नहीं पट सकी है, इसीसे तो इस शून्य मे इतना अकेला छूट गया हूँ।

. . ऐसा लग रहा है, कि इस द्वैत का निराकरण किसी अद्वैत मे भी नही है। वह भी एक शाब्दिक विकल्प या धारणा ही तो है। शुद्ध आत्मानुभूति मे न द्वैत है, न अद्वैत। बस, जो यथार्थ में है, वही है, जिसकी परिभाषा सम्भव नही। परिभाषा मात्र विकल्प है।

इन अनेक जीवात्माओं की कषाय-क्लिष्ट चेतना के प्रति मै दया और करुणा से भर-भर आया हूँ। और यह दया और करुणा भी क्या द्वैतभाव ही नही है ? पूर्ण वीतराग हुए बिना, पूर्ण प्रेम और पूर्ण एकत्व मे अवस्थिति कैसे सम्भव है ? मै और वह का विकल्प जब तक है, तब तक सब के साथ सूक्ष्म राग तो बना ही हुआ है। फिर चाहे वह कितना ही सात्विक और मांगलिक क्यों न हो। और जब तक यह राग है, तब तक विच्छेद और अलगाव है ही। यह राग सवेदन है, स्पन्दन है, उत्स्फुरण है। इसके रहते चैतन्य मे विक्षोभ और विकल्प का चांचल्य रहेगा ही। यह सम्वेदन जब तक पूर्ण ज्ञान से प्रकाशित न हो उठे, तब तक सर्व के साथ सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य मे अवस्थित नही हुआ जा सकता।



अपने आत्म-परिणामों को इस क्षण प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। कर्मोदय से जो राग-द्वेषात्मक भाव उत्पन्न होते है, उस विक्षोभ से मै बेशक आगे जा चुका हूँ। सात्विक वृत्तियों के सवेग के कारण जो कर्म-बीज का निपट तात्कालिक उपशमन होता है, उस क्षणिकता मे भी मेरे परिणाम बद्ध नहीं हैं। तीव्र वीतरागता के उदय से कभी-कभी अपने अनादि कर्म-मल का विपल मात्र मे क्षय होना भी अनुभव किया है। पर निःशेष कर्म-मल की निर्जरा तो हुई नही। तब यह क्षायिक भाव भी आत्मा की एक गुजरती अवस्था से अधिक न हो सका। क्षयोपशमिक भाव मे ही अब भी यात्रा चल रही है। कुछ कर्म मात्र उपशमित हो रहते है, तो कुछ कर्म झड जाते है। क्षय और उपशम की यह एक मिली-जुली अवस्था-सी है। इन सारी अवस्थाओं से परे जो आत्म-स्थिति है, उसकी बारम्बार झलक पा कर भी, उसकी अन्तर-मुहूर्त अनुभूति मे स्तब्ध होकर भी, फिर अवस्था विशेष मे अवरूढ़ हो जाना होता है।

कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम से परे ही वह आत्म-स्थिति कैसे उपलब्ध करूँ, जिसमे बिना किसी बाह्य निमित्त के, बिना किसी निम्न या ऊर्ध्व प्रतिक्रिया के, एक शुद्ध बेशर्त, निसर्ग परिणमन मे ही अवस्थान हो जाये। एक ऐसी महाभाव-स्थिति, जिसमे दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य नितान्त स्वतंत्र होकर, एक विशुद्ध और अकारण आत्मोर्जा के रूप में मेरे भीतर रमणशील रहे। एक ऐसा बेशर्त निर्नैमित्तिक आत्म-रमण और अन्तर्मैथुन, जिसमें बिना किसी

चाह, विकल्प या बाहरी क्रिया के भी, जीव मात्र और पदार्थ मात्र के साथ, एक निरन्तर मिलन-मैथुन अन्तहीन हो जाये। उस शुद्ध पारिणामिक भाव को कैसे उपलब्ध हुआ जाये ?

जब तक उस मुकाम पर न पहुँच जाऊँ, तब तक मेरे सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, दया, सहानुभूति, करुणा, प्रेम, खण्डित और अपूर्ण ही रहेंगे। ये सब संवेदन हैं प्रवृत्तियाँ हैं जो पर-निर्भर हैं, इसी कारण द्वैत और विकल्प से ग्रस्त हैं। ये सब अहंजन्य मन की उदात्त अवस्थाओं से अधिक नहीं। इनका प्रतिकल्प और प्रतिलोम कहीं है ही। ऐसा लगता है, कि मेरे इस ऊर्ध्वमुख संवेदन को ही, नितान्त ज्ञान हो जाना पड़ेगा। चरम सम्वेदन की परम परिणति पूर्णज्ञान में हुए बिना रह नहीं सकती। सम्वेदन नहीं, शुद्ध आत्मवेदन चाहिए। वही आत्मज्ञान है। पूर्ण आत्मज्ञान बिना, पूर्ण सर्वज्ञान सम्भव नहीं दीख रहा। 'मैं कौन हूँ ?' का उत्तर, अनेक प्रसंगों में, और अनेक चेतना-स्तरों पर सम्यक् रूप से पाया है। पर क्या वह उत्तर मैं स्वयं हो सका हूँ ? तब तक कैसे कहूँ, कि ठीक जान गया हूँ, कि मैं कौन हूँ। मेरा आत्मबोध अभी दूसरों के साथ घटित होने पर निर्भर करता है, वह अकारण स्वतः स्फूर्त अखण्ड अनुभूति की लौ नहीं हो सका है।

. . अभी कल तक भी, क्या श्रेणिक के साथ एक उद्‌बोधनात्मक प्रतिक्रिया में ही घटित नहीं हो रहा था ? श्रेणिक, और उससे जुड़ी हैं चेलना, नन्दा, कोसला, क्षेमा, आम्रपाली, सालवती। उससे सम्बद्ध आर्यावर्त की सारी ही नगर-वधुएँ, दूर-दूरान्त के सारे देशों, द्वीपों, समुद्र-तटों की वे सुन्दरियाँ, कुमारियाँ, जिनके साथ श्रेणिक की आत्मा अन्तर्ग्रस्त है। अभय राजकुमार, अजातशत्रु, वर्षकार, वैशाली और मगध के बीच का संघर्ष, श्रेणिक का साम्राज्य स्वप्न। तमाम समकालीन विश्व की जीवन-लीला, उसके वैषम्य, विसम्वाद, उसके युद्ध और संधियाँ, शान्तियाँ और अशान्तियाँ। उपग्रहों और विग्रहों के बेशुमार शाखाजाल। . . श्रेणिक में हो कर, चेलना में हो कर, त्रिशला की वेदना में हो कर, इस सारी संसार-शृंखला से अभी कल तक जूझता रहा हूँ। अपने प्यार के मधुर रक्त-रसायन में डुबा-डुबा कर इस लोहे की साँकल को सोने की साँकल में रूपान्तरित किये बिना जैसे मुझे चैन नहीं।

. . पर देखता हूँ कि अलग-अलग कड़ियों के जुड़ाव से निर्मित यह संकलना जब तक साँकल है, तब तक बन्धन और अलगाव बना ही है। टकराव, भटकाव और उलझाव अन्तहीन रूप से जारी है। . . और देख रहा हूँ कि सहसा ही, इस महारंगमंच के हम सारे ही अभिनेता, एक झटके के साथ नितान्त अकेले पड़ गये हैं। झनझना कर साँकल टूट पड़ी है। कड़ियाँ बिखर कर अपने-अपने एकान्तों में जा पड़ी हैं, और छटपटा रही हैं। संवाद और सम्प्रेषण की सीमान्तिक खिड़कियाँ अचानक बन्द हो गई हैं। मन और इन्द्रियों ने जवाब दे दिया है। उन्होंने अपनी सीमा और हार स्वीकार कर ली है। एक गत्यावरोध के मानुषोत्तर पर्वत ने हमारी चेतना की राहें रूँध दी हैं। एकलता के इस महाशून्य तट पर हम सब, हाय, कितने-कितने-कितने अकेले हैं!

याद आ रहा है, षड्‌गमानि ग्राम के उपान्त भाग में उस दिन कायोत्सर्ग में प्रवेश करते ही, कैसी भयावह नियति की पदचाप समस्त आकाश-नाड़ी में ध्वनित सुनाई पड़ी थी। . . और फिर उस गोपाल ने जब शल्य द्वारा मेरा कर्णवेध किया, तो लगा कि मेरी चेतना में जो बहुत गहरे कहीं एक दरार छुपी थी, वह नग्न होकर सामने आ गई। उस महावेदना में, एकाएक मैं अवश चीत्कार

उठा अपने बावजूद 'माँ' ! ससार के प्रत्येक प्राणि और वस्तु का अनाथत्व उस में अनुगुंजित हो उठा। वह पुकार मानो कही अन्तिम शरण पा जाने के लिए थी। पर क्या वह शरण अपने से अन्य में और अन्यत्र कहीं सम्भव है ? और वह चीख जैसे अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डों को विदीर्ण कर गई। समस्त विश्वात्मा के हृदय मे जैसे दरार पड़ गई , या कि वह दरार चिरकाल से वहाँ थी, और उस आघात से वह खुल कर सामने आ गई ?

. . बस, उसी क्षण मै अन्तिम रूप से अकेला पड़ गया था। मानो अपने ही से बिछुड़ गया था। अपने ही ऊपर, कैसी दया, करुणा आ गई थी। मानो अपने ही लिए पहली बार रो उठा, ओर कही किसी माँ मे शरण खोजी। पुकार उठा · 'ओ माँ, तुम कहाँ हो ?' वह रोना नितान्त अपने ही लिए हो कर भी क्या सब के लिए नही था ? क्या त्रिशला की विरह-वेदना उसमे नही थी ? क्या चन्दना की भटकने, खोज, सकट-सघर्ष, उच्चाटन, उसकी अन्तहीन पुकार का प्रतिकार उसमे नही था ?

. . ओह, लग उठा था कि हाय, कितना अनिश्चित, अरक्षित और घात्य है यहाँ हमारा अस्तित्व ! रोग, शोक, जरा, वियोग, अकस्मात्, मृत्यु के चगुल मे ही हम प्रतिपल जीते है। क्या कोई ऐसा जीवन सम्भव नहीं, जिसके हम स्वामी हों, जिसमे क्षय, मृत्यु और वियोग मात्र हमारे अधीन अनिवार्य सज्ञान अवस्थाएँ हों ? जिनमे से हम यों गुजर जाये, जैसे ऊपर की मजिल मे चढ़ने के लिए, हमे निचली मजिल को पीछे छोड़ देना होता है।

सिद्धार्थ वणिक और खरक वैद्य द्वारा शल्य मुक्ति पा कर जब चला, तो कितना अकेला पाया था अपने को मगध की राह पर। बिछोह की उस अनुभूति को, किसी भी मानवीय वियोग के परिप्रेक्ष्य मे नही समझा जा सकता। 'माँ' की अवश पुकार जब 'आत् . . मा' मे प्रतिध्वनित हुई, तब भी क्या खोज उस एकमेव माँ और रमणी की ही नही थी, जिसकी गोद मे ही परम विश्राम ओर मुक्ति सम्भव है ?



. . और मै चेलना के देश चला आया। और तब क्या नही दिया मुझे चेलना ने ? संसार मे उससे बड़ा सुख और क्या हो सकता है ? प्रीति और आत्मार्पण की उस यज्ञशिखा से अधिक सुन्दर और कोन चेहरा हो सकता है ? आत्मा की चरम विरह-व्यथा से विदग्ध वह दर्दीली मुख-मुद्रा ! पर हाय, फिर भी क्या चेलना मुझ मे सम्पूर्ण आ सकी, या मै उसमे सम्पूर्ण जा सका ? क्या वह मै हो सकी, या मै वह हो सका ? अन्तिम बिछोह के तट पर, कितने विवश अपने मे बन्द, मूक, हम एक-दूसरे को ताकते रह गये ! तलछट तक एक-दूसरे को जानकर भी, कैसे घोर अज्ञान के पहचानहीन अँधियारे समुद्र मे हम छूट गये। तूफानी लहरों मे डूबते मस्तूलों-से हम एक-दूसरे की नजरों से ओझल होते चले गये। . .

श्रेणिक भी एक और निमित्त बना, अपनी पहचान के संघर्ष का। मगध मे मेरे यों निश्चल खड़े रहते, उसे अपने अस्तित्व के अहं को टिकाये रखना अशक्य हो गया। और मै मनुष्य के उस चरम अहं से जूझे बिना अपने आत्म के ध्रुव पर कैसे आरूढ़ हो सकता था। मानो कि श्रेणिक मेरी

कसौटी था। मानो कि वह मेरी सत्ता के माप का मेरुदण्ड था। और उस पर अपने अनन्त को सिद्ध किये बिना मैं जैसे अपनी आत्मा का चेहरा अनवगुण्ठित नहीं कर सकता था। मानो कि श्रेणिक से निवृत्त हुए बिना, उसे उद्बोधे और उबारे बिना, जैसे मैं स्वयं आप नहीं हो सकता था। सो अन्त तक उसे सम्बोधन किया, सब को सम्बोधन किया।

. . और अचानक पाया कि संवाद-सम्प्रेषण की खिड़कियाँ धड़ाम् से एकाएक बन्द हो गयी हैं। हम सब अपने-अपने में लौट गये हैं। एक आदिम अन्धकार के समुद्र में कीलित, दूर-दूर पर छिटके अनेक द्वीप, जो अपने ही भीतर की खन्दकों में अवरुद्ध हैं।

. . जगत, जीवन, व्यक्ति, वस्तु, सब के साथ अब तक जिस चेतना-स्तर पर सम्प्रेषण और सम्वाद सम्भव था, वह सब पीछे छूट गया है। वहाँ लौटना अब सम्भव नहीं। वहाँ गत्यावरोध और कुंठा की आखिरी चट्टान सामने आ गई, तभी तो वहाँ से उच्चाटित और उत्क्रान्त हो जाना पड़ा। अब इस एकलता के सीमाहीन शून्य में, किसी नये क्षितिज की कोर देखने को प्रतिक्षण छटपटा रहा हूँ। अपनी पिछली पहचान हाथ से निकल चुकी है। और अगली पहचान अब मैं नहीं खोज रहा। क्या कोई एकमेव और अविकल पहचान मेरी नहीं ? वह जब तक हाथ में न आ जाये, तब तक कैसे जान सकता हूँ, कि 'मैं कौन हूँ ?' और जब तक अपने ही को अन्तिम परिप्रेक्ष्य में न जान लूँ, तब तक औरों को अन्तिम रूप से जान लेने का दावा कैसे कर सकता हूँ।

. . जहाँ आज खिड़कियाँ बन्द हो गई हैं, क्या उससे आगे वस्तुओं और व्यक्तियों पर कोई ऐसा सम्पूर्ण मण्डलाकार वातायन नहीं खुल सकता, कि जिसके तट पर मैं उनके भीतर अबाध संक्रमण और अतिक्रमण करूँ, और वे मेरे भीतर बेरोक और अनाहत भाव से आलिंगित होते चले आयें। ' . . मैं हूँ, और वे हैं। मैं कौन हूँ, वे कौन हैं ? उनसे मेरा क्या सम्बन्ध है ? उन्हें मैं कैसे पूर्ण जानूँ, पूर्ण प्राप्त कर लूँ ? कैसे उनसे अनिवार तदाकार हो रहूँ ? कैसे मैं वे हो जाऊँ, वे मैं हो जायें ?'—ये सारे विकल्प जहाँ समाप्त हो जायें। बस, केवल विशुद्ध स्व-भाव में ऊर्मिल वह समुद्रानुभूति रह जाये, जिसमें तरंग का समुद्रत्व और समुद्र का तरंगत्व स्वतः ही निर्णीत होता रहे। जहाँ स्व-पर, द्वैत-अद्वैत, नित्य-अनित्य से परे, स्वायत्त सत्ता में सारे अस्तित्व आप ही प्रबुद्ध, परिभाषित, सहज सम्बन्धित होते रहें। जहाँ आत्म-सम्वेदन और आत्म-ज्ञान, पर-संवेदन और पर-ज्ञान भी, उस एकमेव ज्ञानानुभूति में लौ-लीन हो जाये, जहाँ अलग से जानना और अनुभव करना तक अनावश्यक हो जाये।

ऐसा लग रहा है, कि एक बार सत्ता की उस शुद्ध पारिणामिक स्थिति में आत्मोत्तीर्ण हुए बिना, आत्मा और पदार्थ, जीवन और जगत के साथ वह सम्प्रेषण और सम्वाद सम्भव नहीं, जिसे पाये बिना मुझे विराम नहीं। जिसके बिना मानो मैं एक सत्ताहीन शून्य के तट पर, सदा के लिए जैसे निर्वासित हो गया हूँ। जिसके बिना अब क्षण भर भी सत्ता में मेरा ठहराव सम्भव नहीं।

क्या यह एकाकीपन ही मेरी और सब की अन्तिम नियति है ? या कोई ऐसा एकत्व भी कहीं सम्भव है, जहाँ अलगाव नहीं, बिछोह नहीं ? यहाँ तो ज्ञान तक एक पारदर्श स्फटिक की महीन किन्तु अभेद्य दीवार बन कर, हम सबको असंख्य कोणों, आयामों, आकारों में खण्डित, विभाजित कर छोड़ता है। क्या कहीं कोई ऐसा सामरस्य सम्भव है, एक ऐसा अगाध और अकथ मिलन-सुख, मैथुन-सुख, जिसमें प्रतिक्षण द्वैत अद्वैत और अद्वैत द्वैत होता रहता है ? जिसमें एक

में अनेक और अनेक में एक का लीला-खेल अविनाभावी भाव से चलता रहता है। जहाँ एक ही अन्तर-मुहूर्त में पूर्णज्ञान ही पूर्ण सम्वेदन, और पूर्ण सम्वेदन ही पूर्ण ज्ञान होता रहता है।

. . असीम परिणमन के समुद्र पर एक अकम्प लौ, जिसमें सारा समुद्र अपनी अनन्त वासना के साथ निरन्तर एकाग्र आलोड़ित है।



देखता हूँ, कि एक अनुप्रेक्षण मेरे भीतर चल रहा है। लगता है कि यह संसार मानो एक विशाल करण्डक की तरह मेरे सामने उपस्थित है। इसकी परस्पर बुनी-गुँथी तीलियाँ अपने ही आपको धोखा दे गई हैं। और मेरी नासाग्र दृष्टि के भेदन से वे छिन्न-भिन्न हो कर इस करण्डक के सारे गोपित उलझावों और रहस्यों का पर्दाफाश कर देना चाहती है। . . और यह संसार मेरे सम्मुख यों खुल रहा है, मानो हर पिटारी के भीतर से एक और बन्द पिटारी निकल कर सामने आ जाती है। पिटारी के भीतर पिटारी, पिटारी के भीतर पिटारी, एक और . . एक और . . एक और पिटारी। बचपन में माँ की कही एक कहानी में, ऐसी ही एक आदि वृद्ध बुढ़िया की रहस्यमयी महा पिटारी की बात आती थी। हर दिन वह बुढ़िया पिटारी में से एक और पिटारी निकाल कर उसके तिलस्मों का वर्णन करते न थकती थी। और आखिर हर पिटारी का तिलस्म औचक ही टूट जाता था, और बुढ़िया हाय-हाय कर विलाप करने लगती थी। मुझे उसके साथ कैसी हमदर्दी और असह्य सहवेदना अनुभव होती थी । . .

आज उसी महाकरण्डक की कथा, मेरे लिए सत्यान्वेषण का एक माध्यम बन गयी है। और इस जगत के मोहक इन्द्रजाल एक-एक कर बुढ़िया के उन तिलस्मों की तरह टूट रहे हैं। इस हद तक, कि अपने इस द्रष्टा को ठहराने के लिए हर उपलब्ध पृथ्वी छोटी पड़ रही है। ठहराव का हर पटल हाथ से निकला जा रहा है। . . कहाँ, कितनी दूर है वह ध्रुव, जिस पर अविचल रूप से टिका जा सके, अवस्थित हुआ जा सके। कहीं कोई ध्रुव है भी, या नहीं ?

और अतिक्रमण की इस प्रक्रिया के दौरान, सहसा ही जैसे परिप्रेक्षण की एक नयी दृष्टि किसी अदृष्ट में से उतर आई कुंजी की तरह मेरे सामने तैर आई है। . .

स्पष्ट प्रतिबोध पाया कि अब तक मैं किसी आत्मा को पूर्व-स्थापित कर, उसी के चश्मे से अस्तित्व को देखता था, और उसकी एक मूलगत व्याख्या करता चला जाता था। तत्व से आरम्भ करके अस्तित्व तक जाता था। अपने ही आत्म में अवस्थित हो कर, अस्तित्व की सारी विषमता, जटिलता और त्रासदी को व्यर्थ कर देता था। तत्व में अस्तित्व को निर्वापित कर, मानो उससे पलायन कर जाता था। शायद यही कारण हो कि अस्तित्व के विराट् अनेकत्व और वैविध्य के साथ अचानक, पराकाष्ठा पर पहुँच कर, मेरा संवाद भंग हो गया है। जीवन्त अस्तित्व को, उसके दुःखों, संघर्षों, सन्त्रासों, विसम्वादों सहित अणु-प्रति-अणु, कोण-प्रति-कोण, जिये-भोगे अवगाहे-जाने बिना, उसके साथ अनैकान्तिक तत्व को कैसे समग्र आश्लेषित किया जा सकता है ?

इस सीमाहीन अस्तित्व को, इसकी नानामुखी विराट् त्रासदी के साथ, समूचा साक्षात् करना

होगा। इसे तत्व में विसर्जित किये बिना, इसके बहुत्व और वैषम्य को ज्यों-का-त्यों, जैसा वस्तुतः सामने है, वैसा देखना, भोगना और जानना होगा। इसकी भयावहता और त्रासदी का बेशर्त, निर्विकल्प मुक़ाबिला करना होगा। इसे अपनी धारणाओं से व्याख्यायित नहीं करना होगा, निर्विचार और निःसंग संचेतना से इसके साथ टकराना होगा। नहीं, न अस्तित्व का कोई वाद बनाना होगा; न तत्व का। निर्विवाद और निर्विकल्प वस्तु-स्थिति जो, जैसी सामने आ रही है. जैसी वह उपलब्ध है, उसी में अपने को घटित देखना और समझना होगा। अपने को पूरा जानने ओर पाने के लिये, सर्व के साथ सम्पूर्ण उलझाव अनिवार्य है। . .

. . और इस प्रकाण्ड बिल्लौरी करण्डक का रंगीन तिलस्मी पर्दा, विपल मात्र में चरचरा कर जीर्ण वस्त्र की तरह फट गया। . . और देख रहा हूँ, कि यहाँ के ये सारे रूपाकार प्रतिक्षण विनाश से ग्रस्त हैं। जो रूप, जो आकार, जो चेहरा पिछले क्षण सामने था, वही अगले क्षण नहीं है। हर आकार, हर चेहरा अपने को धोखा देता चला जा रहा है। अपना ही यह शरीर, यह चेहरा अपना नहीं है, अपने वश में नहीं है! एक विराट अनित्यत्व में ही यह सारा खेल चल रहा है।

याद आ रहे हैं, बेशुमार परिचित आत्मीय चेहरे। जाने कितने व्यक्तियों, वस्तुओं के समास से बने महल, मकान, मुकाम, जिनमें हम अपना घर खोजते हैं, जिनमें लौट कर विराम-विश्राम पाने की भ्रांति में होते हैं। पर वे सब अपने ही साथ घर पर नहीं हैं, एक मुक़ाम पर नहीं हैं। वे प्रतिक्षण परिवर्तमान हैं। अपनी किसी एकमेव इयत्ता से वे स्वयं ही अनजान हैं। उनमें घर, सुरक्षा या आश्वासन कैसे पाया जा सकता है? जो घर स्वयं ही अपना नहीं है, अपने में नहीं है, उसमें अपने लिए घर कैसे पाया जा सकता है?

याद आ रहा है अपना वह बालक, वह किशोर, जो खेलते-खेलते अचानक अटक जाता था। खेल से उसका मन उचट जाता था। खेल से छिटक कर वह बाहर खड़ा हो जाता था। खेल में आनन्द लेना उसके लिए अशक्य हो जाता था। . . सो उससे पीठ फेर कर, उदास मुँह लटकाये, वह दिशाहीन राह पर भाग खड़ा होता था। और वह मन-ही-मन काँप उठता था: ' . . आह, खेल, जो एक दिन अचानक रुक जायेगा। खेल के साथी, जो अभी हैं, वे कभी न कभी बिछुड़ जायेंगे, और फिर कभी न दिखायी पड़ेंगे। . . और याद आता है हिरण्यवती पार का वह सल्लकी-वन, वह खेल का प्राँगण, जो अब सूना, उदास, नीरव पड़ा होगा। . . खेल जो अभी खेला है, वह फिर नहीं लौटेगा। वही लड़के-लड़कियाँ नहीं लौटेंगे, जो कल खेल में साथ थे। . .'

नन्द्यावर्त में नव-आयोजित सरस्वती-भवन में कभी कुछ सीखने या करने को जी न चाहा। वातायन और गैलरी पर खड़े हो कर, बादलों में उठते नवनवीन महलों की जादुई भीतरिमाओं में अपने स्वप्न का सौन्दर्य खोजता था, अपना मनचाहा चेहरा और संगी टोहता था। . . और देखते-देखते पाता था, कि नवनव्य महलों की वह सौन्दर्य-माया जाने कहाँ तिरोहित हो गयी है . . नील शून्य के अथाह में अकेला छूट गया हूँ। नन्द्यावर्त की वह गैलरी मानो वहाँ से कट कर, जाने किसी अज्ञात तट के कोहरे में विलुप्त हो गई है। कोई घर कहीं पीछे नहीं छूटा है, जहाँ लौटा जा सके।

. . ठीक आँख के सामने सिरा जाते अनेक माता-पिता देखता था। कितनी माँओं की

ममताली ऊष्म गोदियाँ जल-बुद्बुद की तरह विलीन होती दीखती थीं। तब अपनी ही माँ की वे कमनीय सुन्दर भरी-भरी बाँहें, उसकी वह अथाह गोद, उसमें गोपित वह सुरक्षा और शरण सब जैसे बर्फ के निर्जन निचाट, सपाट मैदान हो रहते थे, जहाँ दिगन्तों तक किसी के होने का कोई निशान नहीं, कोई अहसास नहीं। तब कितना अकेला उदास हो कर अपने उस स्फटिक कक्ष के नैर्जन्य में घंटों-पहरों बन्द हो रहता था। प्राण कौंद-कौंद उठते थे। रो कर भी जैसे उस वेदना से मुक्ति नहीं। क्योंकि कौन, किसके लिए रोये, क्यों रोये ? आखिर कोई एक, अविचल, अक्षुण्ण कुछ हो तब न ? विरह भी किसका, जब किसी के होने का कोई निश्चय नहीं, प्रतीति नहीं। . .

. . फिर भी जीवन का खेल खेलने को विवश तो था ही। महलों की सुखशैया से उच्चाटित हो कर वीरानों, पर्वतों, जंगलों, नदियों के प्रवाहों पर क्या खोजता फिरता था ? शायद यही, कि क्या विविध रूप-आकारों के इस नानारंगी जगत् में कोई ऐसी आकृति, ऐसा चेहरा, ऐसा व्यक्तित्व है, जिसे अन्तिम रूप से अपना कहा जा सके ?

अनोमा-तट के शालवन की वह बालिका शालिनी, उस क्षण कितनी सत्य लगी थी ? और फिर विराट् विन्ध्यारण्य में, मानो शाश्वत विन्ध्याचल में से ही आविर्भूत हो गई, वह प्रकृत बाला काली मिली थी। पर्वत की चट्टान के भीतर से अपना सुकठिन वक्षालिंगन उसने मुझे अनुभव कराया। पर क्या उसका यह मिलन किसी नित्यत्व की अनुभूति करा सका ?

. . उस दिन अचानक चन्दना कैसी विकल साध लेकर मुझ से मिलने नवम् खण्ड के कक्ष में आई थी! उसे सम्मुख पा कर कैसे शाश्वत सौन्दर्य के साक्षात्कार की अनुभूति हुई थी। लेकिन वह चन्दना क्या स्वयं अपनी भी रह सकी, अपने ही साथ अपने घर ठहर सकी ? भटकती ही चली गई वह, उस वर्द्धमान की खोज में, जो स्वयं ही अपने आप से नाता तोड़, जाने किस 'आत्म' की खोज में अभिनिष्क्रमण कर गया था, जिसे वह जान कर भी जानता नहीं था। जिस वर्द्धमान को स्वयं ही अनेक विनाशों और मौतों से जूझते चले जाना पड़ा, अपने को रखने और पाने के लिए।

. . और कहाँ-कहाँ न भटकी वह चन्दना ! कैसे-कैसे कष्ट उसने झेले ! क्या मैं उसका साथ दे सका ? क्या वह मेरा पीछा कर मुझे पकड़ सकी ? और फिर कौशाम्बी की उस हवेली के तलघर की देहरी पर, बेड़ियों जकड़े पैरों वाली उस बन्दिनी चन्दना से साक्षात् हुआ था। उसका वह बाला-सौन्दर्य जाने कहाँ खो चुका था ! उसका वह आम्रपाली के केशकलाप को भी लज्जित कर देने वाला केश-वैभव कहाँ चला गया था ! मुण्डिता, दासी, बन्दिनी, विवश, लाचार, भूखी-प्यासी, उस अतिथि की प्रतीक्षा में आकुल, जो आया भी, तो बेड़ियाँ भले ही टूटी हों, स्वर्ग से मणि-मुक्ता भले ही बरसे हों, —पर वह अतिथि क्या रुक सका ? क्या वह चन्दना को और भी बड़े और चरम विरह का आघात देकर, उससे पीठ न फेर गया ? क्या उसकी पुकार को अनुत्तरित छोड़, वह अपनी राह पर एकाकी पलायन न कर गया ?

कितना न प्यार मेरे जीवन में आया। माँ और पिता की वैभव और ऊष्मा से लचकती गोदियाँ। शालिनी, काली, चन्दना, चेलना, आम्रपाली, श्रेणिक, . . ओह, याद आया, अभिन्न लगता मित्र सोमेश्वर, और वह निरी विदेहिनी आत्मा लगती सुकोमला बाला वैनतेयी। और वे

आर्यावर्त की चुनिन्दा श्रेष्ठ सुन्दरियाँ, जिन्होंने अपने अंग-अंग से, मेरे अंग-अंग और अणु-अणु को दुलराया। जिनके लावण्य और यौवन ने मुझे चारों ओर से ढाँप कर, मेरे समूचे अस्तित्व को उमड़-उमड़ कर पिया और कृतार्थ किया। कितने सुन्दर ममताविल मुखड़े, कितनी बलाएँ लेती बाँहें, ओवारने लेते आँचल, मुझे बाँधने को मचलती कितनी परस-कातर भुजाएँ, उफनाती गोदियाँ। प्यार और सौन्दर्य के कितने समुद्र मेरे चारों ओर उमड़े। पर . . पर . . कहाँ है आज वह सारा वैभव ? वे सारे प्यार, सौन्दर्य, कोमलताएँ —मेरे हाथों की अँजुलियों में से आरपार बह जाती लहरों की तरह, काल के जाने किन अज्ञात तटों में जा कर विलीन हो गये।

. . कितने रूप, आकार, मुखड़े, यौवन से प्रदीप्त चेहरे, कितने आत्मीय परिचित व्यक्तित्व। कितने वैभव, ऊष्मा भरे महल, नगर, साम्राज्य, सत्ताएँ। महाकाल के समुद्र पर भव्य तरंग-मालाओं की तरह उठे, और विलीन हो गये। कल तक जो दिखाई देता था, वह आज कहीं नहीं है, फिर कभी न दीखेगा। और हम शायद उसे भूल भी जायेंगे।

तो क्या रूप-नाम-वैविध्य, आकार-प्रकार का यह जगत कोई अस्तित्व नहीं रखता? क्या इस बदलती रूप-पर्यायों का कोई अर्थ नहीं, अभिप्राय नहीं, कोई सार्थकता नहीं ? . . किन्तु जब ये आविर्भान होते हैं, अनेक सम्बन्धों में घटित होते हैं, तो इनकी कोई मौलिक सत्ता तो होनी ही चाहिए इनका प्रकट होना ही अपने आप में, इनका अर्थ और प्रयोजन सूचित करता है। तो निश्चय ही कोई सत् पदार्थ होना चाहिए। कोई सन्दर्भ, कोई परिप्रेक्ष्य, कोई स्त्रोत होना चाहिए, जहाँ से ये आते हैं, और जिसमें फिर पर्यवसान पा जाते हैं। कोई ऐसा शाश्वत, नित्य आयतन-आधार होना चाहिए, जिसमें ये उठते और मिटते हैं। क्या वह मूल द्रव्य, वह पदार्थ, वह सत्ता ध्रुव नहीं, जिसमें से ये सारी पर्यायें सम्भव होती हैं ? अनन्त-सम्भव द्रव्य यदि सत् है, नित्य है, तो ये पर्यायें भी क्या अपने सारे परिवर्तनों के बावजूद, अपने घटित होने के भाव और अर्थ-प्रवाह में कोई शाश्वत अभिप्राय नहीं रखतीं ?

प्रतीति हो रही है, कि सत्ता अपने उत्पाद और व्ययात्मक परिणमन में अनित्य होते हुए भी, अपने किसी ध्रुवत्व में नित्य भी है। वह नित्य भी है, अनित्य भी है। नित्यानित्य हो करद्रइन दोनों से परे, बस, वह केवल है। और उस नितान्त होने में—क्या त्रिशला, वैनतेयी, चन्दना, चेलना, सोमेश्वर—हर सम्भाव्य व्यक्ति और सम्बन्ध, अपनी भाव-सत्ता में, अर्थवत्ता में नित्य सार्थक नहीं है ? निश्चय ही है। पर यदि अन्यथा कुछ है, तो उसका भी मुझे प्रत्यक्ष साक्षात्कार करना होगा।

मन के पार जाना होगा

श्रुतिज्ञान और अवधिज्ञान लेकर जन्मा था। सारे शास्त्र मुझ में कमलदल की तरह खुलते रहते थे। और देश-काल में अवधि बाँध कर, वहाँ के हर लक्षित व्यक्ति, वस्तु, घटना, स्थिति, सम्बन्ध का मनचाहा ज्ञान पा लेता था। मानो कि किसी तीसरी आँख से बहुआयामी विश्व-घटना को अभीष्ट खण्डों में देख लेता था। यह अलग बात है, कि उसका उपयोग करने की कोई इच्छा मुझ में नहीं

थी। जब अनिवार्य होता था कुछ जानना, तो भ्रूमध्य में एक लौ-सी उजल उठती थी, और उसमें लक्षित दृश्य झलक उठता था। वर्ना तो जीवन के हर व्यवहार में, अपनी एकाग्र आत्मिक ऊर्जा के साथ ही प्रवृत्त रहता था। अपने सम्वेदन से ही हर कुछ के साथ सम्पृक्त होना चाहता था।

. . फिर जब ज्ञातृखण्ड उद्यान में अनायास दिगम्बर हो गया, तो मेरी महाव्रती प्रतिज्ञा की असि-नोक पर सहसा ही मेरी चेतना मनःपर्ययज्ञान से भास्वर हो उठी। . . मनुष्य लोक में विद्यमान तमाम पर्याप्त और व्यक्त मन वाले पंचेन्द्रिय प्राणियों के मनोगत भाव मेरी अन्तश्चेतना में प्रत्यक्ष हो उठे। मैं मन-मनान्तरों का प्रवासी हो गया। . .

फिर कटपूतना के हिमपात-उपसर्ग के समापन में मुझे एकाएक लोकावधि ज्ञान उपलब्ध हुआ। . . मानो किसी कल्पवासी देव के स्वर्गिक विमान की कर्णिका पर खड़ा हूँ, और लोक में जहाँ तक चाहूँ देख सकता हूँ। . .

इतनी बड़ी ज्ञान-सम्पदा का स्वामी मैं, भले ही सारे तनों और मनों को पर्त-पर्त में देख सकता हूँ, पर उनके साथ तद्रूप नहीं हो सकता। उनकी आत्मा में आत्मा उँड़ेल कर भी पाया है, कि मेरी आत्मा उस आत्मा का उत्तर बनने में विफल रही है। बार-बार लगा है, कि मेरी गहराई ने मेरे प्रियपात्र की गहराई में अवगाहन किया है। . . लेकिन देखता हूँ, कि गहराई अपनी जगह है, और हम दोनों उसके विरोधी किनारों पर छिटके, बिछुड़े खड़े रह गये हैं। . . जब तक यह बिछुड़न है, तब तक इस ज्ञान का क्या उपयोग ? नहीं, यह काफी नहीं है। मुझे आगे जाना होगा। और मैं अपने भीतर की ओर, जैसे तेजी से अभियान कर गया। . . बाहर जहाँ चाहूँ, तत्काल पहोंच जाने के लिए। हर स्थिति का साक्षी होने के लिए।



. . और देखता हूँ कि एक जीर्ण हवेली के, किसी एकान्त कक्ष में उपस्थित हूँ। सारे कमरे में एक ध्वंस की मौन छाया फैली है। मीना-खचित दीवारों पर धूल जमी है, वे तड़क गई हैं। छत की मध्यवर्ती विशाल झूमर दीपकहीन और म्लान टँगी है। एक मर्मर के भग्न दीपाधार पर साधारण तैल-दीप जल रहा है। उसकी मद्धिम रोशनी में दिखाई पड़ा : कोने के टूटे पलंग पर एक तन्वंगी रोगिणी लेटी है। क्षयी चाँद की अन्तिम कला की तरह पाण्डुर। उसके सिरहाने उसका पति सिर झुकाये चुप बैठा है। उसकी आँखें एकटक रोगिणी की आँखों में लगी हैं। . . एकाएक विह्वल हो कर उसने अपना माथा रोगिणी की छाती पर ढाल देना चाहा।

'नहीं . . नहीं स्वामी. . नहीं !'

'उत्पला, और मैं कहाँ जाऊँ ?'

'वह अब कहाँ ? मैं अब कहाँ ? . .'

'यहीं हो न, मेरी बाँहों में ?'

'नहीं, उनसे बाहर हूँ। सारे जगत से बाहर हूँ। एकदम अकेली हूँ . . . !'

'चुप-चुप, चुप करो उत्पला, मुझे शरण दो इस छाती में। . .'

'जो छाती ही क्षण भर बाद रहने वाली नहीं है, उसमें शरण खोज रहे हो, सागर?'

रोगिणी की आवाज़ आँसुओं में डूब गई।

'वह छाती नहीं रहेगी, जिसके लिये मैंने सारे जगत से मुँह मोड़ लिया ? . . याद करो उत्पला, वह पहला दिन। उज्जयिनी में उस दिन अपने द्वार-पौर में तुम चौखट पर सिर ढाले खड़ी थीं। तब तुम्हारे आँचल और कंचुकी से झाँकती जो वक्ष-कोर देखी थी, क्या वह नहीं रहेगी ? ऐसा हो नहीं सकता। उस कोर तले जो उभार और गहराव छुपा देखा था, उसमें सिर ढालने को मैं उस क्षण पागल हो गया था। लगा था, इस छाती को प्राप्त किये बिना जिया नहीं जा सकता। . .

'व्यवसाय के लिए उज्जयिनी आया था, वह भूल गया। माँ-बाप की सुधबुध खो गई। पास का सहस्रों सुवर्ण द्रव्य उज्जयिनी की गलियों में बह गया। बरस पर बरस बीतते चले, पर तुम्हारी चितवन मेरी ओर न उठी। मैं तुम्हारा हृदय न जीत पाया। . . लेकिन जब पहली ही बार तुम्हारी निगाह मेरी ओर उठी, तो लौट न सकी। . . तुम मानो उसी दिन अपने पिता के वैभव-महल की सीढ़ियाँ उतर गईं। . . निपट एक-वस्त्रा करके तुम्हारे पिता ने तुम्हें निकाल बाहर किया। और तुम मेरे पीछे चली आईं। हमने गान्धर्व विवाह किया। और पहली रात जब तुम्हारी उस वक्ष-कोर पर सिर ढाला तो लगा—कि हाय, परम शरणाधाम है यह छाती। मेरा एक मात्र अभीष्ट मोक्ष। . . उस मोक्ष में ही तो इस क्षण तक जीता रहा हूँ, उत्पला !

'लेकिन जब मुद्दतों बाद तुम्हें लेकर चम्पा लौटा, तो माता-पिता मर चुके थे। हवेली ध्वस्त-परित्यक्त पड़ी थी। नगर-जनों ने मुझे पहचानने तक से इनकार कर दिया। . . खैर, आख़िर किसी तरह हमने हवेली में प्रवेश पाया। धूल-जालों से ढका मेरा पैतृक ऐश्वर्य ध्वंस के ढेर-सा पड़ा था। इसी विनाश के बीच हमने अपने प्यार का पलंग बिछाया। तुम्हारी इस वक्ष-कोर से क्षणभर भी दूर रहना मुझे सदा असह्य रहा। . . वह वक्ष नहीं रहेगा ? हो नहीं सकता, उत्पला !'

'हो गया देवता ! सामने आना बाकी है। . . उस वक्ष को राजयक्ष्मा हो गया, सागरसेन ! उसमें छिद्र पड़ गये। उसमें जन्तु लग गये। वह जन्तुओं का खाद्य हो गया। और अब हड्डियों की राख . .'

'ओह उत्पला, मेरी शरण, मेरी मोक्ष ! ऐसा न कहो। सहन नहीं होता।'

'सच ही तो कह रही हूँ। किसी भी क्षण अब यह शरीर छूट सकता है, सागर ! यह मेरा ही शरण नहीं, मोक्ष नहीं, तो तुम्हारा कैसे हो सकता है ? . . नहीं मुझसे नहीं सहा जाता। हटा लो सिर। तुम्हारे सिर को झूठ में पड़ा नहीं देख सकती !'

'नहीं, यह मेरे लिए झूठ नहीं। . . लाओ, लाओ, लाओ मेरी छाती मुझे दो, पल्ली !'

सागरसेन उद्‌भ्रान्त विह्वल होकर उस अस्थिशेष वक्ष में आलोड़ित होने लगा। उत्पला को उत्कट खाँसी का दौरा पड़ा। उसने ढेर सारा खून उगल दिया। वह मृतवर्त ढलक पड़ी। कुछ क्षणों बाद बहुत क्षीण कंठ से वह बोली :

'देखो, यह है तुम्हारा प्यारा वक्ष। यह दुर्गन्धित सड़े रक्त का ढेर !'

और उसकी मुँदी आँखों से आँसू चूते आये।

'पल्ली, तुम इससे अधिक हो मेरे लिए। इससे अतिरिक्त बहुत कुछ हो। . .'

'छाती खाली हो गई, सागर ! खोखल ! आह, साँस . . साँस . . '

और उत्पला पर भयंकर श्वास का आक्रमण। अन्तिम साँसे।

'अरिहन्त . . अरिहन्त . . हंस . . हंस . . ! सागर, अपने में सुखी रहना। . . श श . . शरण . . मो मो . . मोक्ष के वल वहीं है। . . मै चली, सागर ! . . '

सहसा ही दीप निर्वाण हो गया। और उस अँधेरे मे हंम पलायन कर गया।

चीख कर सागरसेन शव के वक्ष से लिपट गया, और उस पर सर रगड़-रगड़ कर रोने लगा।

'मैं भी आया पल्ली, इसी छाती पर सर ढाले तुम्हारी चिता मे तुम्हारे साथ जलूँगा। . . '

. . और हठात् उस अँधियारे कोने में से सुनाई पड़ा :

'किसके साथ जलोगे चिता पर ? उत्पला वहाँ नही होगी। लाश की छाती पर जलोगे ? लाश, जिसकी नियति सिर्फ खाक हो जाना है। बुज्झह, बुज्झह, सागरसेन ! '

'मुझे मेरी उत्पला चाहिए ! '

'उस रूप मे अब वह नही मिल सकती।'

'तुम कौन हो ?'

'तुम्हारी आत्मा ! महावीर ! '

'भगवन्, आप यहाँ ? कोन . . कैसे . . ?'

'प्रत्यक्ष को प्रमाण क्या ! '

'भन्ते, क्या उत्पला की आत्मा मे मै जा नही सकता ?'

'महावीर स्वयं अपने से यह प्रश्न पूछ रहा है ! '

'भगवन्, त्रिलोकीनाथ, आप कही कैसे अटक सकते है ?'

'अटका हूँ, तुम्हारी आत्मा के द्वार पर। और कितना चाहता हूँ, कि मैं तुम्हारा सम्वेदन बन जाऊँ, तुम्हारी आत्मा बन जाऊँ, उत्पला की आत्मा बन जाऊँ। और तुम दोनों मेरे भीतर दो जोतों की तरह आलिंगित हो जाओ। लेकिन . '

'भगवन्, आप और लेकिन ?'

'देख रहा हूँ, जानने-समझने से आगे तुम्हारे भीतर मेरी गति नही है, सागर ! एक पूर्ण सहानुभूति है। समवेदन है। लेकिन अन्तर्वेदन नही . . ! तुम्हारे भीतर वेदन नही कर सकता। तुम्हारे साथ तुम्हारे भीतर मै सहन नही कर सकता। हम सब अलग-अलग। अकेले। असंख्य द्वीप आत्माओं के। बीच में है केवल ज्ञान का जल। अज्ञान के अँधेरे से ढँका हुआ। ज्ञान की इन लहरों में हम एक-दूसरे को आरपार देख सकते हैं। पर एक-दूसरे मे आरपार तदाकार नहीं हो सकते।

'कोई किसी का शरण, आधार नहीं हो सकता यहाँ, सागर ! स्वयंशरण ही एकमात्र नियति है, सत्य है। . . '

'लेकिन . . '

'महावीर, और फिर लेकिन ?'

'मैं आगे जाना चाहता हूँ, सागर ! ज्ञान से आगे है, महाभाव संवेदन, आत्म-वेदन। ऐसी

सहानुभूति, जो परस्पर एक-दूसरे की आत्मानुभूति हो जाये।'

'धन्य, धन्य, भगवान् !'

'मैं ज्ञानातीत एकत्व की महाभाव सत्ता में जाना चाहता हूँ। भिन्न ही नहीं है, अभिन्न भी है। द्वैत ही नहीं, अद्वैत भी है। . .'

'शाश्वत वर्द्धमान हैं आप, भगवन्, शाश्वत विद्यमान। आप किसी पिछली मर्यादा पर नहीं रुके। शाश्वत प्रगतिशील। निरन्तर नव्य-नूतन। . .'

'उत्पला कहीं गई नहीं है, सागर ! आओ मेरे साथ, उस तट पर ले चलूँगा, जहाँ उत्पला तुम्हें उसी प्रथम दर्शन के रूप में मिलेगी ! . .'

'भन्ते, भन्ते, भन्ते . . मैं अनुगामी हुआ।'

'नहीं, अकेले विचरो। तुम्हें अपने ही रास्ते आना होगा। उस तट पर मिलेंगे।'

. . और लौटते हुए अपने पीछे मैंने सागरसेन को अत्यन्त शरणहारा देखा। अशरण, एकाकी, श्मशान की अकेली चिता। सागरसेन।

'हाँ, इसी चिता की राह आगे बढ़ना होगा, सागर ! हड्डियों के जंगल से गुजरना होगा। रक्त-धमनियों के अन्धकार भेदने होंगे, उस किनारे पर पहुँचने के लिए।'

. . और मैंने देखा, सागरसेन उत्पला की चिता पर चढ़ कर, मेरे पीछे चला आ रहा है।



. . और भी देखना चाहता हूँ। . . मेरी ज्ञानोर्जा में एक ऐसा हिल्लोलन हुआ, कि जैसे देहपात हो गया हो। और मानो एक और ही देह में उत्तीर्ण हो, महानगरी काशी के राजमार्ग को पार रहा हूँ। एक ओर एक विशाल अट्टालिका के पौर-प्राँगण में दीपों से जगमगाता भव्य रंगमंच शोभित है। वार्जित्रों के घोष से सारा नगर धमधमा रहा है। वस्त्र-अलंकारों में सजी अनेक रमणियाँ गीत गा रही हैं। कहीं सुरापान की गोष्ठियों में वारांगनाएँ नाच रही हैं। श्रेष्ठी मदनदत्त के पुत्र का विवाहोत्सव हो रहा है।

. . मार्ग के दूसरी ओर एक छोटे-से मकान के आगे, कई स्त्रियाँ गोल बाँधकर बैठी हैं, और विलाप करती हुई छातियाँ पीट रही हैं। कुछ लोग अर्थी बाँध रहे है। माटी के बासन में एक ओर पलीता जल रहा है। एक दीन-दरिद्र वृद्ध दम्पति का एक मात्र पुत्र नौ महीने की ब्याही अछूती सोहागन को छोड़ स्वर्ग सिधार गया है। और वार्जित्रों के घोष, तथा नृत्य-संगीत के कलनाद में ये छाती-फाड़ रुदन डूब गये हैं। . .

. . और नगर द्वार पार कर, एक सुनसान उजड़े उद्यान में आ पहुँचा हूँ। मनमारे खड़े एक अँधियारे भग्न-भवन में चला आया हूँ। यहाँ मनुष्य के होने का कोई चिन्ह नहीं। . . ऊपर तिमंजिले के एक अर्द्ध-भग्न जर्जर कक्ष में उपस्थित हूँ। आले में एक माटी की ढिबरी जल रही है। उसके बहुत क्षीण आलोक में दीखा : एक झोली-सी लगती खटिया में जैसे एक सड़े मांस का ढेर पड़ा है। लेकिन उसके तल में अवश पड़ा एक मानव-मन गहरे सोच-विचारों में चक्कर काट रहा है :

'ओ . . ओ . . मेरी प्राण हुता, तुम . . . तुम कहाँ चली गईं ? . . आह, याद आ रही है सुदूर अतीत की वह बात। इसी सामने की गंगा के एक दूरान्तिक तट में, अपनी कुटिया में तुम अकेली रहती थीं। मै काशी का राजपुत्र वरुण, उस तट पर मगर का आखेट करने आया करता था। तुम अनाथ एकाकिनी ऋषि-कन्या थी। . . सुना था, अपने स्वप्न के सत्यवान को पाने के लिए तुम कठोर सावित्री-तप कर रही थी। इसी गगा की जलधारा-सा पारदर्श, पवित्र था तुम्हारा सौन्दर्य। भयानक मगरमच्छ तक तुम्हारे तप से, तुम्हारे वशीभूत हो गये थे। . .

'और मै काशी का राजपुत्र वरुण किसी सावित्री का सपना देख रहा था। तुम्हारे रूप मे अपना वह स्वप्न मैने साकार देखा। मैने महल, राजैश्वर्य, सिहासन ठुकरा दिया, और तुम्हे प्राप्त करके ही चैन लिया। . .

'निर्वासित राजपुत्र को इस उजड़े उद्यान के भूतिहा भवन मे नज़र-क़ैद कर दिया गया। . . लेकिन तुम्हारे साथ, हुता। . . तुम्हे जब आलिगन मे बाँधता था तो लगता था, कि रोग, क्षय, ज़रा, मृत्यु को मैने जीत लिया है। मै मृत्युंजय हो गया हूँ, तुम्हारी गोद मे ! . .

'लेकिन तुम्हारे होते, यह क्या हुआ हुता, मैं इस महादुष्ट गलित कुष्ठ का ग्रास बन गया। रक्त-पीव का बहता पनाला। मेरी आँखों के रतन भी धीरे-धीरे धुँधला गये। एक भृत्य मेरी सेवा मे निरत रहने लगा। . ओर तुम ? सुना, तुम फिर सावित्री-तप मे लीन हो एकाग्र, मुझे पुनर्जीवित करने के लिए। . .

'आह, तुम जब अपनी गोरी उजली बाँह से मुझे कड़वी औषध पिलाती हो, तो लगता है, अमृत पिला रही हो। पर अब तो केवल तुम्हारी वह मोहिनी, महीन आवाज़ भर सुन पाता हूँ। . . तुम्हारी वह कमनीय बाँह कहाँ गई ? आह, असह्य है इन अविराम झरते ज़ख्मों की पीड़ा। . हुता . तुम कहाँ चली गयी ?'

'देखो न मै आ गई। भिषग का भृत्य औषधि लेकर आया था, वही तैयार कर लायी हूँ।'

उस सड़े मांस के ढेर मे से सूखे डण्ठल-सा एक हाथ उठा।

'आह, आह, मेरी सावित्री, पिलाओ अमृत . .'

और वरुण ने वह ऊष्म सुगन्धित ऑचल पकड लेना चाहा। हुता दूर छिटक गई। और उसने क्षण मात्र मे औषधि का चम्मच रोगी के आकारहीन चेहरे मे खुले एक गड्ढे मे उँडेल दिया।

'ओह, कैसी सुगन्ध है तुम्हारे ऑचल मे, हुता ! जलजूही की लता सी शीतल। मेरे पास आओ हुता, मुझे ढॉप लो न अपनी छाती मे, जहाँ मृत्यु नही है, सदा अमृत झरता है। . . . और मुझे छिन-छिन यह काल का नाग डस रहा है। तुमने ऑचल क्यों छुडा लिया मेरे हाथ से, हुता ? तुम . . तुम . . मेरी सावित्री ! तुम इतनी निर्मम कैसे हो गई ? '

एक घुटन भरे सन्नाटे मे उखड़ती साँसों की खड़खड़ाहट।

'ऐसा न बोलो स्वामी, मै अब समग्र तुम रूप हो जाना चाहती हूँ। तुम से अलग अब क्षण भर चैन नहीं। अब केवल ऑचल देकर जी नही भरता। अपनी इस पूरी काया मे तुम्हारे हस को खींच लेना चाहती हूँ।'

'आह हुता, तुम . . . तुम . . . मेरी हो न, केवल मेरी, त्रिकाल मे, जन्मान्तरों में एकमात्र मेरी . . . कभी और किसी की नही . . ?'

'हाँ, मेरे देवता, मेरे सत्यवान, केवल तुम्हारी, सिर्फ तुम्हारी। और किसी की नहीं। आदिकाल से अनन्तकाल तक तुम्हारी !'

'मेरी आत्मा . . तुम, हुता !'

'हाँ . . आँ . . आँ . . आँ . .'

'तो आज खींच लो मुझे समूचा अपने में, अब बाहर नहीं रहा जाता। . . हुता . . कहाँ हो तुम ! पास आओ न, मेरी साँसों में आओ . . !'

'इस देह से कितनी-कितनी पास आई तुम्हारे। पर क्या तुम्हारे भीतर आ सकी ? क्या तुम मेरे भीतर आ सके ? सो इस देह का ममत्व न करो। मैं अखण्ड ब्रह्मचर्य का व्रत धारण कर तुम्हारी देह में अमृत सींच देने की साधना कर रही हूँ !

'आह मेरी सती, मेरी सावित्री ! . . अरे देखो न, मेरी धुँधली पुतलियों में यह कैसी जोत उजल गयी है ! तुम सोलहों सिंगार किये आज कितनी सुन्दर लग रही हो ! साक्षात् देवी, भगवती। ऐसा शृंगार तो तुमने कभी किया नहीं। अपूर्ण है तुम्हारा यह सोहागन रूप। पहली बार देखा। ये इतने महर्द्धिक वस्त्र-रत्नालंकार कहाँ से आ गये ?'

'स्वयं सावित्री ने आज सिगार किया है तुम्हारी सती का, मेरे वरुण, मेरे सत्यवान !'

'आह मेरी हुता, मेरी वेद-पुत्री गायत्री ! दिवो-दुहिता उषा . .'

. . सीढ़ी मे कोई सतर्क दबी पगचाप सुनाई पड़ी। हुता चौकन्नी हुई। और अगले ही क्षण वह चुपचाप कक्ष से बाहर हो गयी।

. . बाहर अँधेरे लम्बे गलियारे में सुनाई पड़ा एक फुसफुसाता-सा वार्तालाप :

'काशी के कोट्टपाल . . मेरे जीवनधन !'

'इस रत्न-सज्जा में एकदम देवांगना लग रही हो, मेरी प्यार !'

'तुम्हारे ही दिये तो ये रत्नालंकार, ये चीनांशुक, ये फूलैल . . !'

और सुरा के नशे में प्रमत्त कोट्टपाल ने गलियारे की उस अन्धी दीवार में हुता को कस कर भींच दिया। अनवरत व्याकुल चुम्बनों और आलिंगनों की दबी-दबी ध्वनियाँ ! . . आहें . . सिसकारियाँ।

'आह . . बस . . बस !'

'कब तक बस . . ?'

'नहीं छोड़ दो, आज नहीं . .'

'मेरे धीरज की हद हुई। . . ओह, आज नहीं तो फिर कब ? कल किसने देखा है . . ?

अन्धे गलियारे में मदनाकुल देहों का घमासान। . .

'आह, हुता, तुम कहाँ चली गई ? . . देखो तो, गलियारे में यह कैसी रहस्यभरी धमधमाहट है ? कोई प्रेतलीला तो नहीं ? हुता, तुम कहाँ चली गई . . ? मुझे अकेला न छोड़ो, बहुत भय लग रहा है !'

. . साँसों की धमनी से प्रज्वलित, लाल-लाल लपट-सी हुता लौटी। वस्त्रालंकारों की सुगन्धित सरसराहट सुन वरुण चीख़ उठा :

'ओह, मेरी हुता, मेरी आत्मा, मेरी प्राण, मेरी शरीर हो न तुम ? केवल मेरी !'

'हूँ न, केवल तुम्हारी। . .'

'कहो कि तुम्हारी आत्मा, तुम्हारी प्राण, तुम्हारा शरीर हूँ. . . ! कहो न !'

'जो तुम कहते हो, सब हूँ तुम्हारी। उससे भी अधिक कुछ हो तो, वह भी। तुम सो जाओ, स्वामी। शान्त हो जाओ !'

'और तुम . . ?'

'तुम्हारे पास बैठी हूँ न !'

'आज मुझे अपने आलिगन मे लो, हुता ! गलियारे मे मृत्यु की पदचाप स्पष्ट सुनी है अभी। अपनी छाती में मुझे डुबा लो, और इस मृत्यु से मुझे बचा लो, मेरी सावित्री !'

'ब्रह्मचर्य के बिना वह सम्भव नहीं। मेरे ब्रह्मचर्य को अक्षुण्ण रहने दो आज की रात। और कल . . कल तुम एकदम चंगे हो जाओगे !'

'. . सच . . सच . . सच . . सचमुच ? ओह, सच ही तुम मानवी नहीं, देवी हो, हुता। मेरी सावित्री !'

'तुम्हें नींद आ रही है न ?'

'तुम्हारे हाथ की उस औषध से यह कैसा मधुर नशा आ रहा है। सच ही अमृत-सुरा पिला दी तुमने। जैसे शरीर में कोई रोग ही नही रहा। फूस-सा तैर रहा हूँ, तुम्हारे आँचल की सुगन्ध में . .। आह, कैसा सुख है ! . . .'

कहते-कहते सर्पगन्धा के गहरे नशे में वरुण की चेतना डूबती ही चली गई। . . और उस दूरी मे से ही उसने पुकारा :

'हुता . . हुता . . तुम कहाँ जा रही हो पीठ फेर कर ?'

'गंगा-तट पर खड़ी होकर आज अखण्ड रात सावित्री-तप का समापन करूँगी। सुख से सो जाओ। मैं तुम्हारे भीतर ही तो हूँ !'

' . . और मध्य रात के स्तब्ध सन्नाटे में, काशी के कोट्टपाल के हवा में छलाँगे भरते रथ में बैठी हुता, काशी और गंगा की सीमा के पार हो गई। . .

और वरुण संजीवनी-सुरा पी कर ऐसा सोया, कि उसकी अगली साँस एक और गर्भ के अँधेरे में घुटने लगी। नया जीवन आरंभ करने को छटपटाने लगी।

• • •

. . संसार को उसकी असली प्रकृति मे नग्न देखा मैने। यहाँ कोई किसी का नहीं। हम सब एक दूसरे को अन्य हैं, पराये हैं। हम दूसरे को प्यार नहीं करते, दूसरे में भी केवल अपने ही को प्यार करते हैं। हम केवल अपने में रहने को अभिशप्त हैं। केवल अपने को प्यार करना ही हमारी एकमेव नियति है। हमारी यह काया, यह साँस भी हमारी नहीं। सब अन्य है, पर व्यक्ति है, पर आत्मा है, पर पदार्थ है। अनन्य केवल मैं हूँ अपने लिये। और जो भी अपनत्व है, ममत्व है, जो यह दूसरे को अपनाने की या दूसरे के अपना हो जाने की अचूक प्राणाकुलता है, वह मात्र

आत्माभास है, आत्मछल है। अन्य में केवल अपने ही को देखने, खोजने, पाने का बहाना है। एक निष्फल मायावी प्रयास है। हाय ये संसार !

. . लेकिन क्या सावित्री सत्यवान से तदाकार नहीं हुई थी ? क्या वह यम से अपने वल्लभ के प्राण नहीं जीत लाई थी ? क्या उसने अपने अनन्य प्यार से मृत्यु को नहीं जीत लिया था? काल को नहीं पछाड़ दिया था ? क्या वह एक विशुद्ध आत्म की, दूसरे विशुद्ध आत्म में अपने अनन्यत्व और अभिन्नत्व की उपलब्धि नहीं थी ? क्या सावित्री सत्यवान नहीं हो गई थी, क्या सत्यवान सावित्री नहीं हो गया था ?

इसका उत्तर पाने को शायद केवल सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान काफी नहीं है। अवधिज्ञान और मनःपर्यय-ज्ञान द्वारा केवल देश, काल और मनों के सीमान्तों तक यात्रा करना काफी नहीं है। उससे आगे जाना होगा। दूसरे की आत्मा से सीधे टकराना होगा। और उसके लिए शायद, देह, प्राण, मन, इन्द्रियों के सारे द्वार एक बार बाहर से नितान्त मुद्रित कर लेने होंगे। इस राह जो भी सम्प्रेषण है, संवाद है, दर्शन-ज्ञान है, वह अधूरा है। उसी से संसार और मनुष्य की स्थिति का अन्तिम निर्णय कैसे कर लूँ। एकमेव, प्रत्यक्ष, अविकल्प कोई ज्ञान, कोई सम्वेदन कहीं है ? . . तो उस तक पहुँचना होगा। ऐसा कोई ज्ञान, जो स्व-पर के भेद-विज्ञान से परे, बस पर अभेद अखण्ड बोध हो, संयुक्त संवेदन हो। जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय का भेद तक समाप्त हो जाये। उसके बिना ज्ञेय के सत्व को आत्मवत् कैसे अनुभव कर सकता हूँ। और आत्मवत् जो अनुभव न हो, जो आत्मानुभूति न हो जाये, ऐसा पर का ज्ञान भी सत्य, अविकल्प, निर्भ्रान्त कैसे हो सकता है।

. . अपनी गहिरतम गहराई मे पर्यवसान पा जाना होगा !

अन्तर्देश की अन्तरिक्ष-यात्रा

. . पृथिवी के भीतर जैसे-जैसे गहरे उतराता गया हूँ, तो पाया है कि पर्त के भीतर पर्त है। और हर पर्त में से सहस्रों नयी पर्तें खुलती दिखायी पड़ती हैं। और हर पर्त में और भी जाने कितनी अन्तरिमाएँ, अन्तराल, और उनमें से उग आती-सी बेशुमार पर्तों की राशियाँ। . . इनके भीतर यात्रा संसरण द्वारा ही सम्भव हो रही है। जन्म और मरण, आगमन और गमन, उदय और अवसान की एक अन्तहीन परम्परा में से गुज़रना हो रहा है। उत्पाद, व्यय और ध्रुव की संयुति को समय के अविभाज्य मुहूर्त मे एकबारगी ही जीता चला जा रहा हूँ।

इस तमिस्रा में जाने कितनी आँखें बन कर चारों ओर खुल गया हूँ। पर एक ऐसे रेशमीन सर्पिल नीहार का कोहरा, उठते-मिटते पर्वतों-सा यहाँ लहराता चला आ रहा है, जाने किस अज्ञात में से, कि उसमे ये आँखें बुदबुदों-सी चमक-चमक कर विसर्जित हो जाती हैं। सब कुछ देख कर भी, ये देख नहीं पाती हैं, सब कुछ जान कर भी ये ठगी-सी रह जाती हैं, और खो जाती हैं। असंख्य आँखें भी इस भीतरिमा को भेद पाने में विफल हो, जाने किसी तत्व में विशीर्ण हो जाती

है।

अक्ष से नही, एकाग्र अविचल आत्म के सीधे सम्वेदन से ही इस अन्तरिमा के जगत का अवबोधन सम्भव है। . एक चक्षुहीन, लक्ष्यहीन अवगाहन की अनुभूति भर रह गया हूँ। एक अभेद्य तमिस्रा का क्षितिजहीन मण्डल चक्राकार मेरे चारों ओर घूम रहा है। और वह अलोकाकाश के सत्ताहीन शून्य मे प्रसारित होता चला जा रहा है। एक अनिर्वच सूक्ष्म रज के आश्रवण को अपने ऊपर आक्रमण करते देख रहा हूँ। राशिकृत पटलों मे यह रज का प्रवाह किसी महार्णव की तरह मेरे भीतर-बाहर तरगित है। कहना कठिन है कि निरी माटी है, या निरा जल है। क्योंकि इसमे शुष्क माटी का बिखराव और सरसराहट भी है, और जल लहरों की-सी मृदुता और निरन्तरता भी है। इसमे माटी का लोच और नम्यता भी है, पानी की अजस्र प्रवाहिता भी है, वायु की मेघवर्णी शीतलता भी है, और इसकी सन्धियों म सिन्दूरी ज्वालाओं का दाहक ताप भी है।

एक अविरल मोहिनी का घनसार कृष्ण नील ससार। कभी नीरन्ध्र अन्धकार का अथाह गहराव। कभी उसमे आशीविष सर्प की आखें से प्रस्फुरित, अचूक नील सम्मोहन और प्रकर्षण के हिल्लोलन। एक एसा भगुर दोलायित मार्दव, जो चेतना को विपल मात्र मे अपने भीतर आत्मसात् करके, अपनी अतलतम जगती मे खीच ले जाता है। यहा अति सुरम्य गहरी हरियाली अरण्यानियो का अपार प्रसार है। उसम सुगन्ध निविड भीनी माटी की अद्भुत ऊष्मा और शीलता है। असख्य जुगनुओं की टिमटिमाती ऑखों से इसके अन्तराल व्याप्त है। केवडे की कटीली सुगन्धाविलता मे, जाने कितने ही विवर खुले है। उनके भीतर, राशिकृत सर्प एक भयावह सकुलता और ग्रथिलता के साथ एक दूसरे म गुन्थमगुत्था हो रहे है। वे ऐसी अग्निल मणियाँ उगलते है, जो पल मात्र मे विराट् अग्नि पटल हो कर स्वय उन्हे ही भस्म कर देती है। वे और भी तीव्रता से अपनी राख मे अनुबन्धित हो कर नित नव्य आकारों म, शम्पाजाल की तरह प्रस्फोटित होने चले जाते है

माटी, जल और वनस्पति की इन सर्पिल तरल शैयाओं मे लिंगों ओर योनियों का एक तुमुल सघात सतत परिणमनशील है। उस घषण मे से नैत्र के कच्चे आमों सा खट मीठी स्पर्श-गन्ध और रक्त गन्ध विस्फूर्जित होती रहती है ओह, स्पर्श के एकर्षण और रक्त के कामाकुल सघर्ष-हिल्लोल मे से उठने वाली यह मोह गन्ध कितनी कुँवारी और नित नव्यमान है। स्वर्ग के सघन मन्दार वनों की ऊष्माकुल शीतलता। पान ' की रात मे उमसती, रात-रानी के फूलों की प्राणहारी गन्धाकुलता। रक्त और परस इसी मोह मदनाविल निरन्तर सघात में से अनवरत प्रवर्तित है समार परम्परा जन्म और मृत्यु का एक अन्तहीन सिलसिला। ओह, तो यही है मोहिनी कर्म का वह आश्रव लोक जो हमारे दर्शन और ज्ञान को कृष्ण, नील कापोत बादलों के सदा बदलते पर्दों से आवरित किये रखता है उसे देखना और जानना मात्र जुगनुई ऑखों की भूलभुलैया है। जहा देख कर भी हम कुछ नही देखते जान कर भी हम कुछ नही जानते।

दृग्बोध नयन सोऽयमज्ञान तिमिरात्।
जानात्रपि न जानाति, पश्यत्रपि न पश्यति ॥

और सर्पजाल ग्रथिल वह शैया उत्तरोत्तर फैलती हुई, दृक्‌बोध से पार असीम हो

उठी है। उसे देखते-देखतें चेतना भय से मूर्च्छित होती जा रही है। . . छिन्न-भिन्न होती आँखों के तड़कते बिल्लौर का एक सैलाब। पहचान और लगाव की रंग-बिरंगी काँच-खिड़कियों का अचानक तड़तड़ा कर टूट जाना। . . प्रणय के निविड़तम आलिंगन में अजनबियत का एक अफाट रेगिस्तान। सम्बन्धों के इन्द्रधनुषी आवरणों में ढँकी परायेपन की ख़न्दकें। मित्रता, शत्रुता के कगार पर झूलती हुई। भाव-विस्वलता की लहरों में से उठ आती छुरियाँ। . .

. . क्षय, जरा, रोग, मृत्यु के बिलों पर बसा हुआ मनुष्य का सुख-दुखों से आर्द्र, ऊष्म घर। प्राणिमात्र की रक्त-वाहिनियों में सुख-सुरक्षा की धुकधुकी। मुद्रित कमल की सुरभित केसर-शैय्या को कोरता हुआ मोह और वेदनीय का कीट। सुख की मर्कत-पिटारी में छुपा दुःख का काला सर्प। नागकेसर की गन्ध-सी यह कसैली वेदना। . . मोहिनी नाग-कन्या, जिसके मोहक वक्ष में उगा है सुख का पीला कमलवन, और जिसके सर्प-पुच्छिल पैरों में से फूट रहा है दुःख का भीषण अजगर। क्षयरोग की शैया पर, बुझती हुई आँखों की मणियाँ, हाड़-पिंजर शरीर, और उसमें रह-रहकर टिमटिमा उठती तृष्णा की लालटेन, मोह के अबूझ अन्धकार में।

. . तूफ़ानी समुद्र पर दूरातिदूर कहीं मछलियाँ पकड़ते माछीमार की नाव। उसके मस्तूल पर एकाकी टिमटिमाता दीया : बुझने की अनी पर प्रज्वलित उसकी अन्तिम नीली लौ। तट पर खड़ी मछिहारिन की भयाकुल चट्टानी छाती पर सिर पछाड़ता, अन्ध समुद्र। सहस्रों मरती मछलियों की मूक चीखों पर सिर धुनता, डूबती नाव का बुझता दीया। मछिहारिन के जूड़े से बिखर पड़े चम्पक फूल। . . केवल घहराता काला सागर। और कहीं कुछ नहीं। झोंपड़े में पकते शाकान्नों की सौंधी गन्ध। मदिरा से वासित मदन-शैया। . . सब कहाँ लुप्त हो गया ? घने घुंघराले विपुल केशों की लहरें। इन पर लिपटे साँपों के पाश में अवश मृत्यु का अतलान्त। . . ओह, यह वेदनीय कर्म का आश्रव-लोक है, जहाँ प्राणी निरन्तर मोह-मूर्च्छा के गहन गह्वरों में, सुख-दुख की करवटें लेता छटपटा रहा है। जहाँ एक ही प्राणी की दायीं करवट सुख है, तो बायीं करवट दुःख। जहाँ प्यारी की सुरम्य साँझिया छाती पर, मौत मोहक कंचुकी बन कर कसी है।

. . मोहारण्य के तमसावृत्त तलदेश में, अँगड़ाइयाँ भर कर उठता-सा सान्द्र नील अन्धकार। उसमें अदृश्य परमाणुओं में से उत्सित होते रक्त का अभिसिंचन। उसमें परस-लालसा का कम्पन, संसरण। उसमें किसी नैपथ्य में घूमते चरखे से खिंचा आ रहा माटी का सूत। आकाश के कर्घे पर बुनी जा रही उसकी बारीक जालियाँ। उनमें से उठ रहीं माटी की गड्ड-मड्ड नलिकाओं के विशाल प्रान्तर। उनमें से सरसराते निकल रहे बेशुमार केंचुओं के निरे स्पर्शाकुल शरीर।

. . झिल्ली-रव में स्पन्दित कीट, लट, पतिंगों के श्वासोच्छ्वास में प्रतिक्षण जनमते-मरते शरीरों की राशियाँ। . . कोटि-कुण्डलीकृत वासुकी के पृथ्वीधर मंडल में चक्राकार घूमती-चींटी से लगा कर, पशु-चौपायों, व्याघ्रों, रीछों, हस्तियों तक की संज्ञावान तिर्यंच योनियाँ। उनकी विकट हिंसाकुल, क्रुद्ध, कामोर्जित विकरालता। . . उसमें सहसा ही एक अन्तर-मुहूर्त मात्र के लिये जागृत अपने अस्तित्व की पहचान। क्षण भर के लिए शमित वैर की शान्त सपाटी। उसमें से हठात् एक गर्भ का विस्फोट: उसके भिन्न, विरोधी दो कगारों पर खड़ा नर-नारी युगल। बीच में फैली मृत्यु की खाई। उसके मोहव्याप्त अंधकार में उनका प्राणहारी संघात, संघर्ष :

एक-दूसरे में अन्तहीन संक्रमण। उस अन्ध, ज्ञान-हीन संक्रमण में से उठती, सुडौल-कुडौल, सुरूप-कुरूप, अनेक विध रूपाकृतियाँ, मानवाकृतियाँ।

. . अहो, यह नामकर्म का आश्रव-लोक है। सृष्टि का कषाय-सम्वेदित मनस्तत्व, क्षण-क्षण बदलती भाव-दशाओं मे से गुज़रता हुआ। किसी चूड़ान्त भाव-स्थिति में पहुँच कर, यह सहसा तदनुसार सकल या विकल, सुन्दर या असुन्दर देहाकृतियाँ धारण कर रहा है। और ये देहधारी फिर अपनी जीवनलीला के पारस्परिक संघातों में, अपने संकल्प-विकल्पों के अनुसार आयु के काल-पटल में विस्तारित और संकोचित होते हुए जीवन की अवधियों में निर्धारित हो रहे हैं। रक्त, भाव और संस्कार विशेष से कुल, वंश, परिवार में परम्परित हो रहे हैं। . .

व्यक्ति के प्रति व्यक्ति की भाव-प्रक्रिया, प्रतिक्रिया। कुल, वंश, परम्परा के व्यामोह से उत्पन्न अहं के विस्फोट। रक्ताक्त राग-द्वेषों के संघर्षित जंगल। एक ही देह-काष्ठ के विभिन्न टकराते अंग-प्रत्यंग। विभिन्न काष्ठ-स्थाणुओं की टक्कर, गुत्थमगुत्था। आप अपनी ही भावाग्नि से जल उठा जंगल। निरन्तर दह्यमान स्नायु-मंडल मे से फूटती नव-नूतन व्यष्टियाँ, समष्टियाँ, पशु-झुण्ड, मानव-कबीले, जातियाँ, देश, राष्ट्र। व्यष्टियों के संघर्ष। समष्टियों के संघर्ष। राजा, श्रेष्ठि, धनी-निर्धन, सत्तावान-सत्ताहीन, दीन-दरिद्र, कंगाल, कुलीन-अकुलीन, ऊँच-नीच, शोषक और शोषित। उनके अन्तहीन राग-द्वेषों का दुश्चक्री परिणमन। क्रिया-प्रतिक्रिया, प्रक्रिया की देश-काल में अनिवार्य बढ़ती जा रही शृंखला। इतिहास। . .

. . मोह की दूध-गंध और रक्त-गंध का वाष्पित नीहार-लोक। ऐसी गर्भिल मृदुता और नम्यता, कि उसमें फिसलते ही जाना होता है। लिंग-योनि द्वारों से एक-दूसरे में समाते ही जाना होता है। मोह-रज की इस धारासार स्निग्ध प्रवाहिता के अन्धे गहरावों मे, ये कैसे बाधा के मानुषोत्तर पर्वत है। अनिर्वार धावित कामनाकुल प्राणी अचानक जाने किस अदृश्य वज्र चट्टान से टकरा जाता है। राह रुँध जाती है। अभिन्न प्राण, एकात्म लगते प्रणयी जनों के बीच अचिन्त्य गलतफहमी के विन्ध्याचल हहरा उठते है। दुर्वार अवरोध की हिमानी शून्यता व्याप जाती है। जनम-जनम के मिले और ब्याहे नर-नारी काल के निश्चिन्ह, अबूझ समुद्र-तट पर अकस्मात् टकरा जाते हैं। फिर प्रचण्ड तरंगाघातों से अगम्य किनारों पर फेंक कर, बिछुड़ा दिये जाते हैं।

अयोग्य, अक्षम, पापात्मा सुख के स्वर्गों में बिलखते हैं। सच्ची, प्रेमल, सहृदयी आत्माएँ अभाव में दम तोड़ती है। प्यार की एक बूँद को तरसती घुट-घुट कर मरती रहती है। सौन्दर्य की सूक्ष्म पारद्रष्टा आत्मा के लिए सौन्दर्य आकाश-कुसुम हो रहता है। जड़, भावहीन, हिंस्र वासनाकुल भुजाओं मे, सावित्री-सी कुमारियों की स्वप्न-संवेदनाएँ आजीवन तिल-तिल जलती, गलती, घुटती रहती है। ज्ञानतेज से उद्भासित सारस्वत आनादृत, उपेक्षित वीरानों में खो रहते हैं। मूर्ख-अज्ञानी, भाव-सम्वेदनहीन धन-कुबेर सरस्वती की वीणा को अपनी सम्पत्ति से खरीद कर, उसे अपनी प्रतिष्ठा की राजसभा मे प्रदर्शन की वस्तु बना देते है।

एक अन्धी बाधा की बर्फानी पर्वतमाला, जो चेतना के तमसांध समुद्र की गहराइयों में छुपी रहती है। क्षण-क्षण, मनुष्य की प्रगति की राह मे अनेक निष्कारण अबूझ कुण्ठाएँ, अवरोध, घुटन के अतल खोलती रहती है। . . इत्र-सुवासित रेशमीन, मृदु परों के लिहाफ़ में एकाएक जाने कहाँ से उल्लू बोल उठते हैं, और गृद्ध टूट पड़ते हैं। बिछोह, अभाव, शोक-संत्रास के ज्वालागिरि

फूट पड़ते हैं।

. . अहो, यह अन्तराय कर्म का आश्रव-लोक है, जहाँ कोमल, ऋजु-सरल नदी की श्वेत धारा के भीतर अज्ञात भुजंगमों की बाँबियाँ छुपी हैं।



. . कार्मिक विश्व की बुनियादों में उतरा। उसकी जड़ों में सरसराया। उसके रक्ताक्त मोहों और लोभों से सीधा टकराया। उसके सारे आत्म-घातक दबावों से सीधा गुज़रा और जूझा। . . और देखता हूँ कि, सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य से आगे की है यह चेतना-स्थिति। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान से आगे की है यह क्रियात्मिका ऊर्जा। सृजनात्मिका अभीप्सा। जो केवल ध्यान-समाधि मे देख और जान कर ही तुष्ट नहीं हो सकती। समाधान नहीं पा सकती। केवल विश्रब्ध होकर चैन नहीं ले सकती। जो कर्मों के अड़ाबीड़ जंगलों में स्वयं धँसकर, उनके साथ उलझती है, जूझती है। और यों उनके मूलों तक जाकर उनका भेदन, उत्पाटन और भंजन करती है।

. . कर्म-चक्र के दबावों और टकरावों को सीधे झेले बिना आत्म-मुक्ति कैसे सम्भव है? जीवन-जगत की सारी संश्लिष्टताओं और जटिलताओं में से, अपनी सम्पूर्ण सम्वेदना और संचेतना के साथ गुजरे बिना, कैसे उन्हे सम्पूर्ण जाना और जिया जा सकता है। सृष्टि प्रपंच के मूल स्रोतों में सीधे स्वयम संसरित हुए बिना, जगत में अर्हत् की मुक्त जीवन-चर्या कैसे सम्भव है। ज्ञान शरीरी सिद्धात्मा, ज्ञेय विश्व-प्रपंच के साथ ज्ञान-संवेदनात्मक तदाकारिता न अनुभवे, तो उसकी सार्थकता क्या ? ज्ञेय के बिना ज्ञाता का ज्ञान क्या देखे, क्या जाने ? और अपने को पूर्ण जानने की कसौटी भी, क्या सर्व को पूर्ण जानना ही नही है ? सर्व के सन्दर्भ में ही तो अपने को जानने की जिज्ञासा उठती है। सर्व के समक्ष ही तो सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य की अनिवार्य आवश्यकता अनुभव होती है।

हर चीज, हर व्यक्ति के साथ अपने सम्यक सम्बन्ध को जाने बिना, उनके साथ सम्यक् तरीके से जिये बिना, उनके साथ अचूक सम्वाद और सम्प्रेषण में आये बिना, अपने आत्म में अन्तिम रूप से कैसे अवस्थित हो सकता हूँ ? क्योंकि ज्ञेय के बिना ज्ञाता की ठीक पहचान सम्भव नहीं : ज्ञाता के बिना ज्ञेय की ठीक पहचान सम्भव नहीं। यह एक ऐसी अविनाभाविता है, जिसे विश्लेषण से नहीं समझा जा सकता, केवल संवेदनात्मक संश्लेषण से जिसका अचूक बोध पाया जा सकता है।

. . लेकिन बन्धक कर्म-रज के इस आप्लावन को रोके बिना, विश्व-लीला में मुक्त रमण सम्भव नहीं। मगर मुक्ति को भी योगी-द्रष्टाओं ने सदा रमणी के रूप में ही भावित किया और चाहा है। नर-नारी के रमण-सुख की तल्लीनता के बिना वे उसकी कल्पना नहीं कर सके हैं।

. . हम क्या केवल एक-दूसरे में प्रतिबिम्बित ही हो सकते हैं ? परस्पर में बिम्बायित नहीं हो सकते ? इस परम रहस्य का उत्तर शब्दों मे नहीं पाया जा सकता। केवल उसमें अवगाहन किया जा सकता है। उसमें अव्याबाध विचरा जा सकता है।

. . अभी आत्म-प्रसारण द्वारा विश्व में व्याप्त कर्म-चक्र के भीतर से गुज़रा। उसे सम्पूर्ण देखा, जाना, सहा, भोगा। और उससे उत्तीर्ण होकर जहाँ आ खड़ा हूँ, वहाँ अपने को अनायास अपने में अपसारित, संवरित अनुभव कर रहा हूँ। . . हठात् अपने आप में निःशेष सिमट कर, निस्पन्द हो गया हूँ।

. . देह, प्राण, मन, इन्द्रियों की जुदा-जुदा खिड़कियाँ एक-दूसरे में संक्रान्त, अतिक्रान्त हो रही हैं। देह मानो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, ध्वनि की तन्मात्राएँ रह गई है। इन्द्रियाँ उनमें यों पिघल गई हैं, जैसे जलजाया मछली जल में विसर्जित हो गई हो। तन्मात्राएँ प्राण में लीन होती जा रही हैं। प्राण मन में विलीयमान अनुभव हो रहा है। और चेतस् मन, चैतन्य की लौ में अकम्प भाव से मुक्त हो गया है। . .

. . और लो, कर्मों के चक्र मकड़ी के सूक्ष्म तंतु-जालों की तरह टूटते जा रहे हैं। एक आदिकाल की महारात्रि, शुद्ध परिणमन की नीलाभ समुद्रवेला में अवसान पा रही है। रजस् और तमस् की मोहानिल रज का कोहरा धीरे-धीरे फट रहा है। भीतर के पूर्वाचल की चूड़ा में अन्तरित एक अभिताभ सूर्यमुख की ऊषा सर्वत्र छिटकी है।

. . और चेतना के विश्रब्ध सघन पटल में यह कैसा कम्पन है, आप्लावन है। कुछ ऊर्जायित है, आकार लेने को?



. . और क्या देखता हूँ, कि स्वयं लोकाकार होकर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ा हूँ। फिर भी इस त्रिलोक-बिम्ब से अलग, अपने ही आप में अवस्थित हो कर, एक ही अविभाज्य मुहूर्त में इसे देख रहा हूँ, अपने को देख रहा हूँ।

. . महाभिनिष्क्रमण की पूर्व-सन्ध्या में, जो अपने अन्तःसाक्षात्कार के वातायन से अलोकाकाश से लगा कर, लोक-चूड़ान्त में निरमान सिद्धशिला तक की यात्रा की थी, उसकी फलश्रुति को इस क्षण प्रत्यक्ष अपने मे आत्मसात अनुभव कर रहा हूँ। उस समय दर्शन के साथ ही, इस समस्त लोकालोक मे केवल परिक्रमण अनुभव हुआ था। इस समय केवल परिक्रमण नहीं, विशुद्ध दर्शन-ज्ञानात्मक रमण की अनुभूति हो रही है। लोकाकाश और अलोकाकाश की वायु-सन्धि पर अपने ही भीतर दण्डायमान हो कर मानो एक छलाँग में अलोक-शून्य को माप रहा हूँ, तो दूसरी छलाँग में लोक-घनत्व को समेट रहा हूँ।

. . अपने चारों ओर अनन्तानन्त प्रदेश रूप आकाश को देख रहा हूँ। यह स्वप्रतिष्ठ है। अपने ही आधार पर है। न यह मुझ पर आधारित है, न मैं इस पर आधारित हूँ। यह स्वयं आप अपना ध्रुव है। मैं स्वयं आप अपना ध्रुव हूँ। इन दो ध्रुवों के बीच जो अन्तर-ध्रुवीयता है, उसी का नाम संसार है। परस्परोपग्रह तत्वानाम्। तत्वों में पारस्परिक संकर्षण, संक्रमण, उपग्रहण होकर भी, अन्ततः वे एक-दूसरे में हो कर अतिक्रमणशील हैं, प्रतिक्रमणशील हैं। वे बारम्बार अपने में लौट रहे हैं, और फिर-फिर एक-दूसरे में चंक्रमित हो रहे हैं। और इन दो ध्रुवों की अदृश्यमान सन्धि-रेखा पर मैं कायोत्सर्गित हूँ।

इस आकाश से बड़ा अन्य कोई पदार्थ नहीं, जिस पर यह आधारित हो सके। मुझ से बड़ा कोई पदार्थ नहीं, जिस पर मैं आधारित हो सकूँ। इसी से स्वभावतः इसका मुझ में अवगाहन, और मेरा इसमें अवगाहन, इसका मुझमें रूपायन और मेरा इसमें रूपायन एक अदभुत, अनिर्वच जीवन-लीला की सृष्टि करता है, जो कि विश्व ब्रह्माण्ड है।

. . यह लोक एक ही अविभाज्य काल-परमाणु में उत्पाद, व्यय और ध्रुव से संयुक्त है। चेतन-अचेतन पदार्थों की परस्पर अतिक्रमणशील राशियों से आपूरित है। इसका न कोई आदि है, न कोई अन्त है। यह अनादि संसिद्ध है। किसी के द्वारा किसी के कर्तृत्व-व्यापार से वर्जित है।

. . देख रहा हूँ, अपने इस लोकाकार विराट् स्वरूप को, जो कमर पर हाथ धर कर खड़ा, पैरों को प्रसारित किये मानो किसी प्रतिपुरुष के रूप में मेरे समक्ष दण्डायमान है। अपने फैले पैरों के बीच के अतल विस्तार में यह निगोदिया जीवों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म संसार को धारण किये है, जो घड़े में भरे घी की तरह घनीभूत, उसमें ओतप्रोत हैं। ये स्पर्शेन्द्रिय देह मात्र हैं। अनुपल एक-दूसरे में अकारण संघर्षित हो कर, ये एक ऐसी अन्ध पीड़ा से प्रपीड़ित हैं, कि उसके अनुभव तक से मानो वंचित है।

. . इनके ऊपर हैं नरकों की सात पृथ्वियाँ। नीचे से ऊपर की ओर ये हैं—महातमःप्रभा, तमःप्रभा, धूम-प्रभा पंक-प्रभा, बालुका-प्रभा, शर्करा-प्रभा, रत्न-प्रभा। इस घनघोर जड़ान्धकार में, तत्व ऊपर से नीचे की ओर मन्द से मन्दतर होती अपनी मौलिक प्रभाओं से प्रस्फुरित हैं। मानो कि विशुद्ध अन्धकार का कहीं अस्तित्व ही नहीं। पदार्थ अपने स्वभाव में ही भास्वर है। पारस्परिक रगड़-घर्षण में, उसकी प्रभाएँ ऊर्ध्व-अधो परिणमन के अनुसार बुझती-उजलती रहती हैं। सात पटलों और उनके भीतर व्याप्त असंख्य बिलों में जीवात्मा विविध-रूपिणी यातनाओं की पराकाष्ठाएँ भोग रहे हैं, अपने-अपने विभिन्न कर्मानुबन्धों के अनुसार। यहाँ सम्बन्धों का सर्वथा अभाव है। न यहाँ जीव का कोई मित्र है, न बन्धु, न संगी-संगिनी, न सखा, न भृत्य, न स्त्री-पुरुष, न माता न पिता। यहाँ वह आप अपना ही मित्र और स्वामी नहीं। एक चरम, परवश अनाथत्व में चीत्कारता, वह निपट निराधार यातनापिण्ड मात्र रह गया है। जहाँ केवल यातना ही, यातना की साक्षी है। आत्म यहाँ मानो विलुप्तप्राय है। अपने दुःखों का अन्तिम भोक्ता और साक्षी नित्य रहने को विवश होकर भी, इस असूझ तमसा में वह मानो निपट अन्धकार और उसमे ऊर्मिल रक्तधारा का कम्पन-पटल मात्र रह गया है। . .

. . और इस लोकपुरुष के कटिभाग मे, डमरू-मध्य की तरह असंख्यात द्वीप-समुद्रों से आवेष्ठित मध्यलोक है। अनन्तान्तकाल मे यहाँ, चौरासी लाख जीव-योनियों के बीच मनुष्य जाति की जीवन-लीला चल रही है। स्वयं मनुष्य हूँ, मानव-सन्तान हूँ, और इसी से अपने मूलाधार, उपस्थ, योनि-लिंग, और त्रिवली के अत्यन्त संवेदनशील मर्मप्रदेश में इस समस्त मनुष्य लोक के राशिकृत सुख-दुखों को अनुक्षण संवेदित कर रहा हूँ। एक मनुष्य में, मानो सर्वकालीन मनुष्य मात्र का एक अविकल ब्रह्माण्ड हूँ। . .

. . और मेरी ऊर्ध्व देह के मेरु-दण्ड में नीचे से ऊपर की ओर सोलह कल्प-स्वर्ग, नौ ग्रैवयक, और उससे ऊपर सर्वार्थसिद्धि के अनुत्तर विमान है। देह-सुख यहाँ उत्तरोत्तर कालबोध से परे निविड़तम और सूक्ष्मतम होते जाते हैं। ऐसे कि, ऐन्द्रिक सुख में ही अतीन्द्रिक सुख का

आभास-आस्वाद होता है। कामना मात्र करते ही, कल्प-वृक्षों से या अपने ही भीतर की कामग्रंथियों के प्रस्रवण में से हर सम्भव इच्छा यहाँ तृप्त हो जाती है। पर हाय रे, फिर भी आत्मकाम यहाँ अतृप्त ही रह जाता है। चरम अपनत्व की तल्लीनता यहाँ भी सम्भव नहीं। . .

. . और अचानक देखता हूँ, कि मेरे मस्तक में खुल पड़ा है अनन्त-व्यापी सहस्रार : सहस्रदल कमल। जिसकी पाँखुरियाँ दिक्काल का अतिक्रमण कर रही हैं। मानो कि दिक्काल उसकी केसर-कर्णिका में से निरन्तर प्रवाहित सौरभ-पराग की तरंगमाला मात्र हैं। उस केसर कर्णिका में उत्तिष्ठ एक ज्योतिर-मृणाल पर अवस्थित है अर्ध चन्द्राकार सिद्धशिला।

. . और लो, उसकी चूडान्त कोर पर अपने को परम ज्योतिराकार, पुरुषाकार खड़े देख रहा हूँ। और मुझ में से आकाश आरपार बह रहा है। और उस आकाश में समस्त द्रव्य-पर्याय अपने विशुद्ध स्वरूप में निरन्तर परिणमनशील हैं। . . किन्तु 'मैं' अभी 'वह' नहीं हो सका हूँ। उसके चारों ओर परिक्रमायित हूँ : अपने ही आत्म-समुद्र के अनेक कटि-बन्धों और द्वीप-द्वीपान्तरों से सन्तरण करता हुआ, लोकाग्र के वातवलयों पर आ खड़ा हुआ हूँ।

. . और देख रहा हूँ, यह त्रिलोकाकार पुरुष चारों ओर से अन्तहीन, महा वेगवान, महा बलवान तीन पवनों से आकीर्ण है। पहला है घनोदधि पवन, जो अपने में अत्यन्त चण्डवेगी हो कर भी बादल-बेला के समुद्र-क्षितिज की तरह घनश्याम और स्तब्ध प्रतीत होता है। उससे परे है घनवात पवन, जो मूँगिया रंग की अति सूक्ष्म ऊर्मियों से आविल एक वायवीय प्रसार है। और उससे परे है तनुवात-वलय जो उत्तरोत्तर शीर्णतर होता हुआ, रूप-रंग-आकार से अतीत होता हुआ—एक अतीर्य शून्य में विलीन हो गया है।

. . और इस लोकाकार पुरुष को देख रहा हूँ, अलोकाकाश के सत्ताहीन शून्य में डग भरता हुआ . . कि और आगे . . और आगे . . और आगे जाना है। क्या है वहाँ ?

. . नहीं, अब प्रस्तार में गति सम्भव नहीं। एक प्रचण्ड प्रतिक्रमण के साथ फिर अपनी ही तात्विक सत्ता में पर्यवसित हो रहा हूँ। . .



. . और हठात् देखा, कि वह लोकाकाश-पुरुष, पर्यन्तहीन आकाश के अधर में, एक विशाल स्फटिक के कुम्भ की तरह उत्तोलित है। उसके भीतर नीचे से ऊपर की ओर चेतना उत्तरोत्तर छह रंगों की प्रभा से तरंगित है। तल में है कृष्ण-घनसार जलिमा का पटल। नितान्त अवरुद्ध तमस का पारावार। उसकी सपाटी पर जो अदृश्यमान तरंग-स्फुरण है उसमें से प्रस्फुटित है नील भाव का लोक। नीचे की निपट कृष्णान्धता से उत्तीर्ण हो कर, यहाँ मोह का पटल कुछ अधिक विरल और भाविल हो गया है। यह नील मोहिनी भी अपने कामोन्माद के सीमान्त पर पहुँच कर, उत्तरोत्तर विरलतर होती जा रही है।

. . और अनायास जाने कब वह एक कापोत वर्णी मेखला में रूपान्तरित हो गई है। यहाँ चेतना का आवेग अधिक ऊर्जस्वल है। और वह उत्तीर्ण होने के लिए संघर्षशील प्रतीत होता है। इस संघर्ष में से उठ रहे हैं रतनारे अग्नि-स्फुलिंग। वे क्रमशः ऊपर की ओर समासित हो

कर एक रक्तिम पट्टिका में समरस हो जाते हैं। इस तेजोमान रक्त-वलय में, चेतना की झील पर मानो उदात्त भावों का उत्सर्पण दिखाई पड़ता है। यहाँ चेतना की गति स्पष्ट ही ऊर्ध्वोन्मुख प्रतीत होती है।

. . प्रथम ऊषा के इस लोहित पूर्वांचल पर, अचानक बेशुमार पीले पद्मों की एक पुष्करिणी उद्भिन्न दिखायी पड़ती है। इस पर कभी केशरिया नीहार छायी दीखती है, कभी शान्त पीताभ छत का-सा आभास होता है। और उस छत में, नीचे फैले पद्मवन में से अदृश्य फव्वारों की तरह प्रस्रवित होती हुई सुगन्ध और पराग की नीहारिकाएँ बरसती दीखती हैं। आत्मा के उज्ज्वलतर होते भावों में से तरंगित हो कर, मानो आर्जव, मार्दव, ऋजुता, पावनता, सौन्दर्य और प्रीति की एक हेमाभ कमल-शैया सी बिछ जाती है। जिस पर अंगड़ाई भर कर उठती आत्मा की कुमारी अपने ही हृदय के दर्पण में अपना स्वरूप निहारती हुई, मुग्ध, विभोर, अन्तर-मैथुन में तल्लीन-सी दीखती है।

. . और औचक ही उसके महाभाव मुखमण्डल के चारों ओर एक चन्द्राभ आभावलय आविर्मान दिखायी पड़ता है। और अगले ही क्षण, उस कुमारिका की समग्र आकृति सिमट कर उस आभावलय में शैयालीन होती-सी प्रतीयमान होती है। और तब उसके हृदय के पद्म-सम्पुट में से अनायास शुद्ध परिणमन का एक श्वेताभ समुद्र खुल पड़ता है। और उसकी मध्य-वेला की चूड़ा पर भव्य पूर्णाकार चन्द्रमण्डल नित्य उदयमान अनुभव होता है। उसकी अमृता चाँदनी के निर्जन प्रसार में, एक शुक्ल पुरुष की तरह अपने को उन परिणमन की लहरों पर मुक्त विलास करते देख रहा हूँ। . . चेतना के इस शुक्ल दर्पण में सहस्रार का अखण्ड मण्डलाकार चन्द्रमण्डल रह-रह कर प्रतिबिम्बित हो उठता है।

. . आत्मा अपने भावों और परिणामों की ऊर्ध्व और अधो परिणति के अनुसार, इन षट्-लेश्याओं के नानारंगी बिल्लौरी फानूस में, नाना रूपों में भावित, भासित, प्रतिभासित होती रहती है। पर स्फटिक का वह कुम्भ, जिसमें यह संवेदनों और कषायों की रंग-लीला चल रही है, अपनी निर्मल, उज्ज्वल स्फटिकता मे सदा अस्पृष्ट रहता है। उसके सहस्रों जगमगाते हीरक पहलुओं में ये सारे रंग-प्रवाह यों झलक मारते हैं, मानो वह स्फटिक ही कभी नीलम हो जाता है, कभी मर्कत हो जाता है, कभी माणिक हो जाता है, कभी पुखराज हो जाता है, और कभी मुक्ता फलों का प्रान्तर, तो कभी हीरों का जगमगाता महल। पर मूलतः वह स्फटिक रंच भी बदलता नहीं, रंगीन नहीं होता है। अपनी पारदर्शी उज्ज्वलता में ज्यों का त्यों अप्रभावित रहता है। जैसे बिल्लौर के प्याले मे रक्तिम मदिरा हो, या कोई कबूतर हो, या हरियाला उपवन हो, उसे क्या अन्तर पड़ता है।

ये लेश्याएँ, आत्मा की भावात्मक और रागात्मक परिणतियाँ हैं। ये वे मूल स्रोत हैं, जिनमें से कर्म-रज का मन और चैतन्य में प्लवन होता है। आश्रव होता है। स्वयं चैतन्य में से ही, मनोचेतना में उद्गीर्ण होकर ये अनेक राग-भाव इन नाना रंगों के मंडलों में खेलते हैं। पर चैतन्य इनका कर्त्ता नहीं। ये चैतन्य के कर्त्ता, विधाता और निर्णायक नहीं। इन नाना रंगी छायावनों में चैतन्य अनाहत, अलिप्त खेलता विचरता है।

जाने किस अपने ही अचीन्हे स्रोत में से ये भावोर्मियाँ प्रवाहित होती हैं, और चैतन्य के

कटिबन्धों को सत, रज, तम की अनेक रंगारंग छायाओं से आकीर्ण कर देती हैं। पर न बिल्लौर इन रंगों का कर्त्ता है, न ये रंग बिल्लौर के मूल द्रव्य को अपनी आभाओं और छायाओं से रंजित या आच्छादित कर सकते हैं। चैतन्य की अभावात्मक छाया के निगूढ़ रहसीले विवर में से ही अचानक कषायों का यह नागवन रातों रात उठ खड़ा होता है। जड़ और चैतन्य के गठबन्धन की इस मर्म-ग्रंथि को किसी विश्लेषण द्वारा खोला या सुलझाया नहीं जा सकता। इसे समग्र आत्मिक आश्लेषण से, मात्र अपने हृदय-कमल में स्फुरित अजस्र सौरभ की तरह अनुभूत किया जा सकता है। . .



और यह क्या हुआ, कि कहीं अलक्ष्य शून्य में किसी ने हठात् यह लाल कमलों का धनुष ताना है। . . उफ्, एक अदृश्य कुसुमबाण मेरे हृदय को बिद्ध कर गया। ओ . . कामदेव ! बहुत दिनों बाद फिर मेरी राह आये, मदनेश्वर ! तुम्हारा सहर्ष स्वागत है, मेरे अपने ही मनोज-देवता ! यदि मेरी मुक्ति की राह में तुम्हारा कुसुम्भी फूलदेश सामने आया है, तो अवश्य उसमें से यात्रा करूँगा। तुम्हारे रासकुंजों के रसाकुल अंधकारों में अव्याबाध संचरण करूँगा। तुम्हारे तमालवनों में निरन्तर चल रही मिथुन-लीला को फूल हारों की तरह अपने गले में धारण करूँगा। उन फूलों को सूँघकर उन्हें अपनी सुषुम्ना की तुरियातीत नदी में बहा दूँगा। लो, मैं आया काम, तुम्हारे महाराज्य में। तुम्हारी मादिनी हवाओं से मैं अपरिचित नहीं हूँ ।

चन्दनी रंग का आकाश वातास। उसमें रह-रह कर छिनक उठती हैं गुलाबी बुँदकियाँ। कहीं अलक्ष्य दूरी में मलयागिरि की श्रेणियाँ। उनके शिखर-देश पर झूमती चन्दन-वृक्षों की पंक्तियाँ। उनकी डालियों में से प्रवाहित मलय-पवन की लहरियाँ। सारा वातावरण उनकी विदग्ध उन्मादना से चंचल है। उन मलय-विटपों के तनों में लिपटे रति-विभोर सर्प-युगल। उनके नील श्वासों से ित वातास में उभरती हरियाली का विश्व।

. . गुलाबी नीहार में से आकार लेता पद्मराग-मणि का भव्य तोरण सम्मुख है। उसके शिखर पर लोहिताक्ष ज्वाला में से तरंगित काम-बीजाक्षर 'ह्रीं'। मेरे भीतर ध्वनित हुआ 'ह्रीं . . अर्हं '। ओ, वसन्त का सदा-तरुण अप्सरा-कानन। सहस्रों फूलों लदी डालियों के आमन्त्रण। मैं उस पद्मराग-तोरण में प्रवेश कर गया।

पलाशों की झाड़ियों में दीपित किंशुक फूलों की कई कई रतुल हथेलियाँ। उनमें उठती ज्वालाएँ। उनके छोरों पर तरंगित, ध्वनित 'ॐ ह्रीं ॐ ह्रीं . ॐ ह्रीं।' और चारों ओर खुल पड़ीं, सब ऋतुओं के सारे ही फूल वनों और फलवनों की वीथियाँ। जुही और मालती की नाजुक लताओं से छाये बेलावन। . . . दूर पर छायी कादम्बिनी अँधियारियाँ। उनमें ऊष्म कचनार-वन, नीले तमाल-कुंज, पीताभ कदम्ब कानन। बहुरंगी फूलों की सुगंधित जालियों से आच्छादित, निगाह के पार तक फैला फूलों का सीमाहीन विश्व। . . रंगारंग फूलों के ज्वार, फूलों के प्रान्तर, फूलों के क्षितिज। फूलों के ही दिनरात। फूलों के ही सूर्य-चन्द्रमा। फूलों के दिगन्त।

. . एक इन्द्रधनुषी ओढ़नी, हवा में उड़ती हुई, इस सारे वसन्तराज्य पर फहरा रही है। . . उसकी मादन मौलश्री गंध । उसमें जाने किन मंजरित आम्रवनों की गहरी गोपनता का आमंत्रण है । . . कोकिल की मादिनी टेर में फूटता पूरा अम्बावन । पकने को व्याकुल एक अदृश्य विपुल आम्रफल । उसकी गुलाबी पीलिमा । उसके भीतर बन्द रस, मार्दव, माधुर्य, स्पर्श का व्याकुल गहराव ।

. . जाने कौन मँजरियों की बाँहें, मुझे उन रसालवनों की गहराइयों में खींचती चली गईं। कामिनी के पदाघात से फूले अशोक वृक्ष ने मुझे कुंकुम-केशर से रंग दिया । सहकार लता की किसलय हथेलियों ने मेरे अंग-अंग को अबीर-गुलाल से नहला दिया । . .

'. . टन्न . . न्न . . न्न !' पृथ्वी के सागर-वलय पर से उठते लाल कमलों के विराट् धनुष की टंकार ! . . अलक्ष्य में से सनसनाकर आता एक कुसुम-बाण मेरे हृदयदेश की कोर पर आ कर स्तम्भित खड़ा रह गया । . . और सहसा ही, हज़ारों रंगारंग फूलबाणों की वर्षा । अधर में मेरे चारों ओर स्तम्भित उन तीरों ने मेरी रक्त-तरंगों पर इन्द्रधनुष का एक तरल वितान छा दिया ।

. . मैं तुम्हारे मोह-राज्य के मर्मदेश में आ पहुँचा, कामदेव । कहाँ हो तुम ? दिखाई नहीं पड़ते ! अलख स्पर्श के उन्मादन पुष्पाघातों से सारी सृष्टि की चेतना को विकल-घायल कर देते हो तुम । . . अनंगदेवता, तुम्हारी चिरन्तन गोपनता का रहस्योद्घाटन करने के लिए, क्या मुझे भी विदेह हो जाना पड़ेगा ? समझ रहा हूँ, स्वयं अनंग हुए बिना, अनंग का मर्मभेद सम्भव नहीं !

. . देखो न, वही तो हो गया हूँ । कि तुम्हारे फूलों के तीर मेरे चारों ओर अधर में थमे रह गये हैं । तुम भी अनंग, मैं भी अनंग । नंग से अनंग होने में देर ही कितनी लगती है । अन्तर-मुहूर्त मात्र । तुम्हारे तीर बींधें तो किसे बींधें ? . . मैं आप ही अपना स्पर्श हो गया हूँ । मैं आप ही अपना रंग, रूप, गन्ध ध्वनि हो गया हूँ । तुम्हारे मोहन राज्य का आभारी हूँ, ओ शरीरों के अदृश्यमान शरीर ! मैं तो शरीर लेकर आया हूँ तुम्हारे लोक में । . . पर तुम्हारे कुसुमबाणों के मृदु आघातों ने विपल मात्र में ही मुझे अशरीर कर दिया। आघात से परे का अपना अव्याबाध मार्दव मैं पा गया ।

. . कहीं दूर के परिप्रेक्ष्य में द्राक्ष-लताओं से लिपटे सेववन, नारंगीवन, जम्बूवन, नीम्बूवन, धरा चूमते पीत आमों से लदे अम्बावन । उनकी अज्ञात गोपनता में से फूटती सीत्कार-ध्वनि । . . परिरम्भणाकुल रति की कातर आह, उच्छ्वास । . . शचि और इन्द्र की विलास-शैया का नुपूर-शिजन । . . कुन्द फूलों के वातायन मे विदेह-क्षेत्र की कुमारिका । उसका विह्वल केशाविल वक्ष-निवेदन । कैलाश की दो गुम्फित हिम चूड़ाएँ । माणिक्य की खिड़की पर बेला फूलों से लचकती मालविका का सन्ध्या भिसार । मातंग-विमोहिनी वीणा की सुरावलियों पर उदयन और वासवदत्ता की मिलन-शैया । लाट देश की सुन्दरी के विपुल कुन्तलों में से घिरता मोहगन्धी अन्धकार । केरल-सुन्दरी के रोमांचनों से उन्मादित कदलीवन और मलयवन । उनके स्निग्ध अन्तःपुरों में अभिसार ।

पुलकाकुल कदम्ब, तमाल, चम्पक, कचनार के गहन वन । उनके गहरावों में घूमती,

लहराती कादम्बिनी के अनाघ्रात अंधियारे । उनमें जाने कितनी देखी-अनदेखी प्रियाओं के अन्तःपुर। . . सिसकारियों के सप्तकों में, चिर आलिंगित रति और काम का अन्तहीन रमण-संगीत । ओ . . आगत, विगत, अनागत के सारे नर-नारी युगलों को अपने रोम-रोम में क्रीड़ा करते अनुभव कर रहा हूँ । . . और पराग की चादरों में रभसलीन हंस-मिथुन, कपोत-मिथुन, सर्प-मिथुन, मयूर-मिथुन : केवल मेरा शरीर, जो किसी भी क्षण होता है, और नहीं भी होता है । मेरे अपने ही में लीन होते शरीर में ये सब सारांशित होकर पूर्णकाम हो गये हैं ।

ओ सृष्टि के स्थायी भाव, स्रोतोमूल देवता ! तुम हो केवल मेरे ही चैतन्य की एक तरंग । प्राणि मात्र की रक्त-शिराओं में तुमने अपने को धनुषाकार तान रक्खा है । तीनों काल में तीनों लोक, तुम्हारे पुष्पाघातों से घायल विह्वल होते रहते हैं । और नाना रूपाकारों में, नाना सौन्दर्यों में, संचारित हो रहे हैं । वे यों बिलस रहे हैं, कि संसार की धारा अक्षुण्ण प्रवाहित है । यह सब चैतन्य का ही चिद्विलास है । चैतन्य के बिना भाव कहाँ, स्फुरण कहाँ, रमण कहाँ, परिणमन कहाँ ?

सुनो काम, तुम मेरे लिये आत्मा के अतिरिक्त और कोई नहीं । मेरे ही चेतस् चित्त में से तरंगित होकर तुम मेरी एकमेव आत्मा को ही अनन्त सम्भावनाओं में व्यक्त करते हो । तुम्हारी उद्दाम क्रीड़ाओं में भी मैं अपने ही आत्म की अचिन्त्य महाशक्ति का अनुमान पाता हूँ ।

ओ मेरे आत्म के ही विश्वसंचारी वीर्य, देश-काल के पटलों में जी भर खेले तुम अनन्त काल में । लेकिन ओ विदेह, तुम्हारी शरीरिणी रति तुम्हे सदा धोखा दे गई । हर बार तुम्हें रमण की मझधार मे अतृप्त छोड़ कर, वह मोहिनी तुम्हारे हाथों मे से जाने कहाँ फिसल जाती है ! . . डरो नहीं काम, मै तुम्हारा अपहरण करने नहीं आया । मै तुम्हारे राज्य को मिटाने नहीं, ऊपर उठाने आया हूँ । मै तुम्हे जला कर भस्म करने नही आया, तुम्हे असीम अनाहत में परिपूरित करने आया हूँ ।

आओ काम, मेरे आत्मज, तुम्हारी शाश्वत रति, मेरे अन्तःपुर मे तुम्हारी व्याकुल प्रतीक्षा कर रही है । . .



. . और लो, कामराज्य का इन्द्रधनुषी नीहार लोक अनायास बीच से विदीर्ण हो गया । वह मेरे दोनों ओर सिमटता चला आया । . . नीलाभ दिगन्त का विराट् मण्डल सामने खुल पड़ा है । निस्तब्ध निर्जन । अचानक उसकी कोर पर विशाल हेमाभ पंख पसारे यह कौन उड़ा आ रहा है ? उसके पंछी-मुख मे रह-रह कर कोई देवमुख झलक मारता है । उसके मस्तक पर सर्प कुन्तलों की तरह लहरा रहे है । उसके दोनों कन्धों पर झूलते दो फुँकारते भुजंगम । एक उसके मस्तक पर फणामंडल तान कर पीठ पर लटक गया है । दूसरा उसे सिर से पैर तक मापता हुआ, उसके उपस्थ पर आरूढ़ हो नीचे की ओर धावित है । एक मानवाकार महापक्षी ।

. . पहचान रहा हूँ तुम्हें, गरुड़-देवता । समझ•रहा हूँ, मुझे अपने प्रज्ञालोक में ले जाने आये हो । तुम्हारे भूमण्डल, जल मण्डल, वायु मण्डल, अग्नि मण्डल, आभा मण्डल में उन्मुक्त विहार करना चाहता हूँ । इन्हें पार करके ही तो अपने आत्म के सहस्रार में आरोहण कर सकूँगा ।

मैं तुम्हारे चरणों को अपने कन्धों पर धारण करने को प्रस्तुत हूँ। तुम्हारी जंघाओं की तात्विक पृथ्वी मेरे सम्मुख तैर आयी है, कि मैं उस पर पगधारण करूँ। लो, मैं आया . . । मैं अवरूढ़ हुआ . . !

आत्मा का परमाणु विस्फोट

. . इन्द्रियों के द्वार बाहर से बन्द होकर, एक अन्तर्मुख बोध में एकाग्र हो गये हैं। मनातीत स्तब्धता में स्थिर हो गया हूँ। साथ ही तलातल मे उतरते चले जाने की अनुभूति हो रही है। एक सान्द्र सघनता में चेतना घनीभूत होती जा रही है।

. . और देख रहा हूँ सामने, कि गरुड़राज के पगों से उपस्थ तक व्याप्त तात्विक पृथ्वी के राज्य में संक्रमण कर रहा हूँ। धूलि और पंक से पार हो कर, एक अपारदर्शिता में घिर गया हूँ। नितान्त दृश्यहीनता में किसी अटल अवरोध से टकरा रहा हूँ। एक ऐसी स्थिरता और घनत्व, जिसमें ठहराव है। चीजें टिक सकती हैं। आधार पा सकती हैं। ओह, धारिणी पृथ्वी ! अवरुद्ध करती हो, बाँधती हो, रोकती हो ऊर्जा के प्रवाह को ,ताकि गर्भाधान कर सको। अपनी प्रतिबद्धता में से पिण्ड को प्रकट कर सको।

ओ उर्वी, तुम उत्पन्न करती हो, सृजन करती हो। कौन कहता है, कि तुम जड़ तत्व हो ? तुम तो माँ हो। माँ अचेतन कैसे हो सकती है। वह तो सृष्टि की स्वतःस्फूर्त प्रज्ञा है। . . तुम तो दीये की तरह प्रकट चिन्मति हो। जिनेश्वरों ने तुम्हे आत्मा की एक पर्याय, पृथ्वीकाय देखा और जाना है। भौतिक यों कहा, कि तुम नित्य भवमान हो, हो रही हो। निरन्तर भव्य हो। जो सदा अनन्त-कोटि पिण्डों मे प्रकट हो रही है, वह तो जीवन की अजस्र धारा है। उसका जड़त्व से क्या सम्बन्ध !

जड़, कूटस्थ यहाँ कुछ नहीं है। मुझे तो सभी कुछ चिन्तमय प्रतीत होता है। चिन्मय यदि दीपक है, तो मृण्मय उसी के प्रकाश में से आकृत लालटेन है। जब पृथ्वी, अप, वायु, अग्नि सभी तत्व जीव-निकाय हैं, तो अजीव को कहाँ खोजूँ। . . मैं वहाँ से गुज़र रहा हूँ, जहाँ जीव और पुद्गल के बीच का परोक्ष धागा अनायास सिरा जाता लगता है। जहाँ भवमान भौतिक, और स्थिरमान आत्मिक के बीच का भेद-विज्ञान एक अकथ बोध में विलुप्तप्राय लगता है।

ओ माँ धरती, किस क़दर खींच रही हो मुझे अपने अन्तरतम कक्ष में। अनिर्वार और विशुद्ध है यह आकर्षण। अत्यंत कुँवारी कशिश। . . लो, मैं आ गया तुम्हारे गर्भ में। अपारदर्श अँधेरा। शुद्ध अन्धकार। . . और देखते-देखते इसमे ज्योति के बिन्दु फूटने लगे है। और मानो शून्य की इस यवनिका के भीतर कुछ अनावरित हो रहा है। . . सहसा ही जैसे पर्दा सिमट गया। नागचम्पा की कर्णिका जैसा एक पीताभ चतुष्कोण सामने आया। जो निगाहों के पार तक सर्वत्र फैला है। उसके प्रसार मे बहुत कोमल ज्वारों का आभास। एक रेशमीन ऊर्मिलता, बेमालूम कम्पन। ओ, यह पृथ्वी का मूलगत मण्डल है। इसके हार्द में पीले कमलों का शरीर लेकर यह कौन उठ रही है ? . . इसके रोम-रोम से केसर-पराग की धूलि झड़ रही है। इसके अंग-अंग

में सुगन्ध के सरोवर लहरा रहे हैं। . . ओ पृथा, वज्र-कठोर है तुम्हारा यह कोमल बन्धन। तुम्हारे कटिबन्ध को तोड़ने के लिए कई योगी जनम-जनम जूझते हैं। पर तुम्हारी इस वज्रता के भीतर कैसे रस और मार्दव की सुवर्णा छुपी है। सुवर्ण-मल्लिका।

. . तुम्हारे शाश्वत कौमार्य के कटिबन्ध को भेदे बिना, तुमसे मिलन साक्षात्कार सम्भव नहीं। . . एक प्रचण्ड प्रवेग से सिर के बल तुम्हारे उरुमूल में धँसता हुआ, तुम्हारी मेखला के गहरे होते प्रदेशों मे उतरा रहा हूँ। . . ओ, यहाँ गहन-गहीर अँधेरे में दीपित हैं रत्नों की खानें, सुवर्ण-रौप्य की खानें, ताम्र की खानें, अभ्रक और पारद की खानें, लोह की खानें, फौलाद के परकोट। वज्र-पंजर के चतुष्टय से आवेष्टित है तुम्हारा यह दुर्ग। और इसके केन्द्रस्थ सुमेरु में तुम्हारा अधिवास है। कपिश-पीत लोहित रंग के दो सर्प, वासुकी और शंखराज, परस्पर गुँथ कर तुम्हारे कटिमण्डल को जकड़े हुए है। उनकी शिरोमणियों के सहस्रार मे अपार अग्नियों के जंगल हैं। . . और मैं ज्वाला के कितने ही तोरणों से अनायास पार हो रहा हूँ।

. . और लो, वहाँ आ पहुँचा हूँ अचानक, जहाँ तुम्हारी त्रिवली में सुवर्ण जल का एक सरोवर है, गहन शान्ति में ऊर्मिल। . . पृथा, आद्या कुमारी, तुम्हारे कौमार्य ने मुझे कृतार्थ किया। यहाँ तुम्हारे पूर्णालिंगन में आते ही, एक अद्भुत अतिक्रान्ति अनुभव हो रही है। तुम्हारी उरु सन्धि में से एक सुवर्ण कमल की तरह प्रस्फोटित हो कर ऊपर उत्क्रान्त हो गया हूँ। . .

. . एक घनसार तरलता मे अवगाहन की अनुभूति हो रही है। अन्तरतम के ज्वारिल दबावों का घनीभूत संस्पर्श। चेतना के सुदूर तीरों में तड़कती विद्युल्लेखाएँ। उनकी बाँहों में आन्दोलित मेघों के घहराते पटल , जो बात की बात मे धारासार बरस कर समुद्र का श्यामल प्रसार हो गये है।

ओह, यह वरुण का जलराज्य है। इसकी अगम्य गहराइयाँ मुझे पुकार रही है। . . लो, मैं आया, मैं आया वरुण देवता, तुम्हारे तारल्य के लोक मे।



. . क्षितिजहीन तरलता का मण्डल। दिशा दर्शन, ज्ञान के तटों को बहाता हुआ। प्रवाह और परिणमन का नग्न साक्षात्कार। अपमण्डल, जलजलायमान विश्व जल, अन्तहीन जल। . . मण्डलाकार, फिर भी मण्डलातीत। पद्म और कर्कोटक नामक आशिविष सर्पों से आवेष्टित। सर्प, जिनमे क्षीर समुद्र के पटल आबद्ध है। बँध कर भी जो अनुपल बन्धन तोड़ कर नित नव्य कुण्डलों मे ऊपर की ओर उत्थायमान है। अपने प्रभाजाल से ही मानो जो आकाश को आविर्मान कर रहे है। उन सर्पों के बीच समर्थ वरुण दिक्पाल ने गरुड़ का उत्संग निर्मित किया है। वह जल के बीजाक्षरों से स्फुरायमान है। श्वेत पुण्डरीक वन पर तरंगित अक्षरमाला। उनमें अनुक्षण जल शुक्ल कमलों में आकृत हो रहा है। . . और कमलजाल जल मे विसर्जित हो रहा है।

. . जलप्रभा का तात्विक पारावार। उसके केन्द्र में अर्द्धचंद्राकार वरुणमंडल। उसमें से विच्छुरित होते जल-किरणों के वितान। इन्द्रधनुष का एक विराट् गुम्बद। उसके छोरों पर से फूटते

दिग्वलय। उस गुम्बद तले जल-हरिणी पर आरूढ़ वरुण-देवता। उसके हाथ में है लहरों का पाश।

. . लो, मैं आया तुम्हारे पाश में। . . लेकिन यह क्या, कि कोई किसी को बाँध नहीं पा रहा। लहरें, जो आप ही अपने को बाँध रही हैं, आप ही अपने को खोल रही हैं। लहरें, जिनमें बँध कर, मुक्ति के उन्मुक्त क्रोड़ में खेल रहा हूँ।

. . आप्लावन, आप्लावन, आप्लावन ! एक साथ ऊपर के अगम्य में आरोहण, नीचे के अथाह में अवरोहण। अवगाहन, अवगाहन, अवगाहन ! अतल के वनस्पति-वनों में महा जलसर्प की तरह संसरित हूँ। . . ओह, बड़वानल की मण्डलाकार राशियाँ। हिमानी की अन्तर्निहित अग्नियों में स्नान कर रहा हूँ। . . और लो, त्रिवली के त्रिकोणाकार ध्रुव-प्रदेश में आ पहुँचा हूँ। . .

उसके फणामण्डल पर मगर-मच्छों की शैया। उस पर अँगड़ाई लेकर उठ रही है, यह कौन श्वेताभ जलांगना ! . . लहरों की हज़ारों बाँहों से परिवेष्टित मैं, मकर के जबड़ों में यात्रित। जलान्धकार में, कटि से कटिसात् बाहुबद्ध जलिमा के साथ संघर्षण। समुद्र-मंथन। अपने ही वक्ष में से तड़कती बिजलियाँ। दारुण वज्राघात। उसमें से विस्फोटित जलराज्य की गहिरम अन्तरिमाएँ। उनमें दीपित सीप, शंख, मुक्ताफल, प्रवालों के ज्योतिर्मय कक्ष। कालकूट विष के प्याले में उफन रहे अमृतफेन। कहाँ गई वह वरुण सुन्दरी ? वह केवल मेरी ही आँखों में छलकती वारुणी हो रही। मेरी ही वैश्वानर, मेरे ही आत्म में से अविरल प्रसारित विद्युत् का पारावार। उसमें से तरंगित त्रिकालवर्ती अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड। मेरी ही आत्मशक्ति, मेरी ही चितिशक्ति। उसके अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं, कुछ नहीं, कुछ नहीं।

लो, मैं विस्फोटित हुआ। समस्त लोकाकाश के आरपार तड़कती विद्युल्लेखाएँ। वह्निमान लोक-पुरुष, नाभि-कमल पर दण्डायमान। . . यह कौन है, यह कौन है ? . .

देख रहा हूँ गरुड़राज, यह तुम्हारा उरःप्रदेश है। वह्नि दिक्पाल का महाराज्य। अनन्त और कुवलिक नामा ब्राह्मण जाति के सर्पों से यह वलयित है, संरक्षित है। अनन्त मण्डलाकार ज्वालाओं की पंक्तियों से यह परिव्याप्त है। ज्वालाएँ, जिनकी आकाश भेदी लपटों में एक महासर्पिणी ऊर्ध्वों में फूत्कार रही है। अपनी असंख्य कुण्डलियों के ग्रंथिजाल में से उन्मुक्त होती हुई, जो अगम शून्यों के पटलों को कम्पित कर रही है। निस्पन्द स्तब्धता के प्रान्तरों में जो एक स्फोट के हिलोरे जगा रही है। . . लो, घटस्फोट हो गया !

. . उस शून्य के केन्द्र में उद्गीर्ण हो उठा एक धगधगायमान हवनकुण्ड। उसकी हुताशन-शिखा पर एक श्वेत कर्पूरी लौ। उसमें स्फुरित है बीजाक्षर 'रं': उसकी 'रंकार' ध्वनि से शून्यों के रिक्त मण्डल सत्ता के संचरण से आपूरित हो उठे हैं। उस हवन-कुण्ड की त्रिकोण वेदी के तीनों कूटों पर अंकित हैं लोहिताक्ष ज्वाला के स्वस्तिक। माणिक्य के स्तवकों में, जैसे सृजक वैश्वानर की मांगलिक अग्नि विराजित है। कला में चित्रित, समाहित, स्तंभित। वह सर्वत्र अन्तर्व्याप्त है।

चित्र-विचित्र सृष्टि के अग्नि-बीज। अज्ञान के अँधेरों मे लिपटे हुए। जड़ कर्म-रज के बन्धनों में आवेष्टित। . . लेकिन चिन्मय अंगिरा उन खोलों को बरबस तोड़ कर फूट निकलते हैं। फिर भी बन्धक रज के अदृश्य तंतुजाल चिन्मय अग्नि शिखाओं के स्वाभाविक उपग्रह को

व्यभिचरित करते है। . . और विशुद्ध वैश्वानर मे कषाय के कड़वे धुएँ उठने लगते हैं। और यों मूलतः सुन्दर सृष्टि अपने प्राकट्य और विस्तार में विषम, विसम्वादी हो उठती है। सुन्दर चेहरे में से असुन्दर फूट निकलता है। इस क्षण का अत्यन्त आत्मीय लगता प्यार, अगले ही क्षण बैर हो कर सामने आता है।

परम जीवन अग्नि, विनाश और मृत्यु से धूम्रायित हो जाते हैं। सारी सृष्टि घुटन में जीती है; मौत, अरक्षा और अनिश्चय की सुरंगों में उलझ-उलझ जाती है। जीवन-जगत एक अन्तहीन संत्रास, और त्रासदी के अतिरिक्त और कुछ नहीं लगता। सारे सौन्दर्य, प्यार और सम्बन्ध अन्ततः अपने ही को धोखा देते दीखते है। . . कहाँ, कैसे इससे निष्कृति हो ? आह, मेरी इस वेदना को कौन समझेगा ? कौन . . कौन . . कौन ? अरे कोई सुनता है कहीं मेरी पुकार, मनुष्य के बेटे की पुकार, सत्ता के इन अन्तहीन मण्डलों में ? . .

. . लो, उस केन्द्रीय हवन-कुण्ड का 'रं' से अंकित हुताशन एक विकराल जिह्वा में प्रलम्बित होता हुआ आकाश को भेद रहा है। असत्ता के जड़ रिक्तों से टकरा रहा है। . . और वहाँ, सत्ता और असत्ता की अलक्ष्य सन्धि पर, तुमुल अन्धता का भीषण प्रकोप। उसमे से एकाएक कोई वह्निमान पुरुष कूद कर वेदी पर आ खड़ा हुआ है। अज (बकरे) पर सवार है, वह अजन्मा। और वह मुझे ज्वाला की बाहुएँ उठाकर आवाहन दे रहा है :

'ओ रे शाश्वत मनुज, आदि मनु-पुत्र, आओ, आओ, आओ, यह 'रंकारी' हुताशन तुम्हारी आहुति माँगता है। ताकि जड़त्व के सूक्ष्मतम हठीले खोल कट सके, और वैश्वानर निर्धूम हो कर, निर्बाध हो कर, अपने विशुद्ध सौन्दर्य और सम्वाद के विश्व को मनुज की पृथ्वी पर प्रकट कर सके।'

और अजारोही अंगिरा ने अपने हाथ मे थमे सप्ताशी अग्नि के आलात (ज्वलित काष्ठ) को अधिकतम ऊपर उठा कर उसे एक चुनौती की तरह मुझ पर फेंका। उसे मैने अपने नग्न हृदय के कमल में झेल लिया। . . और लो, मै आपाद-मस्तक विशुद्ध, पारदर्श अग्नि शरीर में सर्वत्र व्याप्त हो उठा। . . और काल के शून्यांश मात्र मे, जाने कब, मै एक ही सहस्रपाद छलाँग में, उस असत्ता से संघर्षित हुताशन की 'रंकारित' शिखा मे कूद पड़ा। विशुद्ध अग्निला से विशुद्ध वैश्वानर का चरम आलिंगन। उसकी निविड़ता मे, चिरकाल के अचल, अजेय कर्म-भूभृतों का भंजन, विस्फोट। . . श्वेत भस्मों की ढेरियों से व्याप्त अन्तरिक्ष के भीतरी प्रसार।

. . और मेरी आग्नेय साँसों में घुमड़ उठे प्रलय के प्रभंजन। उनमें उड़ कर विलीयमान होती, वे पांडुर भस्म की राशियाँ। अफाट पर्जन्यों का तुमल गर्जन। हवा के दिगन्तवाही पालों में पिघल कर विलीन हो रही बिजलियाँ। विशुद्ध वायु की तरंगमाला। और उस पर आरोहित मैं। . . कहाँ . . किस ओर . . ?

. . ओ गरुड़ देवता, देख रहा हूँ, यह तुम्हारा मुख-मण्डल है। सकल भुवनों में व्याप्त अनेक पवनों की अलकावलियों से यह मंडित है। देख रहा हूँ, कि तक्षक और महापद्म नामक शूद्र जाति के दो सर्पों के कुण्डल यह धारण किये हुए है। उन्ही की फूत्कार से विस्फूर्जित हो कर पवन दसों दिशाओं मे बहता है। चौदहों भुवनों के आभोग को उसने कम्पायमान कर रक्खा है। अपने द्वारा उड़ाये हुए भ्रमरों की कालिमा, तथा उससे मिश्रित अपने शरीर की विपुल उच्छ्वास-प्रभा से

उसने समस्त आकाश-मण्डल को कुर्वुरित कर रक्खा है।

मरुत-मुद्रा से मंडित, ओ वायु-पुरुष मैं तुम्हारे आमने-सामने हूँ। जलसीकरों से निर्मित तुम्हारे भामण्डल में, अपने जन्मान्तरों के भस्मीभूत कर्मचक्र को विशुद्ध पुद्गल द्रव्य में विगलित देख रहा हूँ।. . कल्पान्त काल की आँधियाँ एक त्रिक में स्थिरीभूत हो कर, तुम्हारे आसपास एक निलय रचे हुए हैं। उसके केन्द्र में व्योमातीत व्योम के निगूढ़ विवर में तुम्हारा अधिवास है। नीलांजन घन की सान्द्र छाया तले, देख रहा हूँ तुम्हें, वातप्रमी जाति के हरिण पर सवार। वेगीले विहार से लीलायित तुम्हारे दुर्ललित हाथों में दोनों ओर दोलायित हैं, शाल वृक्ष की शाखाएँ। उनके छोरों पर रह-रह कर किसलय फूट रहे हैं।. .

उन्चास पवनों के झकोरों पर आरोहित, पुष्पित शालों की वनलेखाएँ।. . जो मेरी पश्यन्ती दृष्टि के उन्मीलन में, जाने कब अपसारित होकर, एक श्वास मात्र हो रही, मेरे नासापुट पर स्तम्भित।. .

और अब मेरे समक्ष है, गरुड़राज की समग्र मूर्ति, समस्त आकाश को परिव्याप्त किये हुए जिसकी परात्परगामी उड़ान को देखा नहीं जा सकता। अमिताभ है उसके दिगन्तरगामी पंख। जो इतने वेगीले हैं, कि गति का यह चरम वेग ही, परम स्तब्धता बन गया है। उनके विराट् प्रसारों पर सरसरा रहे हैं जय और विजय नामा महासर्प। जिनकी मणि-प्रभाओं से दिशाओं मे उजालों के वरण्डे खुलते जा रहे है :

अनन्तों में उड्डीयमान प्रज्ञा-पुरुष, गरुड़ देवता। अपने अधो भाग में पृथ्वी को समेटे। अपने आभोग में स्वयम्भू रमण समुद्र से वलयित। उरस्थल मे अग्नियों की वनमाला धारण किये। मुख-मण्डल मे असंख्य वायु-पटलों से प्रकम्पित।. . तुम्हारी प्रज्ञा मे तत्व अपनी तमाम विविधताओं के साथ प्राकट्यमान है। कृतज्ञ हूँ तुम्हारा, हे महाविज्ञान, कि तुम्हारे भीतर पाद से मस्तक तक यात्रा करते हुए, मै तत्व की हर सम्भव लीला मे लीलायति हुआ, अभिव्यक्त हुआ। उसके भीतर-बाहर को एकाकार पार किया। अमूर्त से मूर्त मे और मूर्त से अमूर्त में एक बारगी ही अन्तर-संक्रमित हुआ। और अब तुमसे उत्तीर्ण हो कर, फिर अपने आत्म के और भी अगले तट पर आ खड़ा हुआ हूँ। और देख रहा हूँ, तुम्हारे एकाग्र सम्पूर्ण विग्रह को। आकाश-मण्डल को कभी अपने सर्वव्यापी पंखों से प्रसारित करते हुए, कभी अपसारित करते हुए, उससे भी परे उड्डीयमान।

. . ओ समस्त की संचारिणी शक्ति काम, तुम मुझसे अन्य कोई नहीं। तुम भी केवल आत्मा ही हो। और समस्त के प्रकीर्णक और प्रज्ञाता, विकीर्णक और विज्ञाता गरुड़देव, तुम भी मुझसे अन्य और कोई नहीं। अन्ततः केवल आत्मा ही हो। आत्मा, जिसकी ज्योति, शक्ति और सम्भावना का पार नहीं।. . .

. . केवल मैं, केवल मै। केवल आत्म, केवल आत्म। ऊर्ध्वातिऊर्ध्व के मण्डलों में उड्डीयमान।. .

. . और ऊपर, और ऊपर, और ऊपर।. . आकाश से भी परे का आकाश। महाशून्य में एकाएक प्रस्फुरित नीलिमा का निलय।. . 'तच्चिन्मयो नीलिमा।' उसके गहन में विश्रब्ध एक ज्योतिर्वलय। उसमे पद्मासनासीन, एक आत्मलीन पुरुषाकृति, जिसमें सारे रंग एक

साथ तरंगित हैं। और वह रंगारंग तरंगमाला, एक अगाध श्वेतिमा में निर्वापित है। अविभाज्य समय में, तरंगित निर्वापितः निर्वापित-तरंगित। अकम्प श्वेत, एकाकी लौ। . . शिव, सदाशिव, परशिव। परात्पर शिव। . . मैं।

. . मैं मैं मैं —मेरे अतिरिक्त कहीं और कोई नहीं।

. . मेरे पैरों को जकड़े हुए काल का महाव्याल। आठों कर्मों की साँकलें अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ झनझना रही हैं। मुझे और भी कस रही हैं। . . छटपटा रही हैं, तड़तड़ा रही हैं, टूटते-टूटते मुझे और भी अधिक जकड़े चली जा रही हैं। . .

. . मुझे पुद्गल के उन विक्षुब्ध पाशों पर दया आ गई। मेरे ही चैतन्य में से अवरूढ़ राग की ये जन्मान्तरगामी सन्ततियाँ। निर्दोष हैं ये। ये अपना काम कर रही हैं। मैं अपना काम कर रहा हूँ। ये अपने स्वभाव में सक्रिय हैं। मैं अपने चिद्भाव में सक्रिय हूँ। इनका स्वभाव है बाँधना। तो ये बाँध रही हैं। मेरा स्वभाव है खुलना, खोलना। तो मैं खुल रहा हूँ, खोल रहा हूँ। . .

. मेरे चारों ओर संक्षुब्ध, फून्कारते व्यालों के फणामण्डल। तड़क कर टूटती शृंखलाओं की झंकारें। . . और ठीक तभी मैं अपने पीछे, असीम अतीत में एकाग्र देख रहा हूँ! महाकाल की असंख्य पुंजीभूत तिमिर-रात्रियाँ। अन्धकार की परात्परगामी खाई। उसकी घोर अँधियारी कगार। तमस का घहराता काला सागर। तमिस्रा के आरपारगामी जंगल। . . कज्जल-गिरियों की उत्तुंग श्रेणियाँ। . . उनमें संघटित होती वज्र चट्टानें। मेरी हड्डियों में अनुभूत।

. . विशुद्ध लोह की पर्वत-साँकलें। चुम्बकीय शक्ति के वर्तुलों में परस्पर संघर्षित। विशुद्ध मोहनीय कर्म की सरणियाँ। मेरे पीछे छूटते पदाघातों से टूटती हुईं। फौलाद के बेशुमार गोपुरम् —एक में से एक निकलते ही जा रहे, अन्तहीन। मेरी टिकती और उठती एड़ियों से ध्वस्त होते हुए। . . मेरी उत्तरोत्तर ऊपर को आरोहित छलाँगों में—जसत के पर्वत, राँगे की शैलमालाएँ, मेरी पगचापों से अतल में धँसती हुईं। . . ताम्र की रक्ताभ शृंगलेखा। तेजोलेश्या का प्रदेश। कर्म वर्गणाओं का मिश्रित प्रसार। विचित्र विकुर्वित भावों के चट्टानी शिल्प।

. . पीतल के विशाल परकोटों से आबद्ध कांस्य का दुर्भेद्य रहसीला दुर्ग। रौप्य और सुवर्ण की भ्रान्तियों से जगमगाता हुआ। अनेक नाम, रूप, आकार। सुरूप-कुरूप अवयवों, ध्वनियों, चेहरों के प्रसार। कीर्ति, कामिनी, काँचन की सुवर्ण साँकलों से आवेष्टित मेखलाएँ, कर्णिकाएँ, बारहदरियाँ, बुर्ज। साम्राज्य। इतिहास।

. . मेरी साँसों में प्रलय के प्रभंजन। मेरी पगतलियों से फूटती सत्यानाश की झंझाएँ। मेरी अलकावलियों में धधकते नील-लोहित ज्वालाओं के भुजंगम। काल, जो मेरे केशों में, सुधा-पालित सर्पों की तरह शरणागत है। और उस पर उदित है दुइज की चन्द्रकला।

. . मेरी दिङ्गमण्डल व्यापी छलाँगों की झंझा-झांझरों में, धारासार धूल के पर्वतों की तरह झड़ते माया के सुवर्णदेश। . . कर्मों का दुर्भेद्य चक्र-व्यूह, चूर-चूर हो कर बहता हुआ।

. . और मेरे आरोहमान अगले चरण तले श्वेत रूपाचल। रौप्य की शृंगश्रेणियाँ। उपशम श्रेणि का प्रदेश। शिखरों पर शान्त, निश्चल, अनाहत। निर्मल धवलता का प्रसार। पर उसके तलों में दबे पड़े हैं कषायों के अँधियारे स्तूप। . . लो, मेरे पदांगुष्ठ से विघूर्णित हुआ रूपाचल का सर्वोच्च शान्त शिखर। पातालों में पर्यवसित वासना के सहस्त्रों व्याल उस सुन्दर रजत चूड़ा से फूट

पड़े । मेरे पिछले पग के टखने में लिपट कर वे शरणागत हुए । मेरे संवेग की उत्ताल अग्निम तरंगों में भस्मीभूत हो कर, वे दिशाओं में विलीन हो गये ।

. . आरोहण, आरोहण, आरोहण ! एक गभीर अवगाहन की अनुभूति । मेरे कटि-प्रदेश को मण्डलित किये अभ्रक की श्रेणियाँ । मेरे प्रशम के संवेग से विचूर्णित हो गईं वे अभ्रक की राशिकृत परतें । चमकीली रेणु की अति कोमल, प्रवाही आभाजाल। . . मुझे कटिसात् करता हुआ। . . ओ, मेरी शिवानी का रजो-प्रवाह ! . . मेरे उपस्थ में कम्पायमान पारद का समुद्र । अस्खलित, आत्म-समाहित । ऊपर की ओर अनाहत आरोहित ।

. . सहसा ही मेरी कटि के चहुँ ओर मंडलायित, प्रवाहित वह अभ्रक की रेणु-राशि । हठात् वह एक परमा सुन्दरी में विग्रहीत हो गई । . . ओह, त्रिभुवन सुन्दरी, प्रज्ञा-पारमिता, ललिता, भुवनेश्वरी भगवती । . . एक प्रचण्ड प्रकर्षण, उत्कर्षण का हिल्लोल । . . और लो, वह चरम लावण्य ललिता, मेरे ऊर्ध्वरेता महावीर्य पारद में उत्संगित हो गई । . .

. . तरंगित पारद का महा प्रसार । उसके बीचोबीच आबद्ध निश्चल पारद का महा गोलक । उस पर छायी अभ्रक की बहुत महीन ओढ़नी । . . सहसा ही उसमें गभीर, अदृश्य आग्नेय परिणमन । एक नग्न लहराती ज्वालादेह । . . और देखते-देखते उसके तले वह पारद का महालिंग तरंगित हिरण्यप्रभा से भास्वर हो उठा । उत्तप्त हिरण्य का एक सुवर्णाचल । अपने ही आप में परिणमनशील । अपनी ही पीतप्रभा में सहज ऊर्जस्वल । संकल्प-विकल्प से परे एक कल्पकाम महेच्छा का सुमेरु । अहो, यह पीत लेश्या का प्रशान्त पद्मवन है, जिसकी झलक कई बार अपनी अन्तश्चेतना में स्थिर होने पर पा चुका हूँ ।

. . उस सुवर्णाचल की चूड़ा में फिर यह कैसा सूक्ष्म कम्पन है ? मेरे अतल की शयित अग्नियों में एक विस्फूर्जन, उत्तोलन । वह सुवर्णाचल उसमें अधिक-अधिक प्रतप्त होता चला गया । . . उसकी पीलिमा उत्तरोत्तर पिघल कर, एक वृहद धवलिमा में रूपान्तरित हो रही है ।

. . मेरे नाभि-कमल से उठती तेजशिखा में, देखते-देखते वह सुवर्णाचल गल कर एक सुवर्ण का अजस्र प्रवाह हो गया । . . और अचानक देखा, कि वह प्रवाह मेरे भ्रूमध्य में प्रज्वलित एक श्वेत लौ में लीन हो रहा है । . . और वहाँ खुल पड़ा एक हीरक का प्रभाविल महाप्रान्तर । उसके केन्द्र में उत्तिष्ठित है, एक निश्चल हीरक-कूट । . .

और उसकी स्तब्ध चूड़ा पर बैठा है, यह कौन एकाकी तेज-पुरुष ! उसकी वासना का अन्त नहीं । अनन्त द्रव्य-पर्याय में परिणमनशील ऊर्जा का वह स्रोत है । ऊर्जा, जो उसी के हृदय-कमल में से उद्गीर्ण परम रमणी है । . . आज, इस लग्न मुहूर्त में, अपने समस्त परिणमनों को निस्तब्ध कर, वह उस ऊर्जस्वला को एकाग्र, एकान्त रूप से अपने आलिंगन में आबद्ध पाना चाहता है । . . उस तेज-पुरुष की महावासना अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई ।

. . समस्त दृश्य-अदृश्य लोकालोक, निमिष मात्र में उसके मन में लीन हो गये । मन प्राण में लीन हो गया । प्राण एक श्वास मात्र रह कर आत्मस्थ हो गया । एक गहन, सर्वातीत, विश्रब्ध समाधि ।

. . उसके मेरुदण्ड के षटचक्रों में नीचे से ऊपर की ओर, तथा ऊपर से नीचे की ओर निरन्तर अवसर्पित और उत्सर्पित एक महासर्पिणी । वह प्रचण्ड वेग से ऊर्ध्वारोहण करती हुई

[illegible] असंख्य कुण्डलियाँ [illegible] हो चली। [illegible] अपनी [illegible] और मण्डलों में [illegible] लगीं। [illegible] का भेदन करती हुई [illegible] जाने लगीं।

[illegible] मेरा प्राण, [illegible] और वह [illegible] [illegible] लता से प्रवर्त [illegible] हुई श्वास [illegible] चन्द्र [illegible] सूर्य-श्वास [illegible] सूर्य और चन्द्र नाड [illegible] लीन हो गई

[illegible] श्वास [illegible] खींच कर परिपूरित हो गये। [illegible] हो [illegible] में [illegible] हो [illegible] हृदय कुम्भ में स्तब्ध [illegible]।

[illegible] मुहूर्त [illegible] गये। विषय और विषयी का भेद समाप्त हो गया। [illegible] निष्कम्पता में सभी कुछ निस्तरंग हो गया। एक शुक्ल प्रशान्त अन्तरिक्ष [illegible] कहीं कोई नहीं है। कुछ नहीं है। मात्र एक निःसीम शून्य का राज्य।

उस स्तब्धता मे सहसा ही एक उत्तोलन, आरोहण। क्षपक-श्रेणि पर आरूढ होता एक नग्न तेज का विग्रह। हृदय-कुम्भ मे निस्तब्ध श्वास का एक प्रचण्ड [illegible]

ब्रह्मरन्ध्र का भेदन कर, उत्तान गतिमान तेज-शलाका [illegible] उद्भेदन का आघात। . .

. . खुल पडा [illegible] असंख्य पाँखुरियों मे पल्लवित। लोकाकाश, अलोकाकाश को परिव्याप्त करता हुआ।

. उसमे अनन्त कोटि सूर्यों की प्रभा, अनन्त कोटि चन्द्रमाओ मे अभिसरण करती हुई। उसकी कर्णिका मे गहन सुख-शान्ति की पराग-शैया। उसमे आत्मरमणलीन परशिव, सदाशिव, अपने ही आप मे नित्य परिणमनशील।

हृदय के कुम्भ मे से उत्सर्पित हो कर उत्थायमान हुई शिवानी। और वह उन अर्हत्-पुरुष शिव की गोद मे उत्संगित हो कर, उनकी निरंजन ज्योति मे तद्रूप आलिंगित हो गई। . . ओह, मेरा आत्म ही शिव है, मेरा आत्म ही शिवानी है। मुक्ति स्वय ही बाला-वधु हो कर मेरी गोद मे आ गई है।

. . और अपनी गहराइयों मे अनुभव कर रहा हूँ, अनन्त रमण, अपनी आत्म-रमणी के भीतर उत्संगित हो कर। हृदय के कमल मे उससे अजस्र अमृत का क्षरण प्रस्रावण। . . जिसके भीतर पूर्ण ज्ञान ही, महाभाव हो गया है। आत्म सम्वेदन ही, सर्व-सम्वेदन हो गया है।

. . सहसा ही रमण, एक गहन विरमण मे विलीन हो गया। एक निस्पन्द, निस्तरंग विश्रब्धता।

एक विराट् निस्तब्धता का देश-कालातीत प्रसार।

उसके बीच सहसा ही एक निःस्वन ब्रह्माण्डीय विस्फोट। नाद, बिन्दु, कला का एकाग्र

उत्सरण।

. . और लो, पृथा के गर्भ से फूट पड़ा एक अनन्तगामी इन्द्रधनुषी हुताशन। त्रिकोणाकार। उसकी परम शीतल ज्वालाओं में रह-रह कर उठती नाना रंगी ऊर्मियाँ। त्रिकोण की दोनों खड़ी भुजाओं पर भंगिम लपटों के रंगीन छल्ले।

और उस महा हुताशन की शिखा, आकाश के सारे ऊर्ध्वातिऊर्ध्व मण्डलों का भेदन करती हुई, तुरीयातीत शून्य में विलीयमान है। . .

. . अनायास एक अगाध शान्त में सब कुछ निर्वाण पा गया।

. . एक महाशून्य, विराट्, निःसीम।

. . कहीं कोई नहीं। मैं भी नहीं। वह भी नहीं।

. . पर यह कौन है, जो इस सब को देख रहा है?

कैवल्य के प्रभा-मण्डल में

[वैशाख शुक्ला दशमी : अपराह्न]

हठात् भीतर के अतल में एक महा घटस्फोट हुआ। ऊपर के अज्ञात में अनादि अन्धकार का विराट् गुम्बद विदीर्ण हो गया। परात्पर हृदय की कमल-कर्णिका में अनायास शुभ्र निरंजन ज्योति प्रस्फुटित हो उठी। एक ही समय में उसमें समस्त लोकालोक प्रकाशित हो उठे।

. . अकस्मात् मेरा आसन उत्थान हो गया। . . अन्तरिक्ष के अधर में उत्फुल्ल अम्भोज की तरह आसीन हूँ। मस्तक के चारों ओर असंख्यात सूर्य-चन्द्रों का प्रभा-मण्डल उद्भासित है। सारे ही ग्रह-तारा मण्डल उसमें तरंगित हैं।

मैं बाहर की ओर उन्मुख हुआ। मेरी आँखें निखिल पर खुल उठीं। भीतर और बाहर भिन्न नहीं रहे। वे मेरे एक ही ज्ञानचक्षु के दो अविनाभावी आयाम हो गये। दिशाएँ दर्पण की तरह स्वच्छ हो गई हैं। सर्वत्र शाश्वत वसन्त का मलयानिल बह रहा है। सारी ही ऋतुओं के फल-फूल एक साथ खिल आये हैं।

मेरे तृतीय नेत्र के उन्मीलन में झलका :

तीनों लोक और तीनों काल अनन्त मण्डलाकार मेरे चारों ओर चक्रायमान है। अनादि से अनन्त काल तक की सृष्टि एकाग्र मेरे चैतन्य की लौ में आलोकित है। आगत, विगत, अनागत की चौरासी लाख जीव-योनियाँ मेरी प्रत्यक्ष दृष्टि में परिभ्रमणशील हैं। हथेली पर रक्खे सहस्र पहलू स्फटिक में, जैसे त्रिलोक और त्रिकालवर्ती पदार्थ और प्राणिमात्र के समस्त परिणमन का एकाग्र अवबोधन कर रहा हूँ।

सूक्ष्मतम परमाणविक रज के असीम धूमिल प्रवाह देख रहा हूँ। और उसी क्षण उनके भीतर से खुलते रौप्य और सुवर्ण रज के प्रवाह देख रहा हूँ। कितनी सुनम्य और मृदु है शुद्ध द्रव्य की यह धारा। कितनी सम्वेदनशील, संस्पर्शशील। भावों के अनुसार यह रूपायित होती चली जाती

है। असंख्यात रूप-आकार प्रकट होते हैं। प्राणियों की योनियाँ परम्परित होती हैं।

अपने आसपास मण्डलाकार घूमते देख रहा हूँ, नाना जीव-गतियों के विश्व। पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश के सन्धान। खनिज धातुओं के राज्य। वनस्पति राज्य। निगोदिया जीवों की नदियाँ। नाना जाति के तिर्यंच कीट, पतंग, पशु, पंखियों की उफनाती नदियाँ। नरकों की यातना-नदियाँ। काल की महाधारा में मनुष्य का मृत्यंजयी पुरुषार्थ। उसके बहुआयामी संघर्ष। उसके जय-पराजय, विकास-प्रगति के अभियान। उसके लीला-खेल, प्रणय-प्यार, विद्या-विलास, कला-सृजन, अन्वेषण-आविष्कार। सौन्दर्य, तेज और ज्ञान के महा स्वप्न। उसके वैभव, ऐश्वर्य, ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ। आत्मजय और विश्वजय का उसका परम पुरुषार्थ। काल के भाल पर अंकित उसकी लब्धियों के अमृत-लेख। सहस्राब्दियों व्यापी पुराण, इतिहास, काव्य, दर्शन, कला, शिल्प, स्थापत्य में व्यक्त, व्याप्त। अनादि से आगामी तक का शृंखलित इतिहास।

. . यह सब मानो एक काल-परमाणु में एकाग्र देख रहा हूँ। इस देखने में कोई आगा-पीछा नहीं है। समस्त को अपनी अन्तर-ज्योति के एक मण्डल में देख रहा हूँ। अनुक्रमिक नहीं है मेरा यह दर्शन और ज्ञान। अवग्रह, ईहा, अवाय, धारण के क्रम में नहीं देखता, नहीं जानता। सर्व को एक ही समय में एकाग्र, समग्र, संयुक्त देख-जान रहा हूँ। जानने का कोई संकल्प नहीं। ज्ञाता और ज्ञेय का कोई विकल्प नहीं। ज्ञाता-ज्ञेय में, और ज्ञेय ज्ञाता में सहज युगपत् प्रतिबिम्बित हैं। दर्पण में दर्पण का अभिसार। गहराव में गहराव का आलिंगन। ज्ञान का धारासार प्रवाह। ज्ञेय का धारासार प्रवाह। उनमें परस्पर संगुम्फन, संक्रमण, अतिक्रमण, अन्तःक्रमण। सचेतन भी, अचेतन भी ज्ञानात्मक भी, अज्ञानात्मक भी। और उस टकराव में से क्षरित होती शुद्ध रस, आनन्द, सौन्दर्य, की अक्षत धारा। कला और सृजन का निरन्तर काम-कला-विलास। नाद, बिन्दु और कला का अनवरत लीला-खेला।

मैं परमाणु से लगा कर ब्रह्माण्ड के हर अस्तित्व तक की भीतरिमा में झाँक रहा हूँ। एक तृण के कम्प में भी अपने ज्ञान से संचरित हूँ और भूगर्भ से लगाकर मानुषोत्तर पर्वत के आरपार तक मेरा वीर्य अनायास अभिसारित है। हर वस्तु, हर व्यक्ति, हर सत्ता मेरे हृदय में अपना भेद खोल रही है। हर परमाणु के ज्योतिर्मय कक्ष में निरन्तर चिद्विलास कर रहा हूँ। मैं हर पत्ती और फूल की रगों में जीवन का रुधिर बन कर परिणमनशील हूँ। मैं त्रिलोक और त्रिकाल के हर पदार्थ और आत्मा के साथ घर पर हूँ—अभी और यहाँ। मैं उनके अत्यन्त आत्मीय एकान्त में हर समय उनके साथ हूँ। उनके भाव और अभाव का समान संगी हूँ। महाभाव में उनके साथ तदाकार हूँ। महाज्ञान में उनका ज्ञाता-द्रष्टा साक्षी हूँ। मैं एक ही समय में उनके साथ तद्रूप हूँ, और फिर भी उनसे भिन्न, परे स्वयं आप हूँ। असम्पृक्त, एकमेव अखण्ड सत्ता-पुरुष। जिसके एक अंश में सब कुछ परिणमनशील है, और स्वयं अंशी इनसे अतीत हैं।

हर पदार्थ के निरन्तर उत्पाद, व्यय, ध्रुवत्व रूप परिणमन को अपनी हथेली में खिले कमल की तरह, उसके हर रगो-रेशे में नग्न, प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। मैं हर विनाश में प्रवाहित हूँ, उत्पाद में ऊर्जायित हूँ, फिर भी अपने स्वरूप के ध्रुव में अविचल हूँ।

मैं सर्वगत हूँ, और जगत के सारे पदार्थ मेरे आत्मगत हैं। क्योंकि मेरा आत्म ज्ञानमय है, और ये सारे पदार्थ मेरे ज्ञान के विषय हैं। त्रिकाल में व्याप्त अनन्त द्रव्य, उनके पर्याय, उनके

प्रवर्तन, मेरे ज्ञान के तदाकार प्रमेय हैं। मैं प्रमाता, प्रमेयगत हो कर, उनकी अनुक्षण की प्रवृत्ति को देख रहा हूँ, जी रहा हूँ, भोग रहा हूँ, जान रहा हूँ। सर्व पदार्थ भगवान आत्मा में ही हैं। उनसे बाहर कहीं कुछ नहीं। क्योंकि ज्ञान से बाहर ज्ञेय कहाँ है ?

विचित्र है मेरा यह स्व-रूप, स्व-भाव। मैं वस्तुओं और व्यक्तियों को, पदार्थों और आत्माओं को अपने चैतन्य में प्रतिक्षण आत्मसात् करता हूँ। जैसे दीये की लौ में सब कुछ प्रकाशित हो कर उसमे आत्मसात् होता है। फिर भी मै उन सब को अपने स्वात्म-प्रदेशों से अस्पर्श करता हुआ, अप्रविष्ट रह कर ही देखता-जानता, अनुभव करता हूँ। लेकिन निगूढ़ है मेरी ज्ञानशक्ति का वैचित्र्य। क्योंकि जब मैं अपनी अन्तर-ज्योति से समस्त ज्ञेयों के प्रदेशों मे प्रवेश करता हूँ, तो उन्हें आमूल उखाड़ कर जैसे अपने मे ग्रास कर लेता हूँ। तब मै उनके साथ अपने सम्पूर्ण आत्म प्रदेशों से सस्पर्शित होता हूँ, उनके समस्त प्रदेशों मे अपने समस्त प्रदेशों के साथ प्रविष्ट होता हूँ।

हर आत्मा मे मेरा अव्याबाध प्रवेश है। हर सत्ता मेरे संस्पर्श मे आलिंगित है। अनुगत ... सारा भीतर, मेरे सारे भीतर ... है। एक अनन्त निरजन ... भीतर : एक ... महामौन परिरम्भण मे। हवा और प्रकाश हर कमरे की खिड़कियों मे आ ... रहे है। ... उनमें है, वे कमरे मे है। वे परस्पर अचूक परस्तित और प्रवेशित है ... दूसरे के आरपार हो रहे है। एक दूसरे को अतिक्रान्त कर रहे है। कहीं कोई सत्ता स्थिर कूटस्थ ... कुछ भी अविचल नही। सकल चराचर निरन्तर परिणमनशील है। प्रवाही है। नित ... है। नित्य तरुण है, नित्य सुन्दर है। यह सत्ता के स्वभाव मे नहीं, कि कहीं ... आलिंगन, प्रवेशन अन्त स्थिर हो रहे। ... सत्ता ध्रुव ही नहीं, उत्पाद भी है, विनाश भी है। ... तो सृष्टि सम्भव है, लीला सम्भव है। इसी से तो जगत-जीवन मे निरन्तर तत्व का ... रहा है।

पूर्णराग ... यह शाश्वत रासलीला वीतराग के ज्योतिर्मय कुजों मे ही सम्भव है। राधा को चिरकाल राधा रहना है, कृष्ण को चिरकाल कृष्ण रहना है। विरह भी है, मिलन भी है। द्वैत भी है, अद्वैत भी है। खण्ड भी है, अखण्ड भी है, नित्य भी है, अनित्य भी है। यह द्वैताद्वैत वस्तु के स्वरूप मे ही बद्धमूल है। 'एकोऽहम् बहुस्याम्' न हो, तो जगत और जीवन की धारा अनन्त में कैसे प्रवाहित रह सकती है।

• •

तुम अपने ... कक्ष में रहूँ। तुम ... पर रहो, मैं ... वातायन पर रहूँ। दृष्टि का प्रणयाभिसार सतत चलता रहे। तुम मुझे और अधिक और अधिक जानो। मैं तुम्हें और अधिक और अधिक जानूँ। फिर भी तुम्हारे निज कक्ष का एकान्त अभंग रहे। मेरे निज कक्ष का एकान्त अभंग रहे। और तभी तुम्हारा सम्पूर्ण निजत्व और एकान्त, मेरे सम्पूर्ण निजत्व और एकान्त मे अनायास तन्मय हो रहे। अखण्ड लौ के साथ, अखण्ड लौ का परिरम्भण।

परस्पर को अधिकाधिक समझने और जानने में अनजाने ही एक-दूसरे के भीतर अनन्त अवगाहन और अभिसरण। नहीं है इरादा, नहीं है इच्छा, कि ऐसा करूँ। चाहने से वह सम्भव नहीं। अनचाहे ही वह अचूक सम्भव है। ज्ञान और सम्वेदन में अटूट युगल-लीला चल रही है। उसमें अनुक्षण हम सब नितान्त अलग-अलग हैं, स्वयं आप हैं, एकाकी। और उसी एक समय में, हम सब एक-दूसरे में आलोकित, संस्पर्शित, सम्वेदित, सम्प्रवेशित हैं। कोई स्थित, कोई भाव, कोई परिणमन ऐकान्तिक नहीं। अनैकान्तिक है। वस्तुस्थिति अनैकान्तिक है, इसी से तो नाना रंग-रूपात्मक, नाना भाव-सौन्दर्यात्मक सृष्टि-लीला सम्भव हो रही है। सत्ता का स्वभाव ही एक निगूढ़ वैचित्र्य से मंडित है। महाभाव, महाज्ञान और महासम्वेदन का यह संयुक्त चेतना-स्तर कथन में नहीं सिमट सकता।

मेरे ज्ञान की लहरें, सर्व के नग्न परिणमन की लहरों में जब परस्पर सगुम्फित होती हैं, उस निजानन्द की रसलीनता को कैसे कहूँ। ओ रे, त्रिलोक और त्रिकाल के सारे परमाणुओ, पदार्थों, नर-नारियो, हृदयो, आत्माओ, मेरी ओर देखो। मैं हूँ तुम्हारे काम का चरम उत्कर्ष। तुम्हारे सारे काम, काम्य और कामिनियाँ मुझ में एकाग्र मूर्तिमान हुए हैं। वे मेरी चितवन के उन्मीलन में निरन्तर तुम्हारे साथ क्रीडा कर रहे है।

त्रिलोक और त्रिकाल में तुम्हारे एक एक परमाणु, इच्छा, आकार, क्रिया, भाव-सम्वेदन के साथ मेरा अविराम सम्प्रेषण और सम्वाद चल रहा है।

स्वर्गों की कल्पद्रुम शैयाओं मे मैं ही तुम्हारा सम्भोग हूँ। तिर्यंच योनियों और नरकों के यातना-कुण्डों मे, जहाँ तुम्हारी मूक यंत्रणाओं का तुम्हारी अबूझ घुटनों का कोई संगी नही, सहभागी नहीं, साक्षी नहीं, वहाँ मैं अचूक तुम्हारा [illegible] हूँ। अनुक्षण तुम्हें अपने ज्ञानालिंगन में ले कर, मैं तुम्हारी समग्र वेदना को नि[illegible]भव कर रहा हूँ। मेरा चिदेश, मेरे चिद्भाव मे, अपनी चेतना से निरन्[illegible]शील रह कर तुम्हारे हर कम्पन, हर परिणमन के साथ, अनुकम्पित है, अनुपरिणमनशील है। [illegible] नितान्त भिन्न हूँ मैं तुम से नितान्त अभिन्न हूँ, ज्ञान के इस असंख्य-आयामी बिल्लौरी कक्ष में।

ओ [illegible] के लोगो, तु[illegible] संकटों, सन्त्रासों, संघर्षों को, तुम्हारे युद्धों और विनाशों को, मैं अपने हृदय [illegible] की इस ज्वाला और [illegible]ति में सतत देख रहा हूँ, सम्वेदित कर रहा हूँ, जान रहा हूँ। मेरी यह धार[illegible] [illegible] सम्भूति और प्रीति, तुम्हारे साथ इतनी त[illegible] तद्रूप है, इतनी तन्मय और [illegible], कि [illegible] तुम्हारे भीतर-बाहर को समग्र एकाग्र अप[illegible]भा में ज्यों का त्यों अनुभव कर रहा हूँ। आत्मवत् सर्वभूतेषु।'

मेरा यह सर्वान्मभावी सम्वेदन और सर्वव्यापी ज्ञान ही अपनी अजस्रता और अविरलता में, कब कोई वैश्विक क्रिया बन जाता है, सो मेरे सिवाय और कौन जान सकता है।. .

ओ मेरी सर्वकालीन सार्वलौकिक प्रजाओ, मेरे लोकालोक प्रकाशी प्रभामण्डल को एकटक निहारो, और जानो कि उसमें तुम कहाँ हो, विश्व कहाँ है; तुम्हारे और विश्व के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है। जानो कि तुम्हारे वर्तमान विश्व-प्रपंच में मैं कहाँ घटित हूँ, कहाँ स्पन्दित हूँ, कहाँ सन्दर्भित और सम्बन्धित हूँ।. . अपनी अन्तश्चेतना को अपनी तीव्रतम वेदना की क्षुरधार से खरोंचो, और अपने उस ज़ख्म में झाँको, और स्वयं ही जानो कि मैं उसमें कहाँ सम्वेदित और

सक्रिय हूँ या नहीं ? अपने समग्र आत्म से मेरे समग्र आत्म में संस्पर्शित होओ, संगुम्फित होओ, और ठीक-ठीक जानो कि तुम कौन हो, मैं कौन हूँ, यह विश्व क्या है, इसमें हमारा पारस्परिक उपग्रह, उत्तरदायित्व और सम्बन्ध क्या है ? . .

• • •

कितनी लोचभरी, लचीली, लालित्यभरी, सुनम्या और लीलामयी है यह सत्ता । कितना सहज सुलभ, सुप्राप्त है मुझे हर परमाणु, हर पदार्थ, हर प्राणि, हर हृदय, हर आत्मा । कितना प्रत्यक्ष है मुझे उनका क्षण-अनुक्षण का परिणमन ! मानो कि सर्वत्र मेरा ही आत्म-रमण हो, मेरा ही हृदय-स्पन्दन हो ।

ऐसी सुनम्या, मार्दवी, लचीली, ललितांगी है यह सत्ता कुमारी, कि मेरे हर समय के हर भाव के साथ यह तद्रूप तन्मय होती है, भावित होती है । मेरे मन चाहे रूपों में, प्रव्यायित और परिणमित होती है । जिस रूप में इसे ध्याता हूँ, भाता हूँ, चाहता हूँ, खोजता हूँ, उसी रूप में यह आकृत, भावित, सम्वेदित हो कर मद्रूप हो जाती है । इस संविद्रूपा महामाया के मर्म को न्याय के नयों और तर्क के तोड़ों से नहीं अवगाहा जा सकता । केवल अनुभवगम्य है, इस सुनम्या का पूर्णालिंगन । विचार, वितर्क, विश्लेषण के क्रमिक, खण्ड-खण्ड ज्ञान से वह गम्य नहीं । पूर्ण-ज्ञान और पूर्ण सम्वेदन की एकात्मिक लौ मे ही उसे अनुभूत किया जा सकता है ।

आत्म-सम्वेदन ही विश्व-सम्वेदन हो गया है । विश्व-सम्वेदन ही आत्म-सम्वेदन हो गया है । आत्मबोध के बिना विश्वबोध सम्भव नहीं । विश्व-बोध के बिना आत्म-बोध सम्भव नहीं। . .

ओ मेरे युग-तीर्थ के लोगो, शास्त्र पढ़ कर सत्ता-स्वरूप और आत्म-स्वरूप को नहीं जान सकोगे । अपने नितान्त स्वतंत्र, कुँवारे सम्वेदन, और अपने नितान्त निजी वैयक्तिक आत्म-संघर्ष से गुज़र कर ही आत्मा और सत्ता की शाश्वती सती का पाणिग्रहण तुम कर सकोगे : उसका पूर्णालिंगन पा सकोगे ।

न्याय और तर्क के सिद्धान्त रच कर, विज्ञान-शाला की द्राविणी में उसे अनेक रसायनों द्वारा विश्लेषित करके, गणित के बीज, अंक और रेखा में उसे गिन और माप कर, तुम उसका किंचित् भी अनुमान न पा सकोगे !

शास्त्रों और ज्ञान-विज्ञानों ने आत्मा की सती-सुन्दरी को सदा ही व्यभिचरित और लहूलुहान किया है । अरे उसे कसो नहीं, छेदो नही, भेदो नहीं, बाँधो नही, छिन्न-भिन्न न करो । निःशेष समर्पित हो जाओ उसकी गोद में । और वह तुम्हें अपने ऑचल में ले कर, अपना गोपनतम सत्य और सौन्दर्य तुम्हारे भीतर अनायास आलोकित कर देगी ।

. . मै आत्मालिंगन के उसी उत्संग में से बोल रहा हूँ ।

• • •

मैं सर्वार्थ-सिद्धि के अनुत्तर विमान की रेलिंग पर खड़ा हूँ, और मेरे मस्तक पर प्राग्भार पृथ्वी की

अर्द्ध-चन्द्राकार सिद्ध-शिला जाज्वल्यमान है। वही मेरा अन्तिम घर है। उसमें अनन्त कोटि सिद्धात्माएँ अपने विशुद्ध ज्ञान शरीर में, स्वप्रतिष्ठित हैं। अपने आत्यन्तिक निजत्व में, वे नित्य घर पर है। और उसी क्षण वे अपने ज्ञान की अनन्त ज्योति से त्रिलोक और त्रिकाल के हर परिणमन में रमण कर रही हैं।

. . और उसी एक कालांश में मैं लोक के केन्द्र में शाश्वत विद्यमान जम्बूवृक्ष के तले आसीन हूँ। और उसी एक अविभक्त मुहूर्त में, लोक को घेर कर अवकाश में पड़े तीन वात-वलयों की सन्धियों में खेल रहा हूँ। मेरे एक ओर है सत्ता का अनन्तगामी चिर-चंचल प्रसार। मेरे दूसरी ओर है सत्ताहीन अलोकाकाश का अन्धकारों में फैला विस्तार। 'हूँ' और 'नहीं हूँ' की इस खतरनाक कगार पर एकाकी अविचल उपस्थित हूँ।

और देख रहा हूँ, एकबारगी ही सृष्टि की अविरम क्रियाशील कर्मशाला की सारी भीतरिमाओं को। जो मानो उलट कर मेरी पद्मासनासीन हथेलियों में आ पड़ी हैं। . /. उनमें परमाणुओं का धारासार प्रवाह। उस प्रवाह में, परमाणु अनायास जाने कब असंख्य स्कन्धों मे अनुबन्धित हो रहे हैं। जीवों के अकारण क्षण-क्षण बदलते ऊँचे-नीचे भावों के अनुरूप वे स्कन्ध अकल्पनीय प्राणि-रूपों में पिण्डित हो रहे हैं। एक अनिर्वच सन्धि के दोनों ओर, ये परमाणु और स्कन्ध कहीं जीव-योनियों में उर्वरित हो रहे हैं, कहीं पौद्गलिक आकीर- प्रकारों में रूपायित हो रहे हैं। जीव और पुद्गल, चेतन और अचेतन का भेद-विज्ञान यहाँ निर्णायक नहीं। चर और अचर, चेतन और अचेतन के बीच यहाँ जो निगूढ़ सम्भोग कालातीत भाव से चल रहा है, वह मात्र कैवल्य-ज्योति द्वारा गम्य है, केवल अनुभव्य है, कथ्य नहीं। उसका कथन मात्र अन्ततः मिथ्यादर्शन है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु का जो पंचीकरण और विसर्जन तात्विक आकाश में सतत चल रहा है, वह मेरी ज्ञान-चेतना की एक तरंग मात्र में समयातीत घटित हो रहा है। परमाणु से स्कन्ध, और स्कन्ध से विराट् चराचर पिण्डों तक का जो सर्जन और विसर्जन सतत संसरायमान है, उसे अपनी ही देह की प्रत्येक परमाणु सन्धि में प्रत्यक्ष देख, जान और अनुभव कर रहा हूँ। दो परमाणुओं के स्कन्धित होने के बीच का जो अदृश्य अवकाश है, वहाँ मैं उपस्थित हूँ। स्कन्ध से पिण्डीकरण के बीच का जो अकल्प्य अन्तराल है, वहाँ मैं उपस्थित हूँ। नाना भावों के अनुरूप कर्म-रज के रक्त में रूपान्तरित होने की जो धारणातीत प्रक्रिया चल रही है, उसमें मैं निरन्तर खेल रहा हूँ। रक्त के मांस में घनीकरण, और मांस के अवयवों में रूपायन के बीच की जो गोपन संन्धियाँ हैं, उनमें मैं सतत प्रवर्तनशील हूँ। मांस के अस्थि-बन्ध होने तक के बीच का जो गुह्य संसार है, उसकी हर परिणमन-परम्परा में मै अनायास संक्रमणशील हूँ। अस्थियों के मज्जायित होने तक के बीच की जो मंथन है, उसमें मैं चक्रायमान हूँ। और मज्जा के देहाकृत होने तक के बीच की जो अनवबोध्य रिक्तता है, उसमें मैं एक अनवरत सभरता की तरह ओतप्रोत हूँ।

ओ त्रिलोक और त्रिकाल के सारे प्राणियो और मानवो, तुम्हारी एक साँस और दूसरी साँस के बीच का जो अभेद्य अवकाश है, उसमें केवल मैं ही हूँ। तुम्हारे अन्ध मैथुन और प्रणयालिंगन में जो व्याकुल साँसों का संकुलन, संकर्षण और संघर्षण है, उसमें मैं अविचल उपस्थित हूँ। तुम्हारे भावों और उच्छ्वासों का जो तुमुल टकराव और उलझाव है, उसके बीच मैं सहज स्पन्दित हूँ।

फिर उनके बीच का जो सहज सुलझाव और सम्वाद है, वह भी मैं ही हूँ। तुम्हारे सम्भोगों में, देह और देह, आत्मा और आत्मा के एकीकृत होने की जो निष्फल स्पर्शाकुलता है, प्रवेशाकुलता है, वह भी मैं ही हूँ। ओ नर-नारियो, तुम्हारे रज और वीर्य के संघात, सम्मिश्रण और गर्भाधान के बीच जो आप्लावन है, वह मेरे ज्ञान की एक तरंग मात्र है, और मैं उससे तत्काल उत्तीर्ण नितान्त आत्मस्थ हूँ।

घृत-कुम्भित निगोदिया जीवों के एक श्वास में अठारह बार जन्म-मरण करते अन्ध संसार का मैं अनवरत संगी और साक्षी हूँ। नरकों की अकल्प्य दुःख-राशि में आलोड़ित, सर्वकाल के जीवों की असम्भव में पछाड़ खाती चेतना के लिए मैं भव्यता और संभावना का शाश्वत सूर्योदयी किनारा हूँ। तुम्हारी चरम निराशा के अन्धकार में, मैं आशा का अकम्पमान एकमेव दीपक हूँ।

अखण्ड काल-परमाणु में, इस अनन्तकाल व्यापी सृष्टि-लीला के भीतर मैं अपने ज्ञान-शरीर के साथ निरन्तर खेल रहा हूँ। इस सब में सर्वत्र, सर्वकाल उपस्थित, उपविष्ट, संस्पर्शित, सम्प्रवेशित होकर भी, उसी एक कालांश में इस सब से असम्पक्त, मैं केवल स्वयम् आप हूँ। सर्वत्र, सर्व में रमणशील हो कर भी, तत्काल सर्वार्थ-सिद्धि के अनुत्तर विमान की इस रेलिंग पर अविचल खड़ा हूँ। ठीक इसी क्षण लोक के केन्द्रस्थ जम्बू-वृक्ष तले अकम्प बैठा हूँ। और तभी लोकाकाश और अलोकाकाश के बीच के तीन वातवलयों की सन्धि पर, निर्वात दीपशिखा की तरह, निस्तब्ध खड़ा हूँ। सर्व का एकमेव, अक्षुण्ण, नित्य उपस्थित साक्षी, ज्ञाता द्रष्टा मात्र।

स्रष्टा होकर भी, अस्रष्टा। क्रियाशील हो कर भी, अक्रियाशील। कर्त्ता भी, अकर्त्ता भी। कोई किसी का कर्त्ता नहीं, कोई किसी का अकर्त्ता नहीं। कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान की सारी विभक्तियों के बीच अविभक्त एकाग्र मैं। सब केवल अपने-अपने कर्त्ता, धर्त्ता, हरता हैं। फिर भी परस्पर अभिग्रहीत, उपग्रहीत, परस्पर में संक्रमित। अन्ततः अपने ही में निष्क्रान्त। मैं, केवल मैं, संसार भी, निर्वाण भी। सात तत्व और नौ पदार्थ, सब केवल इस आत्मानुभूति में आत्मसात् हैं। कहीं और कोई नहीं। बस, केवल हूँ। 'हूँ' और 'नहीं हूँ' से परे, एकमेव उपस्थिति।



. . अपने शरीर के आरपार देख रहा हूँ। धूल-माटी, मांस-मज्जा का वह मेरा पारिल शरीर जाने कब कहाँ झड़ गया। मेरा अन्नमय कोश धान्य-खेतों की उर्वरा माटी में बिला गया है। मेरा प्राणमय कोश बिखर कर हवा में व्याप गया है, जिसमें प्राणिमात्र साँस ले रहे हैं। मेरी मानसिक देह यों अपने ही भीतर अपसारित हो गयी है जैसे ऊर्णनाभ ने अपने ही फैलाये तंतुजाल को अपने में वापस खींच लिया हो। मेरा यह [illegible] असंख्य हो कर, सर्व के मन-मनान्तरों में अभिसार करने चला गया हूँ। उसकी कल्प-शक्ति में से हजारों नव-नूतन आकारों के विश्व रूपायित हो रहे हैं। . .

. . और अब देख रहा हूँ, 'अपने विज्ञानमय शरीर को। इतना निश्चल है यह, कि इसमें लोक के सारे शरीरों की गति-विधि एकाग्र आश्लेषित अनुभव होती है। अन्तर्भावित। इतना निरावेग और वीतराग है यह, इतना सम्पूर्ण समर्पित, कि इस में सारे ही तन मनों की सूक्ष्मतम

सम्वेदनाएँ अनायास स्पन्दित हैं, सम्वेदित हैं, संस्पर्शित हैं। इसी से मानो यह एक श्वेत अग्नि का स्तंभित पुंज हो कर रह गया है। इसमें से भीतर के ज्योतिर्मय शरीर एक-एक कर खुलते दिखायी पड़ते हैं। . . रक्त ज्योति के कोश में से, श्वेत ज्योति का शरीर प्रकट हो आया है। इस श्वेत ज्योति की भास्वर कंचुकी मे से कृष्ण ज्योति-पुरुष आविर्भूत हो गये हैं। . .

. . और सहसा ही उनके हृदय-कमल में से एक नीलेश्वरी ज्योतिर्-कन्या उठ आयी है। अपने उरोजो के बीच के अन्तरिक्ष मे वह अधर धारण किये है, मेरे इस प्रस्तुत तैजल शरीर को . . . अर्द्धपारदर्शी रोशनी का एक नीहारिल पर्दा सहसा ही हट गया। और भीतर तरल स्फटिक के आभा-कोश में, अपने शरीर के एक-एक अवयव, उसकी क्रियाओं और परिणमनों को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। पराग-सी मज्जा के आवरण में अत्यन्त लचीली अस्थियों का लरजता-सा ढाँचा। असंख्य शाखा-जाल वाले स्नायु-मण्डल की शिराओं में अविरल प्रवाहित रक्त : दूध की अनगिन नदियों का धारा-संगम। अपनी बहत्तर हज़ार नाड़ियों म स्पन्दित श्वास की सारी गतिविधियों को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। हृदय के पद्माभ अन्तपुर मे, नील ज्योतिमय शैया में रमण करती अपनी आत्मा की सती सुन्दरी को प्रत्यक्ष साक्षात् कर रहा हूँ। सम्मुख होते ही तत्काल उसकी सुनग्ना प्रभा मे उत्संगित हो गया हूँ। .

. एक महावीर्य का हिल्लोलन। और उसके प्रवाह मे प्रबल ओज से अपने तेजसिक मांस-बन्ध का भेदन कर, मैं त्रिकालान्त इतिहास की नाड़ियों में संचरित हो गया हूँ। उसके सारे संघर्षों, युद्धों, संत्रासों, रक्तपातों के बीच अडिग पैरों चल रहा हूँ। और मेरी शिराओं की रक्ताणु-दीवारों में सारा इतिहास-प्रवाह एक जीवन्त शिल्प की तरह उत्कीर्णित है। ऐसे दुर्दान्त तेज का विस्फोट मेरी धमनियों में सम्हला हुआ है, कि चाहूँ तो इसी क्षण समस्त विश्व और विसम्वादी इतिहास को ध्वस्त कर सकता हूँ। और निमिष मात्र मे, एक सुसम्वादी नूतन विश्व को अभी और यहाँ उपस्थित कर सकता हूँ। . .

. . लेकिन नही, अर्हन्त तत्वों के स्वतंत्र स्वभाव का अपहरण नहीं करते। उन्होंने हर तत्व को इतना स्वतंत्र रक्खा है, कि वह अपने आप मे एक पूरा विश्व है, इतिहास है। वे सारे विश्व और इतिहास आपस मे टकराते हैं। ग्रह तारा मण्डलों में घर्षण होता है। सृष्टि में प्रलय और उदय का नाटक अटूट चलता है। . . लेकिन जिनेश्वर उसमें हस्तक्षेप नहीं करते।

जिनेश्वरों का अनन्त वीर्य, अपने आत्म के ज्योतिर्लिंग में अविकम्प, अपने ही स्वरूप में परिणमनशील रहता है। वे अक्षर पुरुष कभी क्षरित नहीं होते। उनका अक्षरित रेतस् अपनी अविकम्पता में से ही शक्ति के ऐसे विद्युत्-समुद्र प्रवाहित करता है, कि वे बिना किसी सकल्प या कर्तृत्व के भी समग्र सत्ता में ख़ामोश अतिक्रान्तियाँ और रूपान्तर उपस्थित कर देते हैं। अर्हतों के उस अनन्त वीर्य को मैं अपने हृदय के पद्म में निष्कम्प पारद की तरह धारण किये हूँ।



. . वस्तुओं का दर्शन मेरा अनन्त हो गया है। आँख से परे, हर वस्तु को उसके अनन्त परिणमन मे देख रहा हूँ। उसके सारे द्रव्य-पर्यायों को एकाग्र यहाँ अभी इस सामने के उजाले की

तरह देख रहा हूँ। और देखते ही देखते, भीतर तमाम चीज़ें पूरम्पूर रोशन हो उठती हैं। हर चीज़ अपने मूल में रोशनी के एक बीज या तरंग की तरह सामने आती हैं। और मेरी चेतना के स्फटिक जल में जैसे नाना रंगिम मणियों की मंजूषा खुल पड़ती है। मणियाँ, जो जीवन के ऊर्जा-बीज हैं।

. . देखना और जानना एक युगपत् क्रिया में हो रहा है। सूर्योदय हो रहा है, और उसी क्षण उसके विराट् रश्मि-बिम्ब लोकालोक पर व्याप रहे हैं। अनन्त ज्ञान के इस वातायन पर सौन्दर्य, प्रीति और आनन्द का पूर्ण सम्भोग चल रहा है। काव्य और कलाएँ मेरे भीतर से नाना रंगी रोशनी के फौवारों से फूट रहे हैं।

प्रत्यक्ष है मेरा यह देखना, जानना, मिलना। शरीर के दुर्ग और इन्द्रियों की खिड़कियों का यह क़ायल नहीं। सारी इन्द्रियाँ एक ही मण्डलाकार वातायन में खुल गयी हैं। एक ही ज्योतिर्मय नेत्र में एकीभूत हो गयी हैं। रूप ही रंग हो गया है, रंग ही स्पर्श हो गया है, स्पर्श ही गन्ध हो गया है, गन्ध ही ध्वनि हो गयी है। और ध्वनि ही मेरा चिदाकाश हो कर छा गयी है। जिसमें मैं उन्मुक्त हंस की तरह तैरता रहता हूँ।

वस्तु के और मेरे बीच के सम्वाद और सम्प्रेषण के लिए कोई माध्यम अब ज़रूरी नहीं रह गया है। अपने नग्न ज्ञान शरीर से, वस्तु के नग्न परिणमन के साथ सीधा टकरा रहा हूँ। समुद्र अपने आप को ही तैर कर पार कर रहा है। बिल्लौर की भीतरी तहों में रंगों का तूफ़ान उठा है। बिल्लौर अपने हज़ारों पहलुओं में उन रंगों को चमका कर भी, अपनी उज्ज्वलता में सदा कुँवारी है। दो पूर्ण नग्नताओं का यह एक वीतराग, पूर्णराग परिरम्भण है।

इस परिपूर्ण संचेतना और संवेदना में निराकुल सुख की कैसी शान्त नदी अविरल बह रही है। इस नदी के तट पर विचरते अनुभव हो रहा है, कि मेरी इन्द्रियाँ ही स्वयं अपना विषय बन गई हैं। वे स्वयं ही अपना आत्म-सम्भोग हो उठी हैं। मेरा स्पर्श स्वयं ही अपना अगाध मार्दव हो गया है। मैं आप अपने में ही अनायास एक अथाह कोमलता में लालित हूँ। मेरी रसना में ही अमृत के सोते प्लवित हो रहे हैं। मेरी नासिका स्वयं मलयाचल का चन्दनवन हो गयी है। मेरी आँखें ही रंग, रूप, लावण्य सौन्दर्य, यौवन का अपार समुद्र हो गयी हैं। मेरे कान ही स्वयं निखिल के नाड़ी-मण्डल की वीणा बन कर झंकृत हैं। अपनी सुषुम्ना के लय-कक्ष में अनन्त रमणी के उत्संग में निराकुल भाव से सुखासीन हूँ। महासुख-कमल की इस शैया पर, तीनों काल और तीनों लोक के सारे सौन्दर्यों में मैं निर्बाध विलास कर रहा हूँ।

इस विलास-कक्ष में अपने अनादि अनन्त काल-व्यापी सारे ही जीवनों और जन्मान्तरों को एक साथ ही, सम्पूर्ण जी रहा हूँ। अभी और यहाँ। . . पुरुरवा भील के कन्धे पर काली अभी और यहाँ झूल रही है। . . तीर्थंकर ऋषभदेव का समवशरण अभी और यहाँ मुझ में जाज्वल्यमान है। मरीचि के आगे नमित योगीश्वर भरत चक्रवर्ती का सम्वाद अभी और यहाँ मेरे साथ सीधा चल रहा है। त्रिपृष्ठ वासुदेव और प्रियमित्र चक्रवर्ती के साथ अभी और यहाँ अपनी इस स्फटिक की छत पर बिलस रहा हूँ। सिंहगिरि पर्वत के गंगा-तटवर्ती कान्तार में वह खूँख्वार अष्टापद, अभी इसी क्षण मेरे भीतर अनुकम्पा से भर आया है। और उसकी करुणा, मुदिता, मैत्री को अक्षुण्ण अभी, यहाँ अनुभव कर रहा हूँ। . . अच्युत स्वर्ग के अप्सरा काननों में, अच्युतेन्द्र मैं, अभी और यहाँ लावण्य के सरोवरों में आलोड़ित हो रहा हूँ। . .

. . और देवानन्दा, ऋषभ, त्रिशला, सिद्धार्थ, विन्ध्याचल की काली, शालवन की शालिनी, सारे समकालीन विश्व की चुनिन्दा सुन्दरियाँ, चन्दना, चेलना, चेटक बापू, आम्रपाली, वैशाली का जन-जन, वैनतेयी, सोमेश्वर, मुझ से सम्पर्कित हर सत्ता, मेरी यात्राओं के सारे प्रदेश, सब मेरे साथ अभी और यहाँ, घर पर हैं। मैं उनके साथ प्रतिपल घर पर हूँ। नित्य उनके साथ उपस्थित हूँ। दुर्दान्त समुद्रों के प्रवाहों पर, आधी रातों जूझती अन्वेषक मल्लाहों की नावों पर, मैं पाल बन कर तना हुआ हूँ। ज्ञात-अज्ञात सारी ही पृथ्वियों और लोकों के, सारे ही द्वीपों और देशों के, दूर-दूर चमकते दीयों वाले घरों में, वहाँ के सारे नर-नारीजन के साथ, हर क्षण घर पर हूँ। उनके सारे सुख-दुःखों, विरह-व्यथाओं, कष्ट-सन्तापों में, उनके साथ मै अभी और यहाँ घर पर हूँ। उनके सारे ही प्रणयालापों में, मैं इसी क्षण सहभागी हूँ। उनके सारे ही विरहाघातों में मैं अभी और यहाँ स्पन्दित हूँ। . . और फिर भी इसी एक कालाणु में मैं अपने स्फटिक के अन्तःपुर में, अपनी सुख-सेज में अक्षुण्ण निरावेग शयित हूँ।

विरह, विषाद, अवसाद, व्याकुलता के वर्तुल विलुप्त हो गये हैं। मेरे इस निज कक्ष में मेरी शैया के सिरहाने सदा सूर्योदय हो रहा है, और मेरे पायताने सदा सूर्यास्त हो रहा है। उदय और अवसान के तकियों पर एक साथ सिर ढाले लेटा हूँ। विराट् प्रलय की वीणा पर उदय का वसन्तराग संगीत निरन्तर बज रहा है।

दूरियाँ अपने छोरों पर सिरा कर, मेरे पास आ खड़ी हुई हैं। दिशाएँ अंगूरों सी एक हीरे की तश्तरी में मेरे सामने पड़ी हैं। मैं अपने क्षीर सागर की शेष-शैया पर निराकुल शयित हूँ। मेरी आत्मा की कमला मेरे पैरों को गोदी लिये उन्हें सहला रही है। उसकी संवेदनाकुलता के आँसू मेरे हृदय पर ढलक आये हैं। . . और सकल चराचर में उसी क्षण मै परम सम्भोग में लीन हो गया हूँ। . .

. . सहसा ही मेरा आत्मलीन काम, एक महाकाम में हिल्लोलित हो उठा। विश्व की असंख्य आत्माओं की करुणा मुझे खींच रही है। समस्त नभचर, जलचर, थलचर लोक मुझे पुकार रहा है। महाकाल की अज्ञात समुद्रवेला मे, नूतन सृजन की सारंगी ध्रुपद का आलाप ले रही है।

और देख रहा हूँ कि—

विशुद्ध सत्ता के अनन्त समुद्र के भीतर अचानक एक गभीर कम्पन हुआ। उसकी शान्त सतह पर अपूर्व नव्य परिणमन की ऊर्मियाँ बेमालूम सरसराने लगीं।

. . और लो, वह महासमुद्र स्वयं मूर्तिमान होकर, अपने निःसीम प्रसार पर चल रहा है। प्रकृति विराट् पुरुष को अपने वक्ष पर वहन कर रही है।

विपुलाचल के शिखर पर से, एक चम्पई पुण्डरीक की कुमारी पृथ्वी उसके समक्ष तैर आयी है। और समुद्र-पुरुष ने सहज ही उस पर पग धारण किया। . .

• • •

. . महीनों की महासमाधि से बाहर निकल आया हूँ। जीवन्मुक्त हो कर, जीवन-जगत में सदा के लिए लौट आया हूँ। साढ़े बारह वर्ष-व्यापी महामौन, वाणी के झरनों में फूट पड़ने को कसमसा

उठा है। सम्वाद और सम्प्रेषण के नये आयाम दिगन्तों में खुल रहे हैं।

त्रैलोक्येश्वर का अनहद नाद अन्तरिक्षों में विप्लव के घोष की तरह घहरा रहा है।

सकल चराचर का वल्लभ, उनके पास पर लौट आया है।

परिशिष्ट प्रथम

निवेदन है कि इस 'परिशिष्ट' के अन्तर्गत जो 'प्रस्थानिका' प्रस्तुत है, उसे पाठक मित्र पुस्तक समाप्त कर लेने के उपरान्त ही पढ़ें। कृति और पाठक के बीच वह न आये, यह वांछनीय है। इस 'प्रस्थानिका' में उन सारे प्रस्थान-बिन्दुओं और मुद्दों को स्पष्ट कर दिया गया है, जिन्हें लेकर भ्रान्ति हो सकती है, प्रश्न और विवाद उठ सकते हैं।

प्रस्थानिका

ईसा पूर्व की छठवीं सदी मे महावीर का उदय एक प्रतिवादी विश्व-शक्ति के रूप में हुआ। जो जीवन-दर्शन उस ज़माने में वाद (थीसिस) के रूप मे उपलब्ध था, वह विकृत और मृत हो चुका था। प्रगतिमान जीवन को उससे सही दिशा नहीं मिल रही थी। पृथ्वी पर सर्वत्र ही एक गत्यवरोध और अराजकता व्याप्त थी ! तब उस छिन्न-भिन्न वाद के विरुद्ध एक प्रचण्ड प्रतिवाद (एण्टीथीसिस) के रूप में महावीर आते दिखायी पड़ते हैं। उस समय के विसंवादी हो गये जगत का प्रतिवाद करके, उन्होंने उससे एक नया संवाद (सिंथेसिस) प्रदान किया।

वेद के ऋषियों ने विश्व का एक सामग्रिक भावबोध पाया था। उनका विश्व-दर्शन एक महान् कविता के रूप में हमारे सामने आता है। पर उस कविता मे भी वे विश्व के स्वयं-प्रकाश केन्द्र सविता तक तो पहुँच ही गये थे। गायत्री में उनका वही साक्षात्कार व्यक्त हुआ है; किन्तु यह दर्शन केवल भावात्मक था, प्रज्ञात्मक नहीं। इसी कारण इसकी परिणति भावातिरेक में हुई। देह, प्राण, मन, इन्द्रियों के स्तर पर उतर कर यह भावातिरेक स्वयम्भू सविता के तेजस्केन्द्र से विच्युत और वियुक्त हो गया। अभिव्यक्ति अपने मूल स्रोत आत्मशक्ति से बिछुड़ गई। भावावेग में सारा ज़ोर अभिव्यक्ति पर ही आ गया। वृक्ष का मूल हाथ से निकल गया, केवल तूल पर ही निगाह अटक गई। जड़ से कट कर झाड़ के कलेवर में हरियाली कब तक रह सकती थी ? सो वह मुर्झाने लगा, उसका ह्रास होने लगा। यहीं वेद वेदाभास हो गया। सविता के उद्गीथों का गायक ब्राह्मण पथ-च्युत और वेद-भ्रष्ट हो गया। फलतः कर्म-काण्डी ब्राह्मण-ग्रंथों की रचना हुई।

तब उपनिषदों के ऋषि प्रतिवादी शक्ति के रूप में उदय हुए। क्षत्रिय राजर्षियों ने प्रकट होकर अपने विजेता ज्ञान तेज और तपस् द्वारा सविता का नूतन साक्षात्कार किया। वेदों की महाभाव वाणी के केन्द्र में उन्होंने प्रज्ञान का स्वयम्-प्रकाश सूर्य उगाया। लेकिन उपनिषद् की ब्रह्मविद्या भी द्रष्टाभाव से आगे न जा सकी। कालान्तर में वह ज्ञान भी विकृत होकर स्वेच्छाचारियों के हाथों निष्क्रियता, पलायन और स्वार्थ का औज़ार बना। अवसर पाकर दबे हुए कर्म-काण्डी ब्राह्मणत्व ने फिर सिर उठाया। ब्रह्मविद्या पर फिर छद्म वेद-विद्या हावी हो गयी। उपनिषद् के ब्रह्मज्ञानियों से लगा कर श्रमण पार्श्व तक, भाव, दर्शन, ज्ञान को तपस् द्वारा जीवन के आचार-व्यवहार में उतारने की जो एक महान प्रक्रिया घटित हुई थी, वह कुण्ठित हो गई। तब महावीर का उदय एक अनिर्वार विप्लवी शक्ति के रूप में हुआ। दीर्घ और दारुण तपस्या द्वारा

उन्होंने दर्शन और ज्ञान को जीवन के प्रतिपल के आचरण की एक शुद्ध क्रिया के रूप में परिणत कर दिखाया। इसी से दर्शन के इतिहासकारों ने उन्हें क्रियावादी कहा है; क्योंकि उन्होंने वस्तु और व्यक्तिमात्र के स्वतंत्र परिणमन का मन्त्र-दर्शन जगत को प्रदान किया था। . . मनुष्य स्वयं ही अपने भाग्य का विधाता है। कर्म करने न करने, उसके बंधन में बँधने न बँधने को वह स्वतंत्र है। वह स्वयं ही अपने आत्म का कर्ता और विधाता है। वह स्वयं ही अपने सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, जीवन-मृत्यु का निर्णायक और स्वामी है। . .

इससे प्रकट है कि आज का मनुष्य जिस आत्म-स्वातंत्र्य को खोज रहा है, उसकी प्रस्थापना उपनिषद् युग के ऋषि, श्रमण पार्श्व और महाश्रमण महावीर कर चुके थे। इस तरह मूलतः आधुनिक युग-चेतना का सूत्रपात ईसापूर्व की छठवीं सदी में ही हो चुका था। विचार और आचार की एकता ही इस चेतना का मूलाधार था। महावीर के ठीक अनुसरण में ही बुद्ध आये। उनके व्यक्तित्व में मैं महावीर का ही एक प्रस्तार (प्रोजेक्शन) देख पाता हूँ। वे दोनों उस युग की एक ही क्रिया-शक्ति के दो परस्पर पूरक और अनिवार्य आयाम थे। महावीर को परात्पर परब्राह्मी सत्ता के पूर्ण साक्षात्कार के बिना चैन न पड़ा। बुद्ध जगत के तात्कालिक दुःख से इतने विगलित हुए, कि दुःख के मूल की खोज तक जा कर, स्वयं दुःख-मुक्त होकर, सर्व के दुखःमोचन के लिए संसार के समक्ष एक महाकारुणिक परित्राता के रूप में अवतरित हो गये। आत्म-तत्व और विश्व-तत्व, तथा उनके बीच के मौलिक सम्बन्ध के साक्षात्कार तक जाना उन्हें अनिवार्य न लगा। पूर्ण आत्म-दर्शन नहीं, आत्म-विलोपन ही उनके निर्वाण का लक्ष्य हो गया। सो 'अव्याकृत' और 'प्रतीत्य समुत्पाद' का कथन करके उन्होंने विश्व-प्रपंच से उत्पन्न होने वाले सारे प्रश्नों और समस्याओं को गौण कर दिया। मगर महावीर तत्व तक पहुँचे बिना न रह सके। सो वे तत्व के स्वभाव को ही अस्तित्व मे उतार लाने को बेचैन हुए थे, ताकि जीवन की समस्याओं का जो समाधान इस तरह आये, वह केवल तात्कालिक निपट बाह्याचार का क़ायल न हो; वह स्वयंभू सत्य का सार्वभौमिक और सार्वकालिक प्रकाश हो। वह केवल भाविक और कारुणिक न हो : वह तात्विक, स्वाभाविक और स्वायत्त भी हो। स्वयं तत्व ही भाव बन कर जीवन के आचार में उतरे। उनका प्राप्तव्य चरम-परम सत्ता-स्वरूप था, इसी कारण उन्होंने इतिहास में अप्रतिम, ऐसी दीर्घ और दुर्दान्त तपस्या की। वस्तु मात्र और प्राणिमात्र के साथ वे स्वगत और तद्गत हो गये। सर्वज्ञ अर्हत् महावीर में स्वयं विश्व तत्व मूर्तिमान होकर इस पृथ्वी पर चला।

ईसापूर्व की छठवीं सदी में, समूचा जगत अन्तिम सत्य को जान लेने की इस बेचैनी से उद्विग्न दिखाई पड़ता है। सारे लोकाकाश मे एक महान अतिक्रान्ति की लहरें हिलोरें लेती दीखती हैं। उस काल के सभी द्रष्टा और ज्ञानी विचार को आचार बना देने के लिए, धर्म को कर्म में और तत्व को अस्तित्व में परिणत कर देने को जूझते दिखाई पड़ते हैं। इसी से सक्रिय ज्ञान (डायनामिक नॉलेज) के धुरन्धर व्यक्तित्व, उस काल के भूमण्डल के हर देश में पैदा हुए। महाचीन में लाओत्स, मेन्शियस और कॅन्फ्यूसियस, यूनान में हिराक्लिटस और पायथागॉरस, फिलिस्तीन में येर्मियाह और इझेकिएल तथा पारस्य देश में जर्थूस्त्र, और भारत में महावीर और बुद्ध एक साथ, आत्म-धर्म को सीधे आचार में उतारने की महाक्रियात्मिक मंत्रवाणी उच्चरित कर रहे थे। वस्तुतः वह एक सार्वभौमिक क्रियावादी अतिक्रान्ति का युग था।

• • •

महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण-शती की गूँज जब चारों ओर के वातावरण में सुनाई पड़ी, तो अनायास मेरे मन में यह भाव उदय हुआ, कि क्यों न भगवान के व्यक्तित्व और कृतित्व पर कोई सृजनात्मक काम किया जाए। राम, कृष्ण, बुद्ध, क्रीस्त केवल सम्प्रदायों तक सीमित नहीं रह सके हैं। इतिहास और साहित्य दोनों ही में उन पर पर्याप्त अन्वेषणात्मक और सृजनात्मक कार्य हुआ है। उनकी तुलना में महावीर इतिहास के पृष्ठों में बहुत धुँधले पड़ गये दिखाई पड़ते हैं। साम्प्रदायिकता के घेरे से परे, विश्व-पुरुष महावीर की कोई सही और ज़िन्दा 'इमेज' न इतिहास में सुलभ है, और न जगत के दर्शन और साहित्य के क्षेत्रों में। मेरे जी में एक दुर्द्धर्ष संकल्प जागा कि, जो महावीर मूर्तिमान विश्व-तत्व होकर इतिहास में चले, काल के विपथगामी चक्र-नेमि को उखाड़ कर जिन्होंने उसे अपने चिदाकाश में गाड़ दिया, और सम्पूर्ण सृष्टि को हिंसा के दुश्चक्र से मुक्त कर जो उसे अपनी जाज्वल्य चेतना से सम्यक् दिशा में मोड़ गये, उन्हें अपने सृजन द्वारा मैं साम्प्रदायिकता के मुर्दा कारागार से मुक्त करूँगा। एक अनिर्वार पुकार ने मुझे बेचैन कर दिया कि जिस परम पुरुष ने, प्राणिमात्र को अपनी नियति का स्वयं-प्रकाश विधाता और निर्माता बनाने के लिए जड़त्व के अगम्य अन्धकारों में उतर जाना कुबूल किया, और महाकाल के गर्भ में खो जाने तक का ख़तरा उठा लिया, उस त्रिलोक और त्रिकाल के शाश्वत चक्रेश्वर को समय के मलबों में से खोद निकाल कर, जीवन की महाधारा में उसे यथास्थान प्रतिष्ठित करना होगा। विश्वेश्वर महावीर के सच्चे और चिर जीवन्त व्यक्तित्व को सृजन द्वारा अनावृत करके, आज के स्वातंत्र्य-कामी जगत् के सामने, उनकी एक सही अस्मिता और पहचान प्रकट करनी होगी।

इसी पुकार के प्रत्युत्तर के रूप में यह उपन्यास प्रस्तुत हुआ है। एक विशुद्ध कृतिकार की बेचैन और बेरोक ऊर्जा में से ही महावीर की यह 'सम्भवामि युगे-युगे' व्यक्तिमत्ता अवतीर्ण हुई है। जैनागमों में और इतिहास में महावीर के व्यक्तित्व की एक बहुत धुँधली रूप-रेखा (कंटूर) ही हाथ आती है। इतिहास में महावीर को लेकर आज भी जितनी भ्रान्तियाँ मौजूद हैं, उतनी शायद ही उस कोटि के किसी महापुरुष के बारे में हों। दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के ग्रंथों में तो महावीर-जीवन के उपादान लगभग नहींवत् ही मिलते हैं। तत्कालीन इतिहास की पृष्ठभूमि और श्वेताम्बर आगमों में उपलब्ध महावीर-जीवन की पौराणिक गाथा ही एकमात्र वे स्रोत हैं, जिनसे मैं अपने सृजन के लिए, किसी क़दर मूर्त आधार प्राप्त कर सका हूँ। शेष में तो यहाँ प्रस्तुत महावीर अन्ततः एक कलाकार के अन्तःसाक्षात्कार (विज़न) में से ही प्रतिफलित और प्रकाशित हुए हैं।

इस किताब को लिखने के दौरान बार-बार मैंने जैसे खुली आँखों देखा है, मानो साक्षात् हिमवान आर्यावर्त की धरती पर चल रहा है। और उसके हर चरण-पात के साथ सृष्टि के कण-कण में एक मौलिक अतिक्रान्ति घटित हो रही है। जैनों के जड़ीभूत साम्प्रदायिक ढाँचे में ढले, और मन्दिर-मूर्तियों में बन्दी महावीर ये नहीं हैं। और न महज़ इतिहास की तथ्यों और तारीखों से निर्मित खिड़की पर दिखाई पड़ने वाले मीनियेचर महावीर ये हैं। ये तो वे महावीर हैं, जो मेरी सृजनात्मक ऊर्जा के उन्मेष में, मेरी रक्त-धमनियों में आपोआप, उत्तरोत्तर खुलते और उजलते चले गये हैं। मानो कि मैं केवल क़लम चलाता रह गया हूँ, और भगवान् स्वयं ही मेरी क़लम की

नोक से कागज़ पर उतरते चले आये हैं। अनेक बार आधी रातों में महाकाल के विराट् शून्य में एक टक ताकता रह गया हूँ, और मेरी दृष्टि के फलक पर वे प्रभु अन्तरिक्ष में से ज्वलन्त उत्कीर्ण होते चले आये हैं। अपनी इस सृजनानुभूति को इससे अधिक शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। निरन्तर यह प्रतीति दृढ़तर हुई है, कि स्वयं श्रीभगवान के अनुग्रह बिना कोई मानुष कवि या रचनाकार उनकी यथार्थ जीवन-लीला का गान नहीं कर सकता; क्योंकि अंशतः और एक ख़ास अर्थ में उन प्रभु के जीवन में सहभागी हुए बिना, उनके समग्र के साथ एकतान हुए बिना, अपनी रक्तवाहिनियों में पल-पल उस परमाग्नि को धारण किये बिना, कला में उनकी जीवन्त मूर्ति नहीं उभारी जा सकती। इसी से कहना चाहता हूँ कि यह कृति मेरा कर्तृत्व नहीं, मेरे माध्यम से स्वयं उन भगवान का ही स्वैच्छिक प्रकटीकरण है। इसमें जहाँ भी सीमाएँ, त्रुटियाँ या कमियाँ हैं, वे मेरे माध्यम की अल्पता का परिणाम ही कही जा सकती हैं। वर्ना तो महावीर अपने को मेरी अन्तर्दृष्टि के समक्ष आरपार और अशेष खोलते चले गये हैं। इतने भावों, भंगिमाओं, रूपों और आयामों के साथ वे मुसलसल मेरे भीतर अनावृत (अनफ़ोल्ड) होते चले गये, कि उन अनन्त पुरुष के वैभव और विभा को समेटना, मेरे सान्त अस्तित्व के लिए एक भारी कसौटी सिद्ध हुआ है।

साम्प्रदायिक जैन अपने शास्त्रों की सीमित भाषा में वर्णित, किसी जैन महावीर को मेरी इस कृति में खोजेंगे, तो शायद उन्हें निराश होना पड़ेगा। यहाँ तो विशुद्ध विश्व-पुरुष महावीर आलेखित हुए हैं, जो केवल जैनों के नहीं, सब के थे, हैं। जो अपने युग के युगंधर, युगंकर और तीर्थंकर थे। उस युग की पीड़ा और प्रज्ञा जिनमें संयुक्त रूप से व्यक्त हुई थी। अपने काल के एक तीखे प्रश्न और चुनौती के उत्तर में जो महाकाल-पुरुष हमारे बीच मानुष तन धर कर आये थे, वे आदर्श की निरी जड़ीभूत पूजा-मूर्ति नहीं थे। मानवीय रक्त-मांस की समस्त ऊष्मा के साथ वे हमारे बीच, नितान्त हमारे आत्मीय होकर विचरे थे। उनके व्यक्तित्व में मानुष और अतिमानुष तत्व का अद्‌भुत समायोजन और संयोजन हुआ था। ऐसा न होता तो वे हमारे इतने प्रिय और पूज्य कैसे हो सकते थे! जैनागमों में महावीर की मानुष मूर्ति सुलभ नहीं है। एक आदर्श और अतिमानव पूजा-मूर्ति ही हाथ आती है। वह आज के मनुष्य को, आज के इस भीषण जीवन-संग्राम के बीच एक अभीष्ट तृप्ति और समाधान कैसे दे सकती है? उन भगवान का परम अनुग्रह हुआ, कि उन्होंने मेरे कवि के हाथों एक जीवन्त मनुष्य के रूप में, अभी और यहाँ के इस लोक में प्रकट होकर चलना स्वीकार किया है। मेरी इस कृति में, उनकी मानवता ही जीवन की नग्न असिधारा पर चलती हुई, अनायास अतिमानवता में उत्तीर्ण होती चली गई है।

कोई भी सर्जक कलाकार सम्प्रदाय-बद्ध तो हो ही कैसे सकता है! इसी से मेरे महावीर जैन-अजैन, दिगम्बर-श्वेताम्बर, ब्राह्मण-श्रमण के सारे भेदों से परे, विशुद्ध विश्वात्मा महावीर हैं। इस सृजन में ब्राह्मण वाङ्मय, जैन वाङ्मय या इतिहास का उपयोग मैंने केवल साधन-स्रोतों के रूप में किया है। उनमें से किसी का भी सटीक प्रतिनिधित्व करने का दावा मेरा नहीं है। मेरे महावीर सम्भवतः वे यथार्थ महावीर हैं, जैसे वे यहाँ जन्मे, जिये, चले और रहे। वे मेरे मन अत्यन्त निज-स्वरूप, निजी महावीर हैं।

दिगम्बर और श्वेताम्बर आगम तथा इतिहास में उपलब्ध तथ्यों का चुनाव मैंने नितान्त अपनी सृजनात्मक आवश्यकता के अनुसार किया है। किसी प्रकार का साम्प्रदायिक पूर्वग्रह मेरे यहाँ

लेश मात्र भी सम्भव नहीं था। मेरे कलाकार की सत्यान्वेषी दृष्टि, महाभाव चेतना, और सौन्दर्य-बोध में जो तथ्य अनायास आत्मसात् हो गये, उन्हीं का उपयोग मैंने किया है।

इस सन्दर्भ में उदाहरण के साथ कुछ स्पष्टीकरण ज़रूरी हैं। मसलन श्वेताम्बर आगमों में कथित भगवान के ब्राह्मणी के गर्भ से क्षत्राणी के गर्भ में स्थानान्तर का मैंने मात्र प्रतीकात्मक उपयोग किया है। यानी वेद-च्युत और यज्ञ-भ्रष्ट ब्राह्मणत्व की महावेदना इस ब्राह्मणी के भीतर ही उत्कटतम हो सकी, और उसी के उत्तर में मानो यज्ञ-पुरुष महावीर के ब्रह्मतेज ने पहले उसके हृदय-गर्भ में प्रवेश कर उसे समाधीत किया। और अगले ही क्षण वह स्वर्ण-सिंहारोही यज्ञपुरुष उसे क्षत्रिय-कुण्डपुर की ओर धावमान दिखायी पड़ा। इस प्रकार ब्राह्म तेज और क्षात्र तेज के संयुक्त अवतार महावीर ने एकबारगी ही ब्राह्मणी और क्षत्राणी दोनों मॉओं के गर्भ को कृतार्थ किया। इसी प्रकार श्वेताम्बरों की मान्यता है कि महावीर ने विवाह किया था, दिगम्बरों के अनुसार वे कुमार-तीर्थंकर ही रहे। विवाह को उन्होंने अंगीकार न किया। मैंने एक उपयुक्त प्रसंग उपस्थित कर, महावीर और यशोदा का परम मिलन तो आयोजित किया, पर किसी सांसारिक प्राणिक विवाह में उनको बाँधकर, उनके उस अनन्त मिलन को सीमित करना मेरे कवि-कलाकार को न भाया। देह के तट पर आत्मिक भाव से भरपूर मिल कर भी, सांसारिक स्तर पर वे एक-दूसरे से बिदा ले गये। तब आत्मा के स्तर पर एक अन्तहीन रोमांस में उनका मिलन अनन्त हो गया। जरा, मृत्यु, रोग, शोक, वियोग की दैहिक-मानसिक उपाधियों और व्याधियों से परे, भूमा के भीतर उनका एक शाश्वत मिलन घटित हुआ। यह अधिक कलात्मक, सुन्दर, शिव, और महावीर के व्यक्तित्व के उपयुक्त लगता है। उनके परिवेश की अनेक स्त्रियों के साथ उनके सम्पर्क और मिलन को मैंने रोमानी भूमा के इसी बहुआयामी लोक मे घटित किया है। उनके ऐसे सारे सम्बन्धों और व्यवहारों में मैंने परम वीतराग और पूर्ण अनुराग की संयुक्त (इन्टीग्रल) भूमिका उपस्थित की है। ठीक वही, जो किसी सर्व-वल्लभ पुरुषोत्तम या तीर्थंकर में सहज सम्भव होती है। वे किसी रूढ़ या भीरु नैतिकता से चालित नहीं होते, विशुद्ध और डायनामिक (प्रवाही) आत्मालोक से उज्ज्वल होता है उनका समूचा चारित्र्य। वह एक अविकल्प (इन्टीग्रेटेड) सम्यक् चारित्र्य होता है।

जैन ग्रन्थों में उपलब्ध महावीर की जीवनी में सती चन्दना का प्रसंग ही सबसे अधिक हृदय-स्पर्शी है। कृष्ण, बुद्ध और क्रीस्त के जीवन-चरित्रों में ऐसे मार्मिक प्रसंग बहुतायत से मिलते हैं। इसका कारण मुझे यही लगता है कि महावीर का जीवन और प्रवचन, बौद्धागमों के भी बहुत बाद में ही लिपिबद्ध हो सका। तब तक उनकी अनुशास्ता परम्परा के श्रमणों ने उनके वास्तविक जीवन-तथ्यों को बहुत हद तक बनी-बनाई, कठोर (रिजिड) आचार-संहिताओं तथा सिद्धान्तों से ढाँक दिया था। इसीसे बुद्ध की तरह महावीर का कोई महाभाव व्यक्तित्व हमारे सामने नहीं आता। मुझे बार-बार प्रतीति हुई है, कि स्वयं उन भगवान की अचूक कृपा के फलस्वरूप ही, मेरे कवि की कलम से उनका वह विलुप्त महाभाव स्वरूप इस कृति में किसी कदर मूर्त और साकार हो सका है। जो भगवान समस्त चराचर जगत् के एकमेव आत्मीय होकर रहे, उनका व्यक्तिव ऐसा भावहीन, रसहीन और रूक्ष हो ही कैसे सकता है, जैसाकि वह जैनागमों में उपलब्ध होता है। वे मेरे मन केवल जड़ीभूत सिद्धान्तों और आचार-संहिताओं से गढ़े हुए महावीर नहीं हैं, जीवन्त, ज्वलन्त और प्रवाही महावीर नहीं, जो कि उन्हीं के द्वारा निरूपित द्रव्य के निरन्तर परिणमनशील स्वरूप के

अनुसार।

सती चन्दना का कथा-प्रसंग श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थों में विभिन्न रूप से वर्णित है। श्वेताम्बरों ने चन्दना को अंगराज दधिवाहन की पुत्री और चम्पा की राजकुमारी शील चन्दना बताया है। इस रूप में वह महावीर की बड़ी मौसी पद्मावती की बेटी के रूप में सामने आती है। दिगम्बरों ने चन्दना को वैशाली के गणनाथ महाराज चेटक की सबसे छोटी पुत्री और महावीर की लगभग समवयस्का छोटी मौसी कहा है। चन्दना का यह दूसरा रूप और उसकी समूची दिगम्बर कथा, मेरे कथाकार को अपने प्रयोजन के लिए अधिक उपयुक्त और कलात्मक लगी। समग्र कथा-प्रबन्ध जिस तरह मेरी कल्पना में उद्भावित (कन्सीव) हुआ है, उसमें हमजोली मौसी चन्दना ही अधिक संगत प्रतीत होती है। चम्पा की राजकुमारी शील चन्दना को मैंने एक अतिरिक्त पात्र के रूप में अंगीकार कर लिया है, और उसे एक विशिष्ट प्रतीकात्मकता प्रदान कर दी है। प्रसंगतः यहीं यह स्पष्ट कर दूँ कि इस पूरे उपन्यास में पात्रों की वय-निर्णय के झमेले में मैं क़तई नहीं पड़ा हूँ। एक काल-खण्ड विशेष में कई पात्र घटित हैं। उनके बीच के सम्बन्ध और कथा-सन्दर्भ ही अधिक महत्वपूर्ण हैं। एक सुरचित कथा-शृंखला में यथास्थान वे आ गये हैं। उनकी उम्रों को लेकर मेरे पाठक या समीक्षक विवाद में न पड़ें। क्योंकि उस हद तक की तथ्यात्मकता को मैंने मूलतः ही अस्वीकार कर दिया है।

मेरे कवि के अन्तःसाक्षात्कार (विज़न) में, चन्दना भगवान के साथ भगवती के रूप में खड़ी दिखायी पड़ती है। सच्चिदानन्द प्रभु की अन्तःस्थ आह्लादिनी शक्ति, उनकी अभिन्नात्म धर्म-सहचारिणी, पुरुषोत्तम की आत्मसहचरी, उन्हीं की क्रियाशील चिद्शक्ति का एक साकार विग्रह। उनकी परब्राह्मी आत्मा के सौन्दर्य और ऐश्वर्य की एक सांगोपांग अभिव्यक्ति। उनके अन्तःस्थ महाभाव और महाकारुणिक प्रेम की, सर्वचराचर को सुलभ एक मातृ-मूर्ति। जगदीश्वर के साथ खड़ी त्रिलोक और त्रिकाल की जगदीश्वरी माँ : छत्तीस हज़ार आर्यिका-संघ की अधिष्ठात्री महासती चन्दनबाला। नारीत्व का वह सारांशिक परम सौन्दर्य और प्रेममय स्वरूप, जो सहस्राब्दियों के आरपार, मानव-इतिहास की कई पीढ़ियों को एक जगद्धात्री दूध की धारा की तरह आप्लावित करता चला जाता है। इस प्रकार मेरी चन्दना के रूप में, सृष्टि-प्रकृति में जो नारी का विशिष्ट 'फंक्शन' (प्रवृत्ति) है, उसे भागवदीय योजना में स्वीकृति, समर्थन और तात्विक मूल्य प्राप्त होता है। यहाँ परम पुरुष ने प्रकृति में अपने आत्म-वैभव को अभिव्यक्ति देकर, उसे भी परम सार्थकता और कृतार्थता प्रदान की है। इस चरित्र के अंकन में और नारी के साथ महावीर के अन्य सम्बन्ध-सन्दर्भों में, मेरा कलाकार जैनों की कट्टर सैद्धान्तिक मान्यताओं तथा आचार-शास्त्रीय सीमा-मर्यादाओं से बाधित नहीं हो सका है। अनन्त पुरुष महावीर को सिद्धान्तों की जकड़ में कैसे बाँधा और उपलब्ध किया जा सकता है। उन्हें हम निरन्तर प्रवाही अपने आत्म-स्वरूप के अनुरूप ही अपने लिए उपलब्ध कर सकते हैं, और रच सकते हैं। 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी' और 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' के अनुसार ही भगवान को हम अपने अभिन्न आत्मीय रूप में प्राप्त कर सकते हैं।

कई और भी सत्यात्मक और तथ्यात्मक विभावनाएँ (कॉन्सेप्ट्स) श्वेताम्बर और दिगम्बर स्रोतों से समान रूप से, अपनी कलात्मक आवश्यकता और भगवान के समग्र व्यक्तित्व की अपनी

सृजनात्मक अवतारणा के अनुरूप, मैने स्वतन्त्र भाव से चुनी हैं। कोई साम्प्रदायिक पूर्वग्रह तो किसी कलाकार के साथ संगत ही नहीं हो सकता, केवल एक विधायक, सर्जनात्मक प्रेरणा ही ऐसे चुनावों की निर्णायक हो सकती है। मसलन महावीर के बड़े भाई नन्दिवर्द्धन का पात्र मुझे अनिवार्य नहीं लगा, सो उसे मैंने ग्रहण नहीं किया है। यशोधरा के साथ उनका सांसारिक विवाह मुझे अनुकूल नहीं पड़ा, सो महावीर की पुत्री प्रियदर्शना और जामातृ जामालि को उस सन्दर्भ में ग्रहण नहीं किया है। तीर्थंकर काल में इन पात्रों का प्राकट्य किसी अन्य रूप में ग्राह्य हो सकता है।

केवल दो सर्वथा कल्पित पात्र मैंने रचे हैं, जिनका उल्लेख यहाँ नहीं करूँगा। क्योंकि उनका यहाँ अनावरण, रचना में उनके वास्तविकता-बोध को ह्रस्व कर सकता है, और पाठक की रसधारा को आघात पहुँचा सकता है। कोई भी रचनाकार आखिर अपनी कल्पना-शक्ति से ही किन्हीं पौराणिक या ऐतिहासिक महापुरुष की सागोपांग रचना कर सकता है। चाहे वाल्मीकि या तुलसी की रामायण हो, चाहे वेद व्यास का महाभारत, चाहे कालिदास का शाकुन्तल, और चाहे जैन महाकवियों और आचार्यों द्वारा रचित तीर्थंकरों के जीवन-वृत्त हों, उनमें आलेखित सभी प्रमुख या सहयोगी पात्र उनकी सृजनात्मक पारदृष्टि और कल्पना की ही उपज होते हैं। और इन्हीं महाकवियों के सारस्वत प्रसाद के हम ऋणी है, कि आज भी हमारे भावलोक और कल्प-लोक में राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर या क्रीस्त जीवित रह सके है। इसी सर्जक कल्प-शक्ति ने अपनी कालजयी प्रतिभा के बल, उन्हें शताब्दियों के आरपार मनुष्यों की हज़ारों पीढ़ियों के रक्त में संक्रान्त किया है, और इस क्षण तक हमारे रक्ताणुओं मे उन्हें अमर और जीवित रक्खा है।



वैदिक ऋषि की यह उक्ति कि कवि 'कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भू' होता है, एक मौलिक सत्य की अभिव्यक्ति है और सर्वथा सार्थक है। अत्याधुनिक मनोविज्ञान और फ़िज़िक्स (भौतिकी) तक से इस बात को समर्थन प्राप्त हुआ है कि कल्पना-शक्ति महज़ कोई हवाई उड़ान या कल्पना मात्र नहीं है। अत्याधुनिक परा-मनोविज्ञान ओर आध्यात्मिक मनोविज्ञान के आदि जनक कार्ल गुस्तेव युंग ने गहरे अन्वेषण के साथ यह प्रस्थापित किया है कि सत्यतः और वस्तुतः किसी पारद्रष्टा कलाकार की सशक्त और तीव्र कल्पना शक्ति ही, मानवीय ज्ञान की एकमेव सुलभ ऐसी क्षमता (फ़ेकल्टी) है, जो बहुत हद तक अतीन्द्रिय प्रज्ञा के निकटतम पहुँच सकती है। वह मानो आत्मिक सर्वज्ञता का ही एक ऐन्द्रिक-मानसिक पर्याय है। रचनाकार की ज्ञानात्मक चेतना अपनी सृजनात्मक ऊर्जा के चरम उन्मेष के क्षणों में एक ऐसी पराकाष्ठा को स्पर्श करती है, जहाँ उसके कल्प-वातायन पर देशकाल के तमाम व्यवधानों को भेदकर, हजारों वर्ष पूर्व के व्यक्ति, वस्तु और घटना-क्रम तक अपने यथार्थ रूप में साक्षात् हो सकते है। तब कोई आश्चर्य नहीं कि ऋषभदेव, भरत, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, शकुन्तला, सावित्री-सत्यवान या होमर की हेलेन, उनके रचयिता महाकवियों द्वारा तादृष्ट अपने सारभूत रूप में हमें ज्यों के त्यों उपलब्ध हो सके हैं।

कई अधुनातन भौतिकी-शास्त्रियों (फ़िज़िसिस्ट), वैज्ञानिक उपन्यासकारों और विज्ञान-दार्शनिकों ने वर्तमान में यह प्रस्थापना की है कि व्यक्तियों, वस्तुओं और घटनाओं के स्थूल

भौतिक पर्यायों का कालान्तर में विघटन हो जाने पर भी, उनके सूक्ष्म पर्याय अनन्त लोकाकाश में अक्षुण्ण रहते हैं। बहुत सम्भव है, कभी आगामी युग के वैज्ञानिक टेलीविज़न और रेडियो की तरह ही ऐसे यंत्रों का आविष्कार कर दें, जिनके माध्यम से हम सुदूर अतीत में हुए वेद-उपनिषद् के मन्त्रोच्चार, या अन्य ज्योतिर्धरों की उपदेश-वाणियों को तादृष्ट सुन सकें, और उनके सर्वांग व्यक्तित्वों और उनकी जीवन-लीलाओं को प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देख सकें। जब स्थूल-दर्शी भौतिक विज्ञान भी ऐसी कालभेदी उपलब्धि करने की बात सोच सकता है, तो मनुष्य की सूक्ष्म-दर्शी मानसिक और आत्मिक ज्ञान-शक्ति तो निश्चय ही उससे आगे जा कर, देश-काल के आरपार व्याप्त सूक्ष्म सत्ताओं का और भी अधिक ज्वलन्त और सारांशिक साक्षात्कार कर ही सकती है। कल्पना शक्ति भी मनुष्य की एक ऐसी ही मानसिक-भाविक अतिदूरगामी, ऊर्ध्वगामी और अन्तर्गामी क्षमता है, जो आत्यन्तिक सृजनोन्मेष और तीव्र संवेदना के क्षण में, अपनी लक्ष्यभूत किसी भी सत्ता या अतीत व्यक्तिमत्ता की एक खास 'वेव-लेंग्थ'(कम्पन-पटल) को स्पर्श कर, उसमें अक्षुण्ण विद्यमान उस सत्ता की सूक्ष्म परमाणविक पर्याय को पकड़ सकती है, उसका सचोट आकलन और अंकन कर सकती है।

उपनिषदों में और उससे प्रसूत वेदान्त में, इस सारी बाह्य सृष्टि को मनोमय कहा गया है। यानी कि इसका अस्तित्व केवल हमारे मन से उद्भूत कल्पना-तरंगों में है। अन्ततः अपने आप में इसका कोई ठोस अस्तित्व है ही नहीं। यह सब-कुछ महज़ हमारी कल्प-शक्ति का खेल है। इससे यह निष्कर्ष हाथ आता है कि मनस्तत्व में सब-कुछ सतत विद्यमान है। भूत, वर्तमान, भविष्य की किसी भी सत्ता को लक्ष्य कर, यदि एक सतेज संकल्पशक्ति से हम उसे खींचें, तो वह सत्ता यथावत् हमारी मानसिक चेतना में मूर्तिमान हो सकती है। वेदान्त के प्रतिनिधि और प्रामाणिक ग्रन्थ 'योग वासिष्ठ' में एक द्रष्टान्त-कथा आती है, जिसमें यह दिखाया गया है कि एक व्यक्ति को एक कुटीर में बन्द कर दिया जाता है, और कुछ ही घण्टों में वह विगत हज़ारों वर्षों के अपने कई जन्मान्तरों को ताद्रष्ट अपनी सम्पूर्ण अनुभूति-चेतना के साथ जी लेता है। जैन पुराण आत्माओं के जाति-स्मरण, यानी उनके कई-कई पूर्व जन्मों की स्मृतियों की कथाओं से भरे पड़े हैं। कोई सचोट प्रसंग आने पर एक आत्मा विशेष, अपने एक या अनेक पूर्व जन्मों के जीवन को अपने मनोलोक में साक्षात् करके, उनकी समस्त घटनाओं और अनुभूतियों को जी लेती हैं। इन सब चीजों से यह प्रमाणित होता है कि हमारी मानसिक चेतना और अन्तश्चेतना में त्रिलोक और त्रिकाल की सारी जीवन-लीलाएँ सूक्ष्म रूप में समाहित और अक्षुण्ण रहती हैं और किसी प्रासंगिक तीव्र संघात के फलस्वरूप वे ज्यों की त्यों हमारे अन्तःकरण में प्रत्यक्ष सजीव हो उठती हैं।

इस तरह प्राचीन परम्परागत और आधुनिक मनोविज्ञान, दोनों ही से हम इस सम्भावना पर पहुँचते हैं, कि सहस्राब्दियों पूर्व के व्यक्तियों और घटनाओं को, उनके चरित्रों को हम अपनी तीव्र संवेदनात्मक कल्पना-शक्ति से उनके यथार्थ स्वरूप में आकलित कर सकते हैं। वर्तमान में महावीर की स्मृति से सारा लोकाकाश व्याप्त है। क्योंकि लाखों लोग एकाग्र भाव से उनके जीवन और प्रवचन को याद कर रहे हैं। फिर यह भी है कि महावीर अब केवल अपनी भौतिक-मानसिक सत्ता से सीमित नहीं; उससे परे उनका व्यक्तित्व नित्य-सत्य आत्मिक सत्ता में अक्षुण्ण हो गया है। उनकी सिद्धात्मा में त्रिलोक और त्रिकाल निरन्तर हस्तामलकवत् झलक रहे हैं। उनका ज्ञान-शरीर

समस्त ब्रह्माण्डों में व्याप्त है। इस प्रकार वे हमारी संकल्प-शक्ति और वैश्विक चेतना को, चहुँ ओर से और भी अधिक सुलभ हो गये हैं। इस वस्तु-स्थिति को समक्ष रख कर सहज ही यह मान्य हो सकता है, कि महावीर की सत्ता से ओतप्रोत आज के लोकाकाश के बीच जब आज मेरे कवि-कलाकार ने अपनी समग्र एकाग्र चेतना से उन्हें स्मरणकिया है, और लगातार दो वर्ष के क्षण-क्षण में उन्हीं के ध्यान और संकल्प में वह जिया है, तो कोई आश्चर्य नहीं कि मेरी सृजन-चेतना में उनका वह यथार्थ जीवन और अन्तरंग सांगोपांग मूर्त हो सका हो, जो आज से ढाई हज़ार वर्ष पूर्व उन्होंने जिया था। और कोई अजब नहीं कि जो दो या अधिक कल्पित पात्र मैंने रचे हैं, वे महज़ ख्याली फ़ितूर नहीं, बल्कि वास्तविकता में वे तब अस्तित्व में रहे हों, और मैं अपनी एकाग्र सृजनात्मक कल्पना-शक्ति के बल उन्हें पकड़ने में समर्थ हो सका हूँ।

तब श्रद्धा की भाषा में यह भी कह सकता हूँ, कि अब जन्म-मरण के चक्र से अतिक्रान्त, मोक्ष या शाश्वती (इटर्निटी) में सम्पूर्ण नित्य विद्यमान भगवान महावीर ने स्वयं संभवतः अपने कवि पर ऐसी कृपा की हो, कि हमारी पृथ्वी पर जिया गया उनका समग्र तीर्थंकर-जीवन, उसके शब्दों में साकार हो उठे। मेरी अत्यन्त निजी आत्मानुभूति ने बारम्बार मुझे यह प्रत्यय कराया है कि मैंने महज़ अपनी आत्म-परक (सब्जेक्टिव) सनक से ही अपने प्रस्तुत महावीर को नहीं रचा है, बल्कि स्वयं तद्गत (ऑब्जेक्टिव) महावीर मेरे सृजनोन्मेषित चित्त-तन्त्र के माध्यम से अपनी स्वेच्छा से ही मेरे शब्दों में ज्यों के त्यों व्यक्त हो उठे हैं। यह प्रतीति मेरे भीतर इतनी प्रबल, अतर्क्य और अनिर्वार है, कि इसके विरोध में आने वाले किसी भी बौद्धिक तर्क के समक्ष मैं महज़ स्तब्ध मौन हो रहता हूँ। उसका किंचित् भी प्रतिकार मुझे तुच्छ और अनावश्यक लगता है। और तो और, प्रामाणिक और आर्ष माने जाने वाले परम्परागत शास्त्रों की सीमित बौद्धिक प्रस्थापनाएँ भी यदि इसके विरोध में सामने आयें, तो मैं उनसे बाधित और विचलित नहीं हो सकता। क्योंकि सृजनात्मक चेतना सदा सर्वतोमुखी, संयुक्त (इंटीग्रल) और सामग्रिक होती है। वह सारे एकान्त बौद्धिक विधानों से कहीं बहुत अधिक पूर्णता के साथ, किसी भी सत्ता का सम्पूर्ण आकलन करने में समर्थ होती है। सच तो यह है कि अनेकान्त-मूर्ति, साक्षात् सत्ता-स्वरूप महावीर को किसी रचना-धर्मी कवि-कलाकार की अनैकान्तिक सृजन-चेतना ही सर्वांग आकलित और चित्रित करने में समर्थ हो सकती है।

हमारे देश का बौद्धिक और साहित्यिक वर्ग बेहद सीमित, संकीर्णमना और पिछड़ा हुआ है। हमारे आज के तथाकथित आधुनिकतावादी सूफ़यानी (सॉफिस्टिकेटेड) साहित्य-समीक्षकों, और एकान्त स्थूल वस्तुवाद से पूर्वग्रहीत पाठकों के छोटे नज़रिये में मेरी उपरोक्त बातें हास्यास्पद भी हो सकती हैं। लेकिन जिस पश्चिम से यह भौतिक वस्तुवाद उधार लेकर हम अपनी आधुनिकतावादी दुकानदारी चला रहे हैं, उस पश्चिम के भौतिक-वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक और साहित्यकार, उस महज़ इन्द्रिय-गोचर भौतिक वस्तुवाद को जाने कब से पीछे छोड़ चुके हैं। वे प्रति दिन वस्तु और चेतना के नवीनतर क्षितिजों का अनावरण कर रहे हैं। उनके यहाँ महज़ इन्द्रिय-मन सीमित वस्तुवादी अवबोधन (पर्सेप्शन) और दर्शन अब उन्नीसवीं सदी की चीज़ हो चुकी है। सच ही यह एक उत्कट व्यंग्य और दयनीय विडम्बना है कि भारत में अपने को अप-टू-डेट समझने की भ्रांति में जी रहे लेखक और विचारक, बीते कल के पश्चिमी नज़रियों को दाँतों से पकड़ कर ही, ज़ोरों-शोरों से अपनी

आधुनिकता की नुमायश करने में आज भी दिन-रात मशगूल हैं।

• • •

इसी सिलसिले में एक और भी मुद्दे को स्पष्ट कर देना प्रासंगिक होगा जिसका प्रयोग इस उपन्यास में हुआ है और जो तथाकथित आधुनिकतावादी की निगाह में आपत्तिजनक और विवादास्पद हो सकता है। आर्ष जैन ग्रन्थों में तीर्थंकर के गर्भाधान, जन्म, अभिनिष्क्रमण, कैवल्य-प्राप्ति तथा निर्वाण के प्रसंगों को पंच-कल्याणक कहा गया है। इन अवसरों पर विभिन्न स्वर्गों के इन्द्र-इन्द्राणी, देव-देवाङ्गना, यक्ष-गान्धर्व, अप्सराएँ आदि अधि-दैविक सत्ताएँ तीर्थंकर के कल्याणक-उत्सव का समारोह करने को पृथ्वी पर आते हैं। मैंने अपनी कथा में ध्यान-विज़न के माध्यम से उपरोक्त देव-लोकों के धरती पर उतरने को स्वीकार किया है। तकनीकी युक्तियों द्वारा पार्थिव प्रसंग में उनके दिव्य वैभव के अवतरण को ज्यों का त्यों चित्रित किया है।

इस प्रयोग के पीछे दो हेतु मेरे मन में रहे हैं। पहला यह कि उक्त दिव्य परिवेश से मंडित जो तीर्थंकर की 'इमेज' सदियों से हमारे लोकमानस में बद्धमूल है, उसे विच्छिन्न करना मुझे उचित नहीं लगा। वह कुछ वैसा ही लगता है, जैसे किसी परिपूर्ण कला-कृति को उसके फलक, कम्पोज़ीशन (संरचना), परिवेश, वातावरण से हटा कर, उसकी संगति, सिम्फ़नी और संयुक्ति (यूनिटी) को भंग कर दिया गया हो। सदियों से जो तीर्थंकर स्वरूप लोक के अवचेतन और अतिचेतन में संस्कारित है, उसे खंडित करके यदि हम उसका कोई सुधारवादी चित्र उभारेंगे, तो लोक-मन के प्रति उसकी अचूक अपील सम्भव न हो सकेगी। इसी कारण जहाँ एक ओर मैंने बाह्य महावीर की परम्परागत (ट्रेडीशनल) 'इमेज' को यथा-स्थान अक्षुण्ण रक्खा है, वहाँ दूसरी ओर उनकी ज्ञानात्मक चेतना, भाव-चेतना और सारे वर्तन-व्यवहार को रूढ़ दार्शनिक और चारित्रिक मान्यताओं से मुक्त करके, एक सहज प्रवाही, स्वयम्-प्रकाश, गति-प्रगतिमान (डायनामिक) टू-डेट महावीर को प्रस्तुत किया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से लोक-हृदय में 'डायनामिक' महावीर को प्रतिष्ठित करने के लिए यही समायोजन मुझे सबसे कारगर प्रतीत हुआ।

इस किताब को लिखने के दौरान अक्सर मुझे कई साहित्यिक मित्रों तथा इस देश के मूर्धन्य पुरातात्विक और शोध-पंडितों तक ने बार-बार सावधान किया, कि मुझे अपने उपन्यास में शास्त्रों में वर्णित अलौकिक तत्वों, चमत्कारिक अतिशय-प्रसंगों (सुपचर-नेचरल फिनॉमना) आदि को छाँट देना चाहिए। नहीं तो आज के जन-मन को मेरा महावीर अपील न कर सकेगा। इन धीमानों और विद्वानों के ऐसे सुझावों पर अक्सर मुझे बहुत हँसी आई है। आज के जन-मन का उनका ज्ञान कितना किताबी, अख़बारी और उथला है, यह स्पष्ट हुआ है। किसी भी कृतित्व को ग्रहण करने वाला असली जन-मन वह सतही दिमाग़ नहीं है जो अनेक ऊपरी-बाहरी प्रभावों, प्रश्नों और सन्देहों के बीच झोले खाता रहता है। वह तो वह अन्तर्मन या सामग्रिक अवचेतना (कैलेक्टिव अन्कॉन्शस) है, जो आदिकाल से आज तक के इतिहास-व्यापी ज्ञान, संस्कृति और विश्वासों की अखंड अन्तर्धारा से निर्मित है। उस तक जो कृतित्व पहुँच सके, उसे अनायास अपील कर सके, उसे उद्‌बुद्ध और प्रगतिमान कर सके, उसके गत्यवरोध को तोड़ कर, उसके बहाव को नयी भूमि

और नयी दिशा दे सके, वही मेरे मन सच्चा सृजनात्मक कृतित्व कहा जा सकता है।

जो भी कुछ इन्द्रिय-गोचर न हो, जो स्थूल आँख से न दिखाई पड़े, उस सबको नकारने और उसमें अविश्वास करने वाले एकान्त बुद्धिवाद और विज्ञान का युग तो जगत के अप-टू-डेट ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों में कभी का समाप्त हो चुका। अब तो विज्ञान की दुनिया में अन्तरिक्ष युग आविर्भूत हो चुका है; मनोविज्ञान परा-मानसिक, अतीन्द्रिय अगोचर के सीमान्तों पर मनुष्य की किसी सम्भावित आध्यात्मिक चेतना का अन्वेषण कर रहा है; और दर्शन के क्षेत्र में 'फिनॉमेनालॉजी' सारे दायरों को तोड़कर हर दृश्य-अदृश्य या कल्पनीय सम्भावना तक को अपने ज्ञान और खोज का विषय बना रही है। असीम अवकाश में हमारी आँख से परे, जाने कितनी दुनियाएँ फैली पड़ी हैं। हमारी पृथ्वी तो आज के ज्योतर्वैज्ञानिकों की निगाह में, उन ज्ञात-अज्ञात परलोकों और ज्योतिर्मय विश्वों के आगे बहुत छोटी पड़ गई है। तब महावीर या बुद्ध जैसे लोकोत्तर व्यक्तित्वों के सान्निध्य में देवलोकों के उतरने की बात पर चौंकना या मुँह बिदकाना, आज के सन्दर्भ में बहुत अज्ञानपूर्ण, अवैज्ञानिक और हास्यास्पद लगता है। मै अपने इन आउट-मोडेड साहित्यिक मित्रों और भारतीय विद्या के बुद्धिवादी शोध-विद्वानों को स्पष्ट जताना चाहता हूँ कि उनका यह सुधारवादी और छद्म-आधुनिकतावादी नज़रिया असलियत मे अब रूढ़िवादी होकर, बहुत पुराना पड़ चुका है। अवतारों, तीर्थंकरों या योगियों के सन्दर्भ मे जो अधिदैविक घटनाओं के घटित होने, या दिव्य सत्ताओं के आविर्भाव के विवरण मिलते हैं, उनकी बौद्धिक-तार्किक या सुधारवादी व्याख्याएँ, आज के प्रगत ज्ञान-विज्ञान के युग में बहुत कृत्रिम, बचकानी और नादानीभरी लगती हैं।

तीर्थंकर महावीर के आध्यात्मिक और भागवदीय पदस्थ (स्टेटस) की जो भव्य-दिव्य विभावना (कॉन्सेप्ट) परम्पराओं और शास्त्रों से हमें उपलब्ध होती है, उसके यथेष्ट कलात्मक और सौन्दर्यात्मक सर्जन के लिए, त्रिलोक और त्रिकाल के अधीश्वर कहे जाते तीर्थंकर के उस परम महिमा-मंडित स्वरूप की सचोट कलात्मक अपील उत्पन्न करने के लिए, उनके व्यक्तित्व के अलौकिक ऐश्वर्यशाली परिवेश को स्वीकारना मुझे अनिवार्य प्रतीत हुआ। उसे काट-छाँट देने पर तो उनकी वह त्रैलोक्येश्वर वाली इमेज ही खत्म हो जाती है, जिसके चरणों मे लोक-लोकान्तरों के सारे वैभव समर्पित हो जाते हैं। देवलोकों के अकल्पनीय सुख-भोग और ऐश्वर्य भी, मर्त्यलोक के उस मृत्युंजयी अतिमानव के क़दमों में पड़कर, अपनी तुच्छता और निःसारता प्रकट करते हैं।

हक़ीक़त चाहे जो भी हो, लेकिन आदिकाल से आज तक के सारे कवियों, कलाकारों और शिल्पियों ने प्रतीकों के रूप मे ही सही, अतिमानवों के सर्जन में, उनके परिपार्श्व के रूप में, उनके अलौकिक परिसर का सौन्दर्यात्मक उपयोग तो किया ही है। पं. जवाहरलाल ने बहुत सही कहा था कि मिथकों और पुराकथाओं को हमें वास्तववादी नज़र से नहीं पढ़ना चाहिए, उन्हें रूपकों के रूप में पढ़कर उनके गहरे भावाशय मे उतरने की कोशिश करनी चाहिए।

• • •

बौद्ध आगमों में ईसापूर्व छठवीं सदी के भारत का एक सांगोपांग वस्तुनिष्ठ भौगोलिक और

ऐतिहासिक स्वरूप उपलब्ध होता है। इसी कारण उस काल के भारत का ऐतिहासिक स्वरूप उभारने के लिए, भारतीय और पश्चिमी सभी इतिहासविदों और शोध-विद्वानों ने बौद्ध आगमों को ही मुख्य स्रोत के रूप में अपनाया है। इस माने में जैन आगमों के संदर्भ गौण स्रोत के रूप में ही ग्रहण किये गये हैं। जैनागमों में चित्रित महावीर ऐतिहासिक से अधिक पौराणिक ही हैं। सो उनके आधार पर महावीर की कोई ऐतिहासिक व्यक्तिमत्ता रचना सहज साध्य नहीं लग रहा था। लेखन के आरंभ में मेरी कुछ धुँधली-सी परिकल्पना ऐसी ही थी कि मुझे एक तीर्थंकर को मनोवैज्ञानिक तरीके से एक विराट् आध्यात्मिक और लोक-परित्राता व्यक्तित्व प्रदान करना है। उसके लिए एक वास्तविक पृष्ठभूमि रचने के उपक्रम में जब मैं बौद्धागमों में उतरा और राइस डेविड आदि उस युग के प्रामाणिक इतिहासकारों को मैंने टटोला, तो वैशाली के विद्रोही राजपुत्र वर्द्धमान महावीर का एक सांगोपांग मूर्त्त स्वरूप मेरी आँखों आगे उभरता चला आया। उस काल के धार्मिक, दार्शनिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक परिप्रेक्ष्य में, अपने समस्त परिवेश के प्रति सक्रिय और उत्तरदायी एक जिन्दा महावीर अपनी आँखों आगे मुझे चलते दिखाई पड़े। इस तरह अनायास ही अपने युग के इतिहास-विधाता के रूप में महावीर मुझे सुलभ हो गये। अपने काल के धर्म, दर्शन, राज, समाज और अर्थ-क्षेत्रों को वे सम्पूर्ण संचेतना से आत्मसात् करते हैं। एक मरते हुए जगत और युग की पीड़ा, कराह और संघर्ष को वे अपने सीने में धड़कता अनुभव करते हैं। . . . सहसा ही मैं प्रतिबुद्ध हुआ कि जो नवीन युग-तीर्थ का प्रवर्तक तीर्थंकर है, जो अपने समय का सूर्य है, वह अपने आसपास के लोक की विकृतियों और वेदनाओं से बेसरोकार कैसे रह सकता है। अपने समय और विश्व को सम्पूर्ण मानवीय सम्वेदना के साथ वे अपने भीतर जीते और भोगते हैं। . . . और तब अनायास ही वे लोक-परित्राता और इतिहास-विधाता की तरह बोलते और वर्तन करते दिखायी पड़ते हैं। अपने युग की चीत्कार और पुकार का मूर्तिमान उत्तर बन कर वे आर्यावर्त्त की आसेतु-हिमाचल धरती पर विहार करते दिखायी पड़ते हैं।

पर उनकी चेतना और उनका व्यक्तित्व इतिहास पर समाप्त नहीं, देश-काल पर खत्म नहीं। वे एक जन्मजात योगी हैं। देश-कालभेदी यौगिक चेतना लेकर ही वे जन्मे हैं। लोक के लिए उनकी संवेदना और सहानुभूति महज मानसिक और प्रासंगिक नही, वह प्रज्ञानात्मक और आध्यात्मिक है। प्रासंगिक समस्याओं का समाधान भी वे वस्तुओं के मूल में जा कर, अपने प्रज्ञान के केन्द्र में खोजते है। अपने युग की धार्मिक, मानसिक, दार्शनिक, अर्थ-राज-समाजनैतिक वस्तु-स्थिति का वे एक मौलिक विश्लेषण करते हैं, जो कि समस्या को अनायास ही आध्यात्मिक, सार्वभौमिक और सार्वकालिक स्तर पर संक्रान्त कर देता है। . . . और अचानक ही मैं देखता हूँ, कि मेरे महावीर की वाणी में, हमारे आज के जगत की तमाम समस्याएँ ज्यों की त्यों प्रतिबिम्बित हो उठती हैं। स्पष्ट लग उठता है कि ठीक इस पल के हमारे भारत और विश्व को लक्ष्य करके बोल रहे हैं भगवान महावीर। और जिस अतिक्रान्ति की बात वे करते हैं, ठीक वही हमारे वर्तमान युग की तमाम दुश्चक्र-ग्रस्त समस्याओं को सुलझाने का एकमात्र कारगर उपाय प्रतीत होता है। लेकिन इस अतिक्रान्ति की मूलगामी रोशनी को पाने के लिए और उसे अपने युग के जगत में घटित करने के लिए मेरे महावीर इतिहास के बाहर खड़े हो जाते हैं। मौजूदा अनाचारी व्यवस्था के दुश्चक्र को तोड़ कर, उसे एक अभीष्ट सम्वादी दिशा में मोड़ देने के लिए उन्हें यह

अनिवार्य लगता है, कि वे इस व्यवस्था से निर्वासित हो कर ही इसकी नाशग्रस्त जड़ों में विस्फोट की सुरंगें लगा सकते हैं।

इस प्रकार अनायास कुछ ऐसा घटित हुआ है कि मेरे महावीर एकबारगी ही संयुक्त रूप से ऐतिहासिक और परा-ऐतिहासिक (मेटा-हिस्टोरिक) व्यक्तित्व के रूप में सामने आते हैं। आरम्भ में ऐसी कोई स्पष्ट परिकल्पना मेरे सामने नहीं थी। लिखने के दौरान ही मुझे स्पष्ट प्रतीति होती गई, कि महावीर को रचने वाला मैं कोई नहीं होता। मुझे मात्र माध्यम बना कर,स्वयं उन भगवान ने ही अपने को इस कृति में नये सिरे से उद्घाटित, अनावरित और पुनर्सृजित किया है। आज की इस दिशाहारा, आत्महारा मानवता को देशकालानुरूप नूतन उद्बोधन देने के लिए, हमारे युग के उन तीर्थंकर प्रभु ने मेरी क़लम से उतर कर हमारी इस मर्त्य धरती पर फिर से चलना स्वीकार किया है। यह उनकी कृपा और मर्ज़ी है : मेरी क्या सामर्थ्य कि मैं उन्हें अपने मनचाहे साँचों में ढाल सकूँ!

• • •

महावीर-जीवन के जो यत्किंचित् उपादान इतिहास और आगमों में उपलब्ध होते हैं, उनके आधार पर कोई घटना-प्रधान सुशृंखलित महावीर कथा-रचना सम्भव नहीं है। महावीर किसी कथा-नायक से अधिक एक युग-विधाता और युगान्तर-दर्शी व्यक्तित्व के रूप ही हमारे सामने आते हैं। इसी से यह उपन्यास एक व्यक्तित्व और विचार-प्रधान महागाथा (एपिक) के रूप में ही घटित हो सका है।

बीच में हमारे यहाँ विचार-कविता की बात उठी थी। मुझे लगता है कि उसके पीछे हमारे युग का कोई अनिर्वार तक़ाज़ा काम कर रहा था। आज मनुष्य-जाति इतिहास के अन्तिम सीमान्तों पर, अपने अस्तित्व के लिए मरणान्तक युद्ध लड़ रही है। We are on the frontiers and we seek a final answer, Here and Now, हम फ्रंटियर्स पर जूझ रहे हैं, और हमें दो टूक और आखिरी जवाब चाहिए। कोई ऐसा मौलिक समाधान, जो हमारे उखड़े हुए अस्तित्व को एक नया और आधारभूत आयतन (सब्स्ट्रेटम) दे सके। हम मोर्चों पर है, और एक हद के आगे महज़ कलात्मक घुमाव-फिरावों, रचना-कौशलों और शिल्प-प्रयोगों में उलझने के लिए हमारे पास धैर्य और वक्त नहीं है। हमें तलाश है एक ऐसे केन्द्रीय व्यक्तित्व की, एक ऐसे शलाका-पुरुष की, जो इतिहास की विकृत बुनियादों और घमासान चौराहों पर, सीधा एक अतिक्रान्ता महाशक्ति का विस्फोट कर दे। जो अपने व्यक्तित्व की शलाका पर अपने काल को माप दे, और निर्विकल्प विचार की ऐसी जलती शलाखें सीधे-सीधे हमारे सामने फेंके कि जो एकबारगी हो तमाम जड़-ज़र्जर ढाँचों को भस्मसात् कर दें, और स्वस्थ अस्तित्व की एक अचूक नयी बुनियाद डालें। ऐसे मौक़े पर सपाटबयानी की नहीं जाती, वह आपोआप अनिवार्य होती है। एक विप्लवी विचारधारा का सीधा विस्फोट इस घड़ी टाला नहीं जा सकता; बल्कि वही कारगर हो सकता है।

हमारी सत्ता इस क्षण अधर में थरथरा रही है, और हम अपने ही भीतर की किसी परात्पर महाशक्ति से जवाब तलब कर रहे हैं। हमारे वश का कुछ भी नहीं रह गया है।

मानवीय बुद्धि और कर्तृत्व के तमाम औज़ार और हथियार नाकाम हो चुके हैं। तब हमें अपने ही भीतर के किसी ऐसी उत्तीर्ण अतिमानव की तलाश है, जो हम सबकी पुंजीभूत शक्ति और परम ज्ञान का विग्रह हो, और जो हमारे मामलात में बरबस हस्तक्षेप करके, उन्हें किसी बुनियादी रोशनी में सुलझा दे, और हमारी ज़िन्दगी और इतिहास को एक नया मोड़ दे दे।

ऐसे ही किसी बेरोक तक़ाज़े ने मेरे भीतर भी काम किया है, और उसी का प्रतिफलन है यह रचना। अनुत्तर योगी महावीर, मेरी उसी बेचैन पुकार के उत्तर में एक बहुआयामी महासत्ता के रूप में व्यक्तित्वमान हुए हैं। हमारे मौजूदा जीवन-जगत और चेतना के हर आयाम पर तीखे प्रश्न जल रहे हैं, और उन्हीं का अमोघ उत्तर देते-से वे सामने आये हैं। इसीसे इस कृति को मैं एक व्यक्तित्व-प्रधान विचार-उपन्यास कहने की हिमाकत भी कर सकता हूँ।



इस मुक़ाम पर शिल्प का प्रश्न उठ सकता है। कोई भी समर्थ और मौलिक रचनाकार काव्य-शास्त्र पढ़ कर महाकाव्य नहीं रच सकता। वह तो अपने भीतर के अनिवार्य तक़ाज़ों से बेताब हो कर ही रचना करता है। उसके भीतर से जब एक पूरा युग और जगत बोलने और बाहर आने को छटपटा रहा हो, तो यह उसके वश का नहीं होता, कि अपनी रचना के स्वरूप और शिल्प का विधाता वह स्वयं रह सके। ख़ास कर महावीर जैसी विश्वसत्ता जब किसी रचनाकार के हाथों रूप लेना चाहे, तो उस रचना के रूप-तंत्र का स्टीयरिंग-व्हील (चालक-चक्र) भी वह अपने हाथ में ही ले लेती है। रचनाकार की हैसियत महज़ चक्र की रह जाती है, जो महावीर के हाथों में घूम रहा है।

इसीसे कहना चाहूँगा कि यह कृति यदि कोरी कथा से अधिक एक व्यक्तित्व-प्रधान वैचारिक महागाथा बनी है, तो उसके विधायक और निर्णायक महावीर ही रहे हैं, मैं नहीं।

वैसे भी मैं यह मानता हूँ कि हर सच्चा और मौलिक कृतिकार अपनी विधा स्वयं ही निर्माण करता है। पहले ही से मौजूद निर्धारित विधाओं की परिधि में बँधना वह कुबूल नहीं कर सकता। आज तो सर्जना और कला के क्षेत्रों में ऐसा अपूर्व नवोन्मेष प्रकट हुआ है, कि हर कलाकार और सर्जक, अपनी हर अगली रचना में, अपनी भीतरी सृजनात्मक आवश्यकता के अनुरूप, नयी विधा प्रस्तुत करता दीख रहा है। काव्य, महाकाव्य, कहानी, उपन्यास, नाटक के तमाम पुराने ढाँचे धड़ल्ले से टूट रहे हैं। रचनाकार अपनी हर नवीन कृति में कोई नया ही स्वच्छन्द प्रयोग करते नज़र आते हैं। एक उपन्यास ठीक उपन्यास होने के लिए आज किन्हीं पूर्व-निर्णीत हदों और पाबन्दियों का क़ायल नहीं। भीतर का कथ्य और सम्वेदन, अपनी निसर्गधारा में बहता हुआ, अपने शिल्पन के ढाँचे अपने ही अन्दर से फेंकता चला जाता है। आज रचना-धर्मिता ज़रा भी कृत्रिम प्रयास-साध्य नहीं रह गई है। वह बहुत सहज, मुक्त और निसर्ग हो गई है। पहाड़, झरने, समन्दर, ज्वालामुखी, आत्मा और इतिहास सीधे-सीधे अपनी तमाम ताक़त और अस्मिता के साथ रचना में मुद्रित शिल्पित होते चले जाते हैं।

शुरू में महावीर पर महाकाव्य लिखने का इरादा था, और आभारी हूँ मुनीश्वर विद्यानन्द

स्वामी का, कि उपन्यास लिखा गया। महाकाव्य उपन्यास होने को मजबूर हुआ, तो उपन्यास महाकाव्य हुए बिना न रह सका। एक नया ही आयाम पैदा हो गया। महावीर जैसे अनन्त पुरुष को महाकाव्य में ही समेटा जा सकता है। पराकोटि की कल्प-चेतना के बिना उनका सजीव कल्पन और बिम्बायन सम्भव नहीं। कवि की परात्पर-गामिनी कल्पक उड़ान, और अतलगामी धँसान के बिना, महावीर के अनन्त-आयामी और अथाह व्यक्तित्व को नहीं थाहा जा सकता, नहीं सिरजा जा सकता।

बेशक मुझे यह सुविधा रही, कि मैं मूलतः एक कवि हूँ। मेरी संवेदना और कल्पना स्वभाव से ही पारान्तर-वेधी है। वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं, सौन्दर्यों और सम्वेदनों के छोरों तक गये बिना मुझे चैन नहीं पड़ता। अपनी इस स्वभावगत तीव्रता, वेधकता और विदग्धता (पोइगनेंसी) के चलते, महावीर की रचना में मुझे काफी सुविधा हुई है। कटे-छँटे तर्क-संगत गद्य में एक विस्फोटक और देश-कालोत्तीर्ण सत्ता-पुरुष को कैसे सहेजा जा सकता है !

यों भी आज कथा और कविता के बीच की मर्यादा-रेखा बहुत बेमालूम हो गई है। सृजन की सारी ही विधाएँ एक-दूसरे में अन्तर-संक्रान्त होती दीखती हैं। आधुनिक उपन्यास के आदि जनक हेनरी प्रूस्त ने ही, कथा को कविता होने से नहीं बचाया था। वह मानव-आत्मा के ऐसे अन्तर्तम कक्षों के द्वार खटखटा रहा था, जहाँ काव्य की सूक्ष्मता के बिना प्रवेश पाना सम्भव नहीं था। इसी से वह कविता की तमाम सूक्ष्मता, गीतिवत्ता (लिरिसिज्म), अवगाहनशीलता (प्रोबिंग), प्रवाहिता और लचीलापन एकबारगी ही अपने उपन्यास 'दि स्वान्स वे' मे ले आया था। मेरे प्रस्तुत उपन्यास में काव्य और कथा की यह अन्तर-संक्राति सहज ही घटित हुई है। विषय की असाधारणता के अनुरूप, अपना एक विलक्षण शिल्प-विधान, मेरी रचना-प्रक्रिया में आपोआप ही प्रस्फुटित होता चला गया है।

इसी प्रक्रिया के दौरान एक और भी आज़ादी मैंने ली है, या कहूँ कि बिना किसी अपने फ़ैसले के वह मुझसे लेते ही बनी है। यानी चाहे जब हर कोई पात्र स्वयं, आत्म-कथात्मक अन्दाज़ में अपनी कथा कहने लगता है। प्रथम खण्ड के कुछ गिने-चुने अध्यायों में ही कथाकार कहानी कहता नज़र आता है। वर्ना तो लगभग सभी अध्यायों में, महावीर सहित सारे पात्र अपनी कथा स्वयं ही कहते सुनायी पड़ते है। द्वितीय खण्ड तो समूचा महावीर के आत्म-कथन के रूप में ही प्रस्तुत हुआ है। तृतीय खण्ड का रूप प्रथम खण्ड की तरह ही मिला-जुला है। कुछ ऐसा लगता है, मानो कि एक आत्मिक विवशता मे उत्स्फूर्त होकर पात्र अपनी चेतना को पर्त-दर-पर्त खोलते चले जाते हैं। मगर अवचेतना-प्रवाह की विशृंखल अभिव्यक्ति यहाँ नहीं है, बल्कि अतिचेतना-प्रवाह का एक अन्तर्वेधी अन्वेषण और ऊर्जस्वल निवेदन ही इसमें अधिक सक्रिय दीखता है।

• • •

मेरे उपन्यास के महावीर अवतार जैसे लग सकते है। जैन लोग अवतारवाद का सैद्धान्तिक ढंग से विरोध करते हैं। पर मेरे महावीर तो सारे बँधे-बँधाये ढाँचों और सिद्धान्तों को तोड़ते हुए सामने आते हैं। वे तो परम अनैकान्तिक और निरन्तर प्रगतिमान सत्ता-पुरुष हैं। अनेकान्त मूलतः

भावात्मक वस्तु है, तार्किक नहीं। वह एकबारगी ही नाना भाविनी निसर्ग वस्तु-सत्ता का द्योतक है। इसी से कहना चाहता हूँ कि अनैकान्तिक सत्ता के मूर्तिमान विग्रह महावीर को किन्हीं ऐकान्तिक गणित-फॉर्मूलों, परिभाषाओं और सिद्धान्तों के वाग्जाल में नहीं बाँधा जा सकता। युग की महावेदना और चरम पुकार के उत्तर में ही तीर्थंकर पृथ्वी पर अवतरित हो कर, समकालीन जगत को उस यातना के नागचूड़ से मुक्त करते हैं, जन-जन और कण-कण को उनकी स्वाधीन मुक्ति का मार्ग दिखाते हैं, और एक नये मांगलिक युग-तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं। प्रलय और उदय की शक्ति एक साथ उनके भीतर से विस्फोटित होती है। अज्ञानान्धकार का विनाश और ज्ञान का प्रकाश उनके हर वचन और वर्तन से एक साथ होता चला जाता है। उनके इस पुंजीभूत (कॉन्ससेंट्रेटेड), केन्द्रीय, युगंधर और युगंकर स्वरूप को अवतार के सिवाय और क्या कहा जा सकता है। कम-से-कम भावात्मक रूप से तो ऐसा सहज ही कहते बनता है। और सिद्धान्त की भाषा तो मेरे मन कट्टर एकान्तवाद की भाषा है, और प्रकट है कि मेरे महावीर उस कठघरे को तोड़ने आये थे। सो किसी कठघरे की भाषा में महावीर को कैसे परिभाषित किया जा सकता है?

• • •

भौगोलिक और ऐतिहासिक नामों के चुनाव में मैंने स्वतन्त्रता बरती है। उसमें प्रथमतः मेरी दृष्टि सौन्दर्यात्मक और कलात्मक रही है। कल्प-चित्र, ध्वनि और भावाशय, सभी दृष्टियों से जो नाम अधिक सार्थक लगे, उन्हें मैंने अपना लिया है। पुरातात्विक और शोध-कर्ता की तथ्य-निर्णय की दृष्टि मेरे रचनाकार को स्वीकार्य न हो सकी। एक खास प्रसंग में किस नदी, पर्वत, वन, नगर, पुर-पत्तन का नाम अधिक सार्थक ध्वनि-चित्र और कल्प-चित्र उत्पन्न करता है, उसी को मैंने चुन कर नियोजित कर दिया है।

कथा को एक बहुत गर्भवान और ताक़तवर 'सस्पेंस' देने के लिए मैंने क्षत्रिय-कुण्डपुर को वैशाली के एक उपनगर के रूप में, एक ख़ास सन्दर्भ में, उससे अलग भी रक्खा है। वैशाली और कुण्डपुर के बीच का फ़ासला कितने मील या योजन का है, इस तथ्य में मुझे दिलचस्पी नहीं। नाकुछ मीलों का जो भी फ़ासला है, उसे मैंने उभारा है। महावीर शैशव के बाद अट्ठाईस बरस की उम्र तक वैशाली नहीं जाते। हिमवान और विन्ध्याचल गूँध आये, कितने ही जनपदों में घूमते-फिरे, मगर बार-बार बुलाये जाने पर भी वैशाली नहीं गये। लगभग अपने गृह-त्याग की पूर्व-सन्ध्या में ही वे पहली बार, एक नियति-पुरुष की तरह वैशाली जाते हैं। और वहाँ के सन्थागार में उस सत्य-शक्ति का विस्फोट करते हैं, जिसे लेकर वे जन्मे थे, और जो यहाँ उनकी एकमात्र 'डेस्टिनी' (नियति) थी। तब कुण्डपुर और वैशाली के बीच का उपरोक्त फ़ासला कितना महत्वपूर्ण और सार्थक सिद्ध होता है !

क्षत्रिय-कुण्डपुर के पास गण्डकी नदी बहती है। कुछ विद्वान इसी को हिरण्यवती भी कहते हैं। बिना किसी तथ्य-निर्णय की झंझट में पड़े मैंने 'हिरण्यवती' को अपना लिया है। क्योंकि इसकी ध्वनि भी सुन्दर है, और हिरण्यमय पुरुष महावीर की पृष्ठभूमि में वह एक अत्यन्त सार्थक प्रयोग सिद्ध होती है। वैशाली के प्रमुख राजवंश विदेह-वंश भी कहे गये हैं। आगमों में स्वयं

महावीर को विदेह-पुत्र और उनकी माँ त्रिशला को विदेहदत्ता भी कहा गया है। जनक विदेह का विदेह-वंश समाप्त होकर लिच्छवियों में निमज्जित हो गया लगता है। वैशाली और उसका समस्त राज्य-परिसर विदेह देश भी कहलाता है। इसी से महावीर को मैंने आध्यात्मिक और कुल-परम्परा, दोनों ही अर्थों में जनक विदेह का वंशज भी कहा है। ज़ाहिर है कि इस तरह तथ्यात्मक संगति भी सहज ही बैठ जाती है और जनक तथा याज्ञवल्क्य के साथ जोड़ कर महावीर को भारत के ज्ञानात्मक और सांस्कृतिक इतिहास और परम्परा में कड़ीबद्ध रूप से घटित करना सहज सम्भव हो जाता है, जो कि इस रचना में मेरा अनिवार्य अभीष्ट था। विदेहों की वैशाली कहकर, जनक की जनकपुरी को भी मैने मोटे तौर पर बृहत्तर वैशाली क्षेत्र में ही सहज समावेशित कर लिया है। इसी से हिरण्यवती के जल को सीता, मैत्रेयी, गार्गी के स्नान से पावन कहना संगत हो सका है, और उससे महावीर की भौगोलिक पृष्ठभूमि में एक अद्‌भुत महिमा और पवित्रता की सृष्टि सम्भव हो सकी है।

ऐसे ही और भी भौगोलिक और ऐतिहासिक नामों मे मैंने सम्बन्ध-सूत्र जहाँ-तहाँ जोड़े होंगे। तथ्य-निर्णायक शोध-पंडित मुझ से अपने विवादग्रस्त निर्णयों पर चलने की प्रत्याशा न करें। मोटे तौर पर भोगोलिक स्थितियों और नामों का मानचित्र के अनुरूप सहज निर्वाह किया गया है। पर चुनाव का सन्दर्भ-सूत्र मैने अपना स्वतंत्र रक्खा है। उसमे सौंदर्य, भाव और कलात्मकता ही निर्णायक है। मैं उसे किसी भी कलाकार का एक स्व-सत्ताक 'ज्यूरिरिडक्शन' (अधिकार-क्षेत्र) मानता हूँ, जो तथ्य-पंडितों की मदाख़लत से परे है।

व्यक्तियों, उनके नामों, ओर उनके बीच के सम्बन्धों के आकलन मे भी मैने स्वतंत्रता बरती है। उपलब्ध सम्बन्ध-सम्भावनाओं मे जो सम्बन्ध मेरी कथा को अधिक सतेज और पुष्ट करे, उसी को मैने मान्यता दी है। दिगम्बर श्वेताम्बर मान्यताओं के भेद को गौण कर, मैंने उन दोनों ही स्रोतों से अपने अनुकूल चुनाव कर लिये हैं।



श्वेताम्बर आगमों में ही महावीर की जीवनी के उपादान मिलते हैं। सभी अधिकारी इतिहासकारों ने उन्हें प्रामाणिक स्रोत के रूप में स्वीकारा है। आगमों की भाषा, कथन और कथा-शैली, प्रवचन और वार्तालाप की शैली, सम्बोधनात्मक शब्दावली आदि बौद्धागमों से बहुत मिलती-जुलती है। प्रमुखतः बौद्धागमों में ही महावीरकालीन भारत का जीवन्त प्रतिबिम्ब मिलता है। वही समकालीन सभ्यता-संस्कृति के सही आइने हैं। श्वेताम्बर आगमों में भी अंशतः यह विशेषता मौजूद है। साम्प्रदायिक पूर्वग्रहवश इन आगमों को न स्वीकार कर दिगम्बरों ने महावीर की जीवनी को ही गँवा दिया है। महावीर के जीवन-चरित्र से भी उन्हें अपना मताग्रह अधिक मूल्यवान प्रतीत हुआ। अनाग्रह, अपरिग्रह और मोह-मुक्ति का प्रवचन तो हम साँस-साँस में करते हैं। पर धर्म तक में अपने मोह, आग्रह और परिग्रह को ठोंक बैठाने में हमने कोई कसर नहीं रक्खी है। महावीर से अधिक हमें ये प्रिय हैं, और जी-जान से हम उनसे चिपटे हुए हैं। श्वेताम्बर आगमों का दिगम्बरों द्वारा अस्वीकार, महावीर के जिन-शासन की एक महामूल्य दस्तावेज़ और विरासत को नकार देने

का सांस्कृतिक अपराध ही कहा जा सकता है।

दूसरी ओर श्वेताम्बर सम्प्रदाय, इतिहास में महावीर का दिगम्बरत्व सिद्ध होने पर भी, और आगमों में महावीर का अचेलक नग्न होना स्पष्ट उल्लिखित होने पर भी, श्वेताम्बरत्व के पूर्वग्रह से ग्रस्त होकर महावीर के चित्रों में उसे झाड़ की डाल, छाया, कोहरे, अन्धड़ की धूल, अग्नि-ज्वाला और साँपों से ढाँकने की हास्यास्पद चेष्टा करता है। पंथ-मूढ़तावश यह सत्य पर पर्दा डालने की नादानी है, जिस पर सिद्धात्मा महावीर को भी हँसी आ जाती होगी। एक ओर हम अनेकान्त, अहिंसा और अपरिग्रह के नारों से धरती-आसमान थर्रा रहे हैं, और दूसरी ओर हम इतने कट्टर एकान्तवादी, हिंसक, द्वेषी और परिग्रह-मूर्च्छित हैं कि अन्य धर्मियों की तो बात दूर, स्वयं महावीर की सन्तानों ने ही अपने सम्प्रदाय-कलह की वेदी पर, ठीक तीर्थंकर-मूर्तियों के समक्ष, परस्पर भाई-भाई को क़त्ल तक किया है ! तीर्थों पर अपने क़ानूनी कब्जे जमाने को हम दशकों से अदालतों में लड़ रहे हैं, और लाखों रुपयों की आतिशबाज़ी कर रहे हैं। अपने गिरते हुए और लाचारी में जीते हुए सहधर्मी बन्धुओं को उठाने और ज़िन्दा रखने को हमारे श्रीमन्त अपना दायित्व और कर्त्तव्य नहीं मानते, पर तीर्थों की सम्पत्ति पर तालेबन्दी करने की तीव्र कषाय के वशीभूत हो, वे अपने धन को पानी की तरह अनर्गल बहा सकते हैं।

जो महावीर सारे बन्धन काट कर, सारे वाद-सम्प्रदाय के घेरे तोड़कर, इतिहास में नग्न और निर्ग्रंथ खड़ा है, उसे अपनी साम्प्रदायिक ग्रंथियों में जकड़ कर, मनमाना काट-छाँट कर विकृत कर देने में हमने कोई कसर नहीं उठा रक्खी है। भगवान के इस विश्व-व्यापी महानिर्वाणोत्सव की मंगल-बेला में भी यदि हम उपरोक्त स्थूल कषाय और मोटे पूर्व-ग्रहों से मुक्त हो, आत्मिक एकता के सूत्र में न बँध सके. तो इतिहास में यह निर्वाणोत्सव हमारे गौरव का नहीं, लज्जा और कलंक का अध्याय होगा।

जहाँ तक मेरी अपनी बात है, सम्प्रदाय तो दूर, मैं तो तथाकथित जैनत्व के दायरे से भी बहुत पहले निष्क्रान्त हो चुका। कृष्ण, महावीर और क्रीस्त को एक ही महासत्ता के विभिन्न-मुखीन प्रकटीकरण (मेनीफ़ेस्टेशन) मानने वाला मै, एक स्वतंत्र सत्य-संधानी कवि हूँ। तब साम्प्रदायिकता तो मुझे छू भी कैसे सकती है ! इसी से महावीर का आत्मज कवि वीरेन्द्र, उनके अनुयायियों की इस कट्टर धर्मान्धता, और अपने स्वार्थ-साधन के लिए महावीर की हत्या तक कर देने की उनकी तत्परता देख कर, खून के आँसू रो आया है।

मेरे धर्म-रक्त की बिरादरी, क्या मेरे इस हृदय-रक्त को देखकर पिघल सकेगी ?

पहले ही महावीर को अपनी घोर साम्प्रदायिकता के कारागार में पच्चीस सदियों तक क़ैद रख कर, उन्हें इतिहास के पट पर से मिटा देने का महाअपराध हम बराबर करते चले आ रहे हैं। और आज भी, भारतीय राष्ट्र और भू-मण्डल-व्यापी निर्वाण-महोत्सव का विरोध करके, महावीर को अपने ठेके की सम्पत्ति घोषित करने का एक महान षड्यंत्र भी कहीं चल रहा है। यह विश्व-पुरुष महावीर को विश्व-पट पर से भूँस देने की आख़िरी बर्बरता का द्योतक है। हम जैनों का गत कई सदियों का इतिहास महावीर-पूजा का नहीं, महावीर-द्रोह का इतिहास है। अजब व्यंग्य है, कि महावीर के नाम का नक्काड़ा पीट कर हम इस वक्त सारी दुनिया को जगाने में लगे हैं, मगर हम खुद ही सोये हुए हैं, बदहवास और ग़ाफ़िल हैं। ऐसी आत्म-हत्यारी धार्मिक बिरादरी

दुनिया मे विरल ही कोई होगी।



सत्ता जैसी सामने आती है, वह स्थिति और गति की संयुति होती है। इसी से जैन द्रष्टाओं ने उसे ठीक इसी रूप मे परिभाषित किया है। महावीर सत्ता के उस तात्विक स्वरूप के चरम मानवीय प्रकटीकरण थे। उनके स्थिति-पक्ष का गान तो जिन-शासन मे सदियों से होता चला आया है। पर उनके गति-प्रगतिशील पक्ष का कोई जीवन्त मानवीय स्वरूप, मौजूदा स्रोतों से हमे उपलब्ध नहीं होता। जो अपने काल का सूर्य, और अपने युग-तीर्थ का प्रवर्त्तक तीर्थंकर था, क्या वह अपने समय की विविध आयामी जीवन-व्यवस्था से बेसरोकार रह सकता था ? उस जमाने के सत्ताधारियों, धर्म-पतियों और वणिक-श्रेष्ठियों के भ्रष्टाचारों और अनाचारों को क्या वह अनदेखा कर सकता था ? यह वस्तुत ही सभव नही है, और न उनके तीर्थंकरत्व के साथ संगत हो सकता है। अनुगामी आचार्य परम्पराओं ने चाहे महावीर के इस 'रोल' की अवगणना की हो, पर वास्तव मे उनके विश्व-परित्राता स्वरूप का यह जीवनोन्मुख आयाम भी अनिवार्यतः प्रकट हुआ ही होगा। मैने अपनी इस कृति में भगवान के उस कर्मयोगी धर्म-धुरन्धर व्यक्तित्व को जीवन्त करने का प्रयास किया है। पर उनकी समग्र जीवन-दृष्टि और विश्व-दृष्टि को मैने सत्ता के उपरोक्त तात्विक स्वरूप पर ही आधारित किया है। 'उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्वम्' : सत्ता एकबारगी ही उत्पाद, व्यय और ध्रुव की संयुति है। आधारभूत सत्ता (फडामेटल रियालिटी) की यह जिनेश्वरों द्वारा उपदिष्ट परिभाषा ससार के दर्शनों मे अप्रतिम है। इसी को वस्तु या व्यक्ति का स्वभाव भी कहा गया है। इसी सत्ता-स्वरूप या वस्तु-स्वभाव पर मैने महावीर के समूचे व्यक्तित्व, कृतित्व, जीवन और प्रवचन को आधारित किया है।

जैनों का अनेकान्त दर्शन भी सत्ता के उपरोक्त अनन्त-आयामी (अनन्त गुण-पर्याय) स्वरूप को सही रूप मे पकड़ने की एक कुंजी है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र्य, यानी सम्यक् देखना, सम्यक् जानना, सम्यक् जीना, उक्त सत्ता-स्वरूप में तद्‌गत रूप से जीवन-धारण और मोक्ष-प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। कर्म-सिद्धान्त, अहिंसा-अपरिग्रह आदि भी स्थितिगति-संयुक्त सत्ता क उसी प्रकृत स्वरूप की ही अनिवार्य उपज है। कमो-बेश सभी भारतीय धर्म-दर्शनों ने अपने अपने तरीक़े से कर्म-सिद्धान्त का प्रवचन किया है। वह मूलतः मनुष्य के स्वायत्त पुरुषार्थ का उद्योतक है। पर इतिहास के चक्रावर्तनों मे, प्रभु-वर्गीय शोषक शक्तियों ने ही उसकी भाग्यवादी व्याख्याएँ की और करवाई है। धर्मों और धर्माचार्यों तक को उन्होंने अपनी मदान्ध भौतिक प्रभुता का खिलौना बनाकर रखा है। उसी दौरान कर्म-सिद्धान्त को स्थापित-स्वार्थी वर्गों के हित मे व्याख्यायित किया और करवाया गया है। कर्मवाद, भाग्यवाद, पुण्य-पापवाद की आड़ मे शोषक शक्तियों ने भारत के इतिहास मे जिन अमानुषिक अत्याचारों की सृष्टि की, वह तो इस क्षण तक भी स्पष्ट प्रकट ही है। वह सिलसिला भारत में आज के धर्म और अध्यात्म-गुरुओं की छत्र-छाया में भी, ज्यों का त्यों अटूट चल और पल रहा है। वर्तमान भारत के सारे ही शीर्षस्थ और अध्यात्म-शक्ति-सम्पन्न श्रीगुरु-दरबार भी काले-बाज़ारियों की सम्पदा के

बल पर ही फल-फूल रहे हैं। भारतीय जन-जीवन के निकृष्ट हत्यारों को भी इन श्रीगुरुओं के चरण-कमलों में बेशर्त शरण और अभयदान प्राप्त होता है।

इन श्रीगुरु दरबारों में मैंने देखा है, दीन-दलित, पीड़ित जन-साधारण दुःख से लबरेज़, आँसू टपकाते हुए, दर्शनार्थियों के क्यू में अपनी बारी आने पर जब श्रीगुरु के समक्ष आते हैं, तो श्रीगुरु उनकी ओर देखते तक नहीं। वे अपनी व्यथा-कथा कहते ही रह जाते हैं, और श्रीगुरु के छड़ीदार उन्हें वहाँ से खींच-ढकेल कर अपनी राह भेज देते हैं जबकि दूसरी ओर काले बाज़ारों से करोड़पति बने महाजन और रिश्वतखोर राज्याधिकारी श्रीगुरु के चुनिन्दा भक्तों के रूप में उनकी दायीं ओर खड़े रहने के विशिष्ट हक़दार होते हैं। यही लोग आश्रमों के श्रेष्ठ साधनों के उपभोक्ता होते हैं, और हँसते-बलखाते जश्न मनाते दिखायी पड़ते हैं। कोई भी तीर्थंकरत्व, योगीत्व या सन्तत्व यदि आज के भीषण वैषम्य के युग में कर्म-सिद्धान्त और प्रारब्धवाद की आड़ में, दीनहीन, शोषणग्रस्त जन-साधारण के सुख-दुख, संघर्ष और समस्याओं से बसरोकार रहे, तो मैं उसे गम्भीर शंका की दृष्टि से देखता हूँ, मैं उसे स्थापित-स्वार्थी, शोषक और अत्याचारी शक्तियों का समर्थक और पक्षधर मानने को लाचार होता हूँ।

मेरे युग-युग सम्भव नित-नव्य महावीर ने कर्म-सिद्धान्त की इस स्थापित स्वार्थी और शोषण-समर्थक का सीधा-सीधा भण्डाफोड़ किया है। जिनेश्वरों द्वारा आदिकाल से उपदिष्ट सत्ता-स्वरूप के आधार पर ही उन स्वयं सत्ताधीश्वर भगवान ने कर्म-सिद्धान्त को उसके प्रकृत स्वरूप में खोल कर सामने रक्खा है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य, समाजवाद, विकासवाद-प्रगतिवाद आदि हमारे मौजूदा युग की सर्वोपरि पुकारें हैं। उनके पीछे निश्चय ही महासत्य का कोई अनिवार्य तक़ाज़ा काम कर रहा है। शाश्वत सत्ता-पुरुष महावीर के संयुक्त स्थिति-गतिमान व्यक्तित्व से यदि इन पुकारों का युगानुरूप उत्तर न आये, तो जिनेश्वरों द्वारा प्रवचित सत्ता-स्वरूप ही ग़लत और व्यर्थ सिद्ध हो जाता है।

जैसाकि आरम्भ में ही कह चुका हूँ, महावीर अपने समकालीन इतिहास में एक प्रतिवादी विश्व-शक्ति के रूप में प्रकट हुए थे। मौलिक सत्ता के सन्तुलन-भंग से, तत्कालीन विश्व-व्यवस्था में जो भीषण विकृति हुई थी, उसके विरुद्ध वे विप्लव और विद्रोह के ज्वालामुखी के रूप में उठे थे। इस अतिक्रान्ति और प्रतिवाद का स्रोत सतही इतिहास की क्रिया-प्रतिक्रिया-जनित दुष्ट शृंखला में नहीं था। वह सत्ता और आत्मा के मूल स्वरूप में था। इस प्रचण्ड क्रियावादी का कर्मयोग, विशुद्ध आत्म-स्वभाव में से विस्फोटित हुआ था। वैशाली का वह विद्रोही राजपुत्र अपने युग की मूर्धा पर ज्ञान और अतिक्रान्ति के अनिवार्य सूर्य के रूप में उद्भासित दिखायी पड़ता है।

इसी कारण वर्तमान युग की तमाम मौलिक पुकारों और समस्याओं का मौलिक उत्तर और समाधान मेरे महावीर की वाणी में सहज प्रतिध्वनित सुनाई पड़ता है। महावीर के धर्म-शासन में व्यक्तिगत सम्पत्ति के संचय और शोषक समाज-व्यवस्था के लिए कोई स्थान नहीं। जिनेश्वरों द्वारा उपदिष्ट वस्तु-स्वरूप, अनेकान्त, अहिंसा और अपरिग्रह से अधिक सशक्त समर्थन और अचूक आधार, आज की समाजवादी पुकार को शायद ही कहीं अन्यत्र मिल सके। पर यह सच है कि आज का जैन समाज महावीर के उस धर्म शासन का प्रतिनिधि नहीं, प्रतिरोधी ही कहा जा सकता है। महावीर का व्यक्तित्व इसमें प्रतिबिम्बित नहीं; महावीर से इसका कोई लेना-देना नहीं।

एक और भी अहम मुद्दे का स्पष्टीकरण आवश्यक है। ज्यादातर इतिहासकारों ने महावीर को ब्राह्मण-धर्म और वेद का विरोधी बताया है। यह एक ऐसा भयंकर 'ब्लंडर' है, जिसका सख्त प्रत्याख्यान होना चाहिए। महावीर ने कहीं भी वैदिक-उपनिषदिक वाङ्मय, और विशुद्ध ब्राह्मण-धर्म का विरोध नहीं किया है। उन्होंने वेद-भ्रष्ट पथच्युत ब्राह्मणों द्वारा की गई वेद और यज्ञ की असत्य, स्वार्थी और विकृत व्याख्याओं का निश्चय ही भंजन किया था। सच तो यह है कि भगवान ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण को ही समाज की मूर्धा पर प्रतिष्ठित किया चाहते थे। यह नियम है कि सर्वज्ञ केवली हो जाने पर, तत्काल ही तीर्थंकर की लोक-कल्याणकारी धर्म-देशना अचूक आरंभ हो जाती है। पर कैवल्य-सूर्य महावीर की दिव्यध्वनि तब तक अटकी रही, जब तक उस काल का ब्राह्मण-श्रेष्ठ इन्द्रभूति गौतम, एक उपयुक्त और नियत पट्टगणधर के रूप में उनके समक्ष आकर उपस्थित न हो गया। आगमों में इसके प्रचुर प्रमाण मिलते हैं कि अपने ग्यारह प्रमुख ब्राह्मण गणधरों द्वारा ब्राह्मण श्रुति-कथनों पर ही सन्देह प्रकट किये जाने पर, बारम्बार भगवान ने उन ब्राह्मण पंडितों की समझ को ही दूषित और गलत बताया, तथा स्वयं उपनिषद्-सूत्रों को उद्धृत कर, उनकी सत्यता का यथास्थान समर्थन करते चले गये। भगवान ने हर चन्द यह स्पष्ट किया है कि ब्राह्मण श्रुतियाँ अपने प्रकृत कथनों मे, सापेक्ष दृष्टि से एकदम सही है, पर संशयात्मा और स्वार्थमूढ़ ब्राह्मणों ने स्वयं ही अपने अधूरे ज्ञान से उनकी ग़लत व्याख्याएँ करके, वेद, यज्ञ और आर्ष ब्राह्मण धर्म को अध.पतित किया है। महावीर के प्रथम ग्यारह गणधरों का ब्राह्मण होना, और जिन-शासन के सभी प्रमुख आचार्यों का ब्राह्मण होना इस बात को प्रमाणित करता है कि ब्रह्म को जीवन में आचरित करने वाले सच्चे ब्राह्मण का जिनेश्वरों की धर्म-परम्परा में सदा ही सर्वोच्च स्थान रहा है, और आगे भी रहेगा।

• • •

मेरे महावीर परम्परागत श्रमणों और शास्त्रों की शब्द-बद्ध सीमित वाणी नहीं बोलते। जो स्वयं पर्यायी यानी शुद्ध द्रव्य-स्वरूप (कन्टेंट) हो चुका है, वह किसी भाषा पर्याय (फॉर्म) की क़ैद स्वीकार करके मौलिक और नित-नव्य सत्य का प्रवचन कैसे कर सकता है ! महावीर तो जन्म से ही मति-श्रुति-अवधिज्ञान के धारक थे। वे जन्मजात योगी थे। वे सर्वतंत्र-स्वतंत्र चिद्पुरुष थे। उनका हर वचन और व्यवहार चिर स्वतंत्र चिति-शक्ति में से स्फूर्त चिद्वाणी, चिद्क्रिया और चिद्विलास ही हो सकता था। इसी से मेरे महावीर के कथनों और क्रियाओं में, उनके रूढ़िवादी और परम्पराग्रस्त परिजनों को स्थापित धर्म-मर्यादाओं के भंग, विरोध और विलोपन तक की भ्रांति हो सकती है। वे प्रश्न उठा सकते हैं कि क्या मेरे महावीर के विचार और व्यवहार पूर्वगामी तीर्थंकरों की शास्त्रबद्ध चर्याओं से विसंगत और अतिरिक्त लगते हैं ? पर सत्ता तो अपने निज स्वरूप में ही नित-नूतन होती है, किसी भी भाषा और व्यवहार की परंपरागत पर्याय (फॉर्म) से वह प्रतिबद्ध कैसे हो सकती है ! तब स्पष्ट है कि उस सत्ता के मूर्तिमान अवतार महावीर के उच्चार, व्यवहार और तौर-तरीक़े महज़ परम्परा के अनुगामी नहीं हो सकते। परम्परा एकमात्र मौलिक सत्य की ही अटूट और शिरोधार्य हो सकती है : उस सत्य के व्यंजक रूप-आकारों की परम्परा तो

अपना काम समाप्त करके कालान्तर में, स्वयं ही जर्जर-जीर्ण होकर सूखे पत्ते की तरह झड़ जाती है। और यदि वह सड़-गल कर भी मोहग्रस्त मानव चेतना से चिपटी रह जाये, तो नवयुग विधाता तीर्थंकर और शलाका-पुरुष अपने मौलिक सत्य-तेज के प्रहार से उसे ध्वस्त कर देते हैं। महासत्ता के इसी शाश्वत नियम-विधान के अनुसार तीर्थंकर महावीर ने, पुरातन पर्यायों के सारे जड़ीभूत ढाँचों और परम्पराओं को बड़ी निर्ममता से नेस्त-नाबूद कर दिया था। वे एक स्वयम्भू-परिभू परम सत्ताधीश्वर थे, और उनके स्वाभाविक और स्वतःस्फूर्त प्रत्येक विचरण, आचरण और प्रवचन से, ह्रास-ग्रस्त युग-स्वरूपों का ध्वंस होता चला गया था, और नवीन युग-तीर्थ का प्रवर्तन होता चला गया था। एकबारगी ही प्रलय और उदय की धुरा पर बैठा वह सत्यन्धर, अपने तृतीय नेत्र से जड़-पुरातन को ज़मींदोज़ करता हुआ, नूतन रचना के सूर्य मुसलसल बहाता चला गया था।

इसीसे निवेदन है कि परम्परा से उपलब्ध जैन शास्त्रों और सिद्धान्तों की शाब्दिक कसौटी पर यदि कोई धर्माचार्य या पंडित महानुभाव मेरे महावीर को कसने और परखने की कोशिश करेंगे तो उन्हें निराश होना पड़ेगा। इसी प्रकार कोई इतिहासविद् ईसा-पूर्व छठवीं सदी के सटीक ऐतिहासिक ढाँचे में मेरे महावीर को फिट करके जाँचना चाहेंगे, तो उनके पल्ले भी निराशा ही पड़ सकती है। जो महावीर परा-ऐतिहासिक भी थे, वे अपने युग में घटित होकर भी, उसकी तथ्यात्मक परिधि में सीमित नहीं पाये जा सकते। वे आज के रचनाकार के विज़न-वातायन पर ठीक आज के भी लग सकते हैं। कोई भी मौलिक प्रतिभा का सृजक कलाकार, अपने भीतर मौलिक सत्ता का यत्किंचित् प्रकाश लेकर ही जन्म लेता है। वह योगियों और तीर्थंकरों का ही एक सारस्वत सूर्य-पुत्र होता है। इसीसे वह शास्त्र और इतिहास पढ़कर रचना नहीं करता, वह स्वयं नूतन शास्त्र और इतिहास का उद्घाती होता है।

परिशिष्ट द्वितीय

'अनुत्तर योगी' के प्रथम खण्ड में महावीर की पूर्व जन्मान्तर-कथा और गर्भाधान से लगाकर, तीस वर्ष की वय में उनके गृह-त्याग तक की कथा को रचा गया है। आगमों और दिगम्बर ग्रंथों में महावीर के इस कुमार काल की कोई ख़ास घटनाएँ नहीं मिलतीं। जो विरल तथ्य मिलते हैं, उनका उपयोग कर लिया गया है। . . . पर तीस वर्ष की वय तक अपने समय का यह सूर्य कैसे जिया, इसका उत्तर दिये बिना उपन्यास सम्भव ही नहीं हो सकता था। फलतः उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री और वेद-उपनिषद् तथा बौद्ध आगमों में मैंने उस काल-खण्ड और काल-चेतना का अन्वेषण किया। नतीजे में महावीर का निजी पारिवारिक परिवेश, उसमें घटित अनेक सम्बन्ध-सूत्र और पात्र तथा उस काल की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थिति सुनिश्चित रूप से मुझे उपलब्ध हो गई। और उसके बीच केन्द्रीय सुमेरु-पुरुष के रूप में मैंने जब महावीर का साक्षात्कार करना चाहा, तो उनका एक जीवन्त सर्वांगीण व्यक्तित्व अपनी सम्पूर्ण सम्भावनाओं के साथ मेरे कल्प-वातायन पर झलहलन्त उभरता आया। फलतः सृजन के स्तर पर उनकी पुनर्रचना मेरे लिए सहज सम्भव हो गई।

ध्यातव्य है कि इस सृजनात्मक पुनर्रचना में पर्याप्त मात्रा में अनायास विपुल अन्वेषण, उद्घाटन, आविष्कार और अनुसन्धान कार्य भी हो सका है। क्योंकि यह पुनर्रचना कल्पदर्शी होते हुए भी, उपलब्ध तथ्यों और उनकी संकलना पर आधारित है, और उस काल-खण्ड की मौलिक इतिहास-दार्शनिक व्याख्या से आलोकित है।



द्वितीय खण्ड मे, गृह-त्याग के उपरान्त श्रमण वर्द्धमान का साढ़े-बारह वर्ष व्यापी साधना-तपस्या काल समाहित है। और अन्ततः उसकी फलश्रुति के रूप में केवलज्ञान को उपलब्ध हो कर, महावीर के अर्हत् होने तक की कथा स्वभावतः इस खण्ड की विषय-वस्तु निर्मित करती है। तपस्याकाल मे आरम्भ से अन्त तक यह दुर्दान्त श्रमण अनेक प्राकृतिक, मानुषिक, दैविक आक्रान्तियों, बाधाओं और अग्नि-परीक्षाओं से गुज़रता है। जैन परिभाषा में इन परीक्षाओं को उपसर्ग कहा जाता है। इन उपसर्गों से गुज़रते हुए श्रमण प्रकृति, मनुष्य तथा परोक्ष दैवी विश्वों में व्याप्त उन तमाम आधारभूत बाधाओं और अवरोधों से टकराता है, जिनसे गुज़र कर, जूझ कर और जिन्हें जय करके ही सम्पूर्ण जीव-मुक्ति सम्भव हो सकती है।

यह एक तरह से मोहमयी प्रकृति की आबद्धकारिणी शक्तियों के साथ, मोक्षार्थी पुरुष के चरम युद्ध की भूमिका है। इस युद्ध के दौरान श्रमण प्रकृति, पशु-जगत, मनुज, दनुज और देव-जगतियों की सारी बन्धक और बाधक शक्तियों से सीधा टकराता है। सत्ता, अस्तित्व और जगत-जीवन के सारे सम्भावित दबावों और तनावों को तात्विक स्तर पर एकाग्र और पुंजीभूत रूप

से झेलता है। जड़ अन्धकार की इन आत्मघाती शक्तियों का वह प्रतिरोधी प्रतिकार नहीं करता। इन्हें अकम्प भाव से सम्पूर्ण सहकर, झेलकर, अपनी आत्मा के स्वभावगत असीम अवकाश में इन्हें मुक्त भाव से प्रविष्ट होने देकर, उन्हें चुका देता है, व्यर्थ कर देता है। और इस तरह सान्त को चुका कर, वह अनन्त शाश्वत पुरुष हो जाता है। क्षय, रोग, जरा और मृत्यु को जीतकर मृत्युंजयी हो जाता है, जो कि वस्तुतः उसकी आत्मिक विरासत है।

इस युद्ध-प्रक्रिया में, जो प्रहार उस पर आते हैं, जो टक्करें उसे क्षत-विक्षत करती हैं, वे उसके अस्तित्व में बाहर से संस्कारित, अनेक पूर्वजन्मों से उसकी अवचेतना में अनुबंधित, बाधक-बन्धक शक्तियों को ध्वस्त कर देती हैं। तमस की इन जड़शक्तियों को ही जैन द्रष्टाओं ने कर्म-बन्धन कहा है, और तपस्या द्वारा इनके निरसन को ही उन्होंने कर्मनाश या कर्म की निर्जरा कहा है। निःशेष कर्म-निर्जरा के लिए महावीर जान-बूझकर भी अनेक बार खतरों और संकटों में उतरे। इस तरह उनकी आत्मा ने विश्व की तमाम सत्ताओं के साथ एक निर्बाध सायुज्य-सम्बन्ध स्थापित किया। अणु-अणु के साथ वे योगीश्वर परम प्रेम में संयुक्त हो गये। तब ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनी और अन्तराय कर्मों के वे आवरण अनायास विदीर्ण हो गये, जिनसे आवृत होने के कारण आत्मा विश्व जगत का सही ज्ञान-दर्शन नहीं कर पाती, उसके साथ पूर्ण संवादिता में नहीं जी पाती। क्योंकि उक्त चार कर्म आत्मा की सम्यक्-दर्शन प्रकृति के घातक होते हैं। इन कर्मों का निःशेष नाश होने पर अनायास ही आत्मा के भीतर प्रच्छन्न केवल-ज्ञान का सूर्य प्रकट हो उठता है, और उससे लोकालोक प्रकाशित हो उठते हैं। इस कैवल्य उपलब्धि तक पहुँच कर ही, द्वितीय खण्ड समाप्त हो जाता है।

दिगम्बर ग्रंथों में महावीर चरित नहीं वत् है, सो उनके तपस्याकाल के भी कोई वृत्त या तथ्य उनमें नहीं मिलते। पर श्वेताम्बर कहे जाते आगमों में महावीर के तपस्याकाल का कड़ीबद्ध सांगोपांग विवरण मिलता है। प्रव्रज्या के अगले ही दिन से, ठीक केवलज्ञान प्राप्ति की पूर्व सन्ध्या तक उनके साधना-मार्ग में जितने विघ्न-उपसर्ग आये, अथवा जिन विपत्तियों का उन्होंने सन्मुख जाकर वरण किया, उन सब के पूरे ब्योरे आगमों में मिलते हैं। इन उपसर्गों में, उनकी उत्कटता की मात्रा के अनुपात में होने वाली विशिष्ट कर्म-निर्जरा और तज्जन्य विशिष्ट श्रेणी की ज्ञानोपलब्धि का उल्लेख भी मिलता है। इससे महावीर के आत्म-विकास की अनुक्रमिक प्रक्रिया के कुछ चरणों को रेखांकित करने की सुविधा हो जाती है। साथ ही उस प्रक्रिया का एक अनुक्रमिक मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी सृजन के स्तर पर सम्भव हो जाता है। जो मैंने यथासाध्य किया है।

आगमों में उपलब्ध तपस्या के इन सम्पूर्ण ब्योरों का मैंने उपयोग कर लिया है। उसके ज़रिये एक कथा-शृंखला उपलब्ध हो सकी है। आगमों की उपसर्ग कथाएँ भी प्रथम दृष्टि में किसी सर्जक को आकृष्ट नहीं कर सकतीं। क्योंकि इनमें से अधिकांश में अतिप्राकृतिक तत्वों की भरमार है। सो कोई हृदय-स्पर्शी मानवीय सम्वेदना उनसे नहीं निपज पाती। पर जब रचना के स्तर पर मैं इन उपसर्ग-कथाओं को खोलने लगा, तो अनायास ही वे गहरे भावों और अर्थों से आलोकित हो उठीं। अन्वेषण की कई नयी राहें भी उनमें खुलती दिखायी पड़ीं। और अपनी रचना में यथावकाश उन अन्वेषणों को मैंने एक हद तक सम्पन्न किया है।

इन उपसर्गों में कई ऐसे भी हैं, जिनमें महावीर के कई पूर्व-जन्मों के बैरी, अवसर पाकर

उनसे प्रतिशोध लेने के लिए, उन्हें नाना प्रकार से पीड़ित करते हैं। मनोवैज्ञानिक अन्वेषण की दृष्टि से मैंने इन जन्मान्तरीण कथाओं का भी उपयोग किया है। उन्हें मनोविश्लेषण की राह पुनर्व्याख्यायित किया है। इस तरह मुझे रचना के एक सर्वथा नये स्तर को खोज कर, उस पर काम करने का सुख भी मिला। कथ्य और शिल्प दोनों ही में, इस कारण, एक नया प्रयोग सम्भव हो सका।

अतिप्राकृतिक फिनॉमनन को मै आरम्भ से ही स्वीकार करके चला हूँ। प्रथमतः इसलिए कि उनको टाल देने पर, महावीर की आध्यात्मिक सामर्थ्य की वह ऊँचाई और इमेज उपलब्ध नहीं हो पाती, जो ज्योतिर्धरों की श्रेणी में उन्हें एक विशिष्ट इयत्ता और अस्मिता प्रदान करती है। इन अतिप्राकृतिक तत्वों के साथ ही उनके व्यक्तित्व की वह भव्यता और उत्तुंगता उभर पाती है, जिसके प्रभामंडल से वलयित होकर वे लोक-हृदय और काव्य में प्रतिष्ठित हैं। दूसरे, अतिप्राकृतिक फिनॉमनन को टालना आज के टू-डेट ज्ञान-विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में अवैज्ञानिक लगता है। क्योंकि भौतिक विज्ञान और मनोविज्ञान के क्षेत्रों में आज अतिप्राकृतिक घटनाएँ और अतीन्द्रिय अनुभव, वैज्ञानिक खोज और अध्ययन के विषय बन चुके हैं। इस हद तक कि अन्तश्चेतना के मूल उत्स की तलाश में, इन अतिप्राकृतिक तत्वों को अनिवार्य 'डाटा' के रूप में ग्रहण किया जाता है। और भीतरी अन्तरिक्ष तथा मनुष्य के चरम 'आत्म' की यह खोज, आज इतनी महत्वपूर्ण हो गई है, कि मनोवैज्ञानिक इसी अन्वेषण की राह एक सर्वथा रूपान्तरित नये मनुष्य की सम्भावना को तलाश रहे हैं। उपसर्गों में आने वाली अतिप्राकृतिक मदाखलतों का मैंने भी अन्वेषणात्मक उपयोग ही अपनी रचना में, अपने ढंग से किया है।

इन पूर्व भवान्तर-कथाओ को उलटते-पलटते वक्त, मुझे बारबार यह सचोट सूझा कि मनोवैज्ञानिक खोज की भारी सम्पदा और सम्भावना इनमें निहित है। जैन पुराण भवान्तर-कथाओं से भरे पड़े हैं। वे कई बार बड़ी ऊब भी पैदा करती हैं। लेकिन जब उनके प्रयोजन को समझने के ख्याल से मैंने उनमें गोता लगाया, तो मुझे स्पष्ट प्रतीति हुई कि आत्मोत्थान की जन्मान्तर-गामी यात्रा में ये भव-कथाएँ बड़ी मार्मिक और सार्थक कड़ियों के रूप में हाथ आती हैं। मेरे विचार से जैन कथा-साहित्य का यह पक्ष, मनोविज्ञान के खोजियों के लिए एक अमूल्य ख़ज़ाना सिद्ध हो सकता है।

• • •

साढ़े बारह वर्ष के इस दीर्घ तपस्या काल में महावीर अखण्ड मौन धारण किये रहते हैं। प्रयोजन यह है, कि अब वे पूर्णज्ञान की खोज में हैं, और अज्ञान या अधूरे ज्ञान से निःसृत वैकल्पित वाणी बोलने में अब उनकी रुचि नहीं है। लेकिन इस अक्षुण्ण मौन में विचरते हुए भी वे जीवन-जगत से असम्पृक्त और विमुख नहीं हैं, पलायित नहीं हैं। वे निष्क्रिय नहीं हैं। परिवेश में होने वाले सारे मुकाबिलों और घटनाओं का वे पूर्ण संचेता से सामना करते हैं। अपनी आत्मिक क्रिया द्वारा वे

उनका सचोट उत्तर देते हैं।

रचना में प्रश्न प्रस्तुत था, कि अखण्ड मौन महावीर की उन आत्मिक और भाविक प्रतिक्रियाओं को अभिव्यक्ति कैसे दी जाये। इसके लिए मैंने दो युक्तियों का आविष्कार किया। एक तो यह कि वे दृष्टि, इंगित, स्पर्श या मुस्कान मात्र से बहुत कुछ कह देते हैं। दूसरे उनकी भीतरी आवाज़ से आने वाला वह उत्तर, कभी पास के झाड़ से, कभी अलक्ष्य अन्तरिक्ष से, कभी किसी सम्मुख मूर्ति या गुम्बद में से सुनाई पड़ जाता है। यानी यह कि महावीर की आत्मिक ऊर्जा में से वह उत्तर इतना एकाग्र और अविकल्प होकर फूटता है, कि वह परिवेश की किसी भी वस्तु से टकराकर, उसके माध्यम से प्रतिध्वनित हो उठता है। मैंने महसूस किया कि इस शिल्पगत उपाय-आविष्कार से एक विलक्षण कला-सौन्दर्य प्रकट हुआ है, एक अनोखा कला-विलास सम्भव हुआ है। रचना में एक और नया प्रयोग करने का मौका मिला।

महावीर के उत्तर को अभिव्यक्ति देने के लिए एक और भी उपाय-योजना मैंने की है। परिवेशगत घटना या व्यक्ति से मुकाबले के क्षण में, उनके भीतर एक एकालाप (मोनोलॉग) सा चल पड़ता है। जिसमें सन्दर्भगत कथा-सूत्र भी उभरते हैं, और अनेक पूर्वापर परिप्रेक्ष्यों में, वे प्रस्तुत स्थिति पर बहुत ही मौलिक रोशनी डालते हैं, जो उनके क्षण-क्षण में घटित हो रहे आत्म-विकास को व्यक्त करती है। इन एकालापों में वे कभी-कभी प्रस्तुत घटना या व्यक्ति को सम्बोधन करके भी, बहुत कुछ उद्घाटित करते हैं, अनावरित करते हैं। बाह्य पदार्थों से प्रतिध्वनित होने वाले उत्तर, और आत्म-सम्बोधन तथा अन्य-सम्बोधन के रूप में फूटनेवाली भाव-वाणी, दोनों ही महावीर की आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया में योगदान करते हैं। यानी इन उत्तरों से वे स्वयं भी अधिक प्रबुद्ध, अधिक आत्मोन्नत होते हैं।

अब समझ में आता है, कि इस उपन्यास में आत्म-कथा शैली अपना कर, क्या विशिष्ट उपलब्ध हो सका है। महावीर मूलतः एक आत्म-पुरुष हैं। और यह आत्म-पुरुष ही अपने विस्तार में विश्व-पुरुष हो जाता है। आत्म-पुरुष का अन्तर्लोक आत्म-कथा के माध्यम से ही समीचीन और समग्र अभिव्यक्ति पा सकता है। पौराणिक कथा के पुनर्सर्जन में मेरा लक्ष्य पुराकथा को केवल आधुनिक परिधान देना या नवकला-देह प्रदान करना नहीं है, उसमें मेरा साध्य आत्मा-पुरुष की मनोवैज्ञानिक तलाश है। इसकी ख़ातिर उसकी अतल-वितल अवचेतनिक गहराइयों में डूबना अनिवार्य है। यानी अंग्रेजी में जिसे 'इनर प्रोब एण्ड एक्स्प्लोरेशन' कहा जाता है, वही मेरे सृजन की खास फ़ितरत है। इस माने में भारत की विभिन्न भाषाओं में वर्तमान में लिखे गये पौराणिक उपन्यासों से मेरा पौराणिक उपन्यास सर्वथा अलग पड़ जाता है। मुंशी के लोकप्रिय पौराणिकों से मैं इसी अर्थ में सर्वथा भिन्न और दूसरे छोर पर हूँ। यानी मेरी कथा सतह गत घटनाओं पर समाप्त नहीं, उसकी व्याप्ति स्मिक है, और वह गहराइयों में उतर कर ही, अपनी अभीष्ट तृप्ति पा सकती है।

किसी पूर्व विचारित योजना या इरादे से मैंने आत्म-कथा शैली को नहीं अपनाया। वह मानो स्वयं महावीर ने ही मुझे दी है, कि 'मैं इसी राह कला में समीचीन रूप से उतर सकूँगा।' चूँकि महावीर आत्मकथा की राह व्यक्त होते हैं, इसी से उनसे सम्बद्ध अन्य पात्र भी अनायास आत्म-कथन द्वारा अपने को व्यक्त करते दिखाई पड़ जाते हैं। क्योंकि महावीर और उनके बीच,

कथा की समग्रता में एक अंगांगी सम्बन्ध है।

लेकिन महावीर चूँकि स्वाभाव से ही जन्मजात द्रष्टा और योगी हैं, इस कारण वे केवल उत्तम पुरुष होकर नहीं रह सकते, समानान्तर रूप से वे अपनी ही निगाह में एक अन्य पुरुष के रूप मे भी घटित होते हैं यानी वे 'मैं 'और 'वह' के रूप मे संयुक्त भाव से घटित होते हैं। एक ही क्षण में 'मैं' अचानक 'वह' बनकर उनके सामने आ जाता है; अर्थात् उस महायोगी में ऐसी चेतना सक्रिय है, कि वह आवश्यकतानुसार, प्रसंगत : अपने को अपने से अलग करके सामने खड़ा भी देख सकता है। मसलन एक स्थल पर महावीर कायोत्सर्ग में अविचल खड़े हैं, और वे स्वयं महावीर की मूर्ति या व्यक्तित्व को सामने से गुज़रता देखते हैं। और स्वयं ही उसकी भव्य व्यक्तिमत्ता का लाक्षणिक साक्षात्कार करते है। और तब स्वयं उत्तम पुरुष द्रष्टा मात्र रह कर, अपने ही व्यक्तित्व को दृश्य और ज्ञेय बनाकर, देखते-जानते है। उसे अपने ज्ञान-दर्शन का विषय बनाकर, उसका वीतराग भाव से साक्षात्कार करते है, और उसका साक्ष्य अपने ही शब्दों में प्रस्तुत करते हैं। अपने ही आपको अपने से अलग कर देखना, पहचानना, जाते-आते, वर्तन करते, विचार करते, कर्म करते देखना, आत्म-दर्शन की साधना का अत्यन्त परिणामकारी मनोवैज्ञानिक साधन और माध्यम है।

योगी महावीर की चेतना मे बद्धमूल इस उत्तम पुरुष और अन्य-पुरुष की सहगामिता का इस रचना मे अत्यन्त कलात्मक ढग से उपयोग कर लिया गया है। इस प्रयोग मे अपने ही साथ अपने सवाद और लीला की एक अजीब खूबसूरत नाटकीय स्थिति उत्पन्न होती है। और वह महावीर के व्यक्तित्व की लाक्षणिक सामर्थ्य और द्रष्टा स्वरूप को रचने मे गहरा योगदान करती है। इस तरह सृजन और शिल्प का एक और भी नया प्रयोग अनजाने, अनसोचे ही हो गया। मानो कि रचना मै नही कर रहा, मेरे भीतर से कोई और कर रहा है।



जिनेश्वरी साधना मे कायोत्सर्ग, ध्यान की एक विलक्षण पद्धति है। उसमें साधक खड्गासन में स्थिर खड़ा हो कर, सन्नद्ध भाव से आत्मस्थ होने का महापुरुषार्थ करता है; अर्थात देहभावी 'मै' को उत्सर्ग करके, आत्मभावी 'मै' मे उन्नीत होता है। यानी वह अपने आत्म स्वरूप और आत्मभाव मे अधिकाधिक तन्मय होता हुआ, एक मनातीत द्रष्टाभाव की भूमि मे अवतीर्ण होता है। तब वह जगत-जीवन को नयी ऑखों से देखता है, वह व्यक्तियों और वस्तुओं के आरपार देखता है। देश-काल मे घटित, आत्माओं के कई जन्मान्तरों के परिप्रेक्ष्य तक मे झाँक लेता है। इस प्रकार ध्यान में वह समस्त सत्ता के साथ एक आन्तरिक 'डायलॉग' और सम्बन्ध मे घटित होता है। कायोत्सर्ग की यह मेरी अपनी मनोवैज्ञानिक समझ और व्याख्या है।

रूढ़ जैन शास्त्रों मे इस आत्म-ध्यान को मोटे तौर पर एक बौद्धिक आत्मचिन्तन का रूप दे दिया गया है। यानी कि साधक, शास्त्रों मे कुछ खास लाक्षणिक शब्दों मे वर्णित आत्मा के स्वरूप का चिन्तवन करता चला जाये। इसमे एक जड़ पुनरावृत्ति और बोरियत का अहसास होता है। क्षण-क्षण नव्यमान आत्मा का चिन्तन रटे-रटाये शब्दों और दोहरावों में कैसे हो सकता है। उसमें

एक मनोवैज्ञानिक आत्म-मंथन और आत्मान्वेषण अनिवार्य है। स्वभाव से ही सर्वतंत्र-स्वतंत्र आत्मा किसी शास्त्रीय दायरे और पदावली में अपने को कैसे परिभाषित कर सकती है !

दूसरे यह भी है, कि अपने वास्तविक परिवेश से कट कर सच्चा आत्मध्यान कैसे सम्भव है ! आत्म सर्व के बीच घटित रह कर, सर्व के सन्दर्भ में ही, अपनी सही पहचान और पूरा अर्थ प्राप्त कर सकता है। आत्म का असली स्वरूप शुद्ध पारदर्शी ज्ञान है। ज्ञेय के अभाव में ज्ञान की क्या सार्थकता, क्या पहचान ? ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के अविनाभावी सम्बन्ध में ही सच्ची आत्मस्थिति उपलब्ध हो सकती है। गहराई से सोचने पर समझ में आता है, कि यह एक मनोवैज्ञानिक सचाई है।

बगैर किसी इरादे के ही, रचना के स्तर पर जब मैंने महावीर के कायोत्सर्ग को साक्षात् किया, तो वह स्वतःस्फूर्त रचना की राह इसी रूप में उत्सृजित होता चला गया। यानी मेरे रचनाकार के स्वतंत्र अवबोधन में महावीर की ध्यान-चेतना इसी रूप में खुलती चली गयी। वे कायोत्सर्ग में आत्मस्थ होने के लिए, अलग से कोई आत्म-चिन्तन नहीं करते। वे परिवेश से असम्पृक्त और कटे हुए नहीं हैं। बल्कि सर्व के प्रति उनका ध्यानस्थ आत्म अधिकतम संचेतन और उन्मुख हो रहता है। उनका ध्यान एक विराट् ज्ञानात्मक प्रक्रिया है। ज्ञेय के साथ वे ज्ञानात्मक भाव से गहरे तादात्म्य में उतर कर, अपने ज्ञाता स्वरूप में अधिक उपलब्ध और उन्नत होते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि रचना के स्तर पर महावीर मुझे अनायास ज्वलन्त वास्तविकता के रूप में उपलब्ध हो गये है। उनका ध्यान भी अलगाव नहीं, जगत-जीवन के साथ गहिरतम उलझाव है, 'इन्वॅल्वमेंट' है। बल्कि यों कहे कि मौलिक 'इन्वॅल्वमेंट' मे उतरने के लिए ध्यान द्वारा आत्मस्थ होना जरूरी हो जाता है। तब आत्म ही अनायास सर्व होता चला जाता है। आत्मध्यान ही सर्वध्यान हो जाता है, और सर्वध्यान ही आत्मध्यान हो जाता है।

मेरे ख्याल से ध्यान की मनोवैज्ञानिक असलियत यही है। तब महावीर या उस कोटि के किसी भी योगीश्वर का ध्यान अन्यथा कैसे हो सकता है ! शास्त्रों की लाक्षणिक भाषा में शब्दों के बीच निहित यही आशय कई बार झलक मार जाता है। रचना मे चूँकि हम भाव और संवेदना की भूमि पर काम करते हैं, इसी से उसमें चीजों के निगूढ़ सत्य अनजाने ही उद्घाटित हो जाते हैं। इस माने में महावीर के कायोत्सर्ग को रचने में, जैसे योग का एक नवीन ऐन्द्रिक अनुभवगम्य प्रयोग करने का सुयोग भी मुझे मिला। ज्ञान को संवेदन में, और संवेदन को ज्ञान में परिणत करने की कई नई मनस्तात्विक कुंजियाँ भी हासिल हुईं।

महावीर का ध्यान मुझे एक महान और चरम कर्म-शक्ति के रूप में भी साक्षात्कृत हुआ। चारों तरफ़ से कट कर अपने मे बन्द, द्वीपित होने वाली ध्यान मुद्रा मेरे सामने ही नहीं आयी। महाश्रमण महावीर के भीतर उनकी दुर्दम्य ज्ञानोत्सुकता ही, एक प्रचण्ड क्रियाशक्ति बन कर संचारित है। और वे सामने आने वाले हर व्यक्ति या वस्तुस्थिति के साथ एक प्रबल संघात और उद्घात के रूप में 'इन्वॅल्व' होते हैं। उनसे सम्पृक्त होने वाली हर आत्मा में उनकी ज्ञानोर्जा का इतना पारगामी आघात होता है, उनकी प्रीति का ऐसा अचूक प्लवन होता है, कि विपल मात्र में ही उसकी चेतना रूपान्तरित हो जाती है। शूलपाणि यक्ष, चण्ड कौशिक, संगम देव, चमरेन्द्र, कटपूतना तथा अन्य अनेक उनके पीड़क मानवों और राज्याधिकारियों के सन्दर्भ में यह बात स्पष्ट

हो जाती है। उनका आत्म-ध्यान आपोआप ही, इन उपसर्गों से आक्रान्त हो कर, एक महायुद्ध में परिणत हो जाता है। अपने में बन्द, पलायित हो रहने की छुट्टी उन्हें नहीं है। आत्म-प्राप्ति की राह अनेक दुर्गम बीहड़ों, नैर्जन्यों, संकट-खतरों, दुर्भेद्यों तथा विरोधी शक्तियों के बीच से हो कर गई है। सर्व को भेद कर, बिद्ध कर, सर्व में से पार हो कर, सर्व का पूर्णज्ञान और सम्वेदन पा कर ही आत्म की परम पहचान प्राप्त की जा सकती है।

इस परिप्रेक्ष्य में यह भी स्पष्ट हो जाता है, कि आत्म-योगी महावीर अपनी ध्यानस्थ आत्मा की एकाग्र ऊर्जा और अचूक क्रियाशक्ति से ही, समस्त चराचर सृष्टि से मूल में उतर कर, सतहगामी इतिहास में भी एक अपूर्व क्रान्ति और अतिक्रान्ति घटित कर रहे हैं। आत्मध्यान ही इस महाक्रान्तिकारी का अमोघ अस्त्र और अचूक कर्मयोग है।

• • •

षड्गमानि ग्राम के वनांगन में, एक ग्वाले द्वारा ध्यानस्थ महावीर के दोनों कानों के आर-पार शूलवेध के साथ ही, आगमों में उनके तपस्या-काल की कथा समाप्त हो जाती है। उनकी तपस्या में यही चरम उपसर्ग था, सो इसके तुरंत बाद ही, उनके परम शुक्ल-ध्यान में आरोहरण करने और उसके द्वारा कैवल्य प्राप्त करने का प्रकरण आ जाता है। रचना के स्तर पर यहीं द्वितीय खण्ड की समाप्ति मुझे बहुत आकस्मिक और यांत्रिक-सी लगी। वस्तुतः इस खण्ड में आरम्भ से लेकर, ग्वाले द्वारा कर्ण-वेध के उपसर्ग तक, अधिकांश में उपसर्गों का एक अटूट सिलसिला-सा चलता है। पूर्व निर्धारणा के अनुसार, महावीर उत्तम पुरुष में ही, इन उपसर्गों की आत्म-कथा कहते चले जाते हैं। लगभग सभी उपसर्ग इतने उत्कट और अमानुषिक हैं, कि सर्व सामान्यतः मानव-कथा इनमें घटित ही नहीं होती, ओर न स्वयं महावीर का कोई मानव रूप हमारे सामने आता है। अतिमानुषिक प्रसंगों की एक सपाट-शृंखला ही सम्मुख आती है। उसमें भय, आतंक, आश्चर्य, रोमांच ओर चमत्कार का बोध भले ही हो, पर विशुद्ध मानवीय सम्वेदन की कोई गहरी अपील पैदा नहीं होती।

इन प्रसंगों से सम्बद्ध पशु प्राणियों, देवों, दनुजों और मनुजों पर, महावीर की इस मृत्युंजयी तपस्या का एक प्रतिबोधक और उन्नायक प्रभाव अवश्य पड़ता है। बेशक वह भी यथा सन्दर्भ एक उच्च स्तरीय मानवीय सम्वेदन ही है। हर उपसर्ग के समापन में, प्रभु के हर पीड़क और प्रहारक की पराजय, उसका आत्मार्पण और शरणागति तथा उसका आत्मिक रूपान्तर भी निश्चय ही एक उन्नयनकारी सम्वेदनात्मक अपील पैदा कर सकता है। उन हत्यारों की आत्मग्लानि, पश्चाताप, तथा उसके द्वारा उनकी जन्म-जन्मान्तरों की कषाय-ग्रंथियों का मोचन, और फलतः उनका रूपान्तरण और आत्मबोध भी मानव हृदय पर अतिमानव महावीर के अचूक संघात और प्रभाव का सृजन तो करते ही हैं। पर इस तरह अन्य मानव चरित्र, महज़ महावीर की महिमा को झेलने और प्रतिबिम्बित करने वाले पात्रों और दर्पणों के रूप में ही घटित होते हैं। उनकी किसी स्वतंत्र मानवीय स्थिति या प्रतिक्रिया को इसमें अवसर नहीं मिलता।

इस समूचे खण्ड में केवल चन्दना का प्रसंग ही सही मानवीय अर्थ में हृदयस्पर्शी है। इसी

से चंदना की आत्मकथा को यथासम्भव अधिकतम मानवीय सम्वेदना के पट पर रचना मेरे लिए सम्भव हो सका है। मैं उसे एक स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान कर सका हूँ। इस अपवाद के अतिरिक्त उपसर्गों की पूरी आख्यानमाला सृजनात्मक दृष्टि से ऐसी किसी संश्लिष्टता या जटिलता (काम्प्लेक्सिटी) को अवसर नहीं देती, जिसके अभाव में एक औपन्यासिक महाकाव्य अपनी यथेष्ट गरिमा और गहराई नहीं प्राप्त कर पाता।

यह स्पष्ट होने पर, इस अनिवार्य आयाम को उभारने के लिए, मैंने कर्णवेध और केवलज्ञान के बीच के रिक्त लगते अन्तराल में आठ नये अध्याय रचे, जो सम्भवतः एक महद् उपन्यास की उपरोक्त शर्त को पूरा करते हैं। इन अध्यायों में दो-तीन काम एक साथ हो सके हैं। इस कृति को उसकी उपयुक्त 'काम्प्लेक्सिटी' प्राप्त हो सकी है। कर्णवेध की दारुण वेदना के माध्यम से, अतिमानवीय महावीर भी अपने अकम्प कायोत्सर्ग से उतर कर अत्यन्त मानवीय संवेदना के स्तर पर हमें उपलब्ध हो जाते है। एक ओर है चक्रवर्तित्व की महत्वाकांक्षा से प्रमत्त सम्राट बिम्बिसार श्रेणिक का पराजेय पार्थिव अहंकार। दूसरी ओर है त्रैलोक्येश्वर, फिर भी अकिंचन महावीर की अपराजेय आत्मिक प्रभुता। मगध और वैशाली के संघर्ष में, प्रथम खण्ड में ही यह टकराव और उलझाव, अनजाने ही सम्पूर्ण उपन्यास की केन्द्रीय विषय-वस्तु का रूप ले लेता है। द्वितीय खण्ड के आठ अध्यायों में यह संघर्ष एक गहरा मनोवैज्ञानिक, आन्तरिक और तात्विक रूप प्राप्त कर लेता है। इस तरह यह टकराव और उलझाव पूरे उपन्यास को एक-सूत्रात्मक अन्विति प्रदान कर देता है। और एक बड़े उपन्यास के योग्य संश्लिष्टता भी, इस उलझाव में से उपलब्ध हो जाती है।

इन अध्यायों में महावीर का एक अत्यन्त मानवीय सम्वेदनात्मक व्यक्तित्व भी हमें अनायास हासिल हो जाता है। उनके आत्मविकास की यात्रा यहाँ आकर, सपाट रेखा को तोड़ कर, चक्राकार हो जाती है। वह महज़ 'लीनियर' न रह कर 'सायक्लिक' हो जाती है, और इस तरह वह अनिवार्य मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की माँग पूरी करती है। अपने कर्ण-वेध के चरम उपसर्ग तक पहुँचते-पहुँचते, महावीर जिस क़दर अतिमानुषिक हो जाते हैं, वह जैसे उपन्यास को वास्तविकता से वंचित कर देता है।

इस स्थिति में कर्ण-वेध की आगमोक्त कथा स्वयं ही एक ऐसी कुंजी (क्ल्यू) हमें अनायास दे देती है, जो अतिमानव महावीर को स्वाभाविक रूप से मानवीय स्तर पर उतार लाने में सहायक हो जाती है। कथा-सूत्र यह है कि जब खरक वैद्य के सहायक, भगवान को तेल की कुण्डी में बैठा कर उनके शूलवेध से तने हुए शरीर को ढीला कर, उनके कानों में बिंधे शूल खींच निकालते हैं, तब भगवान के मुँह से अपने बावजूद त्रास की एक चीख फूट पड़ती है। यह एक अति मानव की चीख है, जो उसकी मानुषिक वेदना की व्यंजक भी है, और समस्त ब्रह्माण्ड की मौलिक अस्तित्वगत त्रासदी की एकाग्र अभिव्यक्ति भी है। वेदना के इस चरम छोर पर रचनाकार को अवसर मिला है, कि उसने महावीर को स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक ढंग से अपनी माँ का स्मरण करा दिया है। क्षण-मात्र के लिए महावीर के भीतर का मनुष्य, अवशिष्ट मोह-संस्कारवश, मानव हृदय की चरम शरण-रूपा माँ की गोद के लिए बरबस चीत्कार उठता है। . . . और अगले ही क्षण, उनकी उच्च ज्ञानात्मक स्थिति का बोध इस शरण की मोह-माया-जन्य भ्रान्ति को भंग कर देता है।

लेकिन इस घटना से जो एक मानवीय मृदुता और नम्यता उत्पन्न होती है, वह अपनी आत्मिक गुणवत्ता के बावजूद, महावीर को एक समरस मनुष्य के रूप में, अपने निकटतम आत्मीय मानव पात्रों के साथ, सहज मानवीय भाव से ही अधिकाधिक समन्वित करती चली जाती है। यानी कि रचना में यह संगत रूप से और हठात् सम्भव हो गया है, कि भगवान जैसे-जैसे केवलज्ञान के निकटतर पहुँचते हैं, वे अधिकाधिक मानवीय होते चले जाते हैं। चूंकि अब वह घड़ी आ पहुँची है, जब उन्हें पूर्णज्ञानी और पूर्ण प्रेमी होकर संसार के तमाम मानवों और प्राणियों के पास सदा के लिए लौट आना है। मानो कि यह इस बात का द्योतक प्रतीक हो जाता है, कि केवलज्ञान महावीर के लिए महज़ निजी, वैयक्तिक आत्मप्राप्ति और जीवन्मुक्ति का साधन ही नहीं है, बल्कि वस्तुतः और सत्यतः वह उन्हें मानव मात्र और प्राणिमात्र के साथ संवेदनात्मक रूप से तदाकार करा देनेवाली उपलब्धि है। केवलज्ञानी महावीर को सृष्टि के सकल चराचर और कण-कण के साथ सर्वकाल आत्मीय होकर रहना है। उनके केवलज्ञान की यही एकमात्र शुद्ध संवेदनात्मक परिणति हो सकती है।

इन अध्यायों मे क्रमशः त्रिशला, चेलना, श्रेणिक के आत्म-कथनों द्वारा अतिमानव के मानवीकरण की प्रक्रिया को सम्वेदनात्मक मूर्तता प्रदान करने का प्रयास किया गया है। प्रयास क्या, स्वयं महावीर इसी रूप में यहाँ अपने आप सृजन में घटित होते चले जाते हैं। 'माँ . . .' शब्द द्वारा उच्चरित महावीर की चीख़, आधी रात गहरी नींद मे सोयी त्रिशला के हृदय पर आघात कर उसे जगा देती है। जो कि हमारे महज़ मानवीय स्तर पर आज भी एक 'टेलीपैथिक' प्रत्याघात के रूप मे घटित होनेवाली स्वाभाविक मानवीय घटना कही जा सकती है।

श्वेताम्बर आगमों के अनुसार महावीर के माता-पिता का देहान्त उनके गृह-त्याग के पूर्व ही हो जाता है। पर दिगम्बर कथा के अनुसार, गृह-त्याग के समय उनके माता-पिता जीवित हैं। उसके बाद महावीर की तपस्या और केवलज्ञान तक के साढ़े बारह वर्षों तक भी उनका जीवित रहना, एक सगत तथ्य हो ही सकता है। दिगम्बर कथा इस तथ्य पर मौन है। और यह मौन सम्मति देता है कथाकार को, कि प ा की जरूरत के अनुसार, तीर्थंकर महावीर के समवशरण में भी वह उनकी उपस्थिति दिखा सकता है।

कर्णवेध की पीड़ा, और तज्जन्य चीख़ वे ठीक अनुसरण में त्रिशला का आत्म-कथन आ जाता है, जिसमे उस ब्रह्माण्ड-पुरुष की चरम मानवीय वेदना का प्रत्याघात, अत्यन्त उपयुक्त रूप से सर्वप्रथम ठीक उसकी माँ के हृदय पर ही होता है। और यहीं से महावीर के मानवीकरण की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। इस प्रस्थान-बिन्दु से वे माँ की वेदना में सहभागी होते हुए, क्रमशः चेलना और श्रेणिक के आत्मकथनों के माध्यम मे उनकी मानवता के साथ उलझते हुए, मानो निकट भविष्य में ही केवलज्ञान द्वारा प्राणि-मात्र की वेदना में हिस्सेदारी करने की दिशा में अग्रसर होते दिखाई पड़ते हैं। त्रिशला के आत्म-कथन में, महावीर माँ के साथ तद्गत होते हुए भी, मोह-मुक्त प्रेम द्वारा मोहावृत मातृ-योनि का वेध करते हैं। और उस योनि को ही वे मुक्तिरमणी मे उत्संगित या रूपान्तरित कर देते हैं। चेलना और श्रेणिक के आत्मकथनों में जहाँ एक ओर महावीर की मानवीय अलभ्यता, और निगूढ़ चारित्रिकता प्रकट होती है, वहीं उसमें उनकी मानवीय ऊष्मा, उदात्तता और मौन प्रीति के झरोखे भी खुलते दीखते हैं।

इसके अतिरिक्त इन आत्म-कथ्यों की सर्वोपरि रचनात्मक सार्थकता यह है, कि ये तीनों पात्र महावीर के परिप्रेक्ष्य में ही सही, फिर भी अपनी एक स्वतंत्र व्यक्तिमत्ता, अस्मिता और सार्थकता प्राप्त करते हैं। यहाँ ऊर्ध्वोन्मुख मानव-आत्मा की विकास-यात्रा में मुक़ाबिल होने वाले चरम आत्म-संघर्ष और आत्म-पीड़न को भी अभिव्यक्ति मिलती है। कर्णवेध के प्रकरण तक तो स्वतंत्र मानवचित्त, व्यक्ति और उसके स्वाभाविक मनोविज्ञान को अवसर ही नहीं मिलता। पर इन पात्रों के आत्म-कथनों द्वारा कथा को गहरी मानवीयता और मनोविज्ञान प्राप्त हो जाता है। एक तरह से यहाँ ये तीनों मानव पात्र, अति मानव महावीर से अपनी मानवीय स्थिति की कैफ़ियत तलब करते हैं। वे उनके अति-मानवत्व के सन्दर्भ में अपने स्वतंत्र मानवीय अस्तित्व की सार्थकता का तीखा प्रश्न उठाते हैं। वे महावीर से अपने मनुष्य होने के प्रयोजन की परिभाषा माँगते हैं।

इसके बाद, एक अध्याय में स्वयं महावीर उक्त तीनों पात्रों की सारी उलझनों का समाधान करते हुए, स्वगत कथन में उन्हें सम्बोधित करते हैं। यहाँ अपनी उच्च ज्ञानात्मक स्थिति में रह कर भी, वे त्रिशला, चेलना, श्रेणिक और उनके माध्यम से मानो मनुष्य मात्र के प्रति समर्पित होते हैं। प्राणिमात्र के साथ वे चरम आत्मीयता मे चिर काल आबद्ध होने को छटपटाते दीखते हैं।

यहाँ वे अब तक प्राप्त अपनी समस्त ज्ञानात्मक उपलब्धियों को भी कमतर अनुभव करते हैं। वे अत्यन्त विनम्र जिज्ञासु और मुमुक्षु की तरह उस पूर्णज्ञान को पाने के लिए जूझते हैं, जिसे पाये बिना त्रिशला, चेलना, श्रेणिक और समस्त जगत के प्राणियों के साथ परिपूर्ण, अविच्छेद्य आत्मीयता मे आबद्ध नहीं हुआ जा सकता।

यह कैवल्य के तीर पर ध्यानस्थ, परम पुरुष की महावेदना की घड़ी है। यहाँ उनमें प्रचण्ड आत्म-संघर्ष और आत्म-मंथन घटित होता है। यहाँ वे मानवमात्र और प्राणिमात्र के साथ तदाकारिता, और पूर्ण सम्वाद तथा पूर्ण प्रेषणीयता उपलब्ध करने के लिए उत्कट आत्म-पीड़ा के साथ कशमकश करते हैं। वैसी किसी सम्भावना तक पहुँचने के लिए, अपनी ज्ञानात्मक सम्वेदना द्वारा, उस प्रकार के सम्वाद-सम्प्रेषण की सम्भाव्य नयी राहों का अन्वेषण करते है। कहें कि इस तरह के सम्वाद-सम्प्रेषण की एक नयी ज़मीन तोड़ते है। इस प्रकार इन अध्यायों मे मानव और अतिमानव महावीर के बीच एक स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक सामंजस्य और सामरस्य उपलब्ध हो सका है।



बारह वर्ष व्यापी कठोर तप से गुज़रने के बाद भी, कर्ण-वेध के उपसर्ग में महावीर पहली बार अपने को अन्तिम रूप से अकेला महसूस करते है। उसके बाद त्रिशला, चेलना और श्रेणिक के साथ मानसिक उलझाव के दौरान उनका वह अकेलापन उत्तरोत्तर बढ़ता ही चला जाता है। उक्त तीन पात्रों के साथ के अपने भीतरी 'डायलॉग' मे वे एक तीव्र पुकार अनुभव करते हैं, कि क्या अपने इन आत्मीयों के साथ, और इनके माध्यम से समस्त चराचर सृष्टि के साथ वे एकात्म और तदाकार नही हो सकते ? क्या वे तमाम आत्माओं के भीतर प्रवेश कर, उनमें सम्वेदित और संस्पर्शित नहीं हो सकते ? क्या सबके साथ वे एक नित्य सम्भोग, सम्वाद और सम्प्रेषण में

निरन्तर नहीं रह सकते ? क्या इस अन्तिम अकेलेपन से उबरने का यही एक मात्र उपाय नहीं है?

और इस प्रश्न के साथ ही वे सीधे चिरन्तन मानवीय त्रासदी के आमने-सामने खड़े हो जाते हैं। अब तक वे तत्व से अस्तित्व का मूल्यांकन करते रहे, इसी से अस्तित्व की नग्न वास्तविक त्रासदी उनकी चेतना में पूरी तरह घटित और साक्षात्कृत नहीं हो पाती थी। अब अपने आत्मसंघर्ष की पीड़ा में से, और अपने अन्तिम प्रश्नों से जूझते हुए, वे सीधे अस्तित्व की त्रासदी का मुक़ाबिला करते हैं। अपने मानवीय सम्वेदन के स्तर पर वे उससे जुड़ते हैं, और उसका साक्षात्कार करते हैं। उनके इस अस्तित्व-चिन्तन में जैनों की अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व आदि बारह अनुप्रेक्षाओं का आपोआप ही समावेश हो जाता है।

यहीं से महावीर की वह भीतरी अन्तरिक्ष-यात्रा आरम्भ हो जाती है, जिसमें आगे जाकर वे उत्तरोत्तर संघर्ष, बाधा, बन्धन की अनेक मूलभूत भूमिकाएँ पार करते हुए, उत्कृष्ट शुक्लध्यान तक ले जानेवाली कई उच्च से उच्चतर श्रेणियों पर आरोहण करते चले जाते है। यहाँ रचनाकार के सामने समस्या यह थी, कि ध्यान जैसे अमूर्त विषय का, कला मे मूतन कैसे किया जाये ? पर्याप्त मंथन के बाद, जैसे मुझे प्रत्यक्ष विजन हुआ, कि भीतर के भूगोल और खगोल में अन्तर्गामी यात्रा के रूप मे ही, सृजन के तहत अमूर्त ध्यान-प्रक्रिया को मूर्त रूप दिया जा सकता है। इस यात्रा की राह में पड़ने वाले आन्तरिक प्रदेशों और भूमिकाओं को बिम्ब प्रदान करना इसके लिए अनिवार्य हुआ। चूँकि तथ्यात्मक कथा यहाँ कोई सम्भव ही नहीं थी, इसी कारण काव्य, कल्पना, फन्तासी, प्रतीक और रूपकों द्वारा ही इस आन्तर चर्या को रचा गया है।

अपनी अन्तर-यात्रा में समस्त लोक का साक्षात्कार करने के उपरान्त, महावीर कर्म-चक्र की तात्विक लीला-भूमि में उतरते है। वहाँ कर्म-बन्धन की प्रक्रिया को अनेक रंगों, आकारों, बिंबों द्वारा उभारा गया है। तमस् से प्रकाश तक की चेतना की भाव-स्थितियों को रचने के लिए, एक काव्यात्मक रंग-लीला द्वारा जैनों की षट् लेश्याओं का उपयोग कर लिया गया है। इसी प्रकार आगे भारतीय योग साधना के विभिन्न मार्गो में मिलने वाले अनेक प्रतीकों, साक्ष्यों, बिम्बात्मक भूमिकाओं का समन्वित ढंग से उपयोग करते हुए, महावीर की इस अन्तर-यात्रा को रचना-स्तर पर अधिकतम ऐंद्रिक अनुभवगम्य, भावगम्य, बोधगम्य बनाने की चेष्टा अपने आप सृजन के दौरान हुई है। उदाहरणार्थ काम, गरुड़ और शिव के स्वरूपों और लोकों में से महावीर गुज़रते हैं, और उनके भीतर भी अन्ततः अपने आत्म-स्वरूप का हा दर्शन करते है। गरुड़ के प्रतीक के माध्यम से वे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के मण्डलों में से अभिसरण करते हुए, उनसे अतिक्रान्त हो कर आकाश मे अपने पूर्ण विस्तार की सम्भावना अनुभव करते हैं।

फिर जैनों के यहाँ निरूपित आत्मा के चौदह गुण-स्थानों (आत्मविकास की अनुक्रमिक भूमिकाओं) के भीतर संक्रमण, और शुक्ल-ध्यान की उच्चतर श्रेणियों पर क्रमशः आरोहण को मैने विभिन्न धातु और खनिजों की पर्वत श्रेणियों के अतिक्रमण के रूप में बिम्बायित किया है। इस सिलसिले मे रसेश्वर शैव-दर्शन के, पार्वती-रज अभ्रक, और शिव-वीर्य पारद वाले प्रतीकों का भी अनायास समावेश हो गया है। अभ्रक और पारद के सम्पूर्ण रजवीर्य संयोग द्वारा ही चंचल पारद निश्चल आत्मा की तरह स्थिर और घनीभूत हो सकता है। और इसी घनीभूत पारद द्वारा आत्मा अपने भीतर निहित शुद्ध जातरूप सुवर्ण मे रूपान्तरित हो सकती है। इस भूमिका में नर-नारी का

क्षणिक मैथुनानन्द ही, पूर्ण योग की साधना द्वारा, आत्म-स्वरूप शिव-शिवानी के शाश्वत मिलनानन्द में परिणत हो जाता है। इस प्रकार मानुषिक स्तर के मैथुन को भी आत्मिक मैथुन की मूल भूमिका में यथास्थान औचित्य, समर्थन और सार्थकता प्राप्त हो जाती है। इस तरह शुद्धात्मा की भूमिका, सर्व समावेशी और समग्र जीवन-आश्लेषी रूप में, रचना स्तर पर उपलब्ध हो जाती है।

इसके बाद केवलज्ञान के आकस्मिक प्राकट्य की प्रक्रिया और घटना, नाटकीय स्थितियों से गुज़र कर एक अनायासिक विस्फट और आलोकन में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचती है।

इसके उपरान्त सहसा ही महावीर समाधि भंग कर निखिल पर आँखें खोल देते हैं। केवलज्ञान के शिखर पर आरूढ़ अपनी आत्म-स्थिति का अवलोकन करते हैं, साथ ही बाहर के लोक में प्रकाशित अपने व्यक्तित्व की महिमा का भी तद्गत रूप से साक्षात्कार करते हैं। तब त्रिलोक और त्रिकाल के नित्य ज्ञानी, सर्वज्ञ महावीर अपने उस ज्ञानानुभव को व्यक्त करते हैं, ताकि उस तरह वे अपनी उपलब्धि को लोक-हृदय तक पहुँचा सकें, उसकी एक सचोट प्रतीति हर मुक्तिकामी आत्मा को करा सकें। यहाँ केवलज्ञान को भी महावीर अधिकतम मनोवैज्ञानिक अनुभूति के स्तर पर उतार कर, मानो उसे लोक-भोग्य बनाने को अकारण और निष्काम भाव से ही उत्प्रेरित होते हैं।

बेशक अकथ्य है वह अनुभूति, वह चेतना-स्थिति। फिर भी रचना में उसे अनिर्वच कह कर छोड़ देने से काम नहीं चलेगा। यदि कोई केवलज्ञान कभी कहीं सम्भव है, और वह यदि किसी कथा का विषय है, तो उसे भाव-सम्वेदन के स्तर पर मूर्त और सम्प्रेषणीय बनाना होगा। उस परम ज्ञान-स्थिति को एक इन्द्रियगम्य मनःस्थिति के संवेदना-स्तर पर विश्वसनीय रूप से रूपायित करना होगा। उस निश्चल केन्द्र (स्टिल सेंटर) की अनुभूति को महज़ अनिर्वच कह कर, उस पर कला का मौन पर्दा डाल देने से रचना केवल एक रूढ़ आध्यात्मिक परिकल्पना पर अटक जाती है। वैसी चीज़ परम्परा में पहले ही से प्रतिष्ठित है। उसमें नया क्या हुआ? और आधुनिक मनुष्य उसे यथा-स्थिति रूप में स्वीकार कर, उससे अनुभावित और सम्प्रेषित नहीं हो सकता। उससे उसका कोई सहज मानसिक जुड़ाव नहीं हो पाता।

तब जरूरी हुआ कि कैवल्य-पुरुष भगवान् स्वयं अपनी उस मनातीत ज्ञान-चेतना को अत्यन्त मनोगम्य भाषा में व्यक्त करें, ताकि आधुनिक मानसिकता के मर्म में केवलज्ञान का कोई अचूक संघात सम्भव हो सके। आधुनिक मनुष्य उसे ग्रहण करने को उद्यत हो सके, उसे प्राप्त करने की अभीप्सा से प्रज्वलित हो सके। अन्ततः हर आत्मा उसे अपनी अनिवार्य ज़रूरत के रूप में महसूस कर सके, और अपनी अन्तिम नियति के रूप में उसका साक्षात्कार कर सके। इसी कारण अन्तिम अध्याय 'कैवल्य के प्रभा-मण्डल में' द्वारा मैंने भगवान के श्रीमुख से ही केवलज्ञान की अनुभूति का समग्रात्मक कथन करवा दिया है। इसमें कला-शिल्प की दृष्टि से मैंने ख़तरा उठाया है। कितना उसमें सफल हो सका हूँ, इसका निर्णय पाठक के हाथों है।

आधुनिक विश्व-साहित्य में कहीं भी सर्वज्ञता या पूर्ण ज्ञानस्थिति का रचनात्मक निरूपण देखने में नहीं आया। मेरे सामने एक सर्वथा नयी और अप्रयुक्त भूमिका थी और चुनौती थी कि कैसे इस अपूर्व चेतना-स्थिति को रचनास्तर पर आकलित करके इसे अधिकतम सम्प्रेषणीय बना

सकता हूँ। इसके लिए एक नितान्त नयी और कुँवारी भाषा पाने के लिए मैं कई रातों बेचैन रहा। आख़िर स्वयं श्रीभगवान ने अनुगृह किया, और कैवल्यानुभूति की अभिव्यक्ति के उपयुक्त एक प्रांजल भाषा सहज मेरी क़लम पर उमड़ती चली आई। . . सृजन का वह मुहूर्त कितना सुखद और मुक्तिदायक था, कैसे कहा जाये ?

इस भाषा-आविष्कार के दौरान कई नये शब्दों का निर्माण, तथा प्रचलित शब्दों का नवीन व्यापक आशयगत नियोजन भी हुआ है। इसी अन्त:स्फूर्ति मे से मैंने 'सम्भोग' शब्द को महज़ नर-नारी मैथुन के दायरे मे से मुक्त कर अंग्रेजी शब्द 'इन्टरकोर्स' के व्यापक भावार्थ में प्रयुक्त किया है।

यहाँ यह स्वीकार करना उचित है, कि इस उपन्यास मे आरम्भ से ही जो विज़न और फन्तासी की राह मैंने महावीर और अन्य पात्रों की अन्तश्चेतना को खोला है, उसमे 'शक्तिपात' से प्राप्त मेरी भीतरी योगानुभूतियों ने गहरा योगदान किया है। ध्यान मे अनेक बार देखे गये अन्तर-जगत, सूक्ष्म-जगत और स्वप्न जगत के दृश्यों की जो गहरी स्मृतियाँ मेरी सम्वेदना में सुरक्षित थीं, उनके दिव्य सौन्दर्य वैभव को अनजाने ही इस रचना मे यथास्थान सांगोपांग अभिव्यक्ति प्राप्त हो गई है। उपन्यास के सभी उन्नत पात्रों के आत्म-दर्शन के क्षणों का चित्रण मेरी उन्हीं अनुभूतियों द्वारा हुआ है।

प्रथम अध्याय मे ही अम्बुरेन्द्र के पूर्व जन्म-स्मरण की चेतना प्रवाही अभिव्यक्ति में, कुण्डलिनी की सम्वेदन-ऊर्जा को मैंने स्पष्ट क्रियाशील अनुभव कर लिया था। इसके अतिरिक्त महावीर के अनुक्रमिक आत्मबोध और आत्म-चिन्तन में जो परम्परागत शास्त्र भाषा का दायरा तोड़ कर, एक स्वतन्त्र मौलिक आत्मानुभूति की भाषा शक्य हो सकी है, वह भी भगवती कुण्डलिनी का ही सहज कला विलास है। उपसर्गों के अतिप्राकृतिक उपद्रवों के धारासार नाटकीय चित्रण में, और अन्तत केवलज्ञान की ओर अग्रसर महावीर की समस्त अन्तर-यात्रा के चित्रण मे, तथा उसके लिए मौलिक भाषा-आविष्कार की स्फुरणा पाने मे, कुण्डलिनी महाशक्ति ही एक मूलस्रोत के रूप मे मेरे सामने आती है। यहाँ तक कि जिन आत्म-स्थितियों को मैंने चित्रण किया है, वे कई बार स्वयं मेरे भीतर अचानक आविर्भूत हो गई है।

इस प्रकार यह रचना मेरे लिए केवल साहित्य के लिए साहित्य सृजन, या कला के लिए कला-सृजन हो कर न रह सकी। अनायास ही यह मेरे सूक्ष्म भीतरी आत्मोत्थान का साधन, और उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम भी बन गई। इसने मुझे यहाँ तक प्रतीति करा दी कि कवि-रचनाकार केवल अपने काव्य के रचना माध्यम से ही आत्म साक्षात्कार और परमात्म-प्राप्ति की भूमिका तक भी पहुँच सकता है। वैसे परम्परा में भी सन्तों का सारा काव्य-साहित्य इस सम्भावना और अनुभव की साक्षी देता है। इस रचनाकाल मे एक और भी विलक्षण अनुभव मुझे हुआ। मेरी जन्मजात मानसिक सरचना मे ही बद्धमूल ऐसी कई ग्रन्थियों और कुण्ठाओं का भी अनजाने ही मोचन हो गया, जो इससे पूर्व मेरी रचना और प्रगति मे सदा बाधक रहीं। इस तरह एक अजीब मानसिक रूपान्तर और सुदृढ़ आत्मनिष्ठा मुझे उपलब्ध हो गई।

शक्तिपात और नित्यानन्द या मुक्तानन्द मेरे मन पर्यायवाची है। अपने प्यारे गुरुदेव मुक्तानन्द स्वामी को स्मरण किये बिना कैसे विरम सकता हूँ। शक्तिपात के रूप में, परम भागवदीय

अनुगृह उनसे मुझे प्राप्त हुआ । उससे अक्षय्य रस, सौन्दर्य, प्यार और शक्ति के स्रोत जैसे आपोआप भीतर खुल पड़े । और उनका आप्लावन मेरे भीतर कितना गहरा है, और उससे कैसी नित-नूतन सम्भावनाएँ अनायास मेरे भीतर घटित और क्रियाशील दीख पड़ती हैं, उसको कैसे बयान किया जाये । एक तरह से 'अनुत्तर योगी' उसी अनुभूति का एक ईमानदार दस्तावेज है । जिन आत्म-वल्लभ श्रीगुरु से ऐसी दिव्य वस्तु प्राप्त हो सकी, उनके प्रति कृतज्ञता से मेरा हृदय निरन्तर उमड़ता रहता है । मन-ही-मन बार-बार उन्हें प्रणाम करता रहता हूँ । और ज्यादातर तो उनसे अलग अपने को महसूस ही नहीं कर पाता । तदाकार रहता हूँ अनजाने ही उनके साथ, और उसी भंगिमा से जीवन-जगत को मुक्त भोगता-जानता हूँ, उसमें निर्बन्ध, निर्द्वन्द्व विचरता हूँ । विधि-निषेध के सारे फाटक पीछे छूट गये । एक मुक्त आनन्द को सतत अपने साथ चलते अनुभव करता हूँ ।

पूज्यपाद विद्यानन्द स्वामी भी अचानक उसी धारा मे मुझे मिल गये । और महावीर के इस प्रेमयोगी और कर्मयोगी प्रतिनिधि ने मुक्तानन्द से प्राप्त मेरे अमृत को 'अनुत्तर योगी' में रूपायित करने का अचूक रसायन प्रस्तुत कर दिया । यह एक अद्भुत संयोग है, और इस पर मै आश्चर्य से स्तब्ध हूँ । .



मंखलि गोशाल, महावीर की जीवन-कथा मे एक महत्वपूर्ण पात्र है । महावीर के समकालीन तीर्थकों में वह आजीविक सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित है । जैन और बौद्ध दर्शनों के अतिरिक्त उस काल के दर्शनों में केवल आजीविक परम्परा ही कुछ अधिक समय तक टिकी रहने का प्रमाण मिलता है । भारतीय और विदेशी शोध पण्डितों ने तत्कालीन दार्शनिकों मे गोशालक को भी पर्याप्त महत्व दिया है । इसके विपरीत जैनों की महावीर-कथा में गोशालक भगवान के तपस्याकाल के एक मूढ़ शरणागत शिष्य के रूप मे सामने आता है । वह दीन दयनीय, आत्म-हीनता से पीड़ित, तृष्णार्त, लोभी, भोजन-भट्ट और एक अकारण शरारती, कौतुकी वानर के रूप में चित्रित है । रचना की दृष्टि से, आगमों में उपलब्ध उसका यह विडम्बनकारी रूप ही मुझे अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ । इस रूप मे वह काल की अधोगामिनी धारा (अवसर्पिणी काल) के एक सचोट व्यंग्य-विद्रूप कार विदूषक के रूप मे उपलब्ध हो जाता है । वह अस्तित्व के सारे विपर्ययों, व्यंग्यो, वषम्यों को अपनी वाचालता द्वारा नग्न करता है । सारे पाखंडों का पर्दाफ़ाश करता है । यहाँ तक कि वह स्वयं अपना ही मज़ाक़ उड़ा कर, सारे जगत-जीवन पर तीव्र व्यंग्य का अट्टहास करता है । अपने काल के और अस्तित्व के तमाम विपर्ययों का वह एक तीव्र निन्दक और कटु आलोचक है । उसके इस विदूषक स्वरूप से मेरी कथा को, अन्यों से सर्वथा भिन्न एक विलक्षण पात्र प्राप्त हो जाता है ।

इसी से बिना किसी शोध-विवाद की उलझन में पड़े, विशुद्ध सर्जन की दृष्टि से संसार जीवन के एक मूर्तिमान व्यंग्य-विद्रूप के नाते मैंने उसका उपयोग कर लिया है । महावीर उसे अपने साथ रहने देते है, यही अपने आप में उसको एक निगूढ़ सार्थकता प्रदान करता है । मानो कि अपने

एक प्रतितीर्थक या विरोधी के रूप मे भगवान उसे अपने लिए एक अनिवार्य संगी के रूप में स्वीकार कर लेते है। वह भगवान से ही तेजोलेश्या सिद्धि की विधि सीख कर, अन्ततः उससे भगवान पर ही प्रहार करता है। फिर भी महावीर उसे गहरे मे कहीं एक भव्यात्मा के रूप में जान कर प्यार करते है, उसके आत्मोन्नयन और त्राण के निमित्त बनते हैं। इस तरह अन्य पात्रों की तरह गोशालक का यह विशिष्ट पात्रालेखन मैंने शुद्ध सर्जनात्मक सम्भावना की दृष्टि से ही चुना है। शोध क्षेत्र के विवाद मे पडना मुझे अपने लिए अनावश्यक लगा।

मुनिचन्द्र सूरि का आख्यान प्रसंग मैने आचार्य हेमचन्द्र के 'त्रिषष्टि शलाका-पुरुष' में से लिया है। उसमे सचेलक स्थविरकल्पी साधु मुनिचन्द्र की कठोर जिन-कल्पी तपस्या, और उपसर्ग-सहन के आलेखन मे दिगम्बर महावीर द्वारा, श्वेताम्बर मुनिचन्द्र श्रमण के सवस्त्र होते हुए भी, उनकी उच्च आत्मोपलब्धि को स्वीकृति प्राप्त होती है। इस प्रकार इस कथा में दिगम्बर-श्वेताम्बर के बाह्याचार गत कट्टर भेदों का निरसन होता है, और शुद्ध आत्मोत्थान के स्तर पर दोनों का सहज समन्वय हो जाता है। शोध विद्वान और साम्प्रदायिक आलोचक उपरोक्त दो कथानकों और पात्रों को व्यर्थ ही विवाद का विषय न बनायें, इसी ख्याल से यह तथ्यात्मक स्पष्टीकरण मुझे जरूरी प्रतीत हुआ।

• • •

इस महागाथा के लेखनकाल मे उदार छायावादी काव्य के प्रवर्तक महाकवि बच्चन के सान्निध्य से मुझे बहुत बल मिला।

सन् '[illegible] मे बच्चन भाई, मानो मेरे लिए भगवान के भेजे ही, ठीक विले पारले की जुहू कॉलनी मे आ बसे। भीतर-भीतर बरसों से, दूरी के बावजूद, उनके साथ मेरा एक गहरा सम्वाद चलता रहा था। लेकिन 'अनुत्तर योगी' के गर्भाधान के मुहूर्त मे अचानक वे मेरे पास चले आये।

तब से लगभग प्रथम खण्ड की समाप्ति तक [illegible] सुखद और तन्मय साहचर्य मुझे प्राप्त रहा। आमेलाभ का मकान मेरे घर से बहुत दूर नहीं है, जुहू कॉलोनी मे। रचना के कठिन पड़ावों और चढ़ावों म जब भी मेरा दम घुटने लगता, तो कलम डाल कर किसी भी शाम बच्चन भाई के पास जा पहुँचता। और तब उन अग्रज के प्यार भरे सामीप्य मे, किस क़दर राहत और ताज़गी मिलती थी, क्या बताऊँ। सृजन के उन्मेष और प्रसव पीड़ा के दौरान, उनके साथ जो आत्मा की गहरी हिस्सेदारी मुझे प्राप्त हुई,वह अपने आप मे एक कलाकार की आत्म-कथा का महत्वपूर्ण अध्याय है। सन् '70-'71 से '72-'73 तक के उन तीन-चार बरसो मे उनके साथ जो तन्मय डायलॉग की शामें बीती, उन्हे मै एक आध्यात्मिक मिलन-प्रसंग ही कह सकता हूं। उस दौर में मानो हम दोनों ने हिन्दी के समूचे इतिहास और समकालीनता को संयुक्त रूप से जिया। हम दोनों ने एक-दूसरे के आत्मिक इतिहास मे भी बहुत गहराई से अवगाहन किया। मेरे जीवन में सम्वेदन और सर्जन की सहभागिता के ऐसे प्रसंग विरल ही रहे है।. बच्चन भाई के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करके, उन्हे अपने से अलग कैसे करूँ।

प्रथम खण्ड बच्चन भाई ने दिल्ली स्थानान्तरित होने के बाद ही पढ़ा। उसे पढ़ कर वे इतने भावित, मुग्ध और विभोर हुए, कि बम्बई आते ही, मिठाइयों के दो बड़े सारे पैकेट लेकर, वे मेरे पास दौड़े चले आये। . . . ऐसा लाड़-प्यार आज के इस बंजर भावहीन युग में कौन किसी को देता है ! 'बचुवा' कह कर जिस गहरी नज़र से वे मुझे पीते रहते हैं, उस सुख को कथन मे कैसे लाऊँ !

'अनुत्तर योगी' की चन्दनबाला आर वैनतेयी, अपने विदग्ध सृजनात्मक आविर्भाव के लिए, नवलेखन की विशिष्ट कहानीकार तथा कवयित्री सुनीता (डॉ० सुनीता जैन) की ऋणी हैं। जिस सम्वेदना मे से ये दोनों पात्रिया, और अन्य स्त्रियाँ भी आकार लेती चली गईं, उसमे सुनीता की भागीदारी को भुलाया नहीं जा सकता।

— वीरेन्द्रकुमार जैन

गोविन्द निवास, सरोजिनी रोड,
विले पारले (पश्चिम), बम्बई - ५